*****

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

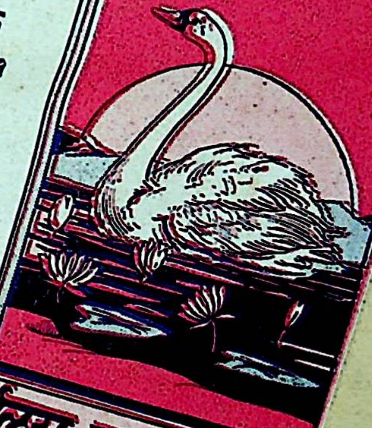
हंस

आंतरप्रान्तीय साहित्यिक
प्रगति का अग्रदूत

अक्तूबर, १९३८
वर्ष : ९ अंक : १

: सम्पादक :
श्रीपतराय





हंस-कार्यालय, बनारस

वार्षिक मूल्य ६)

Sinele Copy As. 8

हमारी प्रवृत्तियाँ

• **हंस** : आन्तरप्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत
वार्षिक मूल्य ६)

• **कहानी** : साहित्य और संस्कृति का सर्वसुलभ मासिक
वार्षिक मूल्य १॥)

• **गल्प-संसार-माला** : हिन्दी में विश्व-साहित्य की कहानियों का परिचय। पूरे सेट का ४।=)

• **जाग्रत-महिला-साहित्य** : जीवन और जीवन की समस्यायें महिलाओं की दृष्टि से। वार्षिक मूल्य ३॥)

• **प्रेमचन्द** के ग्रन्थ और अन्य प्रकाशन।

सरस्वती-प्रेस, बनारस।
(मुद्रक और प्रकाशक)



आन्तरप्रान्तीय साहित्यिक जाग्रति का अग्रदूत

वर्ष: ६ :: अंक : १–६

लेखकवार सूची

मुक्ता-मंजूषा

[हिन्दी]

[गुजराती]

[बंगला]

[तमिल]

[मराठी]

[मलयालम]

नीर-क्षीर

[*Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P. and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions.*]

हंस

आंतरप्रांतीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

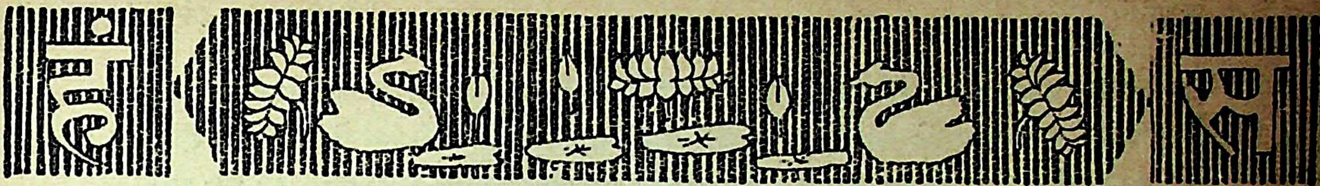
वर्ष ६ : अंक १ :: अक्तूबर, १६३८ : आश्विन, १६६५

लेख-सूची



वार्षिक मूल्य ६)
अर्द्ध-वार्षिक मूल्य ३॥)
एक अंक का आठ आना

विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ८)
" ७½ " " ५)



अक्तूबर, १९३८ वर्ष—९ : अंक—१ आश्विन, १९९५

साहित्य का स्वरूप

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]
[अनु० रामचंद्र वर्मा]

[श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह लेख अभी हाल में बँगला 'कविता' त्रैमासिक के 'विशेष समालोचना-संख्या' में प्रकाशित हुआ था जिससे कि हमने यह अनुवाद उपस्थित किया है। साहित्य के स्वरूप के विषय में सरल भाषा में विश्वकवि के विचार बहुत ही सत्य और उपयुक्त हैं। यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि विचार-गुम्फन की दृष्टि से श्री ठाकुर की शैली अद्वितीय है।—सं०]

कविता क्या है, इस सम्बन्ध में दो-चार बातें कहने के लिए मेरे पास फरमान आया है।

साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मैं पहले ही कुछ स्थानों पर विचार कर चुका हूँ। परन्तु वह विचार अन्तर की उपलब्धि से हुआ है, बाहर की अभिज्ञता या विश्लेषण से नहीं। कविता असल में अन्दर से होनेवाली कोई ताकीद या प्रेरणा है। लेकिन उसके सम्बन्ध में मैंने स्वयं अपने-आपसे ही यह प्रश्न किया है कि वह किसकी ताकीद या प्रेरणा है। उसका जो उत्तर मुझे मिला है, वह सहज स्वरूप में समझाना सहज नहीं है। बड़े-बड़े पण्डितों ने इस विषय में जो जो बातें कह रखी हैं, और जो बँधे हुए वचनों के रूप में जमा हैं, वही सब बातें यह प्रश्न उठते ही आगे बढ़कर सामने आ पहुँचना चाहती हैं। परन्तु अपने उपलब्ध मत के वास्ते रास्ता निकालने के लिए उन सब बातों को दबा रखने की आवश्यकता है।

आरम्भ में ही एक झगड़ा उठ खड़ा होता है—'सुन्दर' बात या वस्तु के सम्बन्ध में। प्रायः कहा जाता है कि सुन्दर के बोध को बोधगम्य करना ही काव्य का उद्देश्य है; और किसी उपाचार्य की इस प्रकार की बातों को दोहराने के अभ्यस्त होने के कारण बिना किसी प्रकार के विचार के जबरदस्ती यही बात कहने की जो प्रवृत्ति होती है, वह तो होती ही है; लेकिन जब इस बात का प्रमाण संग्रह करने लगता हूँ, तब मन में बहुत बड़ा सन्देह उत्पन्न होता है और मैं यह सोचने लगता हूँ कि आखिर 'सुन्दर' कहते किसे हैं। कन्या को देखने के समय वर का

अभिभावक अपने सामने जो आदर्श रखकर कन्या को खड़ी कराके देखता है, चला-फिराकर देखता है, उसके सिर के बाल खोलकर देखता है और उससे बातें कहलाकर देखता है, यदि वही आदर्श काव्य की परीक्षा के समय भी सामने रखा जाय तो पग-पग पर बाधा खड़ी होती है। उस समय पता चलता है कि फलस्टाफ के साथ कन्दर्प की तुलना नहीं हो सकती और साहित्य के चित्र-भांडार से कन्दर्प को अलग कर देने में तो कोई हर्ज नहीं है; लेकिन फलस्टाफ को अलग कर देने में जरूर हर्ज है। रामायण में सीता का चरित्र तो अवश्य महिमान्वित दिखाई देता है, लेकिन स्वयं वीर हनुमान की भी उतनी ही बड़ी मर्यादा है जितनी बड़ी उनकी पूँछ है। इस प्रकार के संशय के समय कवि की वही बात याद आती है Truth is beauty अर्थात् सत्य ही सौन्दर्य है। लेकिन सत्य में भी उसी समय सौन्दर्य का रस मिलता है, जिस समय अन्तःकरण में उसकी पूरी-पूरी उपलब्धि होती है और वह उपलब्धि भी केवल ज्ञान में नहीं, बल्कि स्वीकृति में होती है; और केवल उसी अवस्था में हम सत्य को वास्तविक कहते हैं। सर्वगुणाधार युधिष्ठिर से हठकारी भीम अधिक वास्तव हैं; और जो रामचन्द्र शास्त्र की विधि मानकर शान्त हो रहते हैं, उनकी अपेक्षा वे लक्ष्मण अधिक वास्तव हैं जो अन्याय को सहन न कर सकने के कारण अग्नि-शर्मा बनकर उसका अ-शास्त्रीय प्रतिकार करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। हमारा काला अधेड़ नीलमणि नामक नौकर जो कुछ को कुछ समझता है और कुछ का कुछ कर बैठता है और बिगड़ने पर ज़रा हँसकर कह देता है कि भूल हो गई, उसके सम्बन्ध की यह बात तो जाने ही दीजिये कि अगर वह बनारसी जोड़ा पहनकर वर के वेश में सामने आये तो उस समय का दृश्य कैसा होगा; लेकिन अपनी साधारण अवस्था में ही बहुत-से प्रसिद्ध व्यक्तियों की अपेक्षा वह कहीं अधिक वास्तव है। परन्तु फिर भी इस प्रसंग में उसके नाम का उल्लेख करने में भी संकोच होता है। अर्थात् यदि कविता करनी हो तो किसी वाग्मीप्रवर गण-नायक को उसका नायक या उप-नायक बनाने की अपेक्षा उस नौकर नीलमणि को उसका नायक या उपनायक बनाना कहीं अधिक उपादेय होगा। फिर यह बात भी नहीं है कि जिसके साथ बहुत अधिक परिचय हो, वही वास्तव होता है; बल्कि जिससे हमारा बहुत ही कम परिचय होता है, लेकिन फिर भी जिसे अपरिहार्य रूप से और अवाक् होकर मानना पड़ता है, वह भी हमारे लिए वास्तव होता है। परन्तु वह किस लिए वास्तव होता है, यह विश्लेषण करके कहना कठिन है। कहा जा सकता है कि ऐसे लोग वस्तुतः सजीव होते हैं वे लोग organic होते हैं और उन्हें आत्मसात करने में रुचि अथवा इच्छा की तो बाधा हो सकती है, परन्तु और किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती। जिस तरह भुने या पके हुए पदार्थ होते हैं और उनमें से कोई तीता होता है, कोई मीठा होता है और कोई कड़ुआ होता है, यों व्यवहार में उनके सम्बन्ध में आदरणीयता का भले ही तारतम्य हो; परन्तु फिर भी उन सबमें एक प्रकार का साम्य होता है। वे सब जैविक होते हैं और देह-तन्तु के निर्माण में उपयोगी होते हैं। शरीर के विचार से वे 'हाँ' के दल में होते हैं—स्वीकृति के दल में होते हैं; 'नहीं' या अस्वीकृति के दल में नहीं होते।

संसार में हम सभी लोगों के चारो ओर यही हाँ-धर्मी मंडली है—इन्हीं वास्तवों का आवेष्टन है। उन सबको अपने साथ अच्छी तरह मिलाकर हम लोगों की सत्ता ने अपने-आपको विचित्र और विस्तीर्ण किया है। उनमें केवल मनुष्य ही नहीं हैं, बल्कि कुत्ते, बिल्लियाँ, घोड़े, तोते, काका, कौए आदि हैं, वे वृक्षों से घिरे हुए और सेवार से भरे हुए ताल

हैं, वे गोशाई पाड़े के उजड़े हुए बाग की टूटी हुई चहार-दीवारी से सटकर उगे हुए बड़हर के पेड़, ग्वालों के घर के आँगन के घास-भूसे की बदबू, गाँव के बीच से होकर हाट तक जानेवाली गलियाँ और रास्ते, लोहार के हथौड़े के शब्द, बहुत पुराने और टूटे-फूटे ईंटों के पजावे, जिनके ऊपर अश्वत्थ के वृक्ष उगे होते हैं, रास्ते के एक किनारे अमेड़ के पेड़ के नीचे महल्ले-टोले के प्रौढ़ लोगों के ताश और चौसर खेलने के अड्डे और न जाने कितनी ही बहुत-सी ऐसी चीज़ें होती हैं जिन्हें किसी इतिहास में स्थान नहीं मिलता और जो किसी भू-चित्र के कोने में अंकित नहीं होते। भाषा का घेरा बाँधकर उसके अन्दर लोगों के साथ जो परिचय होता है, उसके सम्बन्ध में हम लोग बहुत प्रसन्न होकर कहते हैं कि वाह, बहुत अच्छा हुआ; अर्थात् वे हमारे प्राणों और मन के साथ मिले हैं। उनमें बड़े-बड़े राजा महाराज भी हैं, दीन-दुःखी भी हैं, सुन्दर पुरुष और सुन्दर स्त्रियाँ हैं; काने, लूले, लँगड़े, कुबड़े और कुरूप भी हैं और उन्हीं के साथ-साथ ऐसे अद्भुत और संसार से बिलकुल निराले लोग भी हैं जिनके ऊपर कभी विधाता का हाथ नहीं पड़ा, प्राणी-तत्त्व और शरीर-तत्व के साथ जिनके अस्तित्व का कभी मेल ही नहीं बैठता और प्रचलित रीति-रिवाज से जिनका बहुत अधिक विरोध या अन्तर है। और साथ ही ऐसे लोग भी हैं जो ऐतिहासिकता का ढोंग रचते हैं। उनमें से किसी के सिर पर मुगलई पगड़ी होती है और कोई जोधपुरी पाजामा पहने होता है; लेकिन फिर भी जिनका बारह आना इतिहास जाली होता है। ऐसे लोगों से यदि प्रमाणपत्र माँगा जाय तो वे निर्लज्जता-पूर्वक कह बैठते हैं कि हम प्रमाणों और प्रमाण-पत्रों की कोई परवाह ही नहीं करते, हाँ तुम खुद देख लो कि तुम्हें पसन्द है या नहीं। फिर इन सबके अतिरिक्त भावावेग की भी वास्तविकता है। दुःख-सुख, विच्छेद-मिलन, लज्जा-भय, वीरत्व और कायरता आदि यही सब साहित्य का वायु-मंडल प्रस्तुत करते हैं। यहीं धूप और वृष्टि होती है, यहीं प्रकाश और अन्धकार होता है, यहीं कु-आशा की विडम्बना होती है और मरीचिका की चित्र-कला होती है। बाहर से यह मनुष्य का स्वयं किया हुआ संग्रह होता है और अन्दर से मनुष्य की यह अपने साथ मिलाई हुई सृष्टि होती है। बस यही उसकी वास्तविक मंडली है, विश्व-लोक के मध्य में यही उसका अन्तरंग मानव-लोक है और इसी में सुन्दर, अ-सुन्दर, भला-बुरा, संगत-असंगत, सुरीला और बे-सुरा सभी कुछ है। जब अपने आप में ही वे कोई ऐसी साक्षी लेकर आते हैं जिसे देखकर उन्हें स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, तब हम लोग बहुत प्रसन्न होते हैं। यदि विज्ञान और इतिहास उन्हें असत्य कहता हो तो कहा करे; लेकिन मनुष्य अपने मन की एकान्त अनुभूति के आधार पर ही उन्हें निश्चित रूप से सत्य कहता है। तब फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि सुन्दर-बोध को बोध-गम्य करना ही काव्य का उद्देश्य है?

विषय की वास्तविकता की उपलब्धि के अतिरिक्त काव्य का और भी एक अंग है और वह है उसकी शिल्प-कला। जो युक्ति-गम्य होता है, उसे प्रमाणित करना होता है और जो आनन्दमय होता है, उसे हम प्रकाशित करना चाहते हैं। जो प्रमाण-योग्य हो, उसे प्रमाणित करना तो सहज है, परन्तु जो आनन्दमय है, उसे प्रकाशित करना सहज नहीं होता। यदि हम प्रसन्न होते हैं तो दूसरों पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए स्वर और भाव-भंगी की आवश्यकता होती है। इस बात को ठीक उसी तरह सुन्दरता-पूर्वक सजाने की आवश्यकता होती है, जिस प्रकार माता अपने बालक को सजाती है, अथवा प्रिय जिस प्रकार अपनी प्रिया को सजाता है; रहने का मकान

जिस तरह बाग़-बग़ीचे से सजाना पड़ता है अथवा वर-वधू के प्रथम मिलन का स्थान जिस प्रकार फूल-मालाओं से सजाया जाता है। बातों का शिल्प, उनके छन्द-ध्वनि के संगीत, वाणी के विन्यास और शब्द-निर्वाचन में होता है। इस आनन्द का वाहन यदि बहुत ही सामान्य या तुच्छ हो तो उससे काम नहीं चलता। जिसका हम अत्यन्त अनुभव करते हैं, उसके सम्बन्ध में यह प्रकट करना होता है कि यह कोई अवज्ञा करने योग्य नहीं है और यह काम बहुत ही चतुराई से और सुन्दरता-पूर्वक करना होता है।

प्रायः ऐसा भी होता है कि शिल्प-कला शिल्पित को अतिक्रमण करके अपनी स्वतन्त्रता को ही मुख्य कर देती है। और इसका कारण यही है कि उसमें भी सृष्टि की प्रेरणा होती है। लीलायित और अलंकृत भाषा में उसके अर्थ के अतिरिक्त उसका एक विशिष्ट रूप भी प्रकट होता है। और वह उसके ध्वनि-प्रधान गीत-धर्म के कारण होता है। विशुद्ध संगति का स्वराज्य स्वयं उसी के क्षेत्र में होता है। भाषा के साथ उसकी शराकत करने की ज़रूरत नहीं होती ; किन्तु छन्द में शब्द-विन्यास के ध्वनि-झंकार और तिर्यक भंगी में जो संगीत-रस प्रकाशित होता है, अर्थ के सामने उसका पूरा-पूरा उत्तरदायित्व होता है। किन्तु छन्द का नशा और ध्वनि-प्रसाधन का नशा अनेक कवियों में आवश्यकता से कहीं अधिक उग्रता धारण कर लेता है और गद्गद् करनेवाले भावों के नाम पर भाषा के विचार से स्त्रैण स्वामी की तरह उनका काव्य कापुरुषता की दुर्बलता से अश्रद्धेय हो जाता है।

अन्तिम बात है Truth is beauty अथवा सत्य ही सुन्दर है। काव्य में यह सत्य, रूप का सत्य है, तथ्य का सत्य नहीं है। काव्यरूप यदि सत्य के रूप में अत्यन्त प्रतीति-योग्य न हो तो तथ्य के न्यायालय में वह अनिन्दनीय प्रमाणित होने पर भी काव्य के दरबार में निन्दनीय ही होगा। मन को लुभाने के लिए यदि उसके अलंकार अत्यन्त गुञ्जरित हों, अर्थात् यदि वह मुखर भाषा में सुन्दर की गुलामी करे तो भी उसमें उसकी अवास्तविकता और भी अधिक घोषित होती है। और केवल इतनी-सी बात पर ही जो लोग वाह-वाह कह उठते हैं, उनके सम्बन्ध में यह बात सुनने में चाहे कितनी ही रूढ़ क्यों न जान पड़ती हो; परन्तु फिर भी यही कहना पड़ता है कि उनके मन से अभी तक लड़कपन दूर नहीं हुआ है।

अन्त में हम एक और बात भी कह देना आवश्यक समझते हैं। रङ्ग-ढङ्ग देखने से ऐसा मालूम होता है कि बहुत-से लोग उल्टी-सीधी सभी तरह की बातों को वास्तव कह दिया करते हैं। परन्तु वास्तविक बात यह है कि वास्तव ही है मनुष्य के लिए ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से निर्वाचित करने की चीज़। विज्ञान में निर्विशेष रूप से सभी चीजों का समान मूल्य होता है। उन्हीं विश्वव्यापी हर तरह के पदार्थों में से निर्वाचित होकर जो पदार्थ स्वयं हमारे हस्ताक्षर लेकर हमारे चारो ओर आकर और हमें घेरकर खड़े हो जाते हैं, वही हम लोगों के लिए वास्तव हैं। और बाकी जो सब असंख्य पदार्थ अपना भिन्न-भिन्न मूल्य लेकर भिन्न-भिन्न हाटों में मारे-मारे फिरते हैं, वे हमारे लिए वास्तव के मूल्य से रहित होकर केवल छाया के रूप में रह जाते हैं।

किसी महल्ले में शराब की कोई दूकान है। उसी को छन्द में अथवा बिना छन्द के ही काव्य-रचना में भुक्त करके ही कहीं-कहीं सस्ती प्रशंसा पाने की आशा की जा सकती है। उस स्थान के रहनेवाले कहते हैं कि बहुत दिनों से इन्द्र लोक के सुधा-पान के सम्बन्ध में कवि लोग

उन्मत्तता का व्यवहार करते आये हैं ; उन्होंने केवल छन्दों में कलवार की दूकान को ही नहीं बाँधा है ; और हो सकता है कि कलवार की दूकान पर उनका बहुत कुछ आना-जाना रहा हो। इस बात पर हम निष्पक्ष भाव से विचार कर सकते हैं, क्योंकि हमारे लिए कलवार की दूकान-वाला शराबियों का अड्डा जितनी दूर है, उसकी अपेक्षा इन्द्रलोक की सुधा-पानवाली सभा कुछ दूर नहीं है; अर्थात् प्रत्यक्ष परिचय के विचार से वे दोनो ही हमारे लिए समान हैं। हमारे कहने की बात सिर्फ़ यह है कि लेखनी के जादू से और कल्पना के पारस के स्पर्श से शराबियों का अड्डा भी वास्तव हो सकता है और सुधा-पान की सभा भी। लेकिन हाँ, कल्पना का पारस होना चाहिये और आज-कल कुछ ऐसी अवस्था हो गई है कि टूटे-फूटे छन्दों में शराब की दूकान पर शराबियों के अड्डे की अवतारणा करने से ही उस पर आधुनिकता की छाप लग जाती है और जाँचनेवाले कहने लगते हैं हाँ यह कवि है—वे कहेंगे कि इसी को तो रियलिज़्म कहते हैं। लेकिन हम कहते हैं कि इसे रियलिज़्म नहीं कहते। रियलिज़्म की दुहाई देकर इस तरह का सस्ता कवित्व बहुत अधिक चल पड़ा है ; लेकिन वास्तव में आर्ट या कला इतनी सस्ती नहीं है। धोबी के यहाँ भेजे हुए मैले कपड़ों की सूची के सम्बन्ध में अवश्य ही कविता की जा सकती है और वास्तव की भाषा में उसमें ढेर का ढेर आदि रस, करुण रस और विभत्स रस भी भरा जा सकता है। नये ढंग की चतुष्पदी में यह विषय खूब मजे में लाया जा सकता है कि जिन स्वामी-स्त्री में दोनो वक्त खूब लड़ाई-झगड़ा और मार-पीट होती है, उनके कपड़े एक ही घाट पर एक साथ पछाड़े जाते हैं, एक साथ निर्मल होते हैं और अन्त में एक ही गधे की पीठ पर सवार होकर घर की तरफ़ चलते हैं। किन्तु केवल विषय के निर्वाचन से ही रियलिज़्म नहीं होता, रियलिज्म का विकास तो होता है रचना के जादू से। फिर उसमें भी निर्वाचन का यथेष्ट कार्य होना चाहिये ; और यदि यह बात न हो तो इस प्रकार की तुच्छ करनेवाली आवर्जना और कोई नहीं हो सकती। इस विषय में अधिक व्यर्थ की बातें न कहकर सम्पादकों से मेरा यही अनुरोध है कि आप लोग यह बात भले ही प्रमाणित करें कि रियलिस्टिक कविता भी कविता होती है; लेकिन वह रियलिस्टिक होने के कारण कविता नहीं होती; बल्कि कविता होने के कारण ही कविता होती है। यदि यह बात पसन्द न हो तो एक और बात का स्मरण करा देता हूँ। और वह है बहुत दिनों से बहुत अधिक पदाघात सहनेवाली ढेंकी की आत्म-कथा। प्राचीन काल में अशोक वृक्ष पर किसी सुन्दरी के पद-स्पर्श की जो मर्यादा मानी जाती थी, हो सकता है कि उसकी अपेक्षा ढेंकी को अधिक मर्यादा दी जा सके और विशेषतः ऐसी अवस्था में जब कि उस पर चुन-चुनकर असुन्दरियों का चरण-पात कराया गया हो। और यदि किसी सूखे हुए खजूर के पेड़ पर आप कुछ लिखना चाहें तो आप कह सकते हैं कि इस वृक्ष ने अपने रस के वयस में कितने भिन्न-भिन्न जीवनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नशों का संचार किया है; और उनमें हँसी भी थी, रोना भी था और भीषणता भी थी। वह नशा जिस श्रेणी के लोगों को हुआ था, उसमें राजा-महाराज तो थे ही नहीं, यहाँ तक कि एम० ए० के परीक्षार्थी ऐसे अन्यमनस्क युवक भी नहीं थे जो हाथ में घड़ी और आँखों पर चश्मा लगाते हैं और अपनी उँगलियों से बालों को खींचकर पीछे की ओर ले जाते हैं। कहते-कहते काव्य का एक और विषय याद हो आया। सिर में लगाने के तेल की एक ऐसी खाली शीशी है जिसका लेबुल भी निकल गया है और जिसके ऊपर का डाट भी नहीं है। वह शीशी अपने खोये हुए जगत को ढूँढ़ने के लिए चलती है। उसके साथियों में एक तो ऐसी कंघी है जिसके दाँत टूट गये हैं और दूसरा

साबुन का एक ऐसा पतला टुकड़ा है जो घिसते-घिसाते बहुत ही ज़रा-सा रह गया है। इस कविता का नाम रखा जा सकता है—आधुनिक रूप-कथा। उसके टूटे हुए छन्द से यह दीर्घ निश्वास निकल पड़ेगा कि वह खोया हुआ जगत् मुझे कहीं नहीं मिला। यह सुयोग पाकर किसी जमाने के दिवालिये अतीत की ये तीनों बची हुई चीजें विश्व-विधि और विधाता का एक बहुत अच्छा मज़ाक उड़ा सकती हैं। वे कह सकती हैं कि शौकीन मरीचिका के छद्म-वेश में इस महा-काल के रंगमंच का नट बाबुआना अभिनय करता था। लेकिन आज जब हम नेपथ्य की ओर झाँककर देखते हैं, तब उसे किसी तरह पहचान ही नहीं सकते। इस धोखेबाज जगत में यदि किसी को सत्य कहा जा सकता हो तो उसके प्रतीक राजद्वार के बाहर रहनेवाले हम ही कुछ लोग हैं। अर्थात् यह फेंकी हुई तेल की शीशी, यह दाँत टूटी कंघी और घिसे हुए साबुन का बचा हुआ टुकड़ा। हम ही रीयल या वास्तव हैं जो कूड़े-करकट की दौरी में से आधुनिकता की रसद पहुँचाते हैं। ज्योंही हम लोगों की बात समाप्त होती है, त्योंही दिखाई देता है कि चौलाई के साग का पौधा* ही नष्ट हो गया, काल की गोशाला का दरवाजा खुला हुआ है और उसमें की गौएँ दूध नहीं देतीं। लेकिन उसमें के चौपाये चौलाई का पौधा उखाड़कर खा रहे हैं। इसीलिए आज कवित्व के हाट में मनुष्य की सारी आशा, भरोसे और प्रेम के उस नष्ट-भ्रष्ट चौलाई के पौधे का इतना अधिक दाम बढ़ गया है। अब काल के उस चौपाये को भी ऐसा होना चाहिये कि उसकी हड्डियाँ निकल आयें, उसके सींग टूट जायँ, कौए की चोंच के आघात से उसकी पीठ क्षत-विक्षत हो जाय और गाड़ीवान की मार खाते-खाते वह बे-दम हो जाय। अब यदि लेखक की अन-वधानता से यह स्वस्थ और सुन्दर हो, तो उसे इस अपवाद से लांछित होना पड़ेगा कि वह मिड्-विक्टोरियन-युगीय है; और तब वह लेखक आधुनिक साहित्य-क्षेत्र से मारकर निकाल दिया जायगा और उसे मरने के लिए समालोचक के कसाईखाने में जाना पड़ेगा।

शान्तिनिकेतन।

---

* इसमें बँगला की उस कहावत की ओर संकेत है जिसका अर्थ होता है, ज्योंही हमारी बात पूरी हुई, त्योंही चौलाई का पौधा नष्ट-भ्रष्ट हो गया या हमारे विवेचन अथवा विवाद का कोई आधार ही न रह गया।—अनुवादक।

अन्तर्गान

[रामेश्वर शुक्ल 'अंचल']

[श्री रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' अभी बिलकुल नवयुवक हैं। कविता की प्रतिभा उनमें है और वह दिन दूर नहीं है जब वह हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में अपना स्थान सुरक्षित बना लेंगे। आपकी स्फुट कविताओं का एक मनोहर संग्रह अभी-अभी 'मधूलिका' नाम से निकला है। आजकल आप प्रयाग में रहते हैं।—सं०]

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते?

(१)

कौन आकुल प्राण को करते विकल उन्मन अचेतन,
कौन प्यासे-से दृगों में घूम भर जाते अपावन,
कौन विस्मृति की घड़ी में शेष करते गान मेरे—
कौन मतवाली हवा में खींचते सावन चितेरे?
दूर हो तुम आज कितने मैं सुलगती आज तुम बिन!
कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते?

(२)

कौन नूतन मेघ-से छलछल उड़े सीमन्तिनी में,
आ शिशिर-से भर गये कब शून्य नभ दिगन्तिनी में,
एक लज्जित स्पर्श भी पाया न जब क्यों आज आये?
सत्य से कितना अधिक उन्माद सपने में जगाये—
मोड़ दूँ पतवार चलने दूँ प्रलय-पथ पर तरी क्या?
कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते?

(३)

प्यास से जगती प्रभाती-सी लिये जब शेष जीवन
जन्म-जन्मों की निरति अतृप्ति क्यों चुकता न क्रन्दन
आज-सी विश्राम-हीना लालसा उमड़ी न तब से
शान्त अन्धड़ में चले ले शून्य आधी रात जब से
और आँखों में नमी ले रह गई एकाकिनी मैं!
कौन हो तुम आज अन्तर में प्रलय-सी सुधि जाते?

(४)

हो उठा किस गन्ध से व्याकुल अचेतन स्वप्न दृग में
बावली-सी घूम जाती गैल बन्धन बद्ध पग में
मुक्त श्रावण जल भिगोता था किसी का गात उन्मन
और बेतस बालिका-सी मैं सिहरती थी सजल तन
आज चिर बिछुड़ी तरी पर दूर का हिल्लोल छाया—
कौन सीमाहीन तृष्णा के सुरों में तुम लजाते?

(५)

प्यास क्यों बढ़ती विरह की वक्ष पर जब नील अम्बर
है तरंगों से भरी जलराशि, क्यों अवरुद्ध सागर?
चिर कुमारी की तृषा-सी क्यों उठी जल जल पिपासा
आज मीठी वेदना लाई अतल से यह दुराशा—
शून्य लक्षावधि हृदय ले जल रहे ऊपर ग्रहों से
कौन हो तुम जो विकल गृहहीन उडु-से टूट जाते?

(६)

स्वर्ग से आये उतर किस नरक का लघु पाप लेकर
भूलती जाती नियति मैं सर्वविजयी ताप लेकर,
दीखती बुझती न अमृत से प्रखर यह प्यास प्लावित,
आज मूर्छित हो चला असमय सृजन का सुख अपरिमित
गृह पवन लाया उड़ा फिर आज कुन्तल गन्ध गीता;
कौन हो तुम आज आधी रात तक छुटने न आते?

(७

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा-सी लगाते?

प्रयाग।

संयुक्तप्रांत के ग्राम्यगीत

[सुदर्शन]

[श्री सुदर्शन के परिचय की आवश्यकता नहीं है। वे हिंदी-भाषा के आज सबसे बड़े गद्यकार हैं। आपकी भाषा को ही यदि हम आदर्श हिंदुस्तानी मान सकें तो भाषा-संबंधी हमारे बहुत-से मतभेदों का अंत हो जाय। प्रस्तुत लेख में आपने इस प्रान्त के गद्यगीतों का बड़ा ही रोचक तथा सरस वर्णन किया है। 'हंस' को आज बहुत समय बाद सुदर्शनजी का लेख छापने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, यह हमारे और आपके हर्ष का विषय है। सुदर्शनजी अन्यथा व्यस्त रहने के कारण अब बहुत कम लिख पाते हैं। —सं०]

देशों और जातियों के जीवन में पुराने अनघढ़ ग्राम्यगीतों को वही महत्ता प्राप्त है, जो हमारे मनुष्य-जीवन में हमारे सुनहरे बाल-काल की रंगीन स्मृतियों को प्राप्त है। भारतवर्ष के ग्राम्यगीत भारतवर्ष के भले-बिसरे हुए ज़माने की वह यादगारें हैं, जिन्हें देखकर हम किसी दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। इस दर्पण में हम अपने पुराने भारतवर्ष की आत्मा देख सकते हैं, अपने पूर्वजों के विचार सुन सकते हैं और उनके दिलों की गहराइयों का अध्ययन कर सकते हैं। मगर हमारा ध्यान इधर नहीं जाता। या यों समझिये कि हमारा पुराना भारतवर्ष हमें अपनी तरफ़ बुलाता है, और हम गुमराह बच्चों की तरह उसकी आवाज़ को सुनकर भी नहीं सुनते। उसके पास हमारे लिए अनमोल हीरे-मोती हैं। वह हमें अपनी सम्पत्ति देना चाहता है, मगर हम उसे लेने को तैयार नहीं हैं। एक दिन आयेगा, जब इन रत्नों के लिए हम तरसेंगे और जगह-जगह की ख़ाक छानेंगे ; मगर यह रत्न हमारे हाथ न आयेंगे।

• • •

हमारा भारतवर्ष इस समय एक ख़ास युग से गुज़र रहा है। उसका गार्हस्थ्य-जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। उसकी आर्थिक स्थिति नष्ट हो गई है। उसके कला-कौशल का ईश्वर

इस लेख में जो गीत दिये गये हैं, उनमें से अधिकतर श्री० रामनरेश त्रिपाठी की पुस्तक ग्रामगीत से लिये गये हैं। अतः मैं उनका आभारी हूँ।—लेखक

ही रक्षक है। व्यापार के मैदान में हम दुनिया के सभी देशों से पीछे हैं। शिक्षा के विचार से अमेरिका के हबशी भी हमसे अच्छे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह सब बातें भारतवर्ष के दुर्भाग्य के लक्षण हैं; मगर सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है, भारतवर्ष से उसका भारतवर्ष छिन रहा है। हम भारतवर्ष में रहते हुए भी भारतवर्ष से दूर होते जा रहे हैं। मानो हम भारतीय नहीं हैं, किसी और देश के निवासी हैं। मानो हम यहाँ पैदा ही नहीं हुए। हमने अपने रहने के लिए एक ख़ास जगह बना ली है। हम उसी के अन्दर सन्तुष्ट हैं। हम वहीं रहते हैं, वहीं हँसते-खेलते हैं, वहीं बड़े होते हैं और बूढ़े होकर वहीं मर जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि हम हिन्दुस्तान में रहते हैं; मगर हमारा वह हिन्दुस्तान कहाँ है, जिसमें हमारे पूर्वज रहते थे, जिसमें हमारी स्त्रियाँ कूँओं से पानी भरती थीं, रात के पिछले पहर उठकर चरखा कातती थीं और अपने परदेस गये हुए पिया की याद में विरह और वियोग के हृदय-विदारक गीत गाती थीं? वह हिन्दुस्तान कहाँ है, जिसमें पीपल और बरगद की घनी छाँह थी, आम और इमली के हरे-भरे पेड़ थे, कोयल मीठे-मीठे बोल बोलती थी, और बहन ससुराल में जाकर अपने भाई का रास्ता देखती थी? वह सौन्दर्य और सुगंध का संसार, वह काव्य और कला का कुंज, वह प्यार और पवित्रता का परिस्तान कहाँ चला गया?

• • •

वह देश हमसे दूर नहीं है; मगर हमारी बीसवीं सदी की सभ्यता हमें उधर देखने की आज्ञा ही नहीं देती। जब हम उसकी तरफ़ बढ़ते हैं, तो हमारी भाषा दीवार बनकर बीच में खड़ी हो जाती है और हम उस देश के लिए तरसते और तड़पते रह जाते हैं, जो हमारे पूर्वजों की बस्ती है, जिसमें पुराने हिन्दुस्तान के पुराने, लेकिन दिल में गुदगुदी पैदा करनेवाले दृश्य आज भी अपनी पूरी शान और शोभा के साथ मौजूद हैं। वह देश ग्राम्यगीतों में बसा हुआ है; मगर हमारे कमज़ोर हाथों में इतना बल कहाँ कि जबान की उस दीवार को हटा सकें, जो हमारे और उस बस्ती के बीच में खड़ी है? ज़रा सुनिये, चाँद और चन्दन के इस महान जगत से कुछ मीठी-मीठी आवाज़ें आ रही हैं।

कमर में सोहै करधनियाँ पाँव पैजनियाँ।
ललन दूरि खेलन जनि जाओ ढुँढ़न हम न अउबै॥ १॥
सात बिरन की बहिनियाँ बाप धिया एकै।
हरिजी के परम पियारि ढूँढ़न कैसे अउबै॥ २॥
भोर भये भिनसरवा कलेवना की जुनियाँ।
होइगै कलेवना की बेर ललन नहिं आये॥ ३॥
सात बिरन की बहिनियाँ बाप कै एकै।
मैया बाबू कै परम पियारि ढूँढ़न कैसे आइउ॥ ४॥
छाँडेउ मैं सातौ बिरनवा बाप कै नैहर।
छोड़ दिन्हौं हरि की सेजरिया ढूँढ़न हम आइन॥ ५॥
जैसे कुम्हार क औंवाँ त भभकि-भभकि रहै।
बेटा वैसइ माई क करेजवा त धधकि-धधकि रहै॥ ६॥

भावार्थ—बच्चे की कमर में करधनी है और पैरों में घुँघरू बँधे हैं। मा कहती है—बेटा, कहीं दूर न चले जाना, मैं ढूँढ़ने नहीं निकलूँगी। १।

मैं सात भाइयों की बहन हूँ। मैं अपने बाप की इकलौती बेटी हूँ। मैं अपने पति की परम प्यारी हूँ। भला मैं घर से बाहर कैसे निकल सकती हूँ। २।

दिन चढ़ आया। जल-पान का समय हो गया। लेकिन लड़का नहीं आया। ३।

मा व्याकुल होकर घर से बाहर निकल आई। देखा कि लड़का बाहर खेल रहा है।

लड़के ने हँसकर पूछा—मा, तू तो सात भाइयों की बहन है और अपने बाप की इकलौती बेटी है और मेरे पिता की परम प्यारी है। तू घर से बाहर कैसे निकल आई। ४।

मा ने ज़वाब दिया—बेटा! मैंने सातो भाइयों की इज़्ज़त छोड़ दी, बाप का ख़याल छोड़ दिया और तेरे पिता के प्रेम की भी परवाह नहीं की और तुझे ढूँढ़ने के लिए बाहरनिकल आई। ५।

बेटा, अभी तू अनजान है; तू क्या जाने? जिस तरह कुम्हार का आँवाँ सुलगता है, उसी तरह बेटे की जुदाई में मा का दिल भी सुलगता रहता है। ६।

यह गीत मा का खुला हुआ दिल है। पहले उसे अपने भाइयों पर मान था, बाप पर अभिमान था और पति के प्रेम का भरोसा था। मगर लड़के की खातिर वह किसी बात की भी परवाह नहीं करती। लड़का आँखों से ओझल हो जाय तो उसकी दुनिया अँधेरी हो जाती है। वह बेचैन होकर घर से बाहर निकल आती है। अन्तिम चरण कितना हृदय-विदारक है। बेटे की जुदाई में मा का कलेजा इस तरह सुलगता रहता है, जिस तरह कुम्हार का आँवाँ सुलगता है। जिसने यह गीत बनाया है, उसने, ईश्वर जाने छन्दशास्त्र पढ़ा था या नहीं; लेकिन इसमें शक नहीं कि उसने माता की प्रकृति का गम्भीर अध्ययन किया था।

• • • • •

रामचन्द्र के वनवास का दुःखपूर्ण दृश्य हजारों कवियों ने बयान किया है। अपनी-अपनी जगह पर वे सभी वर्णन बहुत अच्छे हैं और दिल पर असर करनेवाले हैं। मगर जो तासीर गाँव के किसी अज्ञात कवि ने इस गीत में भर दी है, वह किसी को नसीब नहीं हुई।

सोने के खरउवाँ राजा राम कउसिला से अरज करइ हो राम।
हुकुम न देउ मोरी मैया, मैं बन कै सिधारउँ हो राम॥ १॥
राम तो मोर करेजवा लखन मोरी पुतरी हो राम।
अरे रामा सीता रानी हाथ क छुरिया कैसे बन भाखउँ हो राम॥ २॥
पोयउँ मैं घिये क सोहरिया दुधे कर जाउरि हो राम।
अरे रामा एतना जेवन मोर बिख भा राम मोर बन गये हो राम॥ ३॥
चारि मँदिल चारि दीप बरै हमरा अकेल बरइ हो राम।
रामा मोरे लेखे जग अँधियार राम मोर बन गये हो राम॥ ४॥
भितराँ से निकसी कउसिला नैनन नीर बहइ हो राम।
रामा राम लखन सीता जोड़िया कवनै बन होइहैं हो राम॥ ५॥
राम बिना सूनी अजोध्या लखन बिन मन्दिल हो राम।
मोरी सीता बिन सूनी रसोइया कइसे जियरा बोधब हो राम॥ ६॥
मन्दिल दीप जरइबै और सेजिया लगइबै हो राम।

रामा आधी रात होरिला दुलरबै जनुक राम घरहिन हो राम ॥ ७ ॥
सवनाँ भदवनाँ क दिनवाँ घुमरि घन बरसहि हो राम।
रामा राम लखन दूनो भइया कतहुँ होइहैं भींजत हो राम ॥ ८ ॥
रिमिकि झिमिकि दयू बरसइ मोरे नाहीं भावै हो राम।
दैवा ओहि बन जाइ जनि बरसहु जहाँ मोर लरिकन हो राम ॥ ९ ॥
राम क भींजै मुकुटवा लखन सिर पटुका हो राम।
मोरी सीता क भींजै सेंदुरवा लवटि घर आवहु हो राम ॥ १० ॥

भावार्थ—रामचन्द्रजी सोने के खड़ाऊँ पहने हुए अपनी मा कौशल्या के पास आये और बोले—ऐ मेरी मा! मैं तुमसे वन जाने की आज्ञा माँगने आया हूँ। १।

मा कहती है—राम मेरे प्राण हैं, लक्ष्मण मेरी आँखों की पुतली है और सीता मेरे हाथ की चूड़ी है। हाय, मैं उन्हें वन भेजने के लिए कैसे आज्ञा दे दूँ। २।

मैंने घी की पूरियाँ बनाई हैं और दूध की खीर पकाई है। हाय! मेरा राम वन को चला गया। मुझे यह सब ज़हर-सा लगता है। ३।

चारो मन्दिरों में चार दीपक जल रहे हैं, मेरे मन्दिर में एक ही दीपक जलता है। मगर मुझे तो मालूम होता है जैसे सारे संसार में अँधेरा हो गया है। ४।

कौशल्या महल के अन्दर से रोती हुई निकली और ठंडी साँस लेकर बोली—हाय! मेरे राम, लक्ष्मण और सीता किस वन में होंगे। ५।

राम के विना मेरी अयोध्या उजाड़ है, लक्ष्मण के विना मेरा महल वीरान है और सीता के विना मेरी रसोई सूनी है। मेरे व्याकुल हृदय को किस तरह शान्ति प्राप्त हो। ६।

रात को मैं दीया जलाऊँगी, सेज बिछाऊँगी और जब आधी रात हो जायगी, तब अपने बेटे को प्यार करूँगी, मानो मेरा बेटा मेरे पास है और मेरे महल में सोया हुआ है। ७।

सावन-भादों के दिन हैं, बादल घुमड़-घुमड़कर बरस रहे हैं। परन्तु हाय! राम और लक्ष्मण न जाने किस वन में भीग रहे होंगे। ८।

आज पानी बरस रहा है। जल-थल एक हो रहा है। मगर हे मेघ! मेरे बेटे जंगल में हैं। वहाँ तुम मत बरसना; नहीं तो वे भीग जायँगे। ९।

राम का मुकुट भीग रहा है, लक्ष्मण के कन्धे का दुपट्टा भीग रहा है और मेरी सीता की माँग का सिन्दूर भीग रहा है। मेरे पुत्रो! तुम तीनो घर चले आओ, जंगलों में बड़ी तकलीफ़ें हैं। १०।

शब्द कितने सीधे-सादे हैं। मगर उनके अन्दर मा की ममता छिपी हुई है। ऐसा पत्थर को भी पिघलाकर पानी की तरह बहा देनेवाला वर्णन संस्कृत और हिन्दी के कवियों में से भी शायद ही किसी ने किया होगा। पढ़कर आँखों में आँसू आ जाते हैं। साफ़ मालूम होता है कि यह गीत किसी दुखिया मा का बनाया हुआ है। यही कारण है कि इसमें केवल काव्य-कल्पना ही नहीं है; बल्कि प्यार और दुलार भी कूट-कूटकर भरा हुआ है। और फिर एक-एक बात स्वाभाविकता के रस में समोई हुई है। बनावट का कहीं नाम-निशान भी नहीं है।

• • •

ब्याह के अवसर पर संयुक्तप्रान्त की स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, वे कितने भावोत्पादक और रसीले हैं। एक नमूना लीजिये :—

सोवत रहलिउँ मैं मैया के कोरवाँ मैया के कोरवाँ हो।
मेरी भौजी जे तेल लगावैं तौ मुँड़वा गुँधन करै हो ॥ १ ॥
आई हैं नाउनि ठकुराइन तौ बेदिया चढ़ि बैठी हो।
वै तो ललित मेहावरि देय तौ चलन चलन करै हो ॥ २ ॥
एक कोस गई दूसर कोस गई तिसरे माँ बिन्द्राबन हो।
धना झालरि उघारि जब चितवैं मोरे बाबा के कोई नाहीं हो ॥३॥
लिल्ले घोड़ा चितकाबर दुलहा जे बोलै हो।
उनके हथवा सबज कमान अपान हम होई हो ॥ ४ ॥
भूख माँ भोजन खियैहौं मैं पियासे माँ पानी दैहौं हो।
धनिया रखबौं मैं हियरा लगाय बबैया बिसर जैहौं हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मैं अपनी मा की गोद में सोती थी और मेरी प्यारी भाभी मेरे सिर में तेल लगाकर मेरे बाल बनाती थी। १।

यह नाइन ठकुराइन आई है और वेदी पर चढ़ बैठी है। मेरे पैरों में इसने बहुत ही सुन्दर महावर लगा दी है और मुझे बार-बार चलने को कहती है। २।

एक कोस गई, दो कोस गई, तीसरे कोस पर वृन्दावन आ गया। दुलहिन ने पालकी का परदा उठाकर देखा तो उसे अपने बाप की तरफ़ का कोई भी आदमी दिखाई न दिया। ३।

नीले चितकबरे घोड़े पर दुलहा सवार था और उसके हाथ में हरे रंग की कमान थी। उसने कहा—घबराओ नहीं, तुम्हारा मैं हूँ। ४।

भूख लगेगी, मैं खाना खिलाऊँगा, प्यास लगेगी, मैं पानी पिलाऊँगा। हे मेरी प्यारी स्त्री! मैं तुम्हें गले से लगाकर रखूँगा, तू अपने बाप को भी भूल जायगी। ५।

● ● ●

ब्याह का एक और गीत देखिये। कितना दर्द भरा है कि कलेजे से हूक-सी उठती हुई मालूम होती है।

खाइ लेहु खाइ लेहु रे दहिया से रे भात।
तोहरी ऊ बिदवा बेटी बड़े भिनु रे सार ॥ १ ॥
बिरना कलेउआ ए अम्माँ हँसी खुशी रे द।
हमरा कलेउआ ऐ अम्माँ दिहेउ रिसियाइ ॥ २ ॥
हम अउ बिरना ऐ अम्माँ जनमे एक रे संग।
संग संग खेलेउँ रे अम्माँ खायउँ एक रे संग ॥ ३ ॥
भइया के लिखला ऐ अम्माँ बाबा कइ रे राज।
हमरा लिखला ऐ अम्माँ अति बड़ी दूर ॥ ४ ॥
अँगना घूमि आ रे घूमि अम्माँ जे रोवैं।
कतहूँ न देखउँ ऐ बेटी नेपुरवा झमकान ॥ ५ ॥

भावार्थ—किसी लड़की का ब्याह हो चुका है और दूसरे दिन उसकी बिदाई होनेवाली

है। उस समय उसकी मा रोती हुई कहती है—ऐ मेरी बेटी! चावल और दही खा ले, कल सवेरे ही तुझे यहाँ से चल देना है। १।

लड़की उत्तर देती है—हे मा, जब तू भइया को खाना खिलाती थी, तो हँस-हँसकर खिलाती थी; मगर मुझे खाना खिलाते समय तेरे मुँह पर कुछ नाराज़गी आ जाती थी। २।

हे मा! मैं और भैया दोनो एक ही पेट से पैदा हुए, एक ही आँगन में खेले-कूदे, एक ही साथ खाते-पीते रहे। मगर अब उसे तो बाप का सारा राज मिल गया; लेकिन मुझे परदेश में धकेल रही हो। ३।

लड़की के चले जाने पर मा आँगन में चारो तरफ़ खोजती फिरती है और रो-रोकर कहती है—हाय मेरी बेटी की पाज़ेब की झनकार कहीं सुनाई नहीं देती।

कैसे कलेजे में उतर जानेवाले भाव हैं। लेकिन उस समय का ध्यान कीजिये, जब ब्याह के बाद लड़की बिदा होने को है। मा-बाप दोनो उसे गले लगाते हैं और फूट-फूटकर रोते हैं। सामने दुलहा और बारात के सब आदमी दुलहिन को ले जाने के लिए खड़े हैं और औरतें मिलकर दर्द भरी आवाज़ में गाती हैं। उस समय इस दर्द भरे गीत से जमीन और आसमान दोनो थर्रा उठते हैं।

• • •

एक बहुत ही छोटी उमर की लड़की का ब्याह एक अस्सी बरस के एक बुड्ढे से होने को है। उस समय स्त्रियाँ एक उपयुक्त गीत गाती हैं। यह गीत कितना अर्थ पूर्ण और भावमय है कि दिल पर छुरियाँ चल जाती हैं।

पाँच बरिसवा की मोरी रँगरेली असिया बरिस कै दमाद।
निकरि न आवै त मोरी रँगरेली अजगर ठाढ़ै दुआर॥ १॥
आँगन किचकिच भीतर किचकिच बुढ़ऊ गिरे मुँह बाय।
सात सखी मिलि बुढ़ऊ उचावैं बुढ़ऊ सेंदुर पहिराव॥ २॥

भावार्थ—इधर हमारी पाँच बरस की दुलारी बेटी है, उधर अस्सी बरस का बुड्ढा खूसट दामाद है। आ मेरी प्यारी बेटी! बाहर निकल आ। दरवाज़े पर तुझे निगलने के लिए अजगर मुँह बाये खड़ा है॥ १॥

आँगन में भी कीचड़ है, भीतर भी कीचड़ है। बुड्ढा मुँह के बल गिर पड़ा। सात सहेलियों ने मिलकर उसे उठाया और कहा कि चलकर लड़की की माँग में सिन्दूर डाल दो।

अस्सी बरस के बुड्ढे की अजगर के साथ उपमा देकर गीत बनानेवाले या बनानेवाली ने जो कवित्वमय सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है, उसकी तारीफ़ नहीं हो सकती। अजगर भी भयानक होता है, बुड्ढा भी भयानक होता है। जिस तरह अजगर एक ही जगह पड़ा रहता है, उसी तरह बुड्ढा भी एक ही जगह पड़ा रहता है और हिल-डुल नहीं सकता। और अन्त में जिस तरह अजगर अपने शिकार को धीरे-धीरे निगल जाता है, उसी तरह बुड्ढा पति भी अपनी जवान स्त्री की आशाओं, उमंगों, अरमानों और यहाँ तक कि खुद उसको भी निगल जाता है। यह गीत नहीं है, बड़ी अवस्था के वर के साथ ब्याह करने के विरुद्ध स्त्रियों के दिल की चीत्कार है। ईश्वर करे स्वार्थी, जोबन के लोभी अंधे नर-पिशाच अबलाओं का यह चीत्कार सुनें और

इस प्रकार के ब्याहों को, जिन्हें ब्याह कहना ब्याह शब्द का अपमान करना है, सदा के लिए बन्द कर दें।

• • •

की हो दुलहे रामा अमवा लुभाने की गये बटिया भुलाय।
कब से रसोइया लिहे हम बैठीं जोवउँ मैं एकटक राह॥ १॥
दुलहिन रानी न अमवा लुभाने ना गये बटिया भुलाइ।
बाबा के बगिया कोइलिया एक बोलै कोइलि सबद सुनो ठाढ़॥ २॥
चिठिया एक लिखि पठइन दुलहिन दिहौ कोइलरि के हाथ।
तनि एक बोलिया नेवरतिउ कोइलरि परभु मोर जॅवन के ठाढ़॥ ३॥
चिठिया एक लिखि पठइन कोइलरि दिहौ दुलहिन देइ के हाथ।
ऐसइ बोलिया तु बोलि के दुलहिन दुलहे न लेतिउ बिलमाय॥ ४॥

भावार्थ—ऐ मेरे प्रीतम ! क्या तुम आम के वृक्ष पर रीझ गये थे ? या घर का रास्ता भूल गये थे ? मैं कब की तुम्हारा भोजन तैयार करके तुम्हारी राह देख रही हूँ। १।

प्रीतम ने उत्तर दिया—हे मेरी दुलहिन-रानी ! न मैं घर का रास्ता भूला था, न वृक्ष के पेड़ पर रीझा था। मेरे बाप के बाग में कोयल बोल रही थी। वहीं मुझे देर हो गई। २।

दुलहिन ने कोयल को एक चिट्ठी लिखकर भेजी—हे कोयल रानी ! कृपा करके थोड़ी देर के लिए अपनी बोली बन्द कर दो। मेरा प्रीतम भोजन करने के लिए घर आ रहा है।

कोयल ने जवाब दिया—हे दुलहिन-रानी ! अगर तुम भी मेरी तरह ऐसी ही मीठी बोली बोला करो, तो तुम्हारा पिया किसी दूसरी पर क्यों रीझे। ४।

• • •

एक पतिव्रता स्त्री अपने पति को वश में करना चाहती है। मगर किस तरह वश में करे ? इसका उत्तर यह गीत देगा। यह गीत स्त्रियाँ सावन के महीने में गाती हैं।

जाने न देऊँ बर पकड़ि रखौंगी।
मैं तेरे दिल में बसौंगी।
हाँ हाँ रे बन्ने तेरे सिर की पगिया हौंगी।
पेंचा होइकै रहसि रहौंगी—मैं तेरे दिल में बसौंगी॥
जाने न देऊँ बर पकड़ि रखौंगी॥ १॥
हाँ हाँ रे बन्ने तेरे माथे का चन्दन हौंगी।
सुरमा होइकै रहसि रहौंगी—मैं तेरे दिल में बसौंगी॥
जाने न देऊँ बर पकड़ि रखौंगी॥ २॥
हाँ हाँ रे बन्ने तेरे काने क मोती हौंगी।
चुन्नी होइकै रहसि रहौंगी—मैं तेरे दिल में बसौंगी॥
जाने न देऊँ बर पकड़ि रखौंगी॥ ३॥
हाँ हाँ रे बन्ने तेरे पायँ कै मौजा हौंगी।
मेंहदी होइकै रहसि रहौंगी—मैं तेरे दिल में बसौंगी॥
जाने न देऊँ बर पकड़ि रखौंगी॥ ४॥

हाँ हाँ रे बन्ने तेरी रैन का चन्दा होंगी।
चन्दा होइकै छिटकि रहौंगी—मैं तेरे दिल में बसौंगी ॥
जाने न देऊँ बर पकड़ि रखौंगी ॥ ५ ॥

भावार्थ—मेरे प्रीतम ! मैं तुम्हे कहीं जाने न दूँगी। मैं तुम्हारे दिल में रहूँगी। मैं तुम्हारे सिर की पगड़ी बनकर रहूँगी और उसका पेंच बन जाऊँगी। और इस तरह तुम्हारे दिल में बसूँगी। १।

मेरे प्रीतम ! मैं तुम्हें कहीं जाने न दूँगी। मैं तुम्हारे माथे का चन्दन और आँखों का सुरमा होकर रहूँगी। और इस तरह तुम्हारे दिल में बसूँगी। २।

मेरे प्रीतम ! मैं तुम्हें कहीं जाने न दूँगी। मैं तुम्हारे कानों का मोती बनूँगी और चुन्नी होकर रहूँगी। और इस तरह तुम्हारे दिल में बसूँगी। ३।

मेरे प्रीतम ! मैं तुम्हें कहीं जाने न दूँगी। मैं तुम्हारे पैरों का मोजा और तुम्हारे पैरों के तलुओं की मेंहदी बनकर रहूँगी। और इस तरह तुम्हारे दिल में बसूँगी। ४।

मेरे प्रीतम ! मैं तुम्हें कहीं जाने न दूँगी। मैं तुम्हारी रात का चाँद बनकर रहूँगी और चाँदनी होकर छिटकूँगी। और इस तरह तुम्हारे दिल में बसूँगी। ५।

सावन का महीना हो, आसमान में काले-काले बादल घिरे हों, पेड़ की डाल में झूला पड़ा हो, छोटी उमरवाली दुलहिन मुस्कुरा-मुस्कुराकर झूला झूल रही हो और प्रेम का यह अनुपम गीत गा रही हो, तब भी अगर पति अपनी पत्नी को हृदय में न बैठा ले तो समझना चाहिये कि उस कम्बख़्त के सीने में दिल नहीं पत्थर का टुकड़ा है।

• • •

काहे को ब्याहो बिदेस—सुन बाबल मोरे !
हम तो बाबल तोरे अँगना क चिड़ियाँ
खायँ, चुगें उड़ जायँ—बाबल मोरे !
कोठे तले से जो डोला निकला
बीरन खाये पछाड़—बाबल मोरे।
बीरन क दीनो महला दुमहला
मोहे दियो परदेस—बाबल मोरे !

एक लड़की दूर ब्याही गई है। सुसराल में जाकर उसे मा-बाप याद आते हैं। वह घर जाना चाहती है। बहन-भाइयों से, सखी-सहेलियों से मिलना चाहती है। मगर वह दूरब्याही गई है। सुसराल के लोग कहते हैं—अभी नहीं, फिर सही। उस समय उसके नारी-हृदय में क्या विचार उठते हैं ?

भावार्थ—ऐ मेरे बाप ! तूने मुझे इतनी दूर क्यों ब्याह दिया ?

मैं तेरे आँगन की चिड़िया थी। तुझे मालूम था कि यह चार दिन चर-चुग-कर उड़ जायँगी। फिर भी तूने मुझे इतनी दूर क्यों ब्याह दिया ?

जब मेरा डोला तेरे कोठे के नीचे से निकला तो मेरा वीर (भाई) पछाड़ खाकर गिर पड़ा। ऐ मेरे बाप, तूने मुझे इतनी दूर क्यों ब्याह दिया ?

मेरे भाई को तो तूने इकमंज़ला-दुमंज़ला मकान दिया। मुझे परदेश दिया। ऐ मेरे बाप, तूने मुझे दूर क्यों ब्याह दिया?

• • •

माई तलवा कुहकइ मोर।
माई जेठरा भइअवा जिनि पठये सावन नीअर।
माई सार-बहनोइया एकै होइहैं सावन नीअर॥ १॥
माई बभना क पुतवा जिनि पठये सावन नीअर।
माई पोथिया बाँचन लगिहैं सावन नीअर॥ २॥
माई लहुरा भइअवा पठये सावन नीअर।
माई रोइ-गाइ बिदवा करइहैं सावन नीअर॥ ३॥

भावार्थ—ऐ मेरी मा! तालाब के किनारे मोर बोलने लगे। सावन का महीना अपने झूले लेकर आ गया। मुझे ले जाने के लिए किसी को भेज दे।

लेकिन ऐ मेरी मा! बड़े भइया को मत भेजना। साला और बहनोई दोनो एक हो जायँगे। १।

ऐ मेरी मा! ब्राह्मण के बेटे को भी मत भेजना। वह यहाँ आकर कथा कहना शुरू कर देगा। २।

ऐ मेरी मा! मेरे छोटे भाई को भेजना। वह यहाँ रोकर, गाकर और खुशामद करके किसी न किसी तरह मुझे बिदा करा ही ले जायगा। ऐ मेरी मा! सावन का महीना आ गया। मुझे ले जाने के लिए किसी को भेज दे। ३।

• • •

आवत देखे मैं दुइ हो सिपहिया रे ना।
रामा एक साँवर एक गोर हो ना॥ १॥
गोर हयेनि मोर माई क पुतवा।
रामा साँवर ननदजी के भैया रे ना॥ २॥
मैदा चाल-चाल लुचई पोवइ रे ना।
बहुअर खूँट लाई बथुआ क सगवा रे ना॥ ३॥
सोने क थरिया में जेवना परोस्यों रे ना।
रामा परान से घिअना के धरिया रे ना॥ ४॥
रामा जेंवन बैठे सार बहनोइया रे ना।
रामा सरजू के ओरे अनसवाँ रे ना॥ ५॥
की भइया समुझिहै माई कलेवना रे ना।
भइया की रे बहू के जुड़-बोलिया रे ना॥ ६॥
ना हम समझे भाई माई कलेवना रे ना।
भाई नाहीं बहू मोर जुड़-बोलिया रे ना॥ ७॥
चन्दा सिरजा ऐसी बहिनी संकल्प्यो रे ना।
हाय जरजर भई है कोइलिया रे ना॥ ८॥

बैठो ना मेरे भइया मालिन ओसरवा रे ना।
भइया मोरा दुख कहे मालिन धिरिया रे ना॥ ९॥
कै मन कूटूँ भइया कै मन पीसूँ रे ना।
भइया कै मन सँजोऊँ रसोइया रे ना॥ १०॥
सासू खाँच भर बसना मँजावे रे ना।
सास पनिया पताल से भरावै रे ना॥ ११॥
सबका खियाऊँ भइया सबका पियाऊँ रे ना।
भइया बचि जाय पिछली टिकरिया रे ना॥ १२॥
पहरूँ मैं भइया मुग्राय सबकी तउरवा रे ना।
भइया सरी गली फटी लुगरिया रे ना॥ १३॥
लोहा जरै जैसे लोहरवा दुकनिया रे ना।
मोरी बहिन जरै तैसे ससुररिया रे ना॥ १४॥
इ दुख जनि कहियौ भइया भौजी के अगवाँ रे ना।
भौजी दुइ-चार घर कहि अइहैं रे ना॥ १५॥
इ दुख जनि कहियो भइया माई के अगवाँ रे ना।
माई छतिया फटि मरि जैहैं रे ना॥ १६॥
इ दुख जनि कहियो भइया चाची के अगवाँ रे ना।
चाची झगड़ा लड़ैया ठेलना देइहैं ना॥ १७॥
इ दुख जनि कहियो भइया बाबा के अगवाँ रे ना।
सभवा बइठि बाबा रोइहैं रे ना॥ १८॥
इ दुख जनि कहियो भइया बहिनियाँ के अगवाँ रे ना।
बहिन हलिया सुनि ससुरे न जैहैं रे ना॥ १९॥
इ दुख कहियो भइया अगुआ के अगवाँ रे ना।
भइया जिन मोरी करी अगुवैया रे ना॥ २०॥
इ दुख कहियो भइया बम्हना के अगवाँ रे ना।
भइया जिन मोरा लगन बिचारथो रे ना॥ २१॥
इ दुख तुम भइया मन ही में राख्यो रे ना।
भइया करम लिखा तस भोगब रे ना॥ २२॥
सब दुख बाँध्यो भइया अपनी मोटरिया रे ना।
भइया नदिया दिहेसि पौंढाई रे ना॥ २३॥

भावार्थ—लड़की ससुराल में अपने भाई का इन्तज़ार कर रही है। दो सिपाही घोड़ों पर सवार आ रहे हैं। उनमें से एक का रंग गोरा है, दूसरे का साँवला। १।

गोरा मेरी मा का बेटा है, साँवला मेरी ननद का भाई (पति) है। २।

उनके लिए उसने मैदे की पूरियाँ और बथुए का साग बनाया। ३।

सोने के थाल में भोजन परोसा और उसमें बढ़िया घी डाल दिया। ४।

साला और बहनोई दोनो खाने बैठे। खाते-खाते बहन को देखकर भाई की आँखों में आँसू आ गये। ५।

बहनोई ने पूछा कि तुम रोते क्यों हो ? अपनी मा के हाथ का भोजन याद आ रहा है या अपनी स्त्री की मीठी-मीठी बातें याद आ रही हैं। ६।

साले ने जवाब दिया—न तो मुझे अपनी मा के हाथ का भोजन याद आ रहा है और न स्त्री की मीठी-मीठी बातें याद आ रही हैं। मैंने तुम्हें अपनी चाँद और सूरज-सी बहन दी थी। मगर तुमने उसे इतना जलाया कि वह कोयल हो गई है। यही देखकर मेरी आँखों में आँसू आ गये हैं। ७-८।

बहन ने दुःख-पूर्ण स्वर में कहा—भाई ! तुम ज़रा मालिन के मकान तक चले जाओ। वह तुमसे मेरे दुःखों का हाल कहेगी। वह तुम्हें बतलायेगी कि मुझे कै मन कूटना पड़ता है, कै मन पीसना पड़ता है और कै मन भोजन बनाना पड़ता है। ९-१०।

मेरी सास बड़ी ज़ालिम है। मुझसे टोकरा भर बरतन मँजवाती है और पाताल जैसे गहरे कूएँ से पानी भरवाती है। ११।

भइया ! मैं सबको खिलाती-पिलाती हूँ और सबके बाद जो आखिरी रोटी बच जाती है, वह मुझे खाने को मिलती है। पहनने का यह हाल है कि जो कपड़े घर के लोग उतारकर फेंक देते हैं, वही गले-सड़े चीथड़े मुझे दिये जाते हैं। मेरे नसीब में नये कपड़े कहाँ ? १२-१३।

भाई के दिल पर चोट लगी। उसने कहा, हाय ! जिस तरह लोहार की दूकान पर लोहा जलता है, उसी तरह मेरी बहन ससुराल में जल रही है। १४।

बहन ने कहा—भइया ! मेरा यह दुःख भाभी से मत कहना। वह अपनी सखी-सहेलियों से कहती फिरेगी। मेरा यह दुःख मा से भी मत कहना। नहीं तो मारे दुःख के उसकी छाती फट जायगी। १५-१६।

मेरे प्यारे भाई ! मेरा यह हाल चाची से भी मत कहना नहीं तो वह लड़ाई-झगड़े के समय मेरी मा को ताने देगी। मेरा यह दुःख मेरे बाप से भी मत कहना नहीं तो चौपाल की भरी सभा में सब लोगों के सामने उसका सिर झुक जायगा। १७-१८।

भइया ! मेरी यह कहानी बहन से भी मत कहना, नहीं तो वह मारे डर के अपनी ससुराल नहीं जायगी। १९।

हाँ, यह हाल उस नाई से कहना जिसने मेरा ब्याह ठीक कराया था और उस ब्राह्मण से भी कहना जिसने मेरे ब्याह की लगन देखी थी।। २०-२१।

सबके अन्त में बहन कहती है—भइया ! सबसे अच्छा तो यही है कि मेरा यह हाल किसी से भी न कहना। जो मेरे भाग्य में बदा था, वह हो गया। ये सब बातें अपने मन में ही रहने दो। किसी से कहने से क्या लाभ होगा। इन सब दुःखों को अपनी गठरी में बाँध लेना और जाते समय वह गठरी नदी में फेंक देना। २२-२३।

• • •

यह गीत नहीं है, भारत के घरों में बहुओं पर प्रायः जो ज़ुल्म किये जाते हैं, उनकी सच्ची-सच्ची तसवीर है। उन्हें अच्छा भोजन नहीं दिया जाता, अच्छा कपड़ा नहीं दिया जाता,

उनसे दिन-रात मेहनत का काम लिया जाता है और वे बे-ज़बान जानवरों की तरह ये सब बातें बरदाश्त करती हैं और इस पर कमाल यह है कि वे अपनी इस दुर्दशा पर भी मन में धैर्य और सन्तोष रखती हैं। इतना भी नहीं चाहतीं कि उनके दुःखों की कहानी उनके घर के लोगों तक पहुँचे। अन्तिम चरण कितना हृदय-विदारक है! बहन कहती है—ऐ मेरे भाई! मेरे मुँह से जो कुछ निकल गया; उसे नदी के उस पार न ले जाना। घरवालों का दिल दुखेगा; और ससुराल की बदनामी होगी। मेरे भाग्य में जो बदा था, वह हो गया।

ईश्वर जाने, यह गीत किस मूर्ख (?) और अशिक्षित गँवार (?) ने बनाया है, लेकिन सच तो यह है कि जो भाव और जो टीस इस गीत में है, वह हिन्दी और उर्दू के बड़े-बड़े कवियों के बड़े-बड़े काव्यों में भी नहीं है। यह काव्य नहीं है, किसी दुखिया का दिल है; कितना घायल! कितना खून से लथपथ!! स्त्री की जलन की यह हृदयविदारक दुःखपूर्ण कहानी जब किसी लेखक ने न सुनी, तब उसने अपनी ही जिन्दगी के टूटे-फूटे अपूर्ण शब्द तलाश किये और उनमें अपने दिल की आग की लपटें लपेट दीं। यह शब्दों की कविता नहीं है, भावों की कविता है जो हृदय से निकलते हैं, हृदय में आग लगा देते हैं। मैंने संयुक्तप्रान्त में लोगों को इस गीत पर फूट-फूटकर रोते हुए देखा है।

कितने दुःख की बात है कि ये गीत, जिनमें हमारे प्राचीन भारत की आत्मा छिपी हुई है, हमसे दूर होते चले जा रहे हैं! इनमें कविता है, इनमें संगीत है। इनमें सौन्दर्य है, इनमें दर्द है। इनमें मन के भीतरी भाव हैं, इनमें आग है। इनमें तासीर है और इनमें मनुष्य को आपे से बाहर कर देने की शक्ति है। हम शेक्सपियर और बायरन पर लट्टू हैं, कालिदास और ग़ालिब के प्रशंसक हैं और इनके लिए हम दूर-दूर तक दौड़े चले जाते हैं। मगर हमसे पाँच कोस की दूरी पर काव्य और संगीत की जो सुनहरी नगरी लुट रही है, उसकी तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं है।

कलकत्ता।

जीवन-वसन्त

[रामकुमार वर्मा]

[श्री रामकुमार वर्मा हिंदी के प्रथम श्रेणी के कवि हैं। आपने कुछ एकांकी नाटक तथा निबंध भी लिखे हैं। आपने जो लिखा है वह सुन्दर और सुरुचि-पूर्ण लिखा है। आप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं। —सं०]

जीवन-वसन्त आया।
पीड़ा का कंटक मेरे—
भावों में कसक न पाया ॥ जीवन०—
अविरल गति से जीवन के क्षण,
मैंने कभी न जाने—
रात्रि-दिवस का भेद चन्द्र ने
हँसकर बतलाया ॥ जीवन०—
दुःख के पल्लव पीत गिर गये—
किसलय की स्मिति जागी।
सौरभ की वीणा पर कोकिल ने
स्वर भर गाया ॥ जीवन०—
कलियों के शब्दों में लिख दी,
किसने उर की भाषा?
उलझा हुआ हार था सुख का—
किसने सुलझाया? जीवन०—

प्रयाग।

रवीन्द्रनाथ का 'प्रान्तिक'

[हज़ारीप्रसाद द्विवेदी]

[हिंदी के गंभीर चिंतनशील आलोचकों में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी अग्रणी हैं। सुलझे हुए विचारों को सरस-सरल तर्कयुक्त भाषा में उपस्थित करने में वे अद्वितीय हैं। आजकल आप शांतिनिकेतन में हिंदी के प्रधान अध्यापक हैं और जिस लगन से आप शिक्षा-दान कर रहे हैं, वह सचमुच सराहनीय है।—सं०]

गत वर्ष कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुत सख़्त बीमार हुए। ५० घंटे से अधिक वे बेहोश पड़े रहे। कुशल चिकित्सकों की चिकित्सा और संसार के सौभाग्य से वे बच उठे। उस कठिन बीमारी के बाद उन्होंने जो कवितायें लिखीं, उन्हीं का संग्रह 'प्रान्तिक' नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रान्तिक छोटी-सी पुस्तक है—कुल ३२ पृष्ठों की। इसमें कवि की छोटी-बड़ी अट्ठारह कवितायें संगृहीत हैं। ये कवितायें अधिकांश में बेहोशी की हालत में कवि की अनुभूतियों का प्रकाश हैं। पहली ही कविता में, मानो इस नयी श्रेणी की कविताओं की भूमिका-सी बाँधते हुए, कवि ने कहा है कि 'विश्व के आलोकलुप्त अन्धकार के अन्तराल में मृत्युदूत चुपचाप आया। जीवन के दिगन्त आकाश में जितनी सूक्ष्मधूलि की परतें पड़ी हुई थीं, सबको व्यथा के द्रावक रस से धो दिया। यह सफाई, दारुण स्वप्न के नीचे-नीचे, प्रतिक्षण, सुदृढ़ हाथों से चुपचाप चल रही थी। न जाने किस क्षण में नट-लीला के विधाता की नई नाट्य-भूमि की यवनिका उठ गई!' कवि ने इन दो-चार पंक्तियों में ही उस अवस्था का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, जब कि वह अपने भावी वक्तव्य के अनुभव करने योग्य अवस्था में पहुँचा था। सबसे पहली बात जो इस भूमिका में ध्यान देने योग्य है वह यह है कि कवि अनुभव करने लगा है कि हमारे चेतन मस्तिष्क ने जिस वस्तु को आलोक समझ रखा है उसके अन्तराल में गहन अन्धकार विद्यमान है। चेतन मन ज्योंही रंगमंच से हटा, त्योंही अवचेतन मन ने इस आलोक से आच्छादित किन्तु वास्तव में सतत विद्यमान अन्धकार का अनुभव किया। वहाँ पीड़ा भी पावक वस्तु के रूप में अनुभूत हुई क्योंकि इसी पीड़ा ने चेतन मन को दृश्य-पट पर से हटा दिया और अब तक ग़लत समझने के कारण जितने कुछ कूड़ा-करकट के समान

भ्रान्त विश्वास जमे हुए थे, सबको साफ़ कर दिया, दृढ़ता के साथ परन्तु चुपचाप। पीड़ा धीरे-धीरे अपना काम करती गई और अचानक एक अज्ञात क्षण में विधाता की नाट्यभूमि का परदा उठ गया। इस पर्दे के उठने से जो कुछ दिखाई दिया वही 'प्रान्तिक' का वक्तव्य विषय है। इस भूमिका से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि 'प्रान्तिक' की कवितायें उसी चेतन मन की बँधी हुई रूढ़ियों से नहीं समझी जानी चाहियें जिसके अभाव में ही, इन सत्यों का साक्षात्कार किया गया है। इन कविताओं को समझने के लिए चेतन मन की कल्पित रूढ़ियों को अस्वीकार करके ही सहृदय अपने को इनका पात्र बना सकता है। और यह तो कहना ही व्यर्थ है कि आज तक की रवीन्द्रनाथ की कविताओं से इसकी भाव-भाषा अलग वस्तु है।

उसी कविता में आगे चलकर कवि कहता है—'शून्य से ज्योति की तर्जनी ने एक प्रान्त में स्तंभित विपुल अन्धकार को छू दिया। फिर तो आलोक की सिहरन चमककर बिजली की तेजी से असीम तन्द्रा के ढूहों में दौड़ गई, उन्हें विदीर्ण करके खंड-खंड कर दिया। ग्रीष्म की सूखी, अवलुप्त नदी के रास्ते में जिस प्रकार अचानक बरसी हुई तुरन्त जलधारा से बाढ़ का पहला नाच शुष्कता के वक्षःस्थल को भेदकर छमक उठता है—उसी तरह (उस ज्योति की तर्जनी ने) शून्य अन्धकार की गूढ़ नाड़ियों में अन्तःशीला ज्योतिर्धारा को प्रवाहित कर दिया। आलोक और अन्धकार ने मिलकर चित्ताकाश में अस्पष्ट और अर्द्धस्पष्ट विभ्रम की रचना की।'—स्पष्ट ही यह पहेली-सा जान पड़ता है। यह तो समझ में आ जाता है कि जिसे हम प्रकाश के रूप में समझ रहे हैं, उसके पीछे अन्धकार का अस्तित्व है। हम सभी किसी न किसी समय इस निगूढ़ अन्धकार का अनुभव कर चुके हैं; पर यह समझ में नहीं आता कि अचानक ज्योति की तर्जनी जो आ गई और जिसने आते ही तन्द्रा के ढूहों को तोड़ दिया और अन्धकार में मिलकर जो एक भ्रम की सृष्टि कर गई—यह सब क्या बला है। कवि स्वयं इस पहेली को सुलझा देता है—'पुराने मोह का स्थूल कारा-प्राचीर, क्षणभर में ही टूट गया। नवीन प्राणों की सृष्टि हुई—अवारित स्वच्छ शुभ्र चैतन्य के प्रथम प्रत्यूष के अभ्युदय से। अतीत के सञ्चय से पुञ्जित जो देह थी, जो आसन्न के वक्षःस्थल से भविष्य की ओर सिर उठाये हुए विंध्यपर्वत के समान व्यवधान का काम कर रही थी, आज देखा कि वह प्रभातकाल का अवसन्न मेघ हो गई है, दिगन्त से छिटककर विच्युत हो गई है। अपने आपको सुदूर अन्तराकाश में बन्धनमुक्त पाया—छायापथ पर होकर अलोक आलोकतीर्थ के सूक्ष्मतम विलय के तट पर!' स्पष्ट ही जान पड़ता है कि कवि पहले पहल जहाँ इह जीवन के चेतन मनोगत रूढ़ियों का त्याग नहीं कर सका था, वहाँ दूसरी अवस्था में वह अपने को संपूर्ण बंधमुक्त पाता है। पुरातन संस्कारों का पुंजीभूत सञ्चय उसे मोहाच्छन्न नहीं बना सका है। वह कुछ अनुभव करने लगा है, कुछ देखने लगा है—और जिस अवस्था में वह देखने-समझने लायक हुआ है, उसे अन्धकार कैसे कहा जाय।

(२)

'प्रान्तिक' की कवितायें अवचेतन अवस्था की अनुभूतियों पर बनी हैं। लेकिन आधुनिक सर-रियलिस्ट कवियों के अवचेतन मानस की अनुभूति से इस अनुभूति में अन्तर है। आधुनिक कवि इस मनोगत अनुभूतियों के ऊपर किसी सत्य में विश्वास नहीं करता। इसीलिए उसकी अवचेतन अनुभूतियाँ असंबद्ध और विश्रृंखल प्रतिभात होती हैं। रवीन्द्रनाथ मनोगत

चेतन और अवचेतन अनुभूतियों के ऊपर एक अन्य शाश्वत सत्य में विश्वास करते हैं। आधुनिक अतियथार्थवादी कवि की कविता चेतन अनुभूतियों की प्रतिक्रिया है ; परन्तु रवीन्द्रनाथ की अवचेतन अनुभूति उस तुरीय सत्ता को और भी गाढ़ भाव से अनुभव करने का साधन है। दोनो में यही मौलिक अन्तर है। इस मौलिक अन्तर के कारण रवीन्द्रनाथ की कविता में वह दुर्बोधता और अस्पष्टता नहीं है जो आधुनिक अतियथार्थवादी कवियों की कविता में साधारणतः पाई जाती है। एक कविता में से कुछ उद्धरण पाठकों को इस बात के समझने में सहायता पहुँचा सकता है—'हे प्रलयंकर, अचानक तुम्हारी सभा से तुम्हारा मृत्युदूत आ पहुँचा था। मुझे वह तुम्हारे विराट् प्राङ्गण में ले गया। आँख खोलके देखता हूँ तो केवल अन्धकार है! अन्धकार के प्रत्येक स्तर के पीछे जो अदृश्य आलोक है, उसे नहीं देख सका—आलोक जो निखिल ज्योति की ज्योति है। मेरी दृष्टि मेरी अपनी ही छाया से आच्छादित थी। उसी आलोक का सामगान मेरी सत्ता की गंभीर गुहा से सृष्टि के सीमान्त ज्योतिर्लोक तक मंद्रित हो उठेगा—इसीलिए मेरा आमंत्रण था। मैं 'चरम' की कवित्व-मर्यादा जीवन की रंगभूमि में प्राप्त करूँगा—केवल इसी के लिए आज तक मैंने तान साधी थी। (किन्तु) रुद्रवीणा निःशब्द भैरव राग से बज नहीं उठी, मर्मस्थल में 'भीषण' की प्रसन्नमूर्ति जाग नहीं पड़ी। इसीलिए तुमने लौटा दिया। ऐसा एक दिन आयेगा जब कवि की वाणी, पके हुए फल की भाँति, आनंद की परिपूर्णता के भार से स्वयं ही 'अनन्त' की अर्घ्य डाली में चू पड़ेगी। उस दिन, अन्त में, जीवन का अन्तिम मूल्य, अन्तिम यात्रा, अन्तिम निमंत्रण सब चरितार्थ हो जायगा।'

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ की ये रचनायें आधुनिक कवि की भाँति अवचेतन मन की विशृंखल विचार-राशि नहीं हैं ; बल्कि अवचेतन मस्तिष्क से और एक प्रकार से पूर्वानुभूत सत्य का साक्षात्कार है। इसको कवि ने इसलिए इतना महत्त्व दिया कि इस अवस्था में वह अपनी ही छाया से आच्छादित नहीं है, अपने ही चेतन मस्तिष्क की सीमित अनुभूतियों से, अपनी ही बनाई रूढ़ियों से दबा हुआ नहीं है। वह जो इस यात्रा में सफल नहीं हो सका उसका कारण यह है कि वह अब भी संपूर्ण रूप से इस छाया से मुक्त नहीं हो सका था। अब भी उसने रुद्र-वीणा के माधुर्य को, भीषण की प्रसन्न-मूर्ति को, अन्धकार के स्तर-स्तर में व्याप्त अदृश्य आलोक को ठीक-ठीक समझ नहीं सका था। उसकी यात्रा और उसका आमंत्रण चरितार्थ नहीं हो सका। वह चरितार्थ होगा जब वह मृत्यु के द्वारा और भी पवित्र और और भी रूढ़ि-मुक्त हो गया रहेगा।

(३)

अपने आप को इसीलिए वह एक वार फिर उस भावी यात्रा की तैयारी के लिए उद्बुद्ध करता है—'कलरव-मुखरित ख्याति के प्राङ्गण में, न जाने कब, जो आसन बिछा दिया गया था, हे कवि, तुम वहाँ से उठ आओ। चाटुकारी की लुब्ध जनता देवी को वचन का अर्घ्य विरचित कर-करके जो पूजा तुमने शुरू की थी, उसे समाप्त कर दो। दिन के हज़ारों कंठ अब क्षीण हो गये, ध्वनि की खरीद-बिक्री का सामान ढोनेवाले पहरों ने संध्या के निर्जन तट पर लंगर डाल दिया है। आकाश के उस आँगन में जहाँ पक्षियों की काकली शान्त हो गई है, वहाँ देव-सभा की नृत्यपरायणा अप्सरा-बाला का वाष्प से बुना हुआ चेलाञ्चल लहराकर स्वर्णोज्ज्वल वर्ण-रश्मि की छटायें छिटका रहा है। अस्तलग्न का चरम ऐश्वर्य लेकर चित्रभानु ने शून्य को पूर्ण किया, मुझे 'कर'-स्पर्श दिया,

अन्तर की देहली में दीप्त शिल्पकला को प्रसारित किया, गंभीर अदृश्य लोक से तूली की रेखा पर इशारा प्रकट हुआ। आजन्म की विच्छिन्न भावनायें जो स्रोत के शैवाल की भाँति निरर्थक पड़ी हुई थीं, अनिश्चित हवा के झकोरों से उड़ती फिरती थीं, वे सभी रूप ग्रहण करके, भाटे की नदी के किनारे अनादृत मंजरी के अज्ञात घास-पात की तरह, दिखेंगी—कोई उनका नाम नहीं पूछेगा, उनके अधिकार के गर्व को लेकर कोई ईर्ष्या नहीं करेगा, ये अनामिक स्मृति-चिह्न, ख्याति से रहित अगोचर देश में मानो अस्पष्ट विस्मृति की तरह, पड़ी रहेंगी।' इस प्रकार जीवन का कोलाहल-मुखरित दिन का अवसान होगा, मृत्यु का सन्ध्याकाल आयेगा और कवि की आजन्म-विच्छिन्न भावनायें सदा के लिए विस्मृति के अगोचर देश में स्थिरता प्राप्त करेंगी। अब तक वे चञ्चल थीं, लक्ष्य-रहित थीं, निरर्थक थीं—अब मृत्यु के स्पर्श से वे स्थिर, सार्थक और शाश्वत हो रहेंगी।

मृत्यु को रवीन्द्रनाथ ने कभी भी ना-मूलक विभीषिका के रूप में नहीं देखा। वे उसे सदा अपने जीवन की परिपूर्णता के रूप में उपलब्ध करते रहे हैं। अनादिकाल से चलते हुए उनके अन्तर ने कभी क्लान्ति का अनुभव नहीं किया। निरन्तर जो यह चलना है उसकी भी परिपूर्णता है। मृत्यु जीवन को पूर्ण करने का साधन है। अपने एक प्रिय स्वजन की मृत्यु के समय उन्होंने लिखा था कि जिस वस्तु को मैंने ना-मूलक विभीषिका के रूप में देखकर इतना दुःख पाया था, उसे जब मुक्ति के रूप में देखा तो सारा विषाद दूर हो गया। जीवन की जो अपूर्णता है, जो कुछ दुःख है, जो कुछ शोक है वह हमेशा चिपटे नहीं रहेंगे। ये सारी अपूर्णतायें एक दिन मृत्यु के द्वारा हटा दी जायँगी। 'प्रान्तिक' की एक कविता में भी वे कहते हैं—'आज विदाई के अवसर पर (अनिर्वचनीय के प्रकाश को) मैं स्वीकार करूँगा। मेरे लिए वह विपुल विस्मय का विषय था। आज मैं गाऊँगाः हे मेरे जीवन, हे मेरे अस्तित्व के सारथी, तुमने बहुत-से रणक्षेत्र पार किये हैं, आज मृत्यु की अन्तिम लड़ाई में नवीनतर विजय-यात्रा के लिए मुझे ले चलो।'

कवि ने 'अवसन्न चेतना की इस गोधूलि वेला' में देखा कि उसका शरीर 'अनुभूतियों की राशि को लिये हुए कालिन्दी के स्रोत में बहा जा रहा है, उस (देह) ने साथ में ले लिया है, अपनी विचित्र वेदनाओं को, आजन्म की सञ्चित स्मृतियों को और अपनी वंशी को। दूर से और भी दूर को जाते-जाते उसका रूप म्लान होता जा रहा है—घोर तमिस्रा में यह शरीर विलीन होता जा रहा है। नक्षत्र-वेदी के नीचे स्तब्ध भाव से मैं अकेला खड़ा हो गया, ऊपर की ओर ताकता हुआ हाथ जोड़कर बोला—'हे पूषण, तुमने अपना रश्मि-जाल समेट लिया है। इस बार अपने कल्याणतम रूप को प्रकाशित करो ताकि मैं उस पुरुष को देख सकूँ जो तुममें और मुझमें एक ही है।'

(४)

अवचेतन अनुभूतियों का यह सरस काव्य चेतन और सामंजस्य-प्रवण मन की रचना है। अति यथार्थवादी कवि अवचेतन अनुभूतियों पर चेतनता का पालिश देना नहीं चाहता। चूँकि वह एक ऐसे सत्य में विश्वास नहीं कर पाता, जो मन की चेतन या अविचेतन अवस्थाओं से विचलित या खर्व नहीं होता, इसलिए वह उन अनुभूतियों के भीतर योगसूत्र स्थापित करने का प्रयोजन नहीं अनुभव करता। इस प्रकार के प्रयोजन को वह कला का विघातक भी मानता है। पर रवीन्द्रनाथ उस सत्य को मानते हैं। इसीलिए उस अवस्था में भी वे एक सनातन जाग्रत

तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। इस बीमारी के बाद वे अपनी अन्तिम यात्रा को और भी गाढ़ भाव से अनुभव करने लगे हैं। ज्यों-ज्यों वे मृत्यु की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों संसार में अशान्ति और ईर्ष्या बढ़ती जा रही है। वे निराशा में भी एक बार गला साफ़ करके अपनी आवाज़ ऊँची करने की चेष्टा करते हैं। वृद्धावस्था में वे कुछ क्लान्त की भाँति, छटपटाहट के साथ, 'प्रान्तिक' में कह रहे हैं—

'नागिनियाँ चारो ओर विषाक्त निःश्वास फेंक रही हैं। ऐसे समय में शान्ति की ललित वाणी व्यर्थ के परिहास की तरह सुनाई देगी। विदाई लेते समय, इसीलिए उन लोगों को एक बार पुकार जाता हूँ, जो घर-घर दानव के साथ लड़ने के लिए तैयार हो रहे हैं।'

शान्तिनिकेतन।

किराये का मकान

[श्यामसुंदर शिवशंकर जोशी]

[श्री श्यामसुन्दर जोशी अभी बिलकुल नवयुवक हैं और प्रतिभायुक्त हैं। आप ही देखें कि इस कथन में कहाँ तक सत्य है। --सं०]

वह लाल रंग से पुता किराये का मकान। उसमें दो परिवार रहते थे। पूरब की ओर बड़े हिस्से में किसी दफ़्तर का बाबू। पच्छिमवाले छोटे हिस्से में कोई ग़रीब मज़दूर। बड़े हिस्से में कई कमरे थे, कई तरह की सुविधायें थीं। छोटे में एक दालान और सिर्फ़ एक कमरा।

बाबू के परिवार में केवल दो व्यक्ति थे—वह और उसकी पत्नी। उसके हिस्से के अधिकांश कमरे खाली पड़े रहते। मज़दूर का परिवार बहुत बड़ा था। छोटे उस हिस्से में सभी का रह सकना कठिन था। दालान में एक छप्पर और डाल ली गई थी कि दिन-रात में कुछ प्राणी उसके नीचे भी बसेरा ले सकें।

रात में पूरब के बड़े भाग में खूब उजाला होता और पच्छिमवाले हिस्से में सब-का-सब अन्धकार दुबक बैठता। उधर का मुखरित हर्ष और उल्लास इस ओर घने, मूक विषाद में परिणत हो जाया करता। जब इस ओर बच्चे चीख़ते, मा झींकती और बाप खीझता उस ओर किसी मधुर वाद्य की रागिनी बजती, या मित्रों के क़हक़हे लगते।

और, किराये का मकान एक साथ विपरीतता लिये, अपने लिए ही समस्या बना, हर्ष-विषाद से तटस्थ हो खड़ा रहता।

वह लाल रंग से पुता था और उसमें दो परिवार रहते थे। एक पूरब में और दूसरा पच्छिम में।

इन्दौर।

सोहनी

[मोहनसिंह]

[प्रोफेसर श्री मोहनसिंह, एम० ए० पञ्जाबी ज़बान के सुपरिचित लेखक हैं। हिन्दी भी आप उतनी ही सुन्दरता से लिख लेते हैं। 'हंस' में पहले भी हम आपकी कहानियों का स्वागत कर चुके हैं। आपकी यह कहानी पञ्जाबी में बहुत प्रसिद्धि पा चुकी है और आपकी सरस शैली का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है। और इन अमर प्रेमियों 'सोहिनी औ' महिवाल' का क़िस्सा अब कौन नहीं जानता। सोहिनी का अर्थ होता है सुन्दरी और महिवाल भैंस चरानेवाले को कहते हैं।

श्री मोहनसिंह पञ्जाबी की ओर से 'हंस' के सम्पादकीय सलाहकारी मण्डल पर भी प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, यह जानकर 'हंस' के पाठकों को विशेष सन्तोष होगा। आजकल आप अमृतसर में अध्ययन का कार्य कर रहे हैं। –सं०]

रूँ-रूँ, टक्-टक् रहट चल रहा है। शहतूत के घने वृक्ष टहनियों में टहनियाँ फँसाये झुके हुए हैं। उनके सघन पल्लवों में से सूर्य की किरणें छन-छनकर पानी के वक्षस्थल पर खेल रही हैं। पानी में घड़ों और टिण्डों की रंग-रंग की ठीकरियाँ चमक रही हैं। पास ही एक भारी-सी शिला है जिस पर स्त्रियों ने घड़े रख-रखकर गढ़े कर दिये हैं।

सोहनी ने एक-एक करके तीनो खाली घड़े शिला पर रख दिये और इँडवी को शहतूत की एक झुकी हुई शाखा में अटका दिया फिर वेणी को गोद में लेकर पानी के किनारे बैठ गई। बालों के कुछ लम्बे होने के कारण उसे अपनी वेणी के मलिन होने का भय लगा रहता था। फिर बाहों को चढ़ाकर धोने लगी। उसकी सुडौल, भरी हुई सबल कलाइयाँ स्वच्छ जल में ऐसी दीख पड़ती थीं, मानो मछलियों का जोड़ा परस्पर किलोल कर रहा हो। बाहें धोकर उसने मुख पर दो बार छींटे दिये और पनसाल को मुँह लगाकर पानी पीना आरम्भ किया। फिर घड़ों को पानी से भरती हुई बोली—रे ताजे, ज़रा घड़ा तो उठवाइयो?

ताजा गादी पर आनन्द से लोटा हुआ था। उसके अलसाये अर्धनिमीलित नेत्र

मधुर स्वप्नों से परिपूरित थे। उसके आगे चितकबरा बैल मन्द-मन्द चल रहा था जिसकी घण्टियों की झंकार रहट की रूँ-रूँ के साथ मिलकर ताजे के स्वप्नों को अधिक आनन्दमय बना रही थीं। जब सोहनी की आवाज़ उसके कानों में पड़ी तो उसे अपने स्वप्न सफल होते प्रतीत हुए। वह जल्दी से उतरकर सोहनी की ओर बढ़ा। सोहनी ने दो घड़े तो स्वयं ही उठा लिये थे। ताजा तीसरा घड़ा उठवाने के लिए झुका। सोहनी को उसकी पीठ के कुरते से झलकते, सुडोल पट्ठे अति प्रिय लगे। घढ़ा उठवाते समय, जाने क्यों, ताजे की फौलादी बाहुएँ लरज़ गईं। सोहनी की आँखें ताजे के नए जूते पर थीं, जिसे नीले तहबन्द की कोर चूम रही थी और ताजे के चकित नयन सोहनी के मुख-मण्डल पर फिर रहे थे। सोहनी के निःश्वास से ताजे को अपनी छाती स्निग्ध होती प्रतीत हुई और ताजे के निःश्वास से सोहनी को अपने माथे के बाल उड़ते हुए अनुभव होने लगे।

'अरी, तीसरा भी उठा लेती; तुम-सी युवती के लिए बात ही क्या थी?'—ताजे ने सोहनी के सिर पर घड़ा रखते हुए कहा। सोहनी के गाल कुछ बोझ, पर अधिकतर लज्जा के कारण लाल हो गये और हलकी-सी मुस्कान भी निकल गई।

ताजे के स्वप्न दिन पर दिन लम्बे होते गये, यहाँ तक कि उसका जीवन एक अखण्ड स्वप्न बन गया। हल चलाते, घास काटते, टिण्डे बाँधते वह एक ही विचार में निमग्न रहता। कई बार गादी पर बैठे-बैठे वह इतना तल्लीन हो जाता कि उसकी आँखें खुली रहने पर भी उसे बैल के ठहरने का तनिक ध्यान न रहता। नहीं अचानक रहट की रूँ-रूँ के रुक जाने से उस पर कोई असर होता। हाँ, परन्तु जब उसका बाप क्यारियों को सींचते-सींचते कीचड़ से भरा हुआ हाथ उसकी गुद्दी में आ मारता तो उसके स्वप्न क्षणभर के लिए अवश्य टूट जाते।

× × ×

पन्द्रह-बीस दिन के बाद आज फिर सोहनी घड़े उठाये ताजे के रहट की ओर जा रही थी। उसके दोनो तरफ गेहूँ के घने खेत कन्धों तक खड़े लहलहा रहे थे। जब सोहनी रहट पर पहुँची तो क्या देखती है कि ताजा पानी के पास बैठा एक लम्बे-से छुरे को पैना रहा है। सोहनी ने आश्चर्य से आँखें फाड़कर पूछा—अरे ताजे, यह क्या?

'यूँ ही छुरा पैना रहा हूँ।'

'अरे, इतना बड़ा छुरा? ऐसे तो डकैतों के पास होते हैं।'—सोहनी ने कुछ दिल्लगी और कुछ आश्चर्य से कहा। 'अरी ज़रा बैठो तो सही। अभी सब कुछ बताये देता हूँ।'—ताजा मुस्कुराया।

सोहनी ताजे के सम्मुख बहते पानी के किनारे बैठ गई और घड़ों को छींटे मार-मारकर धोने लगी।

'कल रात को हमारे यहाँ स्वांग भरे जायँगे और होंगे भी तुमारे पड़ोस ही में। देखोगी न?'—ताजे ने आखों को मस्त बनाते हुए कहा।

'अच्छा तो स्वांगी कहाँ-कहाँ से आयँगे? परसाल तो मेरे अब्बा ने गुलिआना से बुलवाये थे।'

'बुलाये-बुलाये कहीं से नहीं, गाँव के लड़के ही रल-मिलकर कुछ शग़ल करेंगे।'

'अच्छा तो स्वांग भरोगे किस-किसके?'

'सोहनी-महिवाल के। कल देख ही लोगी; गुलिश्रानेवालों को मात न कर दें तो कहना।'—ताजे ने घमण्ड से कहा।

'अच्छा तो ये सोहनी-महिवाल कौन थे?'

'सोहनी थी तुल्ले कुम्हार की बेटी'—ताजे ने छुरे को पैनाते हुए कहा। 'गुजरात में ये बरतनों की दुकान करते थे। एक दिन किसी एक सौदागर का लड़का सुराही लेने आया—बेहद खूबसूरत। सोहनी भी किसी बात में कम न थी। दोनो एक दूसरे की नज़र चढ़ गये। सोहनी सुराहियाँ ला-लाकर दिखलाती जाती थी; पर वह वहाँ ठहरने के लालच से कोई न कोई मीन-मेख निकालता जाय।'

'हूँ'—सोहनी ने हुकारा भरा।

'आख़िर वह एक सुराही लेकर अपने डेरे को लौट आया। पर वहाँ उसका जी न लगता था। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद सुराही निकालके देख लेता; परन्तु सुराही सोहनी कैसे बन सकती थी?'

'पर सुराही को बनाया तो सोहनी ने ही था।'—रहटवाली सोहनी ने स्याना-सा मुँह बनाकर कहा। 'हाँ, तो फिर?'

'आखिर उसने भी वहीं बर्तनों की दुकान कर ली। हर रोज सोहनी को देखने की नीयत से तुल्ले की दुकान पर जाता और बरतन ला-लाकर कसारे पर बेच देता। थोड़े अरसे में ही बेचारे का सरमाया ख़तम हो गया। और सिवाय चन्द मैले-कुचैले चिथड़ों के उसके पास कुछ न रहा। अब वह शर्म का मारा सोहनी की दुकान पर न जा सकता था।'

'हा!'—सोहनी के मुँह से निकल गया।

'एक दिन झुटपुटे के वक्त सोहनी ने उसे देख लिया—सिर से नंगा, पाँव से उभाना, हाथ में ठूठा, घर-घर माँग रहा था। सोहनी से उसकी यह हालत न देखी गई। फूट-फूटकर रोने लगी। वह भी सोहनी के कन्धे पर सर रखकर आँसू बहाने लगा। यहाँ तक कि सोहनी के कपड़े तर हो गये।'

रहटवाली सोहनी ने अपने कन्धे को छूकर देखा, पर वह सूखा ही था।

'सोहनी ने उसको ढारस बँधाई और कहा—मेरे अब्बा को एक चरवाहे की ज़रूरत है। तुम हमारे यहीं टिक जाओ।'

'तो क्या फिर वह चरवाहा रहा?'—रहटवाली सोहनी ने अपने सूखे हुए गले से कहने का प्रयत्न किया।

'अन्धा क्या माँगे, दो आँखें!—वह सोहनी के अब्बा के यहाँ टिक गया। हर रोज़ गायों-भैसों को चिनाब के किनारे ले जाया करता और सोहनी मा-बाप से आँख बचाकर उसे चूरी के छन्ने भर-भर पहुँचाया करती। पर सियानों ने सच कहा है—चाँद चढ़े और नयन लड़े छुपे नहीं रहते। आख़िर लोगों ने देख लिया और लगी घर-घर चरचा होने। तुल्ले ने लोगों के डर से सोहनी को ब्याह कर सुसराल भेज दिया और महिवाल को नौकरी से हटाकर चिनाब के उस तरफ़ निकाल दिया।'

'तो क्या सोहनी सुसराल जाकर महिवाल को भूल गई?'—रहटवाली सोहनी ने पूछा।

'नहीं, वह हर रात दरिया पर महिवाल से मिलने जाया करती। वह सारा का सारा दिन

मछलियाँ पकड़ता रहता और रात को तारों की छाँह में दरिया लाँघकर सोहनी से आ मिलता। वहाँ वे दोनो मछलियाँ खाया करते और छोटी-छोटी बातें करके दिल बहला लिया करते। एक दिन महिवाल को मछली न मिली। मगर वह सोहनी के पास खाली हाथ न जाना चाहता था। उसने अपनी रान को चीरकर मछली निकाल और भूनकर सोहनी के आगे जा रखी। सोहनी का वहीं माथा ठनका। वह तमाम मामले को भाँप गई और महिवाल के ज़खम को देखकर बहुत रोई।'

रहटवाली सोहनी ने ताजे से आँख बचाकर अपने आँसू पोंछ लिये और सहानुभूतिपूर्ण स्वर में बाली—तो जख़मी रान के साथ वह चलता कैसे होगा ?

'उस दिन तो ज़खम ताज़ा होने के सबब वह दरिया को तैर गया; पर आइन्दा वह ऐसा न कर सका। अब सोहनी घड़े पर तैरकर दरिया के उस तरफ़ महिवाल के पास जाने लगी। एक दिन सोहनी की ननद को भावज की चोरी का पता चल गया। वह एक दिन दबे पाँव भावज के पीछे दरिया पर गई और सोहनी को एक झाड़ी से घड़ा निकालकर उस पर तैरकर पार जाते देख आई। अगले दिन उसने पहिले ही जाकर पक्के घड़े की जगह एक कच्चा घड़ा रख दिया ताकि घड़ा गल जाने पर सोहनी डूबकर मर जाय।'

'लानत हो उस पर, मक्कार कहीं की उसे शर्म न आई यूँ धोखा देते ?'—रहटवाली सोहनी ने क्रुद्ध होकर कहा और अपने हाथवाले घड़े को सन्देह से टकोरा।

'पर सोहनी सिदक की पूरी थी। वह कच्चे घड़े पर ही तैरने लगी। दरिया के ऐन बीच में पहुँचकर घड़ा गल गया और सोहनी 'महिवाल महिवाल' पुकारने लगी। उसकी चीख़-पुकार सुनकर महिवाल भी कूद पड़ा। बस दोनो बह गये। लोग कहते हैं, अभी तक आधी रात के वक्त चिनाब के बेले में सोहनी-महिवाल की चीख़ें सुनाई देती हैं।'

कुछ समय तक सोहनी तथा ताजा दोनो हैरान बैठे एक दूसरे की ओर देखा किये। फिर सोहनी ने पूछा—अरे तुमने मुझे छुरे की बात तो बताई ही नहीं।

'तुम्हें बताया जो है कि हम सोहनी-महिवाल के स्वांग भरेंगे। मैं महिवाल बनूँगा और इस छुरे से अपनी रान काटूँगा।'—ताजे ने छुरे से अपनी जंघा की तरफ़ संकेत करते हुए कहा।

'पर तुम झूटमूठ ही काटोगे न ?'—सोहनी ने सहमकर पूछा।

'तो।'

'अच्छा तो सोहनी कौन बनेगी ?'— रहटवाली सोहनी ने लजाकर पूछा।

'लड़कों ने तेरे भाई नज्जी को सोहनी बनाने का फैसला किया है। तुम उसे अपने कपड़े पहनने को दोगी न ? खुदा की कसम उसे बहुत ज़ेब देंगे।'

सोहनी की मुस्कान अस्त होते सूर्य की स्निग्ध किरणों में घुल-मिल गई। दूसरे क्षण में उसका शरीर ऊँचे ऊँचे गेहूँ के खेत में विलीन हो गया। केवल ऊपर का घड़ा और उसके जल में से झाँकते हुए फूल कुछ देर तक दिखाई देते रहे, जो ताजे ने सोहनी के चलते समय शाखाओं सहित तोड़कर उसके घड़े में डाल दिये थे।

× × ×

गाँव की चौपाल में लोग जमे बैठे हैं। उनके मध्य में सोहनी-महिवाल का नाटक खेला जा रहा है। रात्रि की नीरवता में ढोलक की डुग-डुग, घुंघुरुओं की छन-छन और तम्बूरे की घरघराती ध्वनियाँ श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध बना रही हैं।

चारो ओर गाँव के मौजी लोग प्रसन्न बैठे हैं—किसी ने मडासा मार रखा है, कोई रेशमी रुमालवाली कलाई को बार-बार ऊपर उठाता है। किसी के कान में से चमेली का फूल झाँक रहा है, कोई गाती लगाये हुक्के के कश पर कश लगा रहा है, कोई सीप के बटनों से जड़ी सूफ की काली वास्कट मटकाये खड़ा है, किसी की ठोड़ी पीतल के कोकों से जड़ी लाठी पर टिकी है और आँखों को ऐसे गुट बनाये हैं, मानो उसकी-सी समझ किसी को पड़ ही नहीं रही, कोई भूरी भैंस की धारों का बिगड़ा यूँही खाँसे जा रहा है। युवक तो एक ओर बुड्ढे भी आज मछरे हुए दीख पड़ते हैं। कोई नचार सामने से गुजरे तो श्वेत मूछों पर भी हाथ फिरने से नहीं रुकते।

उधर मकानों पर गाँव की युवतियों ने मण्डेरें सजा रखी हैं। मशालों के लाल-लाल धुँधले प्रकाश में उनके प्रसन्न मुख दमक रहे हैं। कोई हँसती है, कोई गुटकती है, कोई पास-वाली को कन्धे मार-मारकर संकेत करती है, कोई गोद में पड़े बच्चे को थपक रही है ताकि उसकी रीं-रीं रंग में भंग न डाले।

सोहनी भी एक ओर मण्डेर पर बैठी सखियों से बनावटी भोलेपन के साथ पूछती है,—अरी! सोहनी तो हुआ मेरा भाई नज्जी, भला यह महिवाल कौन है?

आधी रात्रि बीत गई, नाटक देहातियों के धीरे स्वभाव के अनुसार शनैः-शनैः चलता रहा। आख़िर महिवाल के जाँघ काटने की झाँकी आई। ताजा भाहीगीरों के-से कपड़े पहिने हाथ में छुरा लिये मध्य में खड़ा था। उसने ऊपर की ओर नज़र उठाई। आकाश काले काले बादलों से आच्छन्न था। फिर उसने मण्डेर की ओर देखा, युवतियों की रंग-बिरंगी चुनरियाँ बेले के वृत्तों के समान हवा के साथ फड़-फड़ उड़ रही थीं। नीचे किसानों की सफेद, कारी और मैली-कुचैली पगड़ियाँ उसे चिनाब की लहरों के समान नज़र आईं। फिर उसकी दृष्टि मण्डेरवाली सोहनी पर पड़ी—निस्तब्ध और स्थिर, मानो उसकी प्रतीक्षा में खड़ी हो। उसे नाटकवाली सोहनी भूल गई, लड़कों के द्वारा याद कराये दोहे भूल गये और साथ ही भूल गई बकरे की वह मछली, जो लड़कों ने उसकी जंघा पर बान्ध रखी थी। वह अपने आपको सचमुच महिवाल समझ रहा था। उसने मण्डेर की ओर आँखें उठाईं और छुरे की धार को अपनी जंघा की ओर किया। देखनेवाले भय और विस्मय से बुत बन गये और मण्डेर पर बैठी युवतियों के हृदय चिड़ियों की तरह फड़फड़ाने लगे। सोहनी को पासवाली सखी के कन्धे का सहारा लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई। ताजे का छुरा बकरे की मछली को चीरता हुआ उसकी जंघा में धँस गया। खून की ततीरियाँ देखनेवालों तक पहुँच गई। लोग आश्चर्य से एक दूसरे का मुँह ताकने लगे कि किस चतुराई के साथ ताजे ने असल जैसा रंग बाँध दिखाया है। ताजा होंठ चबाये लँगड़ाता-लँगड़ाता परदे के पीछे जाकर ढेर हो गया।

फिर सोहनी और कच्चे घड़ेवाला दृश्य आया। नज्जी सोहनी का स्वांग भरे रंगमंच पर आ गया और कच्चे घड़े को हाथों में उठाये जाने लगा। नज्जी के नकश बहुत सुन्दर थे और इस पर ज़नाने वेश ने सोने पर सुहागे का काम दिया। उसके मधुर गीत को सुनकर श्रोता वीणा पर मुग्ध हुए सर्प के समान झूमने लगे और कई कोमल-हृदया स्त्रियों की आँखों से आँसू फूट निकले।

परन्तु मण्डेरवाली सोहनी पर तनिक असर न हुआ। वह अपने विचारों ही में बही

जा रही थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह चिनाब के तट पर खड़ी है और उसके पाँव में दरिया शाँ-शाँ बह रहा है। आस-पास की युवतियाँ उसे दरिया के किनारे उगी दूब और काई के समान प्रतीत हुई। उसके ओठ परस्पर ज़ोर से मिल गये और ठोढ़ी के बीच का गढ़ा अधिक गहरा हो गया, मानो उसने अपने हृदय में कोई दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली हो।

नाटकवाली सोहनी ने घड़ा हाथों में उलटा लिया फिर घड़े को छाती से लगाकर उस पर झुकी मानो तैरने लगी हो।

धम्म्म ! मण्डेर के निकट किसी के गिरने की आवाज़ आई और साथ ही कोलाहल हुआ—दौड़ो ! पहुँचो ! अब्दुल्ला नम्बरदार की लड़की सोहनी गिर पड़ी !

अमृतसर।

कवि के प्रति

[सत्यवती मल्लिक]

[श्रीमती सत्यवती मल्लिक ने कविताएँ और कहानियाँ अच्छी लिखी हैं। आपका प्रस्तुत गद्यांश सरस-तरल है। सं०]

जीवन की उलझी घड़ियाँ ज्योंही सुलझाने लगती, वे और भी गुँथीली हो उठतीं !
उन दिनों यह अगम पथ शुष्क, नीरस, मरुभूमि-सा काटे न कटता।

× × ×

तभी नव-पल्लवों की मरमर ध्वनि की भाँति तुमने अपनी मृदु स्वर-लहरी प्रतिध्वनित की।

उस कोमल गुञ्जन के स्पर्श से मेरे प्राण झनझना उठे। कंकड़ों से भरे पथरीले मार्ग में मानो लाल-पीले प्रसून बिछ गये।—सूखे तृणों में, मोहकता छा गई—सृष्टि मेरी नज़रों में पलट गई।

वे बेसुध पल !

× × ×

शिशु का सरल हास्य ! निर्झर का कलकल निनाद ! गिरि-शृंगों की भेद-भरी आकुलता, मेघ का गर्जन, सिन्धु का उत्पीड़न—सन्ध्या-तारा का एकाकीपन आज मेरे जीवन के मुग्ध-सङ्गी हैं।

और अन्तर में फूटी पड़ती हैं प्रिय ! तेरे अमर गीतों की मुक्ता-सी लड़ियाँ !
किस अदृश्य आलोक से दीप्त किया तुमने ! इस भग्न खंडहर को।

दिल्ली।

निराशा की घड़ियों में

[हरिकृष्ण 'प्रेमी']

[श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' को हिन्दी-संसार 'रक्षाबन्धन' के नाटककार और 'आँखों में' के कवि के रूप में भली प्रकार जानता है। अभी हाल में आपकी कविताओं का एक संग्रह 'अनन्त के पथ पर' प्रकाशित हुआ है। आजकल आप लाहोर में रहते हैं।—सं०]

: १ :

जितनी सही वेदना मैंने उतनी किसने पाई जग में।
शत-शत कंटक कदम-कदम पर चरण चूमने आये मग में।
काँटों पर ही चला निरंतर और उन्हीं पर मैं सोया।
अपने लोहू की लाली से शूलों का मुख है धोया।
अंग-अंग छिल गये, हृदय में
घाव हो गये हैं अनगिनती!
फिर भी कोई नहीं जगत् में
सुननेवाला मेरी विनती॥

: २ :

आज रुक रही साँस, किंतु, जग मरने को अवकाश न देता।
रहना चाहूँ, तो रहने को तिल भर भी अधिवास न देता।
'चलते जाओ, चलते जाओ, रुकने का कुछ काम नहीं है।
तेरे लिए, पथिक, विधना ने रचा कहीं आराम नहीं है।
जिनको फूल समझता है तू
वे शूलों से भी तीखे हैं।'
कहता है नभ, 'भोलेपन से
ये दिल को छलना सीखे हैं।'

: ३ :

पथ पर तम है आँखों में तम प्राणों में भी तम छाया है।
इस जीवन में अंधकार का सागर उमड़-घुमड़ आया है।
दीपक है तो पास, किंतु अब स्नेह नहीं है उसे जलाने।
मेरी आँखों से आँसू गिर, जाते उसकी प्यास बुझाने।
कभी-कभी बिजली आती है
मेरा सूना भाग्य जगाने।
पथ की बीहड़ निष्ठुरता का
मुझको भीषण रूप दिखाने॥

: ४ :

आगे-पीछे दायें-बायें सभी ओर हैं पर्वत दुर्गम।
मन को कंपित करती हिंसक जीवों की गर्जन भीषणतम।
साथ चले तब कितने ही थे आज अकेला पथ पर जाता।
खिसक गये सब, कंटक-पथ पर कौन किसी का साथ निभाता।
मैं चलता ही चला निरंतर
सर पर भारी बोझ उठाये।
'चलते चलो, साहसी।' मुझको
सब अभिनन्दन देने आये।

: ५ :

अब तो रुकना भी दुस्तर है और पहुँचना पार असंभव !
दिशा-दिशा में गर्जन करता सर्वनाश का है भैरव रव।
आकर कोई पथ दिखलायें या साँसों का धागा तोड़ें।
चट्टानें गिर पड़ें शिखर से और पथिक मस्तक फोड़ें।
तिल-तिल करके जीवन मत लो
एक बार होली धधका दो।
उस बर्फ़ीली चोटी पर जो
एक किरण है उसे बुझा दो।

लाहोर।

जैनेन्द्र
(उपन्यासकार)

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

[श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त अपने नाम को सार्थक नहीं करते। प्रकाश में आना उन्हें रुचिकर प्रतीत होता नहीं दीखता। संकोच आपमें बहुत है, पर 'हंस' के पाठक आपसे भली प्रकार परिचित हैं। आपके लेखों की सरल, शिष्ट और सादी भाषा और आपके विचारों के सुलझाव में हमें एक सफल लेखक के गुण मिलते हैं। अपने इस प्रस्तुत लेख में आपने श्री जैनेन्द्र-कुमार की औपन्यासिक कला का सही मूल्यांकन किया है। आप सेंट जॉन्स कालेज, आगरा में अंग्रेजी के अध्यापक हैं।—सं०]

तप-विह्वल, खद्दर-भूषित, अहंकार से किञ्चिन्मात्र छुये एक युवक कलाकार की मूर्ति हमारे मन में उठती है। उसमें सरलता है, उत्साह है, लगन है, विचार-मौलिकता है। उच्च कलाकार के उसमें स्वाभाविक गुण हैं। कुछ ही वर्षों में उसने हिन्दी के कहानी संसार में अपना स्थान सुरक्षित बना लिया है। क्षितिज से उठकर वह नक्षत्र आकाश में ऊँचा पहुँच गया है। क्या है उसका भविष्य ? यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है।

अब तक उसके दो कहानी-संग्रह—'वातायन' और 'एक रात'—और तीन उपन्यास निकल चुके हैं—'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र।' आज हम उसके व्यक्तित्व को भूलकर केवल उसके तीन उपन्यासों की 'परख' करेंगे। 'सुनीता' की प्रस्तावना में उपन्यासकार ने लिखा ही है : 'पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर उन पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ। जैसे सृष्टि ईश्वर को छिपाये है, वैसे मैं भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा हुआ हूँ।...'

इन शब्दों के पीछे जैनेन्द्र कलाकार के अनेक गुण छिपे हैं, सरलता, मौलिकता और शब्दों के आडम्बर को चीरता हुआ शॉ-सरीखा उनका सुपरिचित 'अहंभाव'।

जैनेन्द्र छोटा पट-चित्र पसंद करते हैं। दो-एक मनुष्य-भावनाओं को लेकर ही वह गहरे से गहरे जाने का प्रयत्न करते हैं। 'परख' और 'सुनीता' के कथानक में एक प्रकार की समानता भी है। एक स्त्री के चारो ओर दो पुरुषों के जीवन-स्वप्न केन्द्रित हैं। कभी-कभी ऐसा कहा गया है कि जैनेन्द्र की कला उपन्यास-कला नहीं, वरन् गल्प-कला है, क्योंकि जीवन के किसी लघु अंग की विवेचना ही उन्हें अधिक पसंद है। जैनेन्द्र मनुष्य के अन्तर्भावों के विश्लेषण में बहुत दूर जाते हैं और उनकी कला में हमें जीवन की जटिलता का भास होता है, इसी कारण उनको सफल उपन्यासकार कहा जा सकता है। कला का कोई एक स्थायी स्वरूप नहीं। युग और व्यक्ति-विशेष के साथ उसके बाह्य रूप में परिवर्तन आ जाता है।

'सुनीता' की प्रस्तावना में जैनेन्द्र स्वयं कहते हैं: 'पुस्तक में मैंने कोई लम्बी-चौड़ी कहानी नहीं कही है। तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कन्वास की ज़रूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में सब कुछ को क्यों न दिखाया जा सके?'

जैनेन्द्र का संसार मानो अँधियारे आलोक से झिलमिल है। एक प्रकार का कुण्ठित, अवसाद भरा यहाँ का वायुमंडल है। खुले ग्राम, खेत, हवा इस व्यथा-भार से दबे निम्न श्रेणी के मध्य वर्ग को नसीब नहीं। इस चित्रपट पर जैनेन्द्र के कठिन जीवन की स्पष्ट छाप है। 'सुनीता' में अवश्य हम कुछ खुली-सी हवा में साँस लेते हैं। नहीं तो 'परख' की काश्मीर-सुषमा में भी हर्ष और उल्लास का नाम नहीं। मध्य वर्ग के डूबते प्राणी ही निरन्तर इस जग में तैरते-उतराते हैं। कट्टो का भग्न घर जहाँ अधपकी जामुन पेड़ से अनायास ही पट-पट गिर पड़ती हैं; सत्य का 'दीवारों से घिरा' अँधेरा कमरा; सुनीता का सन्नाटे-भरा घर जहाँ पिस्तौल का शब्द भी वायु में गूँज कर खो जाता है; प्रमोद की बुआ की कुण्ठित कोठरी—व्यथा-भार से दबे इस वायुमंडल के बादल मानो अब बरसे, अब बरसे!

'सुनीता' में जो चित्र बनाने का प्रयत्न हरिप्रसन्न कर रहा है, वही जैनेन्द्र के हृदय की पीड़ा है। शब्दों में उसे व्यक्त करने का वे प्रयत्न कर रहे हैं। 'हिरन के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये-लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है, उसके लिए वह गाँठ है। यह चित्र हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है।' यह शब्द जैनेन्द्र के लिए भी लागू हो सकते हैं।

जैनेन्द्र के प्लॉट सीधे-सादे होते हैं। वे स्वयं ही कहते हैं: 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।' वे मानव-स्वभाव की बहुत उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझाने में लगे हैं। 'परख' में सत्यधन खोटे निकले। कट्टो से वचनबद्ध होकर भी वे सुख और वैभव की ओर ढुलक पड़े। शरत्चन्द्र की 'अरक्षणीया' में यही चित्र भयंकर होकर दुःसह दुःखदायी हो जाता है। अरक्षणीया का अपने मुख पर वह टिकली और काजल लगाना कितना असह्य हो उठता है! 'सुनीता' और रवि बाबू के 'घरे-बाहरे' में विद्वानों ने समता देखी है। एक स्त्री कुछ विचित्र ही ढंग से दो मित्रों को पास लाती है और दूर करती है। 'सुनीता' का पूर्ववर्ती भाग उच्च और मँजी कला का नमूना है। पिछले भाग में कलाकार कथा का प्रवाह ठीक-ठीक निभा सकने पर भी

अपने मंतव्य में कुछ अस्पष्ट है। यह भी कह सकते हैं कि वह अधिक गूढ़ हो गया है। 'त्याग-पत्र' अपने लक्ष्य में अविराम और अचूक धार से बहा है। भाग्य की-सी कठिनता और अनवरतता इसके कथानक में है। इस प्रबल प्रवाह का विराम जीवन की चट्टानों पर टकराकर भग्न होने में ही है।

जैनेन्द्र के वस्तु-भाग में कलाकार बहुत आगे रहता है। हमारी आँखों की ओर नहीं रहता। निरन्तर वह अपने पात्रों के भावों का विश्लेषण करने में निमग्न है। 'परख' में अवश्य अनेक नाट्य-दृश्य हैं, जिनमें हम कहानीकार को भूल-से जाते हैं।

जैनेन्द्र के पात्रों में चार पुरुष और तीन स्त्री विशेष उल्लेखनीय हैं। सत्यधन और बिहारी, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न इस प्रकार आमने-सामने रखे गये हैं कि एक से दूसरे के चरित्र पर प्रकाश पड़े। जैनेन्द्र मनुष्यों का चित्रण करते हैं। देवता और दानवों में उन्हें विश्वास नहीं। 'परख' की भूमिका में आप लिखते हैं: 'सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ यह नहीं कर पाया हूँ, उसी स्थल पर, समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है—और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है? न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम और पशु से ऊपर।'

फिर भी हमें जैसे लगता है कि सत्यधन अपने आदर्श से गिर गये, जीवन की 'परख' में पूरे नहीं उतरे और बिहारी कुछ अपने से भी ऊँचा उठ गया। सत्यधन की भाँति ही 'परिणीता' में शेखर अपने वचन से डिगकर पथभ्रष्ट हो गया था। दूर आलोक देखकर पतंग के समान वह उधर ही ढुल पड़ा। बिहारी का चरित्र कट्टो ने ख़ूब समझा है :—

'तुममें तो कुछ समझने को है ही नहीं। जो बाहर है, वही भीतर है। भीतर भी वही विनोद का झरना झरता रहता है, जिसका आधा जल आँसू का और आधा हँसी का है, और जिसमें से हर बात आर-पार दिखाई देती है।'

श्रीकान्त और हरिप्रसन्न भी इसी प्रकार एक-दूसरे की स्निग्ध सौम्यता और उग्र तेजस्विता को और भी गहरी दिखाते हैं। श्रीकान्त हमको बंगाल के अमर कलाकारों का अपने नाम के अतिरिक्त भी और कारणवश स्मरण दिलाता है। उसके चरित्र में वही गंभीर सरलता है, जो हमें बड़े साहित्य के पात्रों में मिलती है। हरिप्रसन्न अग्नि के समान प्रखर और प्रचण्ड है। गौरमोहन का उसे सूक्ष्म रूप समझना चाहिये। क्रान्ति के युग का वह प्रतिनिधि है। वह कहता है: 'आज और कल के बीच में बन्द हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुयेंगे। सनातन और अनन्त को भी हम चखेंगे। तुमने बनी-बनाई राह सामने कर दी है। वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और यह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर संतुष्ट पारिवारिक जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है।'

इन पात्रों के चित्रण में कठोर मनोवैज्ञानिक सत्य है। इनका स्थान हमारे साहित्य में चिरस्मरणीय होगा। जैनेन्द्र की तीन स्त्री पात्र कुछ और भी रहस्यमयी और गहन हैं। जैनेन्द्र ने यह अवश्य समझ लिया है कि स्त्री एक अबूझ पहेली है। यहीं उनके चरित्र मार्मिक हैं। यद्यपि कभी-कभी उनकी स्त्री-पात्र ऐसे व्यापार भी कर डालती हैं, जो सहज बुद्धि की समझ में नहीं आते।

कट्टो उनकी स्त्री पात्रों में पहली होती हुए भी गंभीरता लिये है। बड़ी भावुकता से जैनेन्द्रजी ने 'परख' कट्टो को समर्पित किया है:—

'मेरी कट्टो, तुमने कुछ नहीं लिया--यह तो ले लो। यह तुम्हारे ही लिए है। देखो, इंकार न करो, टालो मत। अपने को तुमने विधवा ही रखा, इसको सधवा बना दो। अपने चरणों में आने दो।...' रवि बाबू ने अपनी एक कहानी में पुराने भारतीय कारीगरों का वर्णन किया है। वे तलवार के एक ही वार में फल ऐसा काट देते थे कि दो टुकड़े होकर भी वह एक-सा लगता था, जब तक कोई उसे हिलाये-डुलाये नहीं। कट्टो के जीवन में हँसी, खेल, विनोद इसी प्रकार भरा था, किन्तु पीड़ा के एक ही प्रहार ने उसका विनोद गांभीर्य से काटकर अलग कर दिया। कट्टो का चरित्र जैनेन्द्र-साहित्य का एक उज्ज्वल नक्षत्र है। न जाने कहाँ से उसमें इतनी समझ, गम्भीरता और बलिदान-शक्ति आ गई!

'सुनीता' रहस्यमयी है। उसको समझना कठिन है। किन्तु हमारी पूरी सहानुभूति उसके साथ है। नवीनता की खोज के आक्षेप से अपने को बचाते हुए जैनेन्द्रजी ने हमसे कहा था कि 'सुनीता' में भारतीय स्त्री का पातिव्रत्य पराकाष्ठा को पहुँच गया है। कोई भी बलि उसकी शक्ति के बाहर नहीं। श्रीकान्त उससे कह गये थे कि हरिप्रसन्न को रोकना ही होगा। उसे रोकने के लिए सुनीता ने अपने स्त्रीत्व तक की बाजी लगा दी। मिश्र देश की Sphinx और सुप्रसिद्ध चित्र Mona Lisa के समान रहस्यमयी इस नारी के मन में न जाने क्या मधुर पीड़ा-मिश्रित भाव छिपे हैं! लौह तीली के समान वह कठिन है और कितनी भी झुक जाने पर नहीं टूटती।

'त्याग-पत्र' केवल एक स्त्री—मृणाल अथवा प्रमोद की बुआ—की जीवन-कथा है। गहरा और कठिन अवसाद मृणाल के मन पर जमा है। भारतीय समाज की कड़वी और सच्ची आलोचना 'त्याग-पत्र' में है। यह आलोचना सुनने और समझने का साहस सबमें होता भी नहीं। मृणाल की विचारधारा शायद हम न ठीक-ठीक समझें; किन्तु कितना अभिमान और आत्म-सम्मान उसके मन में है। कट्टो और सुनीता से भी अधिक वह हमारे मन को विचलित और व्यथित कर देती है।

जैनेन्द्र हिन्दी के क्रान्तिकारी लेखक हैं। रूढ़ियों पर उन्होंने कठिन प्रहार किये हैं। किसी सरल, स्वच्छ, आकर्षक जीवन की खोज में वह निरत हैं। किन्तु शायद उन्हें इस अँधियारे में अपना पथ स्पष्ट नहीं सूझता। 'मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिये, कुछ करना चाहिये। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है। जीवन ही हमारा ग़लत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं हैं, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा। पर क्या-आ? वह क्या है, जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है?'

अथाह सागर की भाँति जीवन हमारे सामने हिलोर मार रहा है। उसका आर-पार कुछ नहीं सूझता: 'समंदर है। अपनी नन्हीं-नन्हीं काग़ज़ की डोंगी लिये उसके किनारे खेलने के लिए आ उतरे हैं। पर किनारे ही कुशल है, आगे थाह नहीं है।' ऐसी अधिकतर हमारी मनोवृत्ति है। जैनेन्द्र आगे बढ़ गये हैं; किन्तु पृथ्वी उनके पैरों के नीचे से भी निकल रही है। 'उस सागर

की लहरों का अन्त कहा है ? कूल कहाँ है ? पार कहाँ है ? कहीं पार नहीं है, कहीं किनारा नहीं है। आँख के ठहरने को कोई सहारा नहीं है। चितिज का छोर है, जहाँ आस्मान समंदर से आ मिला है। वहाँ नीला अँधियारा दीखता है। पर छोर वहाँ भी नहीं है। वहाँ छोर तो हमारी अपनी ही दृष्टि का है, अन्यथा वहाँ भी वैसी ही अकूल विस्तीर्णता है।'

जैनेन्द्र की भाषा के अनेक गुण इस अवतरण में हैं। सादगी, गांधी के 'नवजीवन' का स्मरण दिलानेवाली; काव्य तक उठने की क्षमता; एक खटकनेवाली कृत्रिमता—जैसे कोई अच्छा बड़ा मनुष्य तुतलाने का प्रयास करता हो! 'किन्तै' 'ठैरा' 'समंदर' हमारे कान को नहीं सुहाते। 'परख' से 'त्याग-पत्र' तक जैनेन्द्र की शैली खूब परिमार्जित हो चुकी है। वह अधिक प्रवाहमयी है और प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुकी है। 'परख' में बहुधा काव्य का आनन्द उनकी भाषा हमें देती है; किन्तु यह स्वाभाविक है कि कथावस्तु में अधिक प्रवाह आने पर गद्य-काव्य की कुछ हानि हो।

जैनेन्द्र कलाकार अपनी रचनात्मक शक्तियों पर आज पूर्ण रूप से अधिकारी हैं। 'परख', 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' का मनन कम-से-कम यह हमें बताता है। भविष्य में हिन्दी उनसे बहुत कुछ आशा कर सकती है। मध्यान्ह में पहुँचकर यह नक्षत्र ज्योति से हमारा जग भर देगा।

आगरा।

पनघट

[वामन चोरघडे]
[अनुवादक, प्रभाकर माचवे]

[श्री वामन चोरघडे नवयुवक मराठी कहानी-लेखकों में अग्रणी हैं। छोटी-छोटी लघुकथायें लिखने में आपने विशेष सफलता पाई है। अभी थोड़े दिन हुए आपकी कहानियों का सुन्दर संग्रह 'सुषमा' मराठी में प्रकाशित हुआ है, जिसमें से हमने यह कहानी अनुवाद करके दी है। यह कहानी आपकी कला का सुन्दर प्रतिनिधित्व करती है।—सं०]

उस कुँए के ऊपर ईंट-चूने का बना हुआ बन्द न था। चार पत्थर बैठा दिये थे, जिनसे उसका बन्धान गोल और ठीक से बनाया जान पड़ता था। चहुँ ओर कीच-काँदो बेहद, और उसी में रखे हुए पत्थर पर से ही जाना पड़ता था उस ओर पनघट पर— !

बहुत-सी स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। बिना रहँट-चके का कुँआ था वह। पानी खींचना भी हुआ तो सिर्फ नीचे झुककर ही खींचा जा सकता था।

हरएक की साड़ी का रंग था अलग-अलग : पीला, कुसुम्भी, सफेद, छींटों का काला, कई सारे रंग थे। पानी खींचते वक्त वे नीचे झुकतीं और उस सँकरे कुँए का मुँह जैसे ढँक जाता। दूर से देखनेवाले को लगता, मानो रंग-रंग के फूल-फलों से झुकी हुई बेलों की झुर-मुट ही हो !

मिट्टी की गगरियाँ डोरी से अन्दर छोड़तीं और पानी भरतीं। बन्धान के पत्थर से छूकर कब वह गगरी फूट जाय, इसका कुछ ठिकाना नहीं था। बहुत सम्हाल-सम्हालकर पानी भर रही थीं वे, तो भी गगरी भरकर ठीक से ऊपर आ जाती, तभी वे इस-उस ओर देखतीं।

'यसोदा, आज हाथ की सब चूड़ियाँ कहाँ गईं ? आज सकारे तक तो थीं सब की सब'—एक ने डर-डरकर सवाल पूछा। यशोदा का मुँह सूख गया था, आँखें सूजकर लाल हो गईं थीं। और वह हमेशा से कम बोल रही थी।

उसी के पास खड़ी गिरिजा ने अपने माथे पर की लटें अँगुलियों से सँभालीं और

स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखकर वही सवाल पूछा। उसे जवाब देना ही पड़ा। उसके लिलार पर थोड़ी शिकन पड़ गई। होंठ जरा भीचकर वह बोली—तेरे ही भैया ने बढ़ा दी चूड़ियाँ री!

'कौन ने, राजाराम ने?'

'और तेरे आदमी ने कुछ नहीं कहा?'—तीसरी ने अचरज से पूछा। वे साफ़-साफ़ बोला करती थीं। अंदर और बाहर-और ऐसी नागरी आदतें उनमें नहीं थीं।

'वे भी आख़िर क्या बोलें? बार-बार उलटे मुझे ही सुननी पड़ी जली-कटी बातें। खाना खाने बैठे और रायते का नाम सुना सो जल्दी-जल्दी लगी मैं पुदीना पीसने। इतने में तेरे भैया ने पानी या कुछ माँगा। जल्दी में मैंने सुना नहीं होगा कि चढ़ गये उनके तेवर और ताव-ताव में थाली छोड़कर उठे और कटोरी इत्ती ज़ोर से दे मारी कि सीधी मेरी कलाई पर आ लगी।

'एक-एक नया; सुनो सो उलटा ही नियाव! और तेरे घर में ये सब सहे लेते हैं।'

यशोदा की आँखों में बूँदें आ गई थीं।

'वो भी क्या करेगा बेचारा!'—गंगा ने गगरी में रस्सी का फन्दा डालते हुए कहा। 'घर में वो खूसट बुढ़िया जो होगी। बोले तो उलटे अपने मुँह मिट्टी। चार जनों के घर में बोलना भी तो पाप है। हाँ, चाहे उसके मन में लाख हो वो बोलेगा तो यसोदा से ही, सब चुपचाप पी लेकर। चार जनों का घर। बेचारी को—'

सब औरतें तटस्थ बनकर सहानुभूति से उसकी ओर देख रही थीं। उसने आँखों पर अंचल चिपका लिया और याद नहीं करूँगी—ऐसी कोशिश करने पर भी उसे सारा अतीत याद आ गया। वह फूट पड़ी।

'चुप-चुप, बेटा!'—अभी-अभी आई प्रौढ़ा ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। दो मीठे वचन सुनकर यशोदा की हिचकी का तार बँध गया।

'धीरज रखो बेटा, ऐसा क्या हुआ चार जनों का घर!'

'नहीं तो क्या री?'—यशोदा एकदम बोलने लगी। उसकी हिम्मत उसकी आँखों में से फूटकर मानो सबको लीलने जा रही थी।

'चुप्पी, सो भी कहाँ तक रखूँ? ऐसे जलते रहते हैं पिरान हरदम—धाँय-धाँय! सास बोले सो अलग, देवरों के मिज़ाज सो सातवें आसमान पर। ऊपर से वे बोलेंगे वो अलग ही—उनका तो जानबूझकर पलकों पर जैसे अनजानपन ओढ़ लेना—और मैं ही अकेली सबके लिए मरूँ? जान नोंचे डालते हैं हर घड़ी। एकाध दिन—'

'हुँः, ऐसा अशुभ नहीं बोलना चाहिये। चल, पानी खैंच—देख वो गगरी पत्थर से टकरा रही है—'

'रोज-रोज का जुलम हो तो—'

वह गगरी उसने तौल के खींच ली और वैसे ही भारी हाथों से ऊपर ले ली। बाक़ी की सब स्त्रियाँ भारी-भारी दिल से पानी निकाल रही थीं!!

कोई किसी से बोल नहीं रही थी।

दूर से देखनेवालों को लगता—मानो फल-फूलों से झुकी हुई ढंग-ढंग की बेलों की झुरमुट है एक...

पर किंचित् पास जाने पर पता लगता—किसी के भी प्राण लेने पर तुला, बन्द जिस पर नहीं बना है ऐसा वह काले पत्थर का अँधेरा कुँआ है, उसके आड़ छुपा हुआ।

और...

फिर भी बेचारियाँ उसमें गहरे-गहरे में गगरियाँ डालकर सम्हाल-सम्हालकर जीवन खींच निकाल रही हैं !!

वर्धा।

बादल भरी सांझ

[वीरेंद्रकुमार]

[हिंदी नवयुवक लेखकों में श्री वीरेंद्रकुमार ने अच्छी प्रगति की है। कवि और कहानी लेखक—दोनों ही रूप में आपने सफलता पाई है। आपकी साहित्यिक रुचि सुंदर है। आजकल आप इंदौर में अध्ययन कर रहे हैं। — सं०]

आज आँसुओं से भीगी क्या करुणामयी तुम्हारी चोली ?
आज वक्ष में रुदन आह उमड़ा-सा आता है क्यों भोली ?
आज साँझ क्या गाने बैठी जो मुझको रोना भाया है ?
शेष-किरण, डाली पर, बाले, करुण-राग कैसा गाया है ?
उमड़ रहे आषाढ़ मेघ वे, सजल स्तब्ध उस अम्बर तट पर।
कुहर-म्लान छाया फैली है, हरित सघन उस वन के पट पर ॥
उमड़-घुमड़ उठते ये बादल, बिजली बिछुड़न भर जाती है।
जाने किस कोमल-भय से ये रोएँ सिहर-सिहर आती हैं !
आज गा रही हो क्या कजली, आँखों पर सावन उतरा है ?
झूल रही हो क्या तुम वन में, साँस-साँस पेंगें भरना है।
यक्ष-प्रिया की पन्ना-जटित अटारी पर मेघों की छाया।
सजल-उषीर गन्ध-आँधी में, यह कैसा मधु-सपना आया ?

इन्दौर।

विज्ञान की परिभाषा

[किशोरलाल घनश्यामलाल मश्रुवाला]

[श्री किशोरलाल घ० मश्रुवाला गांधी-सेवा-संघ के सभापति हैं और गांधी-विचार के गुजरात में सबसे बड़े वेत्ता हैं। आप गांधी-युग की बहुत बड़ी देन हैं। अपने इस विचार-पूर्ण लेख में आपने विज्ञान की परिभाषा की है। भाषा तथा लिपि के सम्बन्ध में इस लेख में कुछ नवीन परिवर्तन उपस्थित किये गये हैं, जिनके विषय में, उनका आदेश है कि हम सभी पाठकों और लेखकों से इन परिवर्तनों पर उनके विचार आमंत्रित करें। और आमंत्रण यह उपस्थित है। खेद है कि कुछ परिवर्तन टाइपों के न होने के कारण कार्यान्वित नहीं किये जा सके जिसके लिए हम लेखक के प्रति और पाठक के प्रति विनीत भाव से क्षमा-प्रार्थी हैं। आजकल आपका भी कार्य-क्षेत्र और राष्ट्र-कर्मियों के क्षेत्र की भाँति वर्धा में है।—सं०]

श्री पोपटलाल शाह, एम्० ए०, बी०-एस्-सी०, तथा श्री भोगीलाल पटवा, बी० ए०, इन्होंने 'वैज्ञानिक शब्द-संग्रह' इस नाम से कुछ दस हजार शब्दों का एक विज्ञान की परिभाषा का संग्रह तैयार किया है। श्री० फार्बस गुजराती सभा ने उसे प्रकट किया है। सम्पादकों ने इस कोष को अभी कच्चे रूप में ज़ाहिर किया है और विद्वानों की राय के लिए पेश किया है। उसको अच्छी तरह देखते-देखते मेरे मन में जो विचार उठे वे हिन्दी-हिन्दुस्तानी पारिभाषिक कोषों के लिए भी उपयुक्त होंगे ऐसा समझकर विद्वानों के आगे रखता हूँ।

श्री शाह ने अपने शब्द-संग्रह की प्रस्तावना में लिखा है कि परिभाषा बनाने में उन्होंने नीचे लिखे नियम माने हैं:—

१. परिभाषा के शब्द जितने हो सकें उतने सरल बनाने चाहियें। भाषा-शास्त्र, व्युत्पत्ति-शास्त्र, और भाषा-शुद्धि के बजाय सुविधा और सरलता पर ज्यादा ज़ोर दिया जाय। उदाहरणार्थ—कारीगरों में हथियारों, औजारों और यंत्रों के लिए जो शब्द चल गये हैं, हालाँकि वे अशिष्ट-असंस्कृत गिने जाते हैं, तथापि वे ज्यादा सफल और उपयुक्त होते हैं।

२. विदेशी भाषा के जो शब्द चल गये हैं, उनके बदले दूसरे शब्दों को रखने की

कोशिश नहीं होनी चाहिये। उदा० स्टेशन, अस्पताल, दुर्बिन, मास्टर, सिग्नल, मोटर पंप वगैरा।

३. विदेशी भाषा के जो शब्द जारी न हुए हों, लेकिन जिन्हें जारी करने में दूसरे किसी नियम की अड़चन न हो तो उन्हें ही जारी किये जायँ। जैसे, ऐशूपिट्, कम्पास, कॉलर, पाइप, गेज, प्लेन, पंच, लाईन आदि। लेकिन अगर ज्यादा सरल और सूचक देशी शब्द बनाना संभव हो तो वैसे बनाने में संकोच भी न किया जाय। उदा० रेलगाड़ी, विमान, ऊँटड़ा (=ऊँटिया, 'क्रेन' के लिए गुजराती में चालू है)।

४. जिन विदेशी शब्दों के तत्सम और तद्भव ये दोनो रूप हों, उनमें से, किसी अन्य नियमों की अड़चन न हो तो सरल रूप ही योग्य माने जायँ। उदा० हॉस्पिटल=अस्पताल, बॉइलर=बायलर, वॉशर=वॉयसर, ऐंजिन=इंजन, एंजिनियर=इजनर।

५. वस्तुवाचक या नामवाचक शब्दों का अनुवाद न किया जाय; लेकिन अंग्रेजी शब्द ही इस्तेमाल किये जायँ। जैसे—हाइड्रोजन के लिए आर्द्रवायु, नाइट्रोजन के लिए नेत्रिल आदि शब्द न बनाये जायँ।

६. क्रियापद या क्रिया-वाचक नामों के लिए नये शब्द संस्कृत-फारसी-उर्दू से लिये जायँ। जैसे, एट्रेक्शन=आकर्षण, रिपल्शन=अपाकर्षण, रिफ्लेक्शन=परावर्तन।

७. हिंदुस्तान की अन्य प्रांतीय भाषाओं के साथ समानता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय; लेकिन इस तरह कि जिससे गुजराती भाषा की स्वतंत्र वृद्धि में बाधा न आने पाये।

८. रासायनिक तत्त्वों और संज्ञाओं के नाम बिना फर्क किये वैसे ही उपयोग में लाये जायँ, जैसे आंतर-राष्ट्र-समिति ने अंग्रेजी में निश्चित किये हैं। उदा० हायड्रोजन=H. ऑक्सिजन=O. जल H 2 O. नीलाथोथा का वैज्ञानिक नाम कॉपर सल्फेट और उसकी संज्ञा Cu So 4

९. इसी तरह वनस्पति, प्राणी एवं शरीर के अवयवों आदि के नाम लैटिन या अंग्रेजी भाषा के जो शब्द अंग्रेजी में रूढ़ हों, वे ही रखे जायँ। उदा० सिंह का वैज्ञानिक नाम 'फेलिस-लियो', बिल्ली=फेलिस डोमेस्टिका, तुलसी=ओसाई मम् सैंक्टम्।

१०. नये शब्द बनाते समय शब्दों के मूल और आधुनिक दोनो अर्थों का ख़याल रखा जाय। उदा० ऑर्गैनिक केमिस्ट्री के लिए सेन्द्रिय रसायन* यह शब्द हास्यास्पद है। कार्बन रसायन विशेष सुवाच्य और योग्य है।

११ फिलहाल कुछ साल के लिए एक से अधिक पर्यायवाची शब्द बनाये जायँ। उनमें से अनुभव से कुछ शब्द जारी होंगे व शेष छुट जायँगे।

इन नियमों के बनाने में मेरा भी कुछ हाथ था और मोटे तौर पर वे मुझे मान्य हैं। जो विचार मैं अब प्रकट कर रहा हूँ वे मेरे विचारों में हुए फर्क को बताते हैं।

आधुनिक विज्ञान की पढ़ाई और यंत्रादिक का व्यवहार हमारे देश में यूरोप, विशेषकर इंगलैंड से दाखिल हुए हैं। आज तक अभ्यास अंग्रेजी भाषा के मार्फत ही हुआ और यंत्रों

---

* श्री सुखसंपतरायजी भण्डारी के कोश में दिया हुआ 'जैव रसायन' शब्द भी इसी कारण से ठीक नहीं है। इसी तरह Positive Negative (Electricity pole) आदि के लिए 'धन' और 'ऋण' शब्द ठीक नहीं हैं। अंग्रेजी में ये संज्ञायें इत्तिफाक से बन गई हैं। और अब गलत मालूम हुई हैं। हमें इसका तर्जुमा करने की जरूरत नहीं है।

के व्यवहार में, अंग्रेजी भाषा नहीं ; पर अंग्रेजी शब्द तो दाखिल हुए ही हैं। अपंडित लोक-भाषाओं ने इन शब्दों को अपनाने में बाज़ वक्त अच्छी चतुराई भी दिखलाई है। जैसे कि इंजन, इजनर, अस्पताल, लंकलाट, लालटेन, लाट साब, वगैरा शब्द बनाने में। यह बात किसी एक प्रांत में नहीं लेकिन सारे देश में हुई है। इसके अलावा बहुत से शब्द तत्सम रूप में भी जारी हुए हैं। इनमें सिर्फ संज्ञावाचक ही नहीं, क्रियावाचक शब्द भी हैं। जैसे— साइडिंग, शंटिंग, स्टार्ट करना, स्पार्क देना, (बैटरी) चार्ज करना, वगैरा। इस स्थिति में कोई आश्चर्य नहीं कि यन्त्र, यन्त्रों के हिस्से, छोटे-बड़े औजारों के नाम, आदि के रूप में सैकड़ों अंग्रेजी शब्द छोटे-बड़े और शहरी-ग्रामीण इन सबों के मुँह में पैठ गये हैं। जैसे कि सायकल, मोटर, पेन, पेन्सिल, फाउंटन पेन, होल्डर, रबर, हैंडल, स्क्रू ड्रिल, एनिमा, थर्मामिटर, शू, बूट, टाइम, टाइम टेबुल, रिसीवर, बर्नर, टोटल वगैरा। इन शब्दों की लोगों को इतनी गहरी पहिचान हो गई है कि संभव है, उनमें से कई शब्दों के बारे में वे परभाषा के हैं ऐसा उन्हें ख़याल भी न हो। ऐसे कुछ शब्दों के लिए हमारी भाषाओं में सादे, सरल और रूढ़ शब्द होंगे भी, फिर भी यह हुआ है कि अंग्रेजी शब्दों ने देशी शब्दों को पीछे हटा दिया है।

देशी और अँग्रेजी इन दोनो भाषाओं के विद्वान देश में पैदा हुए और वे 'जाग' गये उसके पहले ही यह व्यवहार शुरू हो गया था। और एक बार शुरू होने पर उनकी गति को रोकना विद्वानों के लिए भी कठिन हो गया।

इसमें स्वभाषाओं की ओर देखने की हमारी पद्धति भी कारण रूप है। बड़े तौर पर कह सकते हैं कि शुरू के विद्वानों की देश की प्राचीन और अर्वाचीन दोनो भाषाओं पर अरुचि बन गई थी। उनके बाद जो विद्वान पैदा हुए, वे स्वभाषा को सिर्फ़ स्वभाषा करके ही नहीं लेकिन संस्कृत या फारसी-अरबी की वशंज करके ज्यादा पहचानने लगे। स्वभाषायें सारी अधूरी और नये शब्द बनाने के लिए कम उपयोगी हैं ऐसा जो हीनता ग्रह (inferiority complex) बना हुआ था वह जारी ही रहा। शायद उस भूमिका में से आज भी हम निकले हुए नहीं हैं। इसलिए जब एकाध नया शब्द हमारी भाषा में दाखिल होता है तब वह हमारा ही होता है और हमारी भाषा के व्याकरण, शब्द-शास्त्र वगैरा के अधीन बन जाता है, ऐसा हमारी समझ में नहीं आता। जिस तरह लोग अपनी जात-पाँत और कई तो अपने प्राचीन शाखा-गोत्रों को भूल नहीं सकते, उसी तरह हमारी स्वभाषा में बाहर से आये हुए शब्दों की जात-पाँत और गौत्र-शाखा को हम भूल नहीं सकते। इसका नतीजा यह हुआ है कि स्वभाषाओं में भी तीन-तीन या कई बार इनसे भी ज्यादा भाषाओं के व्याकरण एक दूसरे से अछूत भाव बनाकर रखे हुए हैं। उदा० 'भाग्य' और 'नसीब' ये दो शब्द हमारी भाषा में हैं। इसी तरह कम, बद्, बे, दुर, अ वगैरा उपसर्ग भी हैं। लेकिन इन शब्दों के साथ इन उपसर्गों को हम चाहे वैसे नहीं लगा सकते। यानी, 'कमभाग्य' या 'बदभाग्य' 'दुर्नसीब' अथवा 'अनसीब' नहीं कह सकते। इसी तरह हम ग़रीबता या दरिद्राई, अथवा कुहज़मी या बदपचन नहीं कह सकते। सुनार, लोहार, वगैरा पर से सुनारी, लोहारी शब्द बना सकते हैं लेकिन रसायन, भूगोल, खगोल आदि से रसायनी, भूगोली, खगोली नहीं

दोनो पति-पत्नी चाय के बागों से दो-दो आना लाते थे, धरना और उसकी बहू भी कमाती थी और मजे से बसर हो रही थी। फिर इसकी घरवाली बीमार हो गई। बच्चा पैदा होनेवाला था, तकलीफ़ उसे ज़्यादा थी। मंगू उसे लेकर कई कोस की मंजिल मारकर पालमपुर गया; वहाँ डाक्टर को दिखाया, उसने फ़ीस माँगी; पर फीस इनके पास कहाँ! और फ़ीस देते भी, तो दवाई के पैसे कहाँ थे। रोते-धोते वापस आ गये। मार्ग में ही बच्चा पैदा हुआ। तभी से, न जाने किस तरह इसने पीकर बेसुध होना सीख लिया है। चायवालों ने इसीलिए इसे मारकर भगा दिया।

दूसरा चौकीदार—सरकार, बड़ा भला आदमी था, अब इसके बुरे दिन आये हुए हैं। घरवाली ही नहीं, बच्चा भी बीमार है। हमने फिर कह सुनकर अस्पताल भेजा था; पर डाक्टर चाहता था कि उसकी मुट्ठी गरम हो तब उसे और बच्चे को अस्पताल में दाखिल करे। बस, उसी दिन से यह और भी चौपट हो गया।

[सब स्तब्ध खड़े रहते हैं, फिर डाक्टर खन्ना जैसे अस्त होते सूरज की ओर देखकर चौंकते हैं।]

डा० ख०—भल्ला साहब, देर हो रही है। हमें अभी और भी दो जगह जाना है।

[डाक्टर भल्ला कोट को ठीक करते हैं, सहसा रुकमन, जो अब तक बेसुध-सी पड़ी थी, घिसटकर डा० भल्ला के पाँव पकड़ लेती है।]

रुकमन—(कम्पित स्वर में)—मैं भी मा हूँ। डाक्टर, डाक्टर, परमात्मा के लिए इसे नीरोग कर दो। तुम्हारे भी बच्चे होंगे। भगवान के लिए इसे देखो। तुम पैसे माँगते थे, मैं दूँगी, मैं कहीं से भी लाकर दूँगी, इसे देख जाओ...(कुछ रुककर) तुम बोलते क्यों नहीं? अब माँगने से घबराते हो...(हाँपती है, फिर रोती हुई ऊपर उसके चेहरे की ओर व्यथित आँखों से देखती है)...नहीं, नहीं, आप वह तो नहीं लगते। आप तो कोई और डाक्टर हैं। आप तो दयावान् लगते हैं। आपके चेहरे से तो दया टपकती है। मेरे दीनू को देख लीजिये सरकार, आज कितनी देर से बेहोश पड़ा है।

[डाक्टर भल्ला पाँव पीछे खींचते हैं।]

रुकमन—(उठकर अत्यन्त करुण स्वर में)—डाक्टरजी!

[बच्चे को उनके पाँवों पर रख देती है। उसे देखकर सहसा चौंकती है और फिर चुप, पथराई हुई आँखों से उसे देखती है। डाक्टर भल्ला झुकते हैं; पर चौंककर पीछे हटते हैं। मि० बलवन्त और डा० खन्ना आगे बढ़ते हैं।]

डा० ख०—(आश्चर्य से) हैं!

मि० बलवन्त—(शोक के स्वर में) सब्र करो माई, बच्चा मर चुका। तुम शव को उठाये फिर रही हो।

रुकमन—मेरे लाल...(पछाड़ खाकर गिर पड़ती है।)

[सूर्य की अन्तिम किरण निमिष-मात्र के लिए मृतक के शव पर चमकती है, फिर अन्धकार में लोप हो जाती है।]

[पर्दा]

लाहौर।

alternate	हर तीसरा, फी तीसरा	विपर्ययायक, विपर्याय विशिष्ट एकान्तर-क्रम, पर्याय-क्रम
anaesthesia	बेमालूमी, अनजानपन	स्पर्श लोप, संवेदन-शक्ति-हीनता, संज्ञानाश, निःसंज्ञ-स्थिति, स्पर्श-शून्यत्व, संवेदनाभाव, संवेदनाऽशक्ति
disintegration	(रूप या घाट की) ढिलान, तोड़-मोड़, चूरन	चूर्णक्रिया, विभाजन-क्रिया, विमोचन, खंडन ।

इस तरह जब हम संस्कृत-शब्द-कोष का आश्रय लेते हैं, तब उसमानिया या अलीगढ़ युनिवर्सिटी के पण्डित उतने ही स्वाभाविक तौर से फारसी या अरबी शब्द-कोषों को ढूँढ़ते हैं। क्योंकि उन्हें उनका ही ज्यादा मुहावरा होता है। दोनो ही रोज़ बोलने में आनेवाली भाषा को उस समय लगभग भूल जाते हैं। नतीजा यह होता है कि दोनो के नये बनाये हुए शब्द सिर्फ़ कोषों में और कोशिश-पूर्वक लिखी हुई पुस्तकों में ही शोभा देते हैं। प्रजा के व्यवहार में और खुद बनानेवालों की अकृत्रिम बातचीत में अंग्रेजी शब्दों का ही उपयोग होता रहता है।

तब परिभाषा बनाने में हमें इस बात का विचार करना ज़रूरी है कि जब नये शब्द रोज़ाना, और जिनका संबंध हो उन सब लोगों की बातचीत में, सहज उपयोग में आ जायँ, तथा जब वे सामान्य लोगों की शब्द बनाने की नैसर्गिक शक्ति को बढ़ायें तभी हम उन्हें सफल शब्द कह सकते हैं।

यह किस तरह हो?

मुझे लगता है कि इसके लिए हमें हमारी शब्द बनाने की आदत का मूल से ही सुधारना जरूरी है। ऊपर लिखे हुए नियमों में जो छठा नियम है, वह महत्त्व का है उसमें मुझे नीचे लिखी हुई बातों का ख़याल करना जरूरी मालूम होता है :—

१. संस्कृत, फ़ारसी वगैरा से शब्द ढूँढ़ने के पहले उस भाव को दर्शानेवाले जो शब्द हमारे बोलचाल में चलते हों, उन्हें खोजकर उनको परिभाषा का अर्थ देने का प्रयत्न करना चाहिये। उस शब्द का मूल किस भाषा में है, इसकी चिंता नहीं करनी चाहिये। अगर वह बिल्कुल मामूली और पांडित्य-हीन दीखता हो तो वह उसका दोष नहीं; बल्कि गुण समझना चाहिये। उदा०, ऊपर दिये हुए एट्रेक्शन=आकर्षण, रिपल्शन=अपाकर्षण, रिफ्लेक्शन=परावर्तन इन शब्दों के बजाय क्रम से खिंचान, हटान, और उलटाव या उछाल इन शब्दों का उपयोग हम क्यों न परिभाषा में भी करें? इन शब्दों को जाँचने पर मालूम होगा कि वे हिन्दु-मुसलमान, पढ़े-अनपढ़ आदि सब समझ सकते हैं। इतना ही नहीं, लेकिन कुछ फेरफार के साथ वे गुजराती और मराठी शब्द भी हैं!

२. एकाध प्राचीन या परभाषा के शब्द को दाखिल करने का निश्चय करने पर हमें उसे हमारी भाषा का पूरा-पूरा शब्द समझ लेना चाहिये। उसको उपसर्ग या प्रत्यय लगाने में अथवा दूसरे शब्दों के साथ उनका समास करने में हमें हमारी स्वभाषा की ख़ासियतों को देखकर नियम बनाने और लगाने चाहियें। वैसा करने में फलाने भाव के लिए फलाना उपसर्ग या प्रत्यय

इसी विषय पर उनकी आसक्ति है और उसमें वे तद्रूप हो जाते हैं। सच देखा जाय तो ज्ञान की इस शाखा में संशोधन करते समय उन्होंने भूतकाल के उदर में भरी हुई बहुमूल्य साधन-सम्पत्ति पर प्रकाश डाला; और इस सम्बन्ध में अनेक घटनाओं के तथा महत्तम व्यक्तियों के साथ उनका परिचय हो गया। इसीलिए यदि इस कार्य की गहरी छाप उनके मन पर दीर्घ काल तक बनी रही तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन इस विभाग का काम समाप्त होते ही उनका ध्यान दूसरे विषय की ओर आकर्षित हुआ। और तब, उनके स्वाभावानुसार, इस नवीन विषय में ही उनका मन लग गया। इतना होने पर भी वे इस बात को कभी नहीं भूले कि किसी ख़ास विषय का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान-वृक्ष की एक शाखा-मात्र है। इसीलिए उनकी अभिरुचि, आरम्भ किये हुए कार्य में चित्त को एकाग्र करते रहने पर भी, समाप्त किये हुए कार्य के सम्बन्ध में हमेशा बनी रहती थी। अर्थात् उनकी दृष्टि में आरम्भ किया हुआ कार्य ही वास्तविक कार्य हो जाता और समाप्त किया हुआ कार्य 'हॉबी'। और वे अख़ीर तक इसी कार्य-पद्धति के आदी बने रहे।

इस पद्धति से चलनेवाले को ज्ञान की सब शाखाओं तथा उपशाखाओं पर लिखे हुए प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों का पठन-पाठन लगातार ज़ारी रखना पड़ता है। जिस मनुष्य का स्वभाव ज्ञान-संग्रह करने का होता है, वह सभी विषयों के ज्ञान का प्यासा रहता है। ऐसा कभी भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी किसी ख़ास विषय पर आसक्ति थी, अथवा वे किसी ख़ास विषय का ही अध्ययन करना उचित समझते थे। यदि उन्हीं के शब्दों में कहा जाय तो वे एक 'सर्वभक्षक' पाठक थे। जब उन्हें कोई किताब पसन्द आती, तब वे उसे सर्वांग दृष्टि से पठनीय समझते थे, न कि केवल विषय के अच्छे लगने की दृष्टि से। और साधारणतया किसी किताब को उलट-पलटकर देखने भर से ही वह पढ़ने योग्य है या नहीं, इस सम्बन्ध की अपनी राय वे बना लेते थे। उनके पढ़ने का ढंग देखकर कोई भी कह सकता कि वे जितनी शीघ्रतापूर्वक लिख सकते थे, उतनी शीघ्रतापूर्वक पढ़ नहीं सकते थे। लेकिन वे जो कुछ पढ़ते थे, उसकी गहरी छाप उनके मन पर पड़ती थी। प्रायः अपने आप पढ़ना उनको अधिक पसन्द था, तथापि दूसरे से—विशेषकर कोई अच्छा पढ़नेवाला मिल जाता, तब उससे—किताब पढ़ाकर सुनने में उनको बहुत आनन्द आता था। उनकी इच्छा यही रहती थी कि स्वयं हाथ-पैर फैलाकर आराम-कुर्सी पर लेटे रहें, और कोई दूसरा ज़ोर से पढ़कर सुनाता जाय। प्रायः आँखें मूँद लेने के कारण वे विशेष एकाग्रता से श्रवण कर सकते थे। पढ़ी हुई किताब पर निशान बनाने की अथवा उस सम्बन्ध की टिप्पणियाँ लिखने की उनकी आदत नहीं थी। वे जब किसी खास विषय पर लिखने बैठ जाते थे तब अवश्य ही उस सम्बन्ध की किताब का संदर्भ देख लिया करते थे। लेकिन उनकी स्मरण-शक्ति इतनी अधिक थी कि पढ़ी हुई किताब की बातें उनके स्मृति-पट पर बनी रह जातीं; और ज़रूरत पड़ने पर वे उनका उपयोग कर सकते थे। शायद इसी कारण से बहुत देर तक पढ़ते रहना या किसी से पढ़ाकर सुनना उन्हें सह्य नहीं होता था। घंटों तक पढ़ते रहना उनको बिल्कुल नापसन्द था। आराम करने, या खाने-पीने अथवा टहलने इत्यादि के कारण वे प्रायः बीच में ही पढ़ना बन्द कर देते थे। ऐसा करने से वे पढ़ी हुई बात को 'आत्मसात्' कर सकते थे। और जब कभी आधी पढ़ी हुई किताब उनको आगे पढ़कर सुनाई जाती थी तब पीछे की घटनाओं का सूत्र उनके ध्यान में ला देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। किसी कारण-वश जिस रात को उन्हें जब नींद नहीं आती थी तब वे कुछ देर तक पढ़ने या लिखने बैठ जाते थे; और

ऊ, उत्, ऊँचा ; नी, नीचा ; पी, पीछे, पीछा ;
आगा, आगे ; आड़ ; अं, अंदर, भीतर, घर ;
बा, बाहर ; कु, कूड़ा, बूरा ; सु, भला, नेक ;
स, सह, साथ, सथ ; उलट, फेर ; पार ;
फिर, दुवार ; पेट, पेटा ; अ, अन् , वे ;
कम ; ज्यादा, बढ़ ; पास ;
दूर ; बिना, सिवा, गैर ; जोर, तेज ;
नरम, ढीला ; महेर ; दुः, छीः ;

इन उपसर्गों की सहायता से किस तरह शब्द बनाये जा सकते हैं, इनकी कुछ मिसालें देता हूँ ।

मूल शब्द (अ)		-or, -er प्रत्यय	-ion प्रत्यय
project	(क्रि) उडालना (ना) उडाला, -लन	उडालक	उडालन
inject	(क्रि) अंडालना (ना) अंडाला -लन	अंडालक	अंडालन
eject	(क्रि) निडालना, ब्हार डालना	निडालक, ब्हारडालगार	ब्हारडालन
abject	(क्रि) दूर्डाल, छिडाल		
reject	(क्रि) फेर डालना	फेरडालक	फेरडालन
progress	(क्रि) ऊजना, ऊगना, बढ़ना (ना) उजाव, उगाव, ऊगति, बढ़ाव	ऊज (ग) कार, बढ़कार	उजा (गा) न, बढ़ान
regress	(क्रि) पीछगना (ना) पीछजाव, पीछगति	पीछगार	पीछगान
ingress	(क्रि) अंदगना (ना) अंदगाव, अंदगति	अंदगार	अंदगान
इसी तरह digress	आडगना, आदि		
transgress	पारगना, ओलंगना,		

जीवन में प्रत्येक क्षण का उपयोग करना ही चाहिये। उन्हें अपने अनुभव से ही ज्ञात हो गया था कि जो समय हम लापरवाही से खो देते हैं, उसका यदि उपयोग किया जाय तो महान् ग्रंथ का निर्माण हो सकता है।

जान पड़ता है कि बचपन से ही उनमें चित्त एकाग्र करने की असाधारण शक्ति थी। यह शक्ति उनकी आयु के साथ दिन-दिन बढ़ती गई। यही वजह है कि वे प्रत्येक क्षण का उपयोग कर सके। जिस तरह बटन दबाकर बिजली जलाई जाती है, उसी तरह वे एक क्षण में अपने चारों ओर के कोलाहल से अलिप्त होकर अपने विचार-प्रवाह में डूब जा सकते थे। आश्चर्य की बात यह है कि विस्मृति के वे कभी शिकार नहीं बने।

उनकी हस्तलिखित रचनाएँ कभी तो फुल्सकेप काग़ज़ पर लिखी हुई रहती थीं और कभी विभिन्न आकार-प्रकार के काग़ज़ पर भी। लिखने आदि की आवश्यक सामग्री भी उनके पास कभी नहीं रहती थी। अर्थात् जो चीज़ें पास रहती थीं या किसी से मिल जाया करती थीं, उनसे ही वे काम चला लेते थे। इतना होने पर भी वे अपने काम में व्यवस्थित और प्रामाणिक रहे। उनकी अपनी लिखी हुई रचनाएँ, जो कि अधूरी रह गई हैं, पूरी करने का उत्तरदायित्व जिन पर आ पड़ा है वे ही उपरोक्त कथन को अच्छी तरह महसूस कर सकते हैं।

डॉ० केतकर उन लोगों में से थे, जिन्हें अपने घरवालों के प्रति बहुत ही मोह और प्रेम होता है। अपनी गृहस्थी कितनी ही गरीब क्यों न हो वे उसे सुख-समृद्धि से पूर्ण ही समझते थे। वे अपनी इस मनोभावना को जिस तरह से व्यक्त किया करते थे, उसको समझकर हम लोग बहुत प्रभावित और आनन्दित हो जाते थे। वे स्वयं हम लोगों को तरह तरह की कहानियाँ सुनाया करते थे और हमारी कहानियाँ चाव से सुन लेते थे।

वक्ता और श्रोता, दोनों कार्य में डॉ० केतकर भलीभाँति प्रवीण थे। यदि किसी को उनसे कुछ कहना होता तो वे समयाभाव का बहाना दिखलाकर उससे पिण्ड छुड़ाना नहीं जानते थे। यदि किसी को अपनी राम-कहानी, किसी को स्वानुभव की मज़ेदार बातें और किसी को अपना राग-द्वेष कह डालने की इच्छा होती, अथवा किसी को उनसे सलाह लेने की ज़रूरत पड़ती तो वे बड़े चाव से तथा सहानुभूति के साथ उन लोगों की बातें सुन लेते थे और अपनी राय भी देते थे। किसी भी प्रकार की बात उनके समक्ष आने पर वे उसे अवश्य ही गौर से सुन लिया करते थे। वे जैसे बड़े से बड़े सवाल को हल करने में नहीं हिचकते थे, उसी प्रकार मामूली बात पर भी सोचने को सदैव तत्पर रहते थे। यदि छोटे-बड़े सभी लोग अपनी-अपनी रहस्यपूर्ण बातें उनको सुनाकर उनकी सलाह लेने के लिए उत्सुक रहे हों तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या ? उनके उपन्यास, कहानियाँ और विविध लेख भी इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

सर्वसाधारण लोगों के मन में एक ऐसी धारणा है कि अलौकिक प्रतिभावान् व्यक्ति सनकी होता है। वह किस तरह से बर्ताव करेगा, कोई कह नहीं सकता। साथ ही ऐसे व्यक्ति की इच्छा और आकांक्षाएँ भी सीमा के परे होती हैं। इतिहास में इसके कई उदाहरण भी मिलते हैं। लेकिन डॉ० केतकर इस बात में अपवाद थे। उनकी मनोवृत्ति बिल्कुल समतोल रहती थी। उपरोक्त मनोवृत्ति के सम्बन्ध में उनका कहना था कि दुनिया के अनुभव से ही उन्हें वह प्राप्त हुई थी। दूसरों के आचरण के सम्बन्ध में वे उदार दृष्टि रखते थे। दूसरों की भलाई का ही हमेशा ख़याल करते थे। उनका कहना था कि यह बात भी दुनिया के ज़रिये वे सीखें।

डॉ० केतकर एक आशावादी व्यक्ति थे। निराशा से भरे हुए प्रसंगों से उनको कितनी ही बार गुज़रना पड़ा। लेकिन इन सब आपत्तियों का मुकाबला उन्होंने जिस धैर्य और आनन्द के साथ किया वह सचमुच अनुकरणीय है। अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ और योजनाएँ असफल रहने पर भी वे कभी विचलित नहीं हुए। इतना ही नहीं ; बल्कि नये उत्साह से वे पुनः काम में लग जाते थे।

जिन व्यावहारिक बातों पर बड़ी सतर्कता से सोचना ज़रूरी होता है, और जिनकी चिन्ता में लोगों का खाना-पीना और नींद तक हराम हो जाती है, ऐसे सवालों को हल करने का प्रसंग आने पर डॉ० केतकर उस चिन्ताजनक अवस्था से अपना मन हटाकर किसी अच्छे काम में लगा सकते थे। उदाहरणार्थ, अपने कुत्ते को लेकर टहलने निकलते, सिनेमा देखने जाते या निश्चित कहाँ जाना है, यह सोचे बगैर इधर-उधर घूमते रहते थे ; और जहाँ-तहाँ जिस-तिस प्रकार के लोगों के साथ तरह-तरह की गप्पें लगाया करते थे। इसी तरह की परिस्थिति में कभी-कभी अपने बच्चों के साथ खेलने में अपने दुःख को भूल जाया करते थे, अथवा बगीचे की खुली हवा में चाय पीते-पीते अपने बच्चों की माता के साथ बीती हुई बातों पर या आगे की योजनाओं के सम्बन्ध में वार्तालाप करते थे। उनकी योजनाएँ बहुत ही सुन्दर और आकर्षक होती थीं। लेकिन उनके सम्बन्ध की दैनिक घटना कितनी विचित्र रही है !

डॉ० केतकर एक सीधे-सादे व्यक्ति थे। उनका बचपन बड़ी शोचनीय तथा दुःखपूर्ण परिस्थिति से गुजरा था। उनके बचपन में ही महत्त्वाकांक्षी पिताजी की, बीस वर्ष की उम्र में माता की और स्वयं परदेश में रहते हुए देश में बड़े भाई आदि की मृत्यु हो जाने से उनके जीवन में एकाएक बड़ा परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इस तरह कौटुम्बिक सुख से बहुत वर्षों तक वंचित रहने के बाद उस सुख की प्राप्ति होने पर उनको वह यदि बहुमूल्य जान पड़ा, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? डॉ० केतकर बहुत ही संतोषी थे। बिल्कुल मामूली चीजें देखकर उन्हें अन्यन्त आनन्द मिल जाता। क्रीड़ा करनेवाले बालक और कुत्ते-बिल्ली आदि के बच्चे देखने में वे बहुत ही आनन्द अनुभव करते थे। जंगल के फूल देखकर भी वे प्रसन्नचित्त हो जाया करते थे। गाँवों में जो सामान्य दृश्य देख पड़ता है,—जैसे कि कुएँ पर आई हुई पनिहारिन का कलसा माथे पर रखकर मन्दगति से चलना,—उनको मनमोहक प्रतीत होता था।

डॉ० केतकर को पसन्द आनेवाले खेल भी सादे होते थे। सब खेलों में ताश का खेल उन्हें विशेष प्रिय था। एक समय उन्हें शतरञ्ज खेलने का शौक भी हो आया था। लेकिन उस खेल में चित्त की जो एकाग्रता चाहिये, उसके कारण उनका सर दर्द होने लगता था। इसलिए वे कहते थे कि ऐसा खेल किस काम का ? कॉलेज छोड़ने के बाद वे कभी 'outdoor' खेलों में शामिल नहीं हुए। वे जब कॉलेज में पढ़ते थे, तब क्रिकेट की अपेक्षा फुटबॉल खेलना ही उन्हें अधिक पसन्द था। टेनिस का खेल उनको कभी भी अच्छा नहीं लगा। बड़ी उम्र में टहलना ही उनका व्यायाम रहा। वह भी नियमित रूप से नहीं हो सका। कारण उनको अपने काम के लिए ही इतना अधिक चलना पड़ता था कि घर आकर बिस्तरे पर लेटने के बाद ही उनकी थकावट दूर हो पाती थी।

उनके मनोरञ्जन का मुख्य साधन सिनेमा देखना था। सिनेमा के वे अच्छे शौकीन रहे। कोई भी चित्रपट मनोरञ्जन की दृष्टि से अच्छा लगने पर वे उसके गुण-दोषों की ओर अधिक

(इ)			-ation
port	(क्रि) बंदरना (ना) बंदर	बंदरगार, बंदरिया	बंदरी
export	(क्रि) व्हार बंदरना (ना) व्हारबंदर, -रा	व्हारबंदरगार, ०रिया	व्हारबंदरी
import	(क्रि) घरबंदरना (ना) घरबंदर -रा	घरबंदरगार, ०रिया	घरबंदरी
transport	(क्रि) फेरबंदरना (ना) फेरबंदर -रा	फेरबंदरगार, ०रिया	फेरबंदरी
deport	(क्रि) निर्बंदरना	निर्बंदरगार	निर्बंदरी deportee— निर्बंदरदार
re-export	(क्रि) दूबंदरना (ना) दूबंदर -रा	दूबंदरगार	दूबंदरी

(ई)		-er,	-ee -ery	-ion
misson	(क्रि) रवानदेना (ना) रवानगी	रवानगार	रवानदार -री	
commit	सुरवान देना	सुरवानगार	सुरवानदार -री	सुरवानगी
permit	परवान देना	परवानगार	परवानदार -री	परवनागी
omit	गैरवान देना —गिराना	गैरवानगार	गैरवानदार -री	गैरवानगी
submit	जोरवान देना भारवान देना	जो (भा) रवान- गार	जो (भा) रवान- दार -री	जो (भा) रवा- नगी

(उ) इसी तरह percolate—पारगालना, percolation—पारगलन, पारगलां; perforate—पारछेदना, perforation—पारछेद, -or—पारछेदक; perambulate—पारफिरना वगैरा।

यहाँ मैं यह कह देना चाहता हूँ कि पाठक की यह समझ न हो कि मैंने जो उपसर्ग ऊपर सूचित किये हैं, वेही योग्य हैं। ये तो जो लिखते-लिखते मेरे मन में आ गये वेही रख दिये हैं। पाठक यह भी न माने कि ऊपर दी हुई मिसालों में मैंने जो शब्द रखे हैं, उनकी जगह जहाँ पर दूसरे शब्द अच्छी तरह रूढ़ हो चुके हैं, उनको बदलने की मैं सूचना कर रहा हूँ। शब्द-रचना की मिसाल के तौर पर ही ऊपर के उदाहरण लिये जायँ। फिर, यह भी हो सकता है कि जहाँ अंग्रेजी में उपसर्ग का उपयोग हो वहाँ हम अपनी भाषाओं में प्रत्यय लगायें अथवा उलटा।

४. जहाँ संस्कृत या फारसी में से शब्द निकालना आवश्यक हो, वहाँ पर भी हमें कुछ नियमों का पालन करना ठीक होगा। जैसे कि (अ) जिन प्रत्ययों को लगाने के पहले स्वर का गुण या वृद्धि करना पड़ता हो, वैसे प्रत्ययों के बदले जो सीधे ही लगाये जा सकते हैं वैसे प्रत्ययों को पसंदगी दी जाय। उदाहरणार्थ—दारिद्र्य, वैधर्म्य, वैलक्षण्य वगैरा के बदले दरिद्रता, विधर्मता,

विलक्षणता वगैरा। (आ) इसी तरह तार्किक, दार्शनिक आदि के बजाय तर्क-शास्त्री अथवा तर्ककार, दर्शन-शास्त्री अथवा दर्शन-कार आदि शब्द इस्तेमाल किये जायँ। (इ) जहाँ लुप्त प्रत्यय से काम चलता हो, वहाँ स्पष्ट लेकिन क्लिष्ट प्रत्यय न लगाये जायँ। उदा० 'चारित्र्य' नहीं बल्कि 'चारित्र'। अथवा सिर्फ 'चरित्र' या 'चरित'। 'ईर्ष्या' नहीं बल्कि 'ईर्षा'। (ई) इसी तरह जहाँ बिना प्रत्यय लगाये काम चलता हो वहाँ प्रत्ययांत शब्द का उपयोग न किया जाय। उदा० अध्यात्म-दृष्टि, तर्क-पद्धति, दर्शन-रीति, शब्द चतुराई, संगीत की शिक्षा, वगैरा प्रयोग शुद्ध हैं। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि, तार्किक पद्धति, दार्शनिक रीति, शाब्दिक चतुराई, सांगितिक शिक्षा आदि प्रयोग न इस्तेमाल किये जायँ। (उ) इसी तरह अतः, साधारणतः, साधरणतया, मजबूरन्, आदतन, आदि संस्कृत या फारसी रूप के बजाय इसलिए, इस कारण से, साधारण रूप में—रीति से, मजबूरी से, आदत से,—की तौर पर, आदि स्वभाषा के प्रयोगों का ही उपयोग करना चाहिये। (ऊ) इसी नियम से मकानात्, उमराव, कमिश्नर्स, आदि की जगह मकानों, अमीरों, कमिश्नरों, आदि प्रयोग बहुवचन में करने चाहियें। (ए) वैसे ही न्यूना, अनुरक्ता आदि में विशेषणों का स्त्री लिंग बनाने की आदत अच्छी न समझनी चाहिये क्योंकि हमारी वर्तमान भाषाओं की यह खासियत नहीं है।

५. शब्द बनाने में हम लोग, जाने-अनजाने, अंग्रेजी शब्द का वाच्यार्थ अथवा पदार्थ का ठीक वर्णन लाने का प्रयत्न करते हैं। मुमकिन है कि कभी यही शक्य हो; लेकिन वैसे ही करने का आग्रह नहीं करना चाहिये। शब्द का या शब्द से प्रदर्शित पदार्थ का कुछ भाव उठे ऐसा ध्वनित शब्द बनाया जाय तो वह ज्यादा सफल होना संभव है। इस विषय में अपंडित जनता बाज़ वक्त ज़्यादा कुशलता दिखाती है। रेलगाड़ी, हवागाड़ी, फटफटी, ऊँटिया, (क्रेन) आदि शब्द इस तरह के हैं। इसके अनुसार टाइप रायटर के लिए 'मुद्रालेखन-यंत्र' ऐसा अक्षरानुवाद करने की अपेक्षा किसी महाराष्ट्रीय सज्जन का सूचित किया हुआ 'टपलेखक' शब्द अधिक सरल है। उसमें थोड़ा फेर-बदल करके मैं नीचे के शब्द पेश करता हूँ:—typewrite—टपलिखना, टपकाना; -er—टपकल, टपयंत्र; -ing—टपलेखन; -en काग़ज़—टपलेख, टपलिखान! typist—टपलेखक, टपकारकून, टपिया, टपकिया, टपकार वगैरा। इतना कहते हुए भी मुमकिन है कि 'टाइप रायटर' शब्द निकालना अब असंभव ही हो।

६. अंग्रेज़ी में -er या -or प्रत्यय मनुष्य और वस्तु दोनो के लिए उपयोग में लाया जाता है। साधारणरीति से हम अपनी भाषा में मनुष्य के लिए क, कर, कार, गर, गार, नार, डार आदि और वस्तु के लिए न, नी, आ, वगैरा प्रत्यय लगाते हैं। यह विवेक शब्द बनाने में रखना ठीक होगा। उदा०—accumulator, accelerator जैसे वस्तुवाचक शब्दों के लिए 'संचायक', 'संग्राहक, 'संग्रहकार', 'प्रवेगकार,' के बदले 'संचयनी,' 'संग्रहनी', 'संघरिया,' 'वेगैया' जैसे शब्द हों तो ठीक।

७. अंक वाचक उपसर्गों में हम निष्कारण ही संस्कृत शब्द लगाते हैं। उदाहरणार्थ—'द्विभाजन,' 'चतुष्कोण,' 'पंचकोण' आदि शब्दों की जगह 'दुभागना,' चौकोण,' 'पचकोण' आदि का उपयोग करने में क्या दोष है? रसायन शास्त्र में valency के लिए 'हाथ' शब्द लगाया जाय तो उसके अंक-युक्त-समास कैसे हो सकते हैं यह देखें। monovalent—एक हथ्था; bi—दुहथ्था; tri—ती हथ्था; इसी तरह चौ हथ्था,

पच हथ्था, छः हथ्था आदि। valency के लिए श्री भण्डारीजी के कोश में योजनीयता और उनपर से एक योजी, द्वियोजी आदि सूचित किये हैं। श्री शाह ने इसी के लिए बल्यांक और संयोजन शक्ति पेश किये हैं, और उनपर से एक बली, द्विबली आदि सूचित किये हैं। यह प्रसिद्ध है कि रसायन के तंत्रों में—फार्मुला के नक्शों में—हरेक तत्त्व की वैलन्सी हाथों से बनाई जाती है। इसलिए मेरी राय में वैलन्सी के लिए हथ्थाई शब्द अधिक सूचक और सरल होगा।

८. यथा संभव मिताक्षरी शब्द बनाने चाहियें। लोगों को शब्दों की छोटाखड़ी (छोटाक्षरी—abbreviation) करनी पड़े उससे यह बेहतर है कि उन्हें हमही 'मिताक्षरी' शब्द दें। सिनेमा, फोटो, ट्राम, बाइक, वगैरा दामू, किसन की तरह लोगों के छोटे किये हुए शब्द हैं। अब वे शिष्ट बन गये हैं। मूव्ही, टॉकी वगैरा लोगों के दिये हुए मिताक्षरी नाम हैं। विशेषकरके जिन शब्दों का केवल शास्त्रों में ही उपयोग होनेवाला न हो उनके लिए यह बात खास ध्यान में रखने योग्य है। नहीं तो वैसे शब्दों की सफलता शंकास्पद ही रहेगी। इसी के साथ यह भी याद रखना चाहिये कि कान को परिचित हो वैसा लंबा शब्द अपरिचित लेकिन क्लिष्ट छोटे शब्द से ज्यादा सफल होता है। उदा०—prism के लिए 'त्रिपार्श्व' के बजाय 'हीरा-काच', crystal के लिए 'स्फटिक या मणिभ' के बजाय 'रवा', crystallisation के लिए 'मणिभकरण' के बदले 'रवागिरन' 'रवागिरी', right-handed तथा left-handed के लिए अनुक्रम से दक्षिणीय और प्रति-दक्षिणीय के बजाय दाहिना या सीधा और बायाँ या उलटा ज्यादा सूचक शब्द हैं।

ये विचार जैसे-जैसे दिल में उठते गये हैं; वैसे ही लिख दिये हैं। इसलिए मुमकिन है, इनमें कुछ अव्यवस्था भी हो। इसका उद्देश्य विद्वानों की इस विषय में राय जानने की है कि परिभाषा बनाने में आजतक हमने जिस पद्धति को स्वीकारा है वह कहाँ तक ठीक है। यह भी एक सोचने योग्य विषय है कि विज्ञान-वेत्ताओं ने इस तरह पहले पारिभाषिक कोष निर्माण करना ठीक है, या जिस विज्ञान-शाखा में उनका अच्छा प्रवेश हो, उसकी लोकोपयोगी पुस्तक बना करके प्रत्यक्ष रूप में उन शब्दों का उपयोग करना और पुस्तक के अंत में अपने शब्दों की सूची देना विशेष ठीक होगा। साधारण लोगों के लिए वैज्ञानिक शब्द-कोष की उपयोगिता आज कम है। वैज्ञानिक लेखकों के लिए यह उपयुक्त हो सकता है; लेकिन यह भी संभव है कि वे लोग शब्द कोष का शब्द पसंद न करें और अपना ही शब्द चलायें। क्या इस अवस्था में शब्द-कोष-कारों ने नये शब्द बनाने की अपेक्षा जो चलन में हों वैसे ही शब्दों की खोज करना विशेष ठीक न होगा? विशेषकर देहाती जनता में कई शब्द ऐसे हैं जो अत्यंत सूचक होते हैं; लेकिन विद्वानों को उनका पता नहीं है। और निष्कारण ही विद्वानों द्वारा नये शब्द बनाने की मेहनत उठाई जाती है। यह परिश्रम कितना दीर्घ, और खर्चिला होता है और उसमें कितनी शक्ति और समय लगता है, इसका मुझे अच्छा खयाल है। इस लेख का मतलब ऐसी मेहनत की बेक़दर करने का नहीं, बल्कि उसे विशेष सफल करने का रास्ता ढूँढ़ने का है।

वर्धा।

श्री खुशाल तलकशी शाह
[रेखाचित्र]

[लीलावती मुन्शी]
[अनुवादक, श्यामू सन्यासी]

[श्रीमती लीलावती मुंशी गुजारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य-कर्त्री हैं। जितनी सेवा आपने साहित्य की की है उतनी ही राष्ट्र की भी। श्रीमती मुन्शी की प्रतिभा गुजरात के साहित्य को बहुत बड़ी देन है। अनुभूति की मात्रा उनमें बहुत है और इसीलिए उनके साहित्य में जो बल और प्राण है वह एक अमूल्य निधि है। आपने छोटे-छोटे रेखाचित्र (thumb-nail sketches) गुजराती में बहुत सफलता से लिखे हैं। आपका 'रेखाचित्रो' १९२५ में पहले-पहल प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत रेखाचित्र आपकी इस कला का एक उत्कृष्ट नमूना है और आप देखेंगे कि प्रोफेसर के० टी० शाह के दिल और दिमाग का कितना बड़ा हिस्सा वे कागज पर खींच लाई हैं। यह एक बहुत ही सफल रेखाचित्र है। अभी आपके 'रेखाचित्रो' का एक परिवर्धित संस्करण 'रेखाचित्रो—जूना अने नवा' प्रकाशित हुआ है जिसमें से यह अनुवाद किया गया है।—सं]

जिस तरह पृथ्वी में गर्मी और पानी दोनो हैं, बर्फ़ जिस तरह ठण्डा लगता है पर गुण में गर्म कहा जाता है उसी तरह प्रो० खुशाल तलकशी शाह भी परस्पर विरोधी तत्त्वों के भंडार हैं। इनकी बुद्धि बहुत तेज़ है, परन्तु ज़िद पकड़ने पर छोटे बालक जितनी भी अक्ल इनमें नहीं रहती। यों इनका स्वभाव उदार है; परन्तु अनेक बार न-कुछ-सी बातों से भी इन्हें कष्ट होता है। मित्रता में अपना सर्वस्व दे देते हैं; परन्तु शत्रुता में किसी भी हथियार का उपयोग इनके मन अनुचित नहीं।

परन्तु खुशाल शाह बुरे आदमी नहीं हैं। मूल में तो यह बिलकुल भले मानुस हैं। सिर्फ़ इनकी शारीरिक शक्तियाँ मानसिक शक्तियों से विरुद्ध दिशा में चलती हैं और दोनो में हमेशा संघर्ष हुआ करता है। इनकी बुद्धि से फायदा उठाने के लिए कई मित्र इनके आस-पास

एकत्रित होते हैं परन्तु अपने अभिमानी स्वभाव के कारण इन्हें दुश्मन बनाते भी देर नहीं लगती। और इनके जैसा ज़िद्दी आदमी मिलना भी बहुत मुश्किल है।

खुशाल शाह में बात-चीत करने की शक्ति विविधता तथा आकर्षकता लिये हुए है और बात में से नये तत्त्व निकाल कर उसे अधिक रसमय बनाना भी यह खूब जानते हैं। इनकी जीभ में अमृत और ज़हर दोनो का निवास है और यह अपने अनुकूल स्थानों पर उन दोनो का उपयोग कर सकते हैं। बुद्धि की ऊँची से ऊँची सतह पर से निन्दा की गहराई में दो-चार डुबकियाँ लगा यह फिर सतह पर आ जाते हैं। किसी समय उसमें डूबते हैं और कभी तैरते हैं। सामने-वाले आदमी का विश्वास एकदम प्राप्त करने का इनमें गुण है ; परन्तु उस विश्वास को स्थायी बनाये रख सकने के बारे में लोगों के भिन्न-भिन्न अनुभव हैं।

समतौलता शाह के स्वभाव का खास गुण नहीं। अपनी बुद्धि के लिए बहुत ज्यादा गर्व रखते हुए भी यह दूसरों से, खासकर स्त्रियों से—बहुत ठगा जाते हैं। शाह नारियों का बहुत आदर करते हैं और इन्हें स्त्रियों की संगती रुचती है। स्त्रियों की संगती रुचती तो कइयों को है परन्तु शाह इस बात को गुप्त नहीं रखते और दूसरे रखते हैं। आज-कल बम्बई के विद्वान आद-मियों में सबसे अधिक स्त्री मित्र शाह के हैं और इसका कारण यह है कि यह स्त्रियों का पद भी पुरुष के समान ही समझते हैं। संसार में अनेक स्थानों से तिरस्कृत इनके आत्म-सम्मान को ये मित्र थोड़ा सहला देते हैं जिससे इनमें फिर आत्मविश्वास पैदा हो जाता। शाह स्त्रियों को अपनी बुद्धि से सहायता करते हैं। वह उन्हें कभी अपने अधिकार नहीं भूलने देते, वरन् नित प्रति याद करवा देते हैं। और यदि किसी स्थान पर उद्धत्तता हो तो भी शाह उसे स्वतन्त्रता का अच्छा-सा नाम देने में कोई हर्ज़ नही समझते।

शाह का स्वभाव बुद्धि प्रधान से अधिक भावना प्रधान है। अपने जीवन में इन्हें नारी का सहवास नहीं प्राप्त हुआ ; परन्तु इनके स्वभाव को उस सहवास की खूब आवश्यकता है। जिस-जिस स्त्री के सहवास में यह आते हैं उसे सम्पूर्ण देखने की न तो इनमें शक्ति है और न इच्छा। उसके शरीर में एकआध प्रकार के सौन्दर्य की शाह कल्पना करते हैं और बाक़ी की पूर्ति जैसी इन्हें रुचे वैसी अपने दिमाग़ में कर लेते हैं। और ऐसी कोई खास बात नहीं है कि कल्पना की मूर्ति का जीवित नारी से कोई सम्बन्ध होना ही चाहिये। लगभग फ्रेंच सरदारों की भाँति शाह भी अपने स्त्री मित्रों का प्रत्येक काम करने को सदा तैयार रहते हैं।

शाह मन्द-दृष्टि हैं। अपने से दो हाथ की दूरी पर जाते मित्र को भी मुश्किल से पह-चान सकते हैं। यह शारीरिक दुर्बलता इन्हें कुछ कम दुःख नहीं देती ; और इनके कई मानसिक भ्रमों का कारण भी इनका यही दृष्टि-दोष है। मनुष्य के भ्रम जितने अधिक होते हैं उनके नाश का उपाय भी उतना ही कम है। फिर तो इस भ्रम से भरे अपार संसार समुद्र मध्ये निमज्जतो मां शरणम् किम्।

शाह के स्वभाव में 'जर्नलिज़्म' कूट-कूटकर भरा हुआ है। अनेक दुःखों का कारण होते हुए भी शाह उसे छोड़ नहीं सकते। युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसरों के लिए यह नियम है कि वह जर्नलिस्ट नहीं बन सकते और अख़बार में लेख इत्यादि नहीं लिख सकते। परन्तु सुनने में आता है कि शाह ने युनिवर्सिटी में रहते समय अन्त तक इस नियम का पालन नहीं किया और परिणाम-स्वरूप उन्हें उस पद का त्याग करना पड़ा। शाह को युनिवर्सिटी में से निकाले जाने का सबसे

पहला और एक कारण उनका 'जर्नलिज़्म' था। शाह अपने अभिप्राय जताये बिना रह नहीं सकते। आज इस बात से शायद ही कोई अनजान हो कि 'क्रॉनीकल' के कई अग्रलेख और लेख शाह छद्मनाम से लिखते हैं। बेलगामवाला की मैत्री और 'बॉम्बे क्रॉनीकल' का सम्बन्ध शाह की महत्त्वाकांक्षा के पोषण के एक साधन हैं। शाह यह सोचते हैं कि इससे वह चाहे जिसे गिरा सकते हैं या चढ़ा सकते हैं। शाह स्वयं ताज़ नहीं पहन सकते पर इन्हें 'किंग मैकर' बनने की दुर्दमनीय लालसा है। 'स्वयं पुतले बनाये और वे पुतले अपनी इच्छानुसार नाचें तो क्या ही मज़ा रहे ?' परन्तु शाह के पुतले अधिकांश में उनकी इच्छानुसार नहीं नाचते। और शाह जिन्हें पुतले समझने की भूल करते हैं वे तो ज्यादातर शाह ही को अपना हथियार बनाते हैं।

शाह का अपने व्यक्तित्व के प्रति बहुत अधिक आदर-मान है। यदि कोई भूल जाय तो उसे I am a personality (मेरा भी व्यक्तित्व है) कह याद दिला देते हैं। And he is a personality of a kind—(उनका भी अपना एक खास व्यक्तित्व तो है ही)। इस दुनियाँ में ठगे जाने के कई प्रसंग आने से इन्हें इसमें विश्वास नहीं है; फिर भी इनसे दुनियाँ का मोह नहीं छूटता। कई बार दिनों तक निराशा के गर्त में डूबे रहकर इनकी आत्मा यह दुनियाँ छोड़ भाग जाने का विचार करती है। उस समय किसी भी आदमी का मुँह तक देखना यह पसन्द नहीं करते और साथ ही बिना यह इच्छा किये भी नहीं रह सकते कि कोई आकर उन्हें उस स्थिति से उबारे।

शाह में काम करने की अटूट शक्ति है। इनकी दुःखी आत्मा काम में विश्राम खोजती है। शाह के दुःखों का पार नहीं। इनका पहला दुःख अपनी महत्वाकांक्षाओं के योग्य विशाल-कर्म-क्षेत्र के अभाव का है! भावना प्रधान आत्मा की आकाँक्षाओं के सदा अपूर्ण रहने का ध्यान और उससे उत्पन्न होनेवाली घोर निराशा भी इनके बहुत बड़े दुःख का कारण है। अपूर्ण आकाँक्षाओं और वासनाओं की ज्वाला शाह के हृदय को जलाकर खाक कर देती है और इनकी जलती हुई पागल आत्मा शांति की खोज में नये-नये विषयों और कार्यों में गोता लगाती है। इनकी आत्मा को न रुचे ऐसे विषयों में भी इन्हें डूब जाना पड़ता है; परन्तु विस्मृति की ठंडी शाँति शाह के भाग्य में नहीं। इनकी इच्छाओं के भूत जीते और जागते इनके आगे खड़े रहते हैं। उन्हें यह कैसे भूल सकते हैं?

यह खेद का विषय है कि शक्तिशाली आदमी की शक्ति व्यर्थ में नष्ट हो जाती है। और शाह की बहुत-सी ताकत व्यर्थ नष्ट हो जाती है इसे कौन अस्वीकार करेगा? सच बात तो यह है कि इनके विचारों को सम्पूर्ण बनाये ऐसी कोई स्वप्न-सुन्दरी अभी तक इन्हें मिली नहीं और इसीलिए इनकी मानवता भी अपूर्ण है।

क्षण में लहरी और मिजाजी, क्षण में निराश, क्षण में उदार और दूसरे क्षण में संकुचित, किसी क्षण गम्भीर और किसी क्षण माया से भरपूर, क्षण में विद्वत्ता का भंडार और दूसरे क्षण मूर्खता समझी जाय ऐसी बेवकूफी, बादल के विविध रंगों के समान शाह के स्वभाव की यह विविधता है। किसी बात से यह सन्तुष्ट नहीं और इनके असन्तोष की सीमा भी नहीं। इनकी कल्पना तीव्र है और बारी-बारी से इन्हें भूतों तथा देवदूतों के दर्शन हुआ करते हैं। इनके जैसे आदमी पर दया दिखाने का किसी को अधिकार नहीं होते हुए भी इनका दुःख दूसरों में दया की प्रेरणा किये बिना नहीं रहता।

हंस

दुर्योधन—दुर्जनता के विषय में गुरुदेव ने इस प्रकार कहा था कि लड्डू को देखकर जिसके मुख में पानी आ जाये, वह बड़े से बड़ा दुर्जन !

भीम—और जिसके मुख में पानी न आये, वह ?

कर्ण—बड़े से बड़ा सज्जन !

भीम—नहीं, शूद्रजन !

अर्जुन—दुर्योधन, भीम, तुम लोग सदा ही बात-चीत करते हुए विवाद करने लगते हो। सुनो, लालित्य तथा अभ्यास आन्तरिक प्रेरणा से ही सिद्ध होते हैं। फूल के ऊपर फूल जैसी कोमलतावाला तीर जो मनुष्य छोड़ सकता है, वही सिद्धहस्त कहा जाता है।

कर्ण—ऐसे सिद्धहस्त तो तुम्हीं बने होगे। भाई, राजकुमार हो न। इसीलिए विद्या तुमको वरती है।

अर्जुन—विद्या वरे या न वरे, परन्तु धनुर्विद्या में गुरुदेव जितना पारंगत कोई नहीं और लालित्य ने तो केवल उन्हीं को वर रखा है।

कर्ण—और तुम्हें, उनके शिष्य को नहीं ?

अर्जुन—कर्ण, तू ईर्ष्या करता है ; परन्तु तेरी अपेक्षा मैं अधिक धनुर्विद्या जानता हूँ।

कर्ण—मैंने इससे कहाँ इन्कार किया है। (कटाक्ष करते हुए) तेरे बाण तो कुसुम के समान कोमल है, लड़कों को भी न लगें।

अर्जुन—लड़कों को भले न लगें ; परन्तु तुझ जैसे का अभिमान उतार सकते हैं।

कर्ण—मेरा ! मेरा ही तो। तू तो गुरु द्रोण का शिष्य है। और मैं किसका ? परशुराम का, जिससे तेरे गुरुदेव जैसे भी काँपते हैं !

अर्जुन—मेरे गुरुदेव तुझ जैसे से काँपनेवाले नहीं। अरे भीम, हम लोग बातें ही करते रहे और हमारा कुत्ता कहाँ चला गया।

भीम—क्या पता ? पीछे-पीछे ही आ रहा था न ? कहीं ग़लत मार्ग पर तो नहीं चला गया ?

दुर्योधन—(कटाक्ष-पूर्वक) लालित्य दिखलाओ न !

कर्ण—(कटाक्ष-पूर्वक) अथवा सुजनता ही आजमाओ !

भीम—(ज़रा खिजकर) भैया दुर्योधन, लालित्य का प्रयोग अभी करने का समय नहीं आया। उसका प्रयोग तो दुर्जनता भुलाने के लिए किया जायगा।

अर्जुन—भीम, चल, हमलोग कुत्ते को ढूँढ़ लायें ! (दोनो जाते हैं)

दुर्योधन—लालित्य ! बस एक शब्द सीख गया है, मानो सिद्धहस्त हो गया !

कर्ण—और कुछ नहीं, ज़रा अभिमान से भर गया है ! चलो, चलो, हम भी कोई शिकार ढूँढ़ें। (जाते हैं।)

प्रवेश चौथा

[भीम और अर्जुन प्रवेश करते हैं। बाणों से भरे हुए मुखवाला उनका कुत्ता एक ओर खड़ा है। वह भूँकने का प्रयत्न करता है, पर भूँका नहीं जाता।]

अर्जुन—(प्रवेश करते ही) यह रहा अपना कुत्ता !

भीम—कहाँ है ?

अर्जुन—यह खड़ा है, परन्तु (सावधानी से मुख को देखकर—गंभीर होकर) भीम, यहीं कहीं कोई महान् धनुर्धर रहता है। यह देखा तूने ?

भीम—क्या ?

अर्जुन—उसने इस कुत्ते का केवल भूँकना बन्द किया है। उसका प्रत्येक बाण चपलता के साथ आकर मानो कुत्ते को बचाने के लिए चुपचाप मुख में बैठ गया है। ज़रा देख तो सही !

भीम—क्या देखूँ ? इस प्रकार कुत्ते का मुख बन्द करने जितना ही बल प्रयोग में लाना, तीर को इतने ही वेग से छोड़ना तो हमें नहीं आता। बल पर इस प्रकार इतना संयम रखना मेरे लिए तो संभव नहीं। क्या इस प्रकार प्रत्येक समय तोल-तोलकर बाण चलाना चाहिये ?

अर्जुन—अरे सुन, यह टंकार सुनाई दे रही है ! मालूम होता है, कोई महान् धनुर्धर इसी प्रदेश में रहता है। अहा, किस खूबी से बाण फेंके हैं !

भीम—कहीं गुरु द्रोण ही परीक्षा लेने के लिए पहिले से आकर तो बाण नहीं फेंक रहे हैं ?

अर्जुन—इस बाण चलानेवाले को धनुर्विद्या ने वर लिया है। जो मनुष्य अपने ज्ञान और बल के ऊपर प्रति क्षण, जितना चाहिये उतना संयम रख सके, वही सच्चा विद्वान् और योद्धा है। यह धनुर्धारी विद्या का पूरा-पूरा प्रेमी है।

भीम—तू भले ही यों कहता रहे। मुझे तो ये गुरु द्रोण ही प्रतीत होते हैं। सुन, यह टंकार आ रही है।

अर्जुन—(शीघ्रता से) नहीं भाई, नहीं ; तू सुन तो सही। यह तो कोई गुरु द्रोण का भी गुरु प्रतीत होता है। अहा, कैसी शीघ्रता है ! चल तो सही, इस महाधनुर्धर को जाकर देखें। इसी आवाज़ का अनुसरण कर चलें। (दिशा दिखाता हुआ) इधर से ही आवाज़ आती प्रतीत होती है। (दोनो जाते हैं।)

प्रवेश पाँचवाँ

[एक ओर द्रोण की प्रतिमा है, दूसरी ओर लगातार बाण छोड़ता हुआ एकलव्य दिखाई देता है। भीम और अर्जुन का प्रवेश। उन्हें देखकर एकलव्य थम जाता है।]

अर्जुन—भाई, बन्द मत करो, मैं तुम्हारी शीघ्रता देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। तुम्हीं ने हमारे कुत्ते का मुख बाणों से भर दिया प्रतीत होता है।

एकलव्य—हाँ, परन्तु तुम कौन हो ? मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए धनुर्विद्या नहीं सीखता।

भीम—महाप्रतापी राजा पाण्डु का पुत्र, तथा जिसकी टंकार से पृथ्वी और आकाश काँप उठते हैं, यह वही महाधनुर्धारी अर्जुन है।

एकलव्य—अच्छा ! ज़रा एक ओर खड़े रहो ! यह तो मेरा सबसे पहला प्रयत्न है। अपने प्रथम प्रयत्न को गुरु द्रोण के शिष्य के सामने रखते हुए मुझे लज्जा आती है।

अर्जुन—एँ ! यह तुम्हारा प्रथम प्रयास ही है ! परन्तु यह क्या ? यह प्रतिमा किसकी है ?

एकलव्य—गुरु द्रोण की। मेरे गुरुदेव की।

अर्जुन—तुम गुरु द्रोण के शिष्य हो ?

एकलव्य—गुरु द्रोण ने मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार किया है। मैंने प्रश्न पूछे हैं, उन्होंने उत्तर दिये हैं। आषाढ़ की मेघमंडित रात्रि में जलविन्दु को बींधने का मर्म उन्होंने मुझे बताया है और कहा है—जीवन पूरा हो जाता है, विद्या पूरी नहीं होती।

अर्जुन—तुम तो वहाँ पर...। क्यों वहाँ पर मिले थे न ? तुमको, शूद्र को, गुरु द्रोण ने विद्या देने

बार बड़ा मज़ा किया ! कांग्रेस-सी चीज़ देख आये और हमको ख़बर भी न होने दी ! (बैठते हुए) अरे भाई, हम भी साथ हो लेते तो आपको कुछ आराम ही रहता ।

केदारनाथ—(आप इसी क़स्बे के रहनेवाले युवक हैं, आप अँग्रेज़ी पढ़े लिखे हैं, मगर काम ज़मीदारी का ही करते हैं)

(मुसकराकर) मैंने तो जाने के दो दिन पेश्तर ही शंकर बाबू से अपना इरादा ज़ाहिर कर दिया था । आपसे कहलवाया भी था कि आप इस बार की कांग्रेस देखने अवश्य चलें, मगर आपको फ़ुरसत कहाँ !

आनंद—(कुछ झेंपकर) फ़ुरसत की बात तो ठीक है ; अगर आपको साथ ले चलना होता तो आप सीधा मुझसे ही ज़िक्र करते न ! बच्चों का काम तो बच्चों जैसा ही होता है । शंकर ने बहुत लेट मुझको इस बात की इत्तला दी थी । ख़ैर भई, अपने यहाँ से कोई जाना चाहिये था । यह तो बतलाइये कि वहाँ क्या-क्या देखा-सुना ?

केदार—(गंभीर होकर) कांग्रेस का अधिवेशन तो कांग्रेस का ही अधिवेशन है । वहाँ जाकर ही यह मालूम होता है कि कांग्रेस क्या हस्ती है—कितनी विशाल, कितनी सुन्दर और कितनी आकर्षक...

आनंद—(बीच में ही, मुसकराकर) तब तो आप अधिवेशन के आकार-प्रकार से अत्यधिक प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं । आपने अपनी स्वतन्त्र-बुद्धि का, मालूम होता है, वहाँ विरल प्रयोग ही किया है ।

केदारनाथ—(न झेंपते हुए, उसी स्वर में) यह बात नहीं है ; मानव-बुद्धि निरपेक्ष विचार नहीं कर सकती और जब उसको किसी भाव की सापेक्षता में ही कार्य करना है तो क्यों न किसी सद्भाव से प्रभावित हो जाय । कांग्रेस के आदर्शों से प्रभावित हो जाना प्रत्येक भारतीय बुद्धि का एकान्त कर्तव्य है ।

आनन्द—किन्तु प्रभावित होने के मानी आँखें बन्द कर लेने के तो नहीं हैं !

केदार—हरगिज़ नहीं ; मैंने जो वहाँ आँखें खोलकर देखा है वह मेरे हृदय पर सदैव अंकित रहेगा । कांग्रेस की महत्ता में मुझे तो अपनी लघुता की याद आगई । हम कितने स्वार्थी, कितने परतन्त्र और कितने संकुचित हैं ।

आनन्द—(हँसकर) यह तो ठीक है महात्माजी ! यह तो बतलाइये कि देश की किसी विभूति से भी वार्तालाप करने का अवसर मिला या नहीं ?

केदार—हम सरीखे तमाशबीनों को छोड़कर बाक़ी सब देश की विभूतियाँ ही वहाँ एकत्रित हुई थीं । बड़े लोगों को तो बात करने की फ़ुरसत ही न थी । वह तो चलते फिरते डाइनमो की तरह थे जो चुपचाप विद्युत् करैण्ट बाहर फेंकते रहते हैं ; उनके तो सान्निध्य में आजाना ही पर्याप्त था । हाँ, अपने से तो कहीं उन्नत लोगों से बातचीत करने का मौक़ा मिला । मैंने अपने यहाँ की प्रगति पर भी उन लोगों से चर्चा की ।

आनंद—(सहर्ष) तब तो आप इस क़स्बे की ठोस सेवा करके आये हैं । बड़े लोगों के सद्विचारों से हमको अवश्य प्रेरणा मिलेगी । अपने यहाँ की संस्थाओं का भी ज़िक्र आया होगा ?

केदार—उन्हीं के सम्बन्ध में तो बात-चीत हुई थी ।

आनंद—(उत्सुकतापूर्वक) उन लोगों का क्या कहना था ?

केदार—हरएक ने इस बात को सामान्य रूप से कहा कि विधवाश्रम किंवा अनाथाश्रम जैसी संस्थाओं के संचालकों का चरित्र बहुत ही उदात्त होना चाहिये। केवल वाणी मे ही नहीं कर्म से भी उनको जनता का पथ-प्रदर्शक बनना चाहिये।

आनन्द—यहाँ की दोनो संस्थाओं के कार्यकर्ताओं से मैं यही बात बार-बार कहता रहता हूँ। महात्माजी द्वारा प्रचारित 'सत्य' का निर्वाह वाणी और आचरण के ऐक्य में ही संभव है। बड़ा अच्छा हो यदि आप हरिपुरा के अपने अनुभवों को लेख-बद्ध कर लें। मैं दोनो संस्थाओं की संयुक्त मीटिङ्ग बुला लूँगा और वहाँ आप उस लेख को सुना दें; कहिये क्या राय है ?

केदार—(उत्साहपूर्वक) बड़ी अच्छी बात है; मैं शीघ्र से शीघ्र ऐसा एक लेख तैयार कर लूँगा। (कुछ देर ठहरकर) मगर बाबूजी, यदि सुशीलादेवी हमारे विधवाश्रम का चार्ज ले लें तो यह एक आदर्श संस्था बन जाय।

आनन्द—(निराश स्वर में) बात तो आपने ठीक कही है; मगर वह देवी सद्गुणों की तरह परदे को भी पकड़ बैठी है। उससे इस जीवन में तो आशा नहीं कि वह इसको छोड़ सके। आदर्श विधवा होते हुए भी वह अपनी अभागी बहिनों को आदर्श की ओर ले जाने में असमर्थ है।

केदार—ऐसे मात्र अलंकारों से हमारी वृद्धा मा को क्या लाभ ?

आनन्द—इस विधवा ने अपने जीवन में केवल एक व्यक्ति को दीक्षित किया है और वह अपनी लड़की को—लड़की भविष्य में नारी का आदर्श उपस्थित कर सकेगी।

केदार—(गम्भीरतया) मगर बाबूजी अब नारी के आदर्श में क्रान्ति हो गई है। मैंने इस अधिवेशन के मौक़े पर भारत की उन्नतिशील नारी का एक चित्र देखा है। अच्छा प्रसंग चला, मुझे उस सम्बन्ध में आपसे कुछ बात-चीत भी करनी थी।

[श्रीमती आनन्दस्वरूप का प्रवेश]

[श्रीमतीजी की अवस्था लगभग पैंतिस के है—वर्ण गोरा और बदन भरा हुआ है। तन्दुरुस्ती स्वयं एक सौन्दर्य है, इसका आप नमूना हैं। उनके चारो ओर क्लिष्टता का एक वातावरण-सा छाया हुआ है जो एक ही व्यक्तित्व में दो भिन्न युगों की भावनाओं के मिलन का लक्षण है।]

केदार—(खड़े होकर विनयपूर्वक) नमस्ते !

श्रीमती—(मुसकराकर) नमस्ते, आप तो अकेले ही तीर्थ-यात्रा कर आये।

आनन्द—(बीच में ही) आप वहीं के कुछ संस्मरण सुना रहे थे।

केदार—जी हाँ, इस समय प्रसंग भी ऐसा ही आरम्भ हुआ है, जिसमें आपकी उपस्थिति की आवश्यकता थी।

श्रीमती—(आराम से बैठते हुए) क्या स्त्री-प्रगति के बारे में आप कुछ बात-चीत कर रहे थे ?

केदार—जी हाँ, वहाँ मेरा परिचय दो ऐसे व्यक्तियों से हुआ जो अपने क्षेत्र में आदर्श कहे जा सकते हैं। वे जिला गोरखपुर के रहनेवाले हैं—संकल्प के दृढ़ और धुन के

पक्के—एक अधेड़ वय के पिता और एक उनकी पालिता कन्या। (संतोष के साथ) कन्या से मिलकर भविष्य की नारी की मेरी सुन्दर कल्पना पूरी हो गई।

श्रीमती—(उत्सुकतापूर्वक) बतलाइये तो उनमें क्या-क्या विशेषतायें थीं?

केदार—विशेषता कुछ नहीं—एक नया ढंग, एक नई जाग्रति, एक नया स्वमान। वृद्ध पर आज़ादी की वहशत सवार थी—युवती का मुख स्वतंत्रता के तेज़ से दमक रहा था!

श्रीमती—(उसी स्वर में) उन्होंने कुछ अपने सम्बन्ध में भी आपसे ज़िक्र किया था?

केदार—वही तो मैं आपसे कहना चाहता हूँ। कहानी है तो छोटी-सी, मगर है दर्दनाक।

आनन्द—(तटस्थ भाव से) बड़े लोगों के जीवन में करुणा का होना तो पहिली शर्त है। उनका नाम क्या है?

केदार—उनका नाम है ठाकुर गोपालसिंह; वे क्षत्रिय हैं, मगर उनकी जाति ने उनको तिरस्कृत कर रखा है!

श्रीमती—(साश्चर्य) यह क्यों?

केदार—महज़ अपने दक़ियानूसी-पने से, ठाकुर साहब बहुत सम्पन्न घराने के आदमी हैं। प्रारम्भ से ही वे स्कूल और कॉलिजों के छात्र-छात्राओं को सहायता देते आये हैं। एक अनाथ बालिका को उन्होंने अपने पैसे से ही इण्टर तक पहुँचा दिया। वह बालिका और उसकी माँ ठाकुर साहब के मकान पर, उन्हीं की शान-शौक़त के साथ रहते थे। अनाथों को सुख मिले, यह बात भला ठाकुर साहब के जातिवालों को कहाँ गवारा हो सकती थी, उन्होंने उनपर इल्ज़ाम लगाया और उनको बिरादरी के बाहर कर दिया! इस बात की उस वीर पुरुष को तनिक भी चिन्ता नहीं है, चिन्ता है तो उस निरपराध युवती के लिए है जिसको आजन्म कुमारी रहने का अभिशाप उनके जातिवाले दे चुके हैं!

श्रीमती—(तुनककर) यह भी कोई बात हुई। अच्छा, वह लड़की उनकी बिरादरी की ही है?

केदार—जी नहीं, वह ब्राह्मण कन्या है। (सँभलकर) मैं इस सम्बन्ध में आपसे यह कहना चाहता हूँ कि आप इस तिरस्कृता का स्वीकार करें। ठाकुर साहब का प्रेम तो इस कन्या पर इतना अधिक है कि उन्होंने अपनी विशाल सम्पत्ति का उसको एक मात्र वारिस बना दिया है। आपका और उनका योग देश के लिए अत्यन्त कल्याण-प्रद होगा।

[श्रीमतीजी के चेहरे पर प्रकाश दौड़ जाता है, परन्तु बाबू आनन्दस्वरूप विचार में पड़ जाते हैं]

श्रीमती—(पति की ओर देखकर) मालूम होता है बाबूजी इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए समय चाहते हैं। मेरी राय तो स्पष्ट है।

आनन्द—मगर मैं—मैं कुछ समय चाहता हूँ।

केदार—कोई बात नहीं, आप विचार कर लें। अपने चिरलालित सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का यह स्वर्ण योग है, यह ध्यान रखियेगा।

आनन्द—(उसी स्वर में) हर बात को मद्दे नज़र रखकर विचार करूँगा। मगर मुझको कुछ समय चाहिये।

केदार—आप शान्ति से विचार कर लें। (उठते हुए) मुझको अब इजाज़त हो; आपका निर्णय प्राप्त होते ही मैं ठाकुर गोपालसिंहजी को सूचना दे दूँगा। वन्देमातरम्।

श्रीमती—(उठते हुए) वाह शर्माजी, बग़ैर नाश्ता किये तो मैं आपको जाने नहीं दूँगी; आइये !

केदार—(हाथ जोड़कर) मैं इस वक्त तो माफ़ी चाहता हूँ; मैं नाश्ता करके ही मकान से निकला हूँ।

श्रीमती—(अनुरोधपूर्वक) यह नहीं हो सकता; आइये !

[चलने लगती हैं]

[बाबू केदारनाथ एक बार बाबू आनन्दस्वरूप की ओर देखकर श्रीमतीजी के पीछे-पीछे चले जाते हैं। आनन्दस्वरूप सूखी-सी हँसी हँसकर फिर विचारों में निमग्न हो जाते हैं]

दृश्य दूसरा

स्थानः—बाबू आनन्दस्वरूप का प्राईवेट रूम।

समयः—उपरोक्त घटना के दो दिन बाद, रात्रि।

[यह कमरा बैठकखाने से कुछ छोटा है, मगर हवादार उतना ही है। बाबू आनन्दस्वरूप एक मेज़ के सहारे बैठे हुए कुछ लिख रहे हैं। बीच-बीच में दक्षिण ओर के दरवाज़े की ओर देख लेते हैं]

[श्रीमती आनन्दस्वरूप का दक्षिण ओर के दरवाज़े से प्रवेश। वह ज़ाहिरा तौर पर प्रसन्न दिखलाई देती हैं। बाबू आनन्दस्वरूप कातर दृष्टि से उनकी ओर देखते हैं]

श्रीमती—(गंभीरतया) आपके निर्णय न कर सकने के कारण अपने मित्र-मण्डल में अनेक प्रकार की कल्पनायें जाग्रत हो उठी हैं।

आनन्द—(झुँझलाकर) यह हमारा गार्हस्थिक प्रश्न है, इसमें हमारे मित्रों को सर मारने की क्या आवश्यकता ?

श्रीमती—(धैर्य के साथ) आवश्यकता क्यों नहीं है ? हमारा गृहस्थ राष्ट्र की सम्पत्ति है। आपके निर्णय पर राष्ट्र की भावी उन्नति का प्रश्न लटक रहा है।

आनन्द—(चिढ़कर) यदि यही बात है तो मेरा विश्वास ऐसे राष्ट्रवाद पर बिलकुल नहीं है। अपने घर के अन्दर मैं किसी का ग़ुलाम रहना नहीं चाहता। फिर चाहे वह ग़ुलामी अपनी ही क्यों न हो !

श्रीमती—(मुसकराकर, शान्ति से) यह आप क्या कह रहे हैं ? हम किसी के भी ग़ुलाम न हों, अपने आदर्शों के तो हैं ही। समाज के उन्नतिरोधक बन्धनों का आपने सदैव विरोध किया है।

आनन्द—(सँभलते हुए) यह बात ठीक है। मगर यह परिस्थिति सामान्य नहीं है। ज़िसको वर्षों से अपनी पुत्र-वधू समझकर पाला-पनौसा है और जो अनाथ है, उसको एकदम धता बता देने में मेरा तो दिल टूटता है।

श्रीमती—(तुनककर) तब क्या मुझको इस बात का तनिक भी कष्ट नहीं है ?

आनन्द—कष्ट तो क्यों न होगा ? वह लड़की ही ऐसी है जिसको छोड़ने में हरएक

का दिल टूटेगा और उसकी माँ उस साध्वी के चित्त को कितना आघात पहुँचेगा ! तुमने क्या उससे इस सम्बन्ध में बातचीत की है ?

श्रीमती—नहीं, मैंने उनको यहीं बुलाया है। आपको ही सब बातें करनी होंगी।

आनन्द—(घबराकर) मेरे बात-चीत करने की क्या ज़रूरत है ? यह काम तो तुम अकेली भी कर सकती थीं।

श्रीमती—मैं कर तो सकती थी, मगर तुम लड़के के पिता हो और उसके भविष्य के सम्बन्ध में मुझसे कहीं अधिक विचार कर सकते हो। यश और लक्ष्मी एक साथ ही प्राप्त होने के योग जीवन में बार-बार नहीं आया करते।

आनन्द—यह तो मैं भी समझ रहा हूँ ; परन्तु आज दस वर्षों से हम लोगों ने उस ग़रीबनी को इस विश्वास में रख छोड़ा है कि हम उसकी लड़की के साथ अपने लड़के की शादी कर लेंगे। अब उसकी लड़की स्यानी हो गई है और उसको इतनी जल्दी अच्छा घर और वर भी नहीं मिल सकता।

श्रीमती—(मुँह फुलाकर) हमने उनको विश्वास में रखा है तो उनके साथ सलूक भी वैसा करते रहे हैं। मैंने अपने शंकर में और उमा में कभी भेद ही नहीं समझा। मगर यह हमारे आदर्शों का और बच्चे के जीवन का प्रश्न है।

आनन्द—(कुछ सोचकर) और फिर शंकर, वह उमा को हृदय से प्यार करता है, उसकी राय भी तो ले लेनी चाहिये।

श्रीमती—शंकर की राय की इसमें कोई ज़रूरत नहीं है मैंने अपने लड़के को आज कल के लौंडों की तरह उद्दंड नहीं होने दिया है—वह समझदार है और परिस्थिति को समझ सकेगा। वह...

[उत्तर ओर के दरवाजे से शंकरलाल का प्रवेश। वह २२-२३ वर्ष का नवयुवक है—तन्दुरुस्त और तेजस्वी। उसका रंग किसी क़दर गोरा और शरीर गठा हुआ है। मा को वहाँ बैठा देखकर वह कुछ सहम जाता है।]

शंकर—(सँभलकर) बाबूजी, चाची आप से मिलने के लिए आई हैं।

[बाबू आनन्दस्वरूप श्रीमतीजी की ओर देखते हैं]

श्रीमती—उनको यहीं भेज दो।

[शंकरलाल का उसी दरवाजे से प्रस्थान। बाबू आनन्दस्वरूप सँभलकर बैठ जाते हैं]

[उत्तर ओर के दरवाजे से उमा की मा—सरलादेवी का प्रवेश। वह घूँघट मारे हुए है, अन्दर आकर वह शिर झुकाकर नमस्मार करती है और जमीन पर ही एक किनारे बैठ जाती है]

श्रीमती—(उठते हुए) आप लोग बात कीजिये, मैं अभी आती हूँ।

सुशीला—(उठते हुए) ठहरिये बहूजी, मैं भी आपके साथ ही चलूँगी।

श्रीमती—(कड़ाई से) नहीं, तुम अभी यहीं बैठो, बड़े बाबू को तुमसे कुछ आवश्यक बातें करनी हैं।

[प्रस्थान]

[सुशीला देवी सहमकर बैठ जाती है]

आनन्द—(गला साफ करके) देवीजी...(सुशीला उनकी ओर देखती है, वह सर नीचा किये बोल रहे हैं) मुझको तुमसे एक बहुत ही आवश्यक बात कहनी है।

[सुशीला चुप रहती है]

आनन्द—(फिर गला साफ करके) परिस्थिति ऐसी आई है कि उमा का विवाह अब शंकर के साथ नहीं हो सकता।

सुशीला—क्या मुझसे या उमा से कोई अपराध बन पड़ा है ?

आनन्द—ऐं—अपराध—अपराध कुछ नहीं, मैं - मेरे आदर्शों का प्रश्न है।

सुशीला—(सँभलकर) मगर उमा को तो आपने अपने आदर्शों के मुताबिक ही तालीम दी है।

आनन्द—यह तो ठीक है, मगर मुझको राष्ट्र के आदर्शों के मुताबिक चलना होगा।

सुशीला—(दृढ़ता से) आप कहा करते थे कि अपनी जाति में उमा जैसी दूसरी लड़की नहीं निकल सकती। वह...

आनन्द—(बीच में ही) यहाँ अपनी जाति का प्रश्न नहीं है। समूचे राष्ट्र की भावी उन्नति का प्रश्न है।

सुशीला—तब क्या आप जाति के बाहर से शंकर बाबू के लिए कन्या ले रहे हैं ?

आनन्द—राष्ट्रीयता की दृष्टि से सब लोगों की एक ही जाति है। हमारे आदर्शों में जातीय भेद-भाव के लिए स्थान नहीं है। उमा से मैं प्रसन्न हूँ, मगर उसको तुमने अपने प्राचीन आदर्शों पर ढाला है। आज से पचास वर्ष पूर्व उमा आदर्श नारी बनती, इस युग की नारियों में उसका कोई स्थान न होगा।

सुशीला—इस युग की नारी को तो मैं नहीं पहिचानती, मगर इतना मुझको विश्वास है कि नारी में पातिव्रत्य, नम्रता, दयालुता सहनशीलता, आदि गुण किसी युग विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं।

आनन्द—वर्तमान युग नारी से तुम्हारे गिनाये गुणों से कुछ विलक्षण गुणों की आशा करता है। सहनशीलता अब भूषण नहीं दूषण है।

सुशीला—(रूखी हँसी हँसकर) मैं आपसे बहस नहीं कर सकती बाबूजी ! आप लोग पढ़े-लिखे आदमी हैं, मगर इतना जानती हूँ कि गिरस्ती की सुख-शांति अभी कहे हुए गुणों पर ही निर्भर है।

आनन्द—(निराशा प्रदर्शित करते हुए) मेरा तुम्हारा अनेक बातों पर शुरू से ही मतभेद रहा है। मेरी लाख कोशिश होने पर भी तुम परदा न छोड़ सकीं। मैं अपने पुत्र को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाना चाहता हूँ, उमा इस कार्य में सहायक नहीं हो सकती।

सुशीला—(हाथ जोड़कर) बाबूजी, मैं क्या करूँ ? मेरे संस्कार तो शुरू से ही बिगड़ चुके थे। मैं उनको दूर न कर सकी। मगर उमा को तो आपने अपनी देख-रेख में पाला है वह मेरी भाँति पिछड़ नहीं सकती।

आनन्द—यह असम्भव है सुशीलादेवी ! लड़की तुम्हारे संस्कारों से नहीं बच सकती।

सुशीला—(निराश स्वर में) सबसे बच सकती है बाबूजी, केवल मेरे दुर्भाग्य

से नहीं बच सकती। (उठते हुए) हम लोग अपना बिगड़ने के बाद आपकी शरण में ही हैं और रहेंगे। शंकर के लिए उमा योग्य वधू न हो, उमा के लिए तो शंकर ही उपयुक्त वर हैं—दूसरा नहीं।

[सर झुकाकर जाने लगती है]

आनन्द—(तत्परता से) तुम हमारी हो और सदैव रहोगी, इस सम्बन्ध में सदैव निश्चिन्त रहना सुशीलादेवी !

[सुशीलादेवी धीरे-धीरे बाहर निकल जाती हैं]

[बाबू आनन्दस्वरूप देर तक उधर की ओर इस प्रकार देखते रहते हैं, जैसे वह अभी तक जा ही रही हो। बाहर श्रीमतीजी के शासनात्मक स्वर से उनका ध्यान भंग हो जाता है और वे अपनी दृष्टि को उधर की ओर से हटाकर बाहर आकाश पर डाल देते हैं]

आनन्द—(कुरसी के हत्थे पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए) लोग कहते हैं कि सहनशीलता की हद होती है ; परन्तु भारतीय नारी की सहनशीलता में हद डूबी हुई है ! इस विशाल व्यक्तित्व का आदर कोई भी संघर्ष-प्रधान युग नहीं कर सकता। (कुछ देर ठहरकर चौंक उठते हैं) संघर्ष भी संकुचितता का ही तो परिणाम है। (कुछ देर ठहरकर, शान्ति से) किन्तु क्या किया जाय, सृष्टि ने तो संघर्ष को अपना एक प्रधान नियम बना रखा है। (बाहर से उमा और शंकर के झगड़ने की आवाज़ आती है) कितने पागल हैं, इन बातों में जीवन को ही भूल गये हैं—शंकर का मार्ग तो बहुत सरल बन रहा है किन्तु उमा……(श्रीमती आनन्दस्वरूप कुछ देर पूर्व उत्तर तरफ़ के दरवाज़े के सहारे आकर खड़ी हो गई हैं)

श्रीमती—(अन्दर आते हुए, हाथ बढ़ाकर) आइये, शंकर के बाद उमा के मामले पर भी विचार करेंगे ; भोजन का समय हो गया।

[बाबू आनन्दस्वरूप सहमकर खड़े हो जाते हैं, फिर चुपचाप श्रीमतीजी के पीछे पीछे चले जाते हैं]

दृश्य तीसरा

स्थानः—लाला आनन्दस्वरूप के मकान का 'चौक'

समयः—उपरोक्त घटना के आठ-दस दिन बाद और विवाह की तिथि के आठ दिन पूर्व का संध्याकाल।

[बाबू आनन्दस्वरूप के मकान में कारज का वातावरण छाया हुआ है। बाबू साहब इस समय बैठे हुए हुक्का पी रहे हैं। सड़क की तरफ़ के दरवाज़े से सज्जनों का प्रवेश]

आनन्द—(खड़े होकर) ओहो, आइये पंडितजी महाराज ! (दूसरे सज्जन की ओर देखकर विनय के साथ) बैठिये लालाजी।

पण्डितजी—बाबूजी साहब, मैंने सुना है कि आप अपने पुत्र का सम्बन्ध किन्हीं ठाकुर साहब की कन्या के साथ कर रहे हैं ?

आनन्द—जी नहीं, मैं तो राष्ट्र के एक अनन्य पुजारी की लड़की के साथ अपने लड़के की शादी करना चाहता हूँ। हमारा उनका जातिगत सम्बन्ध नहीं राष्ट्रगत सम्बन्ध है।

पंडितजी—(बात को सुलझाने की चेष्टा करते हुए) यह तो ठीक है बाबूजी,

आपके उनके विचार एक हों, यह तो बड़ी शुभ बात है, हमारे देश में इस बात की कमी है। मगर मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि वे किस जाति में उत्पन्न हुए हैं ?

आनन्द—मैंने आप से अर्ज़ किया न कि हमारी-उनकी कोई जाति नहीं है, हम लोग राष्ट्रीय हैं।

पंडितजी—यह तो मैं समझ गया बाबूजी ! अच्छा यही बतला दीजिये कि 'पूर्वाश्रम' में उनकी क्या जाति थी ?

आनन्द—(खिलखिलाकर हँस उठते हैं) ओहो, तब तो आपने हमको सन्यासी समझ लिया !

पंडितजी—(गंभीरतापूर्वक) इसमें क्या सन्देह है। वे भगवान के पीछे जाति और वर्णादिक को छोड़ देते हैं और आपने देश के पीछे इनको छोड़ा है। भेद इतना ही है कि वे सन्यास लेने के बाद बिहा-शादी के झगड़ों में नहीं पड़ते और आप 'राष्ट्रीय' होने के बाद भी इन सबको करते रहते हैं !

लालाजी—क्या बात कही है पण्डितजी ! मेरी समझ में तो यह सोलह आने आ गई, बाबूजी की समझ में दो-चार आने आ जाय तो हम सबका कल्याण है।

आनन्द—(थोड़ा उत्तेजित होकर) कल्याण ? कल्याण को आप क्या समझें लालाजी ! कल्याण तो इस समय इसमें है कि हम लोग कूप में से निकल कर संसार में आ जायँ !

पण्डितजी—(भोलेपन से) किन्तु हम क्या करें भाई, हमारे लिए तो यह कूप ही संसार है और यह संसार ही कूप है ! इस अपने निवास स्थान को सुव्यवस्थित और सुश्रृङ्खलित रखने के लिए ही मनुष्य बन्धनों से बँधा है। बन्धन बुरी चीज़ है, यह मैं भी समझ सकता हूँ, मगर हम लोगों ने उसे अन्य क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का साधक समझकर अपना रखा है !

आनन्द—(निराशा पूर्ण स्वर में) पण्डितजी आप वृद्ध हैं और मेरे विद्या गुरु हैं। मैं आपको कैसे समझाऊँ कि संसार गतिशील है—सीमाओं का उल्लंघन करना उसके स्वभाव में दाखिल है। हम धर्म और जाति की सीमाओं से बहुत दिन सीमित रह चुके हैं, अब तो हमको यह बहुत संकुचित प्रतीत होती हैं !

पण्डितजी—अच्छी बात है भाई, तुम आनन्द से सीमाओं का उल्लंघन करो ; किन्तु इतना स्मरण रखना कि पाओगे अपने को हमेशा सीमित ही ! चलिये लालाजी, बाबूजी जैसे दृढ़-प्रतिज्ञ व्यक्तियों को समझाना व्यर्थ है।

लालाजी—ठहरिये पण्डितजी, आप यह तो कहिये कि जाति को छोड़ दें मगर ऐसी सुन्दर और गुणवती कन्या को तो हाथ से न जाने दें।

आनन्द—मैं लाचार हूँ, लाला साहब, अपने जिन आदर्शों के लिए मैं जातीय बन्धनों को छोड़ रहा हूँ, उन्हीं के लिए उस कन्या का भी त्याग कर सकूँगा।

लालाजी—(आवेश में) तब हमारा आपका कोई व्यवहार नहीं रहा।

आनन्द—(लापरवाही से) इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं है, इसके लिए मैं प्रारंभ से ही तैयार हूँ। मुझको आपसे कोई शिकायत भी नहीं है—आप अपने

सिद्धान्तों से लाचार हैं और मैं अपनों से। (पंडितजी से) कोई अविनय हो गया हो तो क्षमा कीजियेगा पंडितजी।

पंडितजी—(उठते हुए) अविनय की क्या बात है भाई। दृढ़ता का पाठ तो मैंने ही तुमको पढ़ाया था, अब यह तुम्हारी खुशी है कि उसको कहाँ लगाओ।

आनन्द—(उठते हुए) नमस्कार पंडितजी महाराज, जैरामजी की लाला साहब।

पंडितजी—कल्याण हो! [जाते हैं]

[लालाजी कुछ जवाब न देकर चुपचाप पंडितजी के पीछे चले जाते हैं]

[बाबू आनन्दस्वरूप हुक्के की नै को मुँह से लगाकर विचारों में मग्न हो जाते हैं]

[बाबू केदारनाथ का प्रवेश]

केदार—कहिये बाबूजी, आज तो आप बड़े एकाग्र प्रतीत होते हैं।

आनन्द—बैठिये, आज गुरूजी और लाला श्यामलालजी आये थे, मेरे बहिष्कार की घोषणा कर गये हैं!

केदार—ऊँह, बन्धनों का तो टूटना ही अच्छा! पंडितजी भी लालाजी के स्वर में ही बोले होंगे!

आनन्द—उनके लिए स्वाभाविक भी यही था; किन्तु उनकी बातें सुनकर मैं यह विचार करने लगा कि मनुष्य बंधन को बंधन समझकर भी उससे कल्याण की आशा कर सकता है और वह भी इतनी सचाई और लगन के साथ!

केदार—कुसंस्कारों का फल तो यही है कि आँखें होते हुए भी न देखना। (विषय बदलते हुए) जाने भी दीजिये, नवीन और प्राचीन के बीच की खाई तो हमेशा इतनी ही गहरी रहेगी। आज ठाकुर साहब आनेवाले थे न?

आनन्द—(प्रकृतिस्थ होकर) आते ही होंगे, मैं उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (घड़ी देखकर) समय तो हो गया।

[नौकर चिलम भरकर रख जाता है]

केदार—(थोड़ी देर चुप रहने के बाद) ठाकुर साहब ने आज कुछ घंटों में ही स्थानीय कार्यकर्ताओं को प्रभावित कर दिया।

आनन्द—मैं तो स्टेशन पर उनसे चन्द मिनिट बात करके ही उनका क़ायल हो गया। लड़की भी स्वतन्त्रता की प्रतिमा है।

केदार—(दार्शनिक ढंग से) उन लोगों की सचाई का ही यह असर है।

[सामने के दरवाजे से ६-७ आदमियों के साथ ठाकुर गोपालसिंह का प्रवेश]

[ठाकुर साहब क़दावर आदमी हैं। रंग गेहुआँ और चहरा साफ है। वे सिर से पैर तक शुद्ध खादी पहिने हुए हैं। अवस्था ५० से ऊपर प्रतीत होती है, मगर उनकी चंचल आँखें इस अन्दाज़ को ग़लत साबित करने में लगी हुई हैं]

[बाबू आनन्दस्वरूप आगे बढ़कर उनको नमस्कार करते हैं, बाबू केदारनाथ अपनी कुरसी के नज़दीक खड़े हो जाते हैं]

ठाकुर—(बाबू आनन्दस्वरूप की ओर देखकर, विनय के साथ) माफ़ कीजियेगा, सौदामिनी की इच्छा आज क़स्बे को घूमकर देख आने की हुई, इसी से देर हो गई।

आनन्द—(समुचित उत्तर ढूँढने में लग जाते हैं)

केदार—आप जब से यहाँ तशरीफ लाये हैं हम लोगों के ही पास हैं, आप लोगों को यह जगह तो क्या पसन्द आई होगी !

ठाकुर—भाई, मैं तो आप लोगों को भाग्यशाली मानता हूँ कि आप ऐसे स्थान में रह रहे हैं। मेरा भी जन्म ऐसे एक क़स्बे में ही हुआ था, अधिकांश जीवन कांग्रेस की सेवाओं के कारण शहरों में ही व्यतीत होने पर गाँव अब भी मेरे लिए एक प्रबल आकर्षण है—यही बात सौदामिनी के लिए भी है।

आनंद—मगर साहब, जितना अज्ञान और अन्धकार गाँवो और छोटे-छोटे क़स्बों में है, उतना शायद ही और कहीं हो।

केदार—(समझकर) जी हाँ, अभी अभी दो प्रतिष्ठित स्थानीय सज्जन बाबू साहब को दीन दुनिया से बाहर कर गये हैं ?

[सब लोग जोर से हँस उठते हैं।]

ठाकुर—(हँसते हुए) तब तो मैं और बाबू साहब एक ही भूमिका पर उतर आये चलिये, आवारों की एक टोली तैयार हो रही है।

[फिर सब लोग हँसने लगते हैं]

कोषाध्यक्षजी—क्यों साहब, क्या यह बातें हमको मिटाकर ही मिटेंगी ?

ठाकुर—(आवेश पूर्वक) यह नहीं हो सकता। भारत की आत्मा जाग्रत हो रही है, वह प्रत्येक बंधन को जला कर भस्म कर देगी। हमको इन बातों की ज़रा भी परवा न करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना चाहिये।

एक सज्जन—यह तो आप ठीक फरमा रहे हैं; मगर मुट्ठी भर सुधारक इतने बड़े समुदाय का मुक़ाबिला कैसे कर सकेंगे ?

ठाकुर—(लापरवाही से) यहाँ तो आप लोग एक विचार के ८-१० व्यक्ति तो भी हैं, आप मेरे क़स्बे को देखिये जहाँ कि मैं अकेला ही हूँ, मगर किसी की ताव नहीं कि सर उठा जाय !

दूसरे सज्जन—बड़ा अच्छा होता यदि आप अपने बहुमूल्य समय का कुछ हिस्सा यहाँ की प्रवृत्तियों के लिए भी देते।

ठाकुर—(प्रच्छन्न प्रसन्नता के साथ) मैं गंभीरतया इस बात पर विचार कर रहा हूँ। मैं सौदामिनी से जुदा नहीं रह सकता। उधर मेरे अपने क्षेत्र का कार्य भी समाप्त हो चुका है। मेरी सेवाओं से इस स्थान को कुछ लाभ हो तो मेरा सौभाग्य है।

[सब लोग हर्ष प्रकट करते हैं]

कोषाध्यक्ष जी—(सब लोगों की ओर देखकर) यदि ठाकुर साहब ने इस क़स्बे को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया तो हम यहाँ के प्रतिघातक तत्वों का समूल विनाश कर देंगे।

ठाकुर—यह तो तय ही समझिये। (कोषाध्यक्षजी की ओर देखकर) हाँ साहब, आप अपनी संस्था का हिसाब-किताब लाये हैं क्या ?

कोषाध्यक्षजी—(जल्दी से उठकर रजिस्टर सामने करते हुए) हाज़िर है।

ठाकुर—(सफ़े पलटकर) ओहो, इसमें तो आमद से कहीं ज़्यादा खर्चा दिखलाया गया है।

आनंद—(निराश स्वर में) जी हाँ, यही हालत है, यहाँ की प्रत्येक संस्था क़र्ज़े से दबी है।

ठाकुर—(मुँह बनाकर) यह स्थिति तो अच्छी नहीं है।

केदार—क्या किया जाय, बाबू आनंदस्वरूप को छोड़कर हमको अन्य किसी दमदा[र] व्यक्ति का सहयोग प्राप्त नहीं है।

ठाकुर—(कोषाध्यक्षजी से) अच्छा साहब, मैं चि० शंकरलाल के शुभ विवाह के उप-लक्ष्य में आपकी संस्था को २०००) दान में देता हूँ।

[सब लोग ताली बजाते हैं; बाबू आनंदस्वरूप विचार में पड़ जाते हैं]

आनंद—(गंभीर स्वर में) मैं चिं० सौदामिनी के शुभ विवाह के उपलक्ष्य में इ[स] संस्था को १०००) प्रदान करता हूँ।

[सब लोग फिर ताली बजाते हैं]

ठाकुर—(प्रकृतिस्थ होकर) कहिये बाबू साहब, आपने विवाह की तिथि की सूच[ना] तो देश को दे ही दी होगी ?

आनंद—(सकुचाकर) मेरा क्षेत्र बहुत संकुचित है। अपने लोगों को तो सूचना ही दी गई है।

ठाकुर—मैंने तो देश के सब बड़े-छोटे नेताओं को सूचित कर दिया है। आज अग्र-गण्य पेपरों में भी यह शुभ-समाचार भेजा जा रहा है। कई सम्वाददाता मुझसे मिल भी चुके हैं, कुछ जगहों पर से तो मेरे पास बधाई के तार भी आ चुके हैं।

आनन्द—(प्रभावित होकर) आप तो राष्ट्र की विभूति हैं। राष्ट्र के सब कामों [में] आप शामिल रहते हैं तो राष्ट्र आपके कार्यों में शामिल क्यों न होगा !

ठाकुर—(महत्ता का अनुभव करते हुए) यह तो सब आप लोगों की कृपा का ही फल है। (साथ के लोगों की तरफ देख कर) अब तो चलना चाहिये वहाँ अन्य सज्जन प्रतीक्षा कर रहे होंगे। (बाबू आनन्दस्वरूप को नमस्कार करते हैं)

कोषाध्यक्षजी—(मयरजिस्टर के हाथ उठाकर) भारत माता की जय।

सब लोग—भारत माता की जय।

कोषाध्यक्षजी—ठाकुर गोपालसिंह की जय।

सब लोग—ठाकुर गोपालसिंह की जय।

केदार—बाबू आनन्दस्वरूप की जय।

सब लोग—बाबू आनन्दस्वरूप की जय।

[जाते हैं, बाबू आनन्दस्वरूप घर की व्यवस्था में व्यस्त हो जाते हैं।]

दृश्य चौथा

स्थान०—शंकरलाल का प्राईवेट रूम।

समय०—विवाह की पूर्व रात्रि।

[शंकरलाल आराम कुरसी पर लेटा हुआ उन तार और चिट्ठियों को पढ़ रहा है जो बाबू आनन्दस्वरूप ने थोड़ी देर पूर्व उसके पास भेजी हैं। विवाह की प्रसन्नता के उतने स्प[ष्ट]

चिन्ह उसके चेहरे पर नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि समयोचित प्रसन्नता किसी विरोधी भाव से टकराने में व्यस्त है।]

[बाँईं ओर के दरवाज़े से सुशीलादेवी और उमा का प्रवेश]

[दोनो के चहरे पर आश्चर्यजनक रीति से एक ही भाव जम कर रह गया है। उसकी जमावट देखकर यह विश्वास होता है कि उसपर अनुकूल किंवा प्रतिकूल वेदनाओं का कोईं प्रभाव नहीं पड़ सकता। शंकरलाल उनकी ओर देख कर अनावश्यक तौर पर सहम जाता है। वे धीरे-धीरे आकर उसकी कुरसी के पास बैठ जाती हैं ? उमा, जैसे चारो तरफ देखते-देखते थक गई हो, अपनी दृष्टि को ज़मीन की ओर लगा देती है.। शंकरलाल कुरसी पर सीधा बैठ जाता है। थोड़ी देर कोईं कुछ नहीं बोलता। शंकरलाल के लिए वह वातावरण असह्य हो उठता है]

शंकर—(जैसे जीवन में पहिली बार ही बोल रहा हो) चाची, उमादेवी, आप लोग इस वक्त कैसे आईं ?

सुशीला—(शान्ति से) शंकर बाबू, कल तुम्हारा शुभ विवाह है, मैंने पिछले वर्षों में जो उपहार तुम्हारे विवाह के अवसर पर देने को एकत्रित किया है, वही तुमको देने आई हूँ। उमा और मैं कल बाहर जा रही हैं, इसलिए उमा भी चली आई है !

शंकर—(सँभलकर) चाची, मैं तुम्हारे कष्ट को खूब समझ रहा हूँ। मेरे लिए इस विवाह का कोई व्यक्तिगत आकर्षण नहीं है। मगर क्या करूँ, आदर्शों की रक्षा इसी में है !

सुशीला—(चहरे के भाव के अनुकूल हँसकर) ठीक तो है भाई, आदर्शों की रक्षा करना प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है। (गंभीर बनकर) मैं तो यही आशीर्वाद देती हूँ कि प्रभु तुमको इनके पालन में सदैव समर्थ बनाये।

शंकर—(प्रसन्न होकर) चाची, तुम मेरी कठिनाई समझ रही हो...मैं...

[सुशीलादेवी अपने अंचल में से एक डिब्बा निकालकर शंकरलाल के पैरों के पास रख देती हैं। शंकरलाल उसको विनोद में खोल देता है, उसमें सोने के जेवरात भरे हैं]

शंकर—(घबराकर) चाची, इसमें तो तुम्हारे सारे जीवन की कमाई भरी है।

सुशीला—(सरलता से) हाँ भाई। (उमा से) बेटी, मैंने जो फूल तुमको दिये थे, वे छोटे बाबू के चरणों पर चढ़ा दो।

[उमा उठकर अविकृत भाव से फूलों को शंकरलाल के चरणों पर रख देती है]

सुशीला—चलो बेटी (दोनो उठ खड़ी होती हैं) !

शंकर—(घबराकर) चाची...

[वे दोनो कुछ जवाब न देकर कमरे के बाहर हो जाती हैं]

[शंकरलाल धम से कुरसी पर लेट जाता है, उसके चेहरे पर कालिमा दौड़ जाती है। वह अपने मुँह पर दोनो हाथ रख लेता है]

[थोड़ी देर बाद नौकर का प्रवेश]

नौकर—छोटे बाबू, छोटे बाबू !

शंकर—(ज़ोर से) क्या बात है ?

नौकर—(सहमकर) बड़े बाबू ने यह तार पढ़ने को भेजा है।

शंकर—(लापरवाही से) लाओ !

[शंकरलाल तार को खोलकर पढ़ता है। तार देश के एक महान नेता की ओर से आया है, आज कई दिन से इस तार की प्रतीक्षा थी। तार में लिखा है—Congratulations for breaking barriers 'बन्धनों को तोड़ने के उपलक्ष्य में बधाई']

[शंकरलाल के चेहरे पर प्रकाश की लहर दौड़ जाती है और वह उसको दुबारा पढ़ने में व्यस्त हो जाता है।]

ड्राप

वृन्दावन।

परिवेदना !

[निर्मला मित्रा

[श्रीमती निर्मला मित्रा हिन्दी की अपेक्षाकृत नई लेखिका हैं। आपने कुछ सफल sketches (शब्द-चित्र) लिखे हैं और कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। आजकल आप होशंगाबाद में रहती हैं।—सं०]

उस दिन के आदिम प्रभात में तुमने प्रथम नैन उघाड़ा,—तुम्हारे सौम्य मुखारविन्द की लालिम झलक मेरे कपोलों को अनुरंजित कर गई।

मैं सहसा अपनी वर्षा-विश्रान्ति से चमकी—फिर हंस पड़ी !

तुमने कहा—पृथ्वी, तेरे आशाओं को पल्लवित कर फूल-फल में सुशोभित करके मैं आया—ओरी, देख, देख !

मैंने अपने आँखों के झर-झर वारि से तुम्हारे पग धोये, अपने चन्दन सुरभित श्यामल अंचल से उन्हें पोंछा, अपनी कवरी के पेलव कुसुम दामों को पदतल में अर्पण कर मैं उठी और चलती वेला बोली—प्रिय, प्रणाम !

तुमने चकित विस्मय से पूछा—ऐं,—फिर इतनी मुग्धता और मधुरता का क्या प्रयोजन था ?

मेरी आँखों की पलकें नमित हो गईं। तुम खीझे—

मैं मृदुता से आगे बढ़ी।

तुम संध्या के नीरव शयनागार में प्रवेश करके रो पड़े।

मैंने उस दिन अपने गति पथ से बारेक मुँह फेरकर कहा था—पथिक, तुम मेरे पीछे आओ।

'किन्तु तुम !—तुम स्थाणु ?'

कोई अपने धमनी के चलते रक्त स्रोत को,—अपने झंकृत नुपूर के चंचल तालों को बरबस कैसे दबा ले ?

मैंने तो कहा था—पथिक, तुम मेरे पीछे आओ।

होशंगाबाद।

सन्तों ने हमारे लिए क्या किया ?

[सद्गुरुशरण अवस्थी]

[श्री सद्गुरुशरण अवस्थी को हिन्दी संसार 'तुलसी के चार दल' के लेखक के रूप में भली प्रकार जानता है। हिन्दी के अध्ययनशील लेखकों में आपका अपना स्थान है। और यही नहीं आपने कुछ सुन्दर कहानियाँ भी लिखी हैं जो 'फूटा शीशा' के नाम से संग्रहीत हुई हैं। आजकल आप कानपुर में अध्यापन करते हैं।—सं०]

मानव-जीवन आसक्तियों का समाहार है। अनुरक्ति और विरक्ति के मूल में यही आसक्ति काम करती है—प्राणी जन्म लेते ही विश्व के नानारूपों से सम्पर्कलाभ करने लगता है। अशेष सृष्टि के किसी अंश में उसे अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता मिलती है। अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख होता है—सुख का परिणाम अनुरक्ति और दुःख का विरक्ति है—परन्तु अनुकूलता और प्रतिकूलता सुख और दुःख सापेक्षिक प्रत्यय हैं। किसी एक ही वस्तु में किसी को सुख और किसी को दुःख मिलता है ; अथवा किसी एक ही व्यक्ति को स्थान और समय के अन्तर से उसी वस्तु में सुख-दुःख का विपर्यय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अनुरक्ति विभेद है—समस्वरूप आसक्ति है।

आसक्ति का विस्तार मानव-जीवन का विस्तार समझा गया है। आसक्तियों के स्वरूप और आदर्श मनुष्य-जीवन के आदि काल से परिवर्तित होते आये हैं। पहले और अब भी जीवन की व्यस्तता में परिमाण-विभेद संख्या के परिगणन में रहा है—और है, संकुलता में नहीं। महात्मा गान्धी और अफ्रिका का हबशी दोनो एक प्रकार से, समान रूप से व्यस्त रहते हैं। यद्यपि दोनो की आसक्तियों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

मानव-जीवन आसक्तियों का समाहार तो है ही मानवता की चरमता इन्हीं आसक्तियों के प्रति आसक्ति का परित्याग है। यह एक विरोध है पर इसमें विश्व के साम्य का महान रूप छिपा है—उन्नतिशील व्यक्ति, समाज-रूढ़ि, धर्म-रूढ़ि, कला-रूढ़ि, राष्ट्र-रूढ़ि इत्यादि-इत्यादि न जाने कितनी रूढ़ियों से निरन्तर युद्ध करता रहता है। पुरानी आसक्तियाँ निर्मूल होती चलती हैं

और उनके स्थान में नई आसक्तियों का स्वीकार स्वतः होता चलता है। यही आसक्तियाँ आगे चलकर रूढ़ि बनती चलती हैं और फिर उनका ध्वंस अथवा पुनः निर्माण होता रहता है। इस ध्वंस और निर्माण के रहस्य को समझना विश्व की गत्यात्मकता को पहचानना है और उसमें योग देना विधि-विधान का अनुसरण करना है। जगत की गति-विधि में वही व्यक्ति उपयोगी सिद्ध होता है जो प्रिय से प्रिय ममतामयी आसक्ति में भी अनुरक्ति न रखे और सुनिश्चित, सुस्वीकृत, सुदृढ़ सिद्धान्तों के भी पुनः निरीक्षण, पुनः मूल्य-निरूपण तथा पुनः स्थिरीकरण के लिए निस्संकोच प्रस्तुत रहे।

वास्तव में सत्य के निरूपण में इयत्ता नहीं होती और न सत्य की अभिव्यक्ति में चिरंतन टिकाव ही होता है—इस गतिमान जगत में गति ही गति है। गति में स्थायित्व की स्थापना करना—चाहे वह सत्य की यथार्थता की हो अथवा स्वयं ईश्वर की हो—जान-बूझ कर भ्रम में पड़ना है। विश्व की बड़ी से बड़ी विभूति में अखंड शक्ति के अंशों और कलाओं का निर्धारण करना हमेशा एकदेशीय और एककालीन ही हो सकता है। सार्वभौमिक और सर्वकालीन नहीं। विश्व अपने सारे वैभव को लेकर क्षण-क्षण बदल रहा है। उसका आकार-प्रकार, उसकी रूप-रेखा, उसके विधान, उसका नियमन, उसका सर्वस्व संस्तरण करता रहता है, उसी प्रकार जैसे बूँद; समुद्र में अथवा समुद्र बूँदों में। कौन किसका क्या करता है यह कौन जानता है। गहरी उड़ान भरते हुए इस 'अखिल चमत्कार' के किसी परिमाणु के किसी ओर का किसी अधिकारी के नेत्रों में कौंधा हुआ कोई आलोक-खंड अथवा उसके कानों में पड़ा हुआ गत्यात्मकता की घरघराहट का कोई नाद-कण विश्व में न जाने कितने सत्यों की सृष्टि करता है। इन सत्यों में सत्यता की उतनी ही अवधि है जितने काल तक वे तद्रूप आसक्तियों पर अपना अधिकार रख सकते हैं उनका पुनः निरीक्षण और पुनः मूल्य-निर्धारण हुआ करता है। नई आसक्तियाँ आती-जाती रहती हैं। फिर नया आलोक, फिर नया शब्द, फिर नया आध्येय, फिर नया निरूपण, फिर नया सत्य और नया ईश्वर। यह निरंतर का धर्म है। यदि सत्य 'सत्य' ही रहे और उसमें परिवर्तन और परिवर्धन न हो, यदि ईश्वर में गति अगति से आगे न रहे, तो उन्नतिशील मन का तर्क असंतुष्ट ही बना रहेगा। प्रगतिशील जगत से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक प्रत्यय का प्रगतिशील होना ही उसका धर्म और उसकी शोभा है, चाहे वह प्रत्यय सत्य हो, चाहे सुन्दर हो, चाहे शिव हो और चाहे स्वयं ईश्वर ही क्यों न हो। बस इसी मूल को समक्ष रखकर हमें विश्व की समीक्षा करनी है। हम स्थिर कर चुके कि आदर्श व्यक्ति किसी भी आसक्ति (prejudice) में अनुरक्ति नहीं रखता। भारतवर्ष के चिंतकों और दर्शनकारों ने अपनी इस अनासक्ति बुद्धि और निर्मल विवेक का परिचय विश्व को काफ़ी दिया है। ईश्वर तक का उन्होंने अनासक्ति भाव से परीक्षा की है। अतएव इस लेख में संतों के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा जायगा उसे रूढ़ि और परम्परा के निर्माण किये हुए वातावरण को ध्वंस करके समझने का प्रयास करना चाहिये।

इस लेख के लेखक का यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि भारतवर्ष पर संतों ने उपकारों की अपेक्षा अपकार अधिक किये हैं। संतों की जो परिभाषा गोस्वामी तुलसीदासजी ने दी है अथवा जो अन्यत्र मिलती है वह तो विश्व के उदात्त गुणों की तालिका है; परन्तु व्यवहार जगत में संतों का क्या प्रभाव पड़ा इससे उनकी उपयोगिता आँकनी है। शताब्दियों से

प्रयोग के बाद जो आचरण आचरण-शास्त्र तक पहुँच सके हैं, जो धर्म-तत्त्व धर्म-ग्रन्थों में संग्रहीत हो सके हैं, जो विकसित चिन्तना दर्शन-पुस्तकों में लिखी जा सकी है, अथवा मानवता का जो सभ्य स्वरूप अपना कला, साहित्य तथा समाज का आदर्श स्थिर कर सका है, जब-जब ये संत हुए इन्होंने एक ही उच्छ्वास में सबको धराशायी करने का प्रयास किया। चिंतनशील जन-समुदाय की अपेक्षा मूर्खों की संख्या वैसे ही अधिक होती है। विश्व की यह महान विभूति मूर्ख मंडली-मूढ़-ज्ञान से स्वाभाविक रूप से अधिक चिपकती है, अतएव उसे इस ध्वंस-कार्य में बड़ा सहारा मिला। इतिहास इसका साक्षी है कि बड़े से बड़े संत-पथ में मूर्खों की ही भरती अधिक मिली।

पुरानेपन से युद्ध करना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक है, रूढ़ियों को तोड़ना सुधार ही नहीं धर्म है। दलितों को उठाना कर्त्तव्य ही नहीं पुण्य है ; परन्तु संतों की कार्य-विधि सदोष थी। उन्होंने पतितों को उकसाया, उन्होंने धर्म के सड़े अंगों की दुर्गन्धि नासिका तक पहुँचाई, उन्होंने समाजवाद, साम्यवाद और जनसत्तात्मकवाद का संदेश जनता तक पहुँचाया तथा जीवन को पवित्र बनाने का प्रयास किया ; परन्तु देश में, साथ ही साथ, एक ऐसी लक्ष्यहीनता उत्पन्न कर दी कि उनके जागरण-संदेश का आदर्श ही नष्ट हो गया। उनकी क्रांति में सुधारवाद का नियंत्रण था और जो कुछ भी उसमें वेग था लक्ष्यहीन था। अधिकांश संतों में लोक-संग्रह का कोई भाव न था। समष्टि के स्थान पर उन्होंने व्यक्ति पर अधिक ज़ोर दिया। स्वामी वर्ग का समाज का शोषण किस प्रकार समाज को खोखला बनाता है उसे समझकर भी दलितों में जो भेदभाव मिटाने का जोश पैदा हुआ वह अध्यात्म की ओर मोड़ देने के कारण पंगु हो गया। बड़े वेग और घरघराहट के साथ बहनेवाली कबीर की क्राँति-सरिता भी अध्यात्म के मरुस्थल में पहुँचकर विलीन हो गई। इन संतों ने ठोस जगत के अभावों को काल्पनिक जगत के स्वर्ण-विहान से चकाचौंध करके भुलाने का प्रयास किया। ऐहिक जगत की घुस-पैठ, जीवन-संग्राम का संघर्ष, मानवता के स्वत्वों की माँग—यह सब सांसारिकता कहकर कोसी गई। परलोकवाद, इतरलोकवाद, जन्मांतरवाद, पुराय-पापवाद, मायावाद, संसार प्रपंचवाद, रहस्यवाद और न जाने कितने लोकविरोधी वादों का प्रचार हुआ और इस जगत से उदासीन होना सिखाया गया—पाप और पुण्य के मनमाने आदर्श स्थिर करके सब प्राणियों को अध्यात्म की संकरी गली में खदेड़ने का काम तो संतों ने किया ही, उन्हें संसार की ओर मुड़ कर देखने की भी आज्ञा न दी। इतरलोकवाद के तर्क के सामने इहलोकवाद नास्तिकता का विषय हो गया। अतेन्द्रिय जगत का भावविभोर वर्णन, विचारातीत परिस्थितियों के ज्वलंत चित्र, रहस्यवाद के अटपटे वचन जनता को केवल थोड़े काल के लिए पार्थिव अभावों को भुला सकते थे ; परन्तु नमक, तेल, लकड़ी की माँग, भूखे बिलबिलाते हुए रुग्ण बच्चे की सूखी आकृति न घंटों के सत्संग में और न सुरति-शब्द-योग में भूल सकते थे। 'त्रिकुटी', 'भँवरगुफा,' 'महासुत्र,' सभी का ध्यान और योग भूखा मन अधिक काल तक नहीं कर सकता। संतों ने लोक को लोक में रहकर सुधारने का अवकाश ही नहीं दिया। अभावों से त्रस्त व्यक्ति में ऐहिक स्वत्वों के प्रति दैवी प्रेरणा का भाव उत्पन्न करके उसे परावलम्बी बना दिया गया। स्वालम्बन में जो अपने भाग्य को स्वयं निर्माण करने का बल होता है वह शिथिल कर दिया गया और सब रोगों की एक मात्र औषधि अध्यात्म की घूँटी सब भक्तों को पिलाई गई—अपने पर भरोसा कैसे रहता जब—

हानि लाभ जीवन मरण,
जस अपजस विधि हाथ ।

पार्थिव अभावों का सम्यक परिचय भी नहीं होने पाया, भक्त चट उस महान् अभाव, भगवत्
भक्ति की ओर खिंच गये । संसार जैसा का तैसा छोड़ दिया गया ।

यह कोई न कहेगा कि विश्व में पार्थिव अभावों की इति है । उनकी तालि
बढ़ती-घटती रहती है । वह सापेक्ष है । यदि हम अपने अभावों का कोष बढ़ाते जायँगे
जीवन बड़ा असन्तोषमय हो जायगा । कहीं तो विराम करना ही होगा—परन्तु यह भी
भूलना चाहिये कि जहाँ एक वर्ग की साधारण से साधारण आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं
शोषण द्वारा दूसरे वर्ग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं वहाँ शासन में महान दोष है ।
शासन को और ऐसी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना प्रत्येक लोक-संग्रही संत और महात्मा का
पवित्र काम है । असन्तुष्ट वृत्ति के मत्थे मढ़कर ऐसे समाजजनित अभावों की ओर उपे
करना अन्याय का परोक्ष रूप से समर्थन करना है । अनिवार्य स्वत्वों के लिए झगड़ना अशां
का बर्बर निदर्शन नहीं है । वैसे तो सबसे बड़ी और घोर अशांति संत लोग भक्तों के ह
में भगवद् साक्षात्कार की बलवती उत्कंठा के रूप में स्वयं उत्पन्न कर देते हैं । अशान्ति अ
नग्न रूप में निन्द्य नहीं केवल प्रयोग पर उसकी उपादेयता निर्भर है । संतों ने उसकी सम्
उपयोगिता की ओर ध्यान न देकर एक ग़लत मार्ग भारतवासियों के समक्ष रखा । इ
अधिक निन्दनीय बात और क्या हो सकती है कि दलित वर्ग में अभावों से परितुष्ट रहने
वृत्ति जागरित करके शोषण करनेवालों का अन्याय आध्यात्मिकता की मुहर लगाकर सही
दिया गया—वर्गों के समीकरण की आवश्यकता पर बहुत-से साखी और शब्द कहे गये ; पर
व्यवहार-जगत में वह बिलकुल असफल रहे । आध्यात्मिकता, पवित्रता, ईश्वर की आवश्यक
से अधिक साकार करके हमारे हाथ-पैर जकड़ दिये गये । भारतीयों में अजीब हिचक उत्प
हो गई । हम जीवन-संग्राम के लिए नपुंसक हो गये ।

इस लेख को पढ़कर किसी को यह न समझना चाहिये कि इसके लेखक को संतों
कोई विरोध है । जीवन को पवित्र करने के लिए, स्वरूपदर्शन के लिए, चिन्तना के उकसा
के लिए, साहित्य और कला को नये रूप में लाने के लिए और एक महान परार्थता उत्प
करने के लिए संतों ने जो प्रयास किया वह स्तुत्य है । संत लोग हमारे श्रद्धा के भाजन हैं
परन्तु संसार से हमेशा भागनेवाली वृत्ति, उसके प्रस्वेदपूर्ण संघर्षों के प्रति कायरतापूर्ण उपेक्ष
तथा जीवन के एकांगे और अकेलेपन पर अधिक ज़ोर इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्होंने संत
को भारतवर्ष के लिए विफल सिद्ध किया । संत-भक्त मुझे इस स्पष्टोक्ति के लिए क्षमा करेंगे
मेरे ये सब भाव संतों के लिए नहीं हैं । मुझे वैसे भी संतों के जीवन से बहुत कुछ मिला है
परन्तु किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को विवेक न खोना चाहिये । आसक्ति प्रत्येक कोण
ओर से सम होती है, अतएव अनासक्ति भी समभाव से ही होना चाहिये ।

कानपुर ।

साहित्य और जीवन

[सुशीलकुमार चौबे]

[श्री सुशीलकुमार चौबे हिंदी के पाठकों के लिए सर्वथा नये हैं। पर आपने 'हंस' के अंक में एक सुन्दर लेख लिखा था, पाठकों को स्मरण होगा। आपकी शैली में सरलता और सुलझाव है; और विचारों को सफलतापूर्वक व्यक्त करने की क्षमता भी है। प्रस्तुत लेख में ये गुण पाठक स्वयं देख लें। आजकल आप फ़तेहचंद कालेज लाहोर में अध्यापक हैं।--सं०]

साहित्य जीवन का चित्रण है। जिस प्रकार दर्पण में हम अपना चेहरा देख सकते हैं और अपनी शारीरिक स्थिति का पता लगा सकते हैं उसी प्रकार साहित्य में मनुष्य और समाज दोनो के चित्र दिखाई देते हैं। अंतर इतना है कि दर्पण में मनुष्य को अपनी सूरत ही दिखाई देती है दूसरे की नहीं। साहित्य-दर्पण में तो वह अपने साथ दूसरों के चित्र भी देख सकता है। इतना ही नहीं। जिस दर्पण में वह प्रतिदिन अपने चेहरे को देखता है, उसमें अपनी आत्मा को नहीं देख सकता। साहित्य के दर्पण में उसे अपनी आत्मा भी दिखाई देती है। कभी-कभी इतिहासकार इस आत्मा को छोड़ देते हैं, उसका वर्णन नहीं करते। वे केवल मनुष्य के जीवन की विचित्र और मुख्य घटनाओं पर दृष्टि डालते हैं। उनका इतिहास मनुष्य के बाहरी संसार का होता है और उसमें मनुष्य क्या है और वह कहाँ जा रहा है, इसका वर्णन नहीं होता। वे तारीखों और घटनाओं के मसाले को ही सब कुछ समझते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब उस इतिहास के पृष्ठों को हम खोलते हैं तो हमें एक विचित्र और अनहोना संसार दिखाई देता है, जहाँ पर हम अपने आप को नहीं खोज पाते। जिस इतिहास में मनुष्य अपने को न पाये उससे क्या लाभ ? इतिहास जीवन का विराट चित्र होना चाहिये जहाँ मैं भी अपने रूप को देख सकूँ। इस तसवीर में मुझे भी होना चाहिये। यदि इतिहास यहाँ असफल रहता है, तो साहित्य को सफलता अवश्य प्राप्त होती है। साहित्य व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनों का चित्र है और उसमें मनुष्य और समाज दोनो अपने को पहचान सकते हैं। परंतु अब तक मनुष्य अपने इस चित्र को पूरा नहीं कर पाया है। वह उस कलाकार के समान है जो एक सूनसान कोठरी में बैठकर अपनी कला को रचता है। कई चित्र खींचता है;

परंतु उसे उन पर विश्वास नहीं होता। अभी वह अपनी कला से खुश नहीं है। इससे अच्छा चि वह बना सकता है। और अच्छा, और अच्छा, यही उसके हृदय की पुकार है। क्या यह सच चित्र है? क्या कलाकार ने सब बातों का चित्रण कर दिया? नहीं, अभी नहीं। अभी तो संस के बहुत से अंग नहीं दिखाई दिये। परंतु कलाकार प्रयत्न कर रहा है और कभी स ल होगा। साहित्य इसी चित्र का नाम है। यह चित्र अधूरा है। अभी उसमें सारे मानव-जीवन समावेश नहीं है। अभी उसमें बहुत कुछ छूट गया है। कलाकार के पास रंग और 'ब्रश' भी इनकी कमी नहीं। कमी है कलाकार की दृष्टि में। अभी उसे सब कुछ नहीं दिखाई देता। चित्र के पास अदृश्य बैठा हुआ कलाकार कुछ सोच रहा है। जो कुछ उसने देखा, उसे चि किया। सदियों से वह ऐसा करता आया है और करता रहेगा। उसको कोई थकान नहीं। सा इसी चित्र को कहते हैं, क्योंकि इसमें जहाँ तक हो सकता है संसार और जीवन का चित्रण इतिहास घटनाओं पर अवलंबित होने के कारण जीवन को गहरी दृष्टि से नहीं देख सकता। समय हुए जो कुछ हो गया है, इतिहास उसी का वर्णन करता है। जीवन के नाटक में जो लेते हैं वे अपना अभिनय करके चले जाते हैं। कुछ लोग थे जो अपना अभिनय करके गये। इतिहासकार इसकी सूचना देता है। इसका वर्णन करता है। इतिहास को भावों और व्य गत विचारों की परवाह नहीं। प्रत्येक मनुष्य उसके लिए एक बीती हुई घटना है। साहित्य जीवन-नाटक के पात्रों के भावों और दुःख-सुख का वर्णन करता है। इसमें मनुष्य के प्रति सह भूति है। यहीं पर कलाकार सभी से ऊँचा उठ जाता है। कवि, लेखक, कहानी-लेखक नाटककार सब इसी सहानुभूति की शक्ति से जीवन का चित्रण करते हैं। वैज्ञानिक भी जीवन देखता है, जाँचता है और उसकी खोज करता है। परन्तु उसके लिए उसकी प्रयोगशाला ही कुछ है। मनुष्य उसके लिए एक पदार्थ है, वस्तु है जिसको वह जाँचता है। विज्ञान मनुष्य मनुष्यत्व को भूल जाता है। उसे विश्लेषण इतना पसन्द है कि वह जीवन की एकता को भ जाता है। उसमें से ज्ञान निकलकर फूट पड़ता है; परन्तु मानवता के केन्द्र में एकत्रित नहीं होत धर्म मनुष्य को पाप का पुतला ही समझता है। वह मनुष्य से सदैव कहता है—'तू पाप में उत्प हुआ है। तुझे मोक्ष की आवश्यकता है। जीवन के बंधनों को काट। आगे बढ़ और यहाँ म रुक। यह संसार सराय है। तेरा घर कहीं और है। यौवन, भाव, धन, सौंदर्य, सुख झूठे हैं।' इसीलिए मनुष्य अपने को सदा कमज़ोर, कायर और पापी समझता है। उसमें जी की शक्ति का संचार हो ही नहीं पाता। धर्म उसके शरीर को पाप का घिनौना पुतला कहता और उससे कहता है कि तेरा शरीर घृणा ही के योग्य है। मनुष्य गिर जाता है और निर होकर उसमें ऊपर उठने की शक्ति नहीं रहती। धर्म जो मनुष्य का और उसके जीवन चित्रण करता है उसमें हमें कुछ भी नहीं मिलता। यह झूठा और निराश करनेवाला चित्र है साहित्य ही में हमें मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है और उसी में हम अपने आप ढूँढ़ सकते हैं। साहित्य का चित्रण अधूरा हो सकता है; परन्तु बिल्कुल झूठा नहीं हो सकता।

साहित्य में चलने-फिरने की शक्ति है। जर्मन लेखक नोवेलिस ने कहा था—'विचारों भी हाथ-पैर होते हैं। साहित्य यदि जीवन के साथ है तो उसे जीवन की वेग गति के साथ चल है। जहाँ जीवन को रुकने और साँस लेने का अवकाश नहीं, उस संसार में साहित्य भी कभी स्थान पर खड़ा नहीं रह सकता। उसमें आगे बढ़ने की शक्ति है और यह शक्ति उसे जीवन के हा

ही से मिली है। बहती नदी के तेज़ प्रवाह में और गंदे तालाब के बँधे हुए जल में यही अंतर है। तालाब का पानी अपनी सीमा के बाहर नहीं जा सकता। उसमें बहने की शक्ति नहीं है और इसी कारण उसमें काई जम जाती है। नदी अपना रास्ता बन और पहाड़ियों के बीच में से काटती हुई समुद्र की गोद में छिप जाती है। वही उसका लक्ष्य है और वहाँ तक वह पहुँचने का प्रयत्न करती है। जिस साहित्य में जीवन-गति का संचार होता है वह आगे की ओर बढ़ता चला जाता है। वह अपने लक्ष्य की ओर चलेगा, भागेगा, दौड़ेगा। उसे कौन रोक सकता है? जीवन की अमर शक्ति का अंत कभी नहीं होता। मृत्यु पर उस शक्ति का शरीर में अंत हो जाता है; परंतु वह मृत्यु के सकरे द्वार को पार करके आगे बढ़ जाती है। साहित्य की मृत्यु भी ऐसी है। साहित्य की मृत्यु उसकी शक्ति का अंत है। साहित्य की शिथिलता भी जीवन की शिथिलता के कारण प्रायः होती है। यदि जीवन की शक्ति में कमी है तो साहित्य की शक्ति में भी कमी होगी। वही साहित्य शिथिल पड़ जाता है, जिसके विचारों का प्रवाह सूख जाता है। कवि और लेखक के हृदय की सच्चाई जब तक कम नहीं होती, तब तक उनकी कृतियों में जान रहती है। साहित्य जब उन्नति नहीं करता और अपनी असली शक्ति को त्याग देता है तब उसमें मानव-जीवन का चित्रण बड़ा फीका लगता है। उस चित्रण में सच्चाई नहीं होती और उसमें कोई प्रभाव नहीं रहता। यदि कवि अपनी कविता में इस आगे बढ़ते हुए जीवन का वर्णन न करे और केवल पुरानी बातों को दुहराये और केवल भाषा के सौंदर्य ही को सब कुछ समझे तो उसकी कविता ठोस नहीं हो सकती। उसको हम पोच ही कहेंगे और उसमें उथलापन ही होगा। परंतु वही कवि यदि अपने हृदय के अंदर संसार के अनुभव का अनुभव कर सके तो उसकी कविता को प्रत्येक प्राणी स्वीकार करेगा। संसार उसमें अपने अनुभव को देखकर हर्ष से भर जायेगा और कहेगा—'यह सब सच है'। समालोचना की प्रशंसा प्रधान नहीं है। जब मनुष्य का हृदय ही उन्माद से चिल्ला उठे तभी कविता सच्ची है। साहित्य-कला का निर्माण-कर्ता अपने अदृश्य लक्ष्य ही की ओर अपनी दृष्टि गड़ाये रहता है। कला जिस हृदय में जन्म लेती है, उस हृदय का संसार और उसके बाहर का संसार दो अलग-अलग संसार हैं। कलाकार इन्हीं दो संसारों को मिलाता है, उनमें संबंध उत्पन्न करता है और जब वह स्वयं इन दोनो को अपने आप में देखता है और यह भी देखता है कि इन दोनो में क्या संघर्ष हो रहा है, उसे सत्य का अनुभव होता है और वह एक अदृश्य भय और आनंद से काँप उठता है। अपने में बाह्य संसार का समावेश करना और फिर कला के निर्माण के लिए उसे दूर खड़े होकर चित्रित करना लेखक और कवि का काम है। यदि कवि किसी और के भावों (अपने भावों का नहीं) का वर्णन करता है तो उस समय वह अपने अस्तित्व को भूल जाता है और उस व्यक्ति की तरह होने का प्रयत्न करता है। अपने में उस व्यक्ति के भावों का अनुभव करता है। और उनका वर्णन करता है। कल्पना-शक्ति की सहायता से कवि अपने विषय के लिए सहानभूति उत्पन्न करता है। कोई कला क्यों न हो, सबमें इस सहानुभूति का होना ज़रूरी है। इसके कारण हृदय हृदय को पहचानता है; आत्मा आत्मा को पुकारती है और एक जीवन दूसरे जीवन में डूब जाता है। जिस लेखक या कवि में यह गहरी सहानुभूति नहीं होती वह अपने पात्रों का वर्णन करने में सफल नहीं होता क्योंकि वह उनको दूर ही से देखता है और उन्हें मनुष्यत्व की पदवी से नीचे गिरा देता है। उसके लिए वे सब बेजान कठपुतलियाँ हैं, जिन्हें वह जैसा चाहता है, वैसे नचाता है।

साहित्य कभी-कभी एक कल्पित संसार की ओर इतना झुक जाता है कि यथार्थता
भूल जाता है। वह एक दूसरा झूठा संसार हमारे आगे खड़ा कर देता है, जिसका अनुभव हमें
जीवन में नहीं होता। यह जभी होता है, जब साहित्य जीवन की यथार्थता से भागता है
उसका सामना नहीं कर पाता। एक झूठे कल्पित संसार को खड़ा करके यदि औपन्यासिक चाहे
जीवन का वर्णन करे तो यह कभी नहीं हो सकता। कल्पना-शक्ति से औपन्यासिक अपने
न्यास के पात्रों की सृष्टि करता है। उन्हें वह इस शक्ति के द्वारा मानो किसी अदृश्य स्थान
निकाल लाता है और वे सब यथायोग्य जीवन-नाटक में अपना-अपना अभिनय करते हैं।
इसी संसार के ; परंतु एकाएक हम उन्हें पहचान नहीं सकते। ज्यों-ज्यों हम उनके जीवन में
जाते हैं और जैसे-जैसे हम उनके संसार में प्रवेश करते हैं, उन्हें अपनाने लगते हैं, क्यों
भी हमारे समान मांस और रुधिर के बने हुए मनुष्य हैं और उनमें हमारी भावनायें, विचार
इच्छायें मिलती हैं। औपन्यासिक कल्पना-शक्ति के द्वारा ही एक ऐसा चित्र हमारे सामने
रख देता है जिसे हम झूठा नहीं कहते। परन्तु एक दूसरा उपन्यासकार ऐसा नहीं करता।
हमारी आँखों के आगे एक झूठा चित्र रखता है जिसे हम अपनी बुद्धि के अनुसार सच
समझते हैं। उसके पात्र इस संसार के नहीं हैं। उनमें और उनके जीवन में हम अपने जीवन
नहीं पाते। वे केवल कल्पना के गढ़े हुए पुतले हैं जिनमें मानवता का चिन्ह भी नहीं
एक दूसरे प्रकार का कल्पित संसार भी उपन्यासकार हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता
यह वह संसार है, जिसमें हम सदैव रहना चाहते हैं और जिसको हम अपना आदर्श सं
समझते हैं। इसमें दुःख-सुख, वेदना, अन्याय, कठोरता, पाखंड, द्वेष, पाप, लूट-मार, जी
का युद्ध और उसका परिवर्त्तन सब हैं। यह हमारा संसार है और इसी में हम रहते है
इसी की रचना ईश्वर ने बहुत समय पहले की थी। हम इसे पहचानते हैं, इसमें कोई शं
नहीं। उपन्यासकार दिखाता है कि मनुष्य दारुण दुःख से मर्माहत होता है और अपने ग
घावों को बार-बार देखकर दुःखी होता है। दुःख का अंश जीवन में अधिकता से है। मनुष्य
प्रकार की वेदना सहता है ; परन्तु उसे इसके बदले और दुःख दिया जाता है। अन्याय स
संसार में है। मनुष्य न्याय करना जानता ही नहीं। एक दूसरे का गला घोंटता है और दि
दहाड़े धोखा देता है ; परन्तु इन बातों का कोई अन्त नहीं। ये बातें संसार में सदैव होती चली आ
हैं। अन्याय सब जगह राज्य करता है। इतना कहकर उपन्यासकार अपनी कहानी के अन्त में ए
दूसरे निर्णय पर पहुँचता है। नायक और नायिका जीवन भर दुःख सहते हैं ; परन्तु अन्त में उ
सुख मिलता है और वे उसके पश्चात आनन्द से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। नायक औ
नायिका पर घोर अन्याय किया जाता है। कोई कठोर व्यक्ति उन पर अन्याय करने पर तुला हुआ
और यही प्रयत्न करता है कि उन्हें सताये और उनकी आत्माओं को गहरी-गहरी चोटें पहुँचायें
परन्तु अन्त में अन्याय करनेवाला अपने पाप का मज़ा चखता है और जिन पर अन्याय किया ग
है, उन्हें धैर्य के मीठे फल मिलते हैं। जो उपन्यासकार अपने उपन्यास के अंत में इस प्रकार अप
पात्रों को इनाम बाँटता है वह जान-बूझकर यह दिखाता है कि संसार में पाप का फल मिलत
है और न्याय सदैव जीवन की रक्षा करता है। अंग्रेज़ी के बड़े उपन्यासकार डिकिन्स ऐसे चित्र
में निपुण था। उसके उपन्यास कभी दुःखान्त नहीं होते। उनका अंत सुख और न्याय
होता है। कोई अदृश्य शक्ति पापियों और अन्याय करनेवालों को अन्त में सज़ा देती है औ

धैर्यवान और अन्याय सहनेवालों को इनाम। जीवन में मानो ऐसा सदैव होता है। बुराई का फल बुरा होगा और भलाई का फल अच्छा। जब उपन्यासकार ऐसे संसार को असली समझता है और हमसे कहता है कि उसपर विश्वास करो, तो हमें शंका होती है। हमारे प्रतिदिन के जीवन का अनुभव ऐसा नहीं है। यह तो बड़ा सुन्दर और सुहावना संसार है, जिसमें दुःख और अन्याय इतने कम हो गये हैं। क्या ऐसा होता है ? क्या हम प्रतिदिन यह नहीं देखते कि ग़रीब आदमी मैले चिथड़ों और सूखी रोटियों पर ही अपना जीवन काट देता है ? क्या हमें समाज में वे लोग नहीं दिखाई देते, जिन्हें जीवन भर भूखा और प्यासा ही रहना पड़ता है ? प्रतिदिन दुःख सहनेवाला दुःख की प्रतीक्षा करता है। उसका दुःख कम नहीं होता। कहाँ है जीवन में न्याय ? पाप क्या अपना फल सदा भोगता है ? कितना घोर पाप चारो ओर है ! कितने जीवन उसके बोझ से दबे पड़े हैं ! वे ऊपर उठ ही नहीं सकते। सैकड़ों स्त्रियाँ इसके आगे अपने जीवन को बलिदान कर चुकी हैं और अपने को नष्ट कर चुकी हैं। समाज उनको पाप के गड़हे में ढकेलकर चुपचाप बैठा है। कहाँ है उनके लिए न्याय ? दृष्टि उठाकर देखो दुनिया कैसी विचित्र लगती है। धर्म की आड़ में शिकार खेलनेवाला प्रतिदिन फलता-फूलता है। परन्तु धर्म का सच्चा उपासक दुःख में जीवन व्यतीत करता है और उसे कोई नहीं पूछता। छली, कपटी और धोखेबाज़ रोज़ उन्नति करते हैं और उसके उच्च शिखर पर विराजमान होते हैं। परन्तु सीधे-सादे, शुद्ध हृदयवाले अन्धकार में जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ समझ में नहीं आता कि उपन्यासकार कैसे अपने उपन्यास में ऐसे संसार की कल्पना करता है जो झूठा है और जिसाक अस्तित्व नहीं है। क्या यह वर्णन ठीक है ? क्या संसार ऐसा ही है ? यहाँ पर साहित्य-कला जीवन से दूर हो जाती है। यहाँ पर साहित्य का वर्णन और जीवन की यथार्थता में अन्तर है। उन्नीसवीं शताब्दी में टौमस हार्डी ऐसे अंग्रेज़ी उपन्यासकार ने इस झूठ को अपनी कृतियों में साबित किया। हार्डी की कला पर रूसी उपन्यासों की छाप पड़ चुकी थी। वह निडर होकर जीवन का वर्णन करने लगा। उसके 'टैस', 'जूड दी ऑब्सक्योर', 'रिटर्न आफ़ दी नेटिव' ऐसे उपन्यासों को पढ़कर हमें जीवन का दूसरा और सच्चा पहलू दिखाई देता है। उसने जीवन का सामना किया और उसके दुःखों से मुँह नहीं मोड़ा। निराशावाद कहकर टाल देना ठीक नहीं। हार्डी का जीवन-चित्रण सच्चा था। उसने रूसी उपन्यासकारों से यह बात सीखी। वह क्रांतिकारी उपन्यासकार था और उसने उपन्यास को सच्ची दृष्टि प्रदान की। यही तो जीवन है, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम निराश हो जायँ। उपन्यासकार जैसा देखता है वैसा वर्णन करता है, उसे सारे संसार के सम्मुख खड़े होकर अपने चित्र को दिखाना है, किसी विशेष जनता को नहीं। यदि कोई कहे कि जीवन के दुःख और उसके अन्याय का वर्णन करने से क्या लाभ जब इनसे मनुष्य दुःखी होता है तो इसका उत्तर यह है कि सच्चा कलाकार—उपन्यासकार, कवि या नाटककार—वही है जो इन सबका वर्णन करके एक नये जीवन का वर्णन करता है। वह जीवन की कुरूपता का वर्णन करके जीवन को और घिनौना नहीं बनाता। यूरोप के उपन्यासकारों में टॉलस्टाय और डोस्टोवस्की से बड़ा और कोई नहीं है। डोस्टोवस्की को सबसे ऊँचा स्थान मिलेगा। उसके 'दी पज़ैस्ड', 'क्राइम ऐंड पनिशमैंट', 'ईडियट', 'ब्रदर्स कारामज़ाव' ऐसे उपन्यासों को पढ़कर हमें मालूम होगा कि उपन्यास दुःख और वेदना का वर्णन करके हमें सच्चे सुख—आध्यात्मिक शांति की ओर ले जा सकता है। साहित्य जीवन का दिग्दर्शन कराके जीवन का सत्य समझाता है। उसके वर्णन में

'मनुष्य' है जो एक-सा रहता है और जिसकी आत्मा अमर है।

यदि साहित्य जीवन का वर्णन है तो इसका अर्थ हम यह न समझें कि यह केवल व
ही वर्णन है जिसमें न तो कुछ छोड़ा गया है और न कुछ बढ़ाया गया है। यह किसी समाच
पत्र के 'रिपोर्टर' का वर्णन नहीं है। किसी अंग्रेज़ी लेखक ने ठीक लिखा है 'It is not
photographer's photo but an artist's painting.' (वह तस्वीर खींचने
की खींची हुई तस्वीर नहीं है ; परंतु कलाकार का चित्रण है।) कलाकार, कोई क्यों
हो—उपन्यासकार या कवि या नाटककार—अपनी कला में जीवन को ऐसा ही दिख
है जैसा वह उसे अपनी दृष्टि से देखता है। हमें उसकी दृष्टि पहचानने की आवश्य
है। हम अपनी दृष्टि से उसे देखते हैं और इसी कारण हम कभी-कभी उसे नहीं स
पाते। यदि कलाकार ऊँची श्रेणी का है तो वह हमें अपनी ही दृष्टि से सब कुछ दि
देगा। सच्चा कलाकार सारे संसार के लिए दृष्टि रखता है। होमर, शेक्सपियर, गेटे, गीता, ब
विल, कालिदास, महाभारत—इन सबमें इस सर्वव्यापी दृष्टि का समावेश है। यदि साहित्य जी
के साथ है तो उसमें जीवन का चित्रण करने की और उसको ऊँचा करने की शक्ति अवश्य हो
चाहिये ; परन्तु उपदेश से नहीं। यदि कवि अपनी कविता में किसी मुख्य विचार का प्रचार
तो उसकी कविता में उपदेशक की ठूँस-ठाँस दिखाई देती है। यदि नाटक रचनेवाला
नाटकों को उपदेश का मंच बना ले तो उसके नाटकों में जीवन की यथार्थता न होगी। सा
कला का निर्माण सच्चाई ही से हो सकता है। कला की भाषा में झूठ नहीं होना चाहिये। बह
देकर मानव-हृदय को भ्रम के पिंजरे में बंद करके कला सफल नहीं हो सकती। साहित्य जी
का वर्णन करके उसके अर्थ को समझाता है। आनंद ही केवल साहित्य का अंश नहीं है। सा
में पुष्ट करनेवाली शक्ति भी है और जीवन के अंधकार को दूर करनेवाली ज्योति भी है।
देशक प्रत्यक्ष रूप से उपदेश करता है; परंतु उपन्यासकार परोक्ष रूप से। परंतु वह उपदेश नहीं
वह है आत्म-ज्ञान, जीवन ज्ञान और संसार-चित्रण। साहित्य भूत और वर्त्तमान का चित्रण क
भविष्य का पथ-प्रदर्शक बनता है। साहित्य का प्रत्येक ऊँचा कलाकार अपनी कला में स
और संसार को समेट लेता है। वह जीवन से भागता नहीं ; परन्तु उसे समेटता है और ऊँ
उठाता है। यही उसका ध्येय है।

पटना।

दोपहर का सर्वनाश

[बलराज साहनी]

[श्री बलराज साहनी पंजाब के एक नवयुवक हैं। युवकोचित स्फूर्ति आपकी रचनाओं में सर्वत्र मिलेगी। आपने पंजाब तथा काश्मीर के कुछ बड़े सफल और सरस चित्र उपस्थित किये हैं और प्रस्तुत यह चित्र भी, पाठक देखेंगे, कितना मधुर है। आजकल आप कुछ समय के लिए शांतिनिकेतन में निवास कर रहे हैं। —सं०]

एक बात में हम लोग शेर हैं। हवाई जहाज़ बनाने में नहीं, टेलीफोन या वायरलैस बनाने में नहीं, गप्पें हाँकने में। तेरहवीं सदी में लिखता हुआ चीनी उपन्यासकार शी-नै-एन इस पूरबी प्रवृत्ति का ख़ूब व्यवच्छेद करता है—

'जो वस्तु मुझे सबसे ज़्यादह आनन्द देती है वह है अपने दोस्तों के साथ बैठकर गोष्ठी करना। यदि मेरे दोस्त मेरे घर पर केवल इस कारण न आ सकें कि हवा तेज़ थी या बारिश की वजह से ज़मीन लथ-पथ हो रही थी या उनकी तबीयत नासाज़ थी, तो मेरे दिल में चोट पहुँचती है। अपना एकान्त मुझसे सहा नहीं जाता...

'मेरे मित्र सभी उदारचित्त अथवा सुशिक्षित हैं; किन्तु फिर भी हमने अपने बहुमूल्य वार्तालाप की कभी लेख-स्मृति रखने की चेष्टा नहीं की। क्यों?

(१) क्योंकि हम आलसी हैं और हमें यशस्वी बनने की कोई अभिलाषा नहीं।

(२) बातें करना सुखप्रद होता है, लिखना संकट।

(३) मरने के बाद तो हम अपनी लिखाई को पढ़ नहीं सकते, फिर लेख-स्मृति रखने से फायदा क्या?

(४) जो कुछ हम आज लिखें वह शायद अगले साल हमें एकदम निकम्मा मालूम हो!...'

लेकिन शायद तर्क-प्रिय पाठक यह पूछ बैठें कि यदि यह बात थी तो शी-नै-एन

उपन्यासकार कैसे बन गया ? इसका भी वह खूब जवाब देता है—मैं यह नावल इसलि... लिखता हूँ कि—

(१) जब मेरे मित्र न आ सकें, तो मेरा समय कट जाय।

(२) यह कहानी तो एक चूं-चूं का मुरब्बा है जो मुझे कभी शोहरत ... दिला सकती।

कितना दुर्लभ स्पष्टवाद ! लेकिन ईश्वर जाने हमारे नौनीतराय को इस फ़िलास... क्यों चिढ़ है ? भूतग्रस्त की तरह अपनी रिसर्च-पुस्तकों के थैले उठाये रेलवे-स्टेशनों पर टिका... फिरता है। आज इस शहर में है तो कल उससे चार सौ मील परे। क्षण भर के लिए नि... रहना उसे असह्य है। उसके विचार में प्राचीन आर्य-सभ्यता की कुंजी उसके पास है अब ... ताले का सूराख़ टटोलना बाक़ी रह गया है। इसी के लिए उसने अपना जीवन दान दे डाल... गौरव समझा है।

जहाँ पहुँचता है बेचारा पहले कुछ दिन खूब चुस्ती से काम करता है। फ़ैसला कर... है कि जीवन के बाक़ी दिन वहीं गुज़ारेगा। फिर देखता है कि वहाँ के लोग उसे ऊत समझते हैं, इसलिए कुछ-कुछ उनके नज़दीक जाने की कोशिश करता है। नज़दीक पहुँचा नहीं कि उसी बवंडर में। वह गप्पमंडली जमती है कि थमने में नहीं आती। सुसंस्कृत होने के ... बेचारा किसी को कुछ कहता नहीं, केवल संकेत करता है। लेकिन भला संकेतों से इस दे... क्या होता है ? आख़िर दो-एक महीने के बाद किताबें उठाकर फिर चलता-फिरता नज़र आता...

ईश्वर जाने वह अपनी पढ़ाई-लिखाई को क्यों इतनी अहमियत देता है। आ... पाश्चात्यों ने कर्मशील होकर क्या बना लिया ? बम और ज़हरीली गैसें ही न ? जिस आ... पूरब का ख़ून चूलकर उन्होंने अपनी सभ्यता खड़ी की, वह अब भी कई दर्जे उनसे ज़्यादा स... है। गोष्ठी-सुख एक ऐसी कला है जो यदि पश्चिम हमसे सीख लेता तो सुखी हो जाता।

आजकल नौनीत बनारस में है। अच्छे चालीस दिन लगाकर उसने व्याकरण अ... बौद्ध धर्म का परिचय हासिल करने के लिए बड़े-बड़े पण्डितों व महामहोपाध्यायों से मदद ली ... बल्कि एक चीनी भिक्षु से चीनी भाषा के भी कुछ अक्षर सीखे हैं। किन्तु आज इकतालीस... दिन है।

हिन्दू यूनीवर्सिटी के ही एक हॉस्टल में वह कयाम रखता है। आज पाकशाला... दोपहर का खाना खाकर लौट रहा था कि एक परिचित व्यक्ति उसे खींचकर अपने कमरे में ... गया। वहाँ एक अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर के साथ कुछ नवयुवकों की पश्चिमी अथवा भारतीय संगीत ... विषय में बहस हो रही थी। एक घंटा इस बहस में बक-झक कर चुकने के पश्चात् नौनीत... सोचा—यह मैं क्या कर रहा हूँ ? और भागा। लेकिन किस्मत इतने सस्ते में कहाँ छोड़ती ! ... बाहर बूँदें पड़ रही थीं। कुछ दूर चलकर उसने संयोग-वश पीछे मुड़कर देखा तो क्या देखता ... कि बहस-कारियों में से एक महाशय एक हाथ से धोती थामे और दूसरे में छाता लिये बढ़ते ... आ रहे हैं। नौनीत ने अपने कदम तेज़ किये और फ़ैसला किया कि सड़क का मोड़ लाँघ... दौड़ना शुरू कर दूँगा। लेकिन यकायक पीछे से आवाज़ पड़ी—

'अरे भाई ठहरो, छाते के नीचे आ जाओ।'

नौनीत ने आँखें बंद कर, विधाता का स्मरण कर, अपने आप को सुपुर्द कर दि...

इतनी दलील से किये गये प्रस्ताव को कैसे अस्वीकार कर सकता था ? इकट्ठे दोनो नौनीत के हॉस्टल तक पहुँचे। धन्यवाद कहके जब नौनीत बरामदे में आया और कमरे का ताला खोलने लगा तो देखा कि बाबू अब भी वाटिका में खड़े हैं। सर्वनाश ! शिष्टाचार से प्रेरित होकर नौनीत ने कहा—आइये, अन्दर आजाइये ?

अभ्यागत ने हँसते-हँसते इन्कार किया—नहीं, नहीं, आपका आराम करने का समय होगा ; किन्तु उसकी आँखों से स्पष्ट था कि बैठकर दो बातें कर लेने में उसे तनिक भी आपत्ति न होगी।

चुनाँचे वही हुआ जिसका नौनीत को डर था। अभ्यागत ने कुर्सी पर चौकड़ी जमाकर बातचीत शुरू की—

'मेरा नाम नलिनीकान्त सेन है, आपका शुभ नाम ?'

'नौनीत।'

'ओह नौनीत'—बंगाली बाबू ने तसल्ली से दुहराया। फिर एक क्षण सोचकर, 'आपका चेहरा हामरे एक काश्मीरी मित्र से बहुत मिलता-जुलता है।'

'अच्छा आप काश्मीर देख आये हैं !'—नौनीत ने कुछ कहने के लिए कहा।

'ओह हमने काश्मीर बहुत देखा। तीन महीने उधर ठहरा। पहलगाम, पंचतरनी, अमरनाथ, खीर भवानी, मानस बल, सब देखा है। आप अमरनाथ गिया है ?'

'नहीं, मैं पंचतरनी तक गया फिर बीमार हो जाने के कारण लौटना पड़ा।'—नौनीत जानता था कि वह झूठ बक रहा है। वास्तव में उसने अमरनाथ जाने का कभी इरादा भी नहीं किया। किन्तु उसकी सफ़री तबीयत की धूम थी। वह फैसला न कर सका कि सच बोलना ठीक रहेगा या झूठ। वास्तव में ऐसे असमंजस की ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि नौनीत क्या कह रहा है या नहीं कह रहा है, नलिनीकान्त को इससे प्रयोजन नहीं था।

'ओह, हामें काश्मीर कभी भूलने नहीं सकता। जबसे हमने आपको देखा है हमको लगातार काश्मीर आँखों के सामने दीखता है। आपका शकल हामरे एक दोस्त प्रेमनाथ काक से बहुत मिलता है। प्रेमनाथ काक को जानता है आप ?'

'नहीं, मेरा यह सौभाग्य नहीं हुआ'—नौनीत ने थके हुए अन्दाज़ से घड़ी की ओर देखते हुए कहा।

लेकिन निशाना ठीक नहीं बैठा। कुर्सी पर वीरासन लगाकर नलिनीकान्त अजीब अदा से छत की ओर देखता हुआ सिर हिला रहा था—काश्मीर ! हामें काश्मीर नहीं भूलने सकता। फिर एकदम चौकन्ना होकर—आपने मानस बल देखा है ?

'हाँ'—नौनीत ने फिर एक झूठ टिका दिया। उसे डर था कि 'नहीं' कहने पर कहीं मानस बल का चित्रण आरंभ न हो जाये।

'हामरे वास्ते वह एक हिस्ट्री हो गया है। वह हिस्ट्री सुनोगे ?'—नलिनीकान्त ने एक ठण्डा साँस भरते हुए पूछा। 'बेशक'—नौनीत ने एक ठण्डा साँस भरते हुए जवाब दिया। 'हि-हि-हि-हि-हि-हि, वैसे तो कुछ भी नहीं है। ऐसा बात रोज़ होता है। हाम, प्रेमनाथ काक—जिसका शक्ल आपके साथ मिलता है—और दो ठो और काश्मीरी मित्र खीर भवानी का मन्दिर देखने गया था। उन दिनों में हिन्दु-मुसल्मान के दंगे का जोर था। जब हम खीर भवानी पहुँचता था

हंस

तो एक दम से सायंकाल हो गया। हामरा को उधर पता लगा कि मानस बल वहाँ से पाँच मील है। हम सोचा कि बाबा जिन्दगी का तो कुछ भरोसा नहीं है। ईश्वर जानता है फिर कभी ए-रकम देश में आना होगा या नहीं होगा, फिर अच्छा है यदि मानस बल देखकर वापस लौटा जाये। किन्तु हामरा मित्र तो राज़ी था नहीं। पर हम सोचा हम अकेला ही जायेगा, कुछ पर्वाह नहीं। हाम बंगाली है, इस वास्ते कोई हमें किस वास्ते छेड़ेगा? सो हमने एक पाव मिठाई अपना रूमाल में बाँध लिया और चल पड़ा।

'चलता गया, चलता गया। मौसम अच्छा था और दृश्य मनोहर था। किन्तु मानस बल के एक मील इस तरफ़ ही सायंकाल गम्भीर होना शुरू हो गया। सड़क एकदम निर्जन था, और दूर का पहाड़ भी एकदम निकट और भयानक स्वप्न की तरह छाती पर बैठता था। बंगाली में adventure का स्पिरिट बहुत होता है; किन्तु बाबा ऐसा समय में बड़े-बड़े शूरवीर का मन घबड़ा जाता है। अपना देश से दो हजार मील का दूरी पर—हैं?—एकदम से अकेला, और फिर ऐसा देश में जिधर पहले से छुरी चलता है, घबड़ा जाता है कि नहीं? हर क्षण हम दायें-बायें देखता था, कभी कोई पंछी पेड़ को छोड़कर उड़ता था तो हामरा शरीर सिर से पैर तक सन्न हो जाता था। लेकिन हाम रुका नहीं, चलता गया। आख़िर हमरा को अपनी ढिठाई का फल मिल गया। जिस बात का डर था वही हुआ। हमरा को अकेला देखकर एक काश्मीरी मुसल्मान छुरे की किसम का हथियार हाथ में लिये चुपके से एक खेत की आड़ में से निकला और हामरे पीछे हो गया। पहले तो हामरी टाँग में पानी पड़ गया फिर हम सोचा कि अब ठहरने से काम नहीं चलेगा। हम तेज हो गिया—जैसा नौनीत भाई तुम आज हमको देखकर तेज हो गिया था, हि-हि-हि— लेकिन अपांग दृष्टि से हमने देखा कि वह भी तेज हो गिया है। हमने और भी तेज चलने की कोशिश की; किन्तु क्या फ़ायदा था, वह तो यमराज की तरह हम पर झपटता आ रहा था। कुछ पूछो मत भाई, जो हमरा साथ उस समय में गुज़रा, अपना माता याद आया, अपना सारा जीवन आँखों के सामने घूम गया। फिर सोचा कि नहीं, बग़ैर बचाव करने के मरना अच्छा नहीं। बग़ल में हमको एक टीला दिखाई दिया। वह लाल टीला आपने देखा है न?'

'हाँ'—नौनीत ने एक और झूठ सर्जित किया। उसे नलिनीकान्त की जान का इतना फ़िकर नहीं हो रहा था जितना उसकी जरंह का।

'हाम भागकर उस टीले पर चढ़ गया। वह भी पीछे आया। अब हामरे को विश्वास था कि वह हमें छोड़ेगा नहीं। हम सोचा हम ऊपर से उस पर पत्थर फेंकेगा। यदि फिर और मुसल्मान आ गया तो हाम लड़ते-लड़ते प्राण दे देगा।'

'शाब्बाश, ठीक है।'

'किन्तु चोटी पर पहुँचके हमने देखा कि पत्थर तो छोड़ो वहाँ पर मुट्ठी भरने के वास्ते मिट्टी भी नहीं है। कोई पेड़ भी नहीं कि हम लकड़ी काट सकता। हाम हताश होकर पृथवी पर बैठ गया। उस हत्यारे का एक-एक कदम हामरा छाती में चार-चार मुक्का मारता था। आख़िर वह हामरे सिर पर आकर खड़ा हो गया। जब बत्ती बुझने लगता है, तो एक बार ऊपर को उठता है। हम जोर से बोला—

'क्या है?'

'वह कहता है—सलाम बाबू, पैसा।'

यह कहकर नलिनीकान्त बाबू कुछ क्षण के लिए ऐसे हँसा जैसे किसी ने पीछे से आकर उसे गुदगुदी कर दी हो—

'क्या करेगा पैसा को?'

'तम्बाकू लेगा'

'हामने उसे एक आना निकालकर दिया। कुछ देर हाम उस पाजी की तरफ़ रुमाल मुँह पर रखकर देखता रहा। जब चला गया तब हामने मुख पोंछा और देखा कि मानस बल झील भी सामने ही नज़र आता है। झील अभी दूर था; किन्तु हामरे मन का अवस्था कुछ ऐसा था कि वहीं से देखना हामको काफ़ी मालूम हुआ। और साथ में दृश्य सचमुच नज़दीक से ऐसा सुन्दर होने नहीं सकता था। पूर्णिमा का चाँद बादलों में से निकल-छिपकर रहा था, और अस्ताचल का एक चौड़ा अन्तिम किरन बादलों को काटता हुआ पानी में पड़ रहा था। बहुत सुन्दर था। उधर हम बहुत देर बैठा रहा। जब उठा तो एकदम से रात हो चुका था।

'हामरा किस्मत! जब वापस लौटा तो रास्ता भूल गया। एक घण्टा भर इधर से उधर भटककर हम देखा कि अब वापस जाना हो नहीं सकता है। एकदम निराश होकर हम एक खेत के किनारे बैठ गया और अपने भाग्य पर रोने लगा।

'कुछ देर के बाद जब हमने सिर उठाया तो देखा कि एक काश्मीरी छोकरी खेत में कुछ काम कर रही है। हाम उसके नज़दीक जाकर बैठ गया। ईश्वर जाने हमको ऐसा प्रतीत हुआ जैसा कि हम अपने एक चिर-परिचित बन्धु के पास आ गया है।

'पता नहीं आपने भी ऐसा अनुभव किया है या नहीं; किन्तु हमारा यह विश्वास है कि जिस स्थान के साथ, जिस वस्तु के साथ, या जिस व्यक्ति के साथ, हमारा विशेष संबन्ध भविष्य में होना है, उसके साथ पहली दृष्टि पड़ते ही एक अद्भुत आकर्षण हो जाता है, जैसे हाम उसकी इन्तज़ार ही में था। टामस हार्डी की पुस्तक टैस में भी ऐसा ही होता है न। एन्जल क्लेयर टैस के साथ साधारण एक-दो बात करके चला जाता है; किन्तु यह घटना दोनो के हृदय में एक विचित्र मिलन-सुख दे जाता है। आपने टैस पढ़ा है न?'

'हाँ'—इस बार नौनीत ने सच कहा। वह बाबू के मानस बल से लौटने पर आश्वस्त था।

'हामने छोकरी को धीरे से कहा—देखो कुड़ी, हामको इधर रात हो गया है। हम परदेसी हैं। हाम बहुत दूर कलकत्ते से आया है। बताओ हाम क्या करेगा?

'पहले तो वह कुछ बोला नहीं। ऐसा एक बार हामरी तरफ़ देखा फिर अपना काम में लग गया। वह बहुत सुन्दर था। कपोल का इतना गोल लाइन हमने कभी देखा नहीं है।'

यह कहते हुए नलिनीकान्त ने पलक मारकर हँस दिया, इसलिए कि नौनीत से उसका परिचय नया था, अतः वह शायद कहीं उसकी कहानी का वास्तविक अर्थ न समझकर। बुरा न मानने लगे। नौनीत को यह सादगी अच्छी लगी। भिन्न प्रान्तों के लोग कई बार उल्टे इशारों से सीधा मतलब भी निकाल लेते हैं।

'हामने फिर कहा उसको—'देखो कुड़ी, हाम तुमरा देस में आया है, तुम्हारा धर्म है हामरा मदद करना। तुम हामरे देश में आओ तो हम तुमरे वास्ते सब कुछ करेगा, कि नहीं करेगा?

'इसका भी कुछ असर हुआ नहीं। वह चुपचाप अपना काम करता गया। हम बोला—बहुत अच्छा ! हम अब किधर जाने सकता नहीं सो इधर ही बैठेगा, और क्या करेगा।

'इस पर वह हामरे पास आकर खड़ा हो गया। हामरी ओर देखता रहा। ईश्वर जाने वह क्या सोचता था ? फिर बोला—अच्छा, हामरे साथ आओ।

'हम उठा और उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। उसने हमें बताया कि उसका मा-बाप मर चुका था और वह अपने दो भाई के पास रहता था। हामने सोचा शायद उसके साथ-साथ चलने से कोई बुरा मनायेगा, इसलिए कुछ दूर पीछे-पीछे चला। इस समय चन्द्रमा बहुत सुन्दर निकल आया था। धान के खेत में कुछ लाल फूल खिल रहा था, जो बहुत भला था। ठण्डी इतना था कि जो मिट्टी हमरे पैर रखने से उठता था वह भी हमरी टाँगों को ठण्डा लगता था। खैर, आखिर हम उसके घर में पहुँचा। उस छोकरी का—क्या बोलता है उसको ? हाँ—भाबी, भाबी दालान में बैठा खाना पकाता था। हमरे को देखकर वह कश्मीरी भाषा में बहुत कुछ बोला। किन्तु छोकरी उत्तर में कुछ बोला नहीं, केवल हामरी ओर देखकर मुस्किराता रहा। हमने माई को बोला—माई, हम भूखा है। कलकत्ते से आया है। बहिन ने हामरा बात सुना है। तुम हामरी अम्मा के समान है। हम शकाल में चला जायेगा। वह चुप हो गया। हम एक कोने में सिमटकर बैठ गया।

'इतनी देर में छोकरी का दोनो भाई भी आ गया, खूँबा ऊँचा लंबा था वह। हम सोचा कि यदि इस समय इनको सन्तुष्ट करेगा नहीं, हम तो ये मुसलमान लोग आज भात के स्थान पर हामरा को खायेगा। हम बहुत डर गया था भाई। वह हमें देखकर बहुत हैरान हुआ और माई से झपटने लगा। माई ने बताया कि छोकरी हमें लाया। फिर वह बहुत जोर से छोकरी को गालियाँ देने लगा। अब हम सोचा कि काम बिल्कुल ख़राब हो गया। किन्तु एकदम से हमने सुना कि छोकरी हिन्दुस्तानी में उनको कह रहा है—हम जिसको मर्जी होगा इधर लायेगा। हम बिलकुल ठीक किया है। हमें उसका यह बात बहुत अच्छा लगा। हमरा अपना पढ़ा-लिखा छोकरी में तो कुछ होता नहीं है। They have no back bone।

'दोनो भाई हामरी तरफ आया। अब हामरा में भी कुछ जान आ गया था। हम बोला—देखो लाला, बैठो, इधर हामरे पास बैठो। सुनो हामरा बात। वह उधर चन्द्रमा देखता है कि नहीं। वह हामरे वास्ते भी है कि केवल तुमरा वास्ते है ? और देखो, यह हामरा हाथ है तुमरा भी वैसा ही हाथ है। है कि नहीं ? हामरे अन्दर भी खून है, तुमरे अन्दर भी खून है है कि नहीं ?

'अन्त में वह बोला—है। हि-हि-हि-हि-हि-हि।'

इस दौरान में नलिनीकान्त ने नौनीत का हाथ पकड़ लिया था। वह अब छोड़ दिया।

'फिर हम बोला—खुदा एक है। तुम उसको अल्लाह बोलता है। हम उसको राम बोलता है। चीज़ तो दोनो एक है। हम बहुत दूर कलकत्ता से आया है और इधर हमको रात हो गया है। बहिन हमको मेहरबानी से इधर लाया है तो इसमें क्या नुकसान है ? शकाल में हम चला जायेगा।

'गाँव का लोग एकदम सरल होता है। उसने हामरी दलील का कोई जवाब नहीं दिया। कहने लगा—अच्छा, तुम भात खायेगा या रोटी ?

'इस पर हमें बहुत चिन्ता हुआ। मुसलमान के घर का भात खाने को हामरा जी नहीं करता था; किन्तु हम सोचा कि इतना बड़ा लैकचर दिया है, अब हम कैसे इन्कार कर सकता है। सो लड़की हामरे वास्ते रोटी लाया। हमने खा लिया। हमने उनको मिठाई दिया, उसने खा लिया।

'खाने के बाद भाई लोग सोया नहीं। हमने सोचा था कि उसी से एक आध कम्बल माँगकर दालान में पड़ रहेगा; किन्तु हमें मालूम हुआ कि वह रात को आट पर जाता है। आपने आट देखा होगा ?

'नहीं'—नौनीत बोला।

'आट एक प्रकार का चक्की होता है जिसमें पानी के ज़ोर से चक्की पीसता है। अरे बाप रे, बड़ा शोर होता है उसका। भाई लोग बोला—चलो तुम भी आट पर चलो। हमने बोला—अच्छा। वह आगे चला हम पीछे। दरवाज़े के पास पहुँचा तो छोकरी हमारे पास धीरे से आकर बोला—मत जाओ।

'इसके बाद हामरा जाने का एकदम मर्जी नहीं था; किन्तु विवश था। हम घबराहट से कुछ बोला नहीं, आगे बढ़ा।

'आट के एक कोने में हमको लेट जाने का आदेश हुआ। किन्तु वहाँ का शोर, उछल-कर आता हुआ आटे का पौडर, और साथ में छोकरी का सन्देश, हमको रह-रहकर सताता था। हमने सोचा कि शायद भाई-लोग का इरादा बुरा हो इसीलिए लड़की ने हमें अनुबोध किया है ? हामरे पास एक घड़ी था और कुछ रुपया था, वह हमने धोती में ठीक से बाँध लिया और फिर सोने की चेष्टा की। लेकिन नींद नहीं था। 'मत जाओ,' 'मत जाओ' यही शब्द दिमाग़ में आता था। आख़िर हम उठा, भाई लोग व्यस्त था, और चुपचाप बाहर चन्द्रमा के प्रकाश में टहलने लगा।

'आप तो कितनी बार काश्मीर गया है। आपके सामने रात की खूबसूरती का वर्णन करना कुछ फ़ायदा नहीं है। किन्तु ऐसा करने से हामरी तबीयत को कुछ चैन मिलता है। ओह ! ऐसा सुन्दर रात्रि हमने न कभी देखा और न कभी फिर देखना नसीब होगा। वह नीरवता, वह चिनार, वह पहाड़ों का लाइन, वह विकीर्ण जंगली फूल, वह मानस बल, स्वर्ग था, स्वर्ग था। किन्तु उस समय हम उसकी सुन्दरता को देख नहीं रहा था, क्योंकि हामरा मन अशान्त था। अशान्त मन से चाँद को देखनेवाला लोग उसके सौन्दर्य का अनुभव कैसे कर सकता है ? हम विमूढ़ होकर उसी स्थान की ओर चला जिधर वह छोकरी हमको पहले मिला था। क्यों ? ईश्वर जाने। उसके वहाँ होने का कोई आशा नहीं था; किन्तु उस अपरिचित देश में केवल वही एक परिचित स्थान था, शायद इसलिए।

'जब हम उधर पहुँचा तो देखा कि लड़की फिर अपने काम में लगा है। हमें बहुत आनन्द हुआ। फड़कते हुए दिल को साथ में लेकर हम वहीं पर जाके बैठ गया। वह हमें देखने पर खूब हँसा। हमने देखा कि उसने स्नान किया है, और एक स्वच्छ लाल कुर्ता पहना है। उसका मुख चन्द्रमा से भी बढ़कर चमकता था, क्योंकि चन्द्रमा तो पीला होता है गुलाबी और सफ़ेद तो होता नहीं है।

'हमने पूछा—तुम क्यों बोला था मत जाओ ? इस पर वह बच्चे की तरह मुस्कि-राया और अपना कमीज़ की बाँह चढ़ाकर हामरे पास आया। हम भी उठा। उसने अपनी गोरी बाँह के साथ हामरा बाँह पकड़ा और हमें पास के एक टीले के पीछे, जहाँ एकदम अन्धकार था, ले गया। एक चिनार की ओट में हम दोनो टीले के साथ टिककर साथ-साथ बैठ गया। वह बोला—तुम बहुत अच्छा है।

'यदि कोई शहर का स्त्री हामरे साथ ऐसा बोलता तो हम निश्चय करता कि वह बाज़ारी है ; किन्तु इस छोकरी की आखों में सरलता, सुकुमारता, और न जाने क्या था। हमने उसके कन्धे पर हाथ रखकर प्यार से कहा—तुम भी बहुत अच्छा है। नौनीत भाई, तुमरी राष्ट्र-भाषा का हम दोनो ने खूब चमत्कार-पूर्वक प्रयोग किया।

'इतना बात करने के पश्चात् वह एकदम से ठंडा-सा हो गया—हो गयी। अब वह हँसती नहीं थी। कुछ बोलती नहीं थी। हमने उसके सिर के नीचे हाथ डालकर उसको अपने साथ लगा लिया और बहुत प्यार किया। उसकी आँखों को बड़ी कोमलता के साथ चूमा, उसके कपोल पर अपना कपोल लगाया, हामरे को ऐसा प्रतीत होता था कि स्वर्ग की कोई अप्सरा किसी राक्षस की कैद से छूटकर हमरी शरण में आई है।

'वह हमसे बोला—बोली,—तुम कलकत्ते से आया है ? उधर क्या है ?

'हमने उसे सब चीज़ का आहिस्ता-आहिस्ता बड़े प्यार के साथ वर्णन किया। रेल-गाड़ी की बाबत सुनकर वह बहुत विह्वल हुआ, आप कल्पना कर सकता नहीं है। एक बार वह हामरी बात सुनती-सुनती हामरी छाती के साथ मुँह सटाकर रोने लगी—हमको अपना साथ ले जाओ, हम इधर नहीं रहेगी।

'हम बड़ी ख़ुशी के साथ बोला—अवश्य, हम ज़रूर ले जायेगा। हमको उसने बताया कि उसका मा-बाप मर चुका था। उसका भाई सगा भाई नहीं था, और वह उसे पीटता था, और रात को भी काम करवाता था। उसका भाबी उसको खाने को भी नहीं देता था।

'हम उसको बोला—चलो, अभी चलो, हम तुम को ले जायेगा। ईश्वर साक्षी है हमको उसके साथ कामवासना नहीं था, ईश्वर जाने क्या था। यदि प्रेम नहीं था तो वात्सल्य भी नहीं था।

'लेकिन वह बोला—अभी नहीं। खेत में शायद और लोग काम करता होगा। वह देख लेगा। ठीक तो था ! भविष्य के आनन्द की ख़ातिर छोकरी वर्तमान के आनन्द को छोड़ना नहीं चाहती थी।

'समय गुज़रता गया। सर्दी काफ़ी था इसलिए हम दोनो एक दूसरे को ख़ूब जकड़ कर लेटा रहा। कुछ देर के बाद वह सो गया। हम सोचता रहा।

'जब चन्द्रमा फीका पड़ने लगा और दिन का कुरूप आक्षेप दिखाई दिया तो हमने उसे जगाया और कहा—चलो। वह उठा और श्रद्धा-भरी दृष्टि के साथ हम पर मुस्किराया। ओह, हम भूलने नहीं सकता। फिर एक दूसरे का हाथ लेकर हम तेज़ी से चल पड़े।

'किन्तु दिन जब कुछ और ऊपर उठा तो हमने सोचा कि हम यह क्या कर रहा है ! एक परदेसी होकर एक अनजान छोकरी को भगा ले जा रहा है। हमें कौन भगाने देगा ? तरह-तरह की शंका उठी, किन्तु हम उस समय सोचा नहीं। हम उसका हाथ पकड़कर चलता गया।

वह छोकरी हमारे लिए आकाश-वाणी था। आकाश-वाणी को त्याग कर जो चलता बने, वह इन्सान नहीं है...

'मेरा आँख बन्द था, और मन स्थिर था। कोई हामरी मेहर (उसका नाम मेहर था, किन्तु हम सोचा है कि यदि वह हामरे साथ आता तो हम उसका नाम अरुन्धती रखता) को छीन नहीं सकता था।

'किन्तु जब हम एक-दो मील चल गया तो दिन खूब चढ़ गया और दो-तीन काश्मीरी लोग हमको दूर से गाता हुआ आता दिखाई दिया। बस, हम जानता नहीं छोकरी को क्या हुआ। एकदम हाथ छुड़ाकर पीछे ठहर गया। हामरी तरफ़ सजल आँखों से देखता हुआ बोला—न।

'इसके बाद उसने अपने कान से एक छोटा-सा चाँदी का बाली उतारकर हामरे हाथ में दिया। फिर हामरी पीठ को चूमा। हमने देखा कि समय आ गया है। अब वाद-विवाद का कुछ फ़ायदा नहीं है। हमने अपना घड़ी उसे दे दिया, जी करता था जिगर काटकर उसे देऊँ, उस सौन्दर्यमूर्ति को। एक क्षण में वह पूरी रफ़्तार से वापस दौड़ गया।

'किन्तु हामरे को अफ़सोस नहीं है। वह उसी देश का चीज़ था, वह इधर आकर जीने नहीं सकता था। किस्मत पर हामरा हाथ नहीं है, किस्मत पर हामरा हाथ नहीं है।'

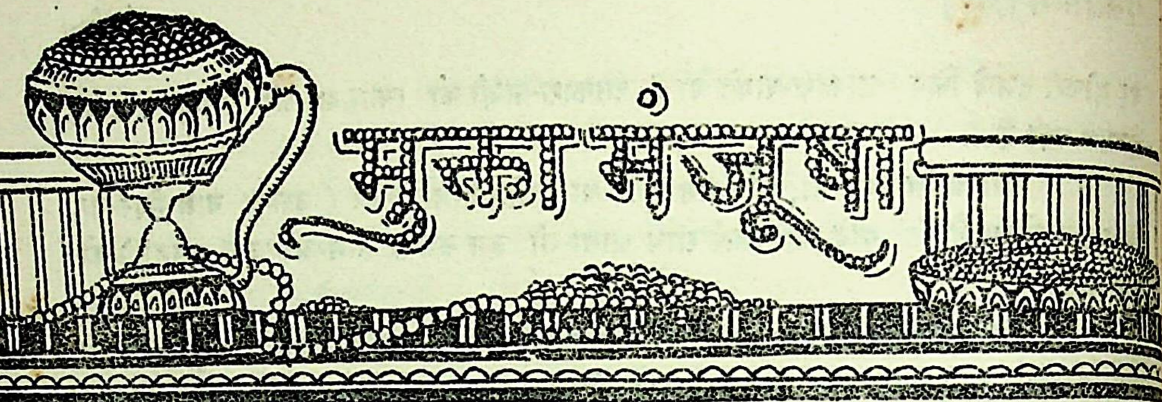
नौनीत को चुपचाप देखकर नलिनीकान्त धीरे से हँसा और बोला—बस यही है, इतना ही है। काश्मीर हमें भूल नहीं सकता है। दिल से हम काश्मीरी हो चुका है। हामरा दिल वहीं रहता है। किन्तु अब हम उधर जायेगा नहीं।

कुछ क्षण और। टिककर बाबू नलिनीकान्त ने अपना छाता सम्हाला और चल दिये। वर्षा बदस्तूर हो रही थी।

उनके निकलते ही नौनीत ने टाइमपीस की ओर देखा। चार बज चुके थे। दो एक व्यक्तियों से मिलने का समय टल चुका था।

नौनीत शीशे के सामने गया और अपनी प्रतिछवि को देखता हुआ ईश्वर से पूछने लगा—क्या मेरे चेहरे पर कोई निमन्त्रण-पत्र लिखा धरा है? क्या इस कहानी की ज़रूरत बाक़ी थी?

अपनी विचित्र भवितव्यता से प्रेरित होकर उसने पुस्तकों को फिर से समेटना शुरू कर दिया।



बँगला

नृत्यप्रसंग

अभी हाल में बँगला नवशक्ति का एक विशेषांक निकला है। उस अंक में श्रीयुत भार्गव शर्मा ने 'नृत्यप्रसंग' नामक एक सुन्दर लेख लिखा है जिसके द्वारा इस कला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसका सारांश निम्न प्रकार है—

'नृत्य की प्रेरणा मनुष्यों को कहाँ से मिली, यह कहना कठिन है। फिर भी यह अनुमान किया जाता है कि भगवान ने अपनी सृष्टि में नृत्य की स्वाभाविक प्रेरणा दी है। आनन्द आते ही शरीर दोलायमान हो उठता है, उसी दोलन की तरंगमयी अवस्था ही नृत्य है और केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी अनेक समय अपने शरीर को आन्दोलित करते देखे जाते हैं। प्रकृति के साथ नृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध न होता, तो वर्षाकाल में मेघ की पुकार सुनकर ये मोर कदाचित नहीं नाचा करते।

'भारतीय धर्म के साथ यह नृत्य विशेष प्रकार से मिला हुआ है। पौराणिक युग ने नृत्य में विशेष उत्कर्ष प्राप्त किया था। उर्वशी, मेनका, रंभा प्रभृति नर्तकियों के नृत्य-माधुर्य की कहानी सभी पुराणों में पढ़ने को मिलती हैं। उस समय नृत्यकला अपनी सीमा पर थी और बड़े-बड़े विरागी ऋषियों की तपस्यायें भी इस नृत्यकला से भंग हो सकती थीं। उन नृत्यों से अब मानव-समाज वंचित हो चुका है। कामदेव और रति के नृत्य की कल्पना ही आज के लोगों के हृदय में कोमल भावों की रसधारा बहा देती है।

'उस समय केवल ललित रस के नृत्य ही प्रचलित नहीं थे। नीलकंठ महादेव के रौद्र नृत्य की नकल करते हुए भी आज के नर्तक पाये जाते हैं। महादेव संहारकर्ता हैं और उनका नृत्य भी उसी संहार-रूप में विकसित है। सर्प-केयूर-विभूषित, हाथ में त्रिशूल और शृङ्गी लेकर उनके भीषण-धूसर नृत्य का परिचय अपनी कविताओं के द्वारा रवीन्द्रनाथ ने दिया है। और केवल काल ही नहीं, काली भी असुर-निधन के समय ता-थै ता-थै नृत्य के द्वारा धरती को टलमल कर चुकी हैं।

'पुराने युग से लेकर आज भी कहीं-कहीं देवदासियों का नृत्य प्रचलित है। इससे भी धर्म के साथ नृत्य के सम्बन्ध का परिचय मिलता है।

'नृत्य के साथ छः रस और छहों ऋतु विशेष रूप से जड़ित हैं। नृत्य के रस का अनु-

यायी रूप चाहिये और ऋतु का अनुयायी भूषण चाहिये। वसन्त-नृत्य आदि-रस का द्योतक है। ग्रीष्म के रौद्र नृत्य में वीर-रस विकसित है। वर्षा के विरहाकुल नृत्य में करुण-रस प्रकाश पाता है।

'प्रत्येक देश के नृत्य में एक विशिष्ट धारा या पद्धति होती है। पहले यह अपने-अपने देश में ही सीमित था; लेकिन अन्तर्जातीय भाव-विनिमय के फलस्वरूप अब सभी देश के निवासी एक दूसरे देश की नृत्यकला से परिचित हो चुके हैं। पाश्चात्य देशों की अन्ना पावलोवा, ईसाडोरा आदि विश्वविख्यात नर्तकियों के नृत्य-वैशिष्ट्य से पूर्व देश भी परिचित हो चुके हैं। इधर प्रमुख भारतीय नृत्यकार उदयशंकर का भी पश्चिम आदर करता है।

'सभ्यजगत की आँखों की ओट में जंगल और पहाड़ों में जो असभ्य जातियाँ निवास करती हैं, उनके बीच भी नृत्य की अनुरक्ति किसी भी सभ्य देश से कम नहीं है। उनके यहाँ जन्म-मरण, विवाह-शादी के प्रत्येक अनुष्ठानों में नृत्य की आवश्यकता है। आदि, वीर, करुण, वीभत्स आदि सभी रसों का अच्छा प्रकाश इनके नृत्यों से भी व्यक्त होता है।

'नृत्यकला को बंगाल की तरुणी-समाज ने भी अनुराग-पूर्वक अपनाया है। छोटे-मोटे प्रतिष्ठानों के बीच ये धीरे-धीरे अपने नृत्य-नैपुण्य के द्वारा रसिक-समाज से परिचय पा रही हैं।'

• • •

चीन की चित्रकला का छाया-पथ

यह लेख 'भारतवर्ष' के आश्विन के अंक में निकाला है। लेखक हैं श्री यामिनीकान्त सेन। बंगाली-समाज के बीच नृत्य और चित्रकला के विषय में असाधारण अभिरुचि है जो भारत के दूसरे प्रान्त के लोगों में कम देखी जाती है। प्रस्तुत लेख में चीन देश की चित्रकला पर बड़ी अच्छी विवेचना की गई है। वह लेख बहुत लम्बा है और जहाँ-तहाँ चित्रों का उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट किया गया है। स्थानाभाव के कारण सम्पूर्ण लेख का अनुवाद दे सकना कठिन था, फिर भी 'हंस' में उसके मुख्यांशों का अनुवाद रखने की चेष्टा की गई है।

'चीनी हृदय दुर्जय होता है, यूरोपवाले ऐसा मानते हैं। जटिल चीनी-साधना के अन्तराल में लेउट्जू और कनफूशियस की निस्सीमता के साथ जो समाज स्थापित किया गया है, उस पर ईसाई अपने अभिज्ञान का आलोक नहीं फेंक सके। फिर भी चीनी हृदय की मानवता का पीछा करना कठिन नहीं है। चीन ने केवल 'ड्रैगोन' की तस्वीरें नहीं बनाई हैं। सुन्दर राज-हंस, रंगीन चिड़िया आदि की सुन्दर सुषमा को उपस्थित करके उसने जगत की दृष्टि को आकृष्ट किया है। चीनी चित्रकला की सूक्ष्मता से सभी मुग्ध होते हैं। चीनी तूलिका के मायाजाल से दूर दिगन्त की कुज्झटिका, शैलपुञ्जका, हिल्लोलित प्रवाह जैसे किसी मरीचिका की भाँति जाग उठता है। वस्तुतः चीनी चित्रकला ने जगत के विचित्र उपादानों के भीतर एक रस-परिपूरित रचना के द्वारा एक नवीन प्राणों की प्रतिष्ठा की है। उसमें रुक्षता का भाव नहीं, असभ्य जंगली जीवन का भाव भी उनमें नहीं मिलता। उससे तो मानो संसार एक नवीन रस के आलोक को पाता है। इसका कारण ढूँढ़ना पड़ेगा चीनी चिन्ता-तत्त्व में। कनफ्यूशियस की बहिरंग चर्चा से इसकी एक अर्थपूर्ण चेष्टा देखी जाती है। नास्तिकवाद के ऊपर यह वस्तुवाद एक अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण के भीतर से जगत के शेषतत्त्व को उद्घाटित करने की स्पर्द्धा करता है—दूसरी ओर लेउट्जू ने ओट से और आलोक से रहस्यपूर्ण रचना करके अतीन्द्रियवाद की पताका फहराई है। इस

हंस

प्रकार चीनी सभ्यता में वस्तुवाद और रहस्यवाद की विरोधिनी बत्तियाँ जलाई गई थीं। किन्तु इसी युग के इतिहास में वहाँ भारत की वाणी आ पहुँची। ईसामसीह के जन्मकाल के लगभग में वहाँ बौद्धधर्म पहुँचा और चीनी-हृदय एक विशिष्ट श्री से अभिसिक्त हो उठा। इस बौद्धधर्म का स्पर्श पाकर चीनी अन्तर्जगत ने एक नवीन रस-सम्पर्क स्थापित किया। चीनी सभ्यता की पूर्व अनुभूति थी yin और yang की यानी गति और स्थिति के घात-प्रतिघात की सत्यता का सम्पर्क। लेकिन पीछे के लोगों ने इसकी नूतन व्याख्याएँ कीं। yang आत्मा कहलाया और yin शरीर माना गया। Wang Jing hasing ने इसका प्रतिवाद किया। उन्होंने स्वीकार किया कि यह व्याख्या बौद्धधर्म के सम्पर्क से आई है।

'इस प्रकार चीन देश की रससृष्टि के मूल में नवीन प्रेरणा पहुँची। क्रमशः ड्रैगोन प्रभृति विरोधी व्यञ्जनाओं से चीन परितृप्ति नहीं पा सका। 'ड्रैगोन' स्वर्गीय घोड़ा और स्वर्गीय मत्स्य इन दो विरोधी कल्पनाओं की एक युग्म मूर्ति थी। उसके बाद बौद्ध एक नई सम्पत्ति लाया। भारत के नाग की कल्पना इसी के साथ मिल गई। इसी प्रकार धीरे-धीरे भारतीय कल्पनाओं का अजस्र प्रवाह चीनी-सृष्टि के भीतर नवीन मादकता का संचार करने लगा।

'हजारों बुद्ध-गुफाओं में जो चीनी चित्रकला उद्घाटित हुई है, उन सब में भारत का प्रभाव स्पष्ट है। प्रधान देवताओं के रूप भारतीय प्रथा के अनुसार ही अंकित हैं। जूयानकांग गुहा की रचनाओं पर भी भारत की छाया पड़ी है। Siren के मत से ये सारी रचनायें मथुरा की शिल्पकला से प्रभावित हैं। टांग युग की रचनाओं में भी गुप्तयुग की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है। ब्रिटिश म्युजियम में एक लकड़ी की चीज है जो बिल्कुल भारतीय मालूम होती है।'

चयन-कर्ता, राधाकृष्ण।

साहित्य : एक शक्ति

श्री उमाशंकर जोशी गुजराती नवीन पीढ़ी के तरुण लेखकों में अग्रणी हैं। महागुजेर की सीमायें पार कर कवि, कहानी-लेखक और नाटककार के रूप में इनका यश फैलने लगा है। यह एक ऊँचे दर्जे के कलाकार और साहित्यिक हैं। नीचे हम इनके बम्बई रेडियो स्टेशन से दिये गये 'साहित्य : एक शक्ति' भाषण के कुछ अंश अनूदित कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि गहन विषयों को यह युवक साहित्यिक कितनी सरलता से बिना उलझन के प्रकट करता है।

'साहित्य से हम यह समझते हैं कि उसमें उन लेखों का समावेश है, जिसमें सबको रस देनेवाले उत्कृष्ट भाव उतनी ही उत्कृष्ट भाषा में हों। मनुष्य-जाति के प्रारंभ से कविता साहित्य का एक माना हुआ अंग है। परन्तु नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध, इतिहास, तत्वज्ञान, जीवनचरित्र, विवेचना आदि भी साहित्य के अन्यान्य रूप हैं।

'इस विविध प्रकार के साहित्य से मानव-जीवन का अत्यन्त निकट का संबंध है। भूतकाल के मानव-जीवन के साथ के संबंध की यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। घास पर आमने-सामने

बैठे, मस्ती में डोलते और सोमरस की लहर में अर्थ-हीन 'वाउ-वाउ' पुकारते ऋषियों को सृष्टि-रचना का रहस्य कैसा लगा होगा। वहाँ से लगाकर किसान और मज़दूर वर्ग के हित का चिन्तन करनेवाले विचारकों की योजनाओं का परिचय हमें साहित्य से मिलता है। भूतकाल में मनुष्य-जाति की उन्नति का अन्दाज़ भी हम साहित्य द्वारा लगा सकते हैं।

'भूतकाल से विरासत में प्राप्त श्रेष्ठ वस्तुओं में मनुष्यों की समाज बनाकर रहने की आदत, उसके लिए विकसित की गई अनुकूल शासन प्रणालियाँ और कई अन्य संस्थायें, उसके द्वारा निर्मित विनस-द-मेलो जैसी मूर्तियाँ, सौन्दर्य की साराशि जैसा ताजमहल, मोना लीसा के जादू भरे रेखाचित्र और इन सबमें श्रेष्ठ वह अमर साहित्य-भंडार है। मनुष्य-जाति ने अभी तक के अकथ परिश्रम के बाद जिस संस्कृति का निर्माण किया है, उसका परिचय खासकर साहित्य के द्वारा ही मिलता है। साहित्य द्वारा ही संस्कृति की विरासत पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीती-जागती दशा में सौंपी जाती है। साहित्य में मनुष्य के मानवता प्राप्त करने के लिए किये गये सभी प्रयत्नों का अर्क समया हुआ है। मनुष्यजाति की आशायें, आकांक्षायें, आदर्श, चिंतन, भावनायें, तरंगें, स्वप्न आदि सब विशेषकर साहित्य में संचित किये गये हैं।

'इसलिए यदि साहित्य का जीवन पर ज़ोरदार प्रभाव हो तो कोई आश्चर्य नहीं। साहित्य का जीवन से प्रभावित होना जितना सच है, उतना ही सच जीवन का साहित्य से प्रभावित होना है। जीवन में प्रकट होनेवाली नई-नई शक्तियाँ नित-नूतन साहित्य पैदा करती हैं। इसी प्रकार इतिहास में कई उदाहरण हैं कि मौलिक विचार-श्रेणीवाला साहित्य जीवन में नई शक्तियों को पैदा करता है। कई बार ऐसा भी होता है कि मानव-जीवन में से प्रेरणा लेकर रचा गया साहित्य जनता में असाधारण परिवर्तन उपस्थित करता है। अमेरिका की दास-प्रथा से प्रेरणा लेकर लिखा गया 'अंकल टाम्स केबिन' उपन्यास दास-प्रथा को नष्ट करने में खूब सफल हुआ। सारी प्रजा की मानसिक विचार-धारा को बदलने में एक उपन्यास कारणभूत हो, यह साहित्य की शक्ति का एक ज्वलंत प्रमाण है।

'वर्तमान युग में उपन्यासों ने जब प्राचीन काल के महाकाव्यों का स्थान लिया है तो उनके द्वारा बड़ी-बड़ी क्रांतियों का होना भी संभव है। फिर भले ही वह क्रान्तियाँ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या मानसिक हों। उदाहरण के लिए बंकिम का 'आनन्दमठ' और गोर्की का 'मदर' हैं। इस युग में खासकर सामाजिक उपन्यास बहुत ही प्रभावशाली साबित हुए हैं। टॉल्स्टॉय और ज़ोला के उपन्यासों ने सामाजिक क्रान्ति की। उपन्यास के सिवा अन्य प्रकार के साहित्य से भी जीवन पर उतना ही प्रबल असर होता है। दक्षिण अफ्रिका में रेल की यात्रा में रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक पढ़कर घर आ गाँधीजी के फिनिक्स आश्रम स्थापित करने की बात जग-जाहिर है। शिवाजी के बारे में कहा जाता है कि बचपन में रामायण सुनकर राम-लक्ष्मण जैसे पराक्रमी होने की महत्वाकांक्षा उनमें पैदा हुई थी।

'इस युग में क़लम तलवार से भी अधिक शक्तिशाली मानी जाती है। और यह बात जितनी इस युग के लिए सच है, उतनी ही दूसरे युगों के लिए भी। कई बार तो पाया गया है कि तलवार के बल जीतनेवाले कलम के आगे गुलाम हो गये हैं। रोमनों ने ग्रीस जीता। रोमन तलवार की वह विजय थी; परन्तु युनानी संस्कृति ने रोमनों पर अपना प्रभाव जमाया। वह युनानी लेखनी की विजय थी। इस युग में तो असंख्य दैनिक पत्रों, पुस्तकों आदि के प्रकाशन से

कलम की दिग्विजय सुविदित है ही। दैनिक पत्र बड़े-बड़े परिवर्तन कर सकने के कारण हुए हैं।

'इससे अपने समाज का हित समझनेवाला कुशल पत्रकार लेखनी की शक्ति का जितना उपयोग कर सकता है, उतना उसके अन्य साहित्यिक बन्धु शायद ही कर सकें। १९१७ की रूसी क्रान्ति के लिए कई लोग मानते हैं कि लेनिन की बुद्धि की अपेक्षा उसके साथी कार्ल राडेक की कलम का प्रभाव अधिक कारण-भूत है। यह बात असंभव भी नहीं है। अकबर का एक सरहद्दी दुश्मन कहता था कि मैं अकबर की तलवार से अधिक अबुलफ़ज़ल के शब्दों से डरता हूँ।

'हाँ, साहित्य की इस शक्ति का यदि सदुपयोग किया जाय तो वह तलवार की भाँति रक्षा करती है और दुरुपयोग करने पर घायल करती है।'

चयन-कर्ता, श्यामू सन्यासी

हिन्दी

इन्द्रधनुष के नीचे

श्री नित्यानंद की एक सुन्दर लघु-कथा सितंबर, १९३८ के 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई है। उस लघु-कथा को संपूर्ण ही पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ उपस्थित करते हैं:—

'कवि और ज्ञानी, दोनो ही चले—उस छिपे धन की खोज में। उन्होंने सुन रखा कि जहाँ इन्द्रधनुष ज़मीन पर खड़ा होता है, वहीं वह धन गड़ा रखा है।

'ज्ञानी साथ में कई यन्त्र ले गया। जहाँ कहीं इन्द्रधनुष देख पाता, गणित से उसकी परिधि नापकर, त्रिज्या और केन्द्र की खोजकर, उपयुक्त स्थान पर खोदने लगता। पर कवि घास पर लेटकर सूर्य-रश्मियों से खेलता। वे उसके चारो ओर नाचतीं और उसे कल्पना-लोक की कथायें सुनातीं। कवि को हरएक वनस्पति से परिचय हो गया, हरएक पशु-पक्षी की भाषा उसे आ गई और हवा के झकोरों पर चढ़कर आते हुए प्रकृति के मूक सन्देशों को भी वह न-जाने कैसे समझने लग गया।

'एक दिन जब ज्ञानी गम्भीर, थका-माँदा ज़मीन के भीतर से निकला, तो उसके छिले-कटे हाथों में कुछ अजीब-से पत्थर थे। वह कवि का विकसित मुख देखकर झुँलसा-सा पड़ा, बोला अकर्मण्य! आलसी! तुम्हें क्या हो गया है?

'किसने तुमसे कहा कि मैं आलसी हूँ?'

'तुम हमेशा यहीं बाहर ही तो पड़े रहते हो और यहाँ मैं ज़मीन के भीतर तक पहुँच जाता हूँ।'

'लेकिन ज़मीन की सतह पर भी तो कुछ मिल सकता है?'

'सतह पर क्या मिलेगा? पाने के लिए तो भीतर ही पहुँचना होगा। मुझे तो अब तक ठीक स्थान नहीं मिला; पर मैंने कई अद्भुत आविष्कार किये हैं, और निश्चय है कि शीघ्र सफलता मिलेगी।'

'कवि ने कोई उत्तर नहीं दिया। अचानक वह रुक गया और ज्ञानी की बाँह पकड़कर इशारा करने लगा!

'एक और इन्द्रधनुष!'—ज्ञानी चिल्लाया और यन्त्र निकालकर गणित करने लगा।

'परन्तु कवि की आँखें उस प्राकृतिक विभूति की अतुलनीय सुषमा का पान कर रही थीं, और तब एकाएक उसने उस चमकते हुए धनुष के पीछे एक अद्भुत सौन्दर्यमयी को देखा—विषादपूर्ण, आकर्षक आँखें, काले कुंचित केश...वह शायद उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। कुछ देर बाद वह मुड़ी और चलने लगी। पागल की भाँति कवि उसके पीछे दौड़ा—सब कुछ भूलकर, उस गुप्त धन की चिन्ता छोड़कर, अपने मित्र को छोड़कर। वह उसके पीछे दौड़ा चला जा रहा था। पहाड़ियों और मैदानों को पार करते हुए वह उसके पीछे दौड़ा चला जा रहा था। मालूम नहीं, कितने देश पीछे छूट गये, कितने लोक उसने लाँघ डाले...और फिर भी वह पीछा ख़त्म नहीं हुआ। उसने सारी दुनिया देखी और देखी उसकी पीड़ा। जहाँ कहीं भी उसने देखा, उसे वेदना ही दीख पड़ी, शायद इसलिए कि उसके हृदय के भीतर भी एक पीड़ा ही जल रही थी—प्रेम-पीड़ा। वह मोहिनी उसके आगे-आगे शान्त, धीर और फिर भी द्रुत गति से चली जा रही थी—आँधी में, तूफान में, उत्तर-दक्षिण—पूर्व-पश्चिम—सदा अप्राप्य! शायद केवल एक दफे उसने पीछे मुड़कर कवि को देखा और तब उसकी दृष्टि ने कवि को और भी उन्मत्त कर दिया।

'हवा के पंखों पर चढ़कर वसन्त आया। और जहाँ से चली थी, वहीं वह मोहिनी आकर रुक गई। कवि ने सोचा, अब मैंने पाया...किन्तु उसी समय भयानक तूफान शुरू हुआ, पृथ्वी काँप उठी, जंगल लड़खड़ा पड़ा, आकाश तमाविष्ट हो गया। कवि उसका हाथ पकड़ना ही चाहता था, तब तक उसने हाथ खींच लिया।

'तुमने धोखा खाया है।' वह दुःखपूर्ण स्वरसे बोली—मैं तुमसे भागी थी, क्योंकि मैं तुम्हें सुखी नहीं कर सकती। मेरा नाम चिन्ता है—गम्भीर वेदना, मार्मिक अनुभूति, अनन्त उलझन। इसके अतिरिक्त मेरे पास और कुछ है ही नहीं कि मैं तुम्हें दे सकूँ...

'इतना कहकर वह अन्तर्द्धान हो गई।

'आँधी ने मधुर वर्षा का रूप धारण कर लिया था। उसे चीरती हुई वसन्त-सूर्य की रश्मियाँ कवि के चारो ओर छिटक रही थीं। उसी समय ज्ञानी ज़मीन से निकला—कुछ अनमोल रत्न लिये...कवि को देखकर उसके हाथ ढीले पड़ गये और उसके हाथ से से रत्न नीचे गिर पड़े।

'ओ भाग्यवान मनुष्य!' वह चिल्लाया—तुम ठीक उस गुप्त धन के ऊपर खड़े हो—ठीक धनुष के नीचे।

'कौन, मैं?' कवि ने मानो जागकर कहा। फिर पछाड़ खाकर गिर पड़ा और रोने लगा; बोला—क्यों न मैं जनमते ही मर गया! मुझे असह्य कष्ट है!

'ज्ञानी ने उदासीनता-पूर्वक सर हिलाया और फिर एकाग्रता से जमीन खोदना शुरू कर दिया।

'ठीक धन के ऊपर खड़ा है,' वह बोला—और कुछ जानता ही नहीं! जब मैं बताता हूँ, तो रोता है—पागल!'



नीरक्षीर

गुजराती

ऊर्मि—मासिक पत्र; संपादक : ईश्वरलाल, मोहनलाल दवे और कान्तिला
मणिलाल शाह; प्रकाशक : भारती-साहित्य-संघ, पानकोरनाका, अहमदाबाद।

नवीन जाग्रति के बाद हिन्दुस्तान ने कई विद्वान लेखकों और विचारकों को जन्म दि
ऐतिहासिक सत्याग्रह-संग्राम के बाद से एक क्रान्ति का जन्म हुआ। सोया देश जाग पड़ा
जाग्रत जनता चल पड़ी। मानस-क्षितिज पर नव विचारों की जो धूमिल घटा छाई थी वह
और अधिक तीव्र होने लगी। उस बाढ़ में क्षणिक आवेशवाले थे, तो स्थायी आवेश को
जीवित रहनेवाले भी थे। ऐसे ही अदम्य उत्साह और आशावाद से भरे कुछ युवक मित्रों का
अहमदाबाद का भारती-साहित्य-संघ है। गुजराती में अनेकविध साहित्यिक प्रवृत्तियों के मूल में
प्रेरणा है, उसका उद्गम स्थान यही भारती-साहित्य-संघ है। 'ऊर्मि' मासिक का संचालन इसी
की ओर से होता है। 'ऊर्मि' साहित्य और संस्कार का मासिक है। 'ऊर्मि' का पाठक आसा
जान सकेगा कि संपादकों ने जीवन में राजनीति तथा साहित्य ऐसे दो भेद नहीं माने हैं।
निगाह में राजनीति और साहित्य जीवन की दो धारायें हैं और दोनो को एक दूसरे से
तथा बल मिलता है। 'ऊर्मि' के अब तक के अंकों से यह नीति स्पष्ट होती है। 'ऊर्मि' का
गान्धी-संस्कृति का सन्देश है। गान्धीवाद और अहिंसा का प्रचार उसके लक्ष्य हैं। पर मात्र
मूलक उसे न समझा जाय। सृजन तो उसका गुण है। प्रेरणात्मक और प्रचारात्मक साहित्य
नीति है, जिसमें उसे सफलता मिली है। अपने पिछले छः-सात वर्षों के जीवन में 'ऊर्मि'
के नवयुवकों का मार्ग-प्रदर्शन करती रही है। आगे भी हम इससे यही आशा करते हैं। '
स्वराज्य-यात्रा' स्तम्भ के अन्तर्गत वर्तमान राजनैतिक हलचलों पर मार्मिक और सचोट टिप्पणि
रहती हैं।

हाल ही गान्धी-जयन्ती के अवसर पर प्रस्तुत पत्रिका ने अपना एक विशे
'अहिंसा-अंक' निकाला है। सर्वश्री काका कालेलकर, किशोरलाल घ० मशरूवाला, राम
'सुमन', रिचार्ड ग्रेग, पट्टाभिसीतारामैया, 'सोपान', हरजीवन सोमैया आदि के विद्वा
लेख और कहानियाँ पठनीय हैं। 'सुमनजी' का अनूदित लेख 'यूरोप में अहिंसा के कुछ प्र
उपयोगी और पठनीय है। किशोरलाल भाई ने एक उदाहरण देकर बड़े सुन्दर ढंग से अ
की दृष्टि का विवेचन किया है। 'सब प्राणियों को अन्तर की दृष्टि से देखना, जिस अन्तर की
से मा अपने लड़के को देखती है, यही अहिंसा की दृष्टि है।'

ऐसे सुन्दर और समयोपयोगी विशेषांक के लिए सम्पादक और प्रकाशक ह
बधाई के पात्र हैं।

—श्यामू सन्यासी

अनुभूति—लेखक, बलदेवप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३८। मूल्य १)।

हिन्दी के एक नवयुवक और बढ़ते हुए कहानीकार की इस कृति का हम सहर्ष स्वागत करते हैं। पुराने ढर्रे की कहानी इस संग्रह में एक भी नहीं। यह कहानियाँ एक अनोखा, आकर्षक हल्कापन लिये हैं। जीवन से छोटे-छोटे काटे हुए यह टुकड़े हैं। इनमें किसी प्रकार का कौतूहल अथवा घटना-वैचित्र्य नहीं-सा है। किस प्रकार मनुष्य उठता-बैठता और जीता है, इसका यहाँ वर्णन है।

कहीं-कहीं यह कहानी निबंध-मात्र रह गई हैं। भावों का अधिक उतार-चढ़ाव और मनोवैज्ञानिक विषमता इन कहानियों का ध्येय नहीं। 'प्रायश्चित्त' ऐसी ही कहानी है। यह कहानियाँ मनुष्य और संसार की झाँकी मात्र हैं।

बीसवीं शताब्दी में पश्चिम में ऐसी कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुई हैं। चेखाव इसी ढंग की कहानी लिखते थे। अपने जीवन के सन्ध्या-काल में प्रेमचन्दजी ने भी ऐसी कहानियाँ लिखी थीं। 'सेब' ऐसी ही कहानी थी। 'क़फ़न' में इसके और भी अनेक उदाहरण मिलेंगे।

बड़ी 'अनुभूति' से श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने यह कहानियाँ लिखी हैं। मनुष्य-स्वभाव की बड़ी मनोरम झाँकी हमें इनमें मिलती है। 'अनुभूति', 'तसवीर', 'हेर-फेर', 'दोपहर', 'खेल', 'त्याग', 'ममता' आदि अनेक कृति हमारे सफल साहित्य में शामिल होनी चाहियें। मनुष्य का नित्य-प्रति दैनिक जीवन मर्मस्पर्शी सत्य से यहाँ चित्रित किया गया है।

कुछ ही कहानियों के वस्तु-भाग में गहरापन आया है। 'साँप', 'कमांडर', 'भूचाल', और 'कुम्भ' में मृत्यु, दुर्घटना आदि जीवन के कुछ विषम फल हैं। किन्तु मृत्यु और दुर्घटना जीवन के साथ लगे ही हैं।

'अधिकार' कुछ विचित्र-सी लगी। शायद इसकी प्रेरणा जीवन की अपेक्षा साहित्य से ही हुई है।

'अनुभूति' के लेखक का हिन्दी में आदर होना चाहिये। सत्य, सरलता और स्वाभाविकता इन कहानियों के अपने विशेष गुण हैं। शायद आगे चलकर भावों में गहराई भी हमें मिले। किन्तु अभी तो यह हल्कापन भी हमको कुछ आकर्षक नवीन बाने में मिला।

प्रकाशचन्द्र गुप्त।

• • •

समर-यात्रा—लेखक, प्रेमचंद। प्रकाशक, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३८। मूल्य १)।

भारतीय स्वाधीनता की पिछली समर-यात्रा का वर्णन इन कहानियों में है। स्मृति-पट पर खिंचे वह चित्र इन कहानियों को पढ़ते-पढ़ते फिर जीवित हो उठते हैं—झिलमिल प्रभात में दाँडी के लिए साबरमती से गांधीजी का प्रस्थान; मार्ग का वह विचित्र, अदम्य उत्साह; पथ के अनेक संकट; और अब लक्ष्य का दृष्टि-सामीप्य।

पिछली बार 'समर-यात्रा' प्रकाशित होते-होते ही ज़ब्त कर ली गई थी। हमें हर्ष

है कि सरस्वती प्रेस ने दूसरी बार इस संग्रह को निकालकर भारतीय स्वतंत्रता का यह इतिहास सुरक्षित किया है।

प्रेमचन्द हिन्दी के प्रमुख प्रगतिशील लेखक थे। देश की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर उन्होंने आयु-पर्यन्त चिन्तन किया और प्रकाश डाला। इसी प्रकार हम देखते हैं कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय अँग्रेज़ी के तत्कालीन कवि क्रान्तिकारी भावनाओं में देश से आगे थे। कलाकार का हृदय कोमल होने के कारण उस पर जल्दी आघात लगता है।

इन कहानियों में 'ठाकुर का कुँआ' विशेष मर्मस्पर्शी है। न्यूनतम शब्दों में कलाकार ने समाज के विषम संस्कारों को हमारे मन पर अंकित कर दिया है। ऐसी कहानियों का समाज-योजना पर वही प्रभाव पड़ता है जैसा त्रावणकोर राज्य की हरिजन-घोषणा का।

'लांछन' विनोद-प्रधान कहानी एक समय काफ़ी लोकप्रिय हो चुकी है। यद्यपि संसार में सदैव ही लांछन लगानेवालों की ऐसी पराभव नहीं होती, फिर भी कम से कम कवि-न्याय तो उन्हें एकाध बार नीचा दिखायेगा ही।

'क़ानूनी कुमार' नाटक के रूप में लिखी कहानी है। कहानी का एक लम्बा भाग कानूनी कुमार का स्वगत वक्तव्य है; बीच-बीच में कोई पल भर के लिए आ जाता है। एकांकी नाटक इस कहानी को हम नहीं कह सकते। नाटक के प्राण सफल वार्तालाप में होते हैं। वह हमें उत्तरार्द्ध में मिलती है।

संग्रह की अन्य राजनैतिक कहानियाँ काफी ऊँची उठी हैं। 'होली का उपहार' और 'अनुभव' कुछ विशेष अच्छी लगीं। प्रेमचन्द कहानीकार की सबसे बड़ी सफलता मनुष्य-स्वभाव की सूझ थी। इन कहानियों में सच्ची अनुभूति है। किन्तु क्या पिछले संग्राम में हमारी ऐसे ही इस प्रकार विजय हुई?

इन कहानियों में जैसे हमें कुछ खोया-सा लगता है। 'बड़े घर की बेटी', 'ईश्वरीय न्याय', 'ईदगाह' आदि कहानियों के जोड़ की यहाँ रचना हमें नहीं मिल रही। मनुष्य के अन्तर्भावों का नहीं—दो शक्तियों का संघर्ष यहाँ मिलता है। एक शक्ति के स्वयं अंग होने के कारण प्रेमचन्द शायद अपनी विजय के लिए कुछ आतुर हो पड़े थे। वह निर्मम भाव इन कहानियों में नहीं जो गोर्की और अन्य प्रगतिवादी रूसी लेखकों की रचना में हमें मिलता है।

हमें आशा है कि यह कहानी-संग्रह भारत की तरुण संतान को आनेवाली समर-यात्राओं में अग्रसर करेगा।

वही इसकी सबसे बड़ी सफलता होगी।

प्रकाशचंद्र गुप्त

• • •

बेवा—(उर्दू) लेखक, प्रेमचन्द। प्रकाशक, मकतबा जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली, १९३८। मूल्य १)।

स्वर्गीय प्रेमचन्द का यह उपन्यास हिन्दी में 'प्रतिज्ञा' है। इसका पहला संस्करण कुछ वर्ष पहले निकला था; और अब इस सुन्दर दूसरे संस्करण के लिए हमें मकतबा जामिया मिल्लिया

का कृतज्ञ होना चाहिये। 'बेवा' के लिए अधिक परिचय की आवश्यकता नहीं है। उपन्यास सामाजिक है और हिन्दू-समाज में विधवा के जीवन की एक बहुत महान् समीक्षा है। उसी के चरित्र के साथ-साथ जो और पात्र हैं उनका भी चित्रण बहुत सफल हुआ है। इस नये मनोहर रूप में हम इस कृति का आदर और स्वागत करते हैं।

'सुशील'।

• • •

महापुरुष मुहम्मद साहेब तथा इस्लाम धर्म के कुछ मूलभूत सिद्धांत—लेखक, कुमार यशःपाल सिंह, प्रकाशक, सेमीनार बड़ोदा महाविद्यालय। मूल्य ।-)।। मात्र।

मुहम्मद साहब के विषय में हिन्दी में बहुत कम लिखा गया है। आश्चर्य होता है कि अपने समीपतम भाइयों के धार्मिक गुरु के विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है; पर सत्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। मुहम्मद साहब ने पाश्चात्य जीवनी लिखनेवालों के हाथों भी बड़ा असहिष्णु व्यवहार पाया। यह सचमुच एक विषाक्त घटना है—पर यह घटना है। इसका कारण यह है कि मुहम्मद साहब की जीवनियाँ उनके मृत्यु से थोड़े ही वर्षों बाद लिखी गईं और उनके जीवन में जो भी स्वाभाविक ख़ामियाँ थीं उनको अतिरंजित रूप में प्रकाश में लाया गया और उनके आवतारिक रूप को—जैसा कि बुद्ध अथवा ईसा के विषय में हुआ—प्रधानता नहीं मिल सकी। पर मुहम्मद साहब ईश्वर के पैग़म्बर थे, इसको आज हम इनकार नहीं कर सकते। प्रस्तुत जीवनी, इस दृष्टि से एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करती है और हम उसका हार्दिक स्वागत करते हैं। जीवनी-लेखन की कला में भी लेखक को काफ़ी सफलता मिली है क्योंकि उसने सहानुभूतिपूर्वक मुहम्मद साहब के जीवन का दर्शन कराया है। सफल जीवनी लिखने के लिए दो गुण आवश्यक हैं—सहानुभूति और सचाई। और ये दोनो यहाँ मौजूद हैं। पर यह जीवनी इतनी छोटी है कि अपने इस बड़े विषय के साथ यह किसी भी प्रकार न्याय नहीं करती। यह बहुत बड़ी कमी है। हमें केवल मुहम्मद साहब के जीवन के मुख्य तत्त्व तो मिल जाते हैं, पर विस्तार का सर्वथा अभाव है। इतना होते हुए भी पुस्तक उपादेय है। यदि वह अभिनंदनीय नहीं है तो स्वागत-योग्य अवश्य है। और स्वागत हम पहले ही कर चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मुहम्मद साहब की केवल जीवनी ही नहीं है, वरन् इस्लाम धर्म के मूलभूत सिद्धांत भी दिये गये हैं। यह काम की चीज़ है और संक्षेप में इस्लाम धर्म के मूल तत्त्वों को बता देती है।

भाषा में कुछ त्रुटियाँ अवश्य हैं; पर वैसे भाषा सरल और सुबोध है। ४० पृष्ठों की सुंदर छपी पुस्तक है; और दाम भी ऐसा है कि वह इसे सर्वसुलभ बनने में मदद दे सके।

'सुशील'।

• • •

तारे—लेखक, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'; प्रकाशक, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३८। पृष्ठ-संख्या २२७, मूल्य १)।

हंस

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' प्रधानतः कवि हैं। यही उनकी जय, यही पराजय है। आपके इस प्रथम कहानी संग्रह में ११ कहानियाँ हैं। कहानियाँ प्रारंभिक हैं और अधपकी हैं। उनमें प्रयत्न (effort) साफ़ दिखाई देता है। जब तक विचारों और भावनाओं का परिमार्जन इस हद तक न हो जाय कि रचना किसी स्रोत से स्वाभाविक रीति से फूटकर बहती दिखाई दे, तब तक कृति सफल नहीं हो सकती है। और यहाँ यह कमी है।

हमने कहा कि श्री 'अंचल' प्रधानतः कवि हैं। आपकी भाषा अतिशय कवित्वमय और अलंकारिक होती है। कहानी में वैसी भाषा को स्थान देना पाठक से बैर मोल लेना है। क्योंकि जब कविता रमण-वृत्ति को संतुष्ट करती है, तब कहानी कौतूहल-वृत्ति को—जब कि कविता दो बार से लेकर बावन बार तक पढ़ी और सुनी जाती है (भूषण की कविता का शिवाजी द्वारा बावन बार सुने जाने की कथा की ओर निर्देश है) तो कहानी दो बार से तीन बार पढ़ना मुश्किल हो जाता है। इसलिए भाषा की यह जटिलता और शाब्दिक छटा की मनोहरता कहानी के समझने में और रस लेने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती है। कहानी की भाषा में प्राञ्जलता प्रधान गुण होना आवश्यक है। भाषा की इस दृष्टि से श्री 'अंचल' की भाषा आगे चलकर झुकाव की ओर झुकेगी तभी वह 'अंचल'जी का कल्याण करेगी।

कथा-वस्तु की दृष्टि से कहानियाँ पुरानी परिपाटी की हैं। तीन-चार कहानियों को छोड़कर—यथा, 'विनाश का मूल्य', 'आकाश-दीप', 'मंगल प्रभात' और 'तां...' बाकी कहानियाँ साधारण कोटि की हैं, जैसी कि आजकल सभी अख़बारों में बहुतायत से देखने में आती हैं और निम्न द्वितीय श्रेणी की रचनाएँ हैं। यह अवश्य है कि उनमें कहीं-कहीं बड़े उज्ज्वल स्थल हैं, पर वे अन्यथा अँधियारे क्षितिज में रजत पंक्ति की भाँति हैं। और वे जो चार बच रहती हैं, वे उच्च द्वितीय श्रेणी की हैं। 'मंगल प्रभात' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है और अच्छी है क्योंकि उसमें एक अंतर्द्वंद्व का सफल चित्रण है। कहानी तब तक हृदय को नहीं छूती, जब तक कि वह हृदय पर ज़ोर से आघात नहीं करती। 'अंचल'जी के अंदर राख में अंगार की भाँति भीषण ज्वाला होते हुए भी यह आघात की शक्ति अभी तक प्रस्फुटित नहीं हुई है, यह आश्चर्य का विषय है। उनकी कविताओं में शक्ति है। कहानिओं में भी यदि यह शक्ति आ जाय तो क्या पूछना। इसकी आशा हममें है और हम इसका निर्णय काल पर छोड़ते हैं।

'अंचल'जी प्रतिभावान् व्यक्ति हैं। हिंदी के कहानी क्षेत्र में हम उनका हृदय से स्वागत करते हैं और इस शुभागमन के अवसर पर हर्ष प्रकट करते हैं।

पुस्तक सुंदर छपी है और मूल्य भी कम है। पुस्तक संग्राह्य है।

'सुशील'

साहित्य-सर्जक और राष्ट्र-सेवक—एक ग़लतफ़हमी

आचार्य काका साहब कालेलकर और दादा धर्माधिकारी के संपादन में प्रकाशित होनेवाले मासिक 'सर्वोदय' का परिचय हम पाठकों को अपने पिछले अंक में दे चुके हैं। इसी अक्तूबर के 'सर्वोदय' के संपादकीय में काका साहब ने 'राष्ट्र-भाषा का साहित्य-सम्मेलन' शीर्षक से एक संपादकीय टिप्पणी लिखी है। हम आपकी उस टिप्पणी में से निम्न अवतरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं और चाहते हैं कि आप निर्णय करें कि काका साहब द्वारा जो साहित्यकारों के प्रति अन्याय हुआ है उसमें आपकी कहाँ तक सहमति है :

'अपनी अपनी कविता और अन्य रचनाओं के द्वारा हिन्दी को अलंकृत करनेवाले और साहित्य को ही जीवनसर्वस्व समझनेवाले भी भाषासेवक हैं; किन्तु वे मालाकार या सुनार के समान हैं। वे साहित्य के जन्मदाता नहीं गिने जा सकते। इन्हें भी साहित्य-सम्मेलन जैसे भाषा के दरबार में स्थान तो होगा, लेकिन उन्हें भाषा के प्रभु की पदवी नहीं प्राप्त हो सकती। मालाकार और सुनार साहित्य-सेवियों की आज प्रतिष्ठा है, परन्तु आगामी युग सेवकसाहित्यिकों का ही है। वे ही गाँव में जाकर प्राचीन संतों की तरह स्वभाषा और राष्ट्रीय संस्कृति और स्वराज्य-संगठन का संदेशा जनता को सुनायेंगे। वे ही आइन्दा प्राथमिक और उच्च शिक्षा का सारा तन्त्र संभालेंगे। वे ही सब तरह का ज्ञान, सब तरह का कौशल और सब तरह की संस्कारिता श्रमजीवी लोगों तक पहुँचायेंगे; और शायद वे ही राष्ट्र के वृत्त-विवेचन पर कब्जा कर लेंगे। ऐसे लोगों के संचालकत्व में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की शक्ति कल्पनातीत बढ़ेगी और हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने का जो सौभाग्य प्राप्त है, उससे लाभ उठाकर वे आसेतु-हिमाचल अखिल भारत की सेवा करने का अधिकार प्राप्त करेंगे।

'और इस कार्य में वे अकेले नहीं होंगे। अन्यान्य प्रान्तों के राष्ट्र-सेवक भी अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओं से करभार लाकर हिन्दी के दरबार में प्रस्तुत करेंगे; और उनके सह-योग से राष्ट्रीय संस्कृति में भी एक आदर्श परिवर्तन करेंगे।'

इस प्रकार की ही भ्रामक धारणाओं के प्रकाश के कारण हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के प्रति हिन्दी के कार्यशील साहित्यिकों में संशय के भाव घर करने लगे हैं। और यह संशय, ऊपर के उद्धरण के पढ़ने के बाद, आप देखेंगे कि उचित है। तब यदि हिन्दी का लेखक और कवि साहित्य-सम्मेलन की ओर से बदगुमानी रखता है तो क्या अनुचित करता है। यदि वह हिंदी-साहित्य का भंडार नहीं भरेगा तो क्या इतर प्रांतीय अधसीखे और अपरिमार्जित और असंस्कृत हिन्दी-भाषा लिखनेवाले उसके साहित्य का सृजन करेंगे, सवाल उठता है। जवाब हम आप पर छोड़ते हैं। इस प्रकार की लघु बनानेवाली बातों से हिन्दी के साहित्य-सेवी को कितना दुःख पहुँच सकता है, इसकी कल्पना भी क्या काका साहब ने कभी की है? शायद नहीं।

हिंदी पत्रकारी

आज यदि हम हिंदी के अधिकांश पत्रों—मासिक, साप्ताहिक अथवा दैनिक—की ओर दृष्टि उठाते हैं तो हमें अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। आज की आवश्यकता तो यह है कि पत्रकारी (journalism) की गणना भी साहित्य में हो सके। लेकिन आज दुनिया में हम गिनती से चालित होते हैं, विशिष्टता से नहीं। पर यह मूल्यांकन उतना ही भ्रामक है, जितना कि किसी मनुष्य की क़ीमत उसके संचित धन से आँकना। पर आज झूठे मापक प्रयुक्त होते हैं और सफलता प्रतियों की बिक्री और विज्ञापन के द्वारा संचित धन के द्वारा निश्चित की जाती है। ऐसी दशा में, जब कि बहुजनप्रियता और बहुउत्पत्ति ने पत्रकारी के क्षेत्र को घेर लिया है, स्वस्थ पत्रकारी की आवाज़ सुन सकना भी संभव नहीं है, उस आवाज़ के बल का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इन परिस्थितियों में जो पत्र जनता को जीवन और साहित्य की सच्ची शिक्षा देने का प्रयास करता है, उसे निकट भविष्य में किसी साहाय्य अथवा सफलता की आशा के बिना ही अपने सीमित दायरे में अपने प्राण की ज्योति को प्रज्वलित रखना होगा। इसके लिए बाह्य संसार से उसे अपेक्षा ही मिलेगी। पर हितकर, कल्याणकर और करणीय यही होगा। हिंदी में जो पत्र आज निकल रहे हैं उनमें उत्तेजक प्रवृत्ति बहुत वृद्धि पर है। और जब जनता का मानसिक स्वास्थ्य एक बार रोग-ग्रस्त हो गया तो संस्कृति और साहित्य तथा जीवन में जो कुछ पावन है, उसकी इतनी बड़ी क्षति हो चुकेगी कि उसकी पूर्ति कल्पनातीत हो उठेगी। इतने बड़े महापाप के कलंक को उठा सकने की शक्ति के सम्मुख कुछ भी नहीं टिक सकता। पर इस बढ़ते हुए असौंदर्य को रोकना ही होगा—इस कार्य में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न झेलनी पड़ें। और इसका सबसे सरल रास्ता यही है कि हम अपने पत्रों में उसी सामग्री को स्थान दें जो पत्रकारी की दृष्टि से उचित और उपादेय हो। इस प्रकार हम राष्ट्र, साहित्य एवं धर्म की बड़ी सेवा करेंगे और उस जगन्नियता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का कोई एक बहुत छोटा अंश भी पूर्ण करेंगे।

रेखाचित्रांक—एक वचन की पूर्ति

पिछले अंक में हमने वायदा किया था कि आगे के दो-एक अंकों में हम एक-दो रेखाचित्र प्रकाशित करेंगे जिनसे हमारे लेखकों को रेखाचित्र के स्वरूप के विषय में अधिक जानकारी हो सके। अपने इस अंक में हमने अपने उस वचन की रक्षा की है और श्रीमती लीलावती मुंशी लिखित एक रेखाचित्र अनुवाद में प्रकाशित किया है। श्रीमती मुंशी ने रेखाचित्रों के लिखने में विशेष सफलता पाई है और आपके रेखाचित्र पढ़ने पर पाठक देखेंगे कि आपकी अंतर्दृष्टि (insight) कितनी प्रखर है और प्रोफ़ेसर के० टी० शाह के दिल और दिमाग़ का कितना मार्मिक चित्रण आपने उपस्थित किया है। यही रेखाचित्र की सफलता है। आगे भी हम एक और रेखाचित्र प्रकाशित करने का विचार रखते हैं।

रेडियो और हिंदुस्तानी

हम हिंदुस्तानी का पक्ष बराबर लेते रहे हैं। और हमारा विश्वास भी यही है कि हिंदुस्तानी को यदि सचमुच राष्ट्र-भाषा के पद के प्रति न्याय करना है तो उसे उर्दू के आम-फ़हम शब्दों को स्वीकार करना होगा। पर आपने क्या दिल्ली या लखनऊ के रेडियो-स्टेशन से ब्रॉडकॉस्ट की गई हिंदुस्तानी को सुना है? सच तो यह है कि वह हिंदुस्तानी नहीं होती, वह तो उर्दू है। उसको समझने के लिए उर्दू का अच्छा ज्ञान आवश्यक हो जाता है। यह मानते हुए कि उर्दू भाषा सुनने में अधिक प्रभावशाली और शालीन मालूम होती है, उसको समझनेवाले केवल पंजाब में या संयुक्तप्रांत में उर्दू द्वारा शिक्षा पानेवाले घराने के लोग ही हो सकते हैं। यह उन सभी रेडियो-प्रेमियों के प्रति अन्याय है जो इन दो श्रेणियों के बाहर जा पड़ते हैं। इस उर्दू के ग़लत नामकरण का प्रतिवाद रेडियो के संचालकों को शीघ्र करना चाहिये। विचारिये तो सही कि यदि एक हिंदी का जानकार रेडियो पर जाकर ठेठ हिंदी में भाषण करे तो इस प्रकार की हिंदुस्तानी और उर्दू-प्रधान हिंदुस्तानी में कितना बड़ा अंतर पड़ जायगा और बेचारा रेडियो का प्रेमी हिंदुस्तानी के विषय में क्या राय कायम करेगा। आशा है शीघ्र से शीघ्र इस ग़लती का परिमार्जन हो जायगा।

नव वर्ष—नव आदर्श

इस अंक से 'हंस' अपने नवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। हिंदी पत्रों के अल्प जीवन में 'हंस' के जीवन के आठ लंबे वर्ष महत्त्व-शून्य नहीं हैं। किन-किन परिस्थितियों के बीच गुज़रकर भी वह आपकी सेवा करता रहा है इसका ध्यान केवल आप एक बार कीजिये। और आज नववर्षारंभ पर वह एक नई स्फूर्ति, एक नये उल्लास से अपनी वर्षगाँठ मना रहा है। आप भी इस पुनीत अवसर पर उसे अपना आशीर्वाद दीजिये और वह भी यह प्रार्थना करे कि वह अपने को आपके आशीर्वाद का हक़दार बनाये रखेगा। इस प्रार्थना में हम अपना पूर्ण योग देते हैं।

नव आदर्शों को स्वीकृति प्रायः शीघ्र नहीं मिला करती। परंतु परिवर्तन जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। और इसीलिए नवीनता—वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो—नितांत आवश्यक है। आज 'हंस' अपने नव (जो सचमुच बिल्कुल नव नहीं हैं) आदर्शों को लेकर संसार के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। आप भी उसके आदर्शों की स्वीकृति की प्रगति में अपना हार्दिक सहयोग प्रदान कीजिये।

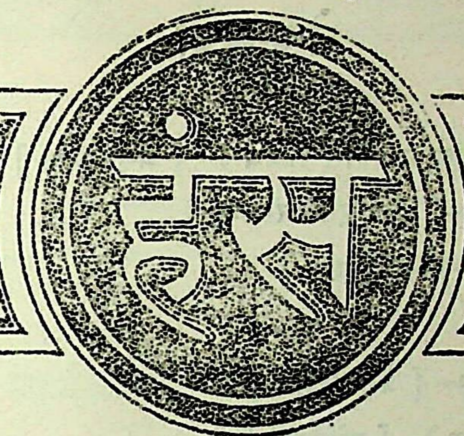
प्रत्येक परामर्श का हम हृदय से स्वागत करेंगे।

हंस

एक सहायक

हमारे पास हैदराबाद (दक्षिण) से 'हंस' के एक प्रेमी ने 'हंस' के दस ग्राहकों का शुल्क इसलिए भेजा है कि हम किन्हीं दस संभ्रांत महिलाओं को जो इच्छा रहते हुए भी 'हंस' नहीं मँगा सकतीं, बिना मूल्य 'हंस' एक वर्ष तक प्रदान कर सकें । उन सहायक के प्रति हम कृतज्ञ हैं । और साथ ही हम चाहते हैं कि वे महिलाएँ जो इस सहायता से लाभ उठाना चाहती हैं, कृपया हमें लिखें ।

[*Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P. and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions.*]



आन्तरप्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय

●

सलाहकारी सम्पादक-मंडल

●

हिन्दी—श्रीराम शर्मा

उर्दू—मौलाना अब्दुलहक़

मराठी—वि० स० खाण्डेकर

गुजराती—रा० वि० पाठक

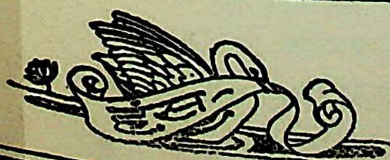
उड़िया—कालिन्दीचरण पाणिग्राही

बँगला—श्रीनन्दगोपाल सेन-गुप्त

पंजाबी—प्रो० मोहन सिंह

[इस सूची के अगले मास सम्पूर्ण हो जाने की आशा है।]

वर्ष ६ : अंक २ : : नवम्बर, १९३८ : कार्तिक, १९९५



वार्षिक मूल्य ६)
अर्द्ध-वार्षिक मूल्य ३॥)
एक अंक का आठ आना

विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ८)
" ७½ " " ५)

लेख-सूची



नवम्बर, १९३८ वर्ष—९ : अंक—२ कार्तिक, १९९५

विश्व साहित्य की प्राचीनतम कहानी

[अमृतवसंत]

[श्री अमृतवसंत पुरातत्त्ववेत्ता हैं और साथ ही सफल लेखक भी हैं। आपके लेख हिन्दी पत्रों में छपते रहते हैं। गुजराती साहित्य में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आजकल आप अहमदाबाद में रहते हैं। —सं०]

भूमिका

भारतवर्ष का साहित्य संसार में सबसे पुरातन है; परन्तु इसका प्राचीनतम अंश ऐतिहासिक तथा तात्त्विक यथार्थता से सम्बन्धित है। वास्तव में कहानी शब्द से, जिस अर्थ का बोध होता है, वह चीज़ तो बौद्धकाल और उसके बाद के साहित्य में मिलती है। पाश्चात्य विद्वान भी अब मानने लगे हैं कि यूरोप के घर-घर में प्रचलित ईसप की कहानियों का मूल भी बौद्ध कथाओं में ही है। हितोपदेश, पंचतंत्र और कथा सरित्सागर की कहानियों की शैली और पश्चिमी एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ़्रिका की प्राचीन कहानियों की शैली में समानता है। उन विदेशी कहानियों में से तद्देशीय नाम और स्थल निकाल दिये जायँ तो वे भारतीय शैली की हो जायँगी। पुरातन जातियों की कहानियाँ उपलब्ध होने से इस प्रकार की समानता आकस्मिक नहीं कही जा सकती। यह बात सिद्ध करती है कि भारतवर्ष के साथ पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ़्रिका, और यूरोप की सुमेर, हिटाइट, एमोराइट, इजिप्शीयन, ईजियन, क्रीटन, गोथ, नार्डिक तथा ग्रीक आदि जातियों का सांस्कृतिक सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

रसात्मक साहित्य की उत्पत्ति विचारात्मक साहित्य से पहले की है। और कहानियाँ रसात्मक साहित्य का सबसे पुराना अंग हैं। प्रारम्भ में कहानियों का संबंध सत्य घटनाओं के साथ रहता था। ज्यों-ज्यों मानव-जाति की कल्पना-शक्ति और रसानुभूति का विकास होता गया ये प्रारम्भिक कहानियाँ Romance की ओर प्रगति करती गईं।

स्मरण, अभिनय, चित्र और लिपि ये साहित्य को सुरक्षित रखने के चार मुख्य साधन हैं। सबसे पहले कहानियाँ कंठस्थ रखकर कही जाती थीं। बाद में अभिनय द्वारा वे जनता के

१].

सामने प्रदर्शित की जाती थीं। बहुत पहले—मानव-जाति के कृषि, ग्राम और धातुओं के उपयोग के आविष्कार से भी हज़ारों वर्ष पूर्व इन प्रणालियों का जन्म हो चुका था। संसार की सभी सभ्य और असभ्य जातियों में ये प्रणालियाँ समान रूप से प्राप्त हैं।

प्रशान्त महासागर के द्वीपों में बसनेवाली जङ्गली जातियों की सुन्दर, कंठस्थ और अभिनयमय कहानियों के कई संग्रह यूरोप में प्रकाशित हो चुके हैं। जब मानव-जाति कुछ संस्कृत हुई तो चित्र बनाकर कहानियाँ सुरक्षित रखने की प्रणाली का जन्म हुआ। दक्षिणी अफ्रिका की हॉटेंटॉट और बुशमेन जातियों की ईंटों पर चित्रित हज़ारों कहानियाँ प्राप्त हुई हैं और उनके संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। भारतवर्ष में संस्कृत का श्री गणेश हुआ और मानवजाति सप्त-सिंधु की भूमि में सर्वप्रथम कृषक बनकर सुखी हुई। गाँव बसे, समाज व्यवस्थित किया गया और व्यापार का प्रारम्भ हुआ। यों सभ्यता ने आर्यावर्त की पवित्र भूमि में प्रथम चरण रखा। दूसरे चरण में लिपि का आविष्कार हुआ और साहित्य लिपिबद्ध हुआ। लगभग ६००० वर्ष पूर्व की यह घटना है।

जल-प्रलय की कथा

३४६६ ई० पू० में जब कि उत्तरी भारत में शीघ्रता से सामाजिक सुधार हो रहे थे उफ़ातु (युफ्रेटीज़) नदी में सात दिन-रात की सतत मूसलाधार वृष्टि के कारण एक भयंकर बाढ़ आई। जिसके फलस्वरूप निःसहाय प्रोटोइलामाइटो का विनाश हो गया। लाखों लोगों का प्राण इस जल-यज्ञ में स्वाहा हो गया। इस लघु जन-समुदाय की दृष्टि में इनका निवास स्थान ही पृथ्वी था। और इनका विश्वास था कि इनकी जाति ही समूची मानव-जाति है। जो लोग इलाम के उच्च प्रदेशों के निवासी होने के कारण बच गये थे, वे इस अशुभ देश को अन्तिम नमस्कार कर अपने असली वतन आर्यावर्त में चले आये। उनके लिए वह सारी मानव-जाति का संहार था और उनकी सारी पृथ्वी उस बाढ़ में जलमग्न हो चुकी थी। आर्य-जाति पर अभी तक आई हुई विपत्तियों में यह सबसे भयंकर विपत्ति थी। आर्यावर्त के ऋषि-मुनियों ने शतपथ ब्राह्मण में इस घटना को कथारूप में लिखा है। आर्य-साहित्य की यह प्रथम साहित्यबद्ध कहानी है। सारे आर्य-समुदाय में घर-घर यह विपत्ति-कथा प्रचलित हुई और समय के विस्तार के साथ मानव-कल्पना ने इसे विविध आकर्षक रंग प्रदान किये।

प्रलय की यह कथा संसार के प्राचीन कंठस्थ और लिपिबद्ध साहित्य में सबसे अधिक प्रचारित हुई है। भारतवर्ष के पश्चिम में पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रिका और सारे यूरोप में इसका प्रचार हुआ। पूर्व में चीन, इन्डोचीन, और फिर प्रशान्त महासागर के उस पार उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका तक इसका प्रचार पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका की असभ्य जातियों में, उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनों में, पोलीनेशिया के द्वीप-समूहों में, आस्ट्रेलिया के जंगलों में, अरब और सहारा के मरुस्थलों में, पीले चीन के दुर्गम स्थानों में, आल्प्स की पहाड़ी तलहटियों में, फ्रान्स और स्पेन के हरे-भरे मैदानों में, आइसलैण्ड के बर्फ़ीले प्रदेश में और अफ्रीका के घने जङ्गली अंधकार में सर्वत्र प्रलय की यह कथा कंठस्थ रूप में सुनने को मिलेगी। भारतीय आर्यों के शतपथ ब्राह्मण, महाभारत, अग्निपुराण और मत्स्यपुराण में, ईंटों पर लिखे गये सुमेरियन गिलगमेश महाकाव्य में, फ़ारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ शाहनामा में, बेबीलोनियन और असीरियन जातियों द्वारा निर्मित मिट्टी के बर्तनों पर, मिश्र देश के पेपीरसों में, ईजियन सभ्यता के

समय की बनी नोसोस की दीवालों पर, यूनानी साहित्य में, यूरोप के प्राचीनतम सेगा और एड्डाओं में, बाइबिल में, क़ुरान में, चीनी साहित्य में और मैक्सिको के माया तथा अज़टेकों के प्राचीन ग्रन्थ पोपोलवुह में प्रलय की यह कथा एक-सी शैली में पाई जाती है। कथा-नायकों के नामों के सिवा कथानक और शैली में सर्वत्र समानता पाई जाती है। महा-वृष्टि से प्रलय का आगमन; देव द्वारा जाति के मुखिया को उसकी तथा उसके कुटुम्ब की रक्षा के लिए भावी दुर्घटना की पहले से ही चेतावनी; मुखिया का नाव बना उसमें अपने कुटुम्ब को बिठा, आवश्यक खाद्य वस्तुएँ भर, भावी सृष्टि के लिए प्राणियों के बीज साथ लेना; विश्व-व्यापी प्रलय, और सम्पूर्ण मानव-जाति का पाप के कारण विनाश; नाव का उत्तरी पहाड़ों की ओर गमन और अंत में प्रलय के जल का उतरना। वहाँ देवों का आगमन; मुखिया द्वारा यज्ञ-हवन, और बाद में नवीन प्राणी सृष्टि की रचना। सभी प्रलय-कथाओं में ये बातें एक ही क्रम में मिलती हैं। मानवशास्त्री, प्राचीन साहित्य के विद्यार्थी, पुरातत्त्व-विशारद और संस्कृति-कोविद साश्चर्य विचारते हैं कि अखिल मानव-जाति के ज़बानी तथा लिखित साहित्य में आख़िर क्यों यह प्रलय-कथा एक जैसे रूप में प्राप्त होती है? क्या प्रारम्भ में एक ही मूलस्थान से मानव-जाति सम्पूर्ण जगत में फैली और अपने जन्म-स्थान से यह कथा अपने साथ लेती गई? अभी तक इस रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ। इसी बात के आधार पर सर इलीयट स्मिथ का The theorey of the diffusion of cultures from a common centre वाला सिद्धान्त रचा गया। सूर्योपासना, स्वस्तिक चिह्न और एकेश्वरवाद की सर्वव्यापी भावनाओं ने इस सिद्धान्त को सहारा दिया। सर स्मिथ के सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान भूमध्य सागर के स्थान पर पहले फलद्रुप उपत्यका थी। यहीं मानवी-संस्कृति का प्रारम्भ हुआ था। कालान्तर में अटलांटिक महासागर का पानी इस उपत्यका में भर गया और प्रलय-कथा के रूप में उसकी स्मृति संचित की गई। जो जातियाँ इस विनाश-काण्ड में से बच सकीं वे थोड़े-बहुत प्रमाण में सारे संसार में फैल गईं और अपने साथ प्रलय-कथा, सूर्योपासना और स्वस्तिक-चिह्न भी लेती गईं।

परन्तु मेरा विश्वास इससे जुदे प्रकार का है। मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि प्रलय क्या था। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कैसे इसकी कथा विश्व-व्यापिनी हुई?

वैवस्वत मनु के समय की यह घटना है। इस संहार-कथा ने आर्य जाति का इतना अधिक ध्यान खींचा कि घर-घर में वह पहुँच गई और लोक-कथा बन गई। कृषक-वर्ग की नौका विज्ञान की अनभिज्ञता से ही वह विनाश संभव हो सका था। उसके प्रतिकार के लिए प्रलय के बाद आर्यों ने क्षिप्रगति से इस विज्ञान में उन्नति की और पूर्णता को पहुँचाया। वैवस्वत मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को यह कार्य सौंपा। सुराष्ट्र इसका केन्द्र स्थान बना। ३३८३ ई० पू० में इक्ष्वाकु जहाज़ों का एक बड़ा पोत ले जल-मार्ग से ईराक (मेसोपोटेमिया) पहुँचा और तब आर्य ईलाम तथा ईराक में जा बसे। सौराष्ट्र-निवासी जो आर्य सुपण वणिक थे, वे वहाँ सुमेर कहलाये। उत्तरी हिन्द के क्षत्रियों का एक बृहत् समुदाय एशिया माइनर के फल-फूलोंवाले ऊँचे प्रदेश में जा बसा। बाद में यही जाति पश्चिमी एशिया की शक्तिशाली 'खत्तीआ' जाति के नाम से पहचानी जाने लगी। बाइबिल में इसके लिए हिटाईट शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्होंने ही ईजीअन, ट्रोज़न तथा ग्रीक-संस्कृति को जन्म दिया था।

आर्य-संस्कृति तथा जातियों के विस्तार के साथ जल-प्रलय की वह कथा विश्व-व्यापी बनी। अमेरिका में संस्कृति स्थापित करने का कार्य देवासुर-संग्राम का कारण हुआ। और प्रलय के बाद देवासुर-संग्राम की कथा आर्य-जाति की प्रधान लोक-कथा बनी। इसका भी असर सारे संसार पर पड़ा। इसीके परिणाम-स्वरूप सब धर्मों में ईश्वर और शैतान, देव और राक्षस की परस्पर-विरोधी कथाओं का समावेश हुआ। मेक्सिको के माया स्थापत्य में ये घटनाएँ पत्थर पर खोदी हुई प्रत्यक्ष मिलती हैं।

आदम और अदन के बग़ीचे की कहानी

बाइबिल और क़ुरान में वर्णित आदम, इव तथा अदन के बग़ीचे की कहानी भी ध्यान खींचने जैसी है। परन्तु वह न तो इतनी प्राचीन ही है और न इतनी व्यापक ही। ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के साथ उसका प्रचार हुआ है। फिर उसका मूल भी भारतीय ही है। अदन का बग़ीचा उत्तरी भारत का प्रदेश था। उसमें बहनेवाली सिहोन, गिहोन और हेडेकल नदियाँ सिंधु, गंगा, और सरस्वती थीं। बाइबिल Genesis के प्रथम अध्याय में लिखा है कि गिहोन ईश्वर के सिंहासन के नीचे से बहकर पृथ्वी पर उतरती है और वहाँ जाकर तीन धाराओं में विभक्त हो जाती है। गंगा की उत्पत्ति कथा के साथ भी इस रूपक का सादृश्य है। क्योंकि वह भी कैलाश-पर्वत पर स्थित शिव के सिंहासन के नीचे से बहकर निकलती है और आगे चलकर मन्दाकिनी, गंगा तथा भागीरथी नाम की उसकी तीन धाराएँ हो जाती हैं। फिर लिखा है कि अदन के बग़ीचे के उत्तर में एक इतना ऊँचा और विशाल पहाड़ है कि प्रलय का जल उसके निचले भागों को ही छू सका था। भारत के उत्तर में स्थित हिमालय पर्वत दुनिया भर में सबसे ऊँचा पर्वत है। जिस अदन के बग़ीचे में मानव-जाति और मानव-संस्कृति की उत्पत्ति हुई थी, वह वास्तव में उत्तरी भारत का ही प्रदेश था।

संसार के प्राचीनतम साहित्य में मिलनेवाली कथाएँ वास्तविक घटनाओं के साथ संबंधित हैं, और ऐतिहासिक तत्त्व भी रखती हैं। इसलिए इनमें Romance नहीं पाया जाता। सच्चे अर्थों में जिसे कहानी कहा जाता है, वह ये नहीं हैं। यद्यपि ऐसी वस्तुएँ लोक-कथा के रूप में प्रचलित अवश्य हैं; परन्तु लिखित साहित्य में वे नहीं पाई जातीं। प्राचीनकाल में, भारत में, निश्चय ही वे लिपि-बद्ध हुई होंगी; परन्तु आज वे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। चान्हुडेरो की खुदाई में मिट्टी के ऐसे कुछ बर्तन मिले हैं, जिन पर से सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ आज से ५००० वर्ष पूर्व साहित्य लिखा जाता था। परन्तु वह अपनी प्राचीन संस्कृति के साथ उसके खंडहरों के नीचे दबकर भूगर्भ की नमी में नष्ट हो गया। मिश्रदेश की आबहवा इतनी गर्म है कि वहाँ पृथ्वी में बहुत गहरे तक नमी नहीं पाई जाती; इससे पेपीरस वृक्ष की छाल पर लिखा हुआ साहित्य खंडहरों के नीचे से सुरक्षित दशा में मिल जाता है। पश्चिमी एशिया में पाषाण-शिलाओं और मिट्टी की मोटी-मोटी ईंटों पर लिखने की प्रथा थी। इसलिए वहाँ के जीर्ण शीर्ण और पुराने स्थानों में हज़ारों वर्ष पहले का साहित्य निकल आता है। वह साहित्य भी प्राचीन भारतीय साहित्य जैसा ही धार्मिक अथवा ऐतिहासिक है। सुमेर साहित्य में कल्पना की ऊँची उड़ानें नहीं पाई जातीं।

संसार के सभी उपलब्ध प्राचीनतम साहित्यों में केवल मिश्र देश ही के साहित्य में

सबसे प्राचीन कहानी मिलती है और वह भी ऐसी कि जो 'कला कला के लिए' की दृष्टि से लिखी गई हो। यहूदी जाति के धर्मशास्त्र निर्माता तथा इस्लाम और ईसाई धर्म के पैग़म्बर समझे जानेवाले मूसा नबी को उनकी माता ने एक टोकरी में रख नील नदी में बहा दिया था। बहती हुई वह टोकरी मिश्र के राजा रामेसीज़ द्वितीय (ई० पू० १३१७-१२५०) की पुत्री ने देखी और उसे उठा ली। खोलने पर उसे उसमें से एक सुन्दर बालक मिला। राजकुमारी ने अपने पिता से इस घटना की चर्चा की। राजा ने उस लड़के को रख लिया और अपने पुत्र के साथ उसका लालन-पालन करने लगा ! वह बालक राजकुमार सेती-मेनीफत्ता के साथ-साथ रहता और उसके साथ ही उसकी शिक्षा-दीक्षा का भी प्रबन्ध किया गया।

उन दिनों मिश्र की राजधानी तेपीऊ नगर में (Thebes of the Greek historians) 'अन्नाना' नाम का एक कहानी लेखक राज्याश्रय में रहता था। राजकुमार सेती-मेनीफत्ता के पाठ्य-क्रम के लिए उसने एक कहानी मिश्र की तत्कालीन चित्र-लिपि (Heirogiyphics) में लिखी। राजकुमार के साथ-साथ मूसा ने भी उस कहानी का अपने पाठ्य-क्रम में अध्ययन किया। प्राचीन मिश्री साहित्य की सुन्दर कृतियों में से वह एक है। जिस पेपीरस-पत्र पर वह लिखी गई थी, उसे ट्युनिस के एक ग़रीब आदमी से सस्ते दामों किसी इटैलियन यात्री ने ख़रीदा। प्रख्यात फ्रेंच पुरातत्ववेत्ता डी'रूजे ने उस लिपि को पढ़कर उक्त कथा का भाषांतर किया और वह पेपीरस पत्र ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखा गया।

यूसुफ़ तथा पोटिफ़र की कहानी

साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनो दृष्टियों से यह कथा महत्त्वशाली है। यह यहूदी और ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल का पुराना इक़रार (The Old Testament) भी है। यहूदी जाति का पुराना इतिहास भी इसमें लिखा गया है। ऐसा विश्वास है कि महात्मा मूसा ने इसके सभी आख्यानों का संकलन किया होगा। इस ग्रन्थ के उत्पत्ति-कांड (Genesis) के अन्तिम भाग में यूसुफ़ की कथा आई है। यूसुफ़ याक़ूब (Jacob) का लड़का था। पिता का उसपर अत्यधिक प्रेम होने से वह दूसरे भाइयों की ईर्ष्या का शिकार हुआ। भाइयों ने उसे मिश्र जाते किसी क़ाफ़िले का ग़ुलाम बनाकर बेंच दिया। क़ाफ़िले ने उसे मिश्र के राज-मंत्री पोटीफ़र को बेचा।

यूसुफ़ पोटीफ़र का इतना विश्वासपात्र नौकर हो गया कि पोटीफ़र ने अपनी सारी संपत्ति की रक्षा के लिए उसे नियुक्त कर दिया। यूसुफ़ सुन्दर था। पोटीफ़र की पत्नी उस पर मोहित हो गई। एक दिन पोटीफ़र जब घर नहीं था, उस अवसर का लाभ ले उसकी पत्नी ने यूसुफ़ से प्रणय-याचना की। यूसुफ़ के अस्वीकृत करने पर वह क्रोधित हुई और बदला लेने के विचार से अपने अन्य नौकरों को बुलाकर उसने कहा—देखो, यह यूसुफ़ मुझसे बलात्कार करने आया था। पोटीफ़र को इस बात की सूचना मिलते ही उसने निर्दोष यूसुफ़ को बन्दीगृह में डाल दिया।

कहते हैं कि यूसुफ़ के जीवन का यह प्रसंग तो मूसा की एक कल्पना ही थी। शायद राजकुमार सेती-मेनीफत्ता के साथ पाठ्यक्रम में पढ़ी अन्नाना की लिखी उस कहानी की छाया भी हो सकती है। इस घटना के सत्यासत्य के निर्णय के लिए अभी कोई ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध नहीं है। हाँ, दोनो घटनाओं में एक सामंजस्य अवश्य है। हमारे प्राचीन साहित्य में भी नारी-जाति

के ऐसे अनेकों विश्वासघातों की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। पंजाबी लोक-कथा पूरणभक्त में का प्रसंग मिश्रदेश की लोक-कथाओं से मिलता-जुलता है। शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि की रानी पिंगला और उसके देवर विक्रम के बारे में भी एक ऐसी ही कथा कही जाती है।

मिश्र-साहित्य की ऐसी ही एक कहानी पूरी की पूरी यहाँ उद्धृत कर यह लेख समाप्त किया जायगा।

बताउ और अनेपु दो छोटे-बड़े भाई थे। अनेपु विवाहित था; परन्तु बताउ अवस्था में बहुत छोटा था और माता-पिता की मृत्यु के बाद अनेपु ने ही उसका पालन-पोषण कर उसे बड़ा किया था। बताउ बहुत ही परिश्रमशील था और उसके जैसा परिश्रमी सारे देश में दूसरा कोई नहीं था। वह अपने भाई और भाभी के कपड़े सीता, दुधारू पशुओं को चराने ले जाता, और बैलों को काम करने खेत पर ले जाता। बड़ा भाई अपनी पत्नी से बेहद प्यार करता। वह दिन भर घर पर ही रहता और बताउ की अनुपस्थिति में दोनो पति-पत्नी मालताल उड़ाते। जब दिन भर का काम समाप्त होने आता, अनेपु बताउ की सहायता करने खेत पर जाता। कई बार ऐसा भी होता कि अनेपु खेत पर जाता ही नहीं और केवल काम की गर्दिश के दिनों ही सारा दिन खेत पर रहता। नील की बाढ़ उतरते ही खेत पानी से बाहर दीखने लगते और उसी समय उन्हें जोतने की भी शीघ्रता की जाती। इन दिनों काम समय से पूरा कराने के लिए मज़दूर रखने पड़ते थे। ऐसे व्यस्त समय में बताउ का उत्तरदायित्व बढ़ जाता था। वह सवेरे सबसे पहले उठता और खेत पर जा मज़दूरों के काम का बँटवारा करता। साथ ही उनके लिए खाना भी लेता जाता। वहाँ से निवृत हो पशुओं को घास चराने ले जाता। बताउ की ममत्वपूर्ण साल-सँभाल के कारण सभी पशु हृष्ट-पुष्ट थे और उनकी संख्या में भी वृद्धि हुई थी।

खेत जोते जा चुके थे। अब उनमें बीज बोना बाक़ी रहा था। आख़री दिन थोड़े से बीज कम हो गये। अनेपु ने बताउ को घर बीज लाने भेजा। बताउ गया। घर पर उसकी भाभी माँग काढ़ रही थी।

'भाभी, खेत पर बीज कम हो गये हैं। ज़रा उठकर दे दो। दादा ने कहा है कि दौड़ते हुए लाना।'

'अधूरी माँग छोड़ मैं कैसे उठूँ? तू ही कोठार में से जितने चाहियें उतने ले जा।'

बताउ एक टोकरी में गेहूँ और दूसरी में बाजरी भर, जाने लगा।

उसे जाता देख भाभी ने पूछा—कितने ले जा रहा है?

'भाभी, तीन नाप गेहूँ और दो बाजरी, कुल पाँच नाप ले जा रहा हूँ।'

'खड़ा तो रह, ऐसी क्या जल्दी है? ज़रा बात तो सुनता जा!'

'भाभी, देर हो रही है। दादा बिगड़ेंगे।'

'बिगड़ेंगे क्यों? इधर तो आ।'

बताउ गया। कामान्ध भाभी हाथ पकड़ उसे घर में खींचकर ले जाने लगी। बताउ ने उसका हाथ झटक दिया और ग़ुस्से में भर उसे उसके इस अनुचित बर्ताव पर खरी-खोटी सुना बीज की टोकरियाँ उठा चलता बना।

साँझ हुई। नित्य के अनुसार अनेपु खेत से घर लौटा। घर में अन्धेरा था। आज उसकी पत्नी ने दिया नहीं बाला था। प्रतिदिन की भाँति पानी का लोटा ले सामने भी नहीं

आई थी। आख़िर बात क्या है ? भीतर जाकर देखा कि मानो किसी भयंकर वेदना में वह बेहाल पड़ी है।

'प्यारी, तुझे क्या हुआ ?'

'......................'

'बता तो सही ? हुआ क्या ? कहीं दर्द है ?'

'.................'

(क्रोधित मुख देखकर) 'क्यों, किसी ने कुछ कहा तो नहीं ?'

(सिर हिलाती है।)

(क्रोध में भर) 'वह दुष्ट कौन है ?'

'और कौन ? तुम्हारा कलमुहाँ भाई ! (रोने लगती है।)

'हें, उसने क्या कहा ?'

'तुमने खेत से बीज लेने भेजा तो मुझे अकेली देख बलात्कार करना चाहा। प्राणों की परवाह किये बिना मैंने अपनी लाज रखी तो मुझे पीटकर भाग गया।'

अनेपु को उत्तेजित करने के लिए उस कुलटा का इतना ढोंग और वे शब्द बस थे। उसकी आँखों में ख़ून उतर आया। चेहरे पर लाली छा गई। वह हाथ में फरशा ले जिस द्वार से बताउ घर में प्रवेश करनेवाला था, उसके पीछे छिपकर खड़ा हो गया।'

बताउ को काम पूरा करना था इसलिए वह पीछे रह गया था। ढोरों को ले जब वह घर के समीप आया तो भाभी ने पिछवाड़े की खिड़की से चेतावनी दी कि तेरा बड़ा भाई तुझे मार डालने द्वार के पीछे फरशा ले छिपा खड़ा है। ध्यान रखना ! द्वार के पास आ बताउ ने छिपे हुए बड़े भाई के पाँव देखे। वह सिर पर का बोझा वहीं गिरा अपने प्राण लेकर भागा। आगे-आगे छोटा भाई और पीछे-पीछे फरशा हाथ में लिये बड़ा भाई भागने लगे। बताउ की साँस भरने लगी और उसने सूर्य देव से प्रार्थना की—हे सूर्यदेव, तू सत्यासत्य का ज्ञाता है, न्यायी है ; इसलिए हे दयानिधान, मेरी रक्षा कर।

पलक झपते ही दोनो भाइयों के बीच एक नदी बन गई।। उसमें थे खाऊँ-खाऊँ करते असंख्य मगर। अनेपु इस पार और बताउ परले पार। दोनो ठहर गये। अनेपु इसे सह न सका। उसने बताउ को मारने को फरशा फेंका ; परन्तु बताउ बच गया। वह बोला—दादा, सवेरा होने तक तुम वहीं खड़े रहोगे। मैं निर्दोष हूँ इसलिए सूर्यदेव ने यह नदी बना मेरी रक्षा की। सवेरा होने पर जब सूर्यदेव पधारेंगे तब मैं उनके समक्ष सब सच्ची बात कहूँगा। दादा...(गद्-गद् कण्ठ से) दादा ! मैंने कभी स्वप्न में भी तुम्हारा या भाभी का बुरा नहीं सोचा। अब मैं उस पार कभी नहीं आऊँगा। यहाँ से सीधा शाहबलूत के पहाड़ की ओर चला जाऊँगा।

पूर्व में लाली फूटी और थोड़ी-सी देर में सूर्य भगवान प्रकट हुए। उनके प्रकाश में दोनो भाइयों ने एक दूसरे को देखा। बताउ ने कहना आरम्भ किया—

'दादा, सुनो ; इन सूर्यदेव को साक्षी रख कहता हूँ। कल दोपहर में तुमने मुझे दौड़कर बीज लाने घर भेजा था। भाभी माँग काढ़ रही थीं। मैंने उन्हें बीज देने के लिए कहा। वह बोलीं कि मैं माँग अधूरी छोड़ कैसे उठूँ ? तू ही कोठार में से आवश्यकतानुसार ले ले।

मैं तीन गेहूँ के और दो बाजरी के नाप भरकर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे रोका और मेरा हाथ पकड़ अन्दर ले जाने लगीं और न कहने जैसी बातें कहने लगीं। मैंने कहा—भाभी, आप मेरी माता के समान हैं। यह क्या कहती हैं? यों कह हाथ छुड़ा मैं चला गया। इसलिए वह मुझ पर क्रुद्ध हो गईं और बदला लेने की भावना से अपने हाथों चोट लगा ली। इसके बाद जो कुछ हुआ उसे तुम जानते ही हो।

'दादा, क्या तुम भूल गये कि तुम्हारा और मेरा रक्त एक ही है। माता-पिता के मर जाने के बाद तुम्हीं ने मुझे पुत्र की नाईं पाल-पोसकर बड़ा किया। मैंने तुम्हें पिता और भाभी को माता * के समान पूजनीय समझा है। आजतक मैंने कभी तुम्हें क्रोधित होने का मौक़ा तक नहीं दिया और तुम मुझे फरशा ले मारने दौड़े।'

इतना कह बताउ फूट-फूटकर रोने लगा; बताउ का दिल भी भर आया। उसकी आँखों से आँसुओं की गंगा-जमुना बहने लगी। वह अपने प्रिय छोटे भाई को छाती से लगाने उसकी ओर दौड़ा; किन्तु मगरों से भरी नदी उसके मार्ग में बाधा-स्वरूप थी। बताउ स्वस्थ हो फिर कहने लगा—

'दादा, तुम भी बिना कुछ सोचे-विचारे मुझे मारने दौड़े।...अब मैं तुम्हारे संग नहीं रहूँगा। आज से मेरा मार्ग अलग होता है। उस घर को जिसमें मैं छोटे से बड़ा हुआ; उन खेतों को, जिन्हें मैंने अपने पसीने से सींचा; उन बैलों को, जिन्हें मैने प्यार से पुचकार-कर पुष्ट किया, और मेरे सभी साथियों को बताउ के अन्तिम प्रणाम कहना। अपने ढोर-डाँगरों को अब तुम्हीं सँभालना। राजी-खुशी घर जाओ। मैं तो यहाँ से शाहवलूत ‡ के पर्वतों की ओर चला जाऊँगा।

'और दादा, यदि तुम्हारी मुझसे मिलने की इच्छा हो तो वहाँ आना। परन्तु तब तक मेरी यह आत्मा इस शरीर को छोड़ चुकी होगी। पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर जो शाहवलूत का वृक्ष है, उसकी सबसे ऊपर की फुनगी पर खिले पुष्प में मेरी आत्मा निवास करेगी। जब वह वृक्ष कटकर पृथ्वी पर आ गिरेगा, तभी मेरी आत्मा, जो पुष्प से फल में परिणत हो जायगी, पृथ्वी पर आ रहेगी। आज से सात वर्ष बाद यह घटना घटेगी। इसलिए तुम्हें तब तक ठहरना पड़ेगा। यदि तुम कष्ट सह सको तो ही वहाँ आना। जिस दिन वह वृक्ष भूमि पर पड़े, उसी दिन फल को तोड़ यदि ठण्डे पानी में डालोगे तो मेरी आत्मा तुम्हारे साथ बातचीत करेगी और यह भी बतलायेगी कि आगे मेरे लिए क्या किया जाय। इसलिए जब तुम आओ तो साथ में

---

* कितना स्वाभाविक चित्रण है! भाभी को माता के समान पूज्य-दृष्टि से देखने की प्रथा आर्य-संस्कृति के सिवा और कहीं नहीं पाई जाती। मिश्र देश की ग्रामीण जनता के आदर्शों का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

‡ यह स्थान एबिसीनिया के पहाड़ों में कहीं होगा; क्योंकि शाहवलूत cedar वृक्षों के जंगल मिश्र देश के सबसे समीप इसी देश में हैं। पुराने ज़माने के मिश्रदेशवासी भी योग-साधना किया करते थे। जिस तरह भारतीय योगी उत्तराखंड के हिमालय पर्वत पर जाते हैं, उसी तरह मिश्र देश के योगी शाहवलूत पर्वत पर जाते थे। यह समानता भी प्राचीन भारत और मिश्र देश के आपसी सम्बन्ध को प्रमाणित करती है।

एक बोतल जौ का पानी लेते आना। मेरी आत्मावाले फल को उसमें डाल बोतल का मुँह बन्द कर उसे घर ले आना।'

इतना कह बताउ शाह वलूत के पहाड़ की ओर चल दिया और अनेपु ने घर की राह ली। घर आ, शोक मग्न हो, वह कपाल पर हाथ दिये बैठा रहा। थोड़ी देर बाद उसने फरशा उठाया और अपनी बेवफ़ा पत्नी को मार डाला। उसे इतने से ही सन्तोष न हुआ। उसने उसका शव कुत्तों के आगे डाल दिया और छोटे भाई के वियोग में दुःख-मग्न हो गया।

(२)

कई दिनों की संकट भरी यात्रा के बाद बताउ शाह वलूत के पहाड़ पर आ पहुँचा। वहाँ उसने एक झोंपड़ी बनाई। नित्य सवेरे उठ प्राणियों का शिकार कर पेट पूजा करता और साँझ होते ही झोंपड़ी में आ पड़ रहता। एक दिन शिकार करते अचानक नौ देवों के साथ उसकी भेंट हो गई। वे सब देश की आवश्यकताएँ पूरी करने यात्रा पर निकले थे। बताउ को देख उन्होंने आपस में कुछ काना-फूसी की और फिर उसे कहने लगे—बताउ, बताउ, ओ देवताओं के बैल! अपना देश छोड़ तू यहाँ अकेला क्यों पड़ा है? घर पर तेरा बड़ा भाई तेरे वियोग में शोक-विह्वल हो रहा है। उसने अपनी पत्नी को मार डाला है। इसलिए तू घर जा और सुख से अपना जीवन व्यतीत कर।

बताउ इस बात के लिए राज़ी नहीं हुआ। देवों ने उसे ख़ूब समझाया, परन्तु उसने अपना निश्चय नहीं बदला। देवों ने विचार किया कि इसे एक स्त्री दे देना चाहिये, जिसके साथ यह अपने दिन आनन्द से बिता सके। सूर्यदेव ने अपनी पत्नी चन्द्र देवी को बताउ के लिए एक अतीव सुन्दरी नवयौवना पत्नी बनाने की आज्ञा दी। चन्द्र देवी ने अपनी सम्पूर्ण कुशलता का उपयोग कर एक अनोखी नारी बनाई, जो सारे देश में अजोड़ थी। उसका सौन्दर्य निरखने सातों हथोर देवियाँ आईं और चन्द्र देवी की कला-कुशलता की तारीफ़ की। देवियों ने उसका भविष्य बतलाते हुए कहा कि इसकी मृत्यु दुर्घटना से होगी। उसका नाम विश्वसुन्दरी रखा गया।

बताउ सानन्द और प्रेम-पूर्वक विश्वसुन्दरी के साथ जीवन व्यतीत करने लगा। बताउ सारा दिन जंगल में शिकार खेलता और विश्वसुन्दरी अकेली घर में बैठी रहती। बाहर जाने की उसे अनुमति नहीं थी। बताउ ने आज्ञा कर रखी थी कि झोंपड़ी पर छाये शाह वलूत की छाया से बाहर उसे कहीं नहीं जाना चाहिये, नहीं तो यदि समुद्र देख लेगा तो उसे चुरा ले जायगा।* और उसमें (बताउ) इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे समुद्र से छुड़ा सके। क्योंकि उसकी आत्मा इस वृक्ष के सबसे ऊँचे पुष्प में निवास करती है।

इस तरह से कई दिन आनन्द में व्यतीत हुए। एक दिन बताउ शिकार के लिए जंगल में गया था। चंचल स्त्री अपने आपको रोक न सकी। वह झोंपड़ी से निकली और शाह वलूत की छाया के बाहर इधर-उधर फिरने लगी। उसे देखते ही समुद्र लहरें उछालता हुआ बताउ की झोंपड़ी की ओर आया। समुद्र को देखते ही विश्वसुन्दरी घर में भाग आई। वृक्ष की छाया में पहुँचना समुद्र के वश के बाहर की बात थी। उसने शाह वलूत के उस वृक्ष से कहा—वृक्षराज, मैं तुम्हारे नीचे रहनेवाली सुन्दरी पर मोहित हुआ हूँ।

---

* यह सीता-हरण के पूर्व लक्ष्मण द्वारा सीता को दिये हुए आदेश की याद दिलाता है।

यह सुन वृक्ष ने उसे विश्वसुन्दरी के सिर के बालों का एक गुच्छा दिया। नील नदी के सुरम्य तीर पर पेरो * के धोबी राज्य-कुटुम्ब के कपड़े धो रहे थे। समुद्र ने वह गुच्छा अपनी लहरों से वहाँ ले जाकर डाला। गुच्छे में के बालों के तेल की सुगन्ध नील के निर्मल जल में फैल गई और यों राज-कुटुम्ब के वस्त्र सुगन्धित हो गये।

इस बात को लेकर कि वस्त्रों में सुगन्ध कहाँ से आई, धोबी सोच में पड़ गये। नित प्रति कपड़े सुगन्धित हो जाते और नित प्रति नील किनारे धोबी सोच-विचार करते। वे इस समस्या को सुलझा न सके। इस बात का पता लगाने धोबियों का जमादार स्वयं धोबी घाट पर गया। वहाँ उसने बाल का वह गुच्छा देखा। उसने उसे सहज ही उठाकर सूँघा तो मालूम हुआ कि राजा के कपड़ों में बस जानेवाली सुगन्ध उस गुच्छे से आ रही थी। इस तरह उस सुगन्ध के मूलस्थान का पता लगा। जमादार वह गुच्छा राजा के पास ले गया। राजा उसे देख समझ गया कि इन बालोंवाली स्त्री अवश्य ही परम रूपवान होनी चाहिये।

दूसरे दिन राज्य के समस्त ज्योतिषी राज-दरबार में बुलाये गये। ज्योतिषियों ने वह गुच्छा देखकर बतलाया कि वह सूर्यदेव की पुत्री विश्वसुन्दरी के सिर के बालों का है। चन्द्रदेवी ने सब तरह की सिद्धियाँ उसके रूप भरे शरीर में रखी हैं। हे प्रजावत्सल राजाधिराज, आप शीघ्रता-पूर्वक दूत भेजकर विश्वसुन्दरी की खोज कराइये और उसे यहाँ मँगवाइये। ऐसी सुन्दरी तो राजा के ही योग्य है, फिर उसके आगमन से देश की भी श्रीवृद्धि होगी। राजा ने ज्योतिषियों को ख़ूब दान-दक्षिणा दे विदा किया और विश्वसुन्दरी की खोज करने देश के कोने-कोने में अनुभवी दूत भेजे। उन दूतों में से लौटकर कोई नहीं आया। घटना यों हुई कि सब तरफ़ से घूमते-घामते दूत जब शाह बलूत के पहाड़ पर पहुँचे तो बताउ ने उन्हें मार डाला; पर अन्तिम व्यक्ति को उसने छोड़ दिया कि इसके समाचार पेरो को पहुँचा सके।

वह अन्तिम दूत पेरो के पास गया और उसने सुनाया कि किस तरह सभी लोगों को बताउ ने मार डाला। उसी दूत से विश्वसुन्दरी के स्थान का पता मिल गया। राजा ने उस दूत के साथ एक बड़ी भारी सेना भेजी, जिसे विश्वसुन्दरी को राजनगर तक लाने में सफलता मिली। विश्वसुन्दरी के आगमन पर सारे देश में आनन्दोत्सव मनाये गये और वह पेरो की प्रेम-पात्री रानी बनी।

एक रस भरी रात में राजा-रानी प्रेम भरी बातें कर रहे थे। कई दिनों के प्रेम ने उनके हृदय को एक सूत्र में पिरो दिया था। बातचीत के सिलसिले में पेरो ने विश्वसुन्दरी से उसके भूतपूर्व पति की हकीकत पूछी। राजा के प्रेम-पूर्ण बर्ताव से मग्न हो गई विश्वसुन्दरी को ग़रीब बेचारे बताउ की स्मृति तक न रह गई थी। अब तो पेरो उसका जीवन-सर्वस्व था। शुरू से अन्त तक उसने बताउ के बारे में सभी बातें उसे कह सुनाईं और अनुरोध किया कि तुम उस पेड़ को कटवा डालो। इससे बताउ की आत्मावाला पुष्प टूटकर नीचे आ गिरेगा और बताउ मर जायगा।

* मिश्र देश का राजा पेरो कहा जाता था। युनानी लोग उसे कहते थे, परन्तु मूल शब्द पेरो ही है।

राजा ने विश्वसुन्दरी के कथनानुसार आदमी भेजकर शाह बलूत का वह वृक्ष कटवा डाला। वृक्ष की सबसे ऊँची फुनगी पर खिला फूल ज़मीन पर आ गिरा और बताउ मर गया।

(३)

बताउ को घर छोड़े सात वर्ष पूरे हो गये थे। अनेपु ने जौ के पानी की एक बोतल ली, यात्रा के लिए आवश्यक सामान ले, घर को ताला लगा वह शाह बलूत के पर्वत की ओर चल दिया कई दिनों की कठिन यात्रा के बाद वह वहाँ पहुँचा। वहाँ बताउ के शव को पड़ा देख उसके शोक का पार न रहा और वह धाड़ें मारकर रोने लगा।

चार वर्ष तक वह छोटे भाई की आत्मा की खोज में भटकता रहा। पाँचवाँ वर्ष लगा तब नराश हो उसने लौट जाने का निश्चय किया। वन में एक शाह बलूत के वृक्ष के नीचे सोने की तैयारियाँ करने लगा कि सवेरे जल्दी उठकर देश की ओर चल दे। इतने में तो उस वृक्ष पर से एक फल गिरा। अनेपु ने उसे सहज ही उठाकर झोली में रख लिया और बड़े सवेरे उठकर घर की ओर चल दिया। राह में भी वह बताउ की आत्मा को खोजता जाता था। अन्त में घर आ पहुँचा। झोली में से फल निकालकर वह हाथ में लेता है कि बताउ की आत्मा उसमें से बोल उठती है। अनेपु को अपार हर्ष हुआ। तुरन्त उसने उस फल को ठण्डे पानी के बर्तन में डाला। बताउ प्रकट हुआ। दोनो भाई गद्गद् हो एक दूसरे के गले मिले। छोटे भाई ने अपनी आप-बीती बड़े भाई को कह सुनाई और अन्त में वह बोला—दादा, देखो मैं अभी एक दैवी बैल बन जाता हूँ। तुम मुझ पर सवार हो जाना। फिर हम वहाँ जायँगे जहाँ मेरी पत्नी रहती है। मुझ पर के पवित्र दैवी चिह्नों को देख मेरे आगमन से सारे देश में आनन्द छा जायगा। पेरो तुम्हें सम्मानित करेगा और बहुत-सा धन देगा। तुम वह द्रव्य ले घर चले आना और मैं राजा के पास रुक जाऊँगा।

योजनानुसार बताउ दैवी वृषभ बना। अनेपु उस पर सवार हुआ और दोनो राजधानी को जानेवाले मार्ग की ओर चल पड़े। देश के लोगों ने जब उस दैवी वृषभ को देखा तो सब ओर ख़ुशी छा गई। पेरो (राजा) स्वयं राजधानी से बाहर बहुत दूर तक उसका स्वागत करने गया। देश, नगर और राजमहल में आनन्दोत्सव मनाये गये। रिद्धि-सिद्धि के शुभ चिह्नोंवाले उस दैवी वृषभ को देश में लानेवाला अनेपु राजा और प्रजा दोनो द्वारा ख़ूब सम्मानित हुआ। उसे भेट में काफ़ी द्रव्य मिला। वृषभ का धूमधाम से जुलूस निकाला गया और उसे मन्दिर में ले गये। उसके दर्शनों के लिए सारा देश उलट पड़ा। एक दिन रानी (विश्वसुन्दरी) भी उसके दर्शनार्थ मंदिर गई। उसे देख वृषभ बोला—देख, मैं अभी तक जीवित हूँ।

'तू कौन है ?'—विस्मय में भर रानी ने पूछा।

'मैं बताउ हूँ—तेरा पति, समझी कि नहीं ? यद्यपि तूने वृक्ष कटवा डाला, पर उससे मेरा बाल भी बाँका नहीं हुआ। देख ले, मैं जीता-जागता खड़ा हूँ कि नहीं ! फ़र्क़ इतना ही है कि अभी वृषभ के रूप में हूँ।'

रानी बताउ से बेहद डर गई। दूसरे दिन उसने अपने हाव-भाव से राजा को ख़ूब प्रसन्न कर लिया। जब राजा पूर्ण रूप से उसके वशीभूत हो गया तो विश्वसुन्दरी ने कहा—प्रतिज्ञा करो कि मैं जो माँगूगी वह दोगे।

राजा ने प्रतिज्ञा करते हुए कहा—प्रियतमा, विश्वसुंदरी, तुझसे अधिक मेरे लिए इस

दुनिया में कुछ भी नहीं है। बोल, क्या चाहिये ?

'मैं उस दैवी वृषभ का कलेजा खाना चाहती हूँ।' ※

रानी की माँग सुन राजा बेहद दुःखी हुआ; परन्तु अब क्या हो सकता था! वचन-बद्ध था इसलिए विवशता थी।

दूसरे दिन धार्मिक उत्सव किया गया। वृषभ को अनेकों प्राणियों का बलिदान दिया गया। अन्त में राजा के खास दास ने वृषभ का वध किया। उसी समय उसकी गर्दन से लोहू की दो बूँदें उड़कर राज-द्वार के दोनो ओर गिर पड़ीं। देखते ही देखते वहाँ दो बड़े-बड़े कल्प-वृक्ष उग आये। उसी समय इस बात की सूचना राजा को दी गई और सारे देश में पवित्र कल्प-वृक्षों के आगमन से आनन्दोत्सव मनाये गये। राजा रथ में बैठ, कल्प-वृक्षों के दर्शन करने आया। रानी भी पीछे-पीछे दूसरे रथ में आई। राजा के बाद रानी ने दर्शन किये और उस समय कल्प-वृक्ष ने उससे कहा—ओ बेवफा स्त्री, वृषभ के रूप में तूने मेरा वध करवाया; पर उससे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ा। देख, मैं बताउ, तेरा पति, कल्प-वृक्षों के रूप में तेरे सामने खड़ा हूँ।

एक दिन फिर रानी ने राजा को रिझाया। राजा जब वशीभूत हुआ तो रानी ने कहा—प्रतीज्ञा करो कि मैं जो मागूँगी मुझे दोगे।

'प्राणेश्वरी, तुझसे अधिक संसार में मेरे लिए प्यारी वस्तु और क्या है ? बोल तुझे क्या चाहिये ?'

रानी ने उत्तर दिया—उन कल्प-वृक्षों को कटवा, मेरे पाँव रखने के लिए एक पायदान बनवा दो।

रानी की माँग सुन राजा बहुत ही दुःखी हुआ; परन्तु वचन-वृद्ध हो चुका था, इसलिए उसका पालन करना ही पड़ा।

एक उत्सव मनाया गया। कल्प-वृक्षों की धूम-धाम से पूजा की गई। फिर राजा के बढ़ई आये। और वृक्षों पर कुल्हाड़ी चलाने लगे। रानी यह दृश्य देखने उपस्थित थी। इसी बीच लकड़ी की एक पतली-सी फाँस उड़कर उसके मुँह में चली गई। नौ महीने बाद रानी ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। देशभर में आनन्द छा गया। प्रजा सब तरह से प्रसन्न की गई और पारितोषक बाँटे गये। राजा ने राजकुमार को अपना नाम दिया। उसका सारा प्रेम रानी से हट राजकुमार पर केन्द्रित हुआ। वह जब समझदार हुआ तो राजा ने उसे 'इथोपिया के राजकुमार' की पदवी दी। पढ़-लिखकर होशियार हुआ तो राजा ने उसे देश का सूबा बनाया।

इस तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। राजा की मृत्यु हुई। राजकुमार का राज्याभिषेक हुआ। देश में उत्सव मनाये गये। नवीन राजा ने दरबार किया। उसमें रानी को (विश्वसुन्दरी) बुलाया और सभी मंत्रियों तथा दरबारियों को आपबीती कह सुनाई। फिर उसने अपने बड़े भाई अनेपु को बुला, देश का सूबा बनाया। तीस वर्ष तक अनेपु ने सुख-पूर्वक राज्य किया, प्रजा को सुखी बनाया और अन्त में स्वर्ग सिधारा। उसके बाद अनेपु राजा हुआ।

※ प्राचीन काल के मिश्र देश निवासी वृषभ और गाय को बहुत पवित्र मानते थे। उनका वध करनेवाले को फाँसी दी जाती थी। विश्वसुन्दरी ने पति के वध के लिए ऐसी अधार्मिक माँग की थी।

अहमदाबाद।

नक्षत्र-शिशु

[बी० एस० रामय्या]

[श्री बी० एस० रामय्या तमिल के प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं। आप तमिल के गल्प-कला-सम्बन्धी एक मात्र पाक्षिक 'मणिक्कंडि' के संपादक रह चुके हैं। 'नक्षत्र-शिशु' यद्यपि आपकी और कहानियों से भिन्न पर आपकी कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। शिशु के मन में उठनेवाली भावनाओं का यह एक बहुत ही सत्य और सजीव चित्रण है। कहानी बहुत ऊँची उठी है।—सं०]

'बाबूजी, क्या तारों के भी बाबूजी होते हैं?'

'हाँ, बच्ची!'

'उनका नाम क्या है, बाबूजी?'

'ठाकुरजी।'

'ठाकुरजी? वे भी आपके-जैसे ही होंगे, बाबूजी? तारे बहुत सुंदर हैं; उनके बाबूजी भी बड़े ही सुंदर होंगे न?'

'हाँ, री बच्ची! ठाकुरजी के समान सुन्दर व्यक्ति दुनिया भर में कोई नहीं है।'

'ठाकुरजी भी आपकी ही तरह अच्छे आदमी होंगे? है न?'

'हाँ।'

'हाँ, हाँ, मुझे भी मालूम है! ठाकुरजी बड़े...बड़े भले आदमी हैं। तारे कैसे सुंदर जगमगा रहे हैं। क्यों बाबूजी, उनके बाबूजी कैसे होंगे?'

'वे बहुत भले आदमी हैं। हम सबसे बड़े हैं।'

'तारे कब उगते हैं, बाबूजी?'

'शाम को।'

'वे कैसे पैदा होते हैं?'

'हम सच ही बोलें तो; हम जब-जब एक सच बात कहते हैं, तब-तब एक तारे का जन्म होता है।'

'मैं भी सच ही कहूँ तो तारे पैदा होंगे। यही न, बाबूजी?'

'हाँ, बच्ची। जितनी ही बार तुम सच कहती जाओगी, उतनी ही बार एक-एक तारा पैदा होता जायगा।'

'बाबूजी!'

'क्या है, बेटी!'

'अपने गाँव में जित्ते लोग हैं—जित्ते बच्चे हैं—सभी सच बोलेंगे तो कित्ते तारे उगेंगे! इत्ते (दोनो हाथों को फैलाकर) तारे पैदा हो जायँगे कि नहीं?'

'हाँ बच्ची।'

यह सुनकर बच्ची रोहिणी कुछ न बोली; वह गंभीर चिन्तन में डूब गई। उसके अपरिपक्व मन में ठाकुरजी, उनके नक्षत्र-शिशुओं के सौंदर्य और मानव-मात्र के सत्यव्रत के बारे में कल्पना की तरंगें उठने लगीं और वह इन सब चीज़ों की जाँच करने के लिए घर के बाहर चली आई।

× × ×

बालिका रोहिणी अभी छः ही साल की है। लेकिन उसका एक-एक वचन एक-एक रत्न है। उसकी बोली मोतियों और मूँगों का हार है। उसके सभी प्रश्न दैवी लोक के प्रश्न हैं। उसके शिशु-मन में स्वर्गलोक के विचार उठते हैं।

श्रीमान् सोमसुन्दरम् बी० ए० के पदवीधर हैं; लेकिन फिर भी वे बाज़ वक्त रोहिणी के सवालों का जवाब नहीं दे सकते थे। उनके दिल में एक कसक हुआ करती—हाय! इस बच्चे के मन को भी मैं शान्त नहीं कर सका हूँ।' लेकिन रोहिणी को देखते ही—रोहिणी के बारे में सोचते ही—उनको वह गर्व होता, जो किसी बादशाह को भी नहीं हो सकता था।

× × ×

साँझ हो आई। बाला रोहिणी तभी नहाकर अपनी मा के किये हुए साज-शृंगार के साथ बाहर आई। घर के द्वार पर दोनो ओर बादाम के दो पेड़ थे। उन्हीं के बीच वह खड़ी हो गई। सूर्यास्त हो रहा था, आकाश-वीथी में शून्य और प्रकाश मौन-मुग्ध होकर हँस रहे थे। बालिका रोहिणी पश्चिम में होनेवाले इस इन्द्रजाल को देख रही थी। उसके निष्कलंक मन में समाधि की अवस्था जाग्रत हुई।

'कौन है वह? आकाश में वैसे चित्र लिखकर खेलनेवाली वह आकाश-लोक की रोहिणी कैसा होती है?'

बच्ची रोहिणी पाटिये पर चित्र लिखकर खेला करती थी। पहले एक चित्र खींचती। 'छिः, यह अच्छा नहीं है' कहकर उसे मिटाकर फिर दूसरा चित्र लिखती। वह अच्छा ही रहता; लेकिन उसे भी मिटाकर फिर एक तस्वीर बनाती; उसे भी पोंछकर एक नई तरह का चित्र खींचती।

आकाश की रोहिणी भी उसी तरह नये-नये चित्र खींच रही है; लेकिन वह मिटा-मिटाकर नहीं लिखती; चित्रों को बदलती रहती है। सभी रंगीन चित्र हैं! नये-नये रंग के! क्षण-क्षण में नव-नव आनंद देनेवाले! एक की तरह का दूसरा नहीं! उस आकाशलोक की रोहिणी को कितना आनंद होगा! बालिका रोहिणी भी आनन्दित हो थी, आकाश की रोहिणी के आनंद के बारे में सोचती हुई।

× × ×

'मा, ठाकुरजी का एक नक्षत्र-शिशु पैदा हो गया !'—रोहिणी चिल्लाई और ताली बजाने लगी। उसकी आँखें हँस रही थीं ; दिल खुशी से पागल हो रहा था।

रोहिणी की मा देहली पर खड़ी थी। उसका ध्यान सड़क पर जाने-आनेवालों पर लगा हुआ था। सड़क पर जानेवाली किसी लड़की की पोशाक के बारे में वह सोच रही थी। बालिका रोहिणी की बातें उसके कानों में नहीं पड़ीं। लेकिन बालिका के आनंद ने उसके मन को बरबस ही उसकी ओर आकर्षित कर दिया। निस्सीम प्रेम से मा की आँखें बच्ची को यों देख रही थीं मानो उसे वैसे ही निगल लेना चाहती हों।

आकाश-प्रदेश में अँधेरा छा गया। अंधकार भी कितना सुन्दर है! उसमें भी कैसी माधुरी है। माता के स्निग्ध प्रेम-जैसी माधुरी! एक के बाद एक, तारे उगते ही गये। बाप रे! कितने तारे हैं! बालिका रोहिणी उनको गिन न सकी। कितनी शीघ्रता से वे पैदा हो रहे थे! बच्ची का छोटा मन उस शीघ्रता के पीछे चल नहीं सका।

'चलो, बिटिया! भीतर चलो। अँधेरा हो गया है।'—माँ ने बेटी को पुकारा।

'ज़रा देर ठहरो, मा। आसमान को देखो, कितना सुन्दर है!'—बच्ची ने मा को वहीं खड़ी हो जाने को कहा।

'हाँ, हाँ ; बहुत सुन्दर है ; मगर अँधेरा हो गया है न? अब यहाँ क्यों अकेली खड़ी रहोगी? चलो, अंदर आओ।—मा ने फिर पुकारा।

'मा!'

'हूँ!'

'आसमान अब कैसा है, कहूँ?'

'कहो तो।'

'ठीक तुम्हारे चेहरे की तरह—तुम मुझे चूमती हो न? तब मेरा मुख आसमान-जैसा ही रहता है।'

मा उसका मतलब समझ न सकी। उसे यह ठीक नहीं लगा। लेकिन उस कथन में एक ऐसी चीज़ थी, जिससे उसको यकीन हो रहा था कि 'वह सच है।'

मा झट देहली से नीचे उतर पड़ी और बालिका को घसीटकर छाती से लगा लिया और असीम प्रेम से उसका मुँह चूम लिया। फिर एक बार, 'भीतर चलो, बिट्टी'—कहकर, वह घर में चली गई।

बाहर गये हुए सोमसुन्दरम् घर लौट आये। देखा कि द्वार पर रोहिणी अकेली खड़ी-खड़ी आकाश के सौंदर्य पर लट्टू हो गई है।

'लल्ली रोहिणी, क्या देखती है, री? चलो, भीतर।'—उन्होंने बुलाया।

लल्ली ने कहा—'ठहरो, बाबूजी! वह आसमान कैसा सुंदर है! इतने बाल-बच्चेवाले ठाकुरजी को कितना आनंद होगा, बाबूजी!'

सोमसुन्दरम् किसी और ही झमेले की सोच में पड़े थे। वे बच्ची की बातें सुनी-अनसुनी करके, 'ऊँह' कहते हुए घर में चले गये!

दूसरे ही निमेष में एक तारा अपनी जगह से हटकर, झलमलाता हुआ, आसमान से नीचे गिरा और आँखों से ओझल हो गया। उसका प्रकाश कुछ ही क्षणों तक दिखाई दिया।

बालिका की आँखों से आँसू झरझर झरने लगे। दोनो आँखों से पानी के दो बड़े-बड़े मोती ढुलक पड़े। उस छोटे-से, नन्हे-से, हृदय में एक अवर्णनीय—दहला देनेवाली—व्यथा हो रही थी। बालिका सिसक-सिसककर रोने लगी। रोने के बीच-बीच में, लोहे को भी पिघलानेवाले स्वर में, 'बाबूजी, बाबूजी' पुकारती हुई वह घर में गई।

उसी समय, सोमसुन्दरम् आरामकुर्सी पर लेटे हुए, पास की मेज़ में से पढ़ने के लिए एक किताब हाथ में उठा रहे थे। बच्ची की आवाज़ सुनकर उनके हाथ से किताब धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ी। उनका हृदय मानो सहस्रधार होकर टूट-फूट गया। सारे अंग ढीले पड़ गये।

'क्यों रे बेटा, रानी मेरी, क्या हुआ री मुन्नी? तुम्हें किसने क्या किया?'—इस तरह पूछते हुए, उन्होंने बच्ची को उठाकर अपने कंधे पर सुला लिया।

'बाबूजी! मुझे मालूम हो गया!'—बालिका सिसकियों के बीच बोल उठी।

'क्या मालूम हो गया, बेटी?'

'बाबूजी, हमारे गाँव में किसी ने एक झूठ कह डाला है, बाबूजी!'

सिसकियाँ, सिसकियाँ और 'हूँ' कार के साथ रुदन।

'तुम्हें क्यों वैसा जान पड़ता है, मुन्नी?'

'तुम्हीं ने तो कहा था, बाबूजी, कि...हम एक सच कहेंगे तो एक तारा पैदा होगा। तब इसका मतलब...यही न है कि...एक तारा तब गिरेगा...जब कोई झूठ बोले?...अकुरबं का मन...अब...कैसा...होगा, बाबूजी?...जब मुझे ही...इतना रोना...आता है...' कहकर, वह भोली-भाली बालिका रोने लगी।

उस हरे-हरे मन में जो दुःख, जो पीड़ा हुई थी, उसका वर्णन करना असंभव है। वह ऐसा एक पुनीत दुःख था, जिसको एक हृदय अपनी ख़ुद की भाषा में ही दूसरे हृदय को समझा सकता था।

कवि का स्थान !

[सुदर्शन]

[नया 'हंस' देखकर श्री सुदर्शन ने लिखा : "'हंस' का नया नम्बर देखकर तबीयत हरी हो गई। लेख, कागज, छपाई सभी अच्छे हैं। परचे को देखने और देखते रहने को जी चाहता है। मेरा ख़याल है अगर इसका यही स्टैंडर्ड कायम रह जाये तो हिंदी की जो अच्छी से अच्छी पत्रिकाएँ हैं, 'हंस' उनसे भी अच्छा हो जायगा, और हिन्दी-संसार इसे मानेगा, और इसे सिर-माथे पर जगह देगा।" हमारी कामना यही है। श्री सुदर्शन के इस छोटे टुकड़े को छापने का हमें अवसर मिला, इसकी हमें ख़ुशी है। आपकी राजनैतिक कहानियों का एक ताजा संग्रह 'सुप्रभात' सरस्वती प्रेस, बनारस से अभी प्रकाशित हुआ है।—सं०]

ऐ सरस्वती के बेटे ! तूने अपने लिए कौन-सा स्थान पसन्द किया है—बीहड़ वनों का एकान्त, या शहरों का शोर-शराबा ? एक ओर हरे-भरे वृक्षों का वन है, जहाँ तू प्रकृति को उसके मस्त-मनोहर रूप में देख सकता है। दूसरी ओर शहरों की तंग और अँधेरी गलियाँ हैं, जहाँ तू आदमी के दिल की एक-एक धड़कन सुन सकता है। एक ओर मन-मतवारे कबूतर, हरिया और मोर हैं; दूसरी ओर कुसुम-कपोल बच्चे और लज्जाशील लड़कियाँ और रूपवती युवतियाँ हैं।

निस्संदेह प्रकृति सुन्दर है, और उसके सौंदर्य में मन को मोह लेने, पकड़ लेने, वश में कर लेनेवाला जादू है। मगर यह सब कुछ क्या है ? मानव-जीवन के नाटक में सजावट के परदे—जिसका नायक आदमी है। इसमें शक नहीं, कि परमात्मा की वह दुनिया ख़ूबसूरत है, जो हमारे आस-पास है, मगर परमात्मा की वह दुनिया इससे भी ख़ूबसूरत है, जो हमारे दिल के अंदर आबाद है। आदमी का दिल ही वह वसन्त है, जिसमें संगीत नाचता है। यही वह चाँदनी है, जहाँ कविता मुस्कराती है। यही वह स्रोत है, जहाँ से जीवन और ज्योति के दरिया बह निकलते हैं।

हर आदमी का दिल ही एक दुनिया है। यह दुनियाएँ बनती हैं, सँवरती हैं—बिगड़ती हैं, और बरबाद हो जाती हैं।

कवि के लिए समुचित स्थान इस दुनिया का केन्द्र है। अगर वह दुनिया को आप देखना और दूसरों को दिखाना चाहता है, तो उसे आँखें खोलकर दुनिया के कोलाहल और कोलाहल की दुनिया के सामने खड़ा होना चाहिये।

कवि दिल में पैदा होता है, दिल में जवान होता है। दिल में खेलता है, नाचता है, गाता है। और अंत में दिल ही में खो जाता है। मगर जब तक दिलों की दुनिया जीती है, तब तक न वह मरता है, न उसे कोई मार सकता है।

कलकत्ता।

गीत

['त्रिलोचन']

[श्री 'त्रिलोचन' अभी नये कवि हैं, पर आपकी कविता में माधुर्य और अनुभूति दोनो हैं।—सं०]

केवल कही बात !
सूना नभ, ऊना मन ; ज्योति-पुंज धँसी
तमसावृत मेदिनी—विच्छेदिनी—हँसी
चू उठी नीरवता, कर साँ-साँ गुरु ; फँसी
खिसक चली रात !
नखत चले, जगत मुदित उठा अलस आज
नियति हिली तेज-पुंज—अंकम-भर लाज
विवरण मैं चली, अंक भरे तिमिर—साज
होठों छबि हँसी प्रात !
बरस पड़ा नयनों से उषा-रंग लाल
साथ ही घनश्याम-प्रभ कसक कर निहाल
आई प्रिय-छबि-उर, थे आनत अति भाल
अनुनयमय गात !
चोभ क्या ? अशोभन है, निरा कुटिल कार्य
हृदयोदधि-अवगाहन-वाहन अवधार्य
निराकृति चुम्बन पर आकृति व्यवहार्य
यह सुख की बरसात !
त्रस्त नखत-हारावलि अलकावलि-जाल,
विमनस्कता की कथा व्यथा थी विशाल
अरुण-तरुण-वरुण-स्वर नाचे दे ताल
मग्न मनोस्नात !
केवल कही बात !

आगरा।

बाज़ार दर्शन

[जैनेन्द्रकुमार]

[श्री जैनेन्द्रकुमार हिंदी के लिए एक देन हैं। आपकी प्रतिभा और बुद्धि अद्वितीय है। साहित्य के जिस अंग को भी आपने छुआ है उसे चमकाया है। हमें ख़ुशी है कि हमें उनके 'हंस' में नियमित लिखते रहने के सहयोग का वचन मिला है। आपकी कहानियों का एक सुन्दर नवीन संग्रह 'नीलमदेश की राजकन्या और अन्य कहानियाँ' अभी-अभी प्रकाशित हुआ है।—सं०]

एक बार की बात कहता हूँ। मित्र बाज़ार गये तो थे कोई एक मामूली चीज़ लेने, पर लौटे तो एकदम बहुत-से बंडल पास थे।

मैंने कहा—यह क्या ?

बोले—यह जो साथ थीं।

उनका आशय था कि यह पत्नी की महिमा है। उस महिमा का मैं क़ायल हूँ। आदि काल से इस विषय में पति से पत्नी की ही प्रमुखता प्रमाणित है। और यह व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं, स्त्रीत्व का प्रश्न है। स्त्री माया न जोड़े, तो क्या मैं जोड़ूँ ? फिर भी सच सच है और वह यह कि इस बात में पत्नी की ओट ली जाती है। मूल में एक और तत्त्व की महिमा सविशेष है। वह तत्व है मनीबेग, अर्थात् पैसे की गर्मी या एनर्जी।

पैसा पावर है। पर माल न जमा हो तो क्या वह ख़ाक पावर है ! पैसे को देखने के लिए बैंक-हिसाब देखिये, पर माल-असबाब मकान-कोठी तो अनदेखे भी दीखते हैं। पैसे की उस 'पर्चेज़िंग पावर' के प्रयोग में ही पावर का रस है।

लेकिन नहीं। लोग संयमी भी होते हैं। वे फ़िज़ूल सामान को फ़िज़ूल समझते हैं। वे पैसा बहाते नहीं हैं और बुद्धिमान् होते हैं। बुद्धि और संयमपूर्वक वह पैसे को जोड़ते जाते हैं, जोड़ते जाते हैं। वह पैसे की पावर को इतना निश्चित समझते हैं कि उसके प्रयोग की परीक्षा उन्हें दरकार नहीं है। बस ख़ुद पैसे के ज़ुड़ा होने पर उनका मन गर्व से भरा-फूला रहता है।

मैंने कहा—यह कितना सामान ले आये !

मित्र ने सामने मनीबेग फैला दिया, कहा—यह देखिये। सब उड़ गया, अब तो रेल-टिकट के लिए भी बचा हो!

मैंने तब तय माना कि और पैसा होता तो और सामान आता। वह सामान ज़रूरत की तरफ़ देखकर नहीं आया, अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के अनुपात में आया है।

लेकिन ठहरिये। इस सिलसिले में एक और भी महत्त्व का तत्त्व है, जिसे नहीं भूलना चाहिये। उसका भी इस करतब में बहुत कुछ हाथ है। वह महत्तत्व है, बाज़ार।

मैंने कहा—यह इतना कुछ नाहक ले आये!

मित्र बोले—कुछ न पूछो। बाज़ार है कि शैतान का जाल है! ऐसा सजा-सजाकर माल रखते हैं कि बेहया ही हो जो न फँसे।

मैंने मन में कहा, ठीक। बाज़ार आमंत्रित करता है कि आओ मुझे लूटो और लूटो। सब भूल जाओ, मुझे देखो, मेरा रूप और किसके लिए है? मैं तुम्हारे लिए हूँ। नहीं कुछ चाहते हो, तो भी देखने में क्या हरज है। अजी आओ भी।

इस आमंत्रण में यह ख़ूबी है कि आग्रह नहीं है। आग्रह तिरस्कार जगाता है। लेकिन ऊँचे बाज़ार का आमंत्रण मूक होता है और उससे चाह जगती है। चाह मतलब अभाव। चौक बाज़ार में खड़े होकर आदमी को लगने लगता है कि उसके अपने पास काफ़ी नहीं है। और चाहिये, और चाहिये। मेरे यहाँ कितना परिमित है और यहाँ कितना अतुलित है! ओह!

कोई अपने को न जाने तो बाज़ार का यह चौक उसे कामना से विकल बना छोड़े। विकल क्यों, पागल। असंतोष और तृष्णा और ईर्षा से घायल कर मनुष्य को सदा के लिए हत-वीर्य बना सकता है।

किसी और मित्र की बात है। वह दोपहर ही के पहले के गये-गये बाज़ार से कहीं शाम को वापिस आये। आये तो ख़ाली हाथ!

मैंने पूछा—कहाँ रहे?

बोले—बाज़ार देखते रहे।

मैंने कहा—बाज़ार का देखते क्या रहे?

बोले—क्यों? बाज़ार—

तब मैंने कहा—लाये तो कुछ नहीं!

बोले—हाँ। पर यह समझ न आता था कि न लूँ तो क्या? सभी कुछ तो लेने को जी होता था। कुछ लेने का मतलब था शेष सब कुछ को छोड़ देना। पर मैं कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता था। इससे मैं कुछ भी नहीं ले सका।

मैंने कहा—ख़ूब!

पर मित्र की बात ठीक थी। अगर ठीक पता नहीं है कि क्या चाहते हो तो सब ओर की चाह तुम्हें घेर लेगी। और तब परिणाम त्रास ही होगा, गति नहीं होगी, न कर्म।

बाज़ार में एक जादू है। वह जादू आँख की राह काम करता है। वह रूप का जादू है। पर जैसे चुम्बक का जादू लोहे पर ही चलता है, वैसे ही इस जादू की भी मर्यादा है। जेब भरी हो, पर मन ख़ाली हो, ऐसी हालत में जादू का असर ख़ूब होता है। जेब ख़ाली पर मन भरा न हो,

तो भी जादू चल जायगा। मन ख़ाली है तो बाज़ार की अनेकानेक चीज़ों का निमंत्रण उस तक पहुँच जायगा। कहीं हुई उस वक़्त जेब भरी, तब तो फिर वह मन किसकी माननेवाला है! मालूम होता है यह भी लूँ, वह भी लूँ। सभी सामान ज़रूरी और आराम को बढ़ानेवाला मालूम होता है। पर यह सब जादू का असर है। जादू की सवारी उतरी कि पता चलता है कि फ़ैन्सी चीज़ों की बहुतायत आराम में मदद नहीं देती, बल्कि ख़लल ही डालती है। थोड़ी देर को अपने अहंकार को ज़रूर सेंक मिल जाता है। पर इससे अहंकार की गिल्टी को और पुष्टि ही मिलती है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम होने के कारण क्या वह कम जकड़ होगी?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह कि बाज़ार जाओ तो मन ख़ाली न हो। मन ख़ाली हो, तब बाज़ार न जाओ। कहते हैं लू में जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिये। पानी भीतर हो, लू का लू-पन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य में भरा हो तो बाज़ार फैला का फैला ही रह जायगा। तब बाज़ार घाव बिल्कुल नहीं दे सकेगा, बल्कि कुछ आनन्द ही देगा। तब बाज़ार तुम से कृतार्थ होगा, क्योंकि तुम कुछ न कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहाँ एक अन्तर चीन्ह लेना बहुत ज़रूरी है। मन ख़ाली नहीं रहना चाहिये, इसका मतलब यह नहीं है कि वह मन बंद रहना चाहिये। जो बंद हो जायगा, वह शून्य हो जायगा। शून्य होने का अधिकार बस परमात्मा का है जो सनातन भाव से सम्पूर्ण है, शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बन्द नहीं रह सकता। सब इच्छाओं का निरोध कर लोगे, यह झूठ है। और अगर 'इच्छानिरोधस्तपः' का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो, तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नहीं है। डाट देकर मन को बन्द कर रखना जड़ता है। लोभ का यह जीतना नहीं है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन में, वहाँ पत्थर हो। यह तो लोभ की ही जीत है और आदमी की हार। आँख अपनी फोड़ डालीं, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ? ऐसे क्या लोभ मिट जायगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर मन का दीखना बन्द हो जायगा? क्या आँख बन्द करके ही हम सपने नहीं लेते हैं? और वे सपने क्या चैन भंग नहीं करते हैं? इससे मन को बन्द कर डालने की कोशिश तो अच्छी नहीं। वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद यह हठ ही हठ है, योग नहीं है। इससे मन कृश भले हो जाय और पीला और अशक्त जैसे विद्वान् का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे नहीं होता। इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट् की जगह क्षुद्र होता है। इसलिए उसका रोम-रोम मूँदकर बंद तो उसे करना नहीं चाहिये। वह मन पूर्ण कब है? हममें पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम महाशून्य ही न होते? अपूर्ण हैं, इसी से हम हैं। सच्चा ज्ञान सदा इसी अपूर्णता के बोध को हम में गहरा करता है। सच्चा कर्म सदा इस अपूर्णता की स्वीकृति-पूर्वक होता है। अतः उपाय कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन की भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमें नहीं प्राप्त हुआ है। हाँ, मनमानेपन की छूट मन को न हो, क्योंकि मन वह अखिल का अंग है, ख़ुद कुल नहीं है।

पड़ौस में एक महानुभाव रहते हैं जिनको लोग भगतजी कहते हैं। चूरन बेचते हैं। यह

काम करते जाने उन्हें कितने बरस हो गये हैं। लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छः आने पैसे से ज़्यादे नहीं कमाये। चूरन उनका आसपास सरनाम है। और ख़ुद ख़ूब लोकप्रिय हैं। कहीं व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उस पर चलते तो आज ख़ुशहाल क्या मालामाल होते। क्या कुछ उनके पास न होता! इधर दस वर्षों से मैं देख रहा हूँ, उनका चूरन हाथों-हाथ जाता है। पर वह न उसे थोक देते हैं, न व्यापारियों को बेचते हैं। पेशगी आर्डर कोई नहीं लेते। बँधे वक़्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नहीं कि देखते-देखते छः आने की कमाई उनकी हो जाती है। लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते हैं। चूरन से भी अधिक शायद वह भगतजी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते हैं। पर छः आने पूरे हुए नहीं कि भगतजी बाक़ी चूरन बालकों को मुफ़्त बाँट देते हैं। कभी ऐसा नहीं हो सका है कि कोई उन्हें पच्चीसवाँ पैसा भी दे सके! कभी चूरन में लापरवाही नहीं हुई है, और कभी रोग होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है।

और तो नहीं, लेकिन इतना मुझे निश्चय मालूम होता है, इन चूरनवाले भगतजी पर बाज़ार का जादू नहीं चलता।

कहीं आप भूल न कर बैठियेगा। इन पंक्तियों को लिखनेवाला मैं चूरन नहीं बेचता हूँ। जी नहीं, ऐसे अपमान की बात भी न सोचियेगा। यह न समझियेगा कि लेख के किसी भी मान्य पाठक से उस चूरनवाले को श्रेष्ठ बनाने की मैं हिम्मत कर सकता हूँ। क्या जानें उस भोले आदमी को अक्षर-ज्ञान तक भी है या नहीं। और बड़ी बातें तो उसे मालूम क्या होंगी। और हम आप न जाने कितनी बड़ी-बड़ी बातें जानते हैं। इससे यह तो हो सकता है कि वह चूरनवाला भगत हम लोगों के सामने एकदम नाचीज़ आदमी हो। लेकिन आप पाठकों की विद्वान श्रेणी का आदमी होकर भी मैं यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि उस अपदार्थ प्राणी को वह प्राप्त है जो हम में से बहुत कम को शायद प्राप्त है। उस पर बाज़ार का जादू वार नहीं कर पाता। माल बिछा रहता है, और उसका मन अडिग रहता है। पैसा उसके आगे होकर भीख तक माँगता है कि मुझे लो। लेकिन उसके मन में पैसे पर दया नहीं समाती। वह निर्मम व्यक्ति पैसे को अपने आहत गर्व में बिलखता ही छोड़ देता है। ऐसे आदमी के आगे क्या पैसे की व्यङ्ग-शक्ति कुछ भी चलती होगी? क्या वह शक्ति कुंठित रहकर सलज्ज ही न हो आती होगी?

पैसे की व्यङ्ग-शक्ति की सुनिये। वह दारुण है। मैं पैदल चल रहा हूँ कि पास ही धूल उड़ाती निकल गई मोटर। वह क्या निकली, मेरे कलेजे पर एक कठिन व्यङ्ग का तीर ही मानो आकर लगा। जैसे किसी ने आँखों में उँगली देकर दिखा दिया हो कि देखो, उसका नाम है मोटर, और तुम उससे वंचित हो! यह मुझे अपनी ऐसी विडम्बना मालूम होती है कि बस पूछिये नहीं। मैं सोचने को हो आता हूँ कि हाय, ये ही मा-बाप रह गये थे जिनके यहाँ मैं पैदा होता! क्यों न मैं मोटरवालों के यहाँ हुआ! उस व्यंग में इतनी शक्ति है कि ज़रा में मुझे अपने सगों के प्रति अकृतज्ञ कर सकती है।

लेकिन क्या लोकवैभव की यह व्यंग-शक्ति उस चूरनवाले अकिंचित्कर मनुष्य के आगे चूर-चूर होकर ही नहीं रह जाती? चूर-चूर क्यों, कहो पानी-पानी।

तो वह क्या बल है जो स्थूल व्यंग अजेय ही नहीं रहता, बल्कि मानो उस व्यंग की क्रूरता को ही पिघला देता है ?

उस बल को नाम जो दो ; पर वह निश्चय उस तल की वस्तु नहीं है जहाँ पर संसारी वैभव फलता-फूलता है । वह कुछ ऊपर जाति का तत्त्व है । लोग स्पिरिचुअल कहते हैं ; आत्मिक, धार्मिक, नैतिक कहते हैं, मुझे योग्यता नहीं कि मैं उन शब्दों में अंतर देखूँ और प्रतिपादन करूँ । मुझे शब्द से सरोकार नहीं । मैं विद्वान नहीं कि शब्दों पर अटकूँ । लेकिन इतना तो है कि जहाँ तृष्णा है, बटोर रखने की स्पृहा है, वहाँ उस बल का बीज नहीं है । बल्कि यदि उसी बल को सच्चा बल मानकर बात की जाय तो कहना होगा कि संचय की तृष्णा और वैभव की चाह में व्यक्ति की निर्बलता ही प्रमाणित होती है । निबल ही धन की ओर झुकता है । वह अबलता है । वह मनुष्य पर धन की और चेतन पर जड़ की विजय है ।

एक बार चूरनवाले भगतजी बाज़ार चौक में दीख गये । मुझे देखते ही उन्होंने जय-जयराम किया । मैंने भी जयराम कहा । उनकी आँखें बन्द न थीं और न उस समय वह बाज़ार को किसी भाँति कोस रहे मालूम होते थे । राह में बहुत लोग, बहुत बालक मिले जो भगतजी द्वारा पहचाने जाने के इच्छुक थे । भगतजी ने सबको ही हँसकर पहचाना । सबका अभिवादन लिया और सबको अभिवादन दिया । इससे तनिक भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि चौक बाज़ार में होकर उनकी आँखें किसी से भी कम खुली थीं । लेकिन भौचक्के हो रहने की लाचारी उन्हें नहीं थी । व्यवहार में पसोपेश उन्हें नहीं था और खोये-से खड़े नहीं वह रह जाते थे । भाँत-भाँत के बढ़िया माल से चौक भरा पड़ा है । उस सबके प्रति अप्रीति इन भगत के मन में नहीं है । जैसे उस समूचे माल के प्रति भी उनके मन में आशीर्वाद हो सकता है । विद्रोह नहीं, प्रसन्नता ही भीतर है, क्योंकि कोई रिक्त भीतर नहीं है । देखता हूँ कि खुली आँखों यह मगन चौक बाज़ार में से चलते चले जाते हैं । राह में बड़े-बड़े फ़ैंसी स्टोर पड़ते हैं, पर पड़े रह जाते हैं । कहीं भगत नहीं रुकते । रुकते हैं तो एक छोटी पंसारी की दुकान पर रुकते हैं । वहाँ दो-चार काम की चीज़ ले ली, और चले आते हैं । बाज़ार से हठ-पूर्वक विमुखता उनमें नहीं है ; लेकिन अगर उन्हें ज़ीरा और कालानमक चाहिये तो सारे चौक बाज़ार की समा उनके लिए तभी तक है, तभी तक उपयोगी है , जब तक वहाँ ज़ीरा मिलता है । ज़रूरत भर ज़ीरा वहाँ से ले लिया कि फिर सारा चौक उनके लिए आसानी से नहीं बराबर हो जाता है । वह जानते हैं कि जो उन्हें चाहिये वह है ज़ीरा-नमक । बस इस निश्चित प्रतीति के बल पर शेष सब चाँदनी चौक का आमंत्रण उन पर व्यर्थ होकर बिखर रहता है । चौक की चाँदनी दाएँ-बाएँ भूखी की भूखी फैली रह जाती है ; क्योंकि भगतजी को जो ज़ीरा चाहिये वह तो कोनेवाली पंसारी की दुकान से मिल जाता है और वहाँ से सहज भाव में ले लिया गया है । इसके आगे आस-पास अगर चाँदनी बिछी रहती है तो बड़ी ख़ुशी से बिछी रहे, भगतजी उस बिचारी का कल्याण ही चाहते हैं ।

यहाँ मुझे ज्ञात होता है कि बाज़ार को सार्थकता भी वही मनुष्य देता है जो कि जानता है कि वह क्या चाहता है । और वे जो नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, वे अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के गर्व में अपने पैसे से केवल एक विनाशक शक्ति, शैतानी-शक्ति, व्यंग की शक्ति ही बाज़ार को देते हैं । न तो वे बाज़ार से लाभ उठा सकते हैं, न उस बाज़ार को सच्चा लाभ दे सकते हैं । वे लोग

बाज़ार का बाज़ारूपन बढ़ाते हैं, जिसका मतलब है कि कपट बढ़ाते हैं। कपट की बढ़ती का अर्थ परस्पर में सद्भाव की घटी। इस सद्भाव के ह्रास पर आदमी आपस में भाई-भाई और सुहृद और पड़ोसी फिर रह ही नहीं जाते हैं और आपस में कोरे गाहक और बेचक की तरह व्यवहार करते हैं। मानो दोनो एक दूसरे को ठगने की घात में हों। एक की हानि में दूसरे को अपना लाभ दीखता है और यह बाज़ार का, बल्कि इतिहास का सत्य माना जाता है। ऐसे बाज़ार को बीच में लेकर लोगों में आवश्यकताओं का आदान-प्रदान नहीं होता, बल्कि शोषण होने लगता है। तब कपटी सफल होता है, निष्कपट शिकार होता है। ऐसा बाज़ार मानवता के लिए विडम्बना है। और ऐसे जो बाज़ार का पोषण करता है, जो उसका शास्त्र बना हुआ है, वह अर्थ-शास्त्र सरासर औंधा है। वह मायावी (capitalistic) शास्त्र है। वह अर्थ-शास्त्र अनीति-शास्त्र है।

दिल्ली,
१६-१०-'३८।

ध्वनि का गीत

[दुर्गेशनंदिनी

[श्रीमती दुर्गेशनन्दिनी डागा भावपूर्ण गद्यकाव्य लिखने में ख्याति पा चुकी हैं। आप बीकानेर की निवासिनी हैं।—सं०]

तुम्हारी श्वासों से सौरभ-गुंजरित मुरलिका की पोल में मेरा शयन-गृह है।

गुलाबी में जमना-तट पर जब तुम मुरली बजाने लगते हो तब चंदन-केसर-लदा मादक समीर मेरी अलकों में लहरा, मुझे जगा देता है।

संगीत का झीना दुकूल पहन, तुम्हारी श्वासों के पर लगा मैं तारिका-लोक तक पहुँचती हूँ और प्रतिध्वनि बन वापस लौट आती हूँ।

जाने कौन से जादू से बँध मैं मदहोश हो अज्ञात से टकराती रहती और फिर थक कर वापस सो जाती हूँ। गोपियाँ कहती हैं—'तुम्हारी वंशी में जादू सोता है।'

कितनी भोली हैं वे !

जादू तो तुम्हारी उस नयन-जटिल मुद्रावाली अँगुली में है जिसके एक अज्ञात संकेत के वशीभूत हो मैं नाचती और सो जाती !!

बीकानेर।

काग़ज़ी नाव

[बालकृष्ण शर्मा 'नवीन']

[श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हमारी भाषा के बहुत बड़े क्रांतिकारी कवि हैं। आपमें ज्वाला है। अनुभूति भी आपमें कम नहीं है। आप हमरे राष्ट्रीय गायक हैं। नवयुवकोचित साहसिकता का ह्रास अभी तक भी आपकी कविता में नहीं हो पाया है। यह कविता इस कथन का प्रमाण है।—सं०]

(१)

हम भी अजब जन्तु हैं जग में, चढ़ काग़ज़ की नाव,
प्रेम समन्दर चले नाँघने, लगा प्राण के दाव;
पेशेवर मल्लाह हँस पड़े यह बौड़मपन देख,
पर, हमने दे टीप, अलापी अपने मन की टेक;

(२)

दुनियादारो, तुम क्या समझो हम मस्तों का खेल ?
शास्त्र हमारा अलग जगत से, अलग हमारी गैल;
सरकंडे की डाँड हमारी, औ' काग़ज़ की नाव,
लहर, भँवर का इस सागर में हमें नहीं अटकाव;

(३)

इन उपकरणों को ही लेकर, सदियों पहले, यार,
जिन पगलों ने किया संतरित यह रस-पारावार,
हम भी उन ही के वंशज हैं; फिर हमको क्या सोच ?
कैसी झिझक ? जुगुप्सा कैसी ? क्या भय ? क्या संकोच ?

(४)

तरल-तरङ्गित, पवन-विकम्पित प्रेमाम्बुधि के बीच,
वे समानधर्म्मा अलबेले लीक गये हैं खींच;
अरे, आज भी दीख रहे हैं उनके वे नौ-यान,
क्षीरोदधि में राजहंस की पाँतों-से अम्लान;

(५)

हमने भी डाली सागर में नौका जर्जर, क्षीण,
गल जाये तौभी क्या चिन्ता ? होंगे सागर-लीन,
तिरती है तब तक तो उसमें बैठे हम रसखान,
हो निश्शङ्क रहेंगे गाते पुण्य प्रेम के गान।

श्री गणेश-कुटीर,
कानपुर।
३०—६—१६३८।

श्री कन्हैयालाल मुन्शी

[रेखाचित्र]

[लीलावती मुन्शी]

[अनुवादक, श्यामू सन्यासी]

[श्रीमती मुन्शी का यह दूसरा रेखाचित्र उपस्थित करते हमें खुशी है। पाठक देखेंगे कि उनकी ग्राहिका बुद्धि कितनी तीव्र है। हमारे जनवरी में प्रकाशित होनेवाले रेखाचित्रांक के लेखकों के लाभ की चीज भी यह साबित हो सकती है—सं०]

बहुधा लेखकों से परिचित होने के पहले मैं उनकी पुस्तकों से अधिक परिचित रहती हूँ। मुन्शी के सम्बन्ध में यही हुआ।

जब 'गुजराती' के दीपावली अंक में प्रकाशित 'कोकिला', 'गुजराती' में प्रति सप्ताह प्रकाशित होते रहनेवाली 'वैरनी वसुलात' और उसके बाद 'मारी कमला अने बीजी वार्ताओ', 'पाटणनी प्रभुता' और 'गुजरातनो नाथ' एक के बाद एक पढ़ने में आये तो सहज ही भान हुआ कि गुजराती साहित्याकाश में एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ है। लेखक के रूप में मुन्शी ने बहुतों को मोहित किया है।

उसके बाद दो महीने तक एक ही बिल्डिंग में रहने का अवसर आया और इनके बारे में कुछ अधिक जानने का मौक़ा मिला।

मुन्शी देखने में नाजुक और ठिगने हैं। मेरी भाषा (गुजराती) में 'नानो माणस'—छोटे आदमी हैं। अन्नदेव से बहुत कम जान-पहचान रखते हैं; परन्तु पैसा कमाने के लिए सवेरे से साँझ तक ख़ूब परिश्रम कर सकते हैं। यह अपना लेखन-कार्य उदारतापूर्वक उसमें से लिये गये कुछ मिनटों में करते हैं।

इनमें मनुष्य-स्वभाव को परखने की आश्चर्यजनक शक्ति है। मेधा का प्रकाश इनमें है, पर साथ ही अहं का प्रकाश भी उतना ही है।

बुद्धि के शिखर पर से यह बिचारे संसार पर दृष्टि डालते हैं। किसी ने इनके पात्रों के विषय में कहा है कि उनमें गर्व की मात्रा बहुत है। इनके बारे में भी यही कहा जा सकता है।

विज्ञानवेत्ता के समान जनता में यह पृथक्करण करने के लिए सम्मिलित होते हैं। मानव-स्वभाव के विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करते हैं ; निर्ममता से उनका वर्गीकरण करते हैं; और मैं यह कर सकता हूँ ऐसा वह समझ सकते हैं।

ऐसी बुद्धि की जगत् वन्दना करता है , प्रेम नहीं कर सकता । आत्मसम्मान की मात्रा आपमें अधिक है। दूसरों की ओर तिरस्कार-पूर्वक देखने की भी कुछ वृत्ति तो है ही। रीति-भाँति, सभ्य अच्छी और सुन्दर भी है।

दुनिया के प्रति यह लापरवाह हैं। लगता है कि दुनिया से इन्होंने जो माँगा वह मिला नहीं। अपने गर्वीले स्वभाव के कारण उसके प्रति शिकायत तो नहीं करते, उसका तिरस्कार करते हैं और अपने अंतर में उसकी निर्दयता-पूर्वक आलोचना-प्रत्यालोचना करने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। सहानुभूति इन्हें सह्य नहीं क्योंकि उसे वे अपने गौरव के नाश का कारण समझते हैं।

शायद बुद्धि की इस कठोर शिला के नीचे हृदय में स्नेह का दरिया लहराता होगा; किसी ने उसका आस्वादन भी किया होगा ; परन्तु वह दुर्लभ तो है ही।

हृदय की क़ीमत तो उपयोग करने पर ही मालूम पड़ती है।

बम्बई।

स्वप्न में आँसू देखकर

[नरेन्द्र]

[श्री नरेन्द्र शर्मा हमारे नवीन कवियों में अच्छी ख्याति पा रहे हैं। आपकी कविताओं में पाठकों को एक मधुर रसानुभूति मिलेगी।—सं०]

क्यों भर भर लाती हो लोचन ?
नेह-निर्झरी ! क्यों पल पल पर भर भर लाती हो युग लोचन ?

नयन-मीन ये क्या पल भर भी
अश्रु-नीर बिन जी न सकेंगे ?
मेरे अन्तरतम के दीपक वे
क्या जल बिन जल न सकेंगे ?
कहो, आँसुओं का क्या आशय ?—क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

उर में कैसी व्यथा धधकती
जिसे बुझाने नयन बरसते ?
क्या प्राणों के आकुल चातक
दृग-जल बिन दिन-रैन तरसते ?
कैसी प्यास ?—बुझाने जिसको, भर भर लाती हो युग लोचन ?

कमलनयनि ! क्यों कमल तुम्हारे
डूबे रहें सदा दृग-जल में,
कभी नहीं देखे सरसी में
डूबे हुए कमल जल-तल में ?
उर में कैसी पीर उमड़ती ? क्यों भर भर आते हैं लोचन ?

कौन कहे, कितने युग, कब तक
हम दोनो को तपना होगा ?

अब उन मीनों को समझा दो
बिना नीर भी जीना होगा !
प्राण ! व्यर्थ होगा यह रोदन, क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

ये वह शोले नहीं बुझा दे—
जिन्हें सतत अविरत जल-धारा,
अपने ही उर से पूछो, प्रिय !
नयन-नीर का कौन सहारा ?
साथ नहीं देंगे आँसू भी, क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

अमर लगन के इन दीपों को,
जलकर, प्राण, जलाना होगा,
घुल-घुलकर, तिल-तिल मिट-मिटकर
प्राणों को सुलगाना होगा;
जल ज्वाला का संग नहीं, प्रिय ! क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

यदि नयनों के कमल डुबाने
उमड़े भी मानस में सागर,
जल में मग्न न होने देना
उन्हें, धैर्य की नाल बढ़ाकर;
कहो, आज बरबस बेबस-सी, क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

है दो दिन का दर्शन मेला
विवश, नियति-शासित यह जीवन;
दृष्टि न धुँधली कर लो रोकर
मिले आज क्षण भर जब लोचन !
पर क्यों ?—किस भावी के भय से भर भर लाती हो युग लोचन ?

मधुर मिलन के दिन तुमने क्यों
आज पराजय-साज सजाया ?
यह नीहार-हार दृग-जल का
क्यों उर का शृंगार बनाया ?
क्यों विधु-वदन छिपा जलधर में, भर भर लाती हो युग लोचन ?

स्वर्ण-पींजड़े के, ओ पंछी !
क्या मैं भी परतंत्र नहीं हूँ ?
क्या मैं भी अब केवल साँसों—
से संचालित यंत्र नहीं हूँ ?
क्यों मेरा धीरज हरने को, भर भर लाते हो युग लोचन ?

मेरे प्राणों का पंछी भी
बंदी है अपने ही घर में,

सदा धधकता है अँगार-उर
बंद पसलियों के पंजर में,
मेरी ज्वाला को भी देखो, क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

तुम्हीं बताओ, कैसे देखूँ
निर्निमेष करुणाकुल चितवन ?
कैसे, कब तक देख सकूँगा
सजल, विकल, विस्फारित लोचन ?
कहो, खुली अलकों की माया ! क्यों भर भर लाती हो लोचन ?

रोको अपनी अश्रु-धार अब,
अब टूटे सब बाँध हृदय के,
रुद्र रूप धर उमड़ पड़ेंगे,
अब न रुकेंगे सिन्धु प्रलय के !
क्यों समस्त संसार डुबाने, भर भर लाती हो युग लोचन ?

प्रयाग ।

दहेज की देन ?

[निर्मला मित्र]

[श्रीमती निर्मला मित्रा की यह एक मार्मिक कहानी है । दहेज की प्रथा के ऊपर यह एक बहुत बड़ा indictment (दोषारोपण) है ।—सं०]

निपुण शिकारी जिस प्रकार अपने अव्यर्थ लक्ष्य पर स्वास्थ्य से भरे—जीवन से पूर्ण और आनन्द से उज्ज्वल भागते हुए तेज़ मृग को अपनी ख़ूनी, हिंसक-वृत्ति के नीचे पराजित देख कर हर्षोन्माद से उत्फुल्ल हो उठता है, उसी प्रकार दयाल देवी अपने अपरिमित धन-तृष्णा को वैवाहिक दहेज रूपी कुबेर से पूर्ण होने की आशा से हर्षित हो उठी थीं ।

किन्तु ऐन मौक़े पर उनकी उस धन-तृष्णा को मात्र थोड़ी धन-वारि से सींचकर समधी ने उनके हृदय को एकदम मरुभूमि-सा बना दिया ! उस मरुस्थल को घेरकर जो प्रल व्याख्या चल पड़ी थी, उसे कौन रोके ?

उक्त प्रलय-कांड से दयाल देवी के परिवार में जितने भी आत्मीय परिजन थे—वे सब के सब, कौन कहाँ जा गिरे इसकी ख़बर भी रखता कौन जब गृह-रूपी नौका की पतवार ही समूल बह पड़ी ?—अर्थात गृहिणी हाय-हाय करती पलंग पर पड़ी, उसकी लकड़ी के पाटियों से सिर कूट-कूट ले रही थीं, मारे शंका के घर भर के लोग तो तटस्थ—शंकित थे ही,—उधर तेरह साल की नव विवाहिता वधू उर्मिला भी डोले से उतरते मात्र भाण्डार-गृह का आश्रय ले पड़ी है । आज दो दिन बीत गये, किन्तु वह वहीं पड़ी है !

बिचारी नई आई लड़की को कोई खाने को पूछता तो खाती,—उठाता तो उठती, बैठाता तो बैठती,—घर-गिरस्थी, परिजन और परिस्थिति से उसका परिचय भी होता, किन्तु जब उसकी सास ही उससे इस प्रकार व्यवहार कर रही है कि—अभी निकाल दो उसे मकान से—उस कमीने की लड़की को मैं अपने घर में हरगिज़ जगह नहीं दूँगी ; क्यों उसके बाप ने दहेज की पूरी रक़म अदा नहीं की ?—तब उस ठग की लड़की को मैं भी क्यों न अपने घर से निकाल बाहर करूँ—!

एक बार हिम्मत करके उर्मिला के श्वसुर अन्दर गृहिणी को समझाने आये थे किन्तु

जाने भी दो, हाथी के हौदे पर सोने का पलंग रखकर समधी ने लड़की नहीं पहुँचाई तो क्या हुआ—आख़िर है भी तो उनकी यही एक ही लड़की...!

पर दयाल देवी अपनी नारीजनोचित शिष्टता को भूलकर, पति पर पलंग पर की 'गाव-तकिया' ही ले दौड़ीं, पूर्ण व्यंग से बोलीं—जाओ-जाओ, वाहियात बातों से मुझे समझाना नहीं! जिस चमार ने अब तक नहीं दिया, वह बाद में क्या देगा? किस सुनहले सुख-स्वप्न को देख रहे हो? अपनी मुरव्वत की आँखों पर ऐनक लगाकर देखो। उसकी दूसरी पत्नी के लड़के-वाले नहीं होंगे?

'हाँ, सच तो है'—और उर्मिला के श्वसुर पीछे पावों पलट गये।

बस, रह गये सारे घरवाले भूखे-प्यासे काँखते-कलपते। मकान की इस परिस्थिति पर उर्मिला की खबर लेता कौन? नादान उम्र की बेचारी वधू! विवाह के पूर्व उसने सुना था, बड़े घर के एकलौते लड़के से उसकी शादी हो रही है, उतनी छोटी उम्र में और कुछ समझ आये चाहे न आये, किन्तु इतनी समझ हो गई थी कि मायके में विमाता के अनादर में जली-भुनी मैं—अब लाड़-प्यार की गोद में झूलकर संतोष पाऊँगी।

किन्तु तक़दीर ही तो उसकी एक रही न, पिता ने लेन-देन की आग में उसकी सारी आशाओं को जलाकर ढेर कर दिया था!—अब इस दुःखमय और संत्रास-क्षुब्ध संसार में वह रहकर जीवन बिताये तो कैसे? और स्वामी! तो वे भी क्या अपनी माताजी की आँचल में पल, उसे मार्मिक-वेदना के अथाह सागर में छोड़ देंगे?—उर्मिला और आगे सोच न सकी। निरन्तर झरते आँसू फिर एक बार अजस्र धार से बह पड़े। खिन्न, म्लान, मुरझाई बालिका, पटे के ऊपर सिर रखकर भूख-प्यास से क्लिन्न सो गई।

उर्मिला गहरी नींद में सो रही थी कि अचानक ही किसी के हाथ के कोमल स्पर्श से जग पड़ी। जिसने उसे जगाया, वह उसका इक्कीस साल का पति सुकुमार था। रात्रि के अन्धकार में मकान के सब लोगों को निद्रित जानकर वह दबे पाँव इस कमरे में आया और उर्मिला को जगाकर बोला—उर्मिला, तुम मायके जाओगी?

बाहर बरण्डे में एक मलिन लालटेन टिमटिमा रही थी, उसमें से फैली तनिक-सी मरी रोशनी में—उनींदी उर्मिला कुछ समझ न सकी, केवल इस युवक के सहानुभूति-पूर्ण कातर शब्दों से सजग हो बैठी, बस।

सुकुमार बोला—ये लोग अब तुम्हें जीवन में मायके का मुँह भी न देखने देंगे, यह तय हो गया है।

उर्मिला रो पड़ी। नारी के लिए मायका बड़ी चीज़ होती है, चाहे वह मायका विमाता के उत्पीड़न से निष्प्रभ रहे, चाहे कुछ, तब भी उर्मिला का हृदय वेदना से आतुर हो उठा।

सुकुमार ने कहा—केवल रोने से काम नहीं चलेगा, ये लोग इसी मास में अपने लड़के का फिर से विवाह करेंगे, तब तुम सौत की ग़ुलामी करके यहाँ जीवन काट सकोगी?

उर्मिला की आँखों के आँसू एकाएक सूख उठे, मानो स्रोत के मुँह पर किसी ने भारी रोड़ा अटका दिया हो, वह बोली—किन्तु आप?

'हाँ, हाँ, मैं—मैं ही फिर से विवाह करूँगा उर्मिला! मेरी कुछ भी न चलेगी, मेरे सिर

पर पिताजी हैं, और माताजी को छूकर उन्होंने शपथ ग्रहण किया है, मैंने रात को अपने का... से सुना !'

दोनो घुटनों में मुँह दबाये उर्मिला को काठ मार गया।

सुकुमार ने कहा—देखो, तुम यहाँ से चली जाओ, नहीं तो तुम्हारी ब... ख़राबी होगी।

उर्मिला का छोटा-सा हृदय, उसमें विशेष कुछ समझने की वैसी शक्ति नहीं, न ठी... तरह से जवाब देने के लिए उसकी ज़बान ही दुरुस्त—फिर भी सौतिया डाह से उसका हृदय ज... रहा था। वह बोली—किन्तु आप तो कह रहे थे, यह लोग मुझे कभी मायके भेजेंगे ही नहीं।

'हाँ, तुम्हें कभी वहाँ भेजेंगे नहीं यह बात पक्की है, किन्तु उस कष्ट से मैं तुम्हें मु... कर देना चाहता हूँ, कहो, लिखकर किसी को बुलवाऊँ ?'

'पर मेरे बाबूजी और मेरी अम्माजी मुझे घर से निकाल देंगे।'

सुकमार बोला—वहाँ नहीं। तुम्हारे मामा जो हैं न, उनके पास तुम चली जावो।

'किन्तु वे तो ईसाई हो गये हैं।'

सुकुमार की आँखें आशा के रश्मिपात से उज्ज्वल हो उठीं, वह उत्फुल्ल होकर कह उठे— बस, बस तुम वहीं चली जावो, उन्हीं के साथ क्रीस्तान बनो। उर्मिला, मेरी यही कामना है।

उर्मिला के हृदय की घृणा अब सच ही उबल पड़ी। क्या लाभ ऐसे पति से जो ढकेलकर गढ़े में गिराये, हाथ पकड़कर उठाये नहीं ! छोटी-सी उर्मिला का व्यथित हृदय आ... पूरा-पूरा विद्रोह से भर गया, वह रूखे स्वर से बोली—हाँ, लिख दें आप ! किन्तु मामाजी वह तो बड़ी दूरी रहते हैं, जाने कब तक यहाँ पहुँचेंगे ? किन्तु मैं तो अब भूख नहीं सह... कर सकती।

सुकुमार ऐसा तिलमिलाकर चला गया मानो अदृश्य हस्त से किसी ने उसे चाबुक मार दिया हो।

× × × ×

कई रात बाद आज रात सुकुमार फिर अपनी पत्नी से मिला। पत्नी वैसी ही अचे... तनता से सो रही थी, सुकुमार ने उसे मृदु-स्पंश से जगाया। बोला—उर्मिला, तुम्हारे मामाजी आ गये हैं, यह अपने जेवरों की पेटी लो और चादर ओढ़कर मेरे साथ चली चलो।

किन्तु उर्मिला का हृदय मानो टूटकर वहीं बिखर रहा, यह स्नेहशील युवक, इतनी निर्दयता से उसे क्यों विसर्जन देने पर तुला हुआ है ? उर्मिला को अपने जाति—धर्म से विच्युत कर इसे क्या श्रेय प्राप्त होगा ?

सुकुमार ने हाथ पकड़ा, बोला—चलो, वे रास्ते पर गाड़ी खड़ी कर अपेक्षा कर रहे हैं।

उर्मिला का सारा धीरज अब टूट पड़ा, वह रोकर बोली—मैं नहीं जाऊँगी।

'ऐं,—नहीं जाओगी ?'

'नहीं।'

किन्तु तुम्हारी तिल-तिल की मृत्यु मैं नहीं देख सकूँगा उर्मिला, चाहे तुम्हें एक बा... ही भरे दरिया में ढकेल दूँ। उठो। और अपनी शक्ति से उसने उर्मिला का हाथ पकड़कर उठाया।

उर्मिला के हृदय—मन में, न जाने 'कहाँ, पति की वेदना की यह व्यथामय ...

पहुँची, जिसे वह चाहे व्यक्त न भी कर सके—लेकिन समझ गई—और अब कोई प्रतिवाद न कर साथ हो ली।

अँधेरी गली में चलते-चलते सुकुमार बोला—कभी मेरे साथ विवाह हुआ था, यह भूल जाना।

उर्मिला के आँसू नीरव टपक चले।

सुकुमार बोला—तुम्हारे पिता ने नक़द जो दस हज़ार रुपए दिये हैं, तुम्हारे नाम से मैंने वे रुपए बैंक में जमा कर दिये हैं—वे रुपए तुम अपनी शिक्षा के लिए व्यय कर सकती हो, किन्तु तुम्हारे मामा अध्यापक हैं, इस बात को वे समझेंगे।

उर्मिला मन ही मन कह उठी—नहीं चाहती तुम्हारी दया मैं, चाहे भीख माँगती फिरूँ।

सुकुमार ने कहा—और तुम्हारे हृदय में अभिमान होगा तो कभी अपना पता तक तुम किसी को न दोगी। क्या ज़रूरत! जब कि तुम्हारे पिता ने ही अपना फ़र्ज़ न निभाया और लड़की का जीवन मुसीबतों में फँसा दिया...क्या तुम्हारे पिता तुम पर स्नेहशील थे?

उर्मिला क्या कहे—

सुकुमार फिर बोला,—और तुम कभी अच्छी समझदार बन पाओगी, तो मेरे ऐसे पति के व्यवहार को मृत्यु-काल तक नहीं भूल सकोगी—अर्थात मुझे हृदय से एकदम भुला दोगी।

उर्मिला फफककर रो दी—और क्या हृदय से आपका ध्यान भी न भुला दूँगी?

'हाँ,—जिससे तुम्हारा परिणय हुआ, वह तुम्हें दुःखों से बचा न सका—पत्नी कह-कर तुम्हारे आँसू पोंछ न सका—हृदय से लगाकर अपनाने का साहस न किया—उस कायर की स्मृति को तुम अपने हृदय में पूज्य बनाकर क्यों रखोगी उर्मिला! तुम्हें उसे याद करते घृणा न आयेगी? हृदय तुम्हारा मसोस कर न कहेगा—अरी भोली, विवाह का सच्चा महत्त्व जिसने ज़रा भी नहीं निभाया, वह तेरा पति और पूज्य देवता क्यों कर बन बैठा? तब आँसू के बदले तुम्हारी आँखों से ख़ून न टपकेंगे? तुम तब भी अपने पति पर श्रद्धा रख सकोगी?'

उर्मिला का हृदय दहलकर विद्रोह कर उठा,—हाँ-हाँ, मैं भूलूँगी तुम निर्दयी को—कभी नाम तक न लूँगी, ज़रा ख़बर तक न दूँगी,—तुम निश्चिन्त रहो, तुम निरुद्वेग रहो!

× × ×

इधर सुबह सारे मकान में शोर मच गया—द्विचारिणी, कुल-कलंकिनी, जेवरों की पेटी तक लेकर भाग निकली। बहू को मैके में तार देकर पूछा गया, लेकिन उर्मिला वहाँ कहाँ थी?

सुकुमार का फिर विवाह हो गया और सुकुमार ने अनुभव किया, यह स्त्री उर्मिला-सी भोली नहीं मिली। विवाह के सप्ताह न कटते-कटते, जिस स्त्री ने ख़ुद ज़हर खाकर प्राण तज दिया, वह स्त्री कितनी अभिमानिनी और मर्यादाशील रही होगी?

तीसरे विवाह का दूल्हा बनने के पहले की सुकुमार सिवीलियन बनने के लि विदेश चला गया।

× × ×

अब कई साल बाद सुकुमार एक ज़िले का मालिक है—पिताजी इस बीच नहीं रहे ; पर विधवा माताजी साथ हैं,—कई मास से छोटी बहन वीणा भी आई हुई है।

कभी सुकुमार के अकेलेपन पर माताजी खिसिया पड़ती हैं, आज भी वही बात ले बैठीं ; बोलीं—अच्छा सुकुमार, अपना इतना धन आख़िर किस काम में लगेगा ? शादी-विवाह कर, लड़के-बाले हों तो धन का सदुपयोग भी हो।

सुकुमार बोला—किन्तु उतना धन अभी तक इकट्ठा नहीं कर पाया हूँ, जितना पर लड़की के दहेज के लिए चाहिये, कहीं समधी दहेज में हाथी के हौदे पर सोने का पलंग माँग बैठे तो ?

और अम्माँजी बुरी तरह चिढ़ पड़ीं, हाथ से अपने कपाल ठोंककर बोलीं—यह करम की ही तो लिखी बात थी, भला सच-सच क्या कोई ऐसा माँगा करता है, किन्तु उस हरामज़ादी छत्तीसी ने भी घराने की कैसी नाक कटाई ! कभी मिलती तो गिनकर हज़ार झाड़ू मारती।

सुकुमार धीरे से उठकर कमरे में चला गया। हाँ, छत्तीसी ने ख़ूब नाक कटाई ! जो कुछ किया, सब उसी ने तो किया ! कितने साल हो गये, अभी भी उसका नाम स्नेह से बारेक नहीं, झाड़ू के झंझा से लिया जाता है ! सुकुमार की दोनो आँखें आँसू भरके उमड़ आईं—उसने सोचा, अच्छा, अब तक कितनी बड़ी हो गई होगी ? कहाँ पर है और कैसे जीवन बिताती होगी ? किन्तु अपना वायदा उसने निभाया भी ख़ूब !

और बाहर के दालान से चपरासी ने पुकारकर कहा—अम्माजी, लेडी डक्टर साहब पन्द्रह मिनट में आती हैं।

इधर से मा ने परदा उठाकर कहा—सुकुमार, ज़रा बाहर बरण्डे में निकलकर बैठ वीणा की तबीयत कुछ ठीक नहीं, मैंने लेडी डाक्टर को बुलवाया है। ज़रा अँग्रेज़ी में वीणा की हालत समझा देना।

सुकुमार बाहर दालान में चहलक़दमी कर रहा था, लेडी की कार गेट पर आकर रुकी और सुकुमार स्वागतार्थ क़दम उठाकर ठिठक रहा—और लेडी डाक्टर भी उतरकर चमक पड़ी।

किन्तु एक मिनट में ही दोनो सँभल गये। सुकुमार तो कुछ बोला नहीं किन्तु लेडी ने पूछा—बीमार कौन है ? आपकी स्त्री ?

'नहीं, बहन—' बस सुकुमार अपने कमरे में हो गया। उधर लेडी भी दो मिनट में अन्दर देख-भालकर चली गई। सहसा मा-बहन दोनो अत्यन्त व्यग्रता से उसी कमरे में चली आईं और बेतहाशा घबड़ाकर मा बोलीं—अरे सुकुमार, यह तो बहू है !

पाषाण-सा सुकुमार इज़ीचेयर पर पड़ा-पड़ा बोला—होगी !

'होगी नहीं—है, है,—निश्चय है।'

'तब ?'

भीति-व्यंजक मुख से मा ने कहा—तब बड़ी ख़राबी हुई, कोई जान ले तो इज़्ज़त-आबरू पर बन आयेगी।

'किन्तु एक रोज़ उसे तुमने—हम सबने अपने मकान से विदा कर दिया था, अब सरकारी संस्था से तो उसे विदा करने की हिम्मत तुम्हारे इस सिवीलियन लड़के की भी नहीं है अम्माँ!'

सुकुमार की इस प्रच्छन्न तीव्रता से माताजी एकदम आगबबूला हो गईं, बोलीं—हाँ रे अधर्मी, मैंने उसे निकाल दिया था या वह आप निकल गई थी?

सुकुमार अन्तर ही अन्तर रूखा, कठोर बन गया था किन्तु ऊपर से शान्त बना बोला—नहीं, हाथ पकड़के उसे तुमने नहीं निकाला तो क्या हुआ, किन्तु तुम्हारे इस बेटे ने उसे आधी रात के समय ढकेलकर बाहर कर दिया था!

'तूने?'

'हाँ, मैंने,—तीन रोज की भूखी-प्यासी आत्मा का कलपना मैं सहन न कर सका, उसकी छाती पर सौत का आना मैं बरदाश्त नहीं कर सकता था—सौत के पैर दबाकर, और सास-ननद के गुलचे खा-खाकर तिल-तिल करके उसकी मृत्यु को मैं नापसन्द करता था—मैंने ही उसके मामा को बुलाकर दस हज़ार रुपयों के साथ उसे उनके हवाले कर दिये थे—अपने पतीत्व के बन्धन से मुक्त कर मैंने ही उसे आज़ाद कर दिया था। अब उस पर मेरा कोई दावा नहीं।'

× × ×

और एक रात लेडी डाक्टर के पास 'काल' पहुँचा। सुकुमार ने जान पाया और पूछा—सब जान-सुनकर फिर भी उसे क्यों बुलाया गया?

मा गम्भीर मुँह से बोलीं,—वीणा का शिशु बहुत बीमार है, सुना है वह शिशु-चिकित्सा की स्पेशलिस्ट है।

सुकुमार नाराज़ हो उठा, बोला—मना कर दो, वह यहाँ न आये, मैं बालक के लिए दूसरा डाक्टर लाता हूँ।

और मा ग़ुस्से से तिलमिला उठीं, बोलीं—भला, फ़ीस दूँगी तो मेरी ख़ुशी चाहे जिसे बुलवाऊँ, तू क्यों बीच में दख़ल देता है, और उसका तो यह पेशा ही है, चाहे जहाँ, कोई भी ले जाय उसे जाना ही पड़ेगा। 'ड्यूटी' में रहकर नहीं थोड़े कर सकती है। उस पर केस न चल जायगा?

पूर्ण विद्रोही सुकुमार के दिमाग़ में जैसे आग लग गई।

ठीक उसी समय, लेडी बरामदे में चढ़ आई और सुकुमार चिल्ला उठा—ख़बरदार उर्मिला, आगे एक क़दम न बढ़ना, तुम फिर इन हत्यारों के मकान में पैर रखती हो, तुम्हें लज्जा नहीं लगती? घृणा ने तुम्हें रोका नहीं! तुम्हारी तेरह साल उम्र की, पुष्प-सी पेलव-सुकुमारता को जिन हत्यारों ने पैरों तले रौंद डाला, उन्हीं के यहाँ एक तीन दिन के शिशु का प्राण बचाने के लिए अपने प्रयास को लेकर दौड़ी चली आई हो! लेकिन मैं तुम्हें वह प्रयास करने नहीं दूँगा, तुम लौट जाओ उर्मिला, नहीं तो देखो बन्दूक़! अभी फ़ायर कर दूँगा!—उसने टेबुल पर से भरी बन्दूक़ उठा ली।

फिर भी उर्मिला करुण स्वर से बोली—अब कभी न आऊँगी, किन्तु इस बार मुझे अपनी 'ड्यूटी' कर लेने दीजिये ।

'हरगिज़ नहीं ।'

उर्मिला की सास ने दौड़कर उर्मिला का हाथ पकड़ा, फिर झिटककर बोलीं—क्यों, तू बहू है या और कुछ ? चलती क्यों नहीं अन्दर, मेरा नाती बीमार है और तू बिना देखे चली जायगी ? अभी रिपोर्ट कर दूँगी ।

उर्मिला का हाथ पकड़ ज्योंही उनने अन्दर खींचा, त्योंही सुकुमार की बन्दूक़ गरजकर छूट पड़ी । लक्ष्य ठीक नहीं बैठा । गोली उर्मिला के एक पैर में लगा और हमेशा के लिए एक ज़ख़्म बना गई !

होशंगाबाद ।

मैं सूने में मन बहलाता

[शिवमंगल सिंह]

[श्री शिवमंगल सिंह नवयुवक कवि हैं और आज कल हिंदू विश्वविद्यालय, काशी में अध्ययन कर रहे हैं ।—सं०]

मेरे उर में जो निहित व्यथा,
कविता तो उसकी एक कथा,
छंदों में रो-गाकर ही मैं, क्षण भर को कुछ सुख पा जाता,
मैं सूने में मन बहलाता ।
मिटने का है अधिकार मुझे,
है स्मृतियों से ही प्यार मुझे,
उनके ही बल पर, मैं अपने खोये प्रियतम को पा जाता,
मैं सूने में मन बहलाता ।
कहता क्या हूँ, कुछ होश नहीं,
मुझको केवल संतोष यही,
मेरे गायन-रोदन में जग, निज सुख-दुख की छाया पाता ।
मैं सूने में मन बहलाता ।

काशी,
४—१०—१९३८ ।

जीवन में संयम और स्वतंत्रता

[रामचन्द्र तिवारी]

[श्री रामचंद्र तिवारी से 'हंस' के पाठक भली प्रकार परिचित हैं। क्या कहानी और क्या लेख, उनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हमें देख पड़ता है। विचारों के व्यक्त करने की उनकी शैली भी सुन्दर है।—सं०]

यह स्वतंत्रता का युग है। आज स्वतंत्रता देवी के पूजन के अवसर पर आप अपनी संयम-चर्चा रहने दीजिये। आज स्वस्तंत्रता देवी का संदेश है—मनुष्यो, उठो। सब बंधन तोड़ दो। स्वच्छंद मुक्त विहार करो। आज तुम्हारा पथ रोकनेवाला कोई नहीं है। तुम स्वतंत्रता हो, तुम्हारी आत्मा स्वतंत्र है; उसे आनन्द-लोक में विचरण करने दो। हमें चाहिये कि हम अपनी समस्त शक्तियों को स्वतंत्र कर दें और उन्हें निष्कण्टक विश्व में विहार करने दें। इससे उनका विकास होगा। उनकी गुरुता बढ़ेगी और अनुभव प्राप्त होगा। हमारे पुरखा संयम-बंधन में बँध-कर ही तो जहाँ के तहाँ पड़े रह गये। वे संसार से तभी तो भाग निकले। जिसका फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। जो कोई आता है ऐंठता, हमारे सिर पर लात रखता हुआ निकल जाता है और हम संयम, दमन, नियमन के गीत गाते —मन को समझाते रहते हैं। निष्कर्मण्य की भाँति पड़े रहते हैं। हम इस दशा का—इस दीनतामय दरिद्रता का—मानसिक दरिद्रता का अंत चाहते हैं। हमें आपकी संयम-चर्चा की आवश्यकता नहीं। आप हमें उन्मत्त की भाँति स्वतंत्रता देवी की उपासना करने दीजिये। स्वतंत्रता ही संसार में सब कुछ है। प्रत्येक मनुष्य संसार में समान है। उसके जन्म-मरण और आकार में दूसरे मनुष्य से कोई विशेष अन्तर नहीं। सब स्वतंत्र जन्मे हैं और स्वतंत्र मरेंगे। न कोई किसी के साथ आया है और न कोई उसके साथ जायगा। उसे अकेले ही सब कुछ सहन करना है। फिर दूसरों को उसके मार्ग का रोड़ा बनने का अधिकार क्यों है। जब अपने प्रत्येक कार्य के लिए वही उत्तरदायी है तो उसे कार्य की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये।

हमारे प्रोफ़ेसर साहिब संयम का नाम सुनते ही सब बातें एक साँस में कह गये। जीवन का अधिकतम विकास, अधिकतम अनुभव, और अधिकतम आनन्द यही उसका प्रधान लक्ष्य है। और ठीक ही है।

प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है। जीवन हमें एक बार मिला है। पुनर्जन्म तथा स्वर्ग के विषय में कोई अकाट्य प्रमाण अभी प्रस्तुत नहीं हुए हैं। ऐसा कोई आविष्कार अभी नहीं हुआ कि जिसके बल पर अविश्वासी लोगों से यह कह सकें कि आइये महाशय हम आपका भव-बन्धन काटे देते हैं, जाकर देखिये कि स्वर्ग, नरक हैं या नहीं। अथवा पुर्नजन्म होता है या नहीं, आप स्वयं अनुभव करके सन्तोष कर लीजिये तब हमारी बात मानिये और यदि आपको यह सत्य अनुभव हो तो इस अनुभव के पश्चात आकर अन्य अविश्वासी सज्जनों को भी विश्वास दिलाइये अथवा अपने साथ ले जाकर उन्हें भी स्वर्ग, नरक तथा पुनर्जन्म की सैर करा लाइये।

जीवन हमें अबकी मिला है। लोग कहते हैं इसमें रस है। कड़ुवा, मीठा, कसैला, इत्यादि तथा श्रृंगार, हास्य और भयानक आदि ही नहीं वरन् इनके विभिन्न अनुपातों में मिश्रण के कारण अनन्त प्रकार के रस हैं। आज हम घूँट में रस का समुद्र पी जाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि जीवन के कोने-कोने में से रस निचोड़ लिया जाय, उसका कोई अंग अछूता न बचे। यदि हम उसका पूर्ण रसास्वादन करने में समर्थ न हुए तो हम जिये ही क्या?

मनुष्य नियमन से, संयम से, भड़कता है। उसको हृदय है, वह अनुभव करता है, उसका व्यक्तित्व है।

ज्योतिषी हमें बताते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में अनन्त ग्रह, राशि बड़ी तीव्र गति से विचरण कर रही हैं। इन ग्रहों के हृदय नहीं है। यदि आज स्वतंत्रता का हम जो अर्थ समझने लगे हैं— उसमें कुछ सत्य का अंश होता तो ये निर्जीव ग्रह, जो राग-द्वेष से परे हैं, स्थान में भ्रमण करने को स्वतंत्र होते। परन्तु ज्योतिषी कहते हैं कि ऐसा नहीं है। ये एक दूसरे का ध्यान रखते हुए उसका मार्ग छोड़ते हुए चलते हैं। हम सीधे ही जायँगे ऐसा हठ उनका नहीं है। वास्तव में सीधा नामक कोई गुण संसार में नहीं है। जो कुछ है सब वृत्ताकार है। हम काग़ज़ पर जिस दो इंच की रेखा को खींचकर सरल कहते हैं—वह सरल नहीं है। यदि हम उसे दोनो दिशाओं में बढ़ाते चले जायें तो पृथ्वी के चारो ओर घूमकर दोनो सिरे आपस में मिल जायँगे। सरल रेखा एक बहुत बड़े वृत्त का इतना छोटा मार्ग है कि उसमें हमें गोलाकारिता के दर्शन नहीं होते।

संसार में सब वस्तुएँ वृत्ताकार हैं। वह वृत्त बनने की चेष्टा करती हैं, क्योंकि वही स्थायी रूप है। सरल रेखा सरल होने पर भी अप्राप्य है। वह निर्द्वंद है। उसे किसी आधार की अपेक्षा नहीं। वह आगे बढ़कर अपने पीछे के अंग को भूल जा सकती है। वृत्त इस भाँति स्वच्छंद नहीं; वह केन्द्र द्वारा नियमित है, उसकी परिधि का कोई भाग अपने में सम्पूर्ण नहीं। उसके बड़े से बड़े भाग को सम्पूर्णता के लिए दूसरे भाग की आवश्यकता है।

हाँ तो, ग्रहों का मार्ग गोलाकार है, केन्द्र द्वारा नियमित है। जिस समय कोई ग्रह किसी कारणवश अपने मार्ग से विचलित इधर-उधर हो जाता है तो उसका व्यक्तित्व आपत्ति में आ पड़ता है। वह किसी भी क्षण दूसरे ग्रह से टकराकर उसे नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ स्वयं चूर्ण-चूर्ण हो सकता है।

राजनैतिक आन्दोलन के दिनों में एक वयोवृद्ध सज्जन सड़क पर जा रहे थे। उन्होंने समझा कि जब इतनी चौड़ी सड़क पड़ी है, तो दुकानदारों के सामान से भरे फुटपाथ पर चलने की क्या आवश्यकता है। और फिर हम लोग स्वतंत्र हैं, जहाँ चाहें वहाँ चलेंगे, कोई हमें रोकनेवाला कौन! वे अपनी धुन में चले जा रहे हैं। आगे-पीछे दोनो ओर से मोटरों के भोंपू बज उठे।

परन्तु वृद्ध ने अपना मार्ग न छोड़ा, कुछ भले आदमियों ने कहा—बाबा फुटपाथ पर आ जाओ, सड़क रुकी है। वृद्ध ने क्रुद्ध नेत्रों से उनकी ओर देखा और बोला—

तुम्हें लज्जा नहीं आती। स्वतंत्र होने का दम भरते हो जवान होकर! हमारी जहाँ इच्छा होगी वहाँ चलेंगे, तुम्हें इससे क्या, जाओ अपना काम करो।

वृद्ध के हृदय में स्वतंत्रता की जो भावना थी, वे स्वतंत्रता का जो अर्थ समझते थे वह हमारे मित्र प्रोफ़ेसर की सम्मति से अधिक दूर नहीं है। वे समझते हैं कि स्वतंत्रता हमारे ही हिस्से में आई है। उन्हें ध्यान न था कि जिस प्रकार अपनी स्वतंत्रता के बल पर उन्हें मोटर के मार्ग पर चलने तथा हॉर्न बजने पर भी न हटने का अधिकार है, उसी भाँति मोटर ड्राइवर को भी अपने मार्ग रोकनेवाले पर मोटर चढ़ा देने का अधिकार हो सकता है। जिस प्रकार की स्वतंत्रता की कल्पना उनकी थी, उसका उपभोग निरंकुश राजा और सम्राट ही कर सकते हैं और वह भी कुछ अंशों में। एक व्यक्ति की इस प्रकार की स्वतंत्रता है जिसके विरुद्ध संसार में इतने आन्दोलन आते-जाते रहे हैं।

जिस समय आज हम स्वतंत्रता की बात करते हैं, उस समय उसके सहचर समानता तथा भ्रातृभाव को भूल जाते हैं।

स्वतंत्रता सापेक्ष है। निरी अनियमित स्वतंत्रता प्रत्यक्ष ही हानिप्रद है। अनुभव-विहीन शिशु जब अग्नि की सुन्दरता से मुग्ध हो अंगार उठाने और मुख में रखने के लिए लालायित हो उठता है, वह लोलुप नेत्रों से देख, चमकते अग्नि की ओर हाथ बढ़ाता है, तो हम उसे रोक देते हैं। कभी हठ करने पर झिड़क भी देते हैं। निरीह शिशु को इतनी अस्वतंत्रता क्यों?

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका समाज इस रूप से विकसित हुआ है कि अकेले उसका निर्वाह नहीं। उसे मिल-जुलकर रहना होगा। उसके लिए यह व्यसन नहीं आवश्यकता है। समाज के समस्त नियम, समस्त भावनाएँ, समस्त धारणाएँ तथा आदर्श एक नहीं वरन् अनेक की सुविधा का ध्यान रखकर बनी हैं। हमारा समाज आज जिसे दुर्गुण अथवा अवांछनीय समझता है उसका मूल ईश्वर में अथवा सूक्ष्म में है या नहीं यह व्यक्तिगत समझ की बात है, परन्तु उसका सम्बन्ध समाज के हित से अवश्य है।

इस नियमों के बनने की कल्पना हम कुछ इस भाँति कर सकते हैं। एक ग्राम में, कल्पना कीजिये, पचास सज्जन रहते हैं। सबके पास भेड़ें हैं। घर है, सामान हैं। परन्तु सज्जन होने पर भी सबको चोरी की लत है। एक की आँख बची और दूसरे ने उसके रेवड़ की दस भेड़ें अपने रेवड़ में हाँक लीं। अवसर मिलने पर उनमें से कोई चूकनेवाला नहीं। (यहाँ पर यह बात अत्यन्त रोचक है कि नैतिक आचरण का वही आदर्श कानून का आश्रय ले बुद्धिमानों तथा विद्वानों में पुनः लौटता प्रतीत होता है।) प्रत्येक अपने साथी के व्यवहार से तंग है। दिन-रात जागकर पहरा देने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। आँख झपकी नहीं कि भेड़ ग़ायब। बहुत समय इस भाँति बीत गया। कुछ लोग इस दशा से ऊब गये और इसके अन्त करने का उपाय सोचने लगे। सब लोग इकट्ठे किये गये और वर्त्तमान शब्दमात्रानुसार यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भाई जो कोई अब से आगे भेड़ चुरायेगा सब मिलकर उसे दण्ड देंगे। उस गाँव में उस दिन से चोरी बुरी बात, पाप, बन गई। झूठ बोलने के विषय में 'दौड़ो लोगो, भेड़िया आया' वाली कहानी बच्चों को भी ज्ञात है। झूठ बोलना बुरा

है। झूठ बोलने पर नरक में जाने की व्यवस्था प्रत्येक धर्मशास्त्र ने दी है। परन्तु आज हम झूठ बोलने की कला सीखने-सिखाने के लिए विद्यालय खोलते हैं। पहले जो मनुष्य मिथ्या भाषण कर दूसरों को धोखा देता था वह और नहीं तो अपनी आत्मा के सम्मुख तो अपराधी होता ही था। आज वह अवस्था नहीं है। यदि आज हम झूठ बोलकर दूसरे को ठगते हैं और पकड़े नहीं जाते अथवा पकड़े जाने पर कचहरी में अभियोग प्रमाणित नहीं होता तो हम दूध के धोये हैं। जीवन-युद्ध तथा योग्यतम की सफलता ने आज प्रत्येक साधन को उचित बना दिया है। एक समय था लोग धोखा देते लजाते थे, परन्तु आज शिक्षित युवक छाती फुला सफलता (!) से उन्मत्त होकर कहता है।—'जनाब यह दुनिया है। यहाँ बिना चालबाज़ी और धोखा-धड़ी के काम नहीं चलता। अभी दुनिया को समझिये और उसकी दुर्बलता से लाभ उठाइये।'

उनकी समझ में हम लोगों का एक दूसरे पर विश्वास करना भी एक दुर्बलता है। लेनदेन में अब ज़बान का मूल्य नहीं। निष्प्राण लेखनी से निकले काले अक्षरों का मूल्य है। इन काले अक्षरों की सत्यता पर भी हम अधिक समय बीत जाने पर विश्वास करने में संकोच करते प्रतीत होते हैं। हम अवसर पड़ने पर यह कहने को प्रस्तुत रहते हैं कि यह हमारा नहीं लेखनी का लिखा हुआ है। हम इसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं।

हम देखते हैं कि बिना दूसरे की सुविधा का ध्यान रखे हमें सुविधा प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तविक स्वतंत्रता दूसरों की रुचि, इच्छा एवं स्वार्थ के साथ अपनी रुचि इच्छा और स्वार्थ का समझौता स्थापित करने में है। दूसरे का मार्ग छोड़कर निर्द्वंद अपने मार्ग पर चलने में है। यदि इस तत्त्व के समझने में हम संकोच करते हैं तो अपनी स्वतंत्रता खो बैठते हैं। दूसरे के मार्ग में आने की चेष्टा करने पर हम शासन के प्रति अपराधी एवं दण्डनीय हो जाते हैं।

दूसरों की तथा अपनी स्वतंत्रता का ध्यान रखकर चलने में कुछ समय की आवश्यकता है। हमें अपने आपको खुलने के लिए बन्धन में बँधना पड़ेगा। हमारा पार्थिव शरीर स्वयं बन्धन का परिणाम है। यदि आज हमारे शरीर के कण विद्रोही बन जायें और एक दूसरे का साथ छोड़ वायु-मण्डल में इधर उधर बिखर जायँ, तो हम कहाँ होंगे। यदि शरीर-बन्धन-विहीन होकर हम मानसिक स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते हैं तो उसका केवल मात्र उपाय शरीर का हनन है। उसके पश्चात् चारो ओर स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है। जहाँ तक हम शरीर-धारियों को ज्ञान है शरीर से स्वतंत्र होने के बाद हमें कोई बन्धन नहीं सताता। परन्तु, उस समय, 'हम' रहता भी है अथवा हम की अनुभूति होती भी है यह साधारण प्राणी नहीं बता सकेगा। एकदम स्वतंत्रता कदाचित मृत्यु का दूसरा नाम है।

हमारा पहला कर्तव्य अपने शरीर को बनाये रखना है। शरीर के अस्तित्व का प्रश्न स्थिर हो जाने पर हमारा दूसरों से सम्बन्ध तथा स्वतंत्रता का प्रश्न आता है। हमारा शरीर कृत्रिम नहीं। वह प्राकृतिक है। हमारी इच्छाएँ उसमें कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं कर सकतीं। हमारी वासनाएँ उसे बदल नहीं सकतीं। हम अपना समस्त बल लगाकर भी अपने दो हाथ से चार हाथ नहीं बना सकते। चतुर्मुख और त्रिनेत्र केवल ब्रह्मा और शिव ही हो सकते हैं। हमारी शक्तियाँ इस दिशा में सीमित हैं।

इसके अतिरिक्त अपने चारो ओर का संसार हमारा अपना बनाया हुआ है। संसार

में विभिन्न वस्तुओं से जो हमारा सम्बन्ध है वह हमारा तथा वस्तुओं के बीच का समझौता है। वह हमारे अहं भाव की विज्ञप्ति है। वह हमारा मानसिक विलास है।

दशरथ बाबू पर्याप्त धनी एवं सम्पन्न हैं। भगवान की दया से (उनके शब्दों में) उनके पास करने को रोचक कार्य हैं। कोई विशेष असंतोष नहीं। एक दिन वे संध्या समय घूमने जा रहे थे। उनके पड़ोसी रामनारायण के खेत में एक अच्छा-सा नीम का पेड़ था। उन्होंने उसे देखा। आज वह उन्हें अच्छा लगा। उसी समय उन्हें एक सन्दूक़ की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और यह भी उनके मन में निश्चय हो गया कि सन्दूक़ उसी नीम की लकड़ी का बनना चाहिये। रामनारायण से उनकी कोई शत्रुता नहीं। रामनारायण उनसे किसी विषय में दुर्बल भी न थे। परन्तु उनका मन अपनी इस विलासिता, कल्पना के वशीभूत हो गया।

अभी उस दिन एक सुन्दर वस्त्रधारी सज्जन ठण्डी सड़क पर चले जा रहे थे। उनकी मुखाकृति तथा चाल-ढाल उन्हें पढ़े-लिखे व्यवसाय का सदस्य बताती थी। एक मनुष्य ने पिंजड़ा लाकर उसमें से एक चूहा छोड़ा। निरीह पशु अपनी जान लेकर भागा। सज्जन ने उसे देखा। उन्होंने एक ईंट उठा ली और उसके पीछे दौड़ पड़े। मुख पर ईंट का प्रहार पाते ही चूहा सदा के लिए मिट्टी हो गया। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि उन सज्जन ने चूहे को उठाकर अपने झोले में नहीं डाला। उसका मांस खाने की इच्छा उनकी कदापि न थी। परन्तु फिर भी उनसे चूहा-संहार काण्ड किये बिना न रहा गया।

अनेकों मनुष्य मानसिक दुर्बलता के कारण, मानसिक नियमन के अभाव के कारण अस्थायी और आस्तित्व-विहीन वस्तु के पीछे पागल हुए फिरते हैं। साहित्य में मनुष्य की इस दशा के हमें अनेकों चित्र मिलते हैं। किसी बड़े नगर के प्रधान मार्ग पर खड़े होकर आप भीड़ में इस प्रकार के लोगों के दर्शन कर सकते हैं। वे अपने अवास्तविक संसार में विचरण करते जान पड़ते हैं। उन्हें अपनी दुनिया पर कोई वश नहीं है; अपने पर कोई वश नहीं है। वे बहे जा रहे हैं। यदि भाग्य में होगा तो किसी झाड़-झंखाड़ में अटक कदाचित कभी क्षण मात्र के लिए किनारे जा लगें। नहीं तो सरिता की धारा का आश्रय तो है ही। अपनी नैया वे खे नहीं सकते। बार-बार पतवार हाथ में देते रहने पर भी उसे सँभालने की शक्ति उनमें नहीं।

उनके हाथ में शक्ति नहीं है ऐसी बात नहीं है। उनके हाथ में भी उतना रक्त, मज्जा तथा अस्थियाँ हैं, जितनी सबके हाथों में। वे भी उतने ही बलिष्ट हैं जितने कि अन्य हाथ। सँडासी ठोस लोहे की है, परन्तु उससे कार्य लेनेवाला लुहार दुर्बल है, अनभ्यस्त है। उससे दृढ़ता के साथ आज्ञा देकर कार्य करा लेनेवाले की कमी है। उसका स्वामी, मन, स्वयं दुर्बल, व्यायाम-रहित, शिथिल, तथा निकम्मा है। उसकी मानसिक दुर्बलता शारीरिक, सांसारिक दुर्बलता बन गई है। संसार में शक्तिशाली होने के लिए मन को बलवान, अभ्यस्त होना होगा। मन की अस्वस्थता का प्रभाव हृदय पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता। जिस प्रकार बलहीन संगति में रहने से, दुर्बलता का चिन्तन करने से, बलवान भी निर्बल हो जाता है उसी प्रकार दुर्बल, अस्वस्थ मस्तिष्क के साथ स्वस्थ, बलवान हृदय भी अपना वास्तविक बल और तेज गँवा बैठता है।

हम आये-दिन देखते हैं कि मन पर पूर्ण नियमन न होने के कारण बड़े-बड़े योग्य तथा उपजाऊ मस्तिष्कों के हाथ के अवसर फिसल जाते हैं। उन्हें अपने शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व

नहीं रहता। वे उसे दृढ़ नहीं बनाये रह सकते। मि० बोस मैट्रिक में प्रथम उत्तीर्ण हुए। इंटर में भी उन्होंने विश्वविद्यालय से छात्रवृत्ति प्राप्त की। बी० ए० तथा एम० ए० में भी उनका नाम सर्वप्रथम आया। प्रतियोगिता परीक्षा में भी वे फ़र्स्ट आये और इन्टरव्यू के लिए बुलाये गये। बोस बाबू के मस्तिष्क के एक विभाग की वृद्धि ने दूसरे विभाग को दबा दिया था। वे काँपते-काँपते घर से निकले। मार्ग में क्या होगा इसकी चिंता करते गये। कमेटी के सम्मुख जाड़ों में वह पसीने से तर थे। कमेटी के एक सदस्य ने उन्हें देखते ही कह दिया कि मि० बोस आप बहुत घबराये हुए हैं। अब क्या था, बोस बाबू और भी घबरा उठे। उन्होंने प्रश्नों के उत्तर ऊटपटांग दिये।

फल निकलने पर सफल लोगों में उनका नाम न था।

अपने मस्तिष्क तथा उसके आश्रय में अंगों को अभ्यस्त बनाने में ही जीवन की सफलता निहित है। हीन से हीन कार्य को भी भली भाँति करने के लिए पर्याप्त अभ्यास की आवश्यकता है। बिना उचित अभ्यास सफलता असम्भव है।

उचित मानसिक नियमन तथा व्यायाम अत्यंत आवश्यक वस्तु है। संसार का सैनिक इतिहास बताता है कि भली भाँति नियमित तथा ड्रिल में अभ्यस्त थोड़ी-सी सेना के सम्मुख बहुसंख्यक साधारण सैनिक सदैव हारते रहे हैं। अनियमित सैनिक अधिक वीर हो सकते हैं, परन्तु उनकी व्यक्तिगत वीरता नियमाधीन हुए बिना विजय नहीं प्राप्त कर सकती। हमारा पिछले दो सहस्र वर्ष का इतिहास उसका साक्षी है। सैनिक व्यायाम तथा कला के अध्ययन और अभ्यास से केवल हमारा शरीर ही दृढ़ नहीं होता, केवल हमें हथियार चलाने की योग्यता ही नहीं प्राप्त होती, वरन् इस शिक्षा का वास्तविक महत्त्व मस्तिष्क का नियमन है। अच्छा वेधक होने के लिए मस्तिष्क की जितनी एकाग्रता की आवश्यकता है, वह एक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है; परन्तु अपने व्यक्तित्व को भुलाकर सेना में मिला देने के लिए जिस संयम, मानसिक दमन तथा आत्म-शासन की आवश्यकता है, वह बैरक में रहने तथा एक पंक्ति में खड़े होकर हाथ-पैर हिलाने से ही आती है। सैनिक-शिक्षा का महत्त्व इसी में है। उसकी स्वतंत्रता तथा सफलता इसी संयम में है। सैनिक अपने आपको जितना सेना में मिला सकता है उतना ही उसे तथा देश को लाभ होता है।

संयम व्यक्तिगत शक्तियों का ह्रास नहीं करता। वह उनके विकास में बाधा नहीं डालता। वास्तव में वह उन शक्तियों के पूर्ण विकसित होने में सहायक होता है।

मनुष्य का मन अच्छी-बुरी, उचित-अनुचित सभी प्रकार की बातों में उलझा रहता है, यदि मनुष्य में संयम नहीं है। वह अपने मन पर प्रभुत्व नहीं रख सकता, तो उसका मन उचित अनुचित के बीच डाँवाडोल रहेगा। कभी वह उचित की ओर झुकेगा कभी अनुचित द्वारा आकर्षित होगा। उसकी शक्तियाँ इस इधर-उधर में व्यर्थ ही व्यय होंगी। यदि वह डिक्टेटर की भाँति बलपूर्वक अपनी अनुचित प्रवृत्तियों का दमन कर सकता है, उनके सिर उठाते ही उन्हें कुचल देने को प्रस्तुत रहता है, तो उसकी वह शक्ति अनुचित से खेलने में व्यय होने से बच जाती है और उचित के विकास में लगाई जा सकती है। इस प्रकार संयम हमारी लाभदायक तथा उचित शक्तियों की वृद्धि तथा विकास में अत्यन्त सहायक होता है। संसार में जितने महान पुरुष हुए हैं सभी का जीवन कठोर आत्मशासन का जीवन रहा है। जिन्होंने संसार को जीता है, उन्होंने पहले अपने को जीता है। दिग्विजयी होने से प्रथम आत्मविजयी होना अनिवार्य है।

देशों तथा राष्ट्रों के विषय में भी यह कथन पूर्णतया लागू होता है। उन्नत जाति

की व्यक्तियों में जितना आत्म-नियमन है उतना अन्य पतित जातियों में नहीं। उनका संयम उन्हें उन्नत करने तथा उन्नति-शिखर पर बनाये रखने का कारण है। उन्होंने सीख लिया है कि हमारा शरीर हमारी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर अपनी समस्त प्रसन्नताओं पर लात मार, समस्त भावनाओं को प्रणाम कर अपने सामने के कार्य पर जुट जाना सीखा है। वे अर्जुन की भाँति केवल चिड़िया की गर्दन देखते हैं। उसका शरीर उनकी दृष्टि में नहीं आता। यही कारण है कि वे जो कार्य हाथ में लेते हैं, उसे सफल करके छोड़ते हैं।

सब विघ्न-बाधाओं को भूलकर सामने के कार्य में लग जाना ही संयम की बड़ी देन है। संयम हमें अपनी शक्तियों को केन्द्रीभूत करने का मार्ग केवल दिखाता ही नहीं वरन् हाथ पकड़कर उस पर ले जाता है।

संसार में सभी लोग आते, दो-चार दिन खाते-पीते और पुनः अनन्त में विलीन हो जाते हैं। इस जीवन में कितना भाग उनका है इसका अधिकतर लोगों को पता ही नहीं होता। माता-पिता पढ़ा-लिखाकर नौकरी करा देते अथवा दुकान पर बैठा देते हैं। यदि भाग्यशाली हुए तो नौकरी से अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने का अवसर मिलता है। परन्तु तब तक वे बूढ़े हो चुकते हैं। माला फेरकर किसी खिड़की द्वारा स्वर्ग में जा घुसने की चिंता करने लगते हैं। दिन-रात एक काम, एक बात है। जीवन पर उनका कोई दृष्टिकोण नहीं।

जीवन एक कला है, और कदाचित कुछ कठिन कला है। चित्रकार को प्रत्येक प्रकार का रंग बाज़ार में बना-बनाया मिल जाता है। वह उन्हें मिलाकर भाँति-भाँति की सृष्टि कर सकता है। परन्तु जीवन में बाहिर से रंग लगाने की सुविधा नहीं है। यहाँ तो रंग अपने भीतर से ही निकालना होगा। उस रंग की चमक इस बात पर निर्भर करेगी कि कहाँ तक हमने अपने-आप को तपाया है, कञ्चन बनाया है।

हमारी जीवन-फुलवारी की शोभा और सुगन्धि दो बातों पर निर्भर है। प्रथम तो हमने उसमें कैसे फूल लगाये हैं और द्वितीय उसमें उगनेवाले घास-पात तथा अन्य हानिकारक बनस्पति हम कहाँ तक निकाल बाहिर फेंक सके हैं? जिस परिमाण में हम अपने जीवन में से कठिन, हानिकारक, कँटीली घासों को निकालने में समर्थ होंगे उसी परिमाण में सुगन्धित पुष्पों को प्रस्फुटित होने का अधिक अवसर मिलेगा। जो लोग फूल की चिंता नहीं करते, केवल फल की कामना करते हैं उन्हें यह न भूलना चाहिये कि बिना स्वस्थ फूल स्वस्थ फल नहीं पैदा हो सकता। दुर्बल अस्वस्थ फूल द्वारा उत्पन्न फल कभी सुखदायी, स्वादिष्ट तथा उस परिमाण में लाभदायक नहीं हो सकता, जितना कि स्वस्थ फल।

स्वास्थ्य ही सौंदर्य है। सौंदर्य प्राकृतिक गुण है। प्रकृति की योजनानुसार वह प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। यदि हम प्राकृतिक दिशा में अपने जीवन को विकसित होने का अवसर दें, तो हममें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सौंदर्य का प्रस्फुटन होगा। संयम प्रकृति की रचना में है। जीवन को प्राकृतिक बनाये रखने के लिए संयम की आवश्यकता है। संयम-विहीन हम प्राकृतिक पथ से दूर जा पड़ते हैं, मुक्ति-मार्ग से साधारण प्रलोभनों द्वारा विचलित कर दिये जाते हैं।

संसार संग्राम है। विरोधी प्रवृत्तियों तथा शक्तियों का द्वंद्व सदा से चला आया है। हम इससे बच नहीं सकते। इस युद्ध में हमारी स्थिति जितनी दृढ़ और ऊँची होगी उतना ही हम अपने शत्रुओं से बचे रहेंगे। उचित मानसिक शिक्षण हमारी शत्रु-मित्र देखने तथा पहिचानने

की शक्ति को विकसित करता है। इस विरोधपूर्ण जीवन में हम जितना सामञ्जस्य ला सकेंगे; बिना तोड़-फोड़ जितनी सृष्टि कर सकेंगे ; अनेकता में जितनी एकता प्राप्त कर सकेंगे उतनी ही जीवन की सार्थकता है, सफलता है।

संसार एक होने पर भी अनेकता से परिपूर्ण है। कोई चित्र एक रंग का बना नहीं। प्रेसवाले जिस चित्र को इकरंगा कहकर छापते हैं उसमें भी हलकाई और गहराई होती है। चित्र होने के लिए एकरंगता में भी विभिन्न-रंगता की आवश्यकता है। इकरंगा चित्र तो कोरा कागज़ ही हो सकता है। वह स्थिर है, परिवर्तन-विहीन है, जड़ है। जीवन का जीवित तत्व उसमें नहीं है। अन्तर्शक्ति द्वारा गति जीवन का प्रधान लक्षण है। गति-विहीन जीवन शून्य है।

सुरेश चित्रकार हैं। उनके चित्र बोलते हैं। लोगों को मोहित कर लेते हैं। एक दिन रंगों की श्रेष्ठता की बात चलने पर वे बोले कि रंग तो अपने-अपने स्थान पर सभी अच्छे हैं। परन्तु वैसे मुझे लाल रंग सबसे अच्छा लगता है। हमने पूछा—परन्तु आपके चित्रों में लालिमा बहुत कम पाई जाती है। आप लाल का प्रयोग अधिक क्यों नहीं करते ? उन्होंने समझाया-

'लाल अच्छा है अवश्य। परन्तु वह अपने स्थान पर ही अच्छा है। वह जो बात जितना बलपूर्वक कहता है दूसरे कदाचित उस भाँति नहीं कह पाते। परन्तु जो बात उसके कहने की नहीं है उसके लिए उसका प्रयोग करना उसका अपमान करना है और अपनी बुद्धि का दिवाला निकालना है। चित्रकार होने के लिए दृष्टिकोण में उचित अनुपात की भावना होनी चाहिये। रंग के ढेर में सौंदर्य नहीं। सौंदर्य उचित प्रकार से रंग को इधर-उधर बखेरने में है।'

इस औचित्य का ज्ञान संयम द्वारा उत्तेजित एवं विकसित होता है। हमारी कला-कारिता (प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का कलाकार है।) उसी समय सफलता को प्राप्त होगी जब कि हम आत्मशिक्षण तथा आत्म-नियमन का उचित प्रयोग सीखेंगे।

गति के ऊपर हमारा प्रभाव बढ़ जाने के कारण आज समय बड़ी द्रुत गति से भाग रहा है। वर्तमान संसार में हमारे जीवन की गति तेज़ है। आये-दिन परिवर्तन होते रहते हैं। और हम उन्नति (?) पथ पर अग्रसर होते रहते हैं। गिरेंगे तो कहाँ रुकेंगे, इसकी चिन्ता अभी नहीं है। हमें केवल पहाड़ की चोटी पर चढ़ने में आनन्द आता है। आज सभी प्रकार की लहरें वायु-मण्डल को आन्दोलित कर रही हैं। सभी में मस्ती है। सभी में रूप है। हमें आज उनमें से कुछ को अपनाकर अपने जीवन-पथ की दिशा निर्धारित करनी है। और फिर उसी दिशा में चले चलना है। जीवन के लिए हमें अपने को ऐसा बनाना है कि कोई प्रलोभन, कोई भय हमें अपने इष्ट से विचलित न कर सके। हम समुद्र-तट की चट्टान की भाँति लहरों का कठोर आघात सहते हुए अपने स्थान पर डटे रहें, तभी हम समुद्र की मर्यादा बनाये रख सकेंगे।

इस कठिन कार्य के लिए आत्मशासन की आवश्यकता है। जो मनुष्य जहाँ तक अपने को वश में रख सकता है, जिसका आत्मसंयम जितना परिवर्द्धित एवं परिमार्जित है वह जीवन में सौन्दर्य भरने, उसका आघात सहने के उतना ही उपयुक्त है। वह उतना ही सफल है। वास्तविक स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता में नहीं, उत्तरदायित्व समझकर अधिकार उपभोग करने में है। जिस व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र ने यह समझ लिया है, वह श्रेष्ठ है। उसके जीतने के लिए कहीं कोई बैरी शेष नहीं रह जाता।

दिल्ली।

पठानी का पैग़ाम

[म० सी० कल्याणसुन्दरम्]

[श्रीकल्याणसुन्दरम् तमिल हैं। अ-हिंदी भाषा-भाषी होते हुए भी आप हिंदी में रचना करते हैं, यह ख़ुशी की बात है। आपकी यह कहानी बहुत सुन्दर बनी है। आपकी यह कहानी तमिल 'आनन्द विकटन' में प्रकाशित आपकी एक कहानी का हिंदी रूप है। आजकल आप लाहौर में रहते हैं।—सं०]

तार बाबू तणिकाचलम चेट्टियर डाक की इन्तज़ारी में बेचैन थे। चार-पाँच दिन के आशाभंग के बाद एक दिन उन्होंने डाकवाले के हाथ में एक लंबा ख़ाकी लिफ़ाफ़ा देखा। उसको देखते ही उनका हृदय १९१० की फ़ोर्ड मोटर के समान चलने लगा। डाकवाला तीन-चार ख़त देकर चला गया। इतने में चेट्टियर की पत्नी भी अन्दर से आ पहुँची। उसने मर्यादित उत्सुकता से कहा—सरकारी पत्र मालूम पड़ता है।

'नहीं मालूम, उन्होंने क्या लिखा है'—यह कहकर उन्होंने काँपती हुई उँगलियों से पत्र निकाला और पढ़ा। वे स्तम्भित रह गये। वेदवल्ली के तीसरी बार पूछने पर ही वे आपे में आये

'धोखा, विश्वासघात! आराम से बैठने को कहा और सिर पर शिला ढकेल दी! पूरे बदमाश हैं! हम कैसे लड्डू खा रहे थे! तुमने स्थानान्तर चाहा था। बन्नू के लिए तैयार हो जाओ। कैसी दिल्लगी है!'—चेट्टियर ने क्रोध से काँपते हुए कहा।

'बन्नू? वह कहाँ है?'

'देहली, लाहौर, रावलपिंडी के उस पार। सीमांत प्रांत में। दो हज़ार मील की दूरी पर। निरी बर्बर जातियों के बीच में। उन लुटेरों की बस्ती में दिन-दहाड़े सरकारी अफ़सरों को उठा ले जाते हैं और छोड़ने के लिए धन माँगते हैं।'

'पापियों ने ऐसा क्यों कर डाला?'

'बदमाशी! विश्वासघात! और क्या?...रहने दो। दुःखित मत होओ।'

× × ×

तयिकाचलम चेट्टियर ने मद्रास के तार घर में नौकरी शुरू की थी। तब उन्हें बदली की दिक्कत नहीं थी। वे 'स्टेशन सर्विस' में थे। साथ ही तनख़्वाह भी कम थी। उस वक्त स्थानान्तर की असुविधाओं को स्वीकार करके उन्होंने ज़्यादा तनख़्वाह पाने का निश्चय किया। जो लोग 'जनरल सर्विस' में थे वे अधिकतर ऐंग्लो-इंडियन थे। लेकिन बदली की असुविधाओं के हिसाब से वेतनों में जितना फ़र्क़ रहना उचित था, वास्तव में उससे भी अधिक अन्तर था। इसलिए भारतीयों की ओर से एक सख़्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, जो सफल हुआ। बहुत से भारतवासी जनरल सर्विस में लिये गये थे, जिनमें चेट्टियर भी थे।

जनरल सर्विस में प्रवेश करते ही उनकी बदली शुरू हुई। कलकत्ता, माँडले, लाहौर जैसे शहरों में, जहाँ वे नौकरी पर थे, तमिल पाठशालाएँ नहीं थीं। इसलिए उनको अपनी औरत और बाल-बच्चों को मद्रास में ही छोड़कर अकेले रहना पड़ता था। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह प्रबन्ध उन्हें पसन्द नहीं था। ज़िन्दगी नीरस थी।

रोज़ अधिकारियों को शाप देते हुए, और यह भी सोचते हुए कि ७०) ८०) रु० के मासिक नुक़सान पर भी स्टेशन सर्विस क्यों न स्वीकार कर लूँ, उन्होंने सात-आठ लंबे साल बिताये। उसके बाद उन्होंने चार महीने की छुट्टी के लिए लिखा। साथ ही उन्होंने अपनी तकलीफ़ें बताकर अर्ज़ी भेजी कि तमिल प्रांत में मेरी बदली हो जाय।

छुट्टी मिलते ही वे पहले देहली गये, अधिकारियों से मिले, ख़ासकर हेडक्लर्क बाबू से मिले, कुशलता से ज़रूरी बन्दोबस्त किया, और प्रफुल्लित हो घर लौटे।

छुट्टी का चौथा महीना शुरू हुआ। पति-पत्नी सोचने लगे कि कहाँ के लिए हुक्म आयेगा? 'बंगलोर स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है और शिक्षा भी अच्छी मिलती है। त्रिचिनाप्पल्लि बुरी जगह नहीं है, मगर मदुरा मिल जाय तो बेहतर है। वहाँ चाचाजी का घर है...नहीं नहीं, उनके यहाँ रहेंगे नहीं, मेले-त्योहारों के दिन मिलते रहेंगे।...' ऐसी बातचीत के बीच में यह, न जाने कहाँ से, बन्नू-बिजली टूट पड़ी।

दूसरे दिन चेट्टियर को कुछ लिखते देखकर वेदवल्ली ने डरते-डरते पूछा—क्या इस बदली के ख़िलाफ़ अर्ज़ी लिख रहे हैं?—उसे संदेह था कि बात कुछ टेढ़ी है।

'मेरी बला लिखे अर्ज़ी। मैं जनरल सर्विस से इस्तीफ़ा दे रहा हूँ। स्टेशन सर्विस में जो वेतन मिलेगा, वह काफ़ी है।'

पति का क्रोध और ज़िद देखकर वेदवल्ली और भी डर गई, परन्तु किसी न किसी तरह उस चिट्ठी को रोकना उसका कर्तव्य था। उसने मीठे और नम्र शब्दों में कहा—सोचिये तो, दो हज़ार मील की दूरी पर ख़तरनाक मुल्क में रहने का दुःख क्या आप ही को है? उसमें क्या मेरा हिस्सा नहीं है? फिर भी, हम अपने कर्तव्य को छोड़कर भाग सकते हैं? आप इतने व्याकुल होते हैं, तो मुझमें क्या धैर्य रहेगा? योंही मुझे चिन्ता सताती है। आपको ज़रा-सा ज़ुकाम होता है तो मुझे पहाड़-सा मालूम होता है। किसी हिन्दू-मुस्लिम फ़साद की ख़बर सुन पाती हूँ, तो आँख के सामने अँधेरा छा जाता है। लेकिन करें क्या? बच्चों की समस्या भी दिन-दिन जटिल होती जाती है। ख़र्च दुगुना क्या, तिगुना हो गया है और आप तो कमाई को जान बूझकर कम कर रहे हैं। यदि पाँच-छः वर्ष किसी न किसी तरह काम चला लें तो उस समय तक जेठा किसी नौकरी में लग जायगा। उसके बाद

की जो लंबी छुट्टी आपने बताई थी, उसमें घर लौट सकते हैं, और तब हमारे सुख का सूर्य उदय हो जायगा।

चेट्टियर बन्नू के लिए रवाना हुए। गाड़ी में तीन नवयुवक बैठे थे, जिन्हें देहली में नौकरी मिल गई थी। वे पिल्लों के समान खेल रहे थे। चेट्टियर ने चिढ़कर मन ही मन विचार किया, कैसे छिछोरे मूर्ख हैं! उसके बाद, विवश होकर, ज़रा-सा मुस्कुराये। आख़िर उन्होंने मानसिक अनुमति दी कि अच्छा खेलो-कूदो, जब तक गृहस्थी का भार आकर तुमको नहीं दबाता।

× × ×

बन्नू उनके अनुमान के बन्नू से भी बदतर निकला। एक मिट्टी के क़िले के अंदर दफ़्तर था। घर अच्छे नहीं थे। अच्छी चीज़ें नहीं मिलती थीं। सब्ज़ी-भाजी, दूध-दही खरीदना हो तो सन्तोष और सांत्वना यही थी कि अब्दुल की दूकान में रहीम की दूकान की अपेक्षा चीज़ें अब्तर हैं!

चेट्टियर के दिन एक मेशीन के समान कटते थे। उठना, भोजन करना, दफ़्तर जाना, लौटकर कुछ पत्र-पुस्तकें देखना, भोजन करना और लेटना—यही कार्यक्रम पड़ोसियों ने दूर से देखा। और इसी को हम नज़दीक जाकर देखें। रोज़ बढ़ती हुई मानसिक कमज़ोरी में बिस्तर छोड़ते थे। भोजन के समय घर का 'सांबार' याद आ जाता था, जिसके कारण मुँह में पानी भर आता था, आँखों में आँसू। दफ़्तर जाना तो विवशता का काम था। पढ़ना सिर्फ़ बहाना था। और लेटने का अर्थ तो आधी रात तक करवट बदलना और पुलिस स्टेशन के घड़ियाल की कर्कश घोषणा को गिनना था। वे जर्मन कवि गेटे के एक पद्य का अंग्रेज़ी अनुवाद रटते रहते थे, जिससे कुछ सान्त्वना मिल जाती थी।

> Who never ate his bread in sorrow,
> Who never spent his midnight hours
> Weeping and waiting for the morrow,
> Knows ye not, ye Heavenly Powers!

उसका तात्पर्य्य है—

> जिसने कभी आँसू में भिगोई रोटी नहीं खायी,
> प्रभात की प्रतीक्षा में रेंगती रातें नहीं काटीं,

(उस अनुभव-हीन मनुष्य ने) ऐ ईश्वर, आपका परिचय नहीं पाया।

क्या, इससे बढ़कर 'रक्त-शोषक' कार्य-क्रम संभव है?

एक दिन किसी दुःस्वप्न ने उनके विचारों को और भी कड़ुआ कर दिया। दफ़्तर पहुँचते-पहुँचते उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे वेदवल्ली को कितना ही क्लेश क्यों न हो, आज स्टेशन सर्विस के लिए ज़रूर लिख डालूँगा।

दफ़्तर के बाहर मैले कपड़े पहने एक पठानिन खड़ी थी। उसने सलाम करके विनती की—साहबजी, मेरा एक तार लिख दीजिये। बड़ी मेहरबानी होगी।

चेट्टियर ने फाटक की ओर इशारा करके पूछा—'क्यों, वह चिट्ठी लिखनेवाला मर गया?

'यह बात नहीं है, साहब! मामूली बातों को वह ज्यों-त्यों करके लिख ही देता है। लेकिन यह ख़ास बात है; ग़ौर से लिखनी है; मतलब में उलट-फेर की जगह न रहनी चाहिये; मुरव्वत का मुरव्वत, करार का करार—ऐसे ढंग का होना चाहिये—समझदार आदमी लिखता तो मुनासिब होता।'

'अच्छा, जल्दी बताओ, क्या मज़मून है?'

'आपका ख़त मिला। जल्दी में कुछ न करना। क्या जुदाई की तकलीफ़ें आपही को हैं, मुझे नहीं? ख़र्च और ज़िम्मेदारी बढ़ते समय उस मुल्क से नफ़रत करना और पेशा छोड़कर घर लौटना क्या मुनासिब है? यहाँ दिनों-दिन बेकारी बढ़ रही है। क्या वहाँ की बस्तियों में लाखों लोग नहीं रहते? आख़िर हम ये सारी तकलीफ़ें किसके लिए उठाते हैं—अपने कलेजे के टुकड़ों के लिए, या ग़ैर लोगों के लिए? क्या, ख़ुदा की बरकत से उनकी जो तरक़्क़ी नज़र आती है, उसे रोकना मुनासिब है? उनको भी आगे चलकर इसी क़िस्म की तकलीफ़ें झेलनी हैं? मैं अकेले सब्ज़ी-भाजी, फल-मेवा बेचकर क्या कमा सकती हूँ, बच्चों को क्या खिला सकती हूँ, पहना सकती हूँ, पढ़ा सकती हूँ? नाराज़ न होना। यह सब मैं स्याही से नहीं लिख रही हूँ, दिन-रात के अपने आँसुओं से लिख रही हूँ। हिम्मत कीजिये, और मुझे हिम्मत दिलाइये!'

कुछ क्षण तक चेट्टियर आपे में नहीं थे। किसी ज़ोरदार भँवर में उड़ाये-घुमाये जा रहे थे। फिर स्थिर पृथ्वी पर आये। हृदय शांत और हल्का हुआ। उन्होंने उस स्त्री से पूछा—क्या यह तार है या चिट्ठी?

'तार!'

'बड़ा खर्च लगेगा!'

'क्या करें, सा'ब?'

'डाक से चला जाय, तो? बड़ी जल्दी है?'

'क्या कहूँ, सा'ब? तार बोलता है, डाक गुनगुनाता है।'

चेट्टियर ने पूरा समाचार ध्यान से तरजुमा किया, रावलपिंडी को 'सिग्नल' किया, और वहाँ के तार-बाबू से विनती की कि इसे ठीक-ठीक और जल्दी आगे भेज दें।

चेट्टियर के हलके हृदय में रोशनी फैल गई। आस-पास के बच्चों को कमरे में बुलाते और पत्रों में तस्वीर देखने देते, और उनको मिश्री-मेवे खाने को देते; ऊपर बर्रें का छत्ता और दीवार पर दीमक का 'सुरंग' देखकर कहते 'कैसे मिहनती जीव हैं!' पड़ोसी इनका नया मिज़ाज भाव देखकर आपस में कहते—क्या मिस्टर चेट्टियर ने डर्बी जीत ली है?

इस घटना के कुछ दिन बाद उन्होंने वेदवल्ली को जो चिट्ठी लिखी थी उसके एक हिस्से का अनुवाद यों है—

'...मेरे बारे में तुमको बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिये। यह तो सच है कि आरम्भ में यहाँ की रस्में मुझे असह्य थीं, मैं ज़िन्दगी से असन्तुष्ट था। अब तो मैं बिल्कुल यहाँ का आदमी बन गया हूँ। दो-चार हित-चिन्तक मित्र भी मिल गये हैं। पक्षपात छोड़कर सोचें तो वहाँ के लोगों और यहाँ के लोगों में वास्तविक अन्तर नहीं है। खाने-पीने, पहनने के रीति-रिवाज बाहर की चीज़ हैं—एक आवरण-मात्र हैं। उसको निकालकर देखो, अन्दर जो असली चीज़ है वह सारे संसार में एक जैसी है। घोंसले के पक्षी और छत्ते की मधुमक्खी को देखो, अपने कष्ट भूलकर कुनबे और क़ौम के सुख के लिए कैसी मिहनत करते हैं। आश्चर्य है!...इस गाँव में एक पठानिन है। उसका पति मदुरा ज़िले में आंडिप्पट्टी के पास रेलवे ठेकेदार है। कई साल से वहीं रहता है। वह अनपढ़ अपने पर्वतीय देश का स्मरण करके कैसी आहें भरता होगा! तन्दूर की रोटी और पेशावरी बासुमती चावल के पुलाव की याद उसे कैसी सताती होगी! तीन-चार महीने में एक बार १००—१५०) भेजता है।...इधर उसकी औरत घर का संचालन

कर रही है। उसके चार बच्चे हैं। जेठा मेट्रिक में पढ़ रहा है। दूसरा एक दर्जी के यहाँ काम सीख रहा है।...'

लाहोर।

गीत

[विनयकुमार]

[श्री विनयकुमार का कविताएँ 'हंस' में तथा हिंदी की और भी प्रमुख पत्रिकाओं में छपा करती हैं।—सं०]

आज इस जर्जर जगत् से, क्यों न मैं पीछा छुड़ा लूँ;
एक नव-संसार सुन्दर, क्यों न मैं मन का बसा लूँ ?
देवि ! उडु ने गिर गगन से,
सूचना जब दी पतन की;
खुल गये लोचन मुँदे कुछ,
हो गई गति और मन की !
मैं यहाँ शाश्वत रहूँगा,
क्या कहूँ ? भ्रम था कि सपना;
इस विमल-संकेत पर मैं, क्यों न अपने को सँभालूँ ?
एक नव-संसार सुन्दर, क्यों न मैं मन का बसा लूँ ?

× × ×

खो गया भू पर तिमिर में,
गिर गगन से उडु बिचारा;
देखते साथी रहे सब,
कब दिया किसने सहारा ?
कौन दुर्दिन में किसी का,
साथ देता है—न कोई !
फिर सँभालोगी मुझे तुम, झूठ क्यों विश्वास पालूँ ?
एक नव-संसार सुन्दर, क्यों न मैं मन का बसालूँ ?

× × ×

रोज ले जाता तिमिर सुधि,
झाँक जाती स्वर्ण-रेखा;
प्राण-धन को इस कुटी में,
ज़िन्दगी बीती न देखा !
ठीक है, सरि सिन्धु से मिलती;
न मिलता सिन्धु सरि से,
वे अगर रूठे हुए हैं, क्यों न मैं जाकर मना लूँ ?
एक नव-संसार सुन्दर, क्यों न मैं मन का बसा लूँ ?

इटारसी।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

[गुलाबराय]

[बाबू गुलाबरायजी हिन्दी के सुपरिचित निबंध-लेखक हैं। कौन कह सकता है कि एक गम्भीर निबन्ध-लेखक होते हुए भी आप एक सफल हास्य-लेखक भी हो सकते हैं। पर यह सत्य है। हमें श्री गुलाबरायजी का यह लेख उपस्थित करते हर्ष हो रहा है।—सं०]

किसी वस्तु के प्रचार पा जाने पर लोग उसकी उत्पत्ति या इतिहास के सम्बन्ध में प्रायः उदासीन हो जाते हैं। नवीनता ही कौतूहल उत्पन्न करती है। जिससे घनिष्ठता हो जाती है उसके कुल और वंश-वृक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सत्यं शिवं सुन्दरं आधुनिक साहित्य और कला के क्षेत्र में आदर्श वाक्य-सा बन गया है। सब लोग उसी की दुहाई देते हैं और उसको वेदवाक्य नहीं तो उपनिषद्-वाक्य अवश्य समझते हैं। क्योंकि इसका प्रचार अधिकतर समाज से ही हुआ है। वास्तव में यह यूनानी दार्शनिक अफ़लातून के दी ट्रू, दी गुड, दी ब्यूटीफ़ुल the true, the good, the beautiful का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना सुन्दर और फबता हुआ है कि यह हमारे यहाँ की देश भाषाओं में घुल-मिल गया है। वास्तविक बात यह है कि विचारों में देशी-विदेशी का झगड़ा नहीं होता। विचारों में विश्वात्मकता रहती है।

भारतवर्ष के लिए सत्यं, शिवं, सुन्दरं का विचार नितान्त नवीन नहीं है। सत्यं और आनन्द (सुन्दरं) का भाव तो हमको सच्चिदानन्द में ही मिल जाता है। शिवं, सुन्दरं का भाव हमको किरातार्जुनीय में दिखाई पड़ता है। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।' गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी साहित्य में हितं को प्राधान्य दिया है। देखिये: —

'कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुर सरि सम सब कहँ हित होई।'

कुछ लोगों ने साहित्य की व्युत्पत्ति-सहित अर्थात हितेन सह (हित के साथ से) की है। काव्य में जो रस वा आनन्द का प्राधान्य है, वह सुन्दरम् का ही रूपान्तर है। सत्य और सुन्दर का समन्वय करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र 'दादू' नामक बङ्गला ग्रन्थ की भूमिका में कहते हैं—सत्य की पूजा सौन्दर्य में है विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है। साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी

हंसवाहिनी शारदा का शृङ्गार बिना वीणा के पूरा नहीं होता। उनका वाहन नीर-क्षीर-विवेकी हंस सत्य का प्रतीक है। वीणा में सौन्दर्य भावना की प्रतिष्ठा है। काव्य के उद्देश्यों में सद्यः परनिर्वृत्तये (तुरन्त आनन्द देना) के साथ शिवेतरक्षतये (अमङ्गल का नाश) और कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुते (प्रिया के-से उपदेश) की बात कही गई है। प्रिया के उपदेश में हितं और सुन्दरम् दोनो ही बातें आ जाती हैं। सत्यं शिवं सुन्दरम् की उत्पत्ति चाहे जिस देश और काल में हुई हो उसमें हमको व्यापक सत्य के दर्शन होते हैं।

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' विज्ञान धर्म और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का सूत्र है। विज्ञान केवल सत्य की ओर जाता है, शिव उसके लिए गौण है और सुन्दर से उसकी उपेक्षा है। विज्ञान में सत्यं के आगे शिवं और सुन्दरम् को दब जाना पड़ता है। विज्ञानवेत्ता नग्न सत्य का, चाहे वह कितना ही वीभत्स और भयावह क्यों न हो एकान्त उपासक है। सत्य ही उसका इष्ट है। सत्य ही उसका धर्म है। उसका सत्य गँवार का अटकलपच्चू का सत्य नहीं। वह बावन तोले पाव रत्ती सत्य चाहता है। उसके लिए वीभत्सता कुछ अर्थ नहीं रखती। उसने केवल 'सत्यं ब्रूयात्' पढ़ा है, 'प्रियं ब्रूयात्' को वह नहीं जानता। प्रलयङ्कारिकता यदि सत्य के स्वरूप को रेखा मात्र भी बिगाड़ दे तो उसके लिए वह दोष हो जाती है। वह सत्य के रूप और प्राण दोनों की रक्षा करता है।

धार्मिक शिवं की ओर जाता है। शिवं ही में उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा है। वह लक्ष्मी का जल के घटों से अभिषेक कराता है, क्योंकि जल जीवन है, कृषि का प्राण है वह मानव-माङ्गल्य का संकेत है। शिव कल्याण या हित करनेवाले के नाते महादेव कहलाते हैं। वेदों में शिव संकल्पमस्तु का पाठ पढ़ाया जाता है, धार्मिक कोरे सत्य का उपासक नहीं, उसके लिए सत्य माङ्गलिक रूप धारण करता है। धार्मिक इस लोक की ही रक्षा नहीं करता, वरन् परलोक की भी चिन्ता करता है। वह आत्मा को परम श्रेयस sumum bonum की ओर ले जाता है।

साहित्यिक सत्यं शिवं सुन्दरं तीनो की उपासना करता हुआ सुन्दरम् को प्राधान्य देता है। वह सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात् या ब्रूयात् सत्यमप्रियं' का पाठ पढ़ता है, वह हित को मनोहर रूप देता है। वह सच्चिदानन्द के रूप में सत्, चित्, आनन्द तीनो का आदर करता हुआ रस के आनन्द को अपना जीवन या प्राण समझता है। उसके हृदय में रसात्मक वाक्य का ही भान है।

साहित्यिक के लिए सत्यं शिवं सुन्दरम् में एक-एक विचार की यथाक्रम रूप से महत्ता बढ़ती गई है। अब हमको यह देखना है कि वह इन विचारों की किस रूप से पूजा करता है। सत्यं को वैज्ञानिक की भाँति वह अपना धर्म नहीं मानता। वह सत्य के रूप की परवाह नहीं करता, वह सत्य के प्रारम्भों की रक्षा करता है। वह शाब्दिक सत्य नहीं चाहता, वह घटना के सत्य को अपनाना अवश्य चाहता है किन्तु वह उसे सुन्दरम् के शासन में रखना चाहता है। गोस्वामी तुलसीदासजी लक्ष्मण के शक्ति लगने पर मर्यादापुरुषोत्तम राम से विलाप में कहलाते हैं तुम 'निज जननी के एक कुमारा, मिलहि न सहोदर भ्राता' पिता बचन मनतो नहिं ओहू' ये सब वाक्य ऐतिहासिक की कसौटी से ठीक नहीं उतरते, किन्तु काक में इनका महत्त्व वास्तविक सत्य से भी अधिक है। उनके द्वारा श्रीरामजी के हृदय का भाव प्रकट होता है। राम का शोकावेग तथा उनके सहोदर भाव और

लक्ष्मण के महत्त्व की अभिव्यञ्जना करने के लिए इससे अच्छा साधन न था। इंगलैण्ड के प्रसि कवि शेक्सपियर रचित उथेलो की डेज़्डीमोना मिथ्या-भाषण में ही अपने हृदय को सत्य का उद् घाटन करती है। वह अपने भाई से यह कहकर कि मैंने स्वयं अपने को मार डाला है, अपने दाम्पत्य-प्रेम का परिचय देती है। कभी-कभी काक के लिए सत्य मिथ्या का रूप धारण कर सुन्दरम् का मान रखता है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास अपनी अनन्यता में 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबाण लेहु हाथ' कहकर कृष्ण को राम के रूप में ही देखना चाहते थे, उसी प्रकार कवि भी सत्य को 'सुन्दरम्' के रूप में देखना चाहता है। इसमें सत्य की अप्रतिष्ठा नहीं। वह सत्य की अवहेलना नहीं करता, वरन् उसको ग्राह्य रूप देना चाहता है। ग्राह्य रूप देने की प्रक्रिया में यदि सत्य की कुछ काट-छाँट हो जाय तो वह अपनी आदर्श-पूर्ति के अर्थ सत्य की उतनी हानि को शिरोधार्य सम झेगा। कवि यद्यपि स्वतन्त्र है, तथापि वह सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता, उसके कल्पना से रचे हुए महल चाहे हवाई क़िले कहलायें, किन्तु उनकी आधार-शिला दृढ़ वास्तविकता से ही रहती है। वह सत्य को सुन्दरम् का रूप देने में एक सीमा से बाहर नहीं जाता है। मूल घटना का वह आदर करता है; किन्तु उसकी व्याख्या और कारणों में अन्तर करने की स्वतन्त्रता रखता है, वह केवल इसलिए कि उसके द्वारा वह सिद्धान्तिक सत्य का उद्‌घाटन करना चाहता है। शकुन्तला में अँगूठी और शाप की कथा कल्पना है। किन्तु उससे इस सत्य की रक्षा होती है कि दुष्यन्त का-सा प्रेमी हृदय बिना किसी दैवी कारण के अपनी प्रियतमा की केवल राज नीतिक कारणों से अवहेलना नहीं कर सकता है। कवि लोग मुँह में सोना डालकर नहीं बैठते। वे विश्वामित्र की-सी नई सृष्टि रचने में भी संकोच नहीं करेंगे, किन्तु वे संगति और सम्पर्क का अवश्य ध्यान करेंगे। वे कल्पना के घोड़े को असम्भव के क्षेत्र में नहीं दौड़ायेंगे और वे उसका सदा संगति के लगाम से नियन्त्रण करते रहेंगे।

यद्यपि आजकल कलावाद 'कला कला के लिए ही है' के झोंक में कुछ कविगण सत्यं और शिवं की अवहेलना कर कहते हैं कि काव्य का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं। तथापि यह बात जनता को मान्य नहीं हुई। जनता सुन्दरम् की उपासक है; किन्तु सुन्दरम् को सत्यं और शिवं के अलंकारों से अलंकृत देखना चाहती है। यह बात ठीक है कि सुन्दरम् किसी दूसरे के शासन में नहीं रह सकता और उसके लिए उसके ही नियम लागू होंगे तथापि वह मन की मनोवृत्तियों में विद्रोह नहीं उत्पन्न करेगा। साम्य ही सुन्दर का मुख्य लक्षण है। सुन्दर साम्य की उपेक्षा कर अपनी आत्म-हत्या न करेगा। नीति की रक्षा में सुन्दर की भी रक्षा है। गंगाजल की भाँति काव्य में पवित्रता और प्यास बुझाने के तथा निरोगता प्रदान करने के गुण एक साथ होने चाहियें।

सुन्दरम् तो साहित्य का उपास्य और इष्ट देव है, वह सत्य कहेगा; किन्तु वह कटु सत्य न कहेगा। काव्य के उद्देश्यों में कहा गया है कि काव्य का उपदेश प्रिया का-सा माधुर्य-मिश्रित होता है। कविवर विहारी यदि राजा को लट्ठमार उपदेश देते तो शायद वे उपदेश देने में असफल तो रहते ही, दरबार से भी अनादर के साथ निकाले जाते किन्तु उनके 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल' वाले दोहे ने जादू का काम कर दिया।

साहित्य सुन्दर को इसी लिए प्राधान्य देता है कि कला में विचार के साथ प्रेषणीयता communicability का भी भाव लगा रहता है। कवि अपने भाव को संसार तक पहुँचाना चाहता है, उसके पास लोगों के हृदय-द्वार खोलने के लिए सौन्दर्य की ही कुञ्जी है। वह सौन्दर्य का आवेष्ठन चढ़ा कटु से कटु सत्य को ग्राह्य बना देता है। रवि बाबू की चित्राङ्गदा की भाँति कवि की वाणी सौन्दर्य के प्रभाव से मानव-रूपी अर्जुन के हृदय में प्रवेश कर उसको अपने गुणों से मुग्ध कर लेती है। इसलिए कवि सौन्दर्य का उपासक है। सौन्दर्य में साम्य और समन्वय की भावना निहित रहती है। सौन्दर्य में सत्य और शिव दोनो का सन्निवेश है।

आशे

['विष्णु']

[श्री विष्णु प्रभाकर से पाठक अपरिचित नहीं हैं। आपकी कहानियाँ कितनी यथार्थवादी (Realistic) और आप के भाव कितने ऊँचे होते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के कहानी लेखकों में आप अपना स्थान शीघ्र सुरक्षित कर लेंगें, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। सं०]

तुम्हारी खोज में युगों पहले, इस अनन्त यात्रा पर मैं चला था। आज वे युग भूत के गर्भ में अनादि काल के लिए खो गये।

पर मैं तुम्हारी झलक न पा सका।

मृगतृष्णा की माया में बँध कर मैंने—अनादि मानव ने—तुम्हें कहाँ नहीं ढूँढ़ा—उन विशाल जनाकीर्ण नगरों में,

गगन विचुम्बित अट्टालिकाओं में,

तूर्याच्छादित शान्त-ज्ञान मन्दिरों में,

तुम्हारी टोह में मैं अनन्त काल के बन्धन में आया पर तुम कहीं नहीं थी।

मैं बढ़ता गया।

सुदूर हिंसक जन्तु पूर्ण निविड़ कानन के बीच,

लगातार कल-कल कर रही कल्लोलिनी के टेढे-मेढ़े तटों पर,

हिम से छाये हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की चोटियों पर,

इस आकाश के अन्तहीन फैलाव के नीचे मैं बढ़ता चला गया हूँ; बढ़ता चला गया हूँ।

आधी रात हो या प्रातः काल या प्राण-शोषक भानु की प्रखर किरण राशि मैं कभी रुका नहीं।

पर निष्ठुर ! तुमने दर्शन नहीं दिये। सचमुच निष्ठुर !!

मेरे प्राण कहने लगे—कैसी है यह अस्पष्ट धुधँली छाया !!

× × ×

रानी ! तुम जानती हो ! मैं कब से जाग कर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

मैं तुम्हारा चिर प्रियतम हूँ।

मेरी आँखों का प्रकाश स्थिर होकर अन्धा हो चला है।

मेरी प्राण वायु गति खोकर मृत्यु के शीश महल की ओर भागी जा रही है।

मेरे जीवन तन्तु थक कर अनन्त निंद्रा की गोद में सो जाना चाहते हैं।

बाट निर्जन है।

मैं अकेला हूँ।

क्या तुम आओगी अब ?

यह जीवन जिसकी तुम रोम रोम की स्वामिनी हो तुम्हें अर्पित है।

ये प्राण सदा तेरी परिचर्या के लिए उपस्थित हैं।

यह सर्वस्व सादर तेरे चरणों पर समर्पित है।

× × ×

लो ! निशाचरी-निराशा मेरे हृदय की बावली विकलता पर हँस पड़ी।

ईर्षा राक्षसी मेरा परिहास करने लगी।

और...

और वह देखो—सर्व-नाशनी चिन्ता मेरे हृदय सदन को जलाकर राख बनाने चली वह तीव्र अग्नि भभक उठी।

ज्वालायें अनन्त आकाश को छूने लगीं।

प्राण अपान सभी भयभीत हो उठे।

मेरे इस छोटे से जीवन में उतना भीषण उल्कापात !

और तुम देखती हो !

निरन्तर खुली आँखों से देखती हो पर तुम्हारे प्राण काँपते नहीं।

क्या उन विराट् प्रकाश पुंजों में ज्योति का एक भी कण नहीं बचा है ?

× × ×

चिर कल्याणमयी कल्पना कहती है—ओरे मानव ! तनिक अपने मन मन्दिर के पट तो खोल।

मैंने वाह्य नेत्रों को बन्द करके अन्दर की ओर झाँका।

एक ज्योति मेरे विश्व को आलोकित करती हुई फैल गई।

अचरज से मैंने देखा—वह तुम थीं !

मेरा रोम-रोम खिल उठा।
प्रकाश बन्धन मुक्त हुआ।
दूर कहीं उदय की झाँझनी बज उठी।
तेरी उस दिव्य वीणा की मधुर रागिनी से मेरा छोटा-सा संसार प्रतिध्वनित हो उठा।
मैंने कहा—मैंने चिर इच्छित कामना को पाया। आशा मेरी हुई।
और तभी वह अनभ्र वज्रपात।
मेरे क्षुद्र जर्जरित नेत्र उस दिव्य ज्योति को न सह सके।
तेरी उस अद्वितीय प्रभा को देखकर मेरे प्राण घबरा उठे।
मेरी आँखें खुल गईं!
ओह वही अन्धकार! निराशा का भयंकर अन्धकार!!
उसी क्षण तुम न जाने कहाँ चली गईं?
मेरी आँखें खुली की खुली रह गईं।
मेरा दुर्बल हृदय फिर अशान्त वायु की भाँति डोल उठा।
मेरे प्राण थक संज्ञाहीन हो गये।

× × ×

प्रियतमे प्राण। यह कैसा भयानक अन्त।
आशे! मेरे व्यथित हृदय की संजीवनी! क्या तुम सदा-सदा के लिए विदा हो गईं।
असमय में यह छल कैसा?
पर मैं अपने द्वार बन्द न करूँगा।
चिर प्रतीक्षा मेरी है। बाट पर कोई बन्धन नहीं है। संसार-चक्र में फँसकर फिर भी हम मिलेंगे। तब मैं तुम्हें यों छल न करने दूँगा।

हिसार।

———

२५ नवम्बर

[अम्बालाल पुराणी]
[अनुवादक—'रवीन्द्र']

[श्री अंबालाल पुराणी गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। आजकल आप श्री अरविंद घोष के पाण्डिचेरी स्थित आश्रम में रहते हैं। २५ नवंबर को भारत में ही क्या, भारत के बाहर भी श्री अरविंद की जयन्ती मनाई जाती है। उसी के उपलक्ष्य में पुराणीजी ने हमारे लिए यह छोटा-सा लेख लिखा है।—सं०]

महापुरुषों की जयन्तियाँ और उनके विशेष दिन मनाना जब एक रूढ़ि बन चुका हो तो ऐसे भाग्यवान विरले ही मिलते हैं, जो उसका वास्तविक रहस्य समझ सकें। महापुरुष के जीवन में वास्तविक प्रेरक तत्त्व कौन-से होते हैं? बाहर के संयोग या उसका स्थूल जीवन नहीं अपितु उसके अन्तर के आध्यात्मिक तत्त्व ही जीवन के गढ़ने में मुख्य भाग लेते हैं। परन्तु जब लोग उसकी जयन्ती मनाने लगते हैं तो केवल उसके जीवन की घटनाओं और उसके दृश्य कार्यों में ही उलझ जाते हैं और जीवन की वास्तविक प्रेरक शक्तियों को भूल जाते हैं। इस प्रकार जान-बूझकर या अनजाने सच्चे महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की अवहेलना की जाती है।

दूसरी बड़ी कठिनाई यह है कि महापुरुष सीधे-सादे तो होते नहीं, वे तो पहलूदार हीरे की तरह होते हैं। मनुष्य-समाज किसी एकआध पहलू को लेकर बैठ जाता है, उसी में उसकी सारी महानता का रहस्य मान बैठता है और अन्य पहलुओं की उपेक्षा करता या उन्हें भूल जाता है। आध्यात्मिक जीवन बितानेवाले व्यक्ति के सम्बन्ध में तो यह भूल कहीं अधिक होती है।

आज इस छोटे-से लेख में श्री अरविन्द के जीवन-सन्देश को चित्रित करते हुए मुझे सङ्कोच का अनुभव करना स्वाभाविक है क्योंकि उनके जीवन का सन्देश चारों ओर फैला हुआ है। वह अनेक शाखाओं में प्रसरित, गम्भीर और विशाल है। हमारे देश का शिक्षित वर्ग तो अभी तक श्री अरविन्द को भारत के राजनैतिक नेताओं में ही गिनता है। श्री अरविन्द का नाम लेते ही राष्ट्रीयता के आचार्य, बङ्ग-भङ्ग विरोधी आन्दोलन के एक प्रचण्ड नेता और देश के नवयुवकों के अन्दर एक नई प्रेरणा करनेवाले आदर्शवादी का चित्र खिंच जाता है। भारतीय राष्ट्रीयता के आदिम युग में दिया हुआ वह सन्देश आज भी बहुत से कानों में गूँज रहा है जिसमें उन्होंने कहा था—राष्ट्रीयता

केवल राजनैतिक कार्यक्रम या मुसद्दीपन का क्षेत्र नहीं है। राष्ट्रीयता जीवन का धर्म है; अपनी राष्ट्रीयता को प्रतिक्षण अपने जीवन में उतारो; राष्ट्रीय सेवा-कार्यों को भगवान के चरणों में अर्पित कर दो। याद रखो भगवान भारत का पुनरुत्थान चाहते हैं अतः हमें यह काम धर्म के रूप में ही लेना चाहिये।' श्री अरविन्द ने कहा—अपने अन्दर सोई हुई भारत शक्ति को जगाओ; जीवन के अन्दर विदेशी छटा प्रतिबिम्बित करने की जगह भारत-शक्ति को प्रकट करो; उसके नए भविष्य का सृजन करो और जगत के महान् प्रश्नों और बड़ी बड़ी उलझनों को सुलझाने में भारत शक्ति द्वारा हिस्सा बटाओ। श्री अरविन्द के राष्ट्रीय सन्देश को ही बहुत लोग उनके जीवन का मुख्य सन्देश मानते हैं।

पर मुझे तो यही लगता है कि यह एक प्रचलित भूल है। उनके जीवन का मुख्य सन्देश इससे कहीं गम्भीर, महान और मानव-जाति की आत्मा के मौलिक तत्वों और प्रेरक शक्तियों को सम्बोधन करनेवाला है। संसार में आज आदर्शों, संस्कृतियों और प्रजाओं के बीच में कलह मचा हुआ है और मानव-जाति का सारा भूत काल भट्टी में तप रहा है। आज मानव-जाति की मुख्य आवश्यकता—मानव-जीवन के परस्पर-विरोधी तत्वों, विविध संस्कृतियों के मौलिक तत्वों के समन्वय की ज़रूरत है। केवल बाह्य स्वरूप और केवल ऊपरी जीवन बितानेवाले चाहे कुछ कहें, पर इसमें ज़रा भी संशय नहीं कि मनुष्य की अन्तरात्मा मन से परे किसी दिव्य भूमिकावाले सन्देश की बाट जोह रही है। मानव का मन मर्यादित, अपूर्ण और सत्यासत्य के मिश्रण की भूमिका है। परन्तु बुद्धि से परे जो सत्य है, उसके दर्शन, उसकी पुनः स्थापना और इस जगत में उसके आविर्भाव की मानव-आत्मा प्रतीक्षा में है। राष्ट्रीयता और काल के बन्धनों को तोड़कर, संस्कृतियों के गौण बाह्य तत्वों को छोड़ मध्यस्थ सत्यों को एक लड़ी में पिरोनेवाले किसी समर्थ व्यक्ति की आज आवश्यकता है। आज भावी दिशा की ओर अंगुलि-निर्देश करने-वाले, मानव-जाति की वृत्तियों और प्रवृत्तियों को नई दिशा देनेवाले किसी नेता की आवश्यकता दिखाई पड़ती है। समस्त मानव-जाति की आध्यात्मिक अभीप्सा और आध्यात्मिक साक्षात्कार जिसमें मूर्तिमान हो ऐसे व्यक्ति की आज संसार को आवश्यकता है।

जिन्होंने श्री अरविन्द के गम्भीर ग्रंथों का अध्ययन किया है, जो उनकी दीर्घ, अविश्रान्त, श्रद्धावान, एकलक्षी और कठिन तपस्या के विषय में कुछ जानते हैं, उनके कार्य की प्रेरक अटल श्रद्धा को समझ सकते हैं, उन्हें यह स्पष्ट दिखाई देगा कि आज समस्त भारत में यदि कोई ऐसा व्यक्तित्व है तो वह श्री अरविन्द का है। पिछले वर्षों में शुरू किये हुए कार्य का जिन्हें पता है उन्हें तो इस विषय में पूरा सन्तोष हो चुका होगा।

श्री अरविन्द जैसी महान विभूतियाँ मानव-आत्मा में बसी हुई सनातन आध्यात्मिक प्यास को तृप्त करनेवाली आशा और आश्वासन के पीयूष के समान हैं। बाह्य जीवन में और जड़वाद की बढ़ती हुई शुष्क और क्षुद्र वृत्ति में अधिक से अधिक डूबते हुए इस युग में तो सनातन आध्यात्मिक सत्य की प्रत्यक्ष मूर्ति श्री अरविन्द जैसी विभूतियाँ तो भयङ्कर रेगिस्तान में नख़्लिस्तान जैसी लगें, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। प्रभु, प्राप्ति के लिए, दिव्य सत्य और ज्ञान-ज्योति प्राप्त करने के लिए मानव-आत्मा में जो सतत प्रेरणा चली आ रही है उसे श्री अरविन्द जैसे अतिमानव जागृत रखते और सन्तुष्ट करते हैं। आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक दिव्य अग्नि—आनन्द और शक्ति प्राप्त करनेवाली ब्रह्माग्नि को ऐसे महापुरुष मानव-

हृदय में जागृत करते हैं। मुझे तो यही लगता है कि मानव के चिन्तन का समन्वय, संस्कृतियों की प्रेरक और क्रियाशील शक्तियों का समन्वय—यह श्री अरविन्द के जीवन का संदेश है। 'आन्तरिक जीवन की ओर बढ़ो ; अन्तर में डुबकी लगाकर वहाँ बसी हुई दिव्य शक्ति, ज्ञान और आनन्द को जीवन में प्रकट करो, भावी सृजन के लिए इस प्रकार का आध्यात्मिक जीवन अनिवार्य है'—यह है श्री अरविन्द के जीवन का सन्देश। 'आन्तरिक जीवन की नींव पर समस्त बाह्य जीवन (वैयक्तिक और राष्ट्रीय) को गढ़ो' यह है श्री अरविन्द के जीवन-सन्देश का प्रधान स्वर।

जड़वाद में फँसे हुए इस ज़माने को श्री अरविन्द ने बता दिया है कि आध्यात्मिक सत्य केवल अन्तर में प्राप्त करने की चीज़ नहीं ; बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में वह एक सच्चा प्रेरक बल हो सकता है और होना चाहिये। जड़वाद के भी जो उत्तम तत्त्व हैं श्री अरविन्द उनका बहिष्कार नहीं करते। आत्मिक विजय का कोई भी मैदान उनसे छूटता नहीं।

आज २५ नवम्बर के दिन यही शुभ कामना अन्तरात्मा में जागृत होती है कि 'जो अटूट श्रद्धा, असाधारण धैर्य्य, शान्त कठिन तपस्या, बुद्धि से परे के सत्य का भव्य दर्शन, देशकाल के बन्धनों को तोड़कर किया गया मानव-जीवन के तत्त्वों का समन्वय और प्रभु को सर्वभाव समर्पण करने का आदर्श आदि जो-जो उत्तम तत्त्व श्री अरविन्द के अन्दर मूर्तिमान हैं वे सब के सब आज जगत भर के सत्य जिज्ञासुओं के हृदय में अवतरित हों।

जब इन भगीरथ प्रयत्नों का विचार आता है तो अन्तर में यही अभीप्सा जागती है, अन्दर से यही पुकार उठती है कि 'हे सत्य और ज्ञान ज्योति, हे महान शक्ति और आनन्द स्रोत तुम्हारा हम पर भी अवतरण हो, मानव की आत्मा में प्रभु के लिए अधिकाधिक अभीप्सा जागृत करो ; दिव्य जीवन के लिए मानव में तृषा पैदा करो ; हे भव्य जीवन में ज्वलन्त आत्म-समर्पण के रहस्य, तुम भी हमें प्राप्त होओ, प्रभु को सर्वस्व समर्पण करनेवाली अग्नि हमारे जीवन में चमको। यह समर्पण का धर्म केवल शान्ति और विरक्ति में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक क्षण में हमारे अन्दर जागृत रहे।'

आज २५ नवम्बर के दिन अन्तर की अभीप्सा को दिन भर जागृत रखना ही इस दिन को मनाने का सर्वोत्तम ढंग है।

पाण्डिचेरी।

पुरुष-प्रिया

[रामधारी सिंह 'दिनकर']

['दिनकरजी' हिन्दी में Romantic काल के सम्मानित कवि हैं। आपकी 'हिमालय', 'नयी दिल्ली' आदि कविताएँ बिहार के पठित तरुणों की आलोक-गीति बन गई हैं। 'हिमालय' का तो गुजरात के प्रसिद्ध कवि मेघाणी के द्वारा गुजराती पद्यानुवाद भी हो चुका है। आपकी "रेणुका' नामकी पुस्तक का दूसरा संस्करण अति शीघ्र निकलनेवाला है। 'रसवन्ती', 'हुंकार' और 'द्वन्दगीत'—नामक अन्य तीन नई पुस्तकें भी शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली हैं। 'दिनकरजी' अभी बिल्कुल नवयुवक हैं। अतः आपसे हिन्दी को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।—सं०]

मैं तरुण भानु-सा अरुण भूमि पर
उतरा रुद्र विषाण लिये
सिर पर ले वह्नि-किरीट दीप्ति का
तेजवन्त धनु-बाण लिये
स्वागत में डोली भूमि, त्रस्त
भूधर ने हाहाकार किया
वन की विशीर्ण अलकें झकोर
झंझा ने जय-जयकार किया
नाचती चतुर्दिक घूर्णि चली मैं
जिस दिन चला विजय-पथ पर
नीचे धरणी निर्वाक हुई
सिहरा अशब्द ऊपर अम्बर
मुक्ता ले सिन्धु शरण आया
मैंने जब किया सलिल-मन्थन
मेरे इंगित पर उगल दिये
भू ने उर के फल-फूल रतन

दिक्‌विदिक सृष्टि के पर्ण-पर्ण पर
मैंने निज इतिहास लिखा
दिक्विदिक लगी करने प्रदीप्त
मेरे पौरुष की अरुण शिखा
मैं स्वर्ग-देश का जयी वीर
भू पर छाया शासन मेरा
हाँ किया वहन नतभाल दमित
मृगपति ने सिंहासन मेरा
कर दलित चरण से अद्रि-भाल
चीरते विपिन का मर्म सघन
मैं विकट धनुर्धर जयी वीर
था घूम रहा निर्भय रण-वन
उर के मन्थन की दर्द भरी
घड़ियों से थी पहिचान नहीं
सुमनों से हारे भीम शैल
तब तक था इतना ज्ञान नहीं
चूमे जिसको झुक अहंकार
वह कली स्यात् तब तक न खिली
लज्जित हो अनल-किरीट चाँदनी
तब तक थी ऐसी न मिली
सहसा आई तुम मुझ अजेय को
हँसकर जय करनेवाली
आधी मधु आधी सुधा-सिक्त
चितवन का शर भरनेवाली
मैं युवा सिंह से खेल रहा था
एक प्रात निर्झर तट पर
तुम उगी तीर पर माया-सी
लघु कनक-कुम्भ साजे कटि पर
लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे
दृग-बीच तरल अनुराग लिये
सद्यःस्नाता मद-भरित सिक्त
सरसीरुह की अम्लान कली
अछूता सद्य-पाताल-जनित
मदिरा की निर्झरिणी पतली
मैं चकित देखने लगा तुम्हें—
तुमने विस्मित मुझको देखा

पल भर हम पढ़ते रहे पूर्व युग
का विस्मृत धूमिल लेखा
तुम नयी किरण-सी लगी मुझे
सहसा अभाव का ध्यान हुआ
जिस क्षण देखा यह सब्ज स्रोत
अपने ऊसर का ज्ञान हुआ
मैं रहा देखता निर्निमेष
तुम खड़ी रही अपलक चितवन
नस-नस जृम्भा-संचरित हुई
संस्रस्त शिथिल उर के बन्धन
सहसा बोली—'प्रियतम' अधीर,
श्लथ कटि से गिरा कलश तेरा
गिर गये बाण, गिर गया धनुष
सिहरा यौवन का रस मेरा
'प्रियतम ! प्रियतम !' रस-कूक मधुर
कब की श्रुत-सी कुछ जानी-सी
'प्रियतम ! प्रियतम !' रूपसी कौन
तुम युग-युग की पहिचानी-सी
उमड़ा व्याकुल यौवन विबन्ध
उर की तन्त्री झनकार उठी
सब ओर सृष्टि में निकट-दूर
'प्रियतम' की मधुर पुकार उठी
तुम अर्ध चेतना में बोली—
'मैं खोज थकी, तुम आ न सके
लद गईं कुसुम से डाल, किन्तु
अब तक तुम हृदय लगा न सके
सीखा यह निर्दय खेल कहाँ ?
तुम तो न कभी थे निठुर पिया ?'
मैं चकित-भ्रमित कुछ कह न सका,
मुख से निकले दो वर्ण 'प्रिया ।'
दो वर्ण 'प्रिया' यह मधुर नाम
रसना की प्रथम ऋचा निर्मल
उल्लसित हृदय की प्रथम वीचि
सुरसरि का बिन्दु प्रथम उज्ज्वल
नर की यह चकित पुकार प्रथम
जब पहली दृष्टि पड़ी रानी

जिस दिन मन की कल्पना उतर
भू पर हो गई खड़ी रानी
विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया' जब
तुम नीलिमा गगन की थी
जब कर-स्पर्श से दूर अगुण
रस-प्रतिम स्वप्न-मगन की थी
जब पुरुष-नयन में वह्नि नहीं ;
था विस्मय-जड़ित कुतुक केवल
जब तुम अचुम्बिता दूर-ध्वनित
थी किसी सुरा का मद कलकल
विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया,'
जिस दिन तुम थी केवल नारी
नर की ग्रीवा का हार नहीं
भुज बँधी वल्लरी सुकुमारी
दो वर्ण 'प्रिया', यह नाद उषा
सुनती शिखरों पर प्रथम उतर
दो वर्ण 'प्रिया', कुछ मन्द-मन्द
इस ध्वनि से ध्वनित गहन अम्बर
दो वर्ण 'प्रिया' सन्ध्या सुनती
झुक अतल मौन सागर-तल में
सुन-सुनकर हृदय पिघल जाता
इसका गुंजन दृग के जल में
सुन रहीं दिशाएँ मौन खड़ी,
सुन रही मग्न नभ की बाला
सुन रहे चराचर ; किन्तु एक
सुनता न पुरुष कहनेवाला
अकलंक प्राण का सम्बोधन
सुनते जो कर्ण अजान प्रिये
तो पुरुष-प्रिया के बीच आज
मिलता न एक व्यवधान प्रिये
व्यवधान वासना का कराल
जगते जो आग लगाती है
जो प्रथम शाप-विष फूँक सरल
नयनों को हिंस्र बनाती है
उन आँखों का व्यवधान ज्ञात
जिनको न रहस्यों का गोपन

देखा कुछ कहीं कि कह आतीं
सब कुछ प्राणों के भवन-भवन
उत्सुक नर का व्यवधान शृंग लख
जिसे सूझता आरोहण
जल-राशि देख संतरण और
वन सघन देखकर अन्वेषण
अम्बर का देख वितान उड़ा
'यह नील-नील ऊपर क्या है ?'
मिट्टी खोदी यह सोच 'गुप्त
इस वसुधा के भीतर क्या है ?'
जिस दिवस अवारित प्रेम-सदन में
विस्मित-चकित पुरुष आया
माणिक्य देख धीरता तजी
मुक्ता सुवर्ण पर ललचाया
क्या ले, क्या छोड़े रत्न-राशि का
भेद नहीं लघु जान सका
वह लिया कि जिसमें तृप्ति नहीं
पाना था जो वह पा न सका
पा सका न मन का द्वार-लुब्ध
भग चला कुसुम का तन लेकर
ग्रीवा-विलसित मन्दार-हार का
दलन किया चुम्बन लेकर
जीवन पर प्रसरित खिली चाँदनी
को पीने की चाह इसे
शशि का रस-कलस उँड़ेल बुझे
वह कठिन चिरन्तन दाह इसे
तरुणी-उर को कर पूर्ण खोजने
लगा सुरभि का कोष कहाँ ?
प्रतिमा विदीर्ण कर ढूँढ रहा
वरदान कहाँ ? सन्तोष कहाँ ?
खोजते मोह का उत्स पुरुष ने
सारी आयु वृथा खोई
इससे न अधिक कुछ जान सका
तुम-सा न कहीं सुन्दर कोई
दिक्दिक् तीव्र गति घूम रहा
युग-युग से व्यग्र पुरुष चंचल

तुम चिर-चंचल के बीच खड़ी
प्रतिमा-सी सस्मित मौन अचल
सुन्दर थी तुम जब पुरुष चला।
सुन्दर अब भी जब कल्प गया
जा रहा सकल श्रम व्यर्थ नहीं
मिलता आगे कुछ ज्ञान नया
जब-जब फिर आता पुरुष श्रान्त,
कहती तुम श्लथ, रस-मग्न 'पिया।'
मिलती न उसे फिर बात नयी
मुख से कढ़ते दो वर्ण 'पिया।'

मधुबनी।

कारकून

[शं० का० गर्गे 'दिवाकर']

[अनुवादक—प्रभाकर माचवे]

[स्व० श्री० शं० का० गर्गे, उपनाम 'दिवाकर' मराठी के एकमात्र सर्व-श्रेष्ठ एकमुख भाषण-(monologies) लेखक हो गये हैं। उनकी 'कारकून' नामक तीन दृश्यों की करुण नाटिका महाराष्ट्र साहित्य में अपना निराला स्थान रखती है। २३ जून १९२३ को यह नाटिका महाराष्ट्र नाटक मंडली द्वारा मंचपर अभिनीत भी हुई थी। नाटिका स्वयम् बोलती हुई है. और भूमिका की आवश्यकता नहीं। मूल में एक-एक दृश्य को 'अंक' कहा है। अनुवाद में उन्हें सिर्फ दृश्य ही माना गया है।—सं०]

दृश्य प्रथम

[सरकारी कचहरी। एक बड़ा कमरा। चार क्लर्क काम करने बैठे हैं। दाहिनी ओर के कमरे से टाइपराइटरों की आवाज़ आ रही है। पिछली तरफ़ एक और बड़ा हाल दिखाई दे रहा है, जिसमें और कई क्लर्क काम कर रहे हैं। बीच-बीच में चपरासी बेत की टोकरियों में काग़ज़ लिये इधर-उधर जा रहे हैं। दूर पर कोई टेलीफोन पर बोल रहा है। कमरे की दाँई ओर एक और कमरा है जिसका दरवाजा खुला है। दरवाजे पर ज़रा ऊपर की ओर 'रेकार्ड' का साइनबोर्ड मानो आँखें दिखा रहा है]

[पात्रः केशवराव, गोविन्दराव, दिनकरपंत—कारकून। आप्पासाहब—एक पुराने अनुभवी कारकून। नाना साहब—हेडक्लर्क।]

[समय—१९०८ से १९१५ के बीच का कोई सा भी साल]

केशव०—(जमुहाई लेकर हाथ के काग़ज़ से पंखा करते हुए)—आह ! राम-राम, कैसी गर्मी पड़ रही है इस बार।

गोविंद—कुछ न पूछो। माथे से और बदन भर से पसीने की धार बह रही है जैसे। हुश्श—हा, हा, हा।

केशव—नहीं, पर अबकी बार कुछ गर्मी ज्यादह ही पड़ी है।

गोविंद—अरे यह तो होने ही वाला है। दिन-ब-दिन गर्मी और भी सख्त पड़ती जायगी। क्योंकि—

आप्पासाहब—डैम, कहाँ से कैसी निब लाया है—निब क्या है, हल है पूरा—

केशव०—हल नहीं तो क्या ? लिखावट भी उससे ठीक नहीं आती। डिपार्टमेंट को दरिद्रता लगी है, इसीसे ऐसा कुछ गले बाँध देते हैं (जल्दी से आप्पासाहब के पास जाकर) लीजिये, यह निब आपसे चलती हो तो चलाकर देखिये।

आप्पा०—(निब बदलकर) वाह जी, यह तो ठीक चलती है।

केशव०—हः हः, यह मेरा अपना प्राइवेट है ! (अपनी जगह पर जा बैठता है और काम करने लग जाता है)

गोविंद०—(स्वगत) हाँ, हाँ, प्राइवेट क्यों नहीं होगा। ऐसी खुशामद किये बिना आफ़िस में चैन कैसे मिलेगा ? चोर कहीं का।

आप्पा०—अरे केशवराव, क्या कहा तुमने, कोंकने से कौन—तुम्हारी बुआ आई हैं क्या ?

केशव०—साहब, बुआ नहीं, मौसी होती हैं वे मेरी !

आप्पा०—कटहल * तो बड़ा अच्छा निकला भाई, उनका लाया हुआ।

केशव०—(हँसते हुए) हः-हः ? नाना साहब भी यही कह रहे थे। सबेरे उठते ही और कुछ नहीं किया, सीधा नानासाहब के यहाँ गया और एक कटहल रख आया, और वहाँ से सीधा आपके यहाँ आया। सबेरे-सबेरे बड़े लोगों के दर्शन भी जो है सो मिले।

गोविंद—(स्वगत) देखो, दुष्ट का कैसा प्राइवेट मामला है।

चपरासी—(अन्दर आकर) हाँ, दिनकर पंत, लीजिये ये स्टेटमेंट। नाना साहब ने कहा है कि आज ही इसे तैयार हो जाना चाहिये। समझे ?

दिनकर—अरे, पर वह आज कैसे हो सकेगा ?

चपरासी—यह सब मैं नहीं जानता। नानासाहब ने कहा है—

दिनकर—पहिले ही का कितना काम पड़ा हुआ है। ऊपर से...

चपरासी—यह सब मेरे सामने क्यों झींकते हैं ? साहब से कहिये। मैंने ला दिया। कीजिये या फेक दीजिये (चला जाता है)।

गोविंद—(दिनकर पंत के टेबिल पर के काग़ज़ों के ढेर को और कुछ देर तक स्वयं दिनकर की ओर देखकर) सचमुच, काम बाक़ी तो बहुत पड़ा है। और स्टेटमेंट भी कुछ छोटा नहीं।

केशव—अजी आप जानते नहीं पंत की बात ! अक्षर उनके अच्छे हैं। इसके सिवा काम भी वे बड़े मनोयोग के साथ करते हैं। इसी से साहब उन पर बहुत खुश हैं। आपने जैसे थोड़े ही हैं। हम तो फिर भी आलसी ठहरे।

गोविंद—हाँ, अच्छी है खुशी ! किसी की लिखावट अच्छी हो और वह ईमानदारी से काम कर रहा हो ; इसलिए उस पर काम का भार और अधिक लाद दिया जाय यह अच्छी रही आपकी ख़ुशी की परिभाषा !

केशव—अरे, अभी वह आफ़िस के काम में अच्छी तरह डूबे नहीं। होने दो एक बार उन्हें अनुभव फिर वे आप ही आप ठिकाने आ जायँगे।

* कोंकन कटहलों के लिए मशहूर है।

गोविंद—वह कैसे ?

केशव—अरे, नौकरी के मानी यह नहीं हैं कि जी तोड़कर काम करते रहो, अभी यह जानते नहीं। दुनिया ईमानदारों के लिए नहीं है। मैं कहता हूँ, कठिन परिश्रम किया ही तो फ़ायदा क्या ? पैसे के नाम पर तो फूटी कौड़ी भी नहीं बढ़ने की।

गोविंद—अरे ज़रा धीरे से बोल। वह तुम्हारे चचा सुन पायेंगे तो ? हाँ कभी से वही एक काग़ज़ लिये बैठे हो !

केशव—मौज है और क्या। जाने दो जी, अपने से क्या मतलब (बहुत-से काग़ज़ात टेबिल पर इधर-उधर फैलाये रखकर)अब कुछ-न-कुछ काम करते रहना चाहिये। नहीं तो अपने गले में भी।...

गोविंद—(दिनकर की ओर देखकर, स्वगत) बेचारा बराबर गर्दन झुकाये काम कर रहा है। ज़रा मदद कर दूँ ?—पर नहीं ! आज मदद की, तो रोज़ की आफ़त पीछे लग जायगी, हमेशा के लिए। और ऊपर से, तुम्हें काम कम है—कहकर ऐरे-ग़ैरे सबका काम हम पर लाद दिया जायगा। इससे जाने दो भलमनसाहत। (अपना काम देखता है)

दिनकर—(घड़ी की ओर देखता है।)

केशव—क्यों पंत, घड़ी की ओर कैसे देखा जा रहा है ?

दिनकर—कुछ नहीं, यों ही (स्वगत) साढ़े पाँच तो हो गये। आठ के पहले घर जाने को नहीं मिलता ! (ठहरकर) रोज का यही हाल है। और घर—घर तो...चुप रहो। अब ज़्यादह गड़बड़ अच्छी नहीं।

आप्पा—(थोड़ी देर बाद) बड़े साहब गये क्या ?

केशव०—हाँ, वे तो कभी के गये ! साढ़े चार बजे ही चले गये। आप काम में थे, इससे आपको पता नहीं चला। आप्पासाहब, अब तो छः बजते हैं !

आप्पा०—बजने दो जी। (कुछ रुककर) आज तुमने एक ख़ुशख़बरी सुनी है ?

केशव०—हः-हः, वह कौन-सी साहब ?

आप्पा०— क्या मालूम नहीं ? क्यों गोविंदराव, आपको कुछ पता है ?

गोविंद०—नहीं भाई, हमें तो कुछ भी नहीं मालूम !

केशव०—अजी, हमारे पंत को तो ज़रूर मालूम होगी ! क्यों जी ?

आप्पा०—अरे, उसे कहाँ से मालूम होगा ! अपने बड़े साहब को प्रमोशन मिला है ! समझे ?

केशव०—अच्छा ! आख़िर कितना ?

आप्पा०—बारह सौ से अट्ठारह सौ हुए, भत्ता ऊपर से !

गोविंद०—मज़ा है, तब तो ?

आप्पा०—बाक़ी साहब अपने बड़ी काबलियत के आदमी हैं।

केशव०—हाँ, हाँ, क्यों नहीं। बेशक। अजी वह...उस बार नहीं देखा ? उस भत्ता-बिल के मामले में अकाउंटेंट जनरल को ऐसा रगेदा, कि कुछ न पूछो। इसे कहते हैं क़लम की ताक़त। नहीं तो एक हम हैं जो बैठे-बैठे पीसते हैं। (दिनकर को छोड़कर सब हँसते हैं)

केशव०—(दिनकर की ओर तीखी निगाह से) पर क्यों आप्पासाहब, अपने पंत को तो कुछ नहीं मिला ? वे कवि हैं न !

दिनकर०—क्यों, क्या बक रहे हो ?

केशव०—अरे वाह ! बड़े ख़ब्ती जान पड़ते हो ? क्या बकवास की जी मैंने ?

गोविंद०—हिश ! चुप रहो, नानासाहब आ रहे हैं !

केशव०—आने दो । कुछ अक़्ल भी दी है या नहीं ख़ुदा ने ?

दिनकर०—चुप रहो ।

नानासाहब—(अन्दर आकर) सायलेंस ! क्या गड़बड़ है ? क्योंजी आप्पासाहब, यह डायरेक्टर जनरल का काग़ज़ इन्स्पेक्टर जनरल के पास कैसे पहुँचा ?

आप्पा०—देखूँ—देखूँ (काग़ज़ हाथ में लेता है) ।

नाना०—बड़े साहब कितना चिल्ला रहे थे । काम ठीक से तो होता नहीं । कुछ नहीं, आफ़िस में सब गड़बड़ी मची हुई है । आख़िर यह क्या ?

आप्पा०—हाँ, अब आया ध्यान में । दिनकर पंत, इधर आइये ।

नाना०—किन की, इन्हीं की ग़लती थी क्या ?

आप्पा०—हाँ—तुम्हें यह मामला डी० जी० के पास भेजना था सो आई० जी० के पास क्यों भेजा ?

दिनकर०—(काग़ज़ देखकर) साहब, आपने पता तो यह लिखा था आई० जी० का ।

नाना०—अरे सिर्फ़ पते की क्या ले बैठे हो । अन्दर का मज़मून भी तो पढ़ो ! ऐसे कैसे डिस्पैच करते हो तुम । आँखें खुली रहती हैं या सोते हुए काम करते हो ।

आप्पा—(काग़ज टेबिल पर रखकर कुछ लिखने लगता है)

गोविंद—(स्वगत) है न, कैसा ख़ासा अच्छा न्याय ! आप्पा साहब की ग़लती थी। नाना साहब ने देखा नहीं । बड़े साहब ने देखा नहीं ; पर बदला उसका लिया जाता है बेचारे दिनकर से ।

आप्पा—(काग़ज़ दिनकर के हाथों में देते हुए) जाओ ! फिर ऐसी ग़लती कभी मत करना । ठीक, केअरफ़ुली, तन्मयता से काम किया करो—समझे ?

केशव०—(दिनकर की ओर देखकर) पहले वह स्टेटमेंट तैयार करो और फिर...

नाना—क्या ! वह अभी तैयार नहीं हुआ ? शाबाश !

दिनकर—साहब—

नाना—साहब-साहब क्या ? उसे आज ही तैयार होना चाहिये था । ऐसा मैंने हुक्म भेजा था, और तुम तो—क्योंजी आप्पा साहब, आप ही ने इनकी बड़ी सिफ़ारिश की थी कि ये बड़े दिल से काम करनेवाले हैं ; पर ये तो बड़े सुस्त दीखते हैं । कुछ नहीं, अभी वह स्टेटमेंट तैयार होकर साहब के बँगले पर पहुँचना चाहिये ।

दिनकर—साहब, अभी डाक ही कितनी बाक़ी... (आप्पा साहब चुप रहने का इशारा करते हैं ।)

नाना—हैं ? क्या डाक भी बाक़ी है ? आफ़िस में एक दूसरे से झगड़ा किया करो,

(केशवराव की ओर दृष्टि डालकर दिनकर पंत से) नहीं तो कविता लिखा करो। बड़ी जल्दी काम हो जाया करेगा।

दिनकर—पर साहब—

नाना—(ग़ुस्से के मारे उबलकर) तिस पर मुँह उठाकर बड़बड़ करते हो? दिनकर, तुम्हें अभी इस नौकरी पर क़ायम होना है, ख़्याल रहे।

केशव०—(स्वगत) अच्छा हुआ, ख़ूब रहा।

चपरासी (अन्दर आकर) साहब, बाहर ताँगा खड़ा है।

नाना साहब—अरे हाँ, सच! चलिये आप्पासाहब, आप चल रहे हैं क्या?

आप्पा०—हाँ, हाँ, चलिये! मैं तैयार हूँ। दिनकर पंत, आज ही सब डाक के काग़ज़ और वह स्टेटमेंट तैयार हो जाना चाहिये, काम पूरा हो जाने पर घर जाना!

नाना साहब—काम देखो तो कुछ नहीं, पर मिज़ाज़ और घबराहट कितनी? क्योंजी आप्पासाहब, अपने समय में तो इसका तिगुना काम रहा करता था, नहीं?

आप्पा०—हें-हें-हें।

नाना—पर अब क्या, पाँच बजे तक सब काम ख़त्म हो जाता है? चलिये चल रहे हैं न (जाते हैं)।

आप्पा—आया। सुपीरियर से कैसे बोलना चाहिये यह तमीज़ अभी आपको आई नहीं! (दुपट्टा फटकारकर छाता उठाते हुए) परसों ही नानासाहब कह रहे थे कि सिविल-सर्जन के पास भेजे जाओगे। केशवराव, ज़रा उन्हें मदद दीजिये (जाते हैं)।

केशव०—जी हाँ, साहब! कहिये दिनकरजी, मैं क्या-क्या देखूँ?

गोविंद—(सब काग़ज़ात समेटकर) चलो, अब हम भी क्यों बैठे रहें। (जाने लगते हैं)।

केशव०—क्यों जी चल दिये। ठहरिये, मैं भी आया (सिर का साफ़ा सँभालकर बाँधते हुए) अजी, घर में तो पैसों की यों ही तकलीफ़ है। तिसपर पाहुनों की भीड़! एक पर एक... (गोविन्द राव के साथ दरवाज़े के पास जा दाँत दिखाते हुए लौटकर दिनकर को देख) जनाब! वह सब काम ख़त्म करके फिर घर जाइयेगा, समझे?

[दोनो ही जाते हैं]

दिनकर—(थोड़ी देर काम करने के बाद स्वगत) ऐसा लगता है कि बस! (दाँत से ओठ चबाकर) आह! दिमाग़ सुलग रहा है जैसे...(काम करने लगता है) प्राण, अभी तुम्हें क़ायम होना है, अभी तुम्हें क़ायम होना है। (ठहरकर) आने दो, चाहे जितने आँसू के ज्वार आयें, आने दो! दुःख की आग इतनी सुलग रही है कि वे सब जलकर सूख...—हुश्श (काम में गढ़ जाता है) तू क्या समझता है! ज़रूरत नहीं तुझे ऐसी ग़ुलामी की। (झट से एक कोरा काग़ज़ लेकर उस पर इस्तीफ़ा लिखने लग जाता है।) पर हाँ, हाँ, बेटा! ज़रा घर की ओर भी निहारो (शून्य दृष्टि से देखने लग जाता है। फिर से उसकी आँखें डबडबा जाती हैं और गला भर आता है।) प्रभो! कहाँ गई मेरे प्राणों की ऊँची-ऊँची अभिलाषाएँ! और उनके वे मीठे सपने!

[टेबिल पर देह का भार दे फूल-फूलकर रोता है। हवा से दरवाज़ा आवाज़ के साथ बंद हो जाता है।]

दृश्य दूसरा

[सरकारी जनरल अस्पताल में एक कमरा, बीस फुट लंबा-चौड़ा और पंद्रह फुट ऊँचा। दीवारों का हलका हरा रंग। दाहिनी ओर की दीवार में दो बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ, मगर उसमें लगे हुए शीशे ऐसे हैं जिनमें से सिर्फ़ प्रकाश आ पाता है और उस पार का कुछ भी दीखता नहीं। दूसरा कोई खिड़की-दरवाज़ा नहीं। सिर्फ़ दाईं ओर अन्दर आने का बड़ा दरवाज़ा, उसमें भी खिड़की जैसे शीशे लगे हैं। इसी दरवाज़ेवाली भीत से सटी एक छः फुट लम्बी बेंच रखी है। कोने में एक छोटा टेबिल, चार-पाँच दवा की बोतलें, काँच की छोटी-छोटी नलियाँ (tubes) वग़ैरह चीज़ें तरतीब से सजी रखी है। एक ओर वाशिंग स्टैंड भी रखा है। बीच में जो टेबिल पड़ा है, उस पर लिखने का सामान, सरकारी काग़ज़-किताबें वग़ैरह, डॉक्टरी के बड़े-बड़े दो-चार ग्रन्थ; डाक्टरी ज्ञान की गंभीरता को ख़याल में लाते हुए इस कमरे में एक भी तसवीर नहीं लगी है। और यहाँ तक कि टेबिल पर के फूलदान में एक भी सुगन्धित फूल नहीं है। सामने की भीत पर दो नक्शे टाँगे गये हैं।]

[पात्र—डाक्टर स्प्रिंगमनः असिस्टेंट सिविल सर्जन; दिनकरराव, गोविंदराव, गोपालराव, अनंतरावः सरकारी क्लर्क। हनुमंतरावः अस्पताल के क्लर्क, एक पुलीस का सिपाही और एक चपरासी।]

चपरासी—(अन्दर आकर) इधर आइये। बैठिये! यहाँ, बेंच पर। कहाँ से? पोस्ट-ऑफ़िस से आये हैं न!

[गोविन्दराव अन्दर आकर डरते-डरते-से बेंच पर बैठते हैं।]

गोविंदराव—हाँ पोस्ट आफ़िस से ही।

चपरासी—(टेबिल पर का सामान इधर-उधर हटाकर और फिर जमाते हुए) आपका लिफ़ाफ़ा कहाँ है?

गोविंद—क्या? लिफ़ाफ़ा?

चपरासी—हाँ लिफ़ाफ़ा ही? आपको सुनाई भी कम देता है शायद।

[गोविंदराव का लिफाफ़ा निकालकर टेबिल पर रखना]

चपरासी—(गोविन्दराव से) ऐसा करने से कैसे चलेगा! एक दम अनफिट हो जाओगे न! (टेबिल पर की बोतलों में दवा है या नहीं यह देखते हुए) मुझसे बोलते हुए आपकी यह हालत है, तो फिर साहब के आने पर न जाने क्या होगी? पूरे घबरा जाओगे!

गोविंद०—(डरते-सकुचाते चारो ओर ध्यान से देखकर) सिविल सर्जन साहब का यही कमरा है शायद?

चपरासी०—नहीं जी, नहीं। यह असिस्टंट साहब का—हमारे छोटे साहब का कमरा है। बड़े साहब का उस तरफ़ है।

गोविंद—हाँ, क्यों नहीं! और क्यों जी--यह आँखें परखने का—यही-यही—

चपरासी—(शिकार अच्छा समझकर गर्दन हिलाता है) हाँ, यही है वह कमरा! उठो, वहाँ खड़े रहो! ज़रा—ज़रा और पीछे। बस! दाँई आँख एक हथेली से ढाँको—और बताओ ये कितने धब्बे हैं?

गोविंद—(गिनते हुए) एक...दो...।

चपरासी—अरे, ऐसे ज़ोर से नहीं गिना जाता। एकदम कहो...अब ?

गोविंद—आठ।

चपरासी—हैं ?

गोविंद—चा-चार।

चपरासी—अरे, ऐसे हकलाते हुए क्यों बताते हो ? अच्छा, अब ढाँकिये दाहिनी आँख—बोलो. अब कितने धब्बे हैं। जल्दी !

गोविंद—नौ !

चपरासी—ठीक। और ये

गोविंद—छः

चपरासी—(गर्दन हिलाकर) हो, फ़िट होने लायक़ हो। बैठो, अभी हमारे साहब आते हैं।

गोविंद—उनके आने का टाइम हो गया ?

चपरासी—हाँ, हो गया-सा ही है। बाक़ी...मैंने पहले तुम्हारी आँखें परख लीं—यह अच्छा ही हुआ ! नहीं तो...जाते वक्त मैं आपसे मिलूँगा ही—

गोविंद—हाँ जी, ज़रूर।

गोपालराव और अनन्तराव—(एकदम अन्दर आकर) यही असिस्टेंट साहब का आफ़िस...

चपरासी—हाँ, हाँ यही अशिस्टेंट साहब का आफ़िस है। पर तुम लोग एकदम अन्दर कैसे घुस आये ? पहले से पूछे बिना ही ! बैठो उन बेंचों पर (वे बैठते हैं)। अपने परिचय-पत्र दिखाओ, कहाँ से आ रहे हो ?

गोपालराव—फॉरिस्ट महक्मे से।

[इतने में हनुमन्तराव और दिनकर पंत अन्दर आते हैं। बेंचों पर बैठे हुए तीनो आदमी साहब को आया जान, डर से खड़े होते और फिर, एकदम बैठ जाते हैं]

हनुमन्तराव —(दिनकर से) पर तुम इतनी देर करके क्यों आये ? साहब आनेवाले ही हैं।

दिनकरपंत—घर पर बच्चा बीमार—

हनुमन्तराव—(टेबिल पर दिनकर का लिफ़ाफ़ा ज़ोर से पटकते हुए) ठीक है; पर यह सरकारी काम ठहरा। साहब तुम्हें सबसे पहले देखनेवाले हैं। वहाँ बैठो बेंच पर। (दिनकरपंत बेंच पर बैठता है। घड़ी में ठन्-ठन् आठ बजते हैं।) अरे आठ भी बज गये ? साहब अभी आये नहीं।

[चपरासी अपने कपड़े साफ़ करके चुस्त-सीधा खड़ा हो जाता है। बेंच पर के लोग भी ज़रा सँभलकर बैठते हैं। सब लोग दरवाज़े की ओर देखते हैं। इतने में मोटर की आवाज़ होती है। चपरासी बाहर दौड़ा जाता है। बाहर बूटों की आवाज़ होती है। सब खड़े हो जाते हैं। स्टिंगमन साहब और चपरासी अन्दर आते हैं। सब लोग साहब को सलाम करते हैं और खड़े हो जाते हैं। साहब कुर्सी पर बैठते हैं]।

स्टिंगमन—(टेबिलपर के लिफ़ाफ़े खोलकर देखते हैं) आज क्या चार आदमी देखने हैं ? (फिर काग़ज़ों में आँखें गड़ा देते है)

हनुमन्तराव—जी हाँ, चार—

स्ट्रिंगमन—नो ! आज इतना टाइम हमें नहीं है । पेट का ऑपरेशन करना है, तो... डिनकर कौन है ?

हनुमंतराव—डिनकर कौन, तुम हो न ? हाँ, यही है डिनकर (अँगुली से इशारा करता है) ।

स्ट्रिंगमन—बस, आज हम इस एक ही आदमी को देखेगा । बाक़ी के लोगों से बोलो, कल आयें (दूसरे काग़ज़ात देखने लगता है) ।

हनुमंतराव—आज साहब को वक़्त नहीं है । कल आइये ! दिनकर पंत, तुम ठहरो ! बैठे रहो ।

गोपालराव—कल कब...आठ बजे न ?

हनुमंतराव—नो नो ! बराबर सात बजे आओ ! (तीनों का प्रस्थान)

स्ट्रिंगमन—सिपॉय् !

[पुलीस-सिपाही सलाम करता है]

स्ट्रिंगमन—यह लिफ़ाफ़ा बड़ा सा'ब को देओ और सलाम बोलो !

[सिपाही 'अच्छा, सा'ब' कहकर चला जाता है ।]

स्ट्रिंगमन—दायाँ हात टूटेवाले का अनफ़िट्-पेपर भेज दिया था ?

हनुमंतराव—हाँ साहब कल ही भेज दिया था । (स्वगत) वह तो शायद भूल से दराज़ में ही रह गया है ।

स्ट्रिंगमन—गेट अप् (जेब में से धब्बोंवाले काग़ज़ निकालता और सामने की दीवार के पास जाकर खड़ा हो जाता है) ।

हनुमंत—(दिनकर पंत से) हाँ यों ; यहाँ खड़े रहो । (दिनकर पंत की दाँई आँख ढाँककर) बोलो कितने धब्बे हैं ?

दिनकर—(घबड़ाकर) चार

स्ट्रिंगमन—(दूसरा कार्ड दिखाकर) यह कितने ?

दिनकर—पाँच ।

स्ट्रिंगमन—ऑल राइट ! अब दूसरी आँख ।

[हनुमंत दिनकर की दाहिनी आँख ढाँकता है]

हनुमंत—(दिनकर से) बताओ ठीक-ठीक ।

स्ट्रिंगमन—(कार्ड दिखाकर) यह कितने ?

दिनकर—अरे, इसमें भी उतने ही । नहीं-नहीं तीन !

स्ट्रिंगमन—(दूसरा कार्ड दिखाकर) और इसमें ?

दिनकर—छः । (साहब कुर्सी पर जा बैठते हैं ।)

चपरासी—जनाब, आँखों में तो गये !

स्ट्रिंगमन—(दिनकर से) इधर आओ ! तुम्हारी आय-साइट ख़राब है । आँख बराबर काम नहीं करती । आफ़िस में कितने दिन से काम कर रहे हो ?

दिनकर—साहब, दो साल हुए करीब-करीब ।

स्ट्रिंगमन—तुम्हें तो दीखता नहीं । फिर काम कैसे करते हो ।

दिनकर—इसी तरह।

स्ट्रिंगमन—अच्छा देखूँ (आँखे कुछ देर देखने के बाद) अच्छा, कपड़े उतारो।

हनुमंत—बदन से कोट-कमीज़ उतारो (वह कपड़े उतारता है)।

स्ट्रिंगमन—(सीना ठोककर देखता है। फिर स्टेथोस्कोप लगाकर) व्हेरी बैड! वहोत ख़राब। (पेट दबाकर देखता है) हुः—ये क्या ? स्पलीन (तिल्ली)। जाव।

[कुर्सी पर जाकर बैठता है और कुछ लिखने लगता है।]

हनुमंत०—कपड़े पहनो।

दिनकर—(कपड़े पहनते हुए) कहाँ हूँ मैं ? (शून्य दृष्टि से देखने लगता है।)

स्ट्रिंगमन—(लिखा हुआ काग़ज़ हनुमंतराव को देकर एक बड़ी किताब में लिखी हुई जगह अँगुली से बताकर) यहाँ सिग्नेचर लो, और उसे जाने दो! (दूसरे काग़ज़ देखते हुए) आजकल न जाने क्या हो गया है, बुरी हेल्थ के आदमी ज़्यादह आने लगे हैं।

हनुमंत—इधर आओ, यहाँ अँगूठे का निशान लगाओ (दिनकर दाहिने हाथ के अँगूठे से निशान लगाने जाता है) दाहिना नहीं, बाँया अँगूठा! और यह हाथ तुम्हारा कितना काँप रहा है! ज़रा धीरे से।

स्ट्रिंगमन—(दिनकर की ओर देखकर मन में) पूअर मैन!

[जाता है। दिनकर अँगूठे का निशान लगाकर खड़ा रह जाता है]

हनुमंत—नहीं, तुम्हें नहीं दिया जायगा यह काग़ज़। यह ज़ाब्ते से यहीं से रवाना होगा।

दिनकर—(मोटी किताब की ओर देखकर) लुट गया बाज़ार! मर-मरकर पढ़े, कलेजा फाड़-फाड़कर काम किया! भगवन्! अब मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ?

हनुमंत—हाँ, अब जाओ।

[दिनकर छाता लेकर जाता है। हनुमंतराव बड़ा काग़ज़ लिफ़ाफे में डालता है और चपरासी की तरफ़ देखता है]

चपरासी—क्या हुआ साहब ?

हनुमंत—होता क्या ? अनफ़िट हो गया, बस।

चपरासी—हः, हः, हः!

हनुमंत—अच्छा, यह किताब मेरे साथ ले चलो। (दोनो जाते हैं।)

दृश्य तीसरा

[दिनकर पंत का मकान। एक तंग कमरा, उसीके पीछे एक रसोई घर। अँधेरे के मारे ज़्यादह दिखाई नहीं देता है। पर राख से दबे चूल्हे में के अंगारे बीच-बीच में चमक रहे हैं। रात का समय। बाहर के कमरे में एक मिट्टी के तेल की चिमनी धुआँ उगल रही है। आसपास टूटा-फूटा सामान, फटे-पुराने कपड़े, अनाज के डिब्बे-मटके, दरिद्रता के अभिशाप से आच्छन्न बिखरे पड़े हैं। फ़र्शपर बीचो-बीच में फटे हुए कपड़े ओढ़े तीन आदमी सोये हैं। दिनकर की पत्नी यमुना—करीब तेईस बरस की, दाहिनी ओर एक बच्चा सखाराम—सात-आठ बरस का, बुख़ार के मारे कराहता और बीच-बीच में बड़बड़ाता हुआ, जिसके सिरहाने कुछ दवा की शीशियाँ

और पुड़िया पड़ी हैं; और छोटा लड़का त्रिंबक—चार-पाँच बरस का, माँ की दाँई तरफ़ सोया है। कमरे की छत पर लकड़ी, बीम कुछ नहीं, सिर्फ़ कवेलू का छप्पर है। और दिनकर का यह मकान एक बड़े मकान के पीछे की तरफ़ होने से नीचे की ज़मीन में कुछ गीलापन भी है। अन्दर आने का दरवाज़ा दाहिनी ओर है]

[पात्र—यमुना—दिनकर की पत्नी, सखाराम, त्रिंबक; सुंदराबाई—मकान मालकिन]

सुंदराबाई—(अन्दर से) यह क्या मुई रोज़-रोज़ की हैरानी ! अपनी औरत को हुक्म दिया करो। रोज़ उठकर तुम्हारे लिए कौन साँकल खोले ?

दिनकर—(अन्दर से) रोज़ भला कब देर होती है मेरे आने में। आज ही ज़रा...

सुंदरा—(अन्दर से) अजी, रोज़ नहीं हुई तो क्या हुआ, चिल्लाना तो तुम्हारा रोज़-रोज़ का ही है। दूसरों की नींद हराम कर डालते हो,—बिल्कुल।

दिनकर—(अन्दर से) अच्छा अब आज से...

यमुना—(उठकर) आ गये शायद। (जाकर दरवाज़ा खोलती है।)

सुंदरा—(अन्दर से) यह मुई नींद है या क्या है, यमुनाबाई !

यमुना—जाती हूँ (जाती है।)

[दिनकर अन्दर आकर, कपड़े उतारकर रखता है।]

सुंदरा—(अन्दर से) सौ बार कहा होगा कि यह तुम्हारा रोज़-रोज़ का बखेड़ा अच्छा नहीं। रहना हो तो ठीक से रहो, नहीं तो और कहीं इन्तज़ाम कर लो। हम से नहीं निभ सकता, यह कहे देती हूँ।

यमुना—(अन्दर से) अरे ! पर अभी तो हमारा बच्चा बीमार है।

सुंदरा—(अन्दर से) अच्छा है, बीमार है तो मैं क्या करूँ ?

यमुना—(घर में आकर) रोज़ का अपमान ही लिखा है नसीब में।

दिनकर—अरी, ऐसा तो होता ही है। ज़रा-सा सुन भी लिया करो।

यमुना—सुन क्या लेना ? अरे, सभी तो मेरे नाम की निंदा करते हैं कि यह यों ही बढ़-बढ़कर बोलती है, तो कोई २ ? सुन कैसे ले। यह कब तक सहूँ ?

दिनकर—क्यों न सहोगी ? आख़िर हम कंगाल जो ठहरे। इतनी ऐंठ किसके बूते ?

यमुना—हाँ, बस ऐसा कह दिया, हो गया।

दिनकर—तब उसके लिए क्या करें ? लोग बोलें—अरे बोलें क्या, वक़्त पड़ने पर लातें भी सह लेनी पड़ती हैं। सहनशीलता, बेशरमी दिखाये बिना अपने को, खाने को एक टुकड़ा भी कौन देगा ? यह पेट ! (पेट पीटना)

यमुना—अरे, यह क्या (पास जाती है)।

दिनकर—तनख़्वाह मिलती तो है पंद्रह रुपए। और शहर में दस बारह आने से कम में मकान मिलता नहीं। लाऊँ कहाँ से फिर (रोने लगता है)।

यमुना—बहुत हुआ। आज यह क्या शुरू कर दिया तुमने ? (आँसू पोंछ देती है)

[१९

दिनकर—अच्छा, और कुछ करने का सोचूँ तो रोज़ रात के आठ-आठ, नौ-नौ बजे तक काम के नीचे रौंदकर बिल्कुल आधी जान तो खींच ली जाती है।

यमुना—और कहीं कुछ तजवीज नहीं हो सकती ?

दिनकर—और कहाँ ? सरकारी नौकरी थी, सो छूट गई। और दूसरी मुलाज़मत में नौ-नौ बजे तक खटना ! अच्छा, और कहीं जगह ख़ाली होने का सुना कि उस एक जगह के लिए मेरे जैसे सैकड़ों बुभुक्षित कुत्ते झपट पड़ते हैं ! फिर उसके लिए सिफ़ारिश भी तो चहिये। इस सिफ़ारिश ने तो आदमी को तंग कर डाला है। जान पड़ता है भगवान के घर भी हमारी कोई अच्छी सिफ़ारिश न पहुँची होगी, इसीसे इस हड्डी-हड्डी पीस डालनेवाली ग़रीबी के अंक में... (फिर से रोने लगता है)—

सखाराम—(चीत्कार के साथ) मा-मा ?

यमुना—सखाराम, मेरे बच्चे ! अभी तो जाकर ज़रा नींद लगी थी। आप—आप कैसी हिम्मत हार रहे हैं ?

दिनकर—(बच्चे के पास जाकर) रामू—

सखाराम—(बुख़ार में बर्राता है) मास्टर सा'ब, मास्टर सा'ब, मैं आपके पैरों पड़ता हूँ। माफ़ कर दो ! मेरा बाप ग़रीब है जी—माफ़ी दो ! (फिर से चीख़ उठता है) मा, मा !

दिनकर—हा हा-हा हा ! दिमाग़ जैसे...

सखाराम—मा, पानी—

दिनकर—प्यास के मारे वह कैसा तड़प रहा है, देखो न।

यमुना—पानी कैसे दूँ उसे, दूध देती हूँ। ले, दूध ले ले बच्चे (मुँह के पास कटोरी ले जाती है)

सखाराम—(बुख़ार में) फटा है तो क्या मेरा काम चलता है मा, ऐसा कोट...मा—

यमुना—अच्छा, यह दूध तो ले ले।

दिनकर—दूध तो बिल्कुल थोड़ा-सा है री, इतना दूध रात भर कैसे चलेगा ? थोड़ा-सा और क्यों नहीं ले लिया ?

यमुना—लूँ कहाँ से। पाव भर के भी तो मेरे पास पैसे...

दिनकर—(मन में) पैसा !...

सखाराम—(बुख़ार में) मैं नहीं आता खेलने, जाओ ! गाड़ी के नीचे दबकर अभी-अभी एक लड़का मर गया ! दादा-दादा ! दूर हो जाओ, हटो—बचो।

यमुना—हे भगवान, इसने कैसी आँखें फेर लीं ? (रोने लगती है)

दिनकर—रो मत। मैं भी क्या कर सकता हूँ, जो कुछ होना होगा, होकर ही रहेगा।

सखाराम—मा ! पानी !

दिनकर—क्यों तरसा-तरसाकर मार रही है। पीने दे इसे पानी।

यमुना—नहीं जी, ऐसा क्या ? (दिनकर के हाथ से गिलास छीन लेती है) तुम तो बिल्कुल...अभी मैं राधाबाई के यहाँ से दूध ले आती हूँ।

दिनकर—अच्छा तो जल्दी आना। पर देखो, वह सो रही होंगी तो।

सखाराम—मा ! मा !

यमुना—आई, मेरे बेटे ! (हाथ में बर्तन लेकर जाती है)

दिनकर—(दरवाज़े की ओर देखकर) यमुने ! इस अभागे के घर में तुमने जब से क़दम रखा तभी से...व्याह के पहिले मन में संचित सपनों में से एक भी सच न निकला। आह!

[बच्चे के मुँह की ओर देखता है ।]

सखाराम—(बर्राता है) अजी, साहब ! मुझे काम पर रखोगे ? क्यों ? मा...

दिनकर—सखाराम ! (स्वगत) एक-सी तड़पन और गर्दन हिलाना। प्यास के मारे तो इसका जी जैसे व्याकुल हो रहा है ! (हाथ में पानी का गिलास लेता है ।)

सखाराम—आ...आ...

दिनकर—(स्वगत) पिला ही देता हूँ पानी । कैसा तड़प रहा है । पर, ना !

सखाराम—(फूल-फूलकर रोता है) मा—मा !

दिनकर—अरे-रे । यह कैसी इसकी हालत हो रही है ! ले बच्चे पानी पी ले ! थोड़ा-सा क्यों ? अच्छी तरह—पेट भरकर पी !—चिल्लाओ जितना चिल्लाना चाहो ! पर जो मर रहा है उसे सुख से तो मरने दो ! क्यों व्यर्थ ?...और फिर ज़िन्दा रहकर ही क्या करेगा ? (पानी का गिलास एक ओर रखकर) अब ज़रा उसके दिल को आराम...चलो अब जाकर भगवान के पास यों कहकर तो नहीं रोयेगा कि 'बाप ने मरते वक़्त पानी तक न दिया।' (सिर पर हाथ फेरता है ।)

सखाराम—(कराहते हुए) दद्दा ! मा । मा...! म-आ...

[अन्तिम कम्पन के पश्चात् प्राण छोड़ देता है]

दिनकर—(घबड़ाकर) सखा ! सखाराम !...यमुने ! (बच्चे के बदन पर हाथ फेरकर नब्ज टटोलता है) सारी दुनिया ही थरथरा रही है । मेरे बच्चे ! (छाती के पास हाथ रखकर) जाव ! सुख से जाव ! पुनः मनुष्य का जन्म न लेना ! दुर्दैवग्रस्त प्राणी—इस घोर नरक से तो छूटा ! (रोने लगता है) मैंने तुझे आज तक जो कुछ भी तकलीफ़ दी हो—उसके लिए सखाराम ! मुझे क्षमा करना ! (बच्चे के हृदय पर सिर रखकर रोने लग जाता है) 'रामू—अब तू किसी के पैरों न पड़ना—माफ़ी न माँगना !' जाओ—बच्चे—अब पीछे मुड़कर भी मत देखना । नहीं तो इस दुनिया में—इस घोर नरक में—तुझे रहने के लिए चिलचिलाती धूप में दर-दर भटकना पड़ेगा । लगातार आँसू बहाना होगा ! सखाराम ! यमुने! (इतने में यमुना दूध लेकर रोती हुई अन्दर आती है) अब न चिल्ला, न रो ! हमारा बच्चा चला गया ! अब रोना हो तो ख़ुशी से...

यमुना—हाय मेरे बच्चे ! सखा...! कैसे मुझे छोड़कर चला गया रे !

[बच्चे की देह पर गिरकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगती है । शोरगुल के मारे छोटा बच्चा त्रिंबक जाग उठता है—अपने भाई के शव की ओर, फिर मा और बाप की ओर घबराई निगाह से देखता है । 'मा, क्यों रोती हो ? दद्दा, क्यों रोते हो ?'—वह पूछता है । दोनों और ज़ोर से आँसू बहाने लगते हैं ।]

साँप

[शिवराम कारन्त]
[अनुवादक—गुरुनाथ जोशी]

[श्री शिवराम कारन्त उदीयमान तरुण लेखक हैं। आधुनिक कन्नड़-साहित्य में उनका एक विशिष्ट स्थान है। उनकी कृतियाँ नये विचारों की निधियाँ हैं। इधर उनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बाल-प्रपंच' के नाम से प्रकाशित हुआ है। यहाँ हम आपकी एक सुन्दर रचना 'साँप' प्रकाशित करते हैं।—सं०]

वास्तव में वह सुन्दर वाटिका थी। मेरी मा मुझे बहुत चाहती थी, अतः उसने मेरे लिए वह वाटिका बहुत मेहनत उठाकर बनाई थी। प्रत्येक वृक्ष को उसने लगाया था। उसको फूलों से प्यार था। हरियाली से वह बहुत ख़ुश होती। फूलों एवं हरी-भरी दूब की वह वाटिका प्रथम उपहार के रूप में मुझे प्राप्त थी। मेरी वाटिका में सेवंतिका, गुलाब, चमेली, पारिजात आदि हर तरह के फूल—सुगंधित फूल खिलते थे। मेरी वाटिका मेरा गौरव थी। मुझे अहंभाव था कि मेरी एक वाटिका है।

सुबह होते ही मेरी मा मुझे जगाती और कहती—बेटा, वाटिका जाओ और वृक्षों में पानी सींच आओ। कुछ दिनों के बाद मैं ही ख़ुद उसके कहने के पहले सुबह वाटिका जाता और पानी सींच आता। झाड़ू से कचड़ा झाड़कर साफ़ रखा करता। झाड़ू लगाने के बाद नन्हें-नन्हें हाथों से छोटे घड़े में पानी लाता और वृक्षों की क्यारियों में डालता। उसके बाद वहीं बैठकर घास आदि उखाड़ फेंकता। मुझे ऐसा विदित नहीं होता था कि वाटिका का काम समाप्त हुआ। उसमें कितना ही काम करूँ तो भी तृप्ति नहीं होती। उसमें फूल लगे कि बस मेरे आनन्द की सीमा नहीं रहती। 'परमात्मा के लिए' कहकर कोई फूल तोड़ने आता तो मैं उसे वापस भेज देता। किसी को फूल तोड़ने चुनने नहीं देता। जो 'परमात्मा के लिए' तीन-तीन बार कहते उनसे मैं इतना ही कहता 'वृक्षों पर फूलों को देख क्या परमात्मा सन्तुष्ट—प्रसन्न नहीं होगा? क्या उसके सारे बदन पर आँखें नहीं हैं? नाक नहीं है?' मुझसे कोई चर्चा नहीं करता। मेरी सन्तान जो वृक्ष थे, उनको लाल, पीले, नारंगी रंग के फूल से श्रृंगारित देख मुझे सन्तोष होता था। उनके श्रृंगार को तोड़ना मानो उनका सर काटने के समान है।

क्या परमात्मा हमारी तरह स्वार्थी है ? क्या वह मनुष्य की नाक के पास के फूलों की कीमत लगाता है ?

कई बार मुझे डर लगा है कि अगर कोई चोरी से फूल तोड़कर चला जाय तो हम क्या करें ? इसलिए कई रात मैं सोया तक नहीं हूँ। नींद से हाथ धो बैठा हूँ। किसी कारण से कहीं मुझे जाना पड़ता, तब भी जहाँ मैं रहता, वहीं इन प्यारी सन्तान की चिन्ता बनी रहती। डर हमेशा बना रहता कि कहीं भेड़-बकरियाँ वाटिका में घुस, खा तो नहीं गईं ?

एक दिन मैं अपनी दादी के घर गया था। उसके आग्रह से दो-तीन दिन मैं घर नहीं आ सका। बालकों के साथ खेल-कूद किया करता, जिसमें अपनी प्यारी वाटिका भूल गया। उसके बाद मैंने घर आकर वाटिका जो देखा तो मेरी लाड़िली सन्तान मारे प्यास के मुरझा गई थी। मुझे बड़ा दुःख हुआ। कुँए से पानी खींचकर लाया और उन्हें पिलाया। फिर भी मुझे उस दिन ऐसा लगा कि उन्होंने मुझे क्षमा नहीं किया है। उस दिन से मैंने उनकी सेवा में एक दिन भी त्रुटि नहीं आने दी।

आप यह न समझें कि सिर्फ़ मुझे ही मेरी वाटिका आनंद दिया करती थी। रोज़ शाम को हमारे मुहल्ले के सभी लोग उसमें बैठ प्रसन्न होते। कहीं से कुछ ठंडी हवा बहती, तो मारे आनंद से फूल जाते। कई बार अपने साथ छोटे-छोटे बच्चों को भी लाते। बच्चे अगर फूल माँगने लग जायँ तो उनसे कहते 'फूल नहीं तोड़ना चाहिये।' मेरी वाटिका देख कितने ही बालकों ने अपने आँगन में छोटी-छोटी वाटिकाएँ बना भी ली हैं।

मेरी वाटिका से केवल मुहल्लेवालों, गाँववालों को ही आनंद मिलता, सो बात नहीं है ; बल्कि चिड़ियों को भी मिलता। कुछ पतंग आते और नाचते फूलों के सामने। और भी कई तरह की चिड़ियाँ आतीं और क्रीड़ा करतीं। सुबह और शाम हर रोज़ उनका संगीत वहाँ से सुनाई पड़ता।

किंतु यह सब उस दिन की कहानी है। उस दिन की शोभा आज मेरी वाटिका की नहीं है। उस दिन का सच्चा वास्तविक प्रासाद था तो आज वह स्वप्न की झोपड़ी है।

एक दिन मेरे पड़ोसी बालक ने मुझे अपने घर बुलाया। उसने मुझे कई तरह के खेल सिखाये। मैं उनके कृत्रिम खेलों से मोहित हो गया। उनको हर्षदायक समझा। सुबह, शाम जब कभी फ़ुरसत मिल जाती, उसके साथ घूमने—खेलने जाया करता। इससे वाटिका पर मेरी ममता उतनी नहीं रही, कम हो गई। एक दिन वह पूर्ण रूप से नष्ट हो गई। उसी समय में मेरी मा की आँखें भी नष्ट हो गईं। अन्यथा वह मेरी वाटिका को इस तरह नष्ट न होने देती। वह भी बिचारी क्या करती, अंधी बनी थी। अतः मेरी हालत वैसी हुई, जैसे बेरास का घोड़ा।

मेरे बगल के घरवाले बिलकुल आलसी हैं। उनके आँगन में कटीला घास भर गया था। वह हमारे आँगन तक भी आ गया। एक साल के अंदर मेरी वाटिका को उसने ग्रस डाला। बेचारी, मेरी संतानों को कितना दुःख हुआ होगा, कौन जाने ! किंतु सुनेगा कौन ? मेरा मन बाहर लगा रहता। मैं यहाँ तक भूल गया कि मेरी एक वाटिका भी है। मैं जब इतना उदासीन बना, तब मेरी वाटिका देखने कौन आता ? मुहल्लेवाले, गाँववाले न जाने कहाँ गये। मेरी वाटिका में घास, झुरमुट काफ़ी पैदा हुए जिससे वह चरागाह बन गई !

एक रोज़ मेरे मित्र मेरे घर आये और बोले, तुम्हारे फूलों की सुंदरता को मंदिर में मैं

[शेष

बैठे देख परमात्मा आनंदित होता होगा ! मैं उनकी बातों की ओर कान नहीं दे सका। मुझे संतोष वाटिका से बढ़कर अन्यत्र मिल रहा था।

एक दिन चल-चलके थक गया था। घर की ओर आया। थकावट को दूर करने के इरादे से वाटिका के पास एक स्थान पर बैठ गया। पहले का समय होता, तो मैं एक क्षण भी बैठ न पाता। मुझे वहाँ कुछ नींद-सी लगी। उस समय ऐसा विदित हुआ कि मानो किसी चीज़ ने मुझे काट खाया है। चिल्ला उठा 'हाय! हाय!' आँखों के सामने से साँप जिसने मुझे काटा था झाड़ियों में जा रहा था। मुझे डर लगा कि मैं मर जाऊँगा। 'मा, मा' चिल्लाया। मेरी पुकार सुन मा टटोलती हुई 'क्या हुआ रे ? क्या हुआ ?' पूछती हुई आई। मैंने कहा कि साँप ने काट खाया।...मेरी मा ने दो-तीन पड़ोसियों को चिल्लाकर बुलाया। दो-तीन आदमी आ गये। डाक्टर को बुला लाये। कुछ इलाज किया। काफ़ी दुःख भोगना पड़ा। एक दिन के बाद मुझे होश आया। फिर चंगा भी हुआ। तब तक मेरी मा ने मुझसे बात नहीं की थी। मुझे एक दिन उसने पास बुलाकर कहा—बेटा, साँप कहाँ से आया ?

'वाटिका से।'

उसको आश्चर्य हुआ। 'बेटा, वाटिका में साँप कहाँ से आया ? जतन से जिसकी रक्षा हमने की है उस वाटिका में—साफ़ सुथरी वाटिका में—साँप कैसे आया ?'—मा ने पूछा।

तब मुझे विदित हुआ कि मेरे दोष से वाटिका में घास, झुरमुट, कँटीले झाड़ पैदा हुए, जिन्होंने विष-जन्तु को स्थान दिया। तब मुझे दुःख हुआ कि मेरी माता की दी हुई वाटिका को मैंने बिगाड़ दिया। मेरी आँखों से आँसू अपने आप बहने लगे। मेरे उमड़ते दुःख का परिचय मेरी मा को हुआ। उसने पूछा—बेटा, क्यों रोते हो ? मैंने सब कुछ बता दिया। मुझसे भी अधिक दुःख उसको हुआ। मैंने उसको वचन दिया 'अब कभी इस तरह बे-परवाह नहीं बनूँगा और वाटिका को ठीक करूँगा।' मेरे पश्चात्ताप को देख उसे संतोष हुआ। उसी दिन मैंने झुरमुट, कँटीले झाड़, घास सब को काटकर साफ़ किया।

मेरी संतान—फूल, वृक्ष झुरमुट के बीच में आहार-पानी के अभाव से सूख गई थीं। सेवंतिका तो मर ही गई थी। उनको जिलाना कष्ट-साध्य-सा विदित हुआ। किन्तु आज मेरी सतत शुश्रूषा और सेवा से वह जीवित हो गई हैं। कभी मैं उनको नहीं भूल सकता। किन्तु चाहे जितनी ही मेहनत और जतन से वाटिका की रक्षा करूँ, पर उस दिन की वाटिका की शोभा तो आकाश-कुसुमवत् ही है !

बंगलोर।

बङ्गला कविता

[समर सेन]
[अनुवादक—उमाचरण पाण्डेय 'त्रिदंडी']

[श्री समर सेन बँगला की 'कविता' त्रैमासिक के सहकारी संपादक हैं। 'कविता' कविता-विषयक सूचनाओं के लिए बंगाल में बहुत लोक-प्रिय है। श्री सेन कविता के विषय पर लिखने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। आपका यह लेख भी हमने 'कविता' त्रैमासिक के 'विशेष समालोचना संख्या' से ही अनुवाद किया है। सं०]

कविता के साथ समाज का क्या सम्पर्क है, यह ठीक-ठीक बताना कठिन है। बहुत लोग कहते हैं कि कविता केवल अन्तःकरण की प्रेरणा है। यह कहना है तो सहज किन्तु यथार्थ नहीं है। कारण, अन्तर्प्रेरणा केवल अन्तःकरण की वस्तु नहीं, उसका प्रधान स्रोत विशाल और विक्षुब्ध बहिर्जगत् है। इस सूत्र से कविता की भाषा और भाषा के व्यक्तिगत स्वतंत्र व्यवहार की बात कहना सम्भव है। हम सब किसी विशेष समाज में किसी विशेष समय पर जन्म लेते हैं और सामाजिक जीव के हिसाब से प्रचलित किसी भाषा का व्यवहार करते हैं किन्तु कविता लिखने के समय उस भाषा के ऊपर जो स्वतंत्र छाप पड़ती है उसका नाम है विशिष्टता, और यही स्वतंत्र व्यवहार की शक्ति कवि के पुरुषत्व की परिचायिका है। यही पुरुषत्व काम करता है, कितनी ही शताब्दियों के श्रम-लब्ध जटिल-व्याकरण की सहायता से—एक विशेष सामाजिक-परिस्थिति की भूमिका द्वारा। कविता बहुधा नाटकीय स्वगत उक्ति के समान है किन्तु कल्पना के विचार से हम नाटक की बात भूल जाने की चेष्टा करते हैं या अस्वीकार करते हैं। पारिपार्श्विक के ऊपर निर्भरता अस्वीकार करना असम्भव है। पारिपार्श्विक के प्रभाव को मुख्यतया उप-लब्ध किया जाना स्वीकार कर लेना स्वाधीनता का सूत्रपात है।

अब भी बहुत लोग विशुद्ध कविता में पूरी आस्था रखते हैं— यह वे लोग हैं, जो पूर्व युग के, कुमारी मेरी के विशुद्ध गर्भ-धारण में सर्वान्तःकरण से विश्वास करते हैं। कविता का कारण ऐसे लोगों के निकट अनाविल अन्तःकरण की प्रेरणा है। अन्तःकरण की प्रेरणा इन लोगों के काव्य-संसार का निराकार ब्रह्म है, 'एकमेवाद्वितीयम्।' इस सहज-सत्य को यह लोग भूल जाते हैं कि भीतर की प्रेरणा यदि कविता का मूल और एकमात्र उत्स होती तो फिर प्रति-

[शे

प्रति मास, प्रति सप्ताह महत् कविता रचित होने के मार्ग में कोई रुकावट न होती। काव्य के इतिहास में, पार्थक्य है, इस कारण कविता केवल विशुद्ध कल्पना नहीं है। क्षण-क्षण पर बदलनेवाली श्रेणी-गति का, स्थान-काल-पात्र का मुखापेक्षी होना तथा मुखापेक्षी होने पर भी बीच-बीच में समाज का रूप बदल जाने के कारण उसकी सहायता करनी है। सामाजिक परिस्थिति और अन्तःकरण के मध्य की आत्मीयता, जटिल किन्तु अमान्य है। किन्तु हम एक के मानने पर दूसरे का तिरस्कार करते हैं। सोचते हैं— काव्य रूपी ईश्वर के मानने पर समाज रूपी कुवेर का माना जाना असम्भव है!

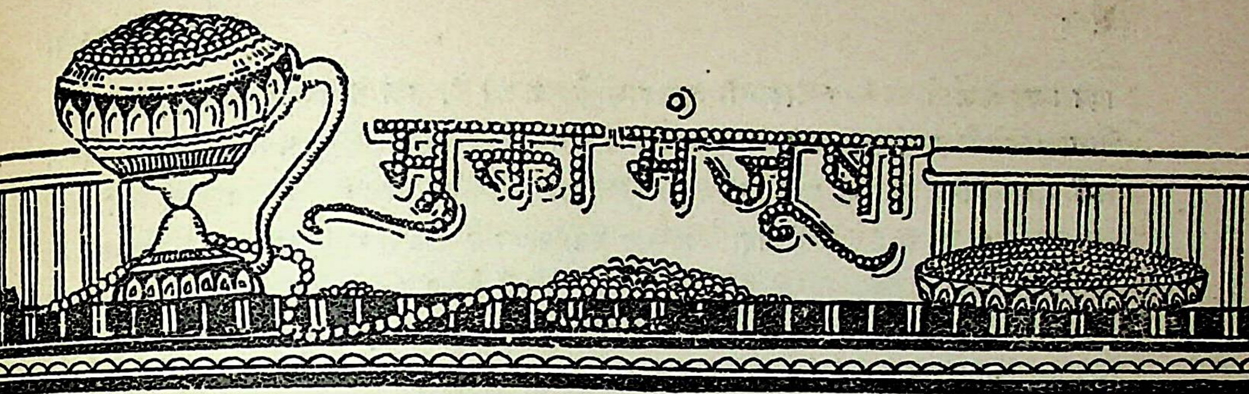
ये सब बातें कहने की आवश्यकता बीसवीं सदी के तृतीय-दशक में नहीं है, यह जानता हूँ। किन्तु बङ्गाल में जो लोग कविता लिखते हैं उनके दृष्टिकोण का विचार करके देखने पर यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि काव्य विचार की विभिन्नता को प्रकृत काव्य-रचना किस तरह प्रभावान्वित करती है। जो विशुद्ध साहित्य में विश्वास करते हैं—और उनकी संख्या बंगाली कवियों में अब भी अधिक है—उनके लेखन (कविता) में भाव-साम्य क्रमशः कम होता ही है और उनकी प्रतिभा शेष पर्यन्त कहीं-कहीं 'मैनेरिज़्म' के प्रकट करने पर, पुनरावृत्ति में परिणत हो जाती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के न रहने पर काव्य में मूल-सूत्र का समाविष्ट करना असम्भव है। और मूल-सूत्र-हीन काव्य एक तरह से मस्तिष्क-विकृति का नामान्तर है।

व्यक्तिगत प्रतिक्रिया की सहायता से कविता अवश्य ही विशिष्ट रूप धारण करती है और व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को हम साधारणतः चालू भाषा में हृदय का आवेग समझते हैं किन्तु हृदय के आवेग में भी प्रकार-भेद है। बङ्गला-भाषा की कविता जो इतनी निर्जीव होती हैं उसका कारण, हमारे काव्य में significant emotion का एकदम अभाव ही है। इसके लिए मूलतः उत्तरदायी भारतीय इतिहास की गति है और इसकी ही प्रतिक्रिया में रवीन्द्रनाथ के प्रभाव की अन्तिम समय की प्रकृति है। रवीन्द्रनाथ का जन्म जिस युग ने दिया था उस युग की प्राण-शक्ति बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। उस युग में काव्य के विषय वस्तु के उपयुक्त जो कुछ था और जिस रूप में उन्होंने उसे प्रकट किया है उन सब की जीवनी-शक्ति आज नहीं है। यह सब प्रसंग अधिकतर अवान्तर है, किन्तु युग-धर्म के कालान्तर की बात मुख खोलकर कहने पर भी उसका प्रकृत अर्थ बहुतों के लिए दुर्बोध्य है इसी लिए बीच-बीच में अत्यन्त साधारण बात की भी पुनरावृत्ति आवश्यक है। भारतवर्ष में पौरुषेय-सभ्यता की प्रगति के फलाफल का श्रेष्ठ उदाहरण हैं रवीन्द्रनाथ। उनके पहले माइकेल मधुसूदन दत्त के समान कवि थे लेकिन बाद में रवीन्द्रनाथ के समान उल्लेख योग्य कवि नहीं हुए। गुलामों के इस देश में शौर्य-सभ्यता की अग्र-गति थोड़े दिन बाद ही दमित हो गई। कारण, बराबर बढ़नेवाला यह गुलामों का देश वीर-प्रभू के स्वार्थ का विरोधी था। कुछ दिनों की क्षिप्र—चकित प्रगति, उसके बाद निरुद्ध गति दोनो के दोतरफ़ा खिचाव से चाहे और जो कुछ भी हुआ हो किन्तु देश में किसी प्राणवान् उपदेष्टा की सृष्टि नहीं हो पायी। रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी इस दोतरफ़ा खिचाव का प्रभाव मौजूद है।

यही कारण है कि हमारा काव्य परम्परागत उपदेश-हीन है। एक तरह से भारत का विपुल संस्कृत-साहित्य रवीन्द्रनाथ में अन्तिम समय के लिए अपने धर्म में पुनरुज्जीवित हो गया है। देश के जिन स्वतंत्र परम्परावादी उपदेशकों का हम गौरव करते हैं, असल में वे स्वावलम्बी नहीं

हैं। वर्तमान काल में उनका अपना मेरुदण्ड नहीं है और इसके अभाव में हमने अपनी विचार-बुद्धि का सतत विसर्जन कर दिया है। अनुभूति के नाम पर भाव-विलास के जय-गान में हम मुखर हैं। रोमांटिक आन्दोलन का एक अन्यतम विशेषत्व यह है कि विचार-बुद्धि और अनुभूति के बीच में एक तीखे पार्थक्य का आकर्षण हो गया है और पहली यानी विचार-बुद्धि का विसर्जन, हमारे देश की उर्वरा भूमि ने पाया। इस धारा के साथ मिल गया है वैष्णव-कविता का भाव-विलास। हमारी कविता में रक्तस्वल्पता का यही एकमात्र कारण है। अवश्य ही इसका प्रधान कारण लेखक और समाज के बीच में क्रम से बढ़नेवाला व्यवधान है। इच्छा रहते भी इस व्यवधान का काटना बङ्गाली कवियों के लिए कठिन है। भाव और भाषा की जिस भङ्गिमा के आज-कल वे अभ्यस्त हैं, साधारण जीवन के साथ उसके असहन योग का सूत्र नहीं है। पृथ्वी के साथ पाश्चात्य शिक्षा ने हमारा परिचय कराया है सही परन्तु वणिक्-सभ्यता की गति से, शिक्षित और अशिक्षित के बीच, वस्तुतः शिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित के बीच दूरन्त पारावार की सृष्टि कर दी है। भारतवर्ष के असंख्य लोगों में अक्षर-ज्ञान नहीं है इसलिए लेखक और पाठक के नाम से साधारणतः मध्य-वित्त श्रेणी के लोग ही समझे जाते हैं। यह रेडिओ-पीड़ित, सिनेमा-जर्जरित, फुटबाल-उत्कण्ठित श्रेणी की जीवनयात्रा, अन्त तक उच्च कविता की विपथगामिनी है। इसका फल यह हुआ कि हमारे देश के विशिष्ट आधुनिक कवि निःसङ्ग हो गये और निःसङ्गता में लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई। जबतक भारतवर्ष में कोई आमूल समाज-विप्लव नहीं होता, कुटिल काल-चक्र में विनाश की बाढ़ नहीं आती तब तक यह निःसङ्गता, हताशा और अविश्वास वर्तमान सभ्यता की जो कुछ विशेषताएँ हैं वह सब घेरे रहेंगी ही! तब तक उनकी श्रेष्ठ रचना जीवित मूल-सूत्र के अभाव से पीड़ित होती रहेगी। इस बीच में—'मामा के अभाव में काना मामा का अन्वेषण' ही अच्छा है रिएलिटी से निष्कृति पाने की चेष्टा पराजय की दुर्बल मनोवृत्ति है। प्रकृति का स्वप्न-लोक नपुंसकों का स्वर्ग है। दूसरी ओर, सांसारिक सचेतनता आधुनिक बंगाली कवियों की सहायता कर सकती है। कारण, सचेतनता—यही नहीं, अपनी सामाजिक व्यर्थता की सचेतनता भी—क्षमता और संयम ला देती है। काल-क्रम से जब उनकी विषयवस्तु में आमूल परिवर्तन की भावना उठेगी तब फिर उनके सचेतन दृष्टिकोण के लिए परवर्ती युग के कवि और पाठक कृतज्ञ होंगे।

कलकत्ता।



गुजराती

एक-एक व्यक्ति की मत-गणना और उसके बाद का संगठन (?)

[आस्ट्रिया में नाजी राज्य की स्थापना के पहले एक-एक व्यक्ति का मत लिया गया था और उसके बाद जो राज्य स्थापित किया गया, वह कहलाता है संगठन। मत-गणना के समय भी और आज भी वहाँ यहूदी प्रजा बसती है। पाठक नीचे एक यहूदी परिवार की कष्ट-कथा पढ़ेंगे। निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं कि संगठन शब्द की ध्वनि इस करुण प्रसंग के बाद कितनी भयानक हो जाती है। और पीड़ित मानवता के प्रति आँसू बहने लगते हैं। यह अवतरण गुजराती सहयोगी 'प्रस्थान' के भाद्रपद अंक से यहाँ अनूदित किया जाता है।—सं०]

'मि० हे०—मालदार हैं और वियेना के ख़ुशहाल मुहल्ले के जिस घर में रहते हैं, वह उनका अपना है। परन्तु नाजी राज्य में यहूदी लोग मिल्कियत नहीं रख सकते। कब यह मकान उनसे छीन लिया जायगा, नहीं कहा जा सकता। इस डर से इन्होंने यह मकान अपनी सौतेली सास के नाम पर कर दिया है। इस स्त्री ने एक यहूदी से विवाह किया था परन्तु जन्म से आर्यन होने के कारण नाजी प्रणाली के अनुसार यह मिल्कियत रख सकती है। मकान के ऊपरी दोनो मंज़िलों का इस्तेमाल वही करती है। मि० हे—अपने बीवी-बच्चों के साथ नीचे की काल-कोठरियों में निवास करते हैं। यहूदी अपने यहाँ 'आर्यन' नौकर नहीं रख सकते और यहूदी नौकर मिलते नहीं हैं; इसलिए पैसे होते हुए भी श्रीमती हे को घर का सभी मोटा-झोटा काम अपने हाथों करना पड़ता है।

'रेस्टोराँ, सिनेमा, नाटक, सार्वजनिक बग़ीचे, संगीत और नृत्य के जलसे आदि आमोद-प्रमोद के सभी स्थान यहूदी लोगों के लिए बन्द हैं। व्यापार, नौकरी, डाक्टरी या वकालत आदि कोई भी धंधा यहूदी नहीं कर सकता। एक दिन पाठशालाओं में पढ़ते यहूदी बालकों को आँसू भरी आँखों से शिक्षकों ने यह समाचार सुना दिया कि कल से वे पाठशाला में पढ़ने नहीं दिये जायँगे। बालकों ने घबराहट भरे स्वर से पूछा कि न तो हम कोई बदमाशी करते हैं और न पढ़ने में किसी तरह का आलस्य करते हैं, फिर क्यों हमें निकाला जाता है। शिक्षकों के पास इसका कोई जवाब नहीं था। रोते बालकों ने पाठशाला, मित्र, और शिक्षक सदा के लिए छोड़

दिये । यहूदी लोगों के लिए थोड़ी-सी पाठशालाएँ रखी गई हैं, जहाँ ये बालक जा सकते हैं। परन्तु विशाल वियेना नगर के प्रमाण में ये पाठशालाएँ न-कुछ के बराबर हैं। पाँच-छः वर्ष के नन्हें बालक मीलों चलकर वहाँ पढ़ने जाते हैं। माता-पिताओं को इन्हें वहाँ पहुँचाने और वहाँ से लाने जाना पड़ता है। उन्हें सदा यह भय बना रहता है कि मार्ग में कोई उन्हें तंग करेगा। प्राथमिक शिक्षा के लिए यह थोड़ी-सी सहूलियत तो है परन्तु युनिवर्सिटी के दरवाज़े तो यहूदी लोगों के लिए एकदम बन्द हैं। कॉलेज में पढ़नेवाले यहूदी विद्यार्थी गिन-गिनकर निकाल दिये गये और नये विद्यार्थियों के लिए प्रवेश की मनाही कर दी गई।

'एक प्रख्यात यहूदी डाक्टर रेस्टोराँ में खाना खा रहा था; तभी नाजी सिपाहियों ने आकर उससे कहा—यहूदी, खड़ा हो। बाद में एक सिपाही ने उसके मुँह पर घूँसा मार उसके दाँत तोड़ डाले, दूसरे ने कोहनी में से हाथ की हड्डी तोड़ डाली और तीसरे ने धक्का दे उसे गिरा दिया। फिर उसे उठा एक यहूदी अस्पताल में डाल आये।

'श्रीमती हे—को अपनी सगी मा की ओर से विरासत में दो-तीन बड़े बड़े घर मिले हैं। परन्तु वे किराये पर नहीं उठाये जाते; क्योंकि किराये का सिर्फ़ आठ प्रतिशत एक यहूदी ले सकता है, बाक़ी का ९२ प्रतिशत नाजी सरकार ले लेती है! अगर किरायेदार आर्यन है और वह किराया न दे तो यहूदी मकान मालिक उसके विरुद्ध शिकायत भी नहीं कर सकता।

'नाजी राज्य के अन्तर्गत बसनेवाले यहूदी परदेशों में रहनेवाले अपने रिश्तेदारों को भी अपनी कष्ट-गाथा नहीं लिख सकते। उनका प्रत्येक पत्र सेन्सर होकर तब बाहर भेजा जाता है। भूल-चूक में कोई अपनी तकलीफ़ों का हाल लिख दे तो उसके लिए सीधे जेल के दरवाज़े खुले रहते हैं। पत्र में तो सिर्फ़ 'हम सानन्द हैं, तुम भी सानन्द होगे' ही लिखा जा सकता है।

'नाजी सरकार ने हज़ारों स्त्री-पुरुषों को बिना मुक़दमा चलाये ही जेल भेज दिया है। श्रीमती हे—की बहिन भी गिरफ़्तार कर ली गई है। किस अपराध पर वह पकड़ी गई, इसकी न तो उसे ख़बर है और न उसके रिश्तेदारों को। वह विधवा है और उसके एक ग्यारह वर्ष की बेटी है। बेटी के सौभाग्य से उसकी दादी जीवित है, जो उसका पालन-पोषण करती है। आप ही जेल भेजनेवाली सरकार को तो इस बात की चिन्ता है ही नहीं कि वह लड़की मरेगी या जियेगी। जेल में डाले गये यहूदी मा-बाप के कितने ही बच्चे दर-दर भटकते फिरते हैं।

'सदियों से यहूदी प्रजा आस्ट्रिया में बसती है और उसने आर्यन रहन-सहन को अपना लिया है। दोनो जातियों में शादी-विवाह भी होते आये हैं परन्तु आज नये राज्य में सारी यहूदी प्रजा को अपने रिश्तेदारों और इष्ट-मित्रों से बिलग होना पड़ रहा है। यहूदी लोग अपने जान-माल की सलामती का विचार तो कर ही नहीं सकते। यदि वे जीवित अवस्था में देश से बाहर किसी निरापद स्थान में चले जायँ तो ईश्वर का महान उपकार मानते हैं परन्तु यह भी असम्भव है। दूसरे देशों में जाने के लिए पासपोर्ट नहीं दिये जाते। मि० हे का व्यापार हालैण्ड, बेल्जियम आदि देशों में चलता है; इसलिए उन्हें अकेले को पासपोर्ट प्राप्त है परन्तु उनकी स्त्री और बच्चों को पासपोर्ट नहीं मिल सकता। 'जिस क्षण मेरे कुटुम्ब को पासपोर्ट मिल जाय, उसी क्षण शरीर पर पहने कपड़ों से ही यह देश छोड़ चला जाऊँ; पर वह शुभ दिन कहाँ?'—सुनकर किसका हृदय न भर आयेगा।

'दूसरे देशों में व्यापार होने के कारण नाजी सरकार ने मि० हे की जीविका

इतना साधन रहने दिया है अन्यथा दूसरे यहूदी लोगों के लिए तो कोई साधन नहीं छोड़ा गया है। देश में न तो उनकी जीविका का कोई साधन रहने दिया गया, न खड़े होने विता भर ज़मीन का टुकड़ा छोड़ा गया और न उन्हें बाहर जाने दिया जाता है। भूख और तकलीफ़ों से किसी तरह यहूदी प्रजा नष्ट हो जाय, यही नाजी सरकार की नीति है।'

'इस राज्य-स्थापना को संगठन कहते हैं, परन्तु यहूदी लोग पूछते हैं कि यह संगठन (?) कैसा है?'

चयनकर्ता, श्यामू सन्यासी

काशी।

हिन्दी

भारत के नवयुवक क्या करें

[सहयोगी 'विश्वमित्र' के नवम्बर, '३८ के अंक में श्री सन्तराम बी० ए० ने एक उपयोगी लेख लिखा है। युवकों की आज की निराशा और मुर्दनी देख लेखक की आत्मा आक्रोश कर उठी है। सारा का सारा लेख एक अदम्य आशावाद और जीवन के प्रति एक नये दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। नीचे हम उसके कुछ अंश पाठकों के गम्भीर विचारार्थ उद्धृत करते हैं।—सं०]

'यह शिकायत बहुधा सुनी जाती है कि समय ख़राब आ गया है। नौकरी मिलती नहीं। आजीविका की तङ्गी है। यह कहा जाता है कि पूर्वकाल अच्छा था। साधारण मिडल पास भी डिपटी बन जाते थे। अब एम० ए० पास भी साधारण क्लर्की के लिए तरसते हैं। यह एक भ्रम है, जो सर्वत्र पाया जाता है। यह आज का नहीं, बहुत पुराना है। प्रत्येक पीढ़ी यही समझती आई है कि पूर्वकाल अच्छा था।'

'परन्तु यह बात नितान्त असत्य है।'

'सचाई यह है कि आजीविका के लिए जितने अवसर अब हैं, उतने पहले कभी भी नहीं हुए, और जितने मार्ग आज हमारे चलने के लिए उन्मुक्त हो गये हैं, उनका शतांश भी पहले न था। मनुष्य की योग्यता बड़ी सीमित और बुद्धि साधारण थी। जो पर्वतों जैसे महान् कार्य आज सभ्य मनुष्य की बुद्धि को निमन्त्रण दे रहे हैं, अतीत काल में उनका विचार भी उसे कभी न आया था। आज का संसार विस्तृत है। इसमें पहले से अधिक मनुष्य हैं, अधिक वस्तुएँ हैं, अधिक सौन्दर्य है। पूर्वकाल में मनुष्य के चलने-फिरने के लिए कठिनता से दो-चार सौ वर्गमील भूमि होती थी, परन्तु आज आकाश और पाताल उसके अवलोकन के लिए उन्मुक्त कर दिये गये हैं।'

'नालियों में घुटनों तक धँसकर चलने के कारण न केवल गति ही मन्द हो जाती है, वरन् नवीन मार्ग ढूँढ़ने का साहस भी भंग हो जाता है।'

'कोई भी समय कठिन नहीं होता। नियति का भाण्डार अक्षय है। प्रत्येक का उसमें उतना भाग है, जितना उसमें से उठाने की वह शक्ति उत्पन्न कर सके। प्रकृति की फ़सलें पूरे यौवन पर हैं और दानों से भरी पूरी हैं। प्रत्येक मनुष्य को इस फ़सल के काटने का अधिकार है। उसका पारिश्रमिक उसकी अपनी शक्ति है। जितना भार कोई उठा सके, निःसंकोच होकर उठा ले जाय। प्रकृति में कोई कृपणता नहीं। मनुष्य में साहस एवं उठाने की शक्ति चाहिये।'

'आगे बढ़ने, बड़े-बड़े कार्य करने, नयी-नयी वस्तुएँ उत्पन्न करने और उनके प्रचलित करने के आज असंख्य अवसर हैं। आज ज़रूरतमन्द लोग बहुत हैं। आवश्यकताओं को पूरा करने की सामग्री बहुत है। और इस सामग्री को विभिन्न आकृतियों में प्रकट करनेवाली मशीनें अगणित हैं। बुद्धि का कोई घाटा नहीं।'

'नियम है कि जो व्यक्ति कुछ नया सोच सकता है, उसीकी आशा बनी रहती है। जो व्यक्ति नये काम करने की शक्ति रखता है, उसकी दिलचस्पी क़ायम रहती है। शेष के लिए जीवन एक प्रकार से भारी दुःख हो जाता है।'

'यदि नया सोचने की शक्ति मानव-वंश में स्थिर रखी जा सके, तो जीवन भार-रूप हो ही नहीं सकता। बालक का दिन अच्छा बीत जाता है। कोई विपत्ति बालक के लिए बड़ी नहीं होती। उसकी दिलचस्पी केवल इतनी होती है कि बाँस के घोड़े बनाकर सारे दिन सवारी का आनन्द लेता रहता है। ठीकरियों, ढेलों और चीथड़ों के साथ खेलता हुआ वह प्रसन्न रहता है। कारण यह कि वह प्रतिक्षण नयी बात सोच सकता है, नया खेल खेल सकता है।'

'वर्तमान समय हमें इसलिए कठिन प्रतीत होता है कि हम अपनी प्रकृति के विरुद्ध रूढ़ियों की रस्सियों में जकड़े गये हैं। हमारे पाँव तो काल की गति के साथ भविष्य की ओर चले जा रहे हैं; परन्तु मस्तिष्क अतीत में उलझे पड़े हैं।'

'हमारा उद्धार करनेवाले वे तरुण और वीर हृदय हैं, जो नवीन मार्ग ढूँढ़ने का साहस करें। जो काम किसी ने कर लिया वह तो उसका हो गया। जो रास्ता किसी ने ढूँढ़ लिया, वह तो अब अपनाया जा चुका। आवश्यकता नये मार्ग खोजने और नये काम करने की है!'

'जो व्यक्ति बर्नार्ड शा की भाँति छयासी वर्ष की आयु में भी नवीन नाटक लिखकर रंगमंच पर अभिनय कर सकता है, युवकों को आश्चर्य में डाल देनेवाली योजनाएँ उपस्थित कर सकता है, वह वृद्ध नहीं। अनन्त यौवन का रहस्य नये शौक़ और नये कार्यक्रम में निहित है।'

'सारा कष्ट इसी मनोवृत्ति में है कि काम इस प्रकार करने चाहिये, जिस प्रकार पहले बड़े-बूढ़ों ने किये हैं। परिवर्तन को पाप समझा जाता है।'

'हमारा उद्धार इस मनोवृत्ति से छुटकारा पाने में है, क्योंकि इसमें मृत्यु का अंश है। जीवन का सर्वोत्तम लक्षण 'परिवर्तन' है।'

'नियति यह चाहती है कि जो कल किया जा चुका है, उसे आज पहले से अच्छे ढंग से किया जाय। क्या मकान, क्या दूकान, क्या अन्न, क्या वस्त्र, सब ओर नये विचार दौड़ाये जायँ, नवीन सुविधाएँ ढूँढ़ी जायँ, और हमारा प्रत्येक कार्य नवीन एवं संशोधित संस्करण हो।'

'सच्चे विद्वान का यह लक्षण माना गया है कि उसे सदा यह अनुभव होता रहे कि

गत कल में अज्ञानी था, अर्थात् उसकी आज की समझ और कल की समझ में इतना स्पष्ट अन्तर हो कि कल की समझ मूर्खता जान पड़े।'

'वही काम किये जाना, जिसे पहले और कोई कर चुका है, विकास-क्रिया के रुक जाने का चिह्न है। होनहार मनुष्य यही सोचा करता है कि वर्तमान कार्य अतीत की अपेक्षा उत्तम रीति से हो। घर पहले की अपेक्षा सस्ते और अच्छे बनाये जायँ। भोजन अधिक और आसानी से पैदा किया जाय। यात्रा के लिए पहले से अच्छा और द्रुतगामी वाहन तैयार किया जाय।'

'आदर्श जाति वह है, जिसमें कोई किसी का अनुयायी नहीं, जिसके व्यक्ति प्रत्येक बुद्धिमान से शिक्षा लेते हैं, परन्तु विचार प्रत्येक का अपना-अपना होता है। सब कोई अपना ध्येय बनाता है और उस तक पहुँचने के लिए नवीन साधन सोचता है। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए नेता का चुनाव और उसके नेतृत्व से लाभ उठाना दूसरी बात है और अनुयायी होना दूसरी। अनुयायी के लिए कोई छुटकारा नहीं, परन्तु नेता को हम बदल सकते हैं। नेताओं को किसी विशेष कार्य की पूर्ति के लिए हम केवल अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं और उनका साथ निबाहने का वचन देते हैं। सारा जीवन अपनी भावनाओं-समेत उनके सिपुर्द नहीं करते।'

'जीवन का रूप ही बदल जाय, यदि हम अपने बालकों को यह साहस दें कि जीवन कोई कठिन वस्तु नहीं, उन्हें घर में बन्दी न बनाये रखें, उन्हें सदा अपनी उँगली न पकड़ाये रखें, साधारण-साधारण अपराधों पर उन्हें कोसने और पीटने न लग जायँ। वरन् उनसे यह आशा रखें कि वे स्वयं बलवान बनें, बाहर जायँ, कठिनाइयों का सामना करें और अपने लिए कोई उचित स्थान पैदा करें यदि कभी सहायता देने का अवसर आ जाय तो अच्छा, नहीं तो लड़के इस विस्तृत संसार में अपना जीवन-युद्ध आप लड़ें। निश्चय ही ऐसे लड़के अवश्य कुछ बनकर ही रहते हैं। लड़कों के विवाह का विचार बिलकुल छोड़ दें। तरुण होते ही कहा जाय कि वे अपना स्थान आप पैदा करें सम्पत्तियों और दायभागों की विषैली आशाओं से उनको रोगी न बना दिया जाय। लाड़ला पुत्र कोई गर्व की बात नहीं है। खुरदरे हाथोंवाला कमाऊ बेटा पिता की आँख का तारा और भुजा का बल है।'

'भारत के नवयुवक सबसे पहले यह विश्वास कर लें कि समय कठिन तो क्या, अतीव आशा-पूर्ण है। इससे अच्छा समय पहले कभी नहीं बीता। आजीविका के अवसर जितने आज हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। धनाढ्यता और ख्याति के साधन भी इससे अधिक पहले कभी नहीं हुए।'

'केवल निर्वाह कर सकना एक वीर मनुष्य के लिए सन्तोष का कारण नहीं हो सकता। केवल निर्वाह के लिए जीने से तो मरना भला है। सौ वर्ष के निर्वाह में उतनी सन्तुष्टि नहीं, जितनी कि एक वर्ष भर में कोई नवीन आविष्कार करने में है।'

'नया सोचने और करने की शक्ति केवल जन्मसिद्ध नहीं होती। यह उत्पन्न की जा सकती है और बढ़ाई जा सकती है।'

'अपने काम में निपुणता प्राप्त करो। एक-एक करके इसके प्रत्येक रहस्य को समझो। जब दिलचस्पी बढ़ेगी, तो इसके साथ नया सोचने और करने की शक्ति मिलेगी। सम्यक् रूप से आत्मज्ञान प्राप्त करो। अपनी शक्तियों और निर्बलताओं का मानचित्र तैयार करो। अपनी परि-

स्थिति का भली भाँति अध्ययन करो। अपने साथियों का निष्पक्ष होकर तख़मीना बनाओ। अपनी योजना के प्रत्येक अंश पर विचार करो। उसकी भली भाँति आलोचना करो।'

'नवीन कार्य करने का भाव उत्पन्न करो। अधिक उलझनों में न पड़ो। पत्नी और सन्तान का उत्तरदायित्व उस समय सिर पर लो, जब उसे भली भाँति निभा सको। कष्टों से विचलित न हो। विफलता का विचार मन में न आने दो। कभी एक जगह न खड़े रहो। आलसी न बनो। छोटी-छोटी चीज़ों से सन्तुष्ट न हो जाओ। छोटी उलझनों में न फँसे रहो। गम्भीर विचार और चिन्तन के साथ अपना दृष्टि-क्षेत्र विस्तृत करो, सोचो कि जर्मनी, इटली, जेकोस्लोवेकिया, फ़्रान्स, इंगलैण्ड और रूस कितने बड़े-बड़े प्रश्नों में निरत हैं।'

'यह अवश्य याद रखना चाहिये कि नयी सूझ और नये काम की कीमत मिल सकती है। कोई विचार संसार को दीजिये, कोई नवीन आविष्कार कीजिये, कोई नयी वस्तु बनाइये, कोई नया सुख-साधन उत्पन्न कीजिये, साहस करके काल्पनिक पक्की नालियों से बाहर निकल आइये, फिर देखिये आपके लिए अन्य असंख्य मार्ग खुले हैं। किसी के पद-चिह्नों पर मत चलो। साहसी बनकर अपना मार्ग खोजो, तुम भूलोगे नहीं। इस संसार में कोई भूल नहीं सकता। जिधर भी मुँह करोगे, उधर ही कोई वस्तु ढूँढ़ लोगे। कोलम्बस भारत की खोज में निकला था, परन्तु उलटी तरफ़ जा निकला। भारत न सही, अमेरिका मिल गया। निश्चय रखो, जिसकी खोज में निकले हो, यदि वह न मिलेगा, तो शायद उससे भी अच्छी वस्तु ढूँढ़ लोगे। यह एक भाग्य की बड़ी भारी टोकरी है। इसमें जो हाथ डालेगा, वह ख़ाली नहीं रहेगा।'

'साहस करो, साहस करो, नया सोचो, नया कार्य करो, नया मार्ग खोजो!'

हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू

[महात्मा गांधी ने २९ अक्तूबर के 'हरिजन-सेवक' में 'हिन्दुस्तानी हिन्दी और उर्दू' शीर्षक से एक अग्रलेख लिखा है। उस लेख को हम यहाँ उधृत करते हैं। पाठक देखेंगे कि गांधीजी का मत भी हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू के विषय में वही है जो हमारा है।—सं०]

'हिन्दी-उर्दू प्रश्न पर कटु विवाद चल पड़ा है और अभी भी चल रहा है, यह बड़े अफ़सोस की बात है। जहाँ तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, हिन्दुस्तानी ही वह भाषा है जिसे उसने अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क के लिए बाज़ाब्ता अखिल भारतीय भाषा स्वीकार किया है। वर्किंग कमेटी के हाल के प्रस्ताव से इस सम्बन्ध के सारे संदेह दूर हो जाने चाहियें। जिन कांग्रेसजनों को उत्तर हिन्दुस्तान में काम करना पड़ता है वे अगर दोनो लिपियों में हिन्दुस्तानी सीखने का कष्ट उठायें तो अपने सामान्य भाषा के लक्ष्य की ओर हम बहुत-कुछ आगे बढ़ जायेंगे। क्योंकि असली प्रतिस्पर्धा तो हिन्दी और उर्दू में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी में है। वही करारा मुक़ाबला है। मैं तो उसके लिए निश्चय ही बड़ा चिन्तित हूँ।

'हिन्दी-उर्दू-विवाद का कोई आधार नहीं है। हिन्दुस्तानी के बारे में कांग्रेस की जो धारणा है उसको अभी मूर्त्तरूप प्राप्त होना है। और ऐसा तब तक नहीं होगा जब तक कि कांग्रेस की कार्रवाई एकमात्र हिन्दुस्तानी में न होने लगेगी। कांग्रेसजनों के उपयोग के लिए कांग्रेस को हिन्दुस्तानी के कोश बनाने पड़ेंगे और एक ऐसा विभाग खोलना पड़ेगा जो उन कोशों के अलावा प्रयुक्त होनेवाले नये-नये शब्द मुहैया करेगा। काम यह बहुत बड़ा है, लेकिन अगर हमें दरहक़ीक़त सारे हिन्दुस्तान में प्रचलित ज़िंदा और बढ़ती हुई भाषा को अस्तित्व में लाना है तो ऐसा करना ही चाहिये। यह विभाग इस बात का निर्णय करेगा कि उर्दू या देवनागरी लिपियों में लिखे हुए प्रस्तुत साहित्य के ग्रन्थों और मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में से किन-किनको हिन्दुस्तानी का समझा जाय। यह एक गम्भीर काम है, जिसमें सफलता पाने के लिए बड़े परिश्रम की ज़रूरत है।

'हिन्दुस्तानी को मूर्त्तरूप देने के लिए हिन्दी और उर्दू को उसकी पोषक भाषाएँ समझना चाहिये। इसलिए कांग्रेसजनों को इन दोनो के प्रति अच्छे भाव रखने चाहियें और जहाँतक बन सके दोनो के ही सम्पर्क में रहना चाहिये।

'प्रान्तीय भाषाओं में समृद्ध एक उन्नतिशील राष्ट्र की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस हिन्दुस्तानी को अनेक पर्यायवाची शब्द मुहैया करने पड़ेंगे। बंगाल या दक्षिण के श्रोताओं के सामने जो हिन्दुस्तानी बोली जायगी, उसमें स्वभावतः संस्कृत से उत्पन्न शब्दों का प्राचुर्य होगा। वही भाषण जब पंजाब में किया जायगा तो उसमें अरबी-फ़ारसी से पैदा हुए शब्दों की काफ़ी मिलावट होगी। यही हाल उन श्रोताओं के सामने होगा, जिनमें मुसलमानों की ज़्यादा तादाद होगी, जो संस्कृत से बने हुए अनेक शब्दों को नहीं समझ सकते। इसलिए जिन्हें सारे हिन्दुस्तान में भाषण करने पड़ते हैं, उनका हिन्दुस्तानी का शब्द-भण्डार ऐसा होना चाहिये जिसकी मदद से भारत के सभी भागों के श्रोताओं के सामने वे बिना किसी हिचकिचाहट के बोल सकें। पण्डित मालवीयजी इस दिशा में सर्वोपरि हैं। मैं जानता हूँ कि श्रोता चाहे हिन्दी-भाषी हों या उर्दू बोलनेवाले उनको अपनी तरफ़ मुख़ातिब करने में उन्हें कभी मुश्किल नहीं पड़ती। किसी ठीक शब्द के लिए भटकते हुए मैंने उन्हें कभी नहीं पाया। यही बात बाबू भगवानदास की है, जो भाषण में विविध पर्यायवाची शब्दों का इस्तैमाल करते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनमें से कोई बेमौज़ूँ तो नहीं हो रहा है। मुसलमानों में, यह लिखते समय मुझे मौलाना मुहम्मदअली का ख़याल आता है, जिनके पास दोनो ही तरह के श्रोताओं के लिए काफ़ी विविधतापूर्ण शब्द-भण्डार था। बड़ौदा में नौकरी करते समय उन्होंने गुजराती की जो जानकारी हासिल की थी उससे उन्हें काफ़ी लाभ हुआ।

'कांग्रेस से स्वतंत्र रूप में, हिन्दी और उर्दू बराबर समृद्धि करती रहेगी। हिन्दी ज़्यादातर हिन्दुओं में और उर्दू मुसलमानों में महदूद रहेगी। तुलनात्मक रूप में कहें तो, दरहक़ीक़त हिन्दी जाननेवाले ऐसे मुसलमान बहुत कम हैं, जिन्हें उसका पंडित कहा जा सके, हालाँकि मैं उम्मीद यह करता हूँ कि हिन्दी-भाषी भागों में पैदा होनेवाले मुसलमानों की मादरी ज़बान हिन्दी ही है। हाँ, हिन्दू हज़ारों ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू है और उनमें से सैकड़ों ऐसे भी हैं, जिन्हें उर्दू का पण्डित कहा जा सकता है। पण्डित मोतीलालजी ऐसे ही थे। डा० तेज बहादुर सप्रू को भी हम ले सकते हैं। ऐसे उदाहरण और भी बहुत-से मिल सकते हैं। इसलिए

कोई वजह नहीं कि इन दो बहिनों में कोई झगड़ा या कटु प्रतिस्पर्धा हो। हाँ, प्रेमभरी प्रतिस्पर्धा तो हमेशा ही होनी चाहिये।

'मेरे पास जो कुछ विवरण आया है उस पर से ऐसा मालूम पड़ता है कि मौलवी साहब अब्दुलहक़ के योग्यतापूर्ण नेतृत्व में उसमानिया यूनिवर्सिटी उर्दू की बड़ी सेवा कर रही है। यूनिवर्सिटी में उर्दू का एक बहुत बड़ा कोश है। साइंस की भी किताबें उर्दू में तैयार की गई हैं और तैयार की जा रही हैं। और चूँकि उस यूनिवर्सिटी में ईमानदारी के साथ उर्दू में शिक्षा दी जा रही है, इसलिए उसकी तरक़्क़ी होनी ही चाहिये। अकारण तास्सुब की वजह से अगर हमारे हिन्दीभाषी हिन्दू वहाँ के बढ़ते हुए साहित्य से लाभ न उठायें तो यह उनका क़सूर है। लेकिन इस तास्सुब का अन्त तो निश्चित है, क्योंकि दोनो जातियों के बीच की मौजूदा नाइत्तफ़ाक़ी सारी बीमारियों की भाँति अस्थायी ही है। अच्छा हो या बुरा, पर ये दोनो जातियाँ तो हिन्दुस्तान की हो चुकी हैं; वे एक-दूसरे की पड़ोसी हैं और इसी देश की संतान हैं। यहीं वे पैदा हुई हैं और यहीं मरेंगी। इसलिए ख़ुद-ब-ख़ुद ही वे शान्ति से न रहने लगें तो कुदरत इसके लिए उन्हें मज़बूर करेगी।

'और जो हाल हिन्दुओं का है वही मुसलमानों का है। मुसलमान अगर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा के विनम्र परिश्रम के फलों का उपयोग न करें, तो यह उनका क़सूर है। यह बड़े दुःख की बात है कि सम्मेलन ने हिन्दी की यह व्याख्या करके कि वह भाषा जो उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमानों द्वारा बोली जाती है और उर्दू या देवनागरी लिपियों में लिखी जा सकती है (अपनी ओर से) जो बड़ा क़दम उठाया है उसकी मुसलमानों ने फ़ख़ और ख़ुशी के साथ दाद नहीं दी है। इस तरह, जहाँ तक इस व्याख्या का सम्बन्ध है, कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी की जो व्याख्या की है, उसका इससे मेल बैठ जाता है। यह मैं जानता हूँ कि ऐसे भी कुछ लोग हैं जो इस बात का सपना देखते हैं कि यहाँ ख़ाली उर्दू या ख़ाली हिन्दी ही रहेगी। लेकिन मेरा ख़याल है कि यह अपवित्र सपना है और सदा सपना ही रहेगा। इस्लाम की अपनी ख़ास संस्कृति है, इसी तरह हिन्दू-धर्म की भी अपनी संस्कृति है। भावी भारत में इन दोनो संस्कृतियों का पूर्ण और सुखद सम्मिश्रण रहेगा। जब वह शुभ दिन आयेगा, तब हिन्दू-मुसलमानों की सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी होगी। लेकिन उर्दू फिर भी अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता के साथ फूलती-फलती रहेगी और हिन्दी अपने संस्कृत शब्दों के भारी भण्डार के साथ फूले-फलेगी। शिबली ने जिस भाषा में लिखा है, वह मर नहीं सकती, उसी तरह तुलसीदास और सूरदास की भाषा भी नहीं मर सकती। लेकिन उन दोनो की अच्छाइयाँ हिन्दुस्तानी ज़बान से बिलकुल घुलमिल जायेंगी।

औद्योगिक अन्योन्याश्रय

['विशाल भारत' के गान्धी-अंक में अमेरिकन लेखिका श्रीमती एडा बेथून की एक सुन्दर रचना प्रकाशित हुई है। हम पाठकों के गम्भीर विचार के लिए उसे यहाँ उद्धृत करते हैं। —सं०]

— १ —

मानव की मौलिक आवश्यकताएँ हैं—
वायु
जल और खाद्य
प्रकाश और ताप
घर।

—२—

बिना मूल्य वायु
सभी मानवों को प्राप्त है।
देहातियों और वन-वासियों को
ताल या कुएँ या नदी से उसे ढोने से
जल भी बिना मूल्य मिलता है।
देहातियों और वन-वासियों को
अपनी जोती हुई भूमि की उपज से
खाद्य भी बिना मूल्य मिलता है।
देहातियों और वन-वासियों को
पृथ्वी पर बिखरी हुई लकड़ी बीन लेने से
ताप भी बिना मूल्य मिलता है।
देहातियों और वन-वासियों को
ईश्वर की दी हुई धूप भी
और अपने परिश्रम से निकाले हुए तेल से
दीप का प्रकाश भी बिना मूल्य मिलता है।
देहातियों और वन-वासियों को
अपने हाथों अपनी झोपड़ी छा लेने से
अपना घर भी बिना किराये के मिल जाता है।
देहातियों और वन-वासियों को
परिश्रम बहुत करना पड़ता है,
किन्तु अपनी आवश्यकताओं और ऋद्धि का
उन्हें मूल्य नहीं देना पड़ता।

—३—

शहर के निवासियों को
वायु बिना मोल मिलती है
मुफ़्त, किन्तु स्वच्छ नहीं—
पर शहर के निवासियों को
जल बिना मोल नहीं मिलता
वह उन्हें नलों द्वारा बाहर से लाना पड़ता है;
उसके दाम लगते हैं।
और शहर के निवासियों को
खाद्य बिना मोल नहीं मिलता
वह उन्हें जहाजों-रेलों द्वारा बाहर से लाना
पड़ता है, उसके दाम लगते हैं।
और शहर के निवासियों को
ताप बिना मोल नहीं मिलता
उन्हें कलों द्वारा निकाला हुआ कोयला
बाहर से लाना पड़ता है,
उसके दाम लगते हैं।
और शहर के निवासियों को
ईश्वर की दी हुई धूप दुर्लभ है,
उन्हें मशीनों द्वारा निकली हुई बिजली
बाहर से लानी पड़ती है,
उसके दाम लगते हैं।
और शहर के निवासियों को
घर-किराये माफ़ नहीं होते
उन्हें मकान-मालिक से भाड़े पर घर लेना
होता है, उसके भी दाम लगते हैं।
अतः शहर के निवासियों को भी
परिश्रम बहुत करना पड़ता है
किन्तु अपनी आवश्यकताओं के लिए नहीं,
पैसे के लिए
क्योंकि अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए
उन्हें मूल्य देना पड़ता है।

—४—

जब अधिकाधिक नगर-वासी
बड़े शहरों में रहने लगते हैं तब
बड़े शहर और भी बड़े हो जाते हैं।
जब बड़े शहर और भी बड़े हो जाते हैं
तब उन्हें आवश्यकता होती है
और अधिक जल की
और अधिक खाद्य की
और अधिक ईंधन की
और अधिक विद्युत की
और अधिक घरों की।
जब बड़े शहरों की आवश्यकताएँ
बहुत बढ़ जाती हैं
तब उनकी पूर्तियों का—
जल का
खाद्य का
ईंधन का

विद्युत का
गृह-निर्माण का
केन्द्रीकरण होने लगता है
वे एकाधिकार में आने लगती हैं।

जब बड़े शहरों के निवासी
अपनी सब आवश्यकताएँ
एकाधिकारियों से पूरी करने लगते हैं,
तब वे उन कुछ-एक एकाधिकारियों के
अधीन हो जाते हैं।

जब बड़े शहरों के निवासी
कुछ-एक व्यक्तियों के अधीन हो जाते हैं
तब वे परवश बन्दी बन जाते हैं
और उनके बड़े शहर—
कारागार बन जाते हैं।

बड़े शहरों के निवासियों के
जीवन पर अधिकार रखनेवाले थोड़े-से व्यक्ति
यदि अपना काम छोड़ दें
तो शहर-निवासी अपने कारावास में
घुट-घुटकर मर जायँगे।

—५—

जब बाढ़ आती है
तब आयात बन्द हो जाता है—
बड़े शहर के निवासी अपने कारावास में
मरते हैं।

जब लड़ाई आती है
तब आयात बन्द हो जाता है—
बड़े शहर के निवासी अपने कारावास में
मरते हैं।

जब क्रान्ति आती है
तब अयात बन्द हो जाता है—
बड़े शहर के निवासी अपने कारावास में
मरते हैं।

मरने से पहले
बड़े नगरों के निवासी
एक बार बड़े नगर से
भाग जाने का यत्न करेंगे।
भीषण भगदड़ मचेगी।

किन्तु जब
यातायात भी बन्द होगा
तब बड़े शहरों के सब निवासी
एक साथ ही
मरेंगे।

—६—

इस गड़बड़ की अवस्था का नाम है
'औद्योगिक अन्योन्याश्रय'
और वह उससे भी कहीं अधिक त्रासदायक है
जितनी त्रासदायक कि इसके
नाम की ध्वनि है।



मधूलिका—लेखक, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'। प्रकाशक, साधना-मंदिर, प्रयाग, १६३८। पृष्ठ-संख्या १८३, मूल्य २), सजिल्द।

किसी भूले चिरपरिचित गीत की प्रतिध्वनि-सी इस 'मधूलिका' की तान और लय है। यौवन पथिक की आशा, अभिलाषा, उन्माद और उसका चिरसंचित प्यार—विश्व ने सदा से ही यह गीत सुने हैं। आज फिर बड़ी मीठी भाषा में बड़ी तन्मयता और सच्चाई से भरे वे गीत हम सुन रहे हैं :

'मैं वन का क्रीड़ातुर पंछी
बोल उठा मधुवन में
छलक उठा प्राणों का नव
उद्दीपन विजन-विजन में।'

युवा कवि के मन की प्यास, चाह, उसका अनन्त विद्रोह और जीवन के प्रति असंतोष—गीत में यह तो हम सदा ही सुनते रहेंगे। 'अंचल'जी ने 'दूसरे के 'स्वर' को अपने में कहीं भी भरने की चेष्टा नहीं की'—इस मंतव्य से हम सहमत नहीं। कभी-कभी 'मधूलिका' पढ़ते-पढ़ते और 'अंचल'जी की सच्ची काव्य-प्रेरणा समझते हुए भी हमारे मन में संदेह हो उठता है कि कहीं वह पुरानी ही बात तो नहीं दुहरा रहे हैं :

'आह रे उन्मत्त माँझी ! आज लहरों से निमन्त्रण—'

'अरे न पूछो प्राण लिये
लेती है साक़ीबाला—'

अथवा 'ये काले-काले बादल,
यह सावन की मधुशाला
यह उद्दीपन पुलक कम्प की
छल-छल मानिक हाला।

ऊँचा साहित्य तो प्रगतिशील होता है। पीछे मुड़कर देखना उसे अभीष्ट नहीं।

'अंचल'जी में उच्च कवि के हमें सब गुण मिले। आपकी अनेक कविता ऊँची उठी हैं। 'तृष्णा', 'आत्म-प्रलय', 'टूटते हुए तारे के प्रति', 'सखी', 'आज मरण की ओर' आदि। अनेक पंक्ति स्मृति-पट पर अंकित हो जाती हैं :

'उधर जलाई सन्ध्या ने
नभ में सप्तर्षि दीपमाला।'

अथवा 'दुख के काले बादल पर
सुख की चाँदी की रेखा।'

विचार-प्रौढ़ता और गंभीर चिन्तन भी हमें आपके काव्य में मिले। आपकी कविता केवल हृदय का उच्छ्वास-मात्र नहीं।

जीवन-वेदना से विकल होकर आप कहते हैं :

'यह जीवन तो एक पाप है
अभिशापों की छाया
जहाँ वासना-सी फैली है
लोलुप उर की माया—'

'आज मरण की ओर' बहुत गंभीर और क्रान्तिकारी भावों से भरी कविता है।

'महागमन की वेला आई आज महा आदेश मिला
जठरानल में भस्म तृषा को विप्लववाहन वेश मिला।'

अपना परिचय आपने स्वयं ही दिया है:

'मैं इच्छा के मरुपथ का यात्री चंचल'—यही आपके काव्य में प्रधान भाव है।

'मधूलिका' के कवि से हिन्दी को बहुत आशा हो सकती है। हम इस सुन्दर और आकर्षक पुस्तिका का उत्साह से स्वागत करते हैं।

आगरा। प्रकाशचन्द्र गुप्त।

× × ×

शोभा—लेखक, इन्द्र वसावड़ा। प्रकाशक—शांतिलाल छोटालाल परीख, नव सर्जन ग्रन्थावली पानकोरनाका, अहमदाबाद; १९३८। मूल्य २॥), सजिल्द। पृष्ठ संख्या २१६।

'घर की राह' के लेखक की मातृ-भाषा गुजराती है। पर अपने पहले ही हिन्दी उपन्यास में वह कितना सफल हुआ है, यह बताने की आज आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसी लेखक के दूसरे हिन्दी उपन्यास 'शोभा' का हम हार्दिक स्वागत करते हैं।

श्री इन्द्रवदन उमियाशंकर वसावड़ा जीवन के एक सफल चित्रकार हैं। उनकी सफलता चित्र के प्रत्येक भाग के सौंदर्य पर निर्भर नहीं करती, न ही वह उनके पूरे चित्र के मन पर पड़ने वाले प्रभाव के योग पर निर्भर करती है—वह तो उस चित्र में चित्रित किसी कोमल और मधुर अतिसुंदर और भावमय, चकित-विह्वल कर देनेवाले स्थल पर निर्भर करती है। वह स्थल भुलाये नहीं भूलता और उसकी याद एक अर्से तक ताज़ा रहती है। यह कथन संपूर्णतया श्री वसावड़ा के पक्ष में नहीं है। पर जहाँ बल है, वहीं दौर्बल्य भी है।

'शोभा' को उपन्यास कहना अनुचित मालूम होता है। पर अन्यथा क्या कहें, प्रश्न उठता है। 'शोभा' में जीवन के समीपतम छोटे-छोटे शब्दचित्र हैं। कहानी भी किसी हद तक प्रारंभ से लेकर अंत तक है। पर वह बहुत कमज़ोर है—यहाँ तक कि उसका अस्तित्व भी इसको से खाली नहीं है। कहानी के विचार को, इसलिए स्थगित रखना होगा। फिर 'शोभा' में क्या है?

'शोभा' में शोभा की ज्वलंत आत्मा है—जैसे पींजरे में बन्द मोहक पंछी। उसमें शोभा की जीती-जागती तसवीर है—नारी का चरम विकास है। दया और प्रेम की मूर्ति भावी माता। 'शोभा' में अनिल है—तपस्वी और महान और मनुष्य : पीड़ाकुल और स्नेहमय। 'शोभा'

में नीला और करुणा हैं, जिन्हें लेखक ने उनके यौन-संबंध से पृथक करके पाठक को पहचानना सिखाया है। वे उसी प्रकार अनिल की मित्र हैं, जैसे सुबोध, रणजीत, या हरखू या उसकी अपनी बहन शांति। उनके स्त्री होने के कारण ही उनके अनिल के संपर्क में आते ही जो विचार पाठक के मन में स्वभाववशात् आ जाते हैं, उनसे लेखक ने उन्हें इतनी दूर हटाया है कि उनकी कल्पना भी दुष्कर हो जाती है। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है। यह एक आदर्श है—अनुकरणीय और स्तुत्य। और फिर शांति, विनोद, अरुण या मोटेराम भी पाठक के मस्तिष्क में कम जीवित नहीं हैं। 'शोभा' में इस प्रकार की जीती-जागती तसवीरें हैं, जिन्हें भूल सकना कठिन है।

'शोभा' शोकपर्यवसायी है। शोभा का उत्सर्ग महान है। वह हमें ऊपर उठाता है। यही विकासोन्मुख प्रवृत्तियाँ अच्छे चरित्र ढालती हैं। पति के अत्याचार को झेलकर वह उफ़ नहीं करती—यह भारतीय नारीत्व का प्रतीक है : यहाँ हमें शरत् के अन्नदा दीदी का स्मरण हो आता है और उसके उस सँपेरे का। शोभा भारतीय है—प्रथम से अन्ततः।

श्री वसावड़ा की भाषा प्रशंसनीय है locol Colour (स्थानीय प्रभाव) उनमें बड़ी सफलता से मिश्रित किया गया है। पर उसमें हिंदी की दृष्टि से अक्षम्य भूलें हैं—गुजराती प्रयोग के अनुसार तो वे ठीक हैं। इस विषय में उनको यही सलाह दी जा सकती है कि उसे किसी को दिखाकर सुधार करा लें। 'शोभा' के विरुद्ध और भी शिकायतें हैं। उसका भी खण्ड १ यदि जितना लंबा है, उसका आधा होता तो अधिक उपयुक्त और प्रभावकारी होता। शुरू के हिस्से में व्यर्थ के बहुत-से लंबे दृश्य हैं। छापे की भूलों ने जितना अनर्थ इस पुस्तक के साथ किया है, बधिक की कुन्द छुरी भी उतना अनर्थ अपने शिकार के साथ नहीं करती! इन पंक्तियों के लेखक के साथ यह समस्या रही है कि वह इन भूलों के बावजूद भी कैसे उसमें रस ले सके। वह तो इनको सुधारने का काम मुहब्बत की मजदूरी पर करने को तैयार है यदि उसके प्रकाशक और लेखक इसे स्वीकार करें। वह चाहता है कि इस पुस्तक का जनता में ख़ूब प्रचार हो।

श्री रामनाथलाल सुमन की भूमिका से भी 'शोभा' शोभित है। मूल्य उचित है।

काशी। 'सुशील'।

× × ×

विश्वामित्र—लेखक उदयशंकर भट्ट। प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस। १९३८। मूल्य ॥)।

हिन्दी नाट्य-साहित्य की कमी आज-कल कुछ हद तक पूरी हो रही है इसका हमें हर्ष है। मासिक पत्रिकाओं में भी इधर लगातार ही एकांकी निकल रहे हैं।

'विश्वामित्र' को 'गीति-नाट्य' कहा गया है। गीती-नाट्य अभिनय की अपेक्षा पढ़ने की ही चीज़ है। 'शैली' आदि कवियों के नाटक भी आज तक पढ़े ही जाते हैं।

'विश्वामित्र' एक प्रकार का रूपक है। हमारी संस्कृति में नर-नारी के परस्पर संघर्ष का यहाँ संकेत है। 'जहाँ नर ने आदिकाल से अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए विकास के नये-नये तरीक़े इख़्तियार किये हैं, वहाँ नारी ने केवल अपने सौन्दर्य, आकर्षण, प्रेम, विश्वास से अपनी रक्षा की है।'

अदम्य नारीत्व की प्रतिनिधि उर्वशी है :

'मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा।
क्यों न आज तक कभी 'इन्द्र' नारी हुई
है उसमें किस भाव और बल की कमी?'

'जीवन में यदि कमज़ोरियों का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो वह विश्वामित्र में प्रकट हुई है। मेनका आदि से अन्त तक नारी है, नारीत्व में ही उसका विकास है, मातृत्व में उसकी अभिव्यक्ति।'

'विश्वामित्र' में निरन्तर ही मीठे संगीत का प्राधान्य है। मेनका के गीतों में वह बड़े मधुर रूप में प्रकट हुआ है।

'मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।
तार गर्जन मन्द्र गर्जन
दामिनी के हाथ निज घन
कर रहे अर्पित जलद तन
नाच देता पवन ताली
'मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

नाट्य की दृष्टि से कथानक का प्रवाह धीमा है और पात्रों के वक्तव्य अधिकतर लम्बे हैं। 'विश्वामित्र' को हम विश्वामित्र, मेनका और उर्वशी का नर-नारी के परस्पर संबंध पर एक संवादमात्र भी कह सकते हैं।

पुस्तिका को इतने कम मूल्य पर निकालने के लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

आगरा। प्रकाशचन्द्र गुप्त।

× × ×

विशाल भारत—गान्धी अङ्क—महात्मा गांधी की ७० वीं वर्षगांठ के अवसर पर सहयोगी 'विशाल भारत' ने गान्धी-अङ्क निकालकर मानवता के उस महान सेवक को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। और यह श्रद्धाञ्जलि सच्चे अर्थों में श्रद्धाञ्जलि है। निरी भावुकता से भरी बातें उसमें नहीं हैं। भक्तों ने अपने दृष्टि कोण से गान्धी-धर्म (गान्धीवाद और नीति) की विवेचना की है तो उसमें आस्था न रखनेवाले और एक मात्र उसी के द्वारा देश का कल्याण न समझनेवालों ने भी उसकी समीक्षा की है। और गान्धी को जब भी कोई श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जाय, यह ज़रूरी है कि उन पर दोनो दृष्टि-कोणों से विचार किया जाय। क्योंकि गान्धी आज व्यक्ति न होकर एक संस्था हैं; एक धर्म हैं और 'एक ऐतिहासिक घटना हैं'। उनके नेतृत्व के इतने लम्बे वर्षों बाद यह जरूरी भी है कि उनकी पूरी-पूरी समीक्षा हो। 'विशाल भारत' ने इसे महसूस किया है और उसका यह प्रयत्न स्तुत्य है। इसमें हम गान्धी (व्यक्ति और धर्म) का पूरा विश्लेषण पाते हैं और उसे समझने के लिए यह सहायक है, भविष्य में भी गान्धी-धर्म के जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए यह गाईड का काम करता रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

श्री जैनेन्द्रकुमार अपने 'गान्धी-नीति' लेख में बहुत ही सहजगम्य हो गये हैं। यह एक शुभ चिह्न है। 'गान्धी-नीति' का उनका विश्लेषण जिन तीन बातों पर आधार-भूत है, वे

सही है। कॉमेरड रॉय ने 'अहिंसावाद' का विश्लेषण जिस समाजिक-राजनैतिक परिणाम पर किया है, वह भी एक आवश्यक दृष्टिकोण है। उनके लेख का यह उद्धरण विचारणीय है—जब कांग्रेसी सरकार कारखाने पर धरना देनेवाले मज़दूरों को हटाने के लिए पुलिस भेजेगी, तब वह अहिंसा की रक्षा के नाम पर हिंसा कर्म की आज्ञा देगी, यह तो स्पष्ट ही है। किसी भीड़ को तितर-बितर करने के लिए पुलिस को भेजने का अर्थ होता है, उसे सभी साधनों के—आवश्यक होने पर गोली चलाने के—प्रयोग का अधिकार देना।

गान्धी को लेकर जो परस्पर-विरोध है उसके कारण की व्याख्या मिलती है 'गान्धीवाद : राजनीतिक और आर्थिक वक्तव्य' के अन्तर्गत। 'महात्माजी इसी प्रकार दो विरोधी शक्तियों द्वारा ही अपनी स्थिति पर क़ायम हैं। शक्तियों में जितनी ही अधिक समानता होगी, संतुलन उतना ही अधिक स्थिर और चिरकालिक होगा। महात्माजी की राजनैतिक सत्ता दो ही कारणों से हिल सकती है—या तो कोई बाहरी (अन्तर्राष्ट्रीय) घटना या परिस्थिति संतुलन को भंग कर दे, या भीतर ही एक शक्ति दूसरी पर हावी हो जाय। जहाँ तक दीखता है, सम्भावना यही है कि निम्न श्रेणियों का क्रान्तिकारी पुनः संगठन ही देश को नई प्रगति और स्वाधीनता दे सकता है।'

'महात्मा गान्धी', 'मानव गान्धी', 'अजात शत्रु धर्मवीर', 'बापू' आदि श्रद्धा और भक्ति से ओत-प्रोत रचनायें हैं। 'अदम्य आत्मा' एक सफल चित्र है। 'अहिंसा बनाम केन्द्रित उद्योग' आर्थिक दृष्टि से लिखा गया है और विचार करने की एक नई दिशा देता है। 'महात्माजी तथा गुजराती गद्य' और 'साहित्य पर गान्धी-युग का प्रभाव' लेख के बिना गान्धी-अंक अपूर्ण ही रहता। 'गान्धी-नेतृत्व : एक विश्लेषण' विरोधी दृष्टि से लिखा गया एक सफल विश्लेषण है।

'हिन्दी प्रचार की समस्या', 'औद्योगिक अन्योन्याश्रय' 'हिंसात्मक अहिंसा या अहिंसात्मक हिंसा ?' काफ़ी ऊँची उठी हैं।

फिर भी 'विशाल भारत' से जो आशा इस मामले में की जाय, वह पूरी न हो पाई। हम रवि बाबू का कोई नया ही लेख इस अंक में देखना चाहते थे। काका साहब और किशोर लाल भाई से और अधिक अधिकारी विवेचना की आशा थी। कुल मिलाकर यह एक स्तुत्य प्रयत्न है; और सहयोगी बधाई का पात्र है।

श्यामू सन्यासी।

काशी, १२ : ११ : '३८

× × ×

ज्योत्स्ना (मराठी)— पर प्रान्तीय साहित्यिक गति-विधि का निरीक्षण और मराठी पाठकों को उसका परिचय 'ज्योत्स्ना' का उद्देश्य है। पिछले ढाई वर्षों से यह पत्र मराठी पाठकों की सेवा करता आ रहा है। इसके सम्पादक श्री वि० स० खांडेकर, मराठी के श्रेष्ठ आलोचक और सिद्धहस्त कहानी लेखक हैं। इसका 'पर-प्रांतीय वाङ्मय' स्तम्भ काफ़ी जोरदार है। न केवल मराठी अपितु गुजराती भाषा में भी उसका काफी आदर-मान है। 'साहित्य आणि समालोचन' के अन्तर्गत अधिकारी समालोचकों की नवीन मराठी पुस्तकों पर मार्मिक टिप्पणियाँ और आलोचनाएँ रहती हैं।

दीपावली के अवसर पर प्रस्तुत पत्र ने अपना लघु कथा, कविता, और लघु निबन्ध का एक विशेषांक निकाला है। प्रो० प्रभाकर माचवे, श्री त्र्यं० नी० पंडित आदि की कहानियाँ

काफ़ी सुन्दर बन पड़ी हैं। लघु निबन्धवाला भाग इतना सुन्दर नहीं हो सका ; और निबन्धों की विरलता बेहद खटकती है। कई दृष्टियों से यह अंक संग्रहणीय है। हम सहयोगी का एक उज्ज्वल भविष्य के लिए अभिनन्दन करते हैं।

काशी, १२:११:'३८ श्यामू सन्यासी

× × ×

बाल-प्रपंच (कन्नड़) लेखक श्री शिवराम कारंत, प्रकाशक श्री निट्टूर श्री निवासराव, सत्यशोधन प्रकटनालय, किला, बेंगलोर सिटी। १/४ के १८०० पृष्ठ।

कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि दिन-दूनी रात चौगुनी हो रही है। कथा-साहित्य, नाटक साहित्य, विज्ञान-साहित्य आदि से कन्नड़-साहित्य लबालब भरने लगा है। कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि में श्रीकारन्त ने अपना काफ़ी हाथ बँटाया है श्रीकारन्तजी उदीयमान तरुण लेखक हैं। आधुनिक कन्नड़ साहित्य में उनका एक विशिष्ट स्थान है। उनकी कृतियाँ नये विचारों की निधि हैं। बाल-प्रपंच भी उनकी सुन्दर रचना है। इसमें अनेकों विभाग हैं—जैसे प्रकृति-विज्ञान, मनुष्य और निवास-स्थान, क्रीड़ावन, भौतिक विज्ञान, समाज-विज्ञान, विश्वकर्मों का साहस, संस्कृति इतिहास, साहित्य और कला आदि जो मैसूर, मद्रास, बंबई आदि विश्वविद्यालयों के उन विषयों के निष्णात प्रोफ़ेसरों द्वारा संशोधित हैं। 'बाल-प्रपंच' में कई एकरंगे, तिरंगे सुन्दर चित्र हैं जिनसे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। श्रीनिट्टूर श्रीनिवासराव ने इसे प्रकाशित कर कन्नड़-साहित्य की अपार सेवा की है. जो अत्यंत सराहनीय है। [हिन्दी में भी 'बाल-प्रपंच' शीघ्र छपनेवाला है। अनुवादक श्रीगुरुनाथ जोशी, शास्त्री (काशी विद्यापीठ) हैं।] उक्त पुस्तक तीन भागों में सुन्दर काग़ज़ पर छपी है। पुस्तक देखने और पढ़ने से दुनिया का ज्ञान संक्षेप में हो जाता है। इतने ही ज्ञान से 'दुनिया की उन्नति कैसे हुई और हो रही है' का पता लगाकर उससे काफ़ी लाभ उठाकर जीवन को आदर्शमय, सुखमय बना सकते हैं। पुस्तक केवल लड़कों के लिए ही नहीं है, उनके लिए भी है जो ज्ञान की दृष्टि से बालक हैं, भले ही ऊपरी दृष्टि से बड़े हों। स्त्रियाँ भी इससे लाभ उठाकर अपने प्यारे पुत्रों का ज्ञान बढ़ा सकती हैं। इसका आदर भी कर्नाटक में ख़ूब हो रहा है।

बेंगलोर। गुरुनाथ जोशी

× × ×

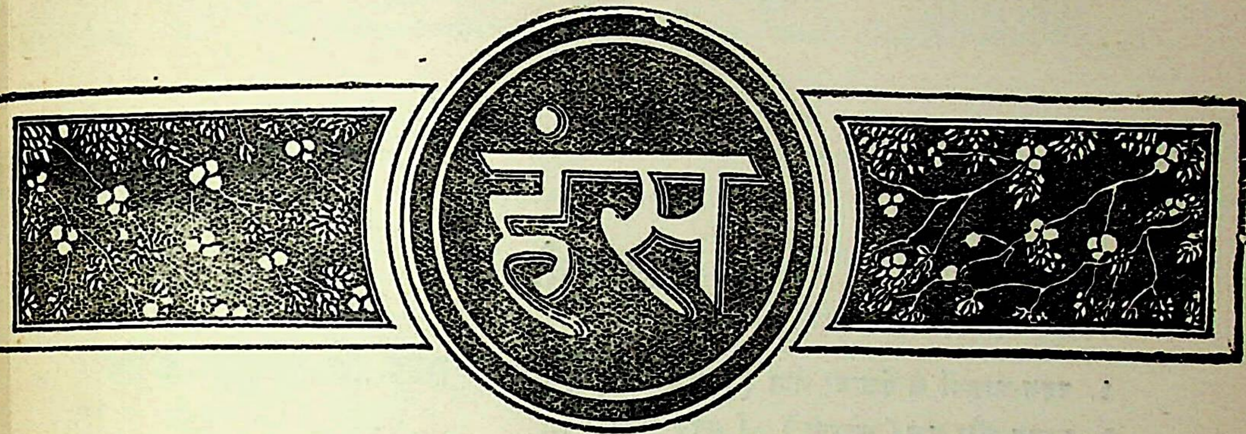
कन्नड़नुडि (कन्नड़ साप्ताहिक पत्रिका) संपादक श्री० अ० न० कृष्णराव, प्रकाशक, कर्नाटक साहित्य पारेल, बेंगलोर।—यह पत्रिका 'हरिजन' पत्रिका के आकार के ८ पृष्ठ की है। मूल्य एक प्रति का २ पैसा है।

यह पत्रिका हाल में शुरू हुई है। इसका उद्देश कन्नड़ भाषा-प्रचार है। कर्नाटक के साहित्यज्ञ इसमें लेख आदि लिखते रहते हैं। कन्नड़-साहित्य के साथ संबंध रखनेवाली ख़बरें भी छपती हैं। इसमें कुछ लेख-मालाएँ शुरू हुई हैं, जिनमें कर्नाटक के साहित्यकार, कला-कोविदों का परिचय दिया जाता है, उन्हें रेखाचित्र कहा जा सकता है।

कर्नाटक-साहित्य-परिषद की तरह अन्य भाषा की साहित्य-परिषदें भी इस तरह की पत्रिका निकाल कर अपनी भाषा और साहित्य का प्रचार तथा उन्नति कर सकती हैं।

बेंगलोर। गुरुनाथ जोशी

[*Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P. and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions.*]



आन्तरप्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय

●

वर्ष ६ : अंक ३ :: दिसम्बर, १९३८ : अगहन, १९९५



वार्षिक मूल्य ६)
अर्द्ध-वार्षिक मूल्य ३॥)
एक अंक का आठ आना

विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ८)
" ७½ " " ५)

लेख-सूची



दिसम्बर, १९३८ वर्ष—९ : अंक—३ अगहन, १९९५

बहन-भाइयों के पंजाबी गीत

[सुदर्शन]

पंजाबी भाषा में बहन-भाइयों के गीतों का जो अक्षय भंडार है, उसकी तुलना भारत की किसी दूसरी भाषा से शायद ही की जा सकती हो ! उर्दू शायरी अधिकतर हुस्न और इश्क़ की शायरी है। यहाँ प्रेम और जोबन के विषयों की सदा-सब्ज़ कविताएँ आपको पग-पग पर मिलेंगी। प्राचीन कवियों की रचनाओं का अधिकांश भाग 'ग़ज़ल' में ही मिलता है, जिसके अर्थ कोष में अपने माशूक़ से बात-चीत करने के हैं। मुशायरों में इधर किसी ने इश्क़ के विषय को छोड़कर किसी दूसरी चीज़ पर ज़बान खोली, उधर यार लोगों ने धीरे-धीरे बातें करनी आरम्भ कर दीं। उर्दू शायरी के मधुवन से अगर 'गुलो बुलबुल', 'शमअ परवाना', 'हिज्रो विसाल,' और 'तीरो नश्तर' के पौधों को निकाल दिया जाय तो यह मधुवन केवल मरुथल बनकर रह जाय।

प्राचीन हिन्दी कविता का भी यही हाल है। उर्दू में अगर 'चश्मे यार' की हुकूमत है, तो हिन्दी में नायिका-भेद का राज्य है। वहाँ भी नयनों के बाण चलते हैं। वहाँ भी रात के अन्धकार में अभिसारिका अपने पराये प्रियतम (?) से मिलने के लिए दौड़ी जाती है . वहाँ भी फूलों की छाया के तले विरह की वेदना तड़पती है। और आधुनिक हिन्दी-कविता भी अभी प्रियतम-प्रेयसी के जाल से मुक्त नहीं हो सकी। जब बैठते हैं, वही रोना शुरू कर देते हैं। पर पंजाबी भाषा का हाल ऐसा नहीं है। यहाँ आपको ननद-भाभी के, मा-बेटी के, बहन-भाई के ऐसे रंगीन और वेदना-पूर्ण गीत मिलेंगे कि आपकी तबीयत हरी हो जाय। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाबी भाषा में भी इश्क़-प्रेम और उसके भावों से सने हुए गीत मिलते हैं, पर उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं कि और विषयों पर छा जायँ। और सारी भाषा में समा जायँ।

जिस समय ये गीत तैयार हुए, उस समय में पंजाबी लड़की का जीवन आज-कल से भिन्न था। सीधा-सादा एक ही लीक पर चलनेवाला जीवन था। पैदा हुई—खेली-कूदी। जवान हुई—तो ब्याही गई। पति परदेस चला गया, वधू सास के पास रह गई। सास-श्वसुर अत्यन्त क्रोधी, तरह-तरह के अत्याचार करते थे। नई नवेली बेज़बान बहू आटा पीसती थी, चरख़ा कातती थी और 'रो-रोकर दिन गुज़ारती' थी। इन विरह और वेदना के दिनों में या उसे

परदेशी प्रियतम याद आता था, या अपने माता-पिता। प्रियतम को खुले बन्दों याद करना कठिन था। सास और ननद कहतीं—बेशरम हो गई है। ग़रीब के पास दिल के फफोले फोड़ने का एक ही साधन था। कल्पना के एकान्त-संसार में अपने भाई को अपने पास बुलाती थी, और उससे अपने जीवन की विपत्तियों का हाल बयान करती थी। और जब अवसर मिलता, तो कभी-कभी पति से भी दो बोल बोल लेती थी। इस तरह ये गीत बने। गीतों में न शब्द-योजना है, न पद्य-विन्यास; पर इनमें दुखी बहन के दिल का दुःख-दर्द भरा हुआ है। नारी ने जब देखा कि सरस्वती का कोई बेटा उसके दिल की पुकार नहीं सुनता, न कोई आँखोंवाला उसकी आँख के मीठे-कड़वे आँसू देखता है तो उसने अपनी ही दुनिया और अपनी ही भाषा के टूटे-फूटे शब्द चुने, और उनमें अपने सुलगते हुए दिल की आग लपेट दी। और यह वह चीज़ है, जो बड़े कवियों की रचना में भी नहीं पाई जाती।

× × ×

मेरी उँगली चीरी ना कोई दस्सो दारू
वीर आउन्दा जो सुनिया, मेरी उँगली हच्छी
वीरा कनक मँगानिआँ, साढ़े सत मन
वीरा पीन करानियाँ मोतियाँ वरगा
वीरा आटा पिहानियाँ सुमें वरगा
वीरा आटा गुन्हामियाँ मलाई वरगा
वीरा पेड़े करानियाँ आड़ूआँ जेडे
वीरा लुच्ची तलावां कोई थाल जेडी
सद्दो सहेलियो नी वीर रोटी खावे
वीर खाना आया नाल सट्ठ जने
वीर खान बैठा, पक्खा झलमैने
वीर खा उठिया कुझ मंग मैना।
वीरा सब कुझ वथेरा वे विछोड़ा मन्दा॥

अर्थः—ऐ सखियो! मेरी उँगली कट गई है। कोई बताओ यह घाव कैसे अच्छा हो!

सहसा किसी ने कहा—तेरा भाई आ रहा है—बहन की उँगली का दर्द जाने कहाँ चला गया!

उसने साढ़े सात मन गेहूँ मँगाये, उन्हें मोतियों की तरह साफ़ कराया, सुमें की तरह बारीक पिसवाया, बालाई की तरह नरम गुँधवाया। आड़ुओं जैसे छोटे (गोल और खूबसूरत) पेड़े बनवाये और थाल जैसी बड़ी-बड़ी लुच्चियाँ तैयार करवाईं। इसके बाद सहेलियों से कहा—अब जाकर मेरे भाई को बुला लाओ। भाई साठ दोस्तों के साथ खाने आया, बहन सामने बैठ गई और प्यार से पंखा करती रही। भाई ने प्रसन्न होकर कहा—बहन, माँग क्या माँगती है।

बहन ने उदास होकर उत्तर दिया—भाई! परमात्मा का दिया सब कुछ है। केवल तेरा विछोह अखरता है।

यह गीत निश्चय ही किसी स्त्री का बनाया हुआ है। पता नहीं, कविता का उसने कभी नाम भी सुना था या नहीं? पर इसमें सन्देह नहीं कि वह उच्चकोटि की कवियत्री थी और [शेष

उसके इन सीधे-साधे शब्दों में बहन का स्वार्थ-रहित प्रेम, ऊँचे दर्जे की सुघरता, परिश्रम की आदत और अन्त में अपनी विवशता और भाई के पास रहने की अपनी आकांक्षा और प्रार्थना कूट-कूटकर भरी हुई है! पहला ही बन्द कितना काव्योचित है और इसके साथ ही कितना स्वभाविक। ससुराल में किसी लड़की की उँगली कट गई है, वह सहेलियों से पूछती है—अब यह घाव क्यों कर भरेगा? सहेलियाँ इसका सीधा जवाब न देकर कहती हैं—तेरा भाई आ रहा है।

बस, अब कहाँ का घाव और कहाँ का इलाज? बहन भाई के खिलाने-पिलाने को उड़ी फिरती है। इस शौक़ में उँगली का दर्द जाने कहाँ लुप्त हो गया।

और फिर अन्तिम चरण तो सरलता की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। भाई प्रसन्न होकर कहता है—बहन, कुछ माँग ले। बहन कपड़ा नहीं माँगती, गहना नहीं माँगती, रुपया-पैसा नहीं माँगती; क्योंकि इससे उसके ससुरालवालों का अपमान होने का डर है। कैसे सन्तुष्ट स्वर में कहती है—भाई! मेरे पास सब कुछ है, मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं, मगर तेरा विछोह अखरता है, कभी-कभी मिल जाया करो, तो यह शिकायत भी न रहे।

इस लड़की ने मुँह से कुछ नहीं कहा। सास-ससुर की भी कोई शिकायत नहीं की; पर अन्तिम प्रार्थना ने सब कुछ कह दिया—'भाई, तेरा विछोह अखरता है, इस वाक्य में दर्द की दुनिया भी है, जिसे देखकर पाषाण से पाषाण हृदयवालों की आँखों में भी आँसू उमड़ आते हैं। यह शब्द नहीं, टीस का संसार है—दर्द का उबलता हुआ सोता।

० ० ०

लड़की जब घर में रहती है, तो उसे घर की क़ीमत नहीं मालूम होती। ब्याह के बाद जब घर से नाता टूट जाता है, और वह पराई हो जाती है, तब उसकी आँखें खुलती हैं कि मुझसे क्या छिन गया। उस समय वह अपने मा-बाप से मिलने के लिए कितनी आतुर और आकुल हो उठती है और क्या कुछ करने को तैयार हो जाती है, यही इस गीत का विषय है।

वीरा! घर घर ने धरेकां फुल्लियाँ धरेकां दी ठंडी छाँ
मा पियू देया जाया, बह झट। १।
कीकन बैठां, बीबी भोलिए, मेरे साथी ते जांद ने दुर
मा पियू दिये जाइये, छड-लड। २।
वीरा तेरे साथियाँ नू देवाँ घेयो खिचड़ी, तैनू देवाँ मक्खन ते बदाम वीरा लै चल
लै चल मा पियू दे देस, वीरा लै चल। ३।
बीबी अग्गे ते धुआँ नी डाटियाँ, इक धुप लग्गू भर जाये भैना रह घर
रह घर मा पियू दिए जाइये! भैना रह घर। ४।
वीरा छतरी बनवावां रेशमी, वे मैं छाँ करेन्दी जावां वीरा लै चल
लै चल मा पियू दे देस वे, वीरा लै चल। ५।
बीबी अग्गे ते सूलाँ तरिक्खियाँ, इक सूल चुभे मर जाये भैना रह घर
रह घर मा पियू दिए जाइये, भैना रह घर। ६।
वीरा जुत्ती बनवावाँ साहेनी, वे मैं ठुमक-ठुमक दी जावां
वीरा लै चल।

लै चल मा पियू दे देस, वीरा लै चल । ७ ।

बीबी अग्गे ते कुत्ते भौंक दे, इक दंद लगे मर जाएँ

मैना रह घर । ८ ।

वीरा मिट्ठियाँ पकावाँ रोटियाँ, मैं रोटियाँ, पाँ दी जावाँ

वीरा लै चल । ९ ।

बीबी अग्गे ते नदियाँ डूघियाँ, इक गोता लगे मर जाएँ

मैना रह घर । १० ।

वीरा बेड़ी बनवावा रँगली, बेड़ी ते चढ़ के जावाँ

वीरा लै चल । ११ ।

बीबी अग्गे ने भाबियाँ डाढ़ियाँ, इक बोल लगे मर जाएँ मैना रह घर

रह घर मा पियू दिए जाइये, मैना रह घर । १२ ।

वीरा कुछ डलवाँ भतीजड़े, मैं गली-गली खडावाँ वीरा लै चल

लै चल मा पियू दे देस, वीरा लै चल । १३ ।

अर्थ—एक लड़की सुसराल में है । वसन्त की ऋतु है, वृक्ष फले-फूले हुए हैं। ऐसी ऋतु में उसका भाई अपने मित्रों के साथ उधर आ निकला । लड़की के दिल का कमल खिल गया । भाई से बोली—वसन्त की सुगन्धि चारो ओर फैली हुई है, ऐसे समय में बाहर न जा, ज़रा मेरे पास बैठ । १ ।

भाई खिलाड़ी था, और फिर उसके हृदय में वह प्रेम भी न था जो बहन के दिल में था । उसने उत्तर दिया—तू बड़ी भोली है । इतना नहीं सोचती—मैं क्योंकर रुक सकता हूँ। मेरे साथ मेरे मित्र हैं, और मुझे बड़ी दूर जाना है । जाने दे । २ ।

बहन ने प्रेम से विह्वल होकर भाई का आँचल पकड़ लिया और बोली—मेरी आँखें अपने मा-बाप का देश देखने के लिए तरस रही हैं । ऐ मेरे मा-बाप के पुत्र, मैं तेरे मित्रों के घोड़ों को घी-खिचड़ी दूँगी और तेरे लिए माखन और बादाम मँगाऊँगी । तू मुझे घर ले चल । ३ ।

भाई बोला—ऐ बहन ! आज-कल की धूप बड़ी तेज़ है तू तो रास्ते ही में कुम्हला जायगी । इसलिए आराम से अपने घर बैठी रह, ऐ मेरे मा-बाप की बेटी ! तेरे लिए यही अच्छा है । ४ ।

बहन ने उत्तर दिया—गर्मी का मौसम है तो मैं अभी रेशमी छाता बनवाये लेती हूँ। फिर धूप से मेरा क्या बिगड़ेगा ? ऐ मेरे मा-बाप के बेटे ! तू मुझे घर ले चल । ५ ।

भाई ने देखा, वार खाली गया । बोला—बहन, राह में इतने लम्बे-लम्बे काँटे हैं, कि तुझसे क्या कहूँ । यदि तुझे एक भी काँटा चुभ गया तो तेरी जान की खैर नहीं । इसलिये ऐ मेरे मा-बाप की बेटी ! आराम से अपने घर बैठी रह । ६ ।

बहन ने उत्तर दिया—ऐ भाई ! मैं अभी एक सुन्दर और मज़बूत जूता तैयार करा लेती हूँ, फिर काँटों का मुझे क्या डर रहेगा ? ठुमक-ठुमककर चलूँगी । ऐ मेरे भाई ! तू मुझे अपने घर ले चल । तू मुझे मेरे मा-बाप के घर ले चल । ७ ।

भाई ने फिर (सोच-सोचकर) कहा—ऐ मेरी बहन ! तू सचमुच बड़ी कमसमझ है, क्या तुझे यह मालूम नहीं कि मार्ग में भयानक कुत्ते हैं । अगर मार्ग में तुझे एक भी कुत्ते ने

काट खाया, तो तू वहीं मर जायगी, इसलिए मेरी राय तो यह है कि तू मेरा साथ छोड़ दे, और अपने घर में आराम से बैठी रह । ८ ।

पर बहन इन बातों से डरनेवाली न थी । उसने उत्तर दिया—ऐ मेरे भाई । मैं मीठी रोटियाँ पकवा लूँगी । इनसे कुत्तों का मुँह बन्द हो जायगा । तू मुझे अपने देश ले चल, तू मुझे मेरे मा-बाप के देश ले चल । ९ ।

भाई ने कहा—रास्ते में बड़ी तेज़ नदी है। बहन ने उत्तर दिया—मैं रंगीन नौका बनवा लूँगी । १०-११ ।

अन्त को जब कोई बहाना न चला तो भाई ने कहा— ऐ बहन, तेरी भाभियाँ बहुत सख़्त हैं, उनके एक व्यङ्ग-बाण से ही तेरे स्वाभिमान का हृदय छिद जायगा । तुझ से एक कड़ुवा बोल भी सहा न जायगा । इस लिए यह ख्याल छोड़ दे, और आराम से अपने घर बैठी रह । १२ ।

अब बहन के प्यार की परीक्षा का अवसर था । जिस घर में पैदा हुई, जहाँ पली, जहाँ बड़ी हुई, जहाँ उसके मा-बाप ने उसे प्यार किया, वहाँ वह अपना अपमान नहीं सह सकती । भाई कहता है—मेरी भाभियाँ तुझ से सख़्त कलामी के साथ पेश आयँगी । बहन ने तड़ से जवाब दिया— मैं उनके बेटों को उठाकर गली-गली खिलाती फिरूँगी । फिर किसकी मजाल है, जो मुझसे सख़्त-कलामी करे । १३ ।

दिलों का बरमाने का यह एक अचूक साधन है ।

बहन की मुहब्बत का ऐसा आकर्षक, ऐसा रंगीन, ऐसा स्वाभाविक बयान किसी ने कम ही किया होगा, पढ़ कर मन में कुछ विचित्र-सा दर्द पैदा हो जाता है ।

मालूम होता है, इस गीत में जिस बहन का ज़िक्र है, उसके मा-बाप मर चुके हैं, नहीं तो वह भाभियों की ख़ुशामद करने को तैयार न होती और फिर यह वाक्य—ऐ भाई ! मुझे अपने घर चल, मुझे मेरे मा-बाप के घर ले चल, कितना दर्द भरा है दिल में, कितनी हलचल पैदा कर देनेवाला है । इसे कोई दिलवाला ही देख सकता है । दूसरे के पास वह आँख कहाँ ?

×　　　　×　　　　×

भाईया राहीया जान्दिया, जानां तूं केहड़े देस, मैं वारी । १ ।
जानां बीबी, तेरे पेकड़े, दे सुनेहा लै जावां, मैं वारी । २ ।
जा आखनां मेरी माँ नूं, धियाँ क्यों दित्तियाँ दूर ? मैं वारी । ३ ।
मैं न दित्तियाँ दूर किधरे, दित्तियाँ उन्हां दे बाप मैं वारी । ४ ।
बावल कुर्सी बैठिया वे, धीयाँ क्यों दित्तियाँ दूर, मैं वारी । ५ ।
मैं न दित्तियाँ दूर किधरे, दित्तियाँ उन्हा दे वीर, मैं वारी । ६ ।
सुन वे वीरा राजिया, धीयाँ क्यों दित्तियाँ दूर, मैं वारी । ७ ।
मैं न दित्तियाँ दूर किधरे दित्तियाँ उन्हां दे लेख, मैं वारी । ८ ।

अज बन्हा वाँ पनोड़ियाँ
भलके सूहियाँ चुनड़ियाँ
परसों भैना दे मोल । ९ ।

सस पिसावे चकोड़ियाँ, सौहरा घुटावे भंग, मैं वारी। १०।
हथ दी पूनी छड्ड के नी, लगजातां वीर दे गल, मैं वारी। ११।
भैन दियाँ निकल गय्याँ चीकड़ां, वीर दे डुलपये नैन मैं वारी। १२।
पग दा पल्ला लाह के जी पूंजियाँ चा बहिन दा मुँह, मैं वारी। १३।
भंग दा बूटा पट सुटदा, चक्की दे टोटे चार मैं वारी। १४।
सस ने लाह लिया चँदरिमा, सौहरे ने लाह लये बन्द मैं वारी। १५।
नीला घोड़ा बेच के बना दियाँ भैना नूं चक, मैं वारी। १६।
गल दा कंठा बेच के लै दियाँ, भैना नूं बन्द, मैं वारी। १७।

अर्थ—एक लड़की अपने जन्म-स्थान से दूर ब्याही गई है। सास-ससुर का व्यवहार भी उसके साथ अच्छा नहीं है। बेचारी उदास रहती है। अन्त को एक दिन एक मुसाफ़िर से जो उसके घर की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है, पूछती है कि तू कहाँ जायगा?। १।

मुसाफ़िर उसके देश का है। वह कहता है,—मैं तेरे मैके जा रहा हूँ, कुछ संदेश भेजना हो तो भेज दो। २।

लड़की कहती है—तू मेरी मा से कहना, तेरी लड़की पूछती थी कि तूने मुझे दूर क्यों ब्याह दिया, जहाँ से आना-जाना मुश्किल है?। ३।

मा उत्तर देती है—उसका ब्याह उसके बाप ने किया था। ४।

संदेश-वाहक उसके पिता से पूछता है—ऐ कचहरी की कुर्सी पर बैठनेवाले पिता! तूने लड़की को दूर क्यों ब्याह दिया? वह बहुत परेशान है। ५।

बाप उत्तर देता है—उसका विवाह मैंने नहीं किया, उसके भाई ने किया है, वह जाकर उससे पूछ। ६।

मुसाफ़िर उसके भाई के पास जाकर कहता है—ऐ राजा-भाई! तेरी बहन रोकर पूछती है, तू नें मुझे इतनो दूर क्यों ब्याह दिया। ७।

भाई कहता है—इसमें मेरा कुछ दोष नहीं, उसके भाग्य में यही लिखा था। मैं क्या कर सकता है। ८।

मगर इससे उसकी तसल्ली नहीं होती। दो दिन वह तैयारी करता है और तीसरे दिन बहन के घर जा पहुँचता है। ६।

बहन पर सास-ससुर बड़ा अत्याचार करते हैं। उससे सास आटा पिसवाती है और ससुर भंग!। १०।

भाई पूछता-पूछता बहन के आँगन में जा पहुँचा और बोला—बहन, हाथ की पूनी वहीं रखदे और उठकर भाई के गले लग जा। ११।

बहन ने सिर उठाकर भाई की सूरत देखी, तो उसकी चीखें निकल गईं। यह देखकर भाई की आँखें भी सजल हो गईं। १२—१३।

इसके बाद भाई ने अपनी पगड़ी के छोर से बहन की आँखें पोछीं, फिर चक्की के चार टुकड़े कर दिये और भंग का पौधा उखाड़कर फेक दिया। १४—१५

यह देखकर सास ने आकर सिर का चन्द और ससुर ने आकर हाथों के बन्द उतार लिये। १६।

भाई ने कहा—ऐ मेरी बहन ! तू ज़रा भी चिन्ता न कर । मैं अपना नीला घोड़ा बेचकर तुझे चन्द बनवा दूँगा और अपने गले का कंठा बेचकर तेरे लिए बन्द तैयार करवा दूँगा । तू चिन्ता न कर । १७-१८ ।

भाई बहन के लिए कुछ करे या न करे ; मगर बहन को उस पर बड़ी-बड़ी आशाएँ होती हैं । वह समझती है, मेरा भाई मेरे लिए सब कुछ कर गुज़रेगा । अपना कंठा भी बेच देगा, अपना प्यारा घोड़ा भी अलग कर देगा । मेरे ससुरालवाले अगर ज़ालिम हैं तो हुआ करें, मेरा भाई जीता रहे । मुझे इनकी परवाह ही क्या है !

मुहब्बत की आँखें कितनी आशामयी हैं और निराशा के अँधेरे से कितनी अपरिचित !

× × ×

ससुराल में लड़की को तकलीफ़ हो, तो उसे भाई बहुत याद आता है । इस अन्धकार में यही उसकी आशा की किरण है । और यह है भी सर्वथा स्वाभाविक । मा-बाप बड़ी उम्र के हैं, घर में भाई का राज्य है, घर का सब प्रबन्ध, सब व्यवस्था उसी के हाथ में है । जो भला-बुरा, स्याह-सफ़ेद चाहे करे, कोई उसका हाथ पकड़नेवाला नहीं । कोई उसे रोकनेवाला नहीं । और फिर उसे मिलने के लिए भी लड़की के ससुराल बाप नहीं आता, उसका भाई आता है । इसलिए जब लड़की को तकलीफ़ होती है, तो उसे अपना भाई ही याद आता है ।

घर घर डेकां फुल्लियाँ वे, मेरिया राजिया वीरा
घर घर ठंडी दी छां । १ ।
समनादे वीर मिल गए वे मेरिया राजिया वीरा
मैं परदेसन दूर । २ ।
उठ के कुंडा खोल दे, मेरिये रानिये भैना
बाहर खड़ा तेरा वीर । ३ ।
सस दा दितड़ा न खुले, वे मेरिया राजिया वीरा
कंध टप अन्दर आ । ४ ।
कंध टप्पे चोर नी मेरिये रानिये भैना
मैं खड़ा तेरा वीर । ५ ।
चमकन लग्गी बिजली, बोलन लग्गे मोर
मेरिये रानिये भैना । ६ ।

अर्थ—हर घर में डेक के वृक्ष फूले हैं । हर घर में ठंडी छाया खेल रही है । १ ।

ऐ मेरे राजा भाई, और सब लड़कियों के भाई आकर उनसे मिल गये हैं । मगर तुझे अपनी परदेसी बहन का ध्यान क्यों नहीं आया ? । २ ।

इतने में भाई आ गया । और बाहर से बोला—ऐ मेरी रानी बहन ! उठकर दरवाज़े की साँकल खोल दे । तेरा भाई तुझसे मिलने आया है । ३ ।

बहन ने उत्तर दिया—भाई ! सास की लगाई हुई सांकल नहीं खुल सकती (क्योंकि मैं सांकल खोलूँगी तो वह ख़फ़ा होगी) इसलिए तू दीवार फाँदकर अन्दर आ जा । ४ ।

इस पर भाई ने कहा—ऐ मेरी रानी बहन ! दीवारें फाँदना चोरों का काम है । मैं तो तेरा भाई हूँ, उठकर साँकल खोल दे । ५ ।

अब बिजली चमक रही है और मोर बोल रहे हैं। तेरा भाई! मेंह में भीग जायगा। ऐ मेरी रानी-बहन ! उठकर किवाड़ खोल दे।

बहन के हृदय में अपने भाई पर जो मान और गर्व है, वह उसके एक शब्द राजा भाई से ज़ाहिर है। इस एक शब्द ने बहन के दिल की सारी कहानी बयान कर दी है। इस गीत से यह भी मालूम होता है कि पुराने ज़माने की सास कितनी सख़्त और पाषाणहृदया होती थी।

इस गीत की पूरी शान देखनी हो तो पंजाब के किसी गाँव में जाकर उस जगह खड़े हो जाइये, जहाँ दो-चार बहुएँ बैठी चरखा कातती हों और अपने-अपने भाई को याद करके अपने काँपते हुए, मीठे मादक स्वर मिलाकर, यह दर्द भरा गीत गा रही हों, उस समय पवन भी साँसें भरता हुई दिखाई देता है और विटप रोते दिखाई देते हैं।

× × ×

भाई के घर पुत्र जन्मा। बहन बधाई देने आई। भाभी उसे कोई उपहार भेंट करना चाहती है; पर ननद कहती है, मैं तो केवल हार लूँगी।

ननद आई साड़े पाहुनी पिया, कैसे कु बहनावे
ननद साडे आवना। १।
देनां ऐं तां हार दे भाबी, नहीं ते—आहो नी अड़िये
नहीं ते, दे दे नी जवाब, जाइये घर आपने। २।
गहनियाँ दे विच्चों आरसी पिया, सो मेरी—आहो वे लाला
सो मेरी ननदे नूँ दे। ननद घर जावना। ३।
देना ऐं तां दे हार नी भाबी, नहीं ते—आहो नी अड़िये
नहीं तां दे देनी जवाब, जाइये घर आपने। ४।
भांडियां दे विच्चों देवका पिया, सो मेरी,—आहो वे लाला
सो मेरी ननदे नूँ दे, ननद घर जावना। ५।
नाँ तेरे बाप घड़ाया ननदे—आहो नी अड़िये
ना तेरे चंचल वीर—घड़ाया मेरे बाप ने। ६।
रुस्सी ताँ ननद, औह गई पिया, लंघ गई—आहो वे लाला
लंघ गई दरिया—ननद घर जावना। ७।
वीर भैन प्यारिया, भैन नूँ—आहो वे अम्मा जाई नु
लियान्दा मनाए, जानां घर आपने। ८।
थाल भरिया लुच्चियाँ मोतियाँ बीबी, उपर—आहो नी अड़िये
उपर नौ सौ दा हार, जावीं घर आपने। ९।
दुध पीवें भर जाइये, अड़िये गोदी ताँ—आहो नी अड़िये
गोदी तां लाल खड़ा, जाइये घर आपने। १०।
वीर जीवे, पुत्ता पोतियाँ, मेरी भाबो दा—आहोनी मेरी भाबो दा
अटल सुहाग—चलिये घर आपने। ११।

अर्थ—ऐ मेरे स्वामी! मेरी ननद और तुम्हारी बहन मेरे यहाँ आई है, उसका भली भाँति सत्कार करो। यह बेचारी हमारे यहाँ कभी-कभी आती है। १।

ननद कहती है—ऐ भाभी ! देना है तो हार दे, नहीं तो जवाब दे, ताकि मैं अपने घर लौट जाऊँ । २ ।

भाभी कहती है—ऐ मेरे स्वामी, ननद अपने घर जाने को तैयार हो रही है। इसे आरसी दे दो । ३ ।

ननद कहती है—मुझे आरसी की आवश्यकता नहीं। देना है तो हार दे, नहीं तो मैं अपने घर लौट जाऊँगी। मेरे पास आरसियाँ बहुत हैं । ४ ।

भाभी कहती है—अच्छा इसे अच्छी-सी बटलोही दे दो। ५ ।

ननद कहती है—यह अपने घर रखो, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। अगर देना हो, तो हार दो, नहीं तो मैं अपने घर जाती हूँ।

भाभी क्रोध से कहती है—यह हार न मुझे तेरे पिता ने दिया है, न तेरे चंचल भाई ने दिया है। यह हार मुझे मेरे बाप ने दिया है। यह तो मैं न दूँगी। ६ ।

ननद ने यह ताना सुना तो रूठकर अपने घर लौट गई, और थोड़ी ही देर में नदी के पार पहुँच गई। ७ ।

भाभी चुप थी ; पर भाई का प्रेम कैसे मानता ? वह भागा-भागा गया और रूठी हुई बहन को मना लाया । ८ ।

इसके बाद उसने सच्चे मोतियों से थाल भरा और उसके ऊपर नौ सौ रूपयों का हार रखकर बहन की भेंट किया और कहा—ऐ मेरी प्यारी बहन, अब तू बड़े शौक से अपने घर जा । ६ ।

बहन ने देखा, मेरी मन की मुराद पूरी हो गई। उसने प्रसन्न होकर भाभी को दुआ दी कि तेरे यहाँ दूध की कमी न हो, और तेरी गोद सदा हरी-भरी रहे, फिर भाई को दुआ दी कि तू सदा बेटों-पोतों का मुँह देखे और मेरी भाभी का सुहाग अटल हो। १०—११

इस गीत में मुहब्बत की लड़ाई का जो विवरण दिया गया है, वह इतना विशुद्ध और रंगीन है कि दिल नाचने लग जाता है। खेद है, आज भाई-बहन के इन प्रेम से सने-हुए गीतों का रिवाज कम होता जाता है; लेकिन जो सुनते हैं वे सिर धुनते हैं, और इन गीतों के मनोसुख-कारी संगीत और दिल में उथल-पुथल मचा देनेवाले भावों में खोकर रह जाते हैं, जो आज-कल हमें कहीं दिखाई नहीं देते।

कलकत्ता ।

मानव और पशु

[मुद्दु कृष्ण]

[अनुवादक, ब्रजनन्दन शर्मा]

[श्री मुद्दु कृष्ण तेलुगू के नवीन लेखकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपके लेख और कहानियाँ समाज के पुरातन तथा अप्रगतिगामी विचारों पर प्रहार करती हैं। तेलुगू-साहित्य में 'कला-कला के लिए' वाली विचार-धारा में आप अपवाद हैं। 'ज्वाला' नामक एक तेलुगू पत्र का भी आप संपादन कर चुके हैं। उग्र विचारों और सौम्य स्वभाववाले इस लेखक की लेखनी सचमुच ज्वाला उगलती है।—सं]

'मे—मे—एँ—एँ' 'मे—मे—एँ—एँ'

बच्चे ने मा की ओर देखा, फिर तारों की ओर !

'मे—मे'—फिर बोला।

'मे—मे'—फिर मा ने कहा।

बस, इतना ही। पागुर करते हुए, तारों की ओर निहारते हुए—सो गया—बकरी का बच्चा।

× × ×

'अम्मा—वह...'—लीला ने कहा।

'वे ? सितारे हैं बेटी। कहो तो 'सितारे—सि-ता-रे'।'

'छि-ता-ले, छिता-ले'।—नहीं कह सकी।

'वह ?'—फिर बोली।

'वे भी सितारे हैं। वहाँ भगवान रहते हैं। भगवान को प्रणाम करो बेटी।'—दोनों हाथ पकड़कर नमस्कार करवाया मा ने। पलकों पर पत्थर का बोझ था और हृदय में भगवान की प्रतिध्वनि उठ रही थी। यही सब देखती, बकती, प्रणाम करती—लीला सो गई।

(२)

और बहुत-से बच्चे आये। बकरी का बच्चा सबों के साथ उछल-कूद करने लगा। किसी को मारा, किसी को पटका। दूसरे ने मारा तो चिल्लाया। मा भी बच्चों के साथ दौड़ी। जहाँ-जहाँ वे गये, वह भी वहाँ-वहाँ गई। खेली, फिर बच्चों का खेल देखती हुई पेड़ की छाया में सो गई।

× × ×

लीला के साथ खेलने के लिए भी बच्चे आये। कुछ देर तक वह सबों के साथ खेली। बकरी के बच्चों को खदेड़ा। बकरी का बच्चा रसोई-घर में घुस गया, तो ये सब भी घुसे। जब और सब बच्चे अपने-अपने घर चले गये, तब लीला की मा ने उसको बुलाकर खूब डाँटा। रात में जब लीला सोई तो बकने लगी—'सुब्बी अच्छी नहीं, वह अछूत है, शूद्र है। उसके साथ नहीं खेलना चाहिये।'—उसके निर्मल हृदय में एक विचित्र भाव पैदा हुआ। पवित्र रक्त फटकर दूसरे रंग का हो गया।

× × ×

दूसरे दिन लीला के घर कुछ लोग आये। उनमें एक लड़का भी था। उसको "बावा" * कहकर पुकारने के लिए लोगों ने सिखाया लीला को। उसको पानी देने के लिए कहा। उनके कहने के ढङ्ग और चेष्टाएँ देखकर लीला को लजाने की आदत पड़ गई। धीरे से—बावा से ब्याह करेगी?—आदि प्रश्न होने लगे और 'हाँ, करूँगी'—का जवाब भी आने लगा। लीला के मन में एक अज्ञात परिवर्तन होने लगा।

(३)

एक दिन बकरी के बच्चे के पेट में दर्द हुआ। 'मे-मे' करके बहुत चिल्लाया। मा भी उसके साथ 'मे-मे' करती हुई पास सटकर सोई। दिन-भर बकरी के बच्चे ने कुछ नहीं खाया। दर्द कम हो गया।

× × ×

लीला को एक दिन अजीर्ण हुआ। भूख नहीं थी। फिर भी मा ने ज़बर्दस्ती भात ठूँस-कर खिलाया। दूसरे दिन बुख़ार आया। डाक्टर आया। दवा देने पर भी लीला दस दिन तक खाट पर पड़ी रही।

(४)

बछिया खूब बढ़ रही है। खूब देह खींच रही है। लोग देख-देखकर खुश हैं। वह झुण्ड में बछड़ों और बछियों के साथ जाती है। उसकी आज़ादी में कोई बाधा नहीं।

× × ×

लीला बड़ी हो रही है। वह जिस खिड़की के पास बैठकर पढ़ती थी—उसके सामने की खिड़की के पास ही शास्त्रीजी का लड़का भी बैठकर पढ़ने लगा।

एक दिन लीला के पिता ने लीला की कुर्सी बिना खिड़कीवाले दूसरे कमरे में रखवा दी। कहा कि इस कोठरी में सड़क की सब धूल आती है। स्वास्थ्य के हक में यह बहुत बुरा है, और—लीला समझदार लड़की है। इसलिए खुद ही रुख़ देखकर अपनी आज़ादी की सीमाओं को धीरे-धीरे संकीर्ण बनाने लगी।

कोई दूसरा पुरुष आ जाय तो भीतर चले जाना, अनावश्यक सावधानी रखना आदि शुरू हुआ। इस परिवर्तन से अन्यमनस्कता, एक अनजान चिन्ता आदि उसके सिर पर सवार हुई। उम्र के मुताबिक शरीर ने बढ़ना छोड़ दिया।

* 'बावा'—तेलुगू में फूफी या भाभी के बड़े लड़के को कहते हैं। प्रायः लड़कियों की शादियाँ उन्हीं से होती हैं। अतः यह शब्द 'पति' का द्योतक हो जाता है। —अनुवादक।

(५)

बछिया (ओसर) यों ही चिल्लाने, रस्सी तुड़ाने लगी। लोगों ने सोचा—कुछ बात है। दूसरे दिन उसे एक बढ़िया, सुन्दर साँड़ के पास ले गये।

× × ×

लीला मा के पास आकर बोली--मा, जाड़ा-सा लगता है। कुछ अच्छा नहीं लगता। मा ने कहा—ओढ़ना ओढ़कर सो रहो, दवा मँगाती हूँ...। लीला हल्दी लगाकर अलग चटाई पर सुला दी गई। बगल में एक नारियल रख दिया गया। * अड़ोस-पड़ोस की औरतें आईं। उत्सव का समा छा गया। लीला के 'बावा' को तुरत हल्दी लगाकर पत्र लिखा गया।

उस दिन से लीला के मन में 'पुरुष' एक विचित्र वस्तु हो गया। एक झिझक समा गई। पहला स्वभाव एक दम बदल गया।

(६)

ओसर ब्यानेवाली है। उसको एक पेड़ से बाँध दिया गया। लोग तमाशा देख रहे थे। वह कुछ देर तक छटपटाई। पैर पटके। बच्चा बाहर आ गया। बच्चा गिरते ही वह उठी। बच्चे के शरीर को चाटकर साफ़ कर डाला। बछड़ा दो बार उठने की कोशिश करते हुए—गिरा। तीसरी बार उठ गया और टटोलता हुआ, मुँह थन के पास ले जाकर दूध पीने लगा। मा प्रेम से बछड़े की देह चाटने लगी।

× × ×

लीला के दर्द शुरू होते ही नर्स और डाक्टरों को ख़बर दी गई। किसी तरह एक बन्द कमरे को खाली करके प्रसूति-गृह बनाया गया।

लीला को बहुत तकलीफ़ हुई। बच्चा नहीं निकल सका। डाक्टर ने 'फारसेप्स' से बच्चे को निकाला। डाक्टर खीझकर बोला—इस मुल्क की मूर्खता है कि इतनी छोटी और कमज़ोर लड़कियों की यह हालत कर देते हैं! लोगों ने कहा—क्या किया जाय। लड़के की दादी ने बहुत ज़ोर डाला। हमसे रोकते न बन पड़ा।

पैदा होने के कुछ ही देर बाद शिशु चल बसा! लीला की बेहोशी अभी तक नहीं गई।

दूसरे दिन डाक्टर ने लोगों को डाँटा—यह अन्धेरी कोठरी, हींग और लहसुन की गन्ध! छिः, बदलिये ओसारेवाली कोठरी में इसका बिछावन। लेकिन किसी ने सुना नहीं।—ये अंग्रेजी डाक्टर ऐसा ही कहते हैं।

लीला अभी खाट पर ही है। इतने में वज्रपात हुआ। लीला का पति गोदावरी में तैरने गया था, उसी में डूब गया! सारा घर उड़ने पर हो गया। कुहराम मच गया। लीला बेहोश होकर खाट से नीचे गिर गई।

दो महीने बीत गये। लीला उठती है—मगर ताक़त ज़रा भी नहीं है। हिस्टीरिया मामूली बात होगई है। दरवाज़े पर कभी जाती, ओसर या बकरी के बच्चे को देखती तो बेहोश होकर गिर जाती।

---

* प्रथम मासिक के समय ये सब उपचार किये जाते हैं। —अनु०

(७)

दोनो वक्त सिर पर मलने के लिए डाक्टर ने कुछ तेल दिया। सिर देखकर कहा—इतने बाल क्यों ? कुछ कटा दीजिये तो बेहतर हो। दवा मलने में आसानी होगी। इस पर विचार हुआ। लोगों ने कहा—मेमों की तरह यह कैसा होगा ? कैसे बढ़िया बड़े-बड़े बाल थे। एका-एक बूढ़ी गोवुलम्मा ने कहीं से आकर कहा—यह क्या ? तुम लोगों की अक़्ल मारी गई है क्या ? अरे बाल तो गया ही। आज नहीं तो कल। कभी न कभी तो कटाना ही है क्या करेंगे ? उसका भाग। जब जैसा समय आता है—वैसा होता ही है। लोक-वेद की बात है। कटा दीजिये बाल। कल अच्छा दिन है। हजाम को भी बुलाया है। गोवुलम्मा बराबर गाय की तस्वीरवाली साड़ी पहनती है, इसलिए लोग गोवुलम्मा कहते हैं। उसके सिर पर कभी किसी ने बाल नहीं देखा होगा।

बहुत आगा-पीछा के बाद लोगों ने आखिर निश्चय कर ही लिया कि लीला का बाल कटा देना चाहिये। अकस्मात् लीला बेहोश होकर गिर पड़ी। लोगों ने कहा—हिस्टीरिया है। वह बहुत देर तक छटपटाती रही।

जब लीला की बेहोशी दूर हुई—तब तक खूब साँझ हो चुकी थी। होश में आने के बाद न मालूम उसे क्यों लड़कपन की बकरी का बच्चा, बछिया, कुत्ते का बच्चा, बिल्ली का बच्चा—सब एक-एक करके याद आने लगे। आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। मन में आया—मेरी ही यह हालत होनी थी ? ...हाथ से केश छू गया। भूला हुआ दुःख फिर उफन आया। सब बाल उसने आँखों पर डाल लिये। सोचने लगी—कल ये केश न रहेंगे। हाँ ठीक है। सब तरह से सुख-विहीन जीवन के लिए सौभाग्य और सौन्दर्य ही क्यों ?—इतने में गोवुलम्मा का खल्वाट याद आया। ज़ोर से चिल्ला उठी। फिर बेहोश होगई। लोगों ने फिर हिस्टीरिया का नाम लिया।

(८)

लीला गोवुलम्मा के साथ आई। घर के अन्दर लीला को लोगों की आँखों के सामने जाने की इच्छा नहीं हुई। इसलिए पिछवाड़े की ओर गई। बचपन से साथ-साथ खेले और बढ़े हुए जानवर आज उसकी ओर दूसरी दृष्टि से देख रहे थे। आज उन्हें लीला को देखकर अचरज हो रहा था। लीला बछिया के नज़दीक से गुज़री तो वह अचरज़ से देखकर भाग गई। ओसर ने फुफकारकर सींग से मारना चाहा। इतने में घर से कुत्ता निकला और उसे देखकर भूँकने लगा। लीला चिल्लाई और गिर पड़ी।

सब लोग दौड़कर आये लीला गिरी तो घुटा हुआ सिर फूट गया। लोग हाथ पर उठाकर उसे अन्दर ले गये।

बछिया जो भाग गई थी—मा के पास आई। ओसर सशंक दृष्टि से देखती हुई पूँछ उठाकर बछिया को चाटने लगी। कुत्ता अभी भूँक ही रहा था। उसे सूर्य ने भगा दिया। बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ करती, सबके पैरों से रगड़ा लेती कोने में जाकर सो गई।

चिढ़ती हुई गोवुलम्मा बोली—वाहरे अक्ल ! क्यों दुनिया-भर की बेकार दवाएँ देकर बेचारी का दिमाग़ खराब कर रहे हो तुम लोग ! सवेरे से उसकी तबीयत ख़ुद ही अच्छी हो जायगी। सिर का पाप उतर गया न ?

आकांक्षा

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

[श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' पंजाब के नवयुवक कवि तथा कथाकार हैं। आपकी रचनाओं की लोकप्रियता सन्देह से परे सिद्ध हो चुकी है। आप उर्दू में भी बराबर लिखा करते हैं। अभी आपका एक ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' प्रकाशित हुआ है। आपकी कविताओं की सरलता और मधुरता पाठक के लिए प्रिय वस्तुएँ होती हैं।—सं०]

(१)

मृग-तृष्णा सूने उर की, ओ
मन की सुखद हिलोर !
एक बार, बस एक बार आ
इस जीवन की ओर !

बन कर जीवन का जीवन, आ !
ओ मेरी स्मृतियों के धन आ !
ओ मेरे रूठे यौवन आ !

सन्ध्या के अँधियारे में भर
रंग - बिरंगी भोर !
मृग - तृष्णा सूने उर की, ओ
मन की सुखद हिलोर !

(२)

उस घाटी में ले चल, जिसमें
दिन है और न रात।
कुछ क्षण हैं जिनकी सीमाएँ
सन्ध्याएँ औ' प्रात।

विस्मृति के, वे क्षण फिर ला दे !
तन-मन की सुध-बुध बिसरा दे !
जीवन को फिर स्वप्न बना दे !

और मिला दे फिर अम्बर से
इस धरती के छोर।
मृग-तृष्णा सूने उर की, ओ
मन की सुखद हिलोर !

(३)

उस घाटी में ले चल, जिसमें
है उन्मत्त बयार-
वीथि - वीथि में गाता फिरता
अपना पागल प्यार।

उसके स्वर से ताल मिला कर,
उर में जीवन की मृदुता भर,
गा उठता है झर-झर निर्झर,

मर-मर के स्वर में ताली-
देता पत्तों का शोर।
मृग-तृष्णा सूने उर की, ओ
मन की सुखद हिलोर !

(४)

उस घाटी में ले चल, जिसमें
भ्रमरों की गुंजार
कली-कली के कानों में कहती
मधु - ऋतु का प्यार।

पक्षी गीत पुराने गाते,
भूले - बिसरे गान सुनाते,
तन - मन में फिर आग लगाते,

आमों पर कोयल की कू-कू
औ' विहगों का रोर।
मृग - तृष्णा सूने जीवन की
मन की सुखद हिलोर।

(५)

ऐसे में उस स्नेहमयी को
कर दे फिर छविमान!
घने बादलों में शशि-सा मुख
विद्युत-सी मुस्कान!

आँखों में भर कर कुछ पानी,
मैं उससे कह लूँ—ऐ रानी!
भूल गई वह प्रेम-कहानी,

जिसके साक्षी चाँद, सितारे,
निर्झर, पत्ते, मोर।
मृग-तृष्णा सूने उर की, ओ
मन की करुण हिलोर!

लाहौर।

गत शताब्दी के गुजराती साहित्य का विहंगावलोकन *

[लेखक, हीरालाल गोदीवाला]
[अनुवादक, श्यामू सन्यासी]

[श्री हीरालाल गोदीवाला गुजराती तथा अंग्रेज़ी के एक सफल लेखक हैं। आपने गुजराती साहित्य का गहरा अध्ययन किया है। प्रत्येक विषय पर अपने स्वतन्त्र तथा सुलझे हुए विचार रखते हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी। प्रस्तुत लेख १६ वीं सदी के गुजराती साहित्य पर एक गवेषणा-पूर्ण विवेचन है। आज-कल आप सूरत के एम० टी० बी० कालेज में अध्यापक हैं। 'हंस' के पाठकों को जानकर हर्ष होगा कि आप हिन्दी भी लिख-पढ़ लेते हैं।—सं०]

पिछले कार्तिक महीने के 'प्रवासी' में और 'मॉडर्न रिव्यू' के नवम्बर अंक में श्री रामानन्द चटर्जी ने श्री भूलाभाई देसाई के एक भाषण की कड़ी आलोचना की है। सर एम० एन० मुकर्जी के सभापतित्व में शिमला की एक सभा में भाषण देते हुए श्री भूलाभाई ने कहा था कि १८५७ के बाद १६१४ (१६१७ ?) तक हिन्दुस्तान के साहित्यिकों और जनता ने हिन्दुस्तान में अँग्रेज़ी राज्य को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था। यह कैसे, किस लिए, और किस तरह आया, इसका विचार नहीं किया गया। लोग मानते थे कि यह, उनके भले के लिए—वरदान के समान आया है। श्री भूलाभाई यह शब्द कहते समय शायद राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री राजनारायण बोस का जीवन, वन्दे मातरम् के अमर गायक श्री बंकिमचन्द्र के ग्रन्थ, बंग-भंग आन्दोलन, स्वदेशी हलचल, श्री विपिनचन्द्र पाल, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री अरविन्द घोष की प्रवृत्तियाँ और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के राष्ट्रीय भावनाओं से भरे गीतों को भूल गये होंगे ; या पिछली शताब्दी के पढ़े-लिखे और सुधरे हुए भारतीयों में अँग्रेज़ी राज्य के लिए—कम से कम गुजरात में—साधारण रूप से प्रचलित भावनाओं का श्री भूलाभाई ने अतिशयोक्ति-पूर्ण उल्लेख किया होगा।

* इस लेख के लिखने में मुझे मेरे विद्वान् मित्र, 'मानसी' के संपादक और सूरत कॉलेज में गुजराती के अध्यापक प्रो० विजयराम वैद्य का मार्ग-प्रदर्शन उपयोगी साबित हुआ है ; और इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

रामानन्द बाबू ने बँगला-साहित्य से अनेकों पंक्तियाँ उद्धृत कर श्री भूलाभाई के भाषण की असत्यता प्रमाणित की है। साथ ही ऐसी आशा प्रदर्शित की है कि दूसरे प्रान्तों के साहित्य में भी ऐसे दृष्टान्त मिल सकते हैं। अपने भाषण में श्री भूलाभाई ने एक काव्य-पंक्ति का उल्लेख करते हुए कहा था कि एक कविता में तो यहाँ तक कहा गया है कि अँग्रेज़ी राज्य में शेर-बकरी एक ही घाट पानी पीनेवाले हो गये। यह उल्लेख कुछ इस तरह से हुआ है कि जिससे कोई भी उक्त पंक्ति को किसी बंगाली कवि की समझ ले। अपनी आलोचना में श्री रामानन्द बाबू लिखते हैं कि बहुत सोचने-विचारने और विद्वान् मित्रों से पूछने पर भी हमें वह शेर-बकरीवाली पंक्ति किसी बँगला कविता में नहीं मिली। लेकिन श्री भूलाभाई ने उक्त पंक्ति पिछली शताब्दी के प्रसिद्ध गुजराती कवि दलपतराम की एक कविता से ली होगी, ऐसा मेरा अनुमान है। १८२२ ईसवी में बम्बई का गवर्नर एल्फिन्स्टन अहमदाबाद गया था। उस समय, २७ वीं दिसम्बर को, अधिकारी-वर्ग और नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों की एक सभा में दलपतराम की एक कविता पढ़ी गई थी। कवि लिखता है—गवर्नर का शहर में स्नेह-भरा स्वागत होता है; परन्तु एक उदार-हृदय पण्डितजी, जो परोपकारी थे, लोगों का अँग्रेज़ी राज्य के बारे में वास्तविक मत जानने शहर में घूमने निकलते हैं। पहले तो वे शहर के और बाज़ार के व्यापारियों और कारीगरों को अँग्रेज़ी राज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते सुनते हैं। वे कहते हैं—पहले हमें बहुत दुःख सहना पड़ा। राजा बहुत अत्याचारी थे। मूल्य दिये बिना ही माल ले जाते। चतुर कारीगर पीटे जाते; परन्तु अब हम सुखी हुए हैं। ईश्वर करे यह राज्य स्थायी हो। इस राज्य में तो अपनी मनचाही बातें कर सकते हैं और कोई हमें दुःख नहीं दे सकता :

साहेबनो साहेब वड़ो, होय राजनो राज ;
वण वांके नहि आंगली, शके अडाडी आज।
एकारे पाणी पिये, ज्यां बकरी ने बाघ ;
सीधे रस्ते चालतां, लेश न लागे डाघ।
थयुं नथी थाशे नहि, आवुं राज कोई काल ;
रामराज करतां भलो, आ प्रगट्यो भूपाल। *

सज्जन अधिकारियों के सहवास में काम करनेवाले और अंग्रेज़ी राज्य के सुधारों से प्रभावित दलपतराम की कविताओं में ऐसे भाव बार-बार आये हैं। वर्षों से गुजराती विद्यार्थी दलपतराम की एक कविता किसी पाठ्य-पुस्तक में पढ़ते रहे हैं और शायद किन्हीं पुरानी पाठशालाओं में आज भी पढ़ते होंगे। उस कविता में तो अंग्रेज़ी राज्य का यहाँ तक गुणगान किया गया है कि :

---

* बड़े से बड़ा अधिकारी हो या महाराजाधिराज हो, बिना किसी अपराध के अँगुली तक नहीं छुआ सकता।

शेर-बकरी एक घाट पानी पीते हैं और सीधे रास्ते चलनेवालों को किसी तरह का डर नहीं।

ऐसा राज्य न तो पहले कभी हुआ और न आगे कोई होगा; राम-राज्य से भी अधिक सुखदायी यह राज्य है।

झेर गयां ने वेर गयां, वली काला केर गया करनार,
परनातीला जातीलाना संप थकी चाले संसार;
देख बिचारी बकरीनो पण कोई न जातां पकडे कान,
ए उपकार गणी ईश्वर नो हरख हवे तुं हिन्दुस्तान।*

(दलपत-काव्य, भाग २, पृष्ठ ३–१२)

दलपतराम ने अनेकों बार हिन्दुस्तान को इस तरह ईश्वर का उपकार मान हर्षित होने के लिए कहा है। परन्तु यदि श्री भूलाभाई ने एल्फिंस्टन के आगमन-प्रसंग पर रची गई कविता अन्त तक पढ़ी होगी तो उन्हें अवश्य ही उसमें लिखे अंग्रेज़ी-राज्य में ग़रीबों पर होनेवाले अत्याचारों का स्मरण होगा। इसमें—गद्य में—जो 'प्रजा का दुःख-वर्णन' आता है, वह अवश्य ही श्री भूलाभाई के ध्यान में होगा।

इसमें कम्पनी सरकार, उसके अधिकारी, अंग्रेज़ और चपरासियों की ओर से ग़रीब ग्रामीणों पर होनेवाले अनेकों अत्याचारों का वर्णन जिस मर्मस्पर्शी भाषा में गाँव के मुखिया, पटेल, किसान, कुम्हार और भंगी करते हैं, वह आज भी हृदय कँपानेवाली है दलपतराम गवर्नर के सामने इस आशा से उस दशा का वर्णन करते हैं कि अत्याचारों का अन्त होगा।

अत्याचार ऐसे भयंकर हैं कि नगर-चर्चा सुनने निकले उदार पंडितजी की आँखें भी खुल जाती हैं, और

'नथी जुलम आ राजमां, भूल्यो एवी वात' १

वह समझ जाते हैं कि

'हरकत नथी आ राजमां, धनवालाने शीश;
पूरण पीड़ा गरिबनी, जुवे न श्री जगदीश।' २

बेचारे भंगी के शब्दों में

'पैसावालानो सरकार छे, गरिबनो नथी' ३

देहाती यदि शहर में गाड़ियाँ लेकर कुछ बेंचने जाते हैं, तो उन्हें पीटकर, गालियाँ देकर, बिना पैसा दिये ही सरकारी चपरासी, साहब और बड़े बाबू के लिए सामान लूट ले जाते हैं देहातों में फौजें आती हैं, (जिस गाँव का वर्णन किया गया है वह खेड़ा और अहमदाबाद के रास्ते में था, इसलिए लश्कर तो रोज का ही लगा है) तब कोई आराम से नहीं बैठ सकता। सभी की मुश्किल है। पटेल कहता है—अब तो भगवान मौत दें, तो प्राण छूटें। मार खा-खाकर हड्डियाँ टूट गईं।

---

* झगड़े और दुश्मनी और भयंकर जुल्मों के करनेवाले नष्ट हो गये। अपनी और पराई जातिवाले संगठित होकर रहते हैं। देख, ग़रीब विचारी बकरी तक को कोई तंग नहीं करता; हे हिन्दुस्तान, इसे तू ईश्वर का महान् उपकार समझ और प्रसन्न हो।

१ वह भूल गया कि इस राज्य में अत्याचार होते ही नहीं।

२ इस राज्य में धनाढ्यों को किसी तरह का कष्ट नहीं है, गरीबों की पूरी आफ़त है, श्री जगदीश भी उनकी ओर नहीं निहारता।

३ सरकार मालदारों की है, गरीबों की नहीं।

और मुखिया कहता है—हमारे बाप-दादा मार खाते आये और अब हम मार खाते हैं तो इसमें अनोखी बात क्या है ? फिर आधी रात बीतने पर पाँच गाड़ियाँ तैयार कीं। उन गाड़ियों के साथ गाड़ीवान जाते हैं, मेहतर को पहर रात बीतते छुट्टी मिली। वह घर आ, खाने बैठा। भोजन करता जाता है और कहता है—कंपनी सरकार का नाश हो। एक दिन भी आराम से नहीं बैठने देते। लश्कर पर लश्कर आते हैं। खाकर सोया तो रात के बारह बजे सवार बुलाने आये ; 'ए भंगिया, भंगिया, चल। आधी फौज जानेवाली है। रास्ता बता। भंगी उनका दो कोस तक रास्ता बताने गया, त्योंही दूसरे सिपाही 'अबे भंगिया, भंगिया बोलता नहीं है! साले की खिड़की तोड़ डालो,' कहते आये और दरवाज़े तोड़ने लगे। तब भंगिन बोली—साहब, वे तो रास्ता दिखलाने गये हैं। मैं अकेली हूँ। मेरा बच्चा रो रहा है। मैं बीमार हूँ।

'अबे निकल तेरी मेयकूं (गाली देता है।)। चल आ बोजा है सो कोन उठावेगा! तेरा बापा ? निकलनहीं तो मारता हूँ।' भंगिन बच्चे को लिये निकली, उसे देख 'देखो साली निकलती नहीं है' यों कह जूते से पीटा। इतने में भंगी वापस आ गया।

भंगी कहता है—मेरा बड़ा भाई इस राज्य के अत्याचारों के कारण साधू हो गया... दूसरे लोग इस राज्य में निरापद हुए; और वह सब आफ़त हम ग़रीबों के सिर आ पड़ी। इससे तो पुराने राज्य ही अच्छे थे।

देहातियों से गाड़ियाँ, बर्तन, बिस्तर, लकड़ी, घास, दूध और मक्खन जबर्दस्ती लिया जाता है।

चपरासी—आध मन दूध और चार सेर मक्खन चाहिये।

मुखिया—कितने साहब हैं ?

चपरासी—एक।

मुखिया—एक साहब इतना सब क्या करेंगे ?

चपरासी—जा साहेब को पूछने को, तकरार करता है, साला। यों कह लात मारता है।

बीमार आदमियों से भी काम लिया जाता है। सारे गाँव में एक ही भंगी है और वह भी इन्हीं लोगों के काम पर गया हुआ है।

चपरासी—इसकी औरत-वौरत है कि नहीं, साले की ?

मुखिया—औरत है तो सही; पर बिचारी बीमार है।

चपरासी—बीमार है तो क्या हुआ ? इसे कौन उसका बाप उठायेगा ? अरी ओ भंगिन, चल-चल तेरी बहिन को...(गाली देता है।)

सारे गाँव में एक ही आदमी बच जाता है। गाँव का मोदी। बंबई में उसकी जान-पहचान है। पास पैसा भी है, प्रभाव भी है। इसलिए वह बच जाता है।

शहरों में साहब और बड़े बाबू के लिए सिपाही देहातियों का सामान लूट ले जाते हैं। उसकी आधी क़ीमत मिल जाय, तो मिल जाय ; नहीं तो वह भी ज़रूरी नहीं। उधार और परोपकारी पंडित कलेक्टर साहब के पास ये सब शिकायतें ले जाते हैं। पर उनकी सलाम के जवाब में 'साहब ने मुँह फिरा लिया। सामने तक नहीं देखा। शराब का या सत्ता का नशा चढ़ा हो, ऐसा चेहरा बना लिया।' 'साहब तो शेर जैसा दीख पड़ा। [२२४

उसके आस-पास के आदमी सियार, बाघ, तेंदुए और रीछ आदि क्रूर पशुओं जैसे लगे। आदमी तो उनमें एक भी नहीं दीख पड़ा।' और इसके लिए कानून की क्या सहायता ली जाय? अँग्रेज़ी राज्य का कानून इतना उलझन भरा है कि वेद के अर्थों की तरह उसके अनेक अर्थ होते हैं। जिन्दगी समाप्त हो जाय या गाँव छोड़ना पड़े, तो भी बारह-बारह वर्ष तक मुक़दमा खतम नहीं होता।

दलपतराम सुधारक थे। उन्होंने जनता से पाश्चात्य विज्ञान से लाभ उठाने की प्रार्थना की। आलस्य और अन्ध-विश्वास त्याग रेलगाड़ी, छापाखाने आदि आश्चर्यों से लाभ उठाने, शिक्षा प्राप्त करने और देशाटन करने के लिए उन्होंने बार-बार अपनी कविताओं में ज़ोर दिया है। साथ ही वे इस बात का भी मार्मिक वर्णन करते हैं कि मशीनों के आगमन से भारतवर्ष में गरीबी फैली और प्राचीन उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये।

चीन विलायतमां वध्या, हुंनर प्रगट हजार;
एओए आ देशनी निर्धन करी वजार। ※

('हुन्नर खाँ की चढ़ाई' दलपत काव्य भाग २)

बादशाह हुन्नर खाँ ने अपने मंत्री यंत्र खाँ की सहायता से फौजें और अगणित जहाज ले हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। वह अपने साथ रंगीन छींटें, धातु के विविध सामान, विचित्र अस्त्र, सूती कपड़ा, संचे, कैंचियाँ, सुई, चाकू आदि लाया।

'गण्यां नहि गणाय के न थाय लेखु लेखतां,
मनुष्य मोह बन्ध थाय अन्ध तुर्त देखतां।
× × ×
लुटी अनेक उद्यमी तणी बजार आवते
तुटी घणीक पेढ़ीयो हथ्यार थी हठावते।
× × ×
लूटि मुलक हिन्दुनो लीधो, दशे दिशामां डंको दीधो
वश करी जन उद्यम पुरवालां, ते घर जड्यां विलायती तालां। ×

(हुन्नर खाँ की चढ़ाई—दलपत-काव्य भाग २)

※ चीन और विलायत में जो हजारों नये-नये उद्योग-धन्धे निकले, उन्होंने इस देश को चौपट कर दिया।

× इतनी सारी चीज़ें कि आदमी देखकर मोहान्ध हो जाय। न तो गिन सके और न देख ही सके।

आते ही उसने अनेकों उद्योगों को लूटकर नष्ट कर दिया, अपने हथियारों की मदद से कितनी ही पीढ़ियों को तोड़ डाला, दिवालिया कर दिया

हिन्दुस्तान को यों लूट लिया ; दसों दिशाओं में अपनी विजय का डंका बजा दिया। (हुन्नर खाँ ने) उद्यमी और नगर के निवासियों को वश में कर उनके मकानों पर विलायती ताले लगा दिये।

कवि विलाप करता है कि मुगलों से रक्षा करने शिवाजी आये थे ; परन्तु अब कौन मदद करने आयेगा ?

'कोण हिंदुतणी राखी चिंता घणी,
जातुं परदेश धन बंध करशे,
हडहडी चालियुं केम रहेशे हवे,
तूटियुं टांकुं जल केम धरशे। *

प्रतिकार का एक ही उपाय है। यदि जनता जाग्रत हो, आलस्य तथा अन्ध-विश्वास का त्याग कर विदेश जा, नवीन हुन्नर-उद्योग सीख, उन्हें अपने देश में स्थापित करे तो कुछ हो सकेगा ?

और दलपत के समकालीन वीर कवि नर्मद को श्री भूलाभाई कैसे भूल गये! कवि नर्मद ने तो गुजरात को प्रेम और शौर्य का बीज-मन्त्र दिया। स्वदेशाभिमान की ज्वाला उसकी रग-रग में जलती थी।

'धिःक धिःक दासपणुं दासपणुं ;
त्यूं तमारुं शाणपणुं।'
'दासपणुं कयां सुधी, करवुं दासपणुं कयां सुधी ?' ×
(नर्मदनुं मंदिर—पद्यविभाग शौर्योद्बोधन)

उसे तो स्वतन्त्रता का जल हलका और स्वादिष्ठ लगा था और दासता का भारी और कडुआ। उसके लिए यह असह्य था कि परदेशी हमारे हक्कों को लूट ले जायँ।

नथी शाणपण टकटक जोवे, परजन हक लूटे तें ;
मोटप छे शूरातन दाखे, ठगने करवें छेटे। *

आपसी मनोमालिन्य और झगड़ों में सब कुछ नष्ट हो गया। जब दो आदमी लड़ते हैं तो उसमें तीसरे का स्वार्थ-साधन होता है। इसलिए आपसी झगड़ों को दूर करना चाहिये। स्वार्थ को एक ओर हटा, आनेवाली पीढ़ियों की खातिर प्राणों की बाजी लगा लड़ना चाहिये।

'नर्मद कहे कवि भाइयो, संधा जगवोनी आर्याभिमान,
देशनी भक्ति ने शौर्य वधारो, गाई स्वतंत्रतानां गान।' +

---

* हिंदुओं की चिन्ता कर विदेश जाता हुआ धन कौन अटकायेगा ? अनादर कर जाती हुई लक्ष्मी कैसे रुक सकेगी ? टूटे टाँकों (वाली चड़स) में पानी कैसे रुका रहेगा ?

× दासता को धिक्कार है ; तुम्हारी समझदारी तो नष्ट हो गई। गुलामी कब तक करते रहोगे ?

* समझदारी इसमें नहीं है कि दूसरों को अपने हक लूटने दिये जायँ और टुकुर-टुकुर देखा करें। महत्ता तो वीरता दिखाने और ठगों को मार भगाने में है।

+ कवि नर्मदाशंकर कहते हैं कि सब कवियों को मिलकर जनता में आर्याभिमान (देशाभिमान) जाग्रत करना चाहिये। स्वतंत्रता के गीत गा-गाकर देश-भक्ति और वीरता की भावनाएँ बढ़ानी चाहियें।

लोगों की जमीन गई, धन गया, उद्योग गया। और लोगों से हथियार छीन उन्हें पुरुषार्थहीन बना दिया। ये सब बातें उस वीर के हृदय में शूल की तरह खटकती थीं।

'पुरुषपणुं हरी लीधुं भाई, सहुने वृंदल कीधा,
यशस्वी आर्ये आटले वर्षे दीस्य दामडा लीधा।' ×

आगे वह अपनी 'हिन्दुओनी पड़ती' १८६३ और 'वीर सिंह'—१८६७ (नर्मदनुं मंदिर-गद्य-विभाग) में लिखते हैं—विदेशी मोटी तनख्वाहें लेते हैं और यों यहाँ का धन परदेश ले जाते हैं। चूहे के समान फूँक दे-देकर काटते और खून चूस लेते हैं। न्याय करने में ऊँच-नीच, जाति-धर्म और काले-गोरे का पक्षपात करते हैं। मूर्ख, अनजान और अयोग्य अंग्रेज़ ऊँची पदवियाँ पाते हैं। विद्वान और कार्यपटु भारतीयों की कहीं पूछ नहीं होती। किसी भी भारतीय को सेना में ऊँचा पद नहीं दिया जाता। बहाने बनाकर देशी राज्य छीन लिये जाते हैं और माल लूट लिया जाता है। जनता को चाहिये कि वह इन सभी बातों को समझ-बूझ ले। पढ़-लिखकर, अपने स्वत्वों का ज्ञान प्राप्त कर ले। उन्हें पाने के लिए विरोध करे और लड़े। इस कारागृह से अपने आपको मुक्त करे। सच कहने में भय किसका ? अभी तक घाव (१८५७ ?) हरे हैं, तो भी टाँके टूट जायँ या मौत आ जाय और जब तक लोगों में देशाभिमान है, तब तक मैदान में निकल आना चाहिये। नहीं तो,

अे जोस्सो जो गयो समूलो, पडूया न उठशो को दी;
गुलाम थईने नीचां करमो, सदैव करशो शोदी। *

उस समय अनेकों भारतीयों में हक की यह भूख जागी थी। पिछली शताब्दी के सुप्रसिद्ध गुजराती दार्शनिक श्री मणिलाल नभुभाई द्विवेदी ने अपने 'सुदर्शन' पत्र के १८९३ के किसी अंक में लेजिस्लेटिव कौंसिल और कांग्रेस के संबंध में लिखते हुए लिखा था कि 'विदेशियों ने हमारे हृदयों में राज्य, गृह, संसार, धर्म इत्यादि के बारे में जो नई-नई वासनायें पैदा की हैं, उन्हें सन्तुष्ट करने का उपाय न करना राजा तथा प्रजा के लिए बुरे परिणामों का कर्ता है। भूख लानेवाली दवा खिलाकर, भूख लगने पर खाने को कुछ न देना हानिकर ही है।'

(सुदर्शन-गद्यावली पृ० ४६२ तथा 'मानसी' सितंबर, '३८)

मणिलाल उच्चकोटि के विचारक तथा आर्य-संस्कृति के अभ्यासक थे। इन्हें पूर्व तथा पश्चिम में समन्वय स्थापित करना था। 'पूर्वीय संस्कृति ही अच्छी है और पश्चिमीय त्रुटि-पूर्ण या इसका उलटा और यह कि पश्चिमी शिक्षा से भारतीयों का भला ही होगा, आदि बातों में इनका विश्वास नहीं था। परन्तु पाश्चात्य जनता से हमें बहुत कुछ सीखना है और उन्हें भी हमसे कुछ कम नहीं सीखना है। उन्हें हमारे भूतकाल से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और हमें उनके वर्तमान से।'—यह उनका विश्वास था। राजनैतिक मामलों में भी यह अपना मत स्वतंत्रता

× लोगों को पुरुषत्व-हीन बना दिया। यशस्वी आर्य-प्रजा ने अपनी उज्वलता में दाग़ लगा लिया।

* अगर यह जोश समूल नष्ट हो गया तो फिर कभी उठ न सकोगे। गुलाम बने रहकर सदैव नीच-कर्म किया करोगे।

तथा निर्भीकता से प्रदर्शित करते थे। उदाहरणार्थ इन्होंने मार्च १८९८ में नातु-बंधुओं को बिना मुक़दमा चलाये सजा करने और लो० मा० तिलक की गिरफ़्तारी का विरोध करते हुए लिखा था : 'सरकार फिर हठ और मनमानी करने लगी है।' जुलाई १८९८ में सरकार को सिक्के की विनिमय दरें घटाने-बढ़ाने का तमाशा छोड़ फौजी खर्च कम करने की ओर ध्यान दिलाया था। और सितम्बर १८९८ में राजद्रोह के उस नये क़ानून का जिससे खुले आम बातचीत करने और मिलनेवालों पर भी कड़ा प्रतिबंध लग गया था, ज़ोरदार विरोध किया। इसी सिलसिले में दिवान बहादुर अम्बालाल साकरलाल का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने गुजरात में कांग्रेस तथा स्वदेशी आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया था।

साप्ताहिक पत्र गुजराती के यशस्वी सम्पादक स्व० इच्छाराम सूर्यराम देसाई को अपने पत्र में अंग्रेज़ी सरकार की आलोचना करने के कई प्रसंग प्राप्त हुए और उन्होंने पूरी निडरता से काम किया। फिर १८८०–९० के लगभग 'गंगा गोविन्द सिंह अथवा हेस्टिंग्स की लाठी' जैसी 'गुजराती' की भेंट-पुस्तकों ने गुजरातियों को ढाल की दूसरी बाजू दिखलाई और अंग्रेज़ी-राज्य के बारे में गम्भीर विचार करने की प्रेरणा की। ऐसी पुस्तकों पर तो सरकार की भी कृपा-दृष्टि हुई थी। कहा जाता है कि अहमदाबाद के सरकारी ट्रेनिंग कॉलेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल (सर) महिपतराम रूपराम नीलकंठ ने अपने विद्यार्थियों को उक्त पुस्तक पढ़ने की मनाही की थी। उसमें की कहानी वे कक्षाओं में सुनाते और कहते अंग्रेजों ने हमारा हाथ अपने मुँह में कर लिया है और वह एकदम खींचकर नहीं निकाला जा सकता। उसे थोड़ा-थोड़ा कर निकाला जाय। फिर जब केवल अँगुली ही मुँह में रह जायगी तो एकदम खींच लेंगे। *

सूरत से प्रकाशित होनेवाले 'गुजरात-मित्र' के तत्कालीन लोकप्रिय सम्पादक राय-साहब मंधाराम घेलाभाई का एक नागरिक तथा पत्रकार का जीवन उनकी स्वतंत्र मनोवृत्ति का परिचय कराता है। ये १८६७ से १८७२ तक सूरत के पास कातरगाँव की सरकारी पाठशाला के शिक्षक थे। वहाँ इनका काफ़ी आदर-मान था। परन्तु गोरे इन्स्पेक्टर की जी-हुज़ूरी से अप-मानित होने की अपेक्षा नौकरी छोड़ना इन्होंने अधिक उचित समझा। १८७८ ई० में श्री इच्छाराम देसाई की 'स्वतंत्रता' पत्रिका के सम्बन्ध में इन्हें भी सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ा। इसके बाद जब सूरत के निवासियों ने उसी साल के अप्रैल महीने में म्युनिसिपैलिटी के नये कर, नये लाइसेंसिंग कर और सरकार द्वारा बढ़ाये गये नमक-कर के विरोध में हड़ताल की और हुल्लड़ मचाया तो 'सूरत रायट केस' में यह भी गिरफ़्तार हुए। तब इन्होंने जिस धैर्य तथा निडरता से अपना और अपने निर्दोष साथियों का बचाव किया वह उस समय की स्वतंत्र गुजराती मनोवृत्ति का अच्छा नमूना है।

पिछली शताब्दी के अन्त में ही, १८८७ से १९०२ तक, श्री गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी ने अपने उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' के चार Epoch-Making भाग प्रकाशित किये। उसमें विद्वान लेखक ने अनेकों राजनैतिक तथा सामाजिक प्रश्नों की चर्चा की है। अंग्रेज़ी राज्य की आलोचना भी इस पुस्तक में काफ़ी हुई है। श्री गोवर्धनराम क्षत्रिय राजाओं के मुँह से ब्रिटिश सत्ता की और खासकर Political Department की काफी आलोचना करवाते हैं।

* मेरे विद्वान मित्र और सूरत कॉलेज में गुजराती तथा अंग्रेज़ी के अध्यापक प्रो० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी का साभार उल्लेख करता हूँ, जिनसे मुझे यह बात मिली है।

[२९८

उपन्यास के चौथे भाग में श्री वीरराव खापर्डे, उस समय के उग्र महाराष्ट्रीय नेताओं की भाँति ब्रिटिश राज्य और देशी राज्यों की कड़ी आलोचना करते हैं।

'सरस्वतीचन्द्र' का तीसरा भाग प्रकाशित होने में देर होने का कारण यह था कि सरकार को उसमें राजद्रोह की गंध आई। उसमें के कुछ पात्र इस तरह की धारणा बँधाते हैं कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ी राज्य के आगमन के बाद क्षात्र-तेज कम हुआ और क्षत्रिय निर्वीर्य हो गये। वे हलके धंधे करने लगे। आपस में फूट हो गई। दास-मनोवृत्ति बढ़ी। राजा डरपोक, व्यवहार-हीन और व्यसनी हो गये। न कुछ-सी घटनाओं के घट जाने पर ईर्ष्या-द्वेष करना आदि स्त्रियों के दोष उनमें घर करने लगे।

यदि यहाँ अंग्रेज़ों की सत्ता न रही होती तो इनमें अपवाद-स्वरूप जो राजा थे उनसे भारतवर्ष का शायद उद्धार हुआ होता। फिर भी भविष्य में देशी राज्यों की प्रजा शिक्षित हो, जाग्रत होगी और ब्रिटिश हिंद तथा देशी राज्यों में एक प्रकार का संघ-शासन स्थापित होने × की सम्भावना है।

इस प्रकार की अनेकों धारणायें 'सरस्वतीचन्द्र' में मिलती हैं। परन्तु देखा जाय तो गोवर्धनराम अपनी सदी के अन्य विचारकों की तरह ब्रिटिश राज्य से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उनकी धारणा थी कि भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य ही के कारण सुधार, तार, डाक, रेलगाड़ी आदि आये; अंधाधुंध और अशान्ति के बाद न्याय और शांति स्थापित हुई। उन्हें विश्वास था कि भारत में अंगरेज़ी राज्य की स्थापना में अवश्य ही कोई दैवी शक्ति है। उस जमाने में जब कि राजनीति और अर्थशास्त्र का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, ग्लेडस्टन तथा रिपन और भारतीय कांग्रेस के सहायक मि० ह्यूम तथा वेडवर्न जैसे अँगरेज़ उदार दृष्टिकोण-वाले थे, यह बिलकुल स्वाभाविक था कि सुधरे हुए लोग शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से प्रभावित हो जायँ। अँगरेज़ी शासन की छत्र-छाया में भारतीय प्रजा प्रगति करती रहेगी, ऐसी उनकी श्रद्धा थी और वे लोग मानते थे कि भारत की महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में अँग्रेज़ सहायक होंगे। इस तरह की श्रद्धा में विश्वास नहीं करनेवाले भी भारतवर्ष में—और गुजरात में—थे। परन्तु इस तरह की श्रद्धा रखनेवालों की श्रद्धा ब्रिटिश सरकार ने कहाँ तक टिकी रहने दी, इसे इतिहास बतलायेगा।

सूरत।

× इस संबंध में अधिक जानकारी के लिए श्री केशवलाल कामदार की 'सरस्वतीचन्द्रमां राज कारण' लेखमाला (कौमुदी १९१२-१५) देखिये।

कुब्जा

[श्रीपाद नरसिंह बेंडे]

[श्री श्रीपाद नरसिंह बेंडे ने गिनी-चुनी कहानियाँ ही लिखी हैं। पर जो हैं, वे उत्तम श्रेणी की हैं 'कुब्जा' में बाल-जीवन की करुणा का एक विशद चित्रण है। आप महाराष्ट्र थे। प्रस्तुत कहानी 'प्रतिभा' के ११-५-३४ अंक से अनूदित की गई है। —सं०]

उसका असल नाम वेणू था। परन्तु पिताजी के सिवा मेरी तीनों बड़ी बहनें और माता उसे उसके 'रूप' के कारण 'कुब्जा' कहकर पुकारा करती थीं और वह भी बिलकुल स्वाभाविक रूप से उत्तर में 'हाँ' कह दिया करती थी।

ग्यारह वर्ष पहले जब कुब्जा का जन्म हुआ था, तब वह हम सभी लड़कों की तरह काली या साँवली रही होगी। लेकिन मेरी मा को वह सब्ज-क़दम मालूम होती थी। और इसका कारण यह था कि जिस दिन उसका जन्म हुआ था, उसी दिन मेरी मा के सगे बड़े भाई जो बहुत अच्छे कारबारी थे, कहीं किसी गाँव में प्लेग से मर गये थे। मेरी माता कहा करती थीं कि 'यह पाजी तो जनमते ही स्वयं मुझको मार डालना चाहती थी।' कहते हैं कि दैव ने अष्टावक्र कुब्जा को सुन्दरी बना दिया था। परन्तु देव की पत्नी अर्थात् देवी ने मेरी बड़ी बहन वेणू को कुब्जा कर दिया था। उस पर देवी इतनी अधिक आ पड़ी थीं कि...। और मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि जब देवी उसके मुँह पर खड़ी होकर नाचने लगी थीं, तब देवी को उसकी सीधी नाक की ठोकर लग गई थी, जिससे उसका पैर फिसलकर वेणू की आँख के गड्ढे में जा पड़ा था, जिससे उसकी एक आँख सफेद होकर महादेवजी के पिंड की तरह बाहर निकल आई थी और उसकी नाक का सीधा बाँसा ऊँट के कूबड़ की तरह कुछ विचित्र ढंग से टेढ़ा-तिरछा हो गया था। बेचारी गरीब वेणू का जो नया नाम रखा गया था, कदाचित् उसे सार्थक करने के लिए ही उसके दाँत भी उसके मुँह में के ठीक बीच में से टेढ़े-तिरछे होकर बाहर निकल आये थे।

वेणू ! कुब्जा ! वह मेरी भी और मेरी तीनो बड़ी बहनों की भी सगी बहन ही थी। लेकिन वे तीनो बहनें सुन्दर थीं।

यह तो कभी होता ही नहीं था कि वेणू रोज दिन भर में किसी न किसी कारण से पाँच-छः बार न रोये और तीन-चार बार रूठकर मुँह न फुलाये। वह रूठती अवश्य ही थी। लेकिन कोई उसे मनाता नहीं था। वह पहले तो थोड़ी देर तक रोती रहती थी; परन्तु फिर तुरन्त ही किसी न किसी नई बात पर आप से आप हँसने लगती थी और मा तथा बड़ी बहनों के पास पहुँच जाती थी। वह उन लोगों की नकल उतारती और उन्हें चिढ़ाती थी। अगर उन लोगों के मन की मौज होती, तब तो वे उसका वह नकल उतारना और चिढ़ाना सह लेती थीं; और नहीं तो उसे चार-पाँच गालियाँ देकर, दो-तीन थप्पड़ लगाकर, एकाध लात जमाकर और या उसे रुलाकर वहाँ से हटा देती थीं। मा के पास कोई उलाहना लेकर तो वह जा ही नहीं सकती थी। बहुत होता तो वह मुझे अलग ले जाकर कहती—छोटे भइया, तुम्हीं हमारे भइया हो। अब हम दोनो कभी मा और बड़ी बहनों से नहीं बोलेंगे। मुझे उसकी ये सब बातें बहुत अच्छी लगती थीं। मैं निश्चय कर लेता था कि उसी के साथ बैठकर खेला करूँगा। लेकिन अपनी मा के घर चार लड़कियों के बाद मैं एक लड़का हुआ था। इसलिए स्वभावतः मैं सबको बहुत अधिक प्रिय था। जहाँ कोई 'बब्बन' कहकर पुकारता था, तहाँ मैं नौ-दस वर्ष की कुब्जा को दिया हुआ अपना वचन भूलकर दौड़ा हुआ उसके पास जा पहुँचता था। उस समय कुब्जा की दृष्टि का जो रंग होता था, वह—यद्यपि उस समय सात वर्ष का था, तो भी मुझे आज तक याद आता है।

आज देशमुख के यहाँ भोजन करने के लिए जाना था। निमन्त्रण तो हम सभी लोगों को था; लेकिन एक मुझे और एक कुब्जा को छोड़कर बाकी और सभी बहनों की जाने की तैयारी हो रही थी। और सब बहनें कपड़े आदि बदलकर जाने की तैयारी कर रही थीं और मैं ओसारे में खड़ा हुआ और अपने रुमाल की तह लगाता हुआ उन लोगों की तरफ़ देख रहा था। इतने में मैंने देखा कि कुब्जा 'फुऊँ-फुऊँ' की बेसुरी आवाज़ करती हुई वहाँ आ पहुँची। उस समय उसके पैरों के तलवे कीचड़ से भरे हुए थे, उसके छोटे और एक जगह घुटने तक फटे हुए मैले-कुचैले लँहगे में से पैर पर पड़े पानी के छींटे दिखाई दे रहे थे। उसने जो कुरती पहनी थी, उसकी केवल एक ही घुंडी लगी थी, जिससे उसके पेट का कुछ हिस्सा दिखाई दे रहा था और उस हिस्से पर उसके उस मुख से लार की बूँदें टपककर पड़ रही थीं, जिसमें रखकर वह पीपल को लपेटकर बनाई हुई छोटी सीटी या बाजा बजा रही थी। 'फुऊँ-फुऊँ' की बेसुरी आवाज़ उसी बाजे से निकल रही थी।

हम लोगों के जाने की तैयारी देखकर कुब्जा ने अपना बाजा बजाना छोड़कर सहज रूप से कहा—हूँ। तुम लोग कहाँ जा रहे हो? इसके बाद क्षण भर तो उसने उत्तर की प्रतीक्षा की और उसके बाद तुरन्त ही अपना 'पीं-पीं'वाला पत्ते का बाजा फेंककर कहा—मैं भी चलूँगी। मुझे भी न्योता है।

इतना कहकर वह अपनी तैयारी करने के लिए आगे बढ़ी। उस जल्दी में, अनजान में, बिलकुल अनजान में, उसका पैर मा के जरीवाले उस दुशाले पर पड़ गया, जो आधे बरामदे में फैला हुआ था। यह बात उस बेचारी के ध्यान तक में नहीं आई थी; लेकिन चाहे किसी कारण से हो, फनफनाई हुई मा ने यह बात देख ली और उसने ख़ूब ज़ोर से कुब्जा की पीठ पर एक धौल जमाकर पूछा—पाजी, तेरी आँखें फूट गई हैं?

वह धौल उसकी पीठ पर बहुत ज़ोर से बैठी थी, इसलिए पीठ टेढ़ी करके कुब्जा जल्दी से दूर भाग गई और एक हाथ से अपनी पीठ सहलाती हुई बहुत ही दुःखित भाव से मा की ओर देखती हुई बोली—वाह मा। मैंने देखा नहीं था। तुमने मुझे क्यों मार दिया?

शाल पर लगा हुआ कीचड़ पोंछते हुए मा ने गरजकर कहा—तुझे पैर सँभालकर रखना चाहिये था, कम्बख्त मरी कहीं की! नीचे देखकर चले तो इसकी जान ही निकल जाय।

कुब्जा अभी तक अपनी पीठ सहलाने का प्रयत्न कर रही थी। वह बहुत ही दीनता-पूर्वक बोली—ओढ़ने का शाल इस तरह फैलाकर रखना होता है? अगर उसमें मिट्टी लग ही गई तो क्या हुआ?

वह खड़ी हुई इसी तरह की और भी कई बातें बड़बड़ा रही थी।

मेरी दूसरी बहन शीशे के सामने बैठी हुई रोली लगा रही थी। उसने बिगड़कर कहा—बस, बस वहीं खड़ी तड़प। बीच में आकर अँधेरा मत कर।

कुब्जा को डर हुआ कि कहीं उसका भी थप्पड़ न खाना पड़े, इसलिए वह वहाँ से भी धीरे से खिसक गई। लेकिन फिर भी वह यही चाहती थी कि मैं भी अपनी बहनों के साथ चलूँ। उसकी यह इच्छा उसके मन से दूर नहीं होती थी। जब प्रथमग्रासे मक्षिकापातः हुआ, तब उसकी समझ में यह बात नहीं आती थी। कि यह बात मैं किससे और कैसे पूछूँ कि क्या तुम लोग मुझे अपने साथ नहीं ले चलोगी? वह निराश-सी होकर बारी-बारी से एक-एक की ओर देख रही थी।

मेरी मँझली बहन ने अपना काम निकालने के लिए कुब्जा से कहा—कुब्जा, ज़रा जाकर वहाँ से मेरे बकस में से कान का झुमका निकाल लायेगी? जा जा पगली, कहीं की। मैं तुझे अपने साथ ले चलूँगी। केवल इतनी ही बात से कुब्जा को उस समय कितना अधिक आनन्द हुआ था। धौल से उसकी पीठ पर जो आग लगी हुई थी, वह मानो एक दम से शान्त हो गई और उसने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा—हाँ, मैं अभी ले आती हूँ।

इतना कहकर वह दौड़ी हुई अन्दर चली गई।

मुझे इस बात से तो बहुत अधिक आनन्द हुआ कि कुब्जा भी हम लोगों के साथ चलेगी और इसी लिए ज्यों ही वह झुमका लेकर आई, त्यों ही मैंने उसके पास पहुँचकर उसे सुझाया—बस जल्दी से तैयार हो जाओ।

एक तो यों ही उसमें बहुत जल्दबाजी थी। तिस पर अब क्या पूछना था। वह यह बोली—मँझली बहन, मैं अभी आती हूँ। और इतना कहते ही उसने मुँह धोने के लिए बड़ी बहन के बटुए के पास रखी हुई साबुन की डिबिया उठा ली।

बड़ी बहन ने गरजकर कहा—कुब्जा, रख दे वह डिबिया। वह मेरा साबुन है।

कुब्जा सोचती थी कि कहीं मेरे तैयार होने में देर न हो जाय, इसलिए उसने कुछ घबराकर कहा—बहन, घर का साबुन कल ही खतम हो गया है। मैं ज़्यादा साबुन नहीं लगाऊँगी।

लेकिन बड़ी बहन भला कब माननेवाली थी। उसने कहा—नहीं नहीं। उसे मत छू। उधर कपड़ा धोने का साबुन रखा है। उसी से धो ले।

कुब्जा ने बिगड़कर साबुन की डिबिया ज़मीन पर रखते हुए कहा—मैं कपड़ा धोने के साबुन से मुँह नहीं धोऊँगी।

ज़रा-सा साबुन बहन मुझे नहीं देती, यह समझकर कुब्जा ने अपमान का अनुभव किया और पिछली बात का जिक्र छेड़कर कहा—और मेरा सब साबुन तुम लोग कैसे घिस-घिसकर लगाया करती थीं।

बड़ी बहन ने कुब्जा के हृदय पर बाण छोड़ते हुए कहा—हाँ मैं लगाती हूँ—मैं बड़ी जो ठहरी। और तुझे साबुन की क्या ज़रूरत है? साबुन लगाकर क्या तू गोरी बन जायगी, और सुन्दर हो जायगी? हिडिंबा कहीं की। ऐ है, क्या तोबड़े जैसा मुँह है और क्या अवतार है!

कुब्जा ने करुण स्वर में कहा—देखा मँझली बहन, ये बड़ी बहन किस तरह की बातें करती हैं।

लेकिन उसकी इस विकलता और क्षोभ पर भला कौन ध्यान देता था। सभी तैयार हो चुकी थीं।

अपना बटुआ कोने में रखते हुए बड़ी बहन ने बिगुल फूँका—हाँ, अब चलो। जल्दी करो।

थोड़ी देर पहले जिस मँझली बहन ने कुब्जा को यह आशा दिलाई थी कि मैं तुझे अपने साथ ले चलूँगी, वह भी अब उसकी ओर बिना कुछ ध्यान दिये चलने को तैयार हो गई। अब कुब्जा के मन में भी जाने के लिए कुछ अधिक उत्साह नहीं रह गया था; लेकिन फिर भी मैं यह चाहता था कि वह भी हम लोगों के साथ चले। केवल इतना ही नहीं; बल्कि मेरी यह भी इच्छा थी कि मा, बड़ी बहन या मझली बहन में से कोई कुब्जा के उतरे हुए मुँह पर हाथ फेरकर उससे चलने के लिए कहे। अन्त में ठीक नीचे जानेवाली सीढ़ियों के दरवाजे के पास पहुँचकर मैंने ही पूछा—क्यों मा, क्या कुब्जा हम लोगों के साथ नहीं चलेगी।

परन्तु मेरे प्रश्न का किसी ने उत्तर नहीं दिया। और मैंने भी फिर और कोई प्रश्न नहीं किया।

• • •

आज भाई-दूज थी। चार बहनों में मैं एक अकेला भाई था। मेरा लाड़-चाव भी वैसा ही होता था। सवेरे उठते ही मेरे लिए आवश्यक प्रत्येक काम करने में मेरी सब बहनों में प्रतियोगिता-सी होने लग गई थी। कोई मेरे पैर रगड़कर साफ़ करती थी, कोई मुझे तेल लगाती थी, कोई स्नान कराती थी और कोई चौक पुराती थी। और न जाने सब क्या-क्या करती थीं। आखिर वह भाई-दूज का ही दिन था। लेकिन इन सब बातों में एक बात मुझे बहुत ही खटक रही थी। और वह थी कुब्जा की दीन अवस्था। वह भी सवेरे से ही यह चाहती थी कि और सब बहनों की तरह वह भी मेरा कोई काम करे, क्योंकि वह भी मेरी बहन ही थी। लेकिन जब वह कोई काम करने के लिए आगे बढ़ती थी, तब एक न एक कारण निकालकर उसका अपमान किया जाता था। और वह चुपचाप दूर जाकर खड़ी हो जाती थी। मैं यह तो चाहता ही था कि जिस तरह हो सके, उससे भी कोई काम कराऊँ—उसे भी कोई काम करने का अवसर दूँ; और केवल इसी विचार से मैं दोपहर को दोबारा स्नान करने के लिए भी तैयार हो गया था। लेकिन मेरे नहलाने के लिए जब वह पानी गरम करने बैठी, उसने चूल्हा सुलगाया, तो धूएँ के कारण सारी बात मिट्टी में मिल गई। और साथ ही उलटे उसे मार भी खानी पड़ी।

'हिडिंबा! बस तू दूर ही अच्छी है। पाजी कहीं की। बस उधर ही पड़ी तड़पाकर।

बड़ी आई बहनपना दिखलानेवाली! कुलच्छनी कहीं की!' बस आज सवेरे से मेरे कारण उसे यही सब मुक्ता-फल उपहार में मिल रहे थे। आज तीनो बहनें मिलकर मेरे और उसके पीछे पड़ गई थीं। मुझे तो कोई छोड़ती नहीं थी और उसे अपने में मिलने नहीं देती थी।

सन्ध्या समय जब बाबूजी घर आये, तब वेणू उठकर आँगन में जा खड़ी हुई।

मेरे पिता, माता और मैं तीनो आदमी बैठक में बैठकर उन सब चीज़ों के विभाग कर रहे थे, जो बहनों को आरती की थाली में दी जाने को थीं× । पिताजी ने ज़री किनारे की तीन साड़ियाँ निकालकर मुझे दी थीं और कहा था कि ये तीनो साड़ियाँ अपनी तीनो सबसे बड़ी बहनों को एक-एक करके दे देना। मुझे यह देखकर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि वेणू को देने के लिए वहाँ कुछ भी नहीं बचा था। और सब लोगों की तरह आज पिताजी भी उसे भूल गये थे। इतने में पिताजी के आफ़िस का एक चपरासी एक छोटा-सा बंडल लेकर वहाँ आ पहुँचा। उसे खोलकर मुझे दिखलाते हुए पिताजी ने पूछा—और क्यों बब्बन, यह किसे दिया जायगा? पिताजी का वह प्रश्न सुनकर मैं मारे आनन्द के गद्गद् हो गया। 'कुब्जा को! क्यों ठीक है न बाबूजी!' परन्तु पिताजी एक दम से गम्भीर हो गये। कुछ देर तक मेरी तरफ़ आँख गड़ाकर देखने के बाद उन्होंने कहा—क्या तुम भी उसे कुब्जा कहने लग गये?

'नहीं वेणू बहन को। क्यों ठीक है न?'—कहकर मैंने अपनी भूल सुधारी।

पिताजी ने कहा—हाँ उसी को। देखो बब्बन, हम लोगों को उसे कुब्जा नहीं कहना चाहिये। उस समय पिताजी कुछ नाराज़-से हो गये थे। अगर यह बात न हुई होती तो मुझे उस समय इतना अधिक आनन्द हुआ था कि वेणू को दी जानेवाली चीज़ें देखकर मेरा जी चाहता था कि दोनो हाथों से तालियाँ पीटता हुआ घर भर में नाचता फिरूँ।

वेणू के लिए पिताजी ने गुलाबी रंग की एक बहुत बढ़िया साड़ी, एक चोली और मोतियों का कान में पहनने का फूल मँगाया था।

उन चीज़ों को देखते हुए मा ने कहा—उस गँवार के लिए इतनी सब चीज़ें लाने की क्या ज़रूरत थी! वह तो ये सब चीज़ें खराब कर डालेगी।

पिताजी ने शान्त भाव से उत्तर दिया—करने दो।

इस पर माता ने एक और आपत्ति खड़ी की। कहा—लेकिन बड़ी तीनो लड़कियाँ तो इससे नाराज़ होंगी न?

पिताजी ने कहा—नहीं नहीं, नाराज़ क्यों होने लगीं। पर साल उन सबको भी तो इसी तरह की साड़ियाँ, कुरतियाँ और फूल मिले थे। और देखो, यह बात पहले किसी से कहना नहीं।

• - •

सामनेवाले पटरे पर बैठे हुए पिताजी सन्ध्या समाप्त करके विष्णु-सहस्रनाम का पाठ कर रहे थे। मैं ज़री की टोपी पहनकर पीढ़े पर बैठा था। कुब्जा को जो चीज़ें देनी थीं, उन्हें मैं अपने पीढ़े के नीचे छिपाये हुए था। मा अन्दर थी। तीनो बड़ी बहनों से कुछ दूरी पर कुब्जा

× महाराष्ट्रों में भाई-दूज की रसम रात को होती है और उसमें बहिनें अपने भाई की आरती उतारती हैं।—अनुवादक।

अँधेरे में दीवार के साथ सटी हुई खड़ी थी। वह कभी इस प्रकार की तैयारियों में सम्मिलित नहीं होती थी। वह समझ रही थी कि सवेरे से जो तीनो बहनें मेरा इतना अधिक अपमान कर रही हैं, वे भला इस समय मुझे क्या लेने देंगी। दिन भर मेरे सब काम करने के समय तीनों बड़ी बहनें बात-बात में मुझसे कहा करती थीं— बब्बन, देखो मुझे आरती में फलानी चीज़ देना, यह चीज़ इतने दाम की होनी चाहिये। मैं खाली चोली नहीं लूँगी। इत्यादि इत्यादि। परन्तु मेरी वेणू ईश्वर से केवल यही मना रही थी कि मुझे किसी तरह भइया की आरती करने को मिले। कोई उलाहना या शिकायत लेकर पिताजी के पास जाने में उसे भय लगता था। और इसका कारण यह था कि जब कभी कोई शिकायत लेकर वह पिताजी के पास जाती थी, तब बाद में मा उसे मारा करती थी। और नहीं तो आज ऐसी बहुत-सी बातें हुई थीं, जिनकी शिकायत लेकर वह पिताजी के पास जा सकती थी।

तीनो बहनें हँसती-कूदती आईं और मेरी आरती उतारकर और खंड (एक प्रकार की चोली) लेकर प्रसन्नता-पूर्वक चली गईं। उन लोगों ने कुब्जा को बुलाया तक नहीं। मानो वह उन लोगों की कोई थी ही नहीं।

अन्त में मैंने ही पुकारा—वेणू बहन, क्या तुम मेरी आरती नहीं उतारोगी?

पहले तो उसने कुछ सिटपिटाकर मेरी ओर देखा और तब वह धीरे-धीरे आगे बढ़ी। कुब्जा से बड़ी जो मेरी दूसरी बहन थी, उसने धीरे से आरती की थाली उसके आगे खिसका दी। और उससे कहा देखो—सँभलकर, धीरे से। अब मेरी कुब्जा मेरी आरती करने के लिए आई। उसका हाथ थरथर काँप रहा था। यद्यपि उसके चेहरे से कुछ दुःख जान पड़ता था; लेकिन फिर भी वह प्रसन्न थी। बीच में एक बार उसकी दृष्टि पिताजी की ओर गई। उसकी आँखें डबडबा आईं। तो भी वह आरती करने लगी। जब वह दोपहर को मुझे दोबारा स्नान कराने के लिए चूल्हा जला रही थी, तब चूल्हे में लकड़ी लगाते समय उसके दाहिने हाथ के अँगूठे में कुछ चोट आ गई थी। उस अँगूठे पर कपड़ा बँधा हुआ था। उसी अँगूठे से उसने मुझे रोली लगाकर मेरी आरती की थी। मैंने धीरे से साड़ी, उसके ऊपर खंड और खंड के ऊपर कान के फूल रखकर आरतीवाली थाली में रख दिये। जब उन सब चीज़ों की ओर उसकी दृष्टि गई, तब वह कुछ और भी सहमी। उसकी समझ में ही नहीं आता था कि यह सब क्या हो रहा है। उसकी मुख-चर्या मानो यह पूछ रही थी कि ये सब चीज़ें केवल मुझे ही क्यों मिल रही हैं। उसके होंठ थरथराने लगे और उसकी आँखों के आँसू टप-टप करके थाली में गिरने और शब्द करने लगे। अगर तुरन्त ही मैं उसके हाथ से थाली न ले लेता, तो अवश्य ही वह थाली ज़मीन पर गिर पड़ती।

उसे सिसकियाँ रोकते हुए देखकर पिताजी ने पूछा—क्या हुआ बेटी वेणू? इधर आओ। और इतना कहकर उन्होंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया।

बहुत ही करुण स्वर से उसने कहा—बाबूजी। और जल्दी से उनकी गोद में अपना मुँह छिपा लिया। उसने 'बाबूजी' कहकर इन दो शब्दों में ही मानो उनसे यह दीन प्रश्न किया था कि जो मैं घर भर में किसी को नहीं भाती, क्या वही मैं आपको इतनी प्रिय हूँ!

पिताजी ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए धीरे से उसका सिर ऊपर उठाया और—'बेटा' कहकर उसका मुँह चूम लिया।

उसी रोज की रात की बात है। हम लोग चौसर खेलने बैठे थे। पिताजी के अफसर बड़े साहब उस दिन काम की जाँच करने के लिए आये हुए थे, इसलिए वे उन्हीं के फेर में पड़े हुए थे।

त्यौहार का दिन था, इसलिए सभी लोगों ने नये-नये कपड़े पहने थे। लेकिन आरती के समय थाली में कुब्जा को मोतियों के जो फूल मिले थे, वे तो उसकी मँझली बहन के कानों में थे और उसे जो साड़ी मिली थी, वह सबसे बड़ी बहन पहने हुए थी। बेचारी कुब्जा तो प्रेम भरी बातों की ही भूखी थी; इसलिए यदि उसके साथ कोई प्रेमपूर्वक बातें करने लगता था, तो फिर वह पिछली सभी बातें भूल जाया करती थी। यदि उसकी बहनें उसके साथ मीठी-मीठी बातें करने लगतीं और उसी प्रकार उसके साथ मधुर व्यवहार करतीं, तो फिर वह उससे जो चाहती थीं, वह सहज में करा लेती थीं। आज भी वही बात हुई थी। उसकी मँझली बहन ने आज उससे मीठी-मीठी बातें करके उसकी साड़ी और फूल माँग लिये थे। उसने भी चटपट प्रसन्न होकर कह दिया था—हाँ हाँ, आखिर हम सब बहनें ही तो हैं। लो बड़ी बहन, तुम मेरी साड़ी ले लो; और लो मँझली बहन, तुम मेरे फूल पहन लो। मैं तो चाहे कैसी ही अच्छी चीज़ क्यों न पहनूँ, पर वह देखने में अच्छी नहीं मालुम होती। बस खुले दिल से यही उत्तर उसने उन लोगों को दिया था।

खेल ख़ूब अच्छी तरह जमा हुआ था। चौसर के जिस घर में मेरी एक काली गोटी बैठी थी, वहीं मेरी मँझली और दूसरी बहन की एक सहेली की गोटी भी आकर बैठ गई थी। इतने में लम्प का तेल कम हो गया। वह बहुत मार्के का वक्त था, इसलिए ज़रा अच्छी रोशनी की ज़रूरत थी। इस पर बड़ी बहन ने कुब्जा को हुक्म दिया—ज़रा तेल लाकर तो लम्प में डाल दे। लेकिन जो कुब्जा रोज खेलनेवालों से बढ़कर कहा करती थी कि मुझे भी अपने साथ खेलाओ। और इसी तरह की बातें वह कहकर बड़बड़ाया करती थी, वह आज बैठक में अकेली ही सोई हुई थी। ज़मीन साफ़ करने से लेकर चौपड़ की बिसात बिछाने और गोटियाँ सजाने तक की सारी तैयारी तो कुब्जा ने ही की थी; लेकिन जब और बहनों ने उसे खेलने नहीं दिया, तब वह रूठ गई थी।

बड़ी बहन ने फिर पुकारा—कुब्जा, अरे ओ बहरी! बब्बन, ज़रा तुम उसे आवाज़ दो तो।

उन सब में छोटा मैं ही था, इसलिए मुझे ही उठना पड़ा।

मैंने बैठक में कुब्जा के पास पहुँचकर उसे हिलाया और कहा—बहन, चलो तुम्हें बड़ी बहन बुलाती हैं।

कुब्जा ने लापरवाही से उत्तर दिया—क्या काम है? जाओ, मैं नहीं जाती।

मैं उसे समझाने लगा—नहीं बहन, देखो अगर वह सुन लेंगी...।

कुब्जा ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—सुन लेंगी तो क्या हो जायगा? जाओ, जाकर उनसे कह दो कि मैं नहीं आती।

परन्तु मेरे जाते ही कुब्जा की बात सुनकर जल्दी से बड़ी बहन वहीं आ पहुँचीं।

आते ही उसने ज़ोर से कहा—क्यों, उठती है सीधी तरह से या मारूँ एक लात! पाजी कहीं की! उलटे ऊपर से जवाब देती है। उठ सीधी तरह से।

इतना कहकर उसने वेणू का हाथ पकड़कर उसे उठाकर खड़ा कर दिया और उसकी पीठ पर एक घूँसा जमाकर उसे आगे ढकेलने लगी। और कुछ कड़ी बातें भी कहने लगी।

कुब्जा ने 'मा रे' कहकर और पीठ टेढ़ी करके मा की ओर देखना आरम्भ किया। उससे कहा गया—चल, जल्दी चल। बेचारी कुब्जा बिना कुछ कहे-सुने चुपचाप चल पड़ी। इस प्रकार रूठी हुई कुब्जा को बहन ने मनाया था। रोशनी के इन्तजार में सब के साथ मैं भी चौसर के पास ही अँधेरे में बैठा हुआ था। मा और बहनें 'जल्दी ला, जल्दी ला।' कह-कहकर कुब्जा के पीछे तगादा लगाये चलती थी। वह बेचारी अपना दुःख मन ही मन दबाकर काम कर रही थी। जब वह लम्प लेकर आई, तब मैंने उसकी तरफ़ देखा था। उसके होंठों की तरह उसका हाथ भी काँप रहा था। आँसुओं की बूँदें गाल पर से नीचे ढलक रही थीं। क्षण भर के लिए मेरे मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि कहीं लम्प उसके हाथ से नीचे तो नहीं गिर जायगा। और ठीक उसी समय बीच में लेटी हुई मा के पैर से उसने अनजान में ठोकर खाई और लम्प तथा कुब्जा दोनो ही ज़मीन पर गिर पड़े। चिमनी टूट गई और लम्प ठीक मेरे पास आकर गिरा जिससे मेरे कपड़ों में आग लग गई। 'पाजी। मरी कहीं की।' आदि गालियाँ देते हुए सब लोगों ने कुब्जा को तो पीछे ढकेल दिया और वे लोग मेरे कपड़ों में लगी हुई आग बुझाने का प्रयत्न करने लगीं।

* * *

मुझे बिस्तर पर पड़े तीन-चार दिन हो गये थे। मैं बहुत अधिक जल गया था। ज़रा-सा हिलने-डुलने में भी मुझे बहुत अधिक कष्ट होता था। मेरी मा और तीनो बड़ी बहनों में से कोई न कोई हर दम मेरे पास ही बैठी रहा करती थी। पिताजी के बड़े साहब अभी तक गये नहीं थे, इसलिए उन्हें बहुत ही कम फ़ुरसत मिलती थी। इन चार दिनों में मुझे देखने के लिए पास-पड़ौस और रिश्ते-नाते की न जाने कितनी ही स्त्रियाँ आकर देख गई थीं; लेकिन मेरी कुब्जा आज तक मुझे एक बार भी नहीं दिखाई पड़ी थी। कौन जाने, उस दिन बेचारी को कितनी मार खानी पड़ी होगी। मैं जब-जब उसके बारे में पूछता था, तब-तब यही उत्तर मिलता था कि—'होगी कहीं। घर में ही है।' मैं सोचता था कि क्या मेरी कुब्जा के मन में मुझे देखने की इच्छा नहीं होती? वह कल ही आई थी। पर मुझे ही दिखाई नहीं पड़ी। ज्यों ही वह दरवाजे के पास आकर खड़ी हुई, त्यों ही मेरे पास बैठी हुई मेरी सबसे बड़ी बहन ने पूछा—क्यों, क्या है कुब्जा?

उसने कहा—मैं भइया को देखूँगी।

बड़ी बहन ने बिगड़कर कहा—अच्छा अच्छा, चल उधर। कुलच्छनी कहीं की। उसकी तो जान ले चुकी थी। बड़ी आई देखनेवाली। चल निकल यहाँ से। खबरदार अगर फिर इधर आई तो।

बेचारी जिस तरह आई थी, उसी तरह और बिना मुझे देखे ही वापस चली गई थी। जिन लोगों के आने की कोई ज़रूरत नहीं थी, वे लोग भी आती थीं, बैठती थीं और जो जी में आता था, बोलती-चालती थीं। लेकिन केवल कुब्जा को मेरे पास आने की मनाही थी। आज सुबह मुझे देखने के लिए जो स्त्रियाँ आई थीं, उन्होंने तो गजब ही कर दिया। जिसके जी में जो आता था, वही वह कुब्जा के बारे में कह चलती थी। 'उसका ब्याह नहीं होगा। वह कुलच्छनी है।' आदि आदि। कुछ स्त्रियों ने यह भी कहा कि अगर उसके शरीर का रक्त निकालकर मेरे शरीर

में भरा जाय तो मैं बच जाऊँगा। इस पर एक स्त्री कह बैठी—लोग कहते हैं कि रक्त देनेवाला आदमी मर जाता है। दूसरी ने कहा—हाँ, कहते तो हैं। लेकिन अगर ऐसा हुआ तो...। इतना कहकर उसने कुछ विलक्षण दृष्टि से एक ओर देखा। मुझे उस पर इतना गुस्सा आया था कि...। लेकिन क्या करता। उन लोगों ने जो ये सब बातें कही थीं, उन्हें सुनने के लिए मेरे सिवा वहाँ और कोई था ही नहीं। इस समय भी मेरे पास और कोई नहीं था। मैं अकेला ही था! यह अवसर ताककर अगर कुब्जा...।

इतने में मुझे सुनाई पड़ा—छोटे भइया। आवाज़ सुनते ही मैंने पहचान लिया कि यह मेरी बहन कुब्जा ही है।

मैंने कहा—आओ न बहन।

कुब्जा ने पूछा—आऊँ?

इतना कहकर और एक बार बाहर दरवाजे की तरफ़ देखकर कुब्जा जल्दी से आकर मेरे पास बैठ गई। उसकी आँखें सूजी हुई थीं और चेहरा बहुत ही उतरा हुआ था। मेरी ओर देखते-देखते उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसने रोते हुए पूछा—क्यों छोटे भइया, क्या तुम भी उसे सच समझते हो?

मैंने पूछा—किसे, बहन?

उसने अपनी रुलाई रोकने के लिए दाँतों से होंठ दबाया और बात बदलने के लिए बोली—भइया, मैं अपना रक्त देकर तुम्हें बचाऊँगी। क्यों भइया, रक्त किस तरह देते हैं?

प्रश्न की गम्भीरता बिना समझे मैंने कहा—लेकिन बहन, उन लोगों ने तुम्हें...।

'लेकिन मैं तो यह काम करूँगी ही।'

मैंने विह्वल होकर पूछा—क्यों बहन, तुम ऐसा क्यों करती हो?

'यों ही। फिर ईश्वर मुझे सुन्दर बनायेगा। मुझे...छोटे भइया, मैंने तुम्हें जान-बूझकर नहीं जलाया था।' इसके बाद वह फूट-फूटकर रोती हुई बोली—मेरे सिर में दरद हो रहा था। भूख लगी थी। मैं कसम...मैंने भोजन नहीं किया था। मैं ईश्वर की शपथ खाकर कहती हूँ कि मैं ठोकर खाकर गिर पड़ी थी भइया, मैंने जान-बूझकर तुम्हें नहीं जलाया था।

'हाँ हाँ, बहन ठीक है। लेकिन यह कौन कहता है कि तुमने जान-बूझकर मुझे जलाया!'

'सभी कहते हैं। मुझसे कोई पूछता ही नहीं। छोटे भइया, मैंने उसी दिन से कुछ नहीं खाया है। भइया, तुम्हारी कसम, घर की देवी की कसम! मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया था। देखो, मुझे भी चोट लगी थी।' जब उसने हाथ ऊपर उठाया, तब मैंने देखा कि सचमुच उसमें तीन जगह जखम थे और उनमें से एक जखम में अभी तक शीशे का टुकड़ा मौजूद था। जब मैंने हाथ लगाकर देखा, तब मुझे वह शीशा गड़ा और उसे बहुत दरद हुआ और वह ज़ोर से चिल्ला उठी। साथ ही उसके जखम में से खून भी निकलने लगा।

उसी समय—वेणू, बेटी वेणू, कहते हुए पिताजी भी कहीं से आ पहुँचे और उन्होंने उसे खींचकर गले से लगा लिया। चारो तरफ पिशाचों की तरह देखते हुए उन्होंने कहा—चांडालिनियो, राक्षसियो, मेरी लड़की को तुमने क्या कर दिया! इतना कहते हुए वे एक कुरसी पर बैठ गये। कुब्जा के दिये हुए रक्त से मैं तो अच्छा हो गया। लेकिन, कुब्जा!

'ईश्वर मुझे फिर सुन्दर बनायेगा।' उसके ये शब्द अभी तक मेरे कानों में गूँजते हैं!

दुःख

[जैनेन्द्रकुमार]

अभी ख़बर मिली है कि मित्र मर गये। अचानक दर्द हो आया और पाँच मिनिट में दिल की धड़कन बन्द हो गई। कल शाम हम मिल-हँस रहे थे। आज वह सदा के लिए लुप्त हो गये हैं। मैं अब दुखी न हूँ तो क्या हूँ?

एक पड़ौसी की लॉटरी खुल आई। उन्होंने सुना तो बेहद ख़ुश हुए। पर वह ख़ुशी हल्की पड़ रही है और उन्हें दुःख होता आता है कि पहला इनाम उनके नाम क्यों नहीं निकला।

पास के मकानवाले लाला को पार साल सट्टे में पचास हज़ार बचे थे। इस साल दस हज़ार निकल गये। वह दुखी हैं।

उनकी स्त्री अनमनी रहती हैं और बीमार रहती हैं। पहली पत्नी आत्मघात कर गईं। बड़ा लड़का झिड़की खाकर और धमकी देकर अलग हो गया। उसे शराब की लत पड़ी और अब पागलखाने में है।

इसी तरह लोग जेल में, अस्पताल में, दुनिया में तड़प रहे हैं और जी रहे हैं।

सो जग में दुःख की कमी नहीं। सभी दुखी हैं।

ऐसा मालूम होता है कि दुःख शर्त है। उसी शर्त के साथ जीवन मिलता है। जो है, वह दुखी भी है। धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र उस दुःख को भूल मान कर उससे छुटकारे के प्रयत्न को पुरुषार्थ मानते हैं। दुःख की निवृति मोक्ष है। मोक्ष की संज्ञा ही हुई निर्वाण।

दुःख से छूटने के लिए नाना साधनाएँ बताई गई हैं। इतने मत, इतने मार्ग हैं। पंथ अनेकानेक हैं। पर लक्ष्य में सब एक हैं। सब को दुःख के नाश और अक्षय सुख की खोज है।

उसी भाँति अनेक दर्शन दुःख की अनेक विधि मीमांसा करते हैं। उनकी निदान की परिभाषाएँ भिन्न हों; पर इष्ट हरएक का अभिन्न है। सब बुद्धि को शान्त करना चाहते हैं। बुद्धि शंका, प्रश्न द्वारा दुःख उपजाती है। और वे सब तरह की शंका, सब तरह के प्रश्न उत्पन्न करके उनका कुछ-न-कुछ मुँह-बन्द जवाब दे देना चाहते हैं।

इनमें कौन ठीक है, कौन गलत है? स्पष्ट है कि लक्ष्य में सब ठीक हैं। और लक्ष्य के अतिरिक्त अपने में ही आग्रह रखने पर वे सभी ग़लत भी हो सकते हैं।

इस भाँति दुःख कर्म में से पैदा होता है, या दुःख कामना में से पैदा होता है, या दुःख निसर्ग से प्राप्त है, आदि-आदि मंतव्य तभी अर्थकारी हैं, जब वे दुःख काटते भी हैं। दुःख नहीं काटते तो वे शब्द-भर हैं, उनमें सार नहीं। सार-भूत ज्ञान शाब्दिक नहीं होता। वह भावात्मक होता है। इसलिए दुःख को अनुभूति की अपेक्षा में ही समझा और खोला जा सकता है। केवल तत्त्व-ज्ञान में ही दुःख का समाधान नहीं है; क्योंकि न दुःख कोई (सत्) तत्त्व है और न ज्ञान में दुःख का निवास ही है। दुःख बाहर नहीं, अन्दर है। और जिसकी तत्त्व बनाकर मीमांसा की जाती है, उसे अपने से बाहर अलग स्थापित करके देखना होता है। जिसे अपने से अलग हम जान सकते हैं, या फिर जिससे अपने को अलग जान सकते हैं, वह वस्तु दुःख तो रह ही नहीं जाती। अपने को और उसको अलग देख लेना भर ही दुःख की दुःखता को नष्ट कर देना है। इसलिए दुःख है, तो तात्त्विक रूप में उसका निदान खोजना बस नहीं है। उसे काटने के लिए तत्त्व-चिंतन से अधिक अमोघ उपाय की आवश्यकता है।

रोगों के मानसिक उपचार की पद्धति आजकल चल निकली है। वैसा उपचार कल्पनीय और घटित पहले भी था; पर अब उसे विधिवत् वैज्ञानिक रूप मिलता आता है। उस पद्धति का सार सिद्धांत है कि रोग से अवगत हो जाना ही उस रोग से छुट्टी पा लेना है। आत्म-ज्ञान ही स्वस्थता है।

हमारे अन्दर चेतना में कुछ गाँठें पड़ जाती हैं। वहाँ उलझ पैदा हो जाती है। उसका प्रकट फल व्याधि है। चेतना प्रवाहशील तत्त्व है। अगर उसमें पैदा हुई ग्रंथियाँ खुल जायँ, रुकावटें हल हो जायँ, और उलझन सुलझ जायँ तो चेतना यथा-स्वभाव वह निकले और रोग दूर हो जाय।

गाँठें किसी दबाव के कारण होती हैं। हमारा अवचेतन स्तर चेतन मस्तिष्क के अनुकूल नहीं होता। मस्तिष्क के दबाव से उस स्तर में कुछ कुण्ठा और विरोध पैदा हो जाता है। वैसा दबाव और प्रतिकूलता न रहे और अवचेतन स्तर अपने को व्यक्त कर सके, यानी उसे चेतन में आने दिया जाय, तो ग्रंथि खुल जाती है, कुण्ठा दूर हो जाती है और स्वास्थ्य-लाभ होता है।

मनोविज्ञान आज प्रयोग द्वारा यह बतला रहा है। उस आधार पर व्यावहारिक रूप में रोगों का उपचार किया जा रहा है और उसमें जो सफलता मिली है, वह कम-अधिक अचूक समझी जाती है। मानसिक उपचार-शास्त्र अटकल की बात अब नहीं। वह विज्ञान-सम्मत प्रत्यक्ष है। फ्रायड साहब ने अपना जीवन लगाकर उसको वैज्ञानिक स्तर पर मजबूती से ला खड़ा किया है।

और उसमें अविश्वसनीय कुछ भी नहीं है। शरीर, मन और मनातीत हमारी सूक्ष्म चेतना इनकी अलग-अलग तीन सत्ताएँ नहीं हैं। शरीर के रोग में मन का हाथ होता है और 'आत्मा' भी अछूती नहीं होती। असल में तो तीनो में अविरोध है। अविरोध ही नहीं, अभेद तक है। लेकिन हमारे साथ अधिकांश यह अभेद सिद्ध नहीं है। हमारे भीतर इनमें विरोध उपस्थित होता रहता है और संघर्ष होता है।

व्यक्तित्व के भीतर ऐसे विरोध का नाम ही दुःख है। जब व्यक्तित्व एक और एकाग्र और एकोन्मुख नहीं होता, उसमें द्विधा और द्वित्व होता है, तब दुःख और क्लेश उत्पन्न हो जाता है। द्वन्द्व जितना तीव्र, दुःख उतना ही विषम। वह जितना फीका, दुःख भी उतना ही हल्का!

इसके अतिरिक्त दुःख कुछ और नहीं है। हम जो कामना रखते हैं, तदनुकूल कर्म भी यदि करते हैं तो दुःख के बीच में आने को अवकाश नहीं है। पर प्रेरणा कुछ हो और करें कुछ, तो इस दुमुँही वृत्ति के बीच में दुःख आ ही रहेगा।

यहाँ बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। क्या इच्छा ख़त्म हो सकती है? अगर वर्तमान में हम समाप्त नहीं हैं, भविष्य से भी हमारा नाता है, तो इच्छा का अभाव असंभव है। इच्छा होगी और होगी। वह जीवन का लक्षण है। इच्छा नहीं तो जीवन क्या? और अगर इच्छा है तो यह स्पष्ट ही है कि वह कर्म से आगे चलेगी। जो है, उस पर हम समाप्त नहीं हैं। जो होता है, उधर भी हमें चलना है। जो होना है, वह फिर होना चाहिये। यानी वह हमारे द्वारा किया जाना चाहिये। इच्छा का संबंध भी उस 'चाहिये' से है। जो (होना) चाहिये, फिर उसके (करने के) लिए प्रयत्न भी चाहिये— यहीं से इच्छा के पीछे-पीछे या साथ-ही-साथ कर्म लगा हुआ है। जो है, उसमें अतृप्तिबोध के कारण ही इच्छा का जन्म है। इसलिए यह भी असंभव बनता है कि इच्छा तात्कालिक वास्तविकता से आगे न बढ़े। संभाव्य के प्रति उसमें दायित्व है, अतः वास्तव के प्रति असंतोष। इच्छा आदर्श का खिंचाव है।

इच्छा है, और रहेगी। और इच्छामात्र का जन्म अपूर्णता की अनुभूति में से है, अर्थात् अभाव और अतृप्ति में से है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि क्योंकि व्यक्ति का व्यक्तित्व बिना इच्छा के संभव नहीं है, और इच्छा-मात्र कर्म से आगे है यानी वह अनिवार्यता से अप्राप्त को चाहती है, प्राप्त में उसे प्रीति रह नहीं सकती। अतः दुःख अवश्यम्भावी ही है।

शायद यह ठीक हो। बहुत गहराई में जाकर देखें तो यह ठीक है ही। जीवन का आधार दुःख है। उसकी संभावना भी दुःख ही है। लेकिन इतना मानने के बाद निराशा ही हाथ रह जाती हो, सो नहीं।

इच्छा और कर्म में अन्तर तो अनिवार्य है। अन्तर न हो तो गति ही न हो। फिर कर्म की संभावना भी नहीं रहे। अगर आँख पैर से आगे न देखें तो पैर चलें किधर? आँख से जो दूर तक देखा जाता है, और पाँव से जो क़दम-क़दम चला जाता है, उस पर झल्लाने की आवश्यकता नहीं है। वह कोई बुरी बात नहीं। आँखों से आगे तक न देखा जाय तो तेज़ चलने की सुध-बुध भी कभी न प्राप्त हो और रेल, मोटर, वायुयान की सूझ असम्भव हो जाय। इससे मुसीबत यह नहीं है कि इच्छा और कर्म में अन्तर रहता है। मुसीबत तो तब है जब इच्छा और कर्म में विरोध हो आता है।

जो आदमी देखे सामने और चले पीठ की तरफ़, उसके संकट की कल्पना ही की जा सकती है। सच तो यह है कि चला पीठ की तरफ़ नहीं जाता और देखा भी सामने ही की ओर जाता है। इसके अतिरिक्त आदमी का वश ही नहीं। लेकिन मन की आँख का यह हाल नहीं है। वह आँख एकदम चारो ओर जाती है। भाषा की अपूर्णता का लाभ उठाकर कह सकते हैं कि मन अपने भी खिलाफ़ जा सकता है और शरीर कुछ-कुछ उसके खिलाफ़ भी जा सकता है। यही संक्लेश का कारण है।

अतएव दुःख से छुटकारे का उपाय इच्छा अथवा कर्म से हठात् निवृत्ति पा लेना नहीं है। इच्छा और कर्म से निवृत्ति मिल नहीं सकती। उसको संभव मानना अपूर्णता को शाश्व-

तिक मानना है। अगर हमें सम्पूर्णता की ओर बढ़ना है, व्यक्ति से विराट और जीवात्मा से परमात्मा होना है, तो इच्छा की भी आवश्यकता है और तदनुवर्ती कर्म की भी आवश्यकता है। इच्छा अतृप्ति-जन्य है, और कर्म इच्छा-जन्य है। और दोनो दुःख-जन्य हैं यह मानकर भी आँख मूँद लेने से एकाएक उनसे छुटकारा भी तो नहीं मिल जाता। उन्हें स्वीकार द्वारा ही जीता जा सकता है। अन्यथा तो दुःख नहीं मिटता, हम ही मिटते हैं और दुःख हम पर हावी हो आता है।

जैसे आँख को बंद कर लेने और फिर चलने से इन्कार कर देने से कहीं भी पहुँचा नहीं जा सकता, वही फल इच्छा और कर्म को अस्वीकार करने से होनेवाला है। गति इससे खो रहेगी और अगति में ही सिद्धि मानने का भ्रम केवल हाथ रह जायगा। यह मुक्त होना नहीं, यह तो अपने में ही अपने को घेरकर जकड़ रहना है। ऐसे व्यक्ति विराट नहीं बनता, वह जड़ बनता है।

अतः दुःख-नाश के लिए जो करना होगा, वह यह है कि मन इच्छा-शून्य न हो; बल्कि वह आत्मनिष्ठ होकर इच्छावान हो। और शरीर भी कर्महीन न हो; बल्कि वह मनोनुकूल होकर कर्म-मय हो। शरीर मन के वश में हो, मन आत्मा में दत्तचित्त हो, आत्मा परमात्मा की लगन में लगी हो। इस भाव से शरीर भी उत्तरोत्तर चैतन्य होकर आत्मा-स्वरूप बनता जाता है। जहाँ व्यक्तित्व के तमाम भागों में सहज रूप से अनुकूलता व्याप्त हो जाय, जहाँ किसी का किसी पर दबाव अनुभव न हो और सामंजस्य-पूर्ण हो, जहाँ सब परस्पर समर्पित हों और परमात्मा से विरह-व्याकुल व्यक्ति का अन्तरात्मा ही समूचे व्यक्तित्व का अधिष्ठाता हो, वहाँ विछोह का दुःख भी लगन का सुख हो जाता है, वहाँ प्रत्येक प्रयत्न आनन्द को पूर्ण करता और उपलब्धि को निकट लाता है। जैसे सच्चे प्रेमी को विरह भी मधुर प्रतीत होता है, वैसे ही इस प्रयोग से दुःख भी सुख जैसा मालूम होता है। जीवन जो आवश्यक रूप में दुःख-जन्य है, ऐसे व्यक्ति के लिए प्रसाद-रूप हो आता है। वह इस जीवन के लाभ को परमात्म-लाभ के लिए एक अवसर मानता है। और निरंतर प्रयत्न और साधना से अपने समूचे व्यक्तित्व को लगन की लौ जैसा उज्ज्वल और ऊर्जस्व बना देता है। जैसे लौ सदा ऊपर को जलती है और जलना ही उसका इष्ट है, वैसे ही वह व्यक्ति प्रकाश बना ऊपर को जलता ही रहता है। वह दुःख को इस भाँति सर्वार्पण भाव से स्वीकार करता है कि उससे चहुँ ओर सुख विकीर्ण होने लगता है।

व्यक्तित्व में ऐक्य साधन करना दुःख जीतना है। अनैक्य पैदा करना उस दुःख को बढ़ाना है।

कल्पना को हम बेलगाम कर देते हैं, तो वह हमें ऐसे स्वर्ग तक ले जाती है, जो अतिशय मनोरम है। पर स्वर्ग का रास्ता मोक्ष को नहीं जाता। स्वर्ग में अति ही अति है। वहाँ अभाव को मानो अति से चुप किया जाता है। पर विवेक का अति के साथ निभाव नहीं है। स्वर्ग में विवेक को शांति नहीं। तब कल्पना भी वहाँ अकेली कैसे बस सकती है? कल्पना हमारा अंग तो है। हमसे छूटकर वह दूर-ही-दूर नहीं रह सकती। अतः ऐसी निरंकुश कल्पना स्वर्ग से लौटकर जब धरती पर आती है जो यहाँ की यथार्थता को देखकर उसकी सुध-बुध खो जाती है और वह क्षुब्ध हो रहती है। यथार्थ उसे नर्क मालूम होता है। ऐसे वह कल्पना बिचारी स्वर्ग के विरोध में नर्क और नर्क के विरोध में स्वर्ग रचकर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ टकराती रहती है। स्वर्ग से

टूटकर नर्क में गिरती है। नर्क में आँख मूँदकर स्वर्ग रचती है। ऐसी अवश कल्पना और उस कल्पना के पीछे चलनेवाली चाह दुःख को मिटा नहीं सकती। कुछ पल उसे भुला दे सके तो सके भी; पर अंत में तो वह दुःख को बढ़ाती ही है।

बुद्धि को जब वैसी कल्पना की बहक में बहकने दिया जाता है, तो परिणाम अनिष्ट होता है। बुद्धि में मालूम तो होता है, जैसे वेग आ गया है; पर बुद्धि ऐसे कर्महीन ही बनती है। इस प्रकार गर्माई हुई बुद्धि दिमाग को चहकाती है और त्रास पैदा करती है। इस बुद्धि के बुद्धिवादी लोग आदर्श की रचना रचते और एक दम प्रतिकूल व्यवहार कर सकते हैं। उनके काल्पनिक और उनके यथार्थ में विरोध हो आता है। वे मन से स्वर्ग और शरीर से नर्क रचते हैं। और नर्क जितना घोर होता है, स्वर्ग को उतनी ही अतिशयता से दिव्य होना पड़ता है। यह ढंग दुःख बढ़ाने का है। बुद्धिवाद, कल्पनावाद, हृदयवाद यह सब जिस अंश में व्यक्तित्व में ऐक्य नहीं लाते, उसमें अनैक्य बढ़ाते हैं, उतने ही अंश में वे दुःख बढ़ाते हैं। वे कर्म में और कल्पना में इतनी खाई डाल देते हैं कि एक का निषेध दूसरे की संभावना बनती है। कल्पना का विलास व्यक्ति को कर्म से दूर डाल देता है; अथवा कि कर्म का उत्ताप उसको कल्पना हीन बना देता है। पर न कल्पना से आदमी को छुट्टी है, न कर्म से उसका छुटकारा है। इससे होता केवल यह है कि दोनो परस्पर विमुख होकर बन्धन और दुःख उपजाते हैं। मनुष्य न निरा मन है, न कोरा शरीर और जहाँ दोनो में परस्पर की उपेक्षा है, वहाँ असल में दोनो ही क्षीण होते हैं और आपस में दुःख ही बढ़ाते हैं, उसे मिटा नहीं सकते।

कल्पना भाव-राज्य की नायिका है। कर्म से व्यवहार बनता है। कल्पना-प्रधान साहित्य होता है। कर्म-प्रधान है राज-कारण। एक दूसरे से विमुख होकर दोनो बंधन-कारक होंगे। उनकी परस्पर सम्मुखता और एकता से ही दुःख कट सकता है। और उन दोनो की एकता होगी आत्मधर्म के नीचे। साहित्य निरंकुश नहीं हो सकता। और राजकारण अंकुशधारी हो इसमें और भी अनर्थ है। जैसे कर्म भावना के पीछे चलता है, वैसे राजकारण स्वभाव से ही साहित्यानुवर्त्ती होगा। साहित्य आज जो पहचानता है, राजकारण कल उसी को अपने हिसाब में उतारेगा। राजकारण की सत्ता तो और भी स्वच्छन्द नहीं है। पर दोनो ही वे आत्मवश चाहियें। आत्म-धर्म से स्वाधीन होकर जैसे कोई इच्छा हेय है और कर्म अनिष्ट है, वैसे ही मानव-धर्म के विरुद्ध होकर साहित्य और राजकारण अनिष्ट हैं। व्यक्ति का धर्म है अपने व्यक्तित्व में ऐक्य-सम्पादन। मानव का धर्म है, मानव-जाति का ऐक्य-साधन। ऐक्य का नाम है सत्य। जो एक वही सत्। उस एकता की अनुभूति के द्वारा प्रेरित कर्म की प्रकृति होगी अहिंसा। सत्य की अवस्था और अहिंसा के आचरण से ही दुःख कट सकता है। अन्यथा वह नहीं टल सकता; हाँ, बढ़ तो सकता ही है।

दिल्ली; १४-११-'३८।

ओवर-कोट

[बलराज साहनी]

शाम के छः बजे इकबालनाथ सख़्त चिन्तित था कि कैसे अपने-आप को सँवार सके। उसने अपने एकमात्र सूट में कई दोष देखे। कोट की बाँह पर चूने की तह जमी थी, जिसे बिना ब्रश के परिष्कृत करना असंभव था। वह ब्रश कहाँ से लाये? कुछ साहस कर, कुछ संकोच कर, आख़िर ऊपरवाली छत के पड़ौसियों से ब्रश तो माँग लाया; किन्तु देखा कि केवल बाँह को ब्रश करने से काम न चलेगा। एक स्थान ब्रश कर चुकने पर दूसरे स्थान पर मैल नज़र आने लगती, और वक्त तंग था। पतलून का जेब फिरा हुआ था। बूट तो पालिश करवा लिये थे; किन्तु जुराबों की ऐड़ियाँ फटी हुई साफ़ नज़र आती थीं। बाहर की जेब के लिए रुमाल भी न था। आख़िर किसी तरह, इस विश्वास को अग्रसर करके कि इतने ध्यान से देखता ही कौन है, तय्यार हो, अपनी अन्धकारमयी संक्षिप्त कोठड़ी को ताला लगाकर माल्फ़ रोड की ओर धड़कते हुए दिल से रवाना हो गया।

यदि वह इस समय माल रोड पर पदार्पण करता तो उसकी मुरड़-मुरड़ पतलून, अनफब टाई, व उद्धत बालों को देखकर संभव है, कई परिचित भद्र पुरुष मुस्किरा उठते। नये ज़माने का विद्यार्थी-वर्ग उसकी पतलून की गुथली-नुमा सीट पर ही कई कसीदे बनाता। किन्तु शाहालमी दरवाज़े की खचाखच भीड़ में वह एक साहब चला जा रहा था। ताँगेवाले आशा भरे नेत्रों से उसकी तरफ़ देखते, भिखारी ईश्वर के आगे उसके ख़ज़ाने भरपूर रखने की दुआएँ करते। कोई यह अनुमान न कर सकता था कि वह लाहोर की एक संकीर्णतम गली में एक सदी पुराने घर के सब से सील कमरे का आरज़ी स्वामी है; अथवा उसकी आसायश का एक-मात्र सामान केवल एक टूटी हुई खाट है, जिसकी गहराई में लुप्त होकर वह कभी-कभी सारा दिन सिगरेट पीने में ही गुजार देता है।

यह होता भी कैसे? आज वह जिस तेज़ रफ़्तार से भीड़ को चीर रहा है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि इस शहर में यह एक व्यक्ति है, जिसका हर क्षण क़ीमती है। उसके चेहरे पर व्यग्रता है और कुछ रौनक भी, कर्नल ने उसे घर पर बुलाया है। यदि कोई विशेष कारण न होता तो क्या आफ़िस में ही न बुला लेता? यह रहस्य उसने अभी अपने घनिष्टतम मित्रों को

भी नहीं बताया। पहले जब भी अवसर बनता था, वह लोगों से छिपाकर न रखता था, और अन्त में सभी की दृष्टि में उसे लज्जित होना पड़ता। महेन्द्र चुपचाप जोधपुर के कालिज में जा लगा, हालाँ कि सभी को उसने यही विश्वास दे रखा था कि वह किसी अख़बार पर नौकरी ढूँढ़ रहा है। और ज़मील, और रूपकिशन ? सभी इस रहस्य को छिपाकर रखते थे और ईश्वर जाने कैसे उसी की आसामियाँ छीन ले जाते थे। लेकिन आज इकबालनाथ को भी विश्वास था कि शगुन अच्छा है। अवश्य किसी ने उसके बारे में कर्नल से दो शब्द कह दिये हैं। पहले पहल वेतन कितना मिलेगा, एक सौ बीस ! कितनी शान होगी। मा कितनी प्रसन्न होगी, पिता भी आदर से बात करेंगे। अच्छा पहनने को मिलेगा, अच्छा खाने को। मित्रों के सामने भी घुल-मिलकर बातचीत कर सकेगा वह। यह संकोच, यह ग्लानि जो अन्दर ही अन्दर उसे कई महीनों से खा रही थी, हट जायगी। उसके जीवन का सर्वस्व एक नौकरी पर अवलम्बित था। यदि यह हो गया—यदि यह हो गया—तो वह कुसुमा को आज सारी रात बैठकर एक लम्बा व्याकुल प्रेमपत्र लिखेगा। यदि आवश्यकता हुई तो संसार से छीनकर भी उसे अपने पास रख लेगा।

बाज़ार शनैः-शनैः चौड़े होते गये, भीड़ व गन्दगी कम होती गई। दुकानों के थड़े बाहर से हटकर भीतर चले गये। सजी-धजी शीशे की खिड़कियाँ दिखाई देने लगीं। मोटरों का ताँता बँध गया। सिनेमा के मोहक पोस्टर लालायित करने लगे।

लारेन्स गार्डन में पहुँचने तक रात हो गई। चिड़ियाघर के पक्षी कभी स्वतन्त्र वृक्षारूढ़ सम्बन्धियों के साथ मिलकर गाते, कभी चुप हो जाते। इकबाल को ठण्ड लगने लगी। हाथों की उँगलियों में दर्द होने लगा। सोचा, यदि कर्नल के घर ठिठुरता हुआ पहुँचा तो संवाद क्या करूँगा ख़ाक। इसलिए कुछ दौड़ लिया। हाथों को बग़ल में देकर गर्म किया।

बँगले के बाहर पहुँचकर एक गन्दे रूमाल से बूट साफ़ किये, ताकि कर्नल जान सके कि ताँगे पर आया है। फिर आड़ में होकर बाल ठीक किये। मन को आश्वस्त होने का आदेश किया, फिर बजरी पर महत्त्व-पूर्ण आहट करता हुआ बँगले के अन्दर दाखिल हुआ।

गोल कमरे की आच्छादित खिड़कियाँ लाल अंगारों की तरह चमक रही थीं। संगीत की मोहक ध्वनि बाहर छलक रही थी।

किन्तु दरवाज़े पर चपरासी कोई न था। यदि दिन होता तो कितनी देर बाहर लटकना पड़ता। लेकिन अफ़सरों की नियमावली से इकबाल को अब तक परिचय हो चुका था। उसने बढ़कर किवाड़ पर दबी-सी दस्तक दी।

कर्नल कपूर स्वयं बाहर निकले और बड़ी भद्रता से कहने लगे—

'आइये, आइये, कम इन।'

इकबाल ने धन्यवाद कहा और अन्दर कदम रखा। कमरे का वायुमण्डल बाहर की अपेक्षा ख़ूब गर्म था। अँगीठी जल रही थी और उसके सामने आराम-कुर्सियों पर दो युवक, एक युवती और एक छोटी बालिका बैठे थे।

'इतनी सर्दी में आप बिना ओवर-कोट चले आये ? सचमुच नौजवानों को सर्दी कम लगती है।'—कर्नल ने आश्चर्य से कहा।

दिल ही दिल इकबाल ने अपने-आपको कोसा। क्यों न वह किसी से माँगकर ले

आया ? कई बार उसने भावी अफ़सरों को प्रभावित करने के लिए थर्ड से बदलवाकर सैकण्ड का टिकट कटवाया, ताकि उनके साथवाले डिब्बे में सफर कर सके, होटलों में हर शाम कड़वा बीयर का ग्लास सामने रखकर बैठ रहा कि अफ़सर एक बार देख ले कि किसी अच्छे घराने का लड़का है। सैकड़ों रुपए इसी आडम्बर पर बर्बाद किये ; किन्तु आज के दिन इतनी आवश्यक बात एक दम भूल गया। 'एक मित्र माँगकर ले गया था उसने वापस नहीं किया,' आख़िर उसने लापरवाही से हँसकर उत्तर दिया।

कर्नल से ऐसे सहानुभूति-पूर्ण बर्ताव की इकबाल को बिल्कुल आशा न थी, वह अब तक भूल ही चुका था कि अफ़सर भी सजीव मनुष्य होते हैं।

कर्नल ने बड़े आदर-भाव के साथ उसे अपने कुटुम्ब से परिचित कराया। अँगीठी के साथवाली अपनी कुर्सी पर बैठने के लिए बाधित किया। कुछ देर एक स्वप्नवत् संसार में आलाप होता रहा। एक छोटा गिलास शैरी का भी इकबाल की भेंट हुआ। कुछ ही क्षण में उस पर उनकी साधारण नम्रता ने ऐसा जादू किया कि वह भूल ही गया कि मैं यहाँ हस्पताल की हौस-सर्जिनी की खोज में आया हूँ। उसकी देर से सुषुप्त मानवता जागृत हो उठने की चेष्टा करने लगी। अब चाहे नौकरी मिले, न मिले, इन लोगों ने मुझे अपने जैसा ही एक मनुष्य समझा, क्या यह काफ़ी नहीं ?

कुछ देर बाद कर्नल का इशारा पाकर लड़के-लड़कियाँ उठकर चले गये। रेडियो भी बन्द हो गया। कर्नल और वह आराम से एक दूसरे के सामने बैठकर बातें करने लगे। इधर-उधर की, उधर-इधर की। जिस आराम और आसायश की सामग्री के इकबाल स्वप्न लेता था, वह सब यहाँ मौजूद थी। और कर्नल की बातों से यह कदापि सूचित न होता था कि वह कोई पराया आदमी है।

'आपका स्टूडेन्ट-कैरियर इतना अच्छा रहा है, आप वलायत क्यों नहीं जाते ?'

'जाऊँगा तो अवश्य, मुझे शल्य-शास्त्र में बेहद दिलचस्पी है ; किन्तु मेरी आर्थिक परिस्थिति अभी कुछ अच्छी नहीं। मेरे पिता रुपए का इन्तज़ाम तो कर सकते हैं ; किन्तु दर असल बात यह है कि वह मुझे ठीक पहचानते नहीं। मैं भी स्वतन्त्र तबीयत का आदमी हूँ और जब तक उन्हें दिखा न दूँ कि मैं अपने पैरों पर खड़ा हो सकता हूँ, मैं उनसे बेदिली सहायता लेना नहीं चाहता।'

कर्नल का रुचि-पूर्ण समर्थन पाकर इकबाल बोलता ही गया। वह स्वयं नहीं जानता था कि वह क्यों इस रवश में आ गया है ; लेकिन अपने-आपको रोक न सका। अपने जीवन की सभी महत्त्वाकांक्षाओं को, सभी अड़चनों को गिन गया। जो प्रशंसा-पत्र साथ लाया था, दिखाना भूल गया, जिन बड़े आदमियों से कुछ दूर के रिश्ते थे, उनके नाम भी न लिये। यही जताने की कोशिश करता रहा कि संसार में मैं भी कुछ हूँ। मैं क्या नहीं कर सकता। कर्नल सहज मुद्रा में बैठा सब सुनता रहा ; किन्तु कोई टीका-टिप्पणी न की। यदि इकबाल को वह पुर-नक़ाब चेहरा केवल सौहार्दपूर्ण व सूक्ष्मदर्शी दिखाई दे रहा था, तो इसमें कर्नल का कुछ कसूर न था।

आख़िर बात ख़त्म हुई। कर्नल ने अन्त में केवल इतना कहा कि वह कुछ दिनों बाद इकबाल को सूचित करेंगे। उन्हें अपने डिपार्टमेन्ट में निःस्वार्थ एवं आत्मनिर्भर नवयुवक की ज़रूरत थी और वह प्रसन्न थे कि इकबाल एक ऐसा ही नवयुवक है। किन्तु निश्चित कुछ कह नहीं सकते।

[२५४

इकबाल ने मुस्किराकर सिर हिलाया और बड़े उत्साह के साथ कर्नल के प्रस्तुत हाथ को अपने हाथ में लिया और यह कहकर कि—

'नौकरी मिले या न मिले मेरे लिए यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती। मुझे आप जैसे व्यक्ति को मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यही काफ़ी है'—बिदा हुआ।

किन्तु जब वह बाहर निकला तो कर्नल साहब ने अपने मित्र-भाव का एक अन्तिम परिचय दिया—

'सर्दी बहुत है। मेरे पास एक दूसरा ओवर-कोट है यदि आपको एतराज न हो तो शौक से ले जाइये, कल आफ़िस में भेज दीजियेगा।'

इकबाल के लिए आत्म-सम्मान की इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती थी? नौकर ओवर-कोट ले आया। कर्नल ने स्वयं पहनाने में मदद दी और कहा—यह तुम्हें ख़ूब फबता है।

अन्धकार में फिर विलीन होकर इकबाल ने ओवर-कोट के कालर ऊपर उठा लिये और जेबों में हाथ डालकर उल्लास-पूर्ण हृदय से चलता बना, जैसे कोई भटका हुआ सैनिक रात भर किसी आनन्दमयी कुटिया में विश्राम पाकर वापस युद्धक्षेत्र में जा रहा हो।

कुछ क़दम जाकर उसने देखा कि दाएँ जेब के कोने में एक दुअन्नी पड़ी है। उसने सोचा, वापस दे आऊँ; लेकिन फिर कहा—पड़ी रहने दो, कौन-सी बड़ी रक़म है। लेकिन इसके बाद उसे बाक़ी जेब टटोलने का भी कौतूहल हुआ। जब अन्दर के जेब में हाथ डाला तो देखा कि एक पाँच रुपए का नोट और कुछ नकदी पड़ी है। इकबाल ने निश्चय किया कि अब इन्हें वापस न करना ज़्यादती है। लौटकर फिर दरवाज़ा खटखटाया। किन्तु इस बार शुष्क-से स्वर में एक आवाज़ आई—

'कम इन।'

लड़के-लड़कियाँ फिर आ गये थे। रेडियो फिर बज रहा था। उसे देखकर वे सकुचा गये और कर्नल की आँखों में भी यत्किंचित् आक्षेप की रेखा दिखाई दी। उनकी आशंकाओं पर जल्दी से जल्दी पानी फेर देने के लिए इकबाल ने वह नोट और पैसे कर्नल को पेश किये।

'ये आपके कोट में पड़े थे।'

कर्नल ने विस्मित होकर रुपयों की ओर देखा—

'ये कहाँ से आये? यह तो पुराना कोट है, मैंने कभी पहना ही नहीं।'

'बाहर के कोट में एक दुअन्नी पड़ी थी। सोचा, हज़म कर जाऊँ; किन्तु जब यह रक़म अन्दर के जेब में पाई तो ठीक यही लगा कि लौटा आऊँ।'

इसकी यह टीका हास्योपादक न हुई।

कर्नल ने केवल इतना कहा—अच्छा, थैंक यू।

कर्तव्यपालन कर, कालर को ऊपर उठा, इकबाल ने अन्धकार में अपनी यात्रा पुनः आरम्भ की। किन्तु अब उसके मन में कुछ आशंकायें उत्पन्न हुईं। दूसरी भेंट में अवश्य कुछ अन्तर था। जैसे उसे दूसरी बार घुसने का कोई अधिकार ही न था, चाहे उन्हीं का धन लौटाने जा रहा हो। नहीं नहीं, केवल विस्मय था, शुष्कता न थी। दूसरी बार जाना भी तो अनावश्यक था। पैसे कल लौटा दिये जाते। या न भी दिये जाते तो क्या था। कर्नल को तो याद

भी न थे। न न, जीवन में कुछेक सद्नियमों का हमेशा पालन करना चाहिये। हो सकता है कि यह त्याग भी उसे नौकरी के निकट ले जाने में सहायता करे।

मन में एक विचित्र वाद-प्रतिवाद शुरू हुआ। इन्हीं पाँच रुपयों से एक सिनेमा देख लेता। महीने गुजर चुके थे कोई फ़िल्म देखे हुए, किसी भी विलास का अनुभव किये। उसके बाद किसी रेस्टाराँ में जाकर टाँगें पसारकर मुर्गे व रोग़न जोश पर हाथ साफ़ करता। तदनन्तर फ़्रूट क्रीम का मज़ा लेता। न कर्नल की अमीरी में न उसकी अपनी ग़रीबी में इन पाँच रुपयों से कुछ अन्तर पड़ता। संसार में केवल यही ऐसे पाँच रुपए थे जिनका एक-एक पास मानवीय मनोविनोद का कारण हो सकता था।

ईश्वर जाने नौकरी मिलेगी भी या नहीं। बड़े लोगों की नज़रों का भी कोई भरोसा है? कितना गधापन किया, बेलगाम होकर बकता गया। कभी ऐसी असंगत और मूर्खता-पूर्ण भावुकता से अफ़सर भी प्रेरित हुए हैं। यह भी संभव है कर्नल पहले ही किसी अपने सम्बन्धी को चुन चुका हो। क्या अमीर ग़रीबों को वृथा नचाकर तमाशा नहीं देखते? कितने ही उसके मित्र ऐसे थे जो कालिज के दिनों इतने लम्बे-लम्बे वचन देते थे और अब मोटरों में बैठे हुए मुँह फेरकर निकल जाते थे। कल फिर दिन चढ़ेगा और हज़ार कठिनाइयों व असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा। किन्तु यह पाँच रुपए कम-अज़-कम इस रात्रि को सौरभमय बना सकते थे। इनके बल पर भविष्य का आलोचन आशादीपित हो सकता था। फिर। नौकरी अवश्य मिल जायगी, वरना कर्नल को प्रथम तो उसे घर ही बुलाने की और दूसरे इतनी सभ्यता दिखाने की ज़रूरत ही क्या थी? यदि उत्साहित न करना होता तो भला यह और वह क्यों कहता? क्या संसार से कृपाभाव बिलकुल लुप्त हो गया है? कभी नहीं। दूसरी बार भी कर्नल इतना कोरा नहीं था जितना कि उसे भास रहा है।

इस प्रकार कभी अपने-आपको आश्वासन और कभी आतंक देता हुआ वह चला जा रहा था। यदि किसी बिजली के खंबे के नीचे बैठा हुआ भिखारी अपना हाथ बढ़ाता, तो इकबाल सोचने लगता—

'इन पाँच रुपयों से मैं कम से कम तीस भिखारियों को भरपेट भोजन करा सकता था। और एक दिग्विजयी सम्राट की भाँति उनके आशीर्वाद लेकर आराम से घर जाकर सो रहता।'

वह पाँच रुपए उसके मन में विचित्र उन्माद पैदा कर रहे थे, क्योंकि उसकी नज़रों में वह रुपए किसी एक व्यक्ति का द्रव्य न थे। वह फूलों की तरह संसार में खिलने-खेलने आये थे; किन्तु अपनी मूर्खता-वश फिर उन्हें जेल में डाल दिया। वह रुपए क्या न कर सकते थे! महीना भर उसके कमरे में बिजली की रोशनी जलवा सकते थे। दो महीने तक रोज प्रातः काल झाड़ू दिलवा सकते थे। कई दिन तक उसे लाल-लाल काश्मीरी सेब खिला सकते थे। सोलह जोड़े ज़ुराबों के ला सकते थे, तीन-चार टाइयाँ खरीद सकते थे।

क्रमशः बाज़ार संकीर्ण होते गये। सजी-धजी शीशे की खिड़कियाँ दूर रह गईं। मोटरों के स्थान पर ताँगों की टल्लियाँ सुनाई देने लगीं। दुकानें अन्दर से हटकर बाहर आ गईं। भीड़ और गन्दगी बढ़ने लगी।

इकबाल ने नियम-पूर्वक एक महरे की दूकान में प्रवेश किया। छोटे-से बक्स को चाबी लगाकर, उसमें से घी निकालकर तन्दूरवाले को दिया। खाना खाकर सनलाइट सोप की घिसी हुई चाकी से हमाम की दातन जटित टूटी पर हाथ धोकर पास लटकते हुए गीले तौलिए से पोंछे। तत्पश्चात् ओवर-कोट के बटन खोलकर सूटवाले कोट के जेब में पैसों के लिए हाथ डाला। लेकिन ओह, बेचारा स्वप्नावस्था में अपना ही खज़ाना कर्नल को भेंट कर आया था।

शान्तिनिकेतन

पंछी

[भारतभूषण अग्रवाल]

श्री अग्रवाल नवयुवक हैं। कहानियाँ भी लिखते हैं और कविताएँ भी। सेंट जान्स कालेज, आगरा के विद्यार्थी हैं। —सं०

टूट कर टहनी गिरी—वह उड़ गया खग,
बन गया राही गगन का—छोड़ तरु-जग
अब कहाँ विश्राम ?

शून्य को, कमज़ोर पंखों से वही फिर माप
गगन के रवि, वायु-आँधी, भूमि-मरु की ताप
अब कहाँ आराम ?

पंख झुलसे—कण्ठ सूखा—आँख में अभिशाप
उस अनन्त-अछोर में निस्सीम दुख की छाप
अब कहाँ मधु-साम ?

देख ऊषा, बैठ तरु पर, कर रहा था गान
अब दुपहरी में निराश्रित, विकल उसके प्रान,
दूर है वह शाम।

आगरा।

मरघट

[अखतर हुसैन रायपुरी]

[श्री अखतर हुसैन उर्दू और हिन्दी दोनों में ही लिखा करते हैं और नवयुवक लेखकों में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। आपकी रचनाएँ बड़ी नियमित लिखी गई हैं और सचमुच बहुत ही प्रगतिशील हैं। आप रायपुर (सी० पी०) के निवासी हैं और आजकल विलायत में अध्ययन कर रहे हैं।—सं०]

मरघट नदी के किनारे था, छोटा-सा मैदान जिसमें कभी कुछ न उगता था और उसकी मिट्टी सियाह थी—काली, जमे हुए रक्त की भाँति !

नदी के किनारे के पेड़ों पर सदैव पतझड़ निवास करता था और उनकी शाखाएँ अकाल-पीड़ित मनुष्यों की भाँति सदैव बादलों का मुँह ताका करती थीं, इन पर गिद्धों और कव्वों के अतिरिक्त कोई पक्षी न बैठता था, दूर तक हड्डियों के टुकड़े बिखरे पड़े थे और यहाँ-वहाँ एक-आध खोपरी जीवन के अंजाम पर बाछें चीरकर हँस पड़ती थीं। नदी की धार धीरे-धीरे बहती चली जाती थी। कभी कोई मौज घाट से टकराकर सिर उठाती, मरघट की उदासी को देखती और फिर सिर झुकाकर अपनी राह लग जाती थी।

वहीं उस साँझ नगर के लोग किसी की अर्थी लेकर आये थे। मृतक का शव चिता पर रख दिया गया। एक वृद्ध ने उस पर घी छिड़का, एक अल्पवयस्क लड़के ने आग दिखाई और किसी ग़रीब की झोंपड़ी की भाँति चिता धू-धू करके जल उठी।

पुरुष एक ओर उदास बैठे रहे, स्त्रियाँ दूसरी ओर बाल नोच-नोचकर रोती रहीं।

तेज़ी के साथ चिता जल चली। दो आदमी लम्बे-लम्बे बाँसों से लाश को इधर-उधर लोटाने लगे। मांस के अधजले टुकड़े उड़-उड़कर धरती पर गिर पड़ते थे और ज्वालाएँ कुत्तों की भाँति हड्डियों को जबड़े में दबाकर चटखारा भरती थीं और अन्धी आँखों से हर तरफ़ घूरती थीं—!

अँधेरा हो चला था। बादलों के दो-चार गुलाबी टुकड़े ऊपर उड़ रहे थे और एक-दो

[१५०

तारे तीरों की नोक की भाँति आकाश में चुभे हुए थे। हर तरफ़ सन्नाटा था। हड्डियों की कड़-कड़ाहट के अतिरिक्त कोई आवाज़ न आती थी।

अजबी लोहार ने अँगोछे के कोने से चिलम निकाली और चिता का एक अंगारा इस पर रखकर चिता के साथ आये हुए लोगों में से ऐसे व्यक्ति की खोज करने लगा जो उसकी भाँति ही बातचीत करने को आतुर हो ; पर वातावरण कुछ कठिन-सा था और मंडली, मौत की उपस्थिति में कुछ खो-सी गई थी।

अजबी लोहार ने दोनो मुट्ठियों में चिलम थामकर इस ज़ोर का कश खींचा कि अँगारा दहक उठा और कई चिंगारियाँ ऊपर उछल पड़ीं, फिर उसने किसी अज्ञात मित्र को सम्बोधित करके कहना आरम्भ किया—हरि बोल ! राम जाने, गोली उसकी छाती ही में लगी। मैं नाली में छिपकर, सब देख रहा था। वह झंडा लिये आगे-आगे था। जब जुलूस चौक के पास पहुँचा तो घुड़चढ़ी पुलीस के जवान रास्ता रोके खड़े थे। कप्तान ने डाँटकर कहा—आगे जाने का निषेध है। भय्या, और तो सब बग़लें झाँकने लगे ; लेकिन इन छोकरों का कलेजा बड़ा है, उन्होंने कहा—हम आगे जायँगे, मार्ग छोड़ दीजिये !

छोटू बात काटकर बोला—क्या कहते हो, इतनी बातचीत करने का अवकाश किसे था ? पुलिस आँधी की भाँति हम पर झपटी, भागने का अवसर ही कब मिला, जैसे बेकड़के बिजली गिर पड़े। कई भागते-भागते गिरकर घोड़ों की टाप के नीचे आ गये, कई रपटकर मुँह के बल गिरे, कोई नाली में, कोई सड़क पर, लाठियों से जिनके हाथ-पाँव टूटे, उनकी बात अलग है।

अजबी—अच्छा यही सही...जो भी हो वह था वीर ! झण्डा लिये हुए अपनी जगह पर डटा रहा, इतने में कोठों से पत्थर बरसने लगे और उधर बंदूकों की गोलियाँ। भय्या, जैसे आँधी में आम का हरा-भरा पेड़ गिर पड़े, बस वैसे ही पल भर में ऐसा पहाड़-सा जवान छलनी हो-कर गिर पड़ा।

सब खामोशी से आग में किसी चीज़ को घूर रहे थे। घटाटोप अँधेरे में वह चिता ऐसे लगती थी, जैसे धरती पर बिजली चमक रही हो।

नायक ने ज़ोर से कहा—राम नाम सत्य है ! काल सिर पर खड़ा है, तो किस का बस चलता है। यदि यह मा का पूत (पुत्र) वहाँ से भाग जाता तो क्या था, पर वह तो कहो भाग (भाग्य) का बदा टलता नहीं।

लक्खू मिसतरी ने आँखें तरेरकर कहा—अरे मेरा बेटा और भाग जाता !...विवशता की दृष्टि उसने सब ओर डाली। 'ऐसी बात न कहो भाई, उसकी आत्मा को दुःख होगा, वह नादान सही ; पर दूसरों की भाँति दुर्बल न था, उसे अपने देश के झंडे की लाज थी।'

'ऊँह', नायक ने कहा—अजी, तीन बालिश्त कपड़े से कहीं देश की लाज आती-जाती है, क्या बात करते हो, मैं तो तुम्हारा ही भला सोचकर कहता हूँ, क्या मुझे इसके मरने का दुःख नहीं, अरे मैं तो इसलिए कहता हूँ कि इस बुढ़ापे में तुम्हें कौन पालेगा ? जवान बेटा, घर का मुकुट, उसके छोटे-छोटे बच्चे, वृद्ध माता-पिता, ये सब कहाँ जायँगे, क्या देश तुम्हें रोटियाँ देगा ?

लक्खू ने दीर्घ निश्वास छोड़ा। उसका पड़ौसी सच कहता था। अब वह क्या करेगा, देश तो अमीरों के लिए था, ग़रीबों का देश कहाँ है ? धरती का किराया, पानी का कर, रौशनी का टैक्स, और जब मर जाओ तो मरघट के चौधरी का नज़राना ! इन सबसे अधिक देवता का भोग,

वह काना देवता जो उफराये हुए मेंढक की भाँति अपने सिंहासन पर बैठा अपनी दुम हिलाया करता है।

पर नहीं, इसका बेटा क्या ऐसा मूर्ख था? उसने जान-बूझकर अपनी जान दी थी?—लक्खू के मस्तिष्क में इसी तरह के विचारों का जाल-सा बँध गया।

शम्भू ने सिर हिलाकर कहा—आज सुबह तक वह भला-चंगा था। वह हथौड़े की एक-एक मार से लोहे को पानी कर रहा था; पर अब देखो, सीसें की एक छोटी-सी गोली हवा में सनसनाती आई और बिना कुछ कहे उसकी छाती में घुस गई; हड्डी को तोड़कर, गोश्त को चीर-कर वह दिल के अन्दर बैठ गई और वह मर गया। हाय राम, जीना कितना कठिन है और मरना कितना सुगम!

अजबी लोहार ने धुएँ को मुँह के आगे से हटाकर कहा—और जब आदमी मर जाता है, तो क्या छोड़ जाता है? नाम तो वड़े आदमियों का रहता है, ग़रीबों का नाम-धाम क्या? वे तो भाई-बन्दों के लिए अपनी याद छोड़ जाते हैं और यह याद जीवन भर काँटे की भाँति चुभती है। दिनों की दूरी घाव पर मरहम का काम करती है। सब अपने-अपने धन्धे में लग जाते हैं और कभी सोचो तो लगता है कि पिछले जन्म की कहानी है।

लक्खू चुपचाप बैठा रहा, जिन लोगों ने उसके बेटे के हाथ में झंडा थमाया था, वे कहाँ थे? वे तो इस मरघट में नहीं थे, वे सब बड़े लोग थे, वे शूद्रों के मरघट में कैसे आते?

पर क्या उसके बेटे ने ग़लती की थी? क्या समझकर उसने वह झंडा अपने हाथ में लिया और गोलियों के सामने क्यों वह सीना ताने खड़ा रहा? क्या उसे किसी का ध्यान नहीं आया?

स्त्रियों के बैन धीमे पड़ गये थे, वे अपनी सूजी हुई आँखों से चिता को ताक रही थीं जिस पर अब शव का नाम-निशान तक भी नहीं था।

लक्खू का शरीर क्रोध से काँप उठा। संसार इतना स्वार्थी क्यों है। उसके बेटे ने दूसरों के लिए अपना जीवन निछावर कर दिया, अपनों को भुलाकर वह दूसरों के लिए मर मिटा और ये लोग यहाँ बैठे बातें बना रहे हैं।

नायक ने धीरे से कहा—अजबी, देखो और कितनी देर है, भूख के मारे प्राण मुँह को आ रहे हैं।

इतने में छोटू ने आँखे फाड़कर सबको इस तरह देखा, जैसे उसे कोई भूली बात याद आ गई हो।

'क़रीम खाँ हवालदार कहता था कि अर्थी के साथ जो लोग मरघट जायँगे, सरकार में उनकी रपट की जायगी।'

'एँ, यह क्यों?'

'इसलिए कि वह सरकार का वैरी था, भाई, समझते नहीं; उसने गोली नहीं चलाई तो क्या, गोली खाई तो; फिर वह वैरी हुआ या नहीं?'

'हूँ!' नायक ने कपड़े झाड़ना आरम्भ किया—ठीक कहते हो। वह किसी ऐसे-वैसे की गोली से नहीं, सरकार की गोली से मरा। विकट (विकट) मामला है क्यों जी अजबी?

अजबी अपनी झोली सम्हालने लगा—टेढ़ी बात है, और करीम खाँ हवालदार कोई मामूली आदमी है ? अजी बड़े-बड़े महाजन उसके नाम से काँपते हैं, जिसके घर चाहे डाका डलवा दे और जिसे चाहे चोरी के अभियोग में बँधवा दे। आज नगर में इसी का राज है।

सब लोग डरकर दायें-बायें इस तरह देखने लगे, मानो करीम खाँ का भूत उन्हें निगलने को आ रहा हो। तारों की छाया में पेड़ों के ठूँठ अपने निर्बल हाथ फैलाये अँधेरी रात से किसी चीज़ की भीख माँग रहे थे।

लक्खू घुटनों पर सिर रखे अर्ध चेतनावस्था में बैठा रहा। बहुत से लोग एक-एक करके सरक गये और जब आग मद्धम पड़ीतो केवल चार-पाँच आदमी रह गये थे।

लक्खू का दिल अन्दर से रोने लगा। देश और देशवाले! उन्होंने ऐसा क्यों किया! मौत के आगे तो सब बराबर हैं। सब को एक दिन इसी आगमें जाना है, इसी पानी में सबकी राख को बह जाना है, फिर इतना भी नहीं कर सकते कि कुछ क्षणों के लिए आयें और मरनेवाले की विधवा के दो आँसू पोंछ जायँ, उसकी मा के टूटे हुए दिल पर हमदर्दी का एक फाहा रख जायँ।

सेठ छज्जूमल—कांग्रेस कमेटी के प्रधान! क्या वे उसके युवा पुत्र की जान लेने के बाद भी उसका कर्ज़ माफ़ न करेंगे?

कुँअर प्रताप सिंह—बड़े देशभक्त! क्या करीम खाँ हवालदार के पंजे से वे उसे न बचायेंगे?

बरसात आ रही है, घर का छप्पर छाना है, दीवार को थम लगाना है, भट्ठी को ठीक करना है, पर उसकी भुजाओं में वह पहले का-सा बल कहाँ? मज़दूर का बेटा, एक ज़रा-सी गोली से छिदकर—वह भी किसी लोहार की बनाई हुई—मर गया और आग उसे ले गई।

चिता ठंडी पड़ने लगी, स्त्रियों ने उसमें पानी का छींटा दिया, मर्दों ने उस पर अपने आँसू छिड़के 'राम नाम सत्य है' की आवाज़ से मैदान गूँज उठा, दूर से गीदड़ों ने जवाब दिया—हुआ, हुआ, हुआ !!!

जब सब चलने लगे, तो लक्खू ने देखा, उसके पैरों के पास एक कपड़ा पड़ा हुआ है, यह वही फटा हुआ तिरंगा झंडा था, जिसे कलेजे से लगाये हुए उसका बेटा मर मिटा था; पर यह झंडा देखने में कितना कुरूप था, घास-फूस की भाँति हरा, बुढ़ापे की भाँति श्वेत और बीमार की भाँदि ज़र्द !

पर अब रक्त में रंजित होकर वह लाल हो गया था, लाल—जीवन और मृत्यु का रंग!

लक्खू ने उसे उठा लिया, उसमें ऐसा कौन-सा जादू था, जिससे प्रभावित होकर लोग उसके लिए अपना सब कुछ निछावर कर देते हैं। साधारण कपास की खादी, जो एक टूटे हुए करघे पर बुनी गई और एक रंगसाज़ ने इस पर कच्चे रंग के छींटे दे दिये। इसमें क्या रखा था।

जो भी हो वह अब एक मनुष्य के खून में रंग चुका था और यह खून ताज़ा था, बसन्त के नये फूल की तरह, गर्म धधकी आग की भाँति !!

सहसा लक्खू के हृदय में यह विचार उठा कि वह ताक़ से उस पत्थर के टुकड़े को फेंक देगा और उसकी जगह इस कपड़े को देगा, जिस पर उसके बेटे के रक्त की पपड़ी जमी हुई है।

स्त्रियाँ पंक्ति बाँधे टूटे हुए स्वर में स्यापा रोतीं घर की ओर जा रही थीं, हवा हलकी थी और रात का आँचल ओस से भीग गया था। दूर से नदी की धारा घायल पक्षी की भाँति कराह रही थी।

धरती की आग बुझ चुकी थी; पर आकाश पर सितारे चमक रहे थे।

गीत

[गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र']

[श्री गौरीशङ्कर मिश्र 'द्विजेन्द्र' की कविताएँ 'हंस' में प्रायः छपती रही हैं। आपकी कविताओं में लालित्य और सौन्दर्य प्रचुर मात्रा में है। आजकल आप भागलपुर में ट्रेनिङ्ग स्कूल में अध्ययन कर रहे हैं। — सं०]

चिन्तन-सागर में लहरी
उछल पड़ी थी नभ-चुम्बन को,
सिकुड़ी, फिर सिहरी!
तम-प्रकाश का स्वप्न-खेल नव,
अश्रु-हास का मुग्ध मेल नव,
होते मेरे ही भावों की
छाया में गहरी!
प्रकृति-विभव-तन्द्रिल छाया में,
सृष्टि - ज्ञान - गरिमा - माया में,
प्रिये, बन्द था मन मधुकर-सा
विकल लोभ प्रहरी!
निशि-सुहाग के दीपक-कुल को,
उषा-बाल-शृङ्गार - मुकुल को,
वायु बुझाती और जलाती
पल भर आ ठहरी।
लगे अङ्ग-तरु में पुलकें नव,
बिखर गये चिन्तन के वैभव,
'यही सृष्टि है निर्बल मानव!'
भांगी यह कह री!

भागलपुर।

मनुष्य की संस्कृति और उसका अर्थशास्त्र

[रामचन्द्र तिवारी]

हमारे शास्त्रकारों ने मनुष्य के सोलह संस्कारों का विधान किया है ; मोटे तौर पर जब मनुष्य जीवन की एक अवस्था-विशेष को समाप्त कर दूसरी अवस्था में पदार्पण करता है, तो उसे संस्कार के द्वार में होकर गुज़रना पड़ता है। गर्भ में आने से लेकर मृत्यु-पर्यन्त हम जिस टेढ़े-मेढ़े कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलते हैं, उस पर मानो हमारे स्वागत के लिए यह सोलह दरवाज़े बने हुए हैं। मित्र-बन्धु प्रत्येक द्वार पर हमारा स्वागत करने को उपस्थित रहते हैं। यदि हमने अपने जीवन को जीवन की भाँति रखा है, हम खूब फले-फूले हैं, और जीव को लम्बी अवधि तक शरीर-दुर्ग में बन्द रख सके हैं, तो सोलहों संस्कार सोलह उत्सव बन जाते हैं।

इन संस्कारों के अर्थ में जिस मनुष्य के संस्कार पूर्ण हो चुके हों, उसकी संस्कृति के विषय में कुछ कहने की सामर्थ्य हममें नहीं। इस अर्थ में जो मनुष्य पूर्णतया संस्कृत है, वह साधारण सभ्यता-संस्कृति के वायु-मण्डल से परे है। इसलिए हम संस्कृति शब्द का प्रयोग संस्कारों के अर्थ में नहीं करेंगे।

सभ्यता और संस्कृति शब्दों को लेकर पढ़े-लिखे लोगों में वाद-विवाद का फैशन इस युग में चल रहा है। अनेकों बाल की खाल निकालनेवाले महापुरुषों की पुस्तकों का अध्ययन कर आज नवयुवक इन दो शब्दों के बीच दीवार खड़ी कर देने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु सब चकित हैं। बड़े लोगों का एक वाक्य दोनो के बीच सुदृढ़ प्राचीर निर्माण करता जान पड़ता है ; परन्तु दूसरा वाक्य उस प्राचीर की जड़ में बारूद की बोरी डाल चिनगारी की प्रतीक्षा करता है। मृग-तृष्णा की भाँति निकट पहुँचने पर रेगिस्तान का जल बालू में परिवर्तित हो जाता है। गुत्थी सुलझते-सुलझते पुनः उलझ जाती है।

आजकल मनुष्य की बातचीत और कामकाज का ढंग कुछ विचित्र हो गया है। वह एक हाथ से सृष्टि करता है और दूसरे हाथ से उसकी जड़ खोदता जाता है। आज रेल और मोटर में ब्रेक लगाना एक प्रमुख कार्य हो गया है। सुलझन को उलझाने में भी कुछ आनन्द आता है। राजनैतिक क्षेत्र में यह विचित्र खेल खूब देखने में आता है।

ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करनेवाले लोगों को विश्वास है कि मनुष्य इस ग्रह पर परमात्मा का प्रतिनिधि है। ठीक उसी भाँति जैसे वायसराय ब्रिटिश पार्लियामेंट का। मनुष्य दूसरे जीवों को कभी कोई हानि नहीं पहुँचाता। यदि वह उनको मार डालता है, उनका मांस खा लेता है, अथवा उनकी खाल को सजाकर अपने कमरे में रखता है तो वह कोई बुरा काम नहीं करता।

आजकल सापेक्षिकता के युग में—चाहे किसी प्रकार से हो—अच्छाई का मूल्य कुछ कम हो गया है और बुराई का कुछ बढ़ा-सा जान पड़ता है। जो कार्य तथा विचार पहले लज्जा-जनक और कायरता-पूर्ण माने जाते थे, वे आज सापेक्षिकता के नाते शुद्धता तथा वीरत्व का दावा करने लगे हैं।

मनुष्य जो कार्य करता है, वह उसे निष्कर्म होकर करना चाहिये ऐसी कुछ लोगों की सम्मति है। ऐसा करने से दुःख नहीं व्यापता, सुख की भावना को आघात नहीं पहुँचता। अपनी आत्मा को निष्कामता की स्प्रिट में डुबाकर कठोर बना लेना ही सुख का साधन है। हम अपने जीवन में लगभग ८०-८५ प्रतिशत कार्यों में आत्मा की चिंता नहीं करते ; अथवा बेचारी आत्मा ही संयम का डण्डा देखकर कुछ नहीं बोलती। हम कितने ही निर्दयतापूर्ण कार्य प्रकृति के प्रति दिन-रात करते रहते हैं और सदा निष्काम बने रहते हैं। हमारी आत्मा इस विषय में शांत रहती है।

मनुष्य के हृदय में पत्थर, वृक्ष तथा पशुओं के प्रति भाव-पूर्ण सम्बन्ध सदा नहीं बना रहता। वह अपने जीवन में इनके प्रति ऐसा व्यवहार करता है कि मानो वह स्वयं एक मशीन हो, आत्मा-विहीन हो। वह अपने आप को निर्द्वंद्व तथा बिना दूसरे की चिंता किये एक पथ का पथिक समझता है। वह इसी में गर्व करता है।

मनुष्य की चेष्टा सदा अपने में से आत्मा निकाल निर्जीव की भाँति निर्मोही हो जाने की रही है। बड़े-बड़े लोगों ने इसी का उपदेश दिया है। संसार में सुख का अनुभव करने के लिए, हमसे कहा जाता है कि अपनी समस्त अनुभव-शक्तियों को कछुवे की गर्दन की भाँति अन्दर खींचकर बैठ जाओ। कष्ट आकर, तुम्हारे कठोर अनुभव-शक्ति-रहित शरीर को उलट-पुलट कर अपने-आप थककर चले जायँगे। दुःख-सुख के साथ इस आँखमिचौनी के खेल में जो जितना अभ्यस्त है, वह उतना ही श्रेष्ठ मनुष्य है।

बाबू हरिप्रसाद आजकल गँवारों के उद्धार-कार्य में संलग्न हैं। उस दिन वे गाँव में गये। वे साइकिल पर जाते-आते हैं। वे जिस मार्ग पर जा रहे थे, वह थोड़ी दूर चलने के पश्चात् बन्द हो गया था। एक किसान खेत में पानी काट रहा था। उसने देखा कि बाबूजी को व्यर्थ लौटना और कष्ट उठाना पड़ेगा। वह अपने कीचड़ से सने हाथ सिर से ऊपर उठाकर चिल्लाया—अबे ओ बाबू जी !

हरिप्रसाद बाबू ने उसकी ओर देखा। थोड़ा-सा क्रोध उनके मुख पर झलक आया और मुख से निकल पड़ा—असभ्य कहीं का।

उनके मन में एकाएक विचार पैदा हुआ। ऐसे असभ्य मनुष्यों के उद्धार की कोई आशा नहीं। इनके पीछे दौड़ना व्यर्थ है, समय नष्ट करना है। परन्तु फिर विचार आया कि यदि मैंने यह कार्य छोड़ दिया तो बलदेव की चढ़ बनेगी।

'बस जनाब चार दिन की चाँदनी थी—मैं तो पहले से ही जानता था कि आपसे यह लोहे के चने नहीं चबाये जायँगे', सुनना उन्हें न रुचता था।

परन्तु फिर उनके मस्तिष्क ने गति ली और विचार आया कि क्या मेरा व्यक्तित्व इतना दुर्बल है कि मैं बलदेव के व्यंगों के कारण इस कार्य में लगा रहूँगा। नहीं! ऐसा नहीं होगा। मैं ग्राम-उद्धार को किसी के व्यंग के डर से नहीं छोड़ता, वरन् इसलिए नहीं छोड़ता कि यदि मैं यह छोड़ दूँगा तो फिर कौन करेगा? और फिर कहीं महान् व्यक्ति क्या तनिक-तनिक-सी बातों से हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में मिली महानता की कल्पना उन्हें ग्राम-उद्धार में लगाये रही।

किसान के मन में कोई दुर्भावना बाबूजी के प्रति नहीं थी। उसने जो कुछ कहा उन्हें लाभ पहुँचाने के लिए और बड़े आदर तथा श्रद्धा के साथ। परन्तु बाबूजी पर इसका वैसा ही प्रभाव हुआ जैसे कि किसी ने उन पर गुड़ की भेली दे मारी हो। गुड़ की भेली देने की भावना तक तो कार्य अत्यंत सुन्दर है; परन्तु दे मारने के कारण उसका नाम असभ्यों की तालिका में लिख लिया गया। ऐसे शब्द यदि उस चौधरी ने अपने किसी ग्रामनिवासी से कहे होते तो उसने अपने को धन्य माना होता।

इस सभ्यता-असभ्यता का मूल कहाँ है? कामकाजी मनुष्यों, (व्यापारी, नेता आदि) जो कि संसार में अल्प-संख्यक हैं, को छोड़कर जन-साधारण को अपनी सभ्यता प्रदर्शित करने का अवसर बहुत कम रहता है। हमारे जीवन में मनुष्य से मनुष्य के भावपूर्ण सम्बन्ध की अवधि अधिक नहीं है। हम थोड़े-से समय में ही इससे छक जाते हैं। प्रकृति की गोद, अथवा ऐसे वातावरण की इच्छा करने लगते हैं, जहाँ पर इस प्रकार का बन्धन न हो।

यदि हम थोड़ी देर के लिए कल्पना करें कि संसार में केवल एक मनुष्य-मात्र रह जाय। इस दशा में मनुष्य-मनुष्य के बीच का सम्बन्ध और उसके अन्य विचारों का अस्तित्व न रह जायगा, उसके मन में जो विचार उत्पन्न होंगे, वे अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं के विषय में होंगे। उसको प्रसन्न करने के लिए केवल जीव-जन्तुओं की सुन्दरता होगी और मस्त करने के लिए फूलों की सुगन्धि।

अब यदि किसी प्रकार हम ऐसा कर सकें कि उस मनुष्य के चारों ओर से प्राकृतिक वातावरण लुप्त हो जाय; तात्पर्य यह कि उसके पैरों के नीचे से पृथ्वी तथा शीश पर से आकाश का लोप हो जाय, तो उसके विचारों को अपने शरीर से बाहर कोई आधार न मिलेगा। यदि मस्तिष्क अपने धर्म पर अटल रहे अर्थात् उससे कुछ न कुछ सोचे बिना न रहा जाय, तो वह अपने हाथ-पैरों को छोड़कर अन्य किस वस्तु के विषय में सोचेगा? उसके मानसिक जगत् का आधार उसका पार्थिव शरीर ही होगा। उसकी दुनिया शरीर से सीमित होगी।

अब यदि हम एक पग और आगे बढ़ायें और कल्पना करें कि उस मनुष्य का शरीर भी न रहे, केवल सूक्ष्म मस्तिष्क, चेतना मात्र सूक्ष्म में रह जाये तो इस चेतना-मात्र में विचार-शक्ति होगी या नहीं, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु इतना तो निःसंशय है कि उसके विचार के लिए कोई आधार नहीं है और हम अपने नित्यप्रति के अनुभव से जानते हैं कि हमारे मस्तिष्क की समस्त क्रिया स्थूल आधार पर अवलम्बित है। स्वयं ईश्वर और स्वर्ग की रचना हमारे संसार के आधार पर हुई है।

हम जिस क्रम से अब तक स्थूलत्व को पृथक करते आये हैं, उसके विपरीत चलें और सूक्ष्म चेतना को शरीर से आवेष्ठित कर दें तो चेतना का शरीर से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध से ही विचारों तथा भावनाओं की उत्पत्ति होती है। आगे बढ़कर जब इस शरीर के चारों ओर पृथ्वी, आकाश, तरु-लता, पशु-पक्षी तथा मनुष्य-समुदाय की सृष्टि हो जाती है, तो वह चेतना शरीर के द्वारों से झाँक-झाँककर बाह्य संसार का अनुभव करती है और इस प्रकार उसके साथ सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित करती है। यही सम्बन्ध, विचार तथा भावनाओं का जनक है।

मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध इन्हीं विचारों तथा भावनाओं पर अवलम्बित है। प्रारम्भिक अवस्था में ये विचार भी अपरिष्कृत थे—वे सहज प्राकृतिक थे।

मनुष्य-समाज में आज हमें एक ही कार्य चलाने के लिए नाना उपाय मिलते हैं। हम जो आज सहस्रों प्रकार का कपड़ा बाज़ार में भरा पाते हैं इसका क्या कारण है? तनिक ध्यान देने से प्रत्यक्ष है कि मानसिक विचित्रता ही इसके मूल में है। समाज में जो आज इतनी असमानता दीख पड़ती है, उसका कारण भी यही व्यक्तिगत् वैचित्र्य ही है। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व पृथक है। उसके मन का झुकाव पृथक है। एक ही घटना दोनो को भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्तेजित करती है। वह एक को धनी, दूसरे को निर्धन कर देती है। एक को कर्मशील तथा दूसरे को कर्मत्यागी बना देती है। हम अपनी इस विचित्रता को, इस भेद को प्रत्यक्ष करने के इच्छुक रहते हैं। एक निर्धन जिस वस्त्र को पसन्द कर लेता है, वह धनवान के काम का नहीं। इसी कारण आज चार पैसे गज से लेकर चालीस रुपए गज़ तक का कपड़ा बाज़ार में मिलता है।

यही बात भावनाओं तथा विचारों के विषय में है। कुछ व्यक्ति टेढ़े-मेढ़े, अपरिष्कृत विचारों के वातावरण में ही जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु कुछ इस दशा से असन्तुष्ट हो जाते हैं और एक प्रकार की सौन्दर्य-सृष्टि का प्रयत्न करते हैं।

वर्तमान समाज में देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि हमारे आज के सुन्दर और परिष्कृत विचार, सुन्दर और परिष्कृत वातावरण से आते हैं। आज यह माना जाता है कि मनुष्य जिस प्रकार की संगति में रहता है, जैसे सम्पर्क में आता है, साधारणतः उसका मानसिक विकास भी उसी प्रकार का होता है।

यह बात सत्य है। तभी श्रेष्ठ मनुष्यों ने सत्संगति की जी खोलकर प्रशंसा की है। और भक्त नेताओं ने उसे ईश-दर्शन से भी अधिक फलदायी कहा है।

यदि हम केवल वर्तमान पर ही दृष्टि को केन्द्रित रखें तो यह बात एकदम सत्य है। परन्तु इन परिष्कृत विचारों का प्रारम्भ किस भाँति हुआ? आदि में सब मनुष्य एक-से थे। यदि उनकी मानसिक तीव्रता में कोई अन्तर न होता तो यह सुन्दर-असुन्दर का भेदभाव उत्पन्न न होता। हमें मानना होगा कि कुछ मनुष्यों की मानसिक बनावट अन्य मनुष्यों से कुछ अंगों में भिन्न (श्रेष्ठ) होती है। यह श्रेष्ठ अंग ज्यों-ज्यों अधिकाधिक विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों अविकसित मस्तिष्कवाले मनुष्य से उसका अन्तर बढ़ता जाता है। और अंत में वह अंतर समाज में श्रेणियों की सृष्टि कर देता है।

जिन मनुष्यों में सौन्दर्य-भावना तीव्र होती है, जो सुन्दरता का अनुभव विशेष भाँति [शेष

से करते हैं, जिनके स्वप्न सौंदर्य पर अवलम्बित हैं, वे अपनी कल्पना में सौंदर्य-सृष्टि करते हैं। इसी सौंदर्य-सृष्टि से कलाकार का जन्म होता है। कला में उच्छृङ्खलता नहीं होती। कलाकार सौन्दर्य-सृजन के लिए पेंसिल को कागज पर निर्द्वन्द्व, निर्बाध नहीं घूमने देता। सौंदर्य की सृष्टि मस्तिष्क द्वारा हाथ के कठोर नियंत्रण में है। यदि हाथ कल्पित मूर्ति के आकार पर घूमता जाता है तो सृष्टि में सफलता प्राप्त होती है। सौंदर्य-सृष्टि के लिए नियमन आवश्यक है।

विचारों तथा भावनाओं में भी सौंदर्य लाने के लिए संयम और नियमन की आवश्यकता है। यदि हम अपने मन में अच्छे-बुरे सभी प्रकार के विचारों को स्थान देते हैं, तो जंगल की कँटीली झाड़ियों की भाँति असुन्दर भावनायें सुन्दर भावनाओं को दबा लेती हैं। कोमल फूल हमें देखने को नहीं मिलते। लम्बे-लम्बे विषैले काँटे सदा दूसरों को छेदते रहते हैं। उनका भद्दा रूप नैन-रञ्जन नहीं कर पाता।

सुन्दर पुष्प को प्रस्फुटित होने देने के लिए यह आवश्यक है कि चतुर माली की भाँति मन के उपवन से सब विषैली झाड़ियों को उत्पन्न होते ही काटकर फेंक दें और उपयुक्त पौदों को जीवनदायी खाद तथा जल से सिञ्चित करें। इस प्रकार भावनाओं तथा विचारों में शक्ति-सञ्चार होगा, उनकी शक्ति और संख्या में वृद्धि होगी।

जो मनुष्य इस प्रकार के नियमन में समर्थ है, वही संस्कृत है। उसका यह नियमन तथा सुन्दर भावना-समूह संस्कृति है।

परन्तु यह संस्कृति मनुष्य के अपने व्यक्तिगत जीवन की बात है। यह भावना-रूपी है। और इस कारण इसका अनुभव मनुष्य स्वयं कर सकता है।

विचार मनुष्य के कार्य का प्रथम रूप है। वह कार्य-रूपी फल का फूल है। बहुत-से फूल बिना फल के ही मुरझा जाते हैं। परन्तु कुछ में फल आते हैं। हम फूल की उपयोगिता की परीक्षा उससे उत्पन्न फल से कर सकते हैं। किसी मनुष्य की भावनाओं की सुन्दरता अथवा असुन्दरता का निर्णय उसके शब्दों तथा कार्यों से किया जा सकता है। उसका दूसरे मनुष्यों के साथ जो सम्बन्ध है, वह उस सम्बन्ध को जिस प्रकार निभाता है, यही उसकी संस्कृति का माप-दण्ड है। शिष्टाचार भी संस्कृति का ही प्रकट रूप है। संस्कृति जब इस भाँति प्रकट होती है, तो सभ्यता कहलाती है।

शिष्टाचार तथा दूसरों से व्यवहार की कला में प्रवीण मनुष्य संस्कृत होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। असंस्कृत मनुष्य भी संगति के प्रभाव अथवा सांसारिक आवश्यकताओं के कारण शिष्टाचारमय व्यवहार कर सकता है। और प्रायः ऐसा होता ही है। परन्तु यदि कोई संस्कृत मनुष्य शिष्टाचार तथा अन्य सभ्यता-विहीन की भाँति व्यवहार वा वार्तालाप करे तो हमें उसकी संस्कृति में कुछ कमी माननी ही होगी। विचार कार्य का प्रेरक है। यदि विचार होकर भी कार्य उचित नहीं है, तो हमें मानना पड़ेगा कि प्रेरणा में पर्याप्त बल नहीं है।

वर्त्तमान समय में संस्कृति शब्द का प्रयोग कई प्रकार से हो रहा है। ऊपर हम व्यक्तिगत संस्कृति के विषय में विचार करते आये हैं। परन्तु संस्कृति शब्द का व्यवहार सामूहिक संस्कृति के विषय में भी होता है। आज हम राष्ट्रीय संस्कृति, सामाजिक संस्कृति की रक्षा का प्रश्न नित्य प्रति उठाते रहते हैं। संस्कृति शब्द का अर्थ इस विषय में समाज अथवा राष्ट्र-विशेष की संस्थायें

तथा जीवन के प्रति समाज अथवा राष्ट्र का दृष्टिकोण होता है। व्यक्तिगत संस्कृति ही इकट्ठी होकर सामूहिक संस्कृति बन जाती है।

हमें यहाँ संस्कृति तथा वर्तमान अर्थशास्त्र के व्यक्ति पर लागू होनेवाले नियमों के सम्बन्ध पर ही विचार करना है।

अर्थ एक विज्ञान है। उसके नियम हैं। ऐसा विद्वानों का कथन है। परन्तु विज्ञान और नियम शब्दों का अर्थ सदा एक नहीं होता। ऐसे विज्ञान हैं जहाँ उन विज्ञानों तथा उनके नियमों के प्रकार में महान अन्तर है। इनको हम मोटे तौर पर दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं। एक समूह वह है जिसमें मनुष्य के मनोविज्ञान का कोई भाग नहीं है। यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु को ऊपर उछाले तो उसकी इच्छा-अनिच्छा की चिंता न कर वह वस्तु नीचे ही लौटकर आयेगी।

दूसरे प्रकार के विज्ञान वे हैं जो प्रत्यक्ष ही मनुष्य के मनोविज्ञान से प्रभावित होते हैं। अर्थशास्त्र दूसरे प्रकार के विज्ञानों में से है। इसके नियम अकाट्य हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के पारस्परिक भावमय सम्बन्ध प्रतिदिन अर्थशास्त्र के नियमों की अवहेलना करते दिखाई देते हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य अर्थ को छोड़कर अन्य वस्तुओं के लिए सर्वस्व दाव पर लगा देता है। अर्थ उसके लिए बहुत कुछ है सही; परन्तु सब कुछ नहीं है। इसी लिए इस शास्त्र के नियमों में अनेकों व्यक्तिगत अपवाद घुस आते हैं और उन्हें ढीला-ढाला कर देते हैं।

मोटे तौर पर समझने की सरलता के लिए हम अर्थशास्त्र को तीन विषेशयों से पृथक-पृथक कर सकते हैं। व्यक्तिगत अर्थशास्त्र, व्यापारिक अर्थशास्त्र तथा राष्ट्रीय अर्थविज्ञान। व्यक्ति पर प्रत्येक विभाग का प्रभाव पड़ता है; परन्तु यह प्रभाव उसके अपने अर्थ के प्रति व्यक्तिगत विचारों से प्रभावित होता है।

व्यापारिक अर्थशास्त्र के नियमानुसार व्यापारी को चाहिये कि वह अपने अर्थ-लाभ पर ध्यान रखते हुए ग्राहक को अधिक से अधिक मूल्य के बदले कम से कम वस्तु दे। और अधिकतर व्यापारी इसके अनुसार कार्य करते हैं; परन्तु रामनाथ को यह असह्य है। वह जब कभी ग्राहक से इस प्रकार का व्यवहार करने चलता है, तो उसके मन को महान् कष्ट होता है और वह धोखा देते-देते रह जाता है। जिसके फल-स्वरूप वह जितना अर्थ प्राप्त कर सकता था, नहीं प्राप्त कर पाता। फिर भी वह दरिद्रता में रहकर अपनी इस दुर्बलता से चिपटा हुआ है। अर्थशास्त्र उससे अपना नियम पालन नहीं करा सकता।

इसी प्रकार राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के नियमों के आधार पर अनुमानित कार्य सदा पूर्ण नहीं होते। हमारी मानसिक अवस्था उनके अनुमान में त्रुटि बन जाती है। हम विदेशी वस्त्र सस्ता होने पर भी नहीं ख़रीदते।

तात्पर्य यह है कि अर्थशास्त्र के कठोर नियम, पालन किये ही जायँगे, ऐसे नियम नहीं हैं। वे नियम पालन-कर्त्ता की मानसिक स्थिति, उसके विचार तथा उसकी संस्कृति से प्रभावित होते हैं। तनिक विचार करने से ज्ञात होगा कि वास्तव में अर्थशास्त्र तथा इसी श्रेणी के अन्य विज्ञान, हमारी संस्कृति के प्रकट रूप, सभ्यता के अंग मात्र हैं। वे सामुदायिक संस्कृति के प्रतीक हैं। संस्कृति में परिवर्तन एवम् परिवर्द्धन होते रहने पर इन विज्ञानों के नियमों में भी परिवर्तन होता रहता है। इसी को समय का बदल जाना, अथवा हमारे दृष्टिकोण तथा वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन हो जाना कहते हैं।

[२१०

प्रश्न उठता है कि अर्थ क्या है ? जिसके लिए आये दिन संसार के सम्मुख इतनी कठिनतायें उपस्थित होती रहती हैं ? साधारण अर्थशास्त्र की दृष्टि से हम जिस वस्तु को बेचकर उसका मूल्य प्राप्त कर सकते हैं, वही धन है। वही काम की वस्तु है। जिस वस्तु को हम बदल नहीं सकते, वह बेकार है। परन्तु यदि धन का मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध है और वह उसके परिश्रम से पैदा होता है, तो यह परिभाषा प्रत्यक्ष ही अधूरी है। हमारे जीवन में अनेकों ऐसी सामग्रियों का उपयोग होता है, जिन्हें बेचा नहीं जा सकता, तो क्या इसी से उनका कोई मूल्य नहीं है ?

परन्तु यहाँ पर हम धन का अर्थ संकुचित (जैसा कि साधारणतया समझा जाता है) रुपए-पैसे का लेगें।

'हम क्यों रुपया एकत्रित करने का प्रयत्न करते हैं ?'

'इसलिए कि उससे जीवन-धारण की सामग्री खरीदी जा सकती है।'

'क्या जीवन-धारण की सामग्री रुपए को छोड़कर अन्य किसी उपाय से नहीं प्राप्त की जा सकती ? क्या किसान अपनी खाद्य-सामग्री के लिये रुपए का मुख देखता है ?'

'क्यों नहीं। बीज खरीदकर वह खेत में डालता है। उसके लिए रुपए चाहियें।'

'यदि बीज उसके घर में है ; क्योंकि बीज पैदा करनेवाला भी तो वही है, तो वह एक पैसा नहीं लगाता। और वर्ष भर से अधिक के लिए भोजन पैदा कर लेता है। केवल सरकार को कर देने के लिए अब अन्न देने की रीति न रह जाने के कारण उसे अन्न बेचना पड़ता है।'

'वह अपने श्रम से भोजन पैदा करता है।'

'ठीक है। सरकार को कर देने के लिए वह जो रुपए अन्न बेचकर लाता है, वे उसी श्रम के परिवर्तित रूप हैं : रुपया फिर श्रम में परिवर्तित किया जा सकता है। रुपए को हम श्रम का ठोस रूप कह सकते हैं।'

श्रम से सभी कार्य हो जाते हैं। रुपया ठोस श्रम है। इसी कारण साधारण मनुष्य अधिकाधिक परिमाण में उसे इकट्ठा करना चाहते हैं। और बिना श्रम जीवन-निर्वाह कठिन है। इसलिए जो मनुष्य कृषक न हो उसका निर्वाह बिना रुपए होना असम्भव है। अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ होने के कारण रुपया एक आवश्यकता बन गया है।

मनुष्य की आवश्यकतायें दो प्रकार की होती हैं। प्रथम वे हैं जिनकी पूर्ति के बिना उसका जीवन नहीं रह सकता। ये आवश्यकतायें उसके समाज में रहन-सहन के आदर्शानुसार जीवनयापन की योग्यता दे देने तक हैं। इससे आगे की आवश्यकतायें कल्पना तथा मानसिक विलास से उत्पन्न होती हैं। हमारी संस्कृति का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से इन्हीं आवश्यकताओं द्वारा है। अपनी इन्हीं आवश्यकताओं का नियमन हमारी संस्कृति की उच्चता तथा अधमता का परिचायक है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। बिना एक दूसरे की सहायता के उसका कार्य नहीं चलता। उसे दूसरों की संसार-यात्रा में रुचि दिखानी होती है और दूसरे उसमें रुचि दिखाते हैं। प्रत्येक मनुष्य का समाज के प्रति एक उत्तरदायित्व हो उठता है। वह समाज के दुःख-सुख का ज़िम्मेदार बन जाता है। यदि आज समाज में कोई मनुष्य भूखा मरता है, तो उसके प्राण-नाश का उत्तरदायी समाज का प्रत्येक व्यक्ति है।

जो मनुष्य अपने इस उत्तरदायित्व को जितना समझता है, और समाज में जितना

अधिक सामञ्जस्य-सृष्टि-कारक जीवन-निर्वाह करता है, वह जीवन-कला में उतना ही कुशल है। हम संस्कृति के विषय में कह आये हैं कि सौन्दर्य-भावना उसका मूल है। सौन्दर्य सामञ्जस्य में है। उसमें हमें एक प्रकार का आनन्द होता है। यह आनन्द और सौन्दर्य मित्रों के सहभोज तथा इसी प्रकार के अन्य उत्सवों में बहुत कुछ अंश तक विद्यमान रहता है। इसी के कारण इन उत्सवों की सृष्टि होती है।

'बाँटकर खाने में जो आनन्द है वह अकेले खाने में नहीं।'— यह बात संसार में अब मनुष्यों के विषय में सत्य नहीं रह जा रही है। उनका ममत्व-भाव इसे दबा रहा है। प्रत्येक वस्तु पर ममत्व की छाप लगाकर अब वे उसे अपने ही लिए रख लेना चाहते हैं।

वास्तव में संस्कृत मनुष्य की प्रकृति का कोमल तथा रचनात्मक भाग अधिक विकसित होता है। इसी से त्याग तथा लेन-देन की सात्विक भावना को प्रगति मिलती है। और संचय का अहंकारी कठोर रूप बंधुत्व, प्रेम और सहानुभूति की कोमल किरणों में घुलने लगता है।

धन श्रम है, शक्ति है। वह अपने में कदापि बुरा नहीं है। परन्तु वह तलवार है। चाहे आप उससे दुर्बल की रक्षा कीजिये, चाहे आप उसका गला काट डालिये। दोनो प्रयोग सम्भव हैं। धन की उत्तमता और अधमता धनवान की मनोवृत्ति पर निर्भर है।

पुराने बड़े मनुष्यों ने कहा है कि धन सब इच्छाओं की पूर्ति करनेवाला है। वह धर्म की जड़ है। यदि धार्मिक बनना चाहते हो तो धन कमाओ और फिर धन से धार्मिकता खरीद लो। दान-पुण्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। इसी विचार से धनी को सेठ (श्रेष्ठ) कहा गया है। परन्तु उसकी यह सेठता धन-सञ्चय पर नहीं वरन् उसके सदुपयोग पर निर्भर है। धन-सञ्चय उद्देश नहीं, उद्देश है धर्म-प्राप्ति।

ईसाइयों के स्वर्ग में धनिकों को घुसने की आज्ञा नहीं—ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। परन्तु हमें इसकी चिंता न करनी चाहिये। हमारा स्वर्ग धनिकों का स्वर्ग है, उसकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी हैं। हमारे स्वर्ग में दरिद्र को स्थान नहीं। जब तक वह भगवान की स्वामिनी को प्रसन्न नहीं कर लेता, उसे भगवान के घर में घुसने की आज्ञा नहीं।

जान पड़ता है कि हमारी त्याग-भावना के मूल में भी कुछ ऐसी ही बात है। कदाचित् लोग विष्णु-पत्नी को वरण करने में कुछ हिचकिचाते हैं। वे स्वामी के प्रति ऐसे गुरुतर अपराध के अपराधी नहीं होना चाहते। परन्तु कुछ वैष्णव पुरातन पुरुष की पत्नी के मनोविज्ञान को समझते हैं। वे विभिन्न उपायों से उसका मन हरण कर लेते हैं। वे उसके लिए पृथ्वी के सार का सुदृढ़ स्थान बना, उसमें उन्हें स्थापित कर, बड़े यत्न से रखते हैं। बारम्बार उनके दर्शन करते हैं और अन्तिम समय तक उन्हें हृदय से लगाये रहते हैं। वे अपने प्रेम-पात्र की भाँति उसका पर-पुरुष के पास जाना सहन नहीं कर सकते।

इस प्रकार आज धर्म की जड़ तिजौरी में से फैलने की चेष्टा करती रहती है। मनुष्य में यह कौन-सी भावना है जो उसे अपने चारो ओर दुःख और भूख देखते हुए भी इस सञ्चय के लिए उत्साहित करती है?

इसमें सन्देह नहीं कि अन्य लोगों के कष्ट संग्रह-कर्त्ता के मन को प्रभावित नहीं करते। उनकी दृष्टि शिकारी की भाँति अपने लक्ष्य पर लगी रहती है और वहाँ से विचलित नहीं होती।

उनकी अनुभव-शक्ति मन्द हो जाती है। वे प्रसन्नचित्त, हँसते-हँसते—भूखे मरते की जेब से पैसा निकाल ले सकते हैं, उनकी यह निर्ममता परमहंसत्व अवस्था को प्राप्त कर लेती है। इसी में सफलता (?) निहित है।

जो मनुष्य संस्कृत है, जिसने अपनी प्रकृति के कोमल अंगों को विकसित किया है, इस प्रकार की साधना उसकी पहुँच से बाहर है। वह इस विषय में कंगाल है।

आज हम संसार के दुःखों को मिटाने के लिए सबको संस्कृत बनाना चाहते हैं। संसार के महाविद्यालयों में संस्कृति का वितरण किया जाता है। हमें सुन्दर, उदार भावनाओं से परिपूर्ण साहित्य पढ़ाया जाता है। एक-एक शब्द पर पूरा बल लगाया जाता है। दूसरे का दृष्टि-कोण समझने का उपदेश दिया जाता है। हठधर्मी के स्थान पर सहानुभूति का पाठ पढ़ाया जाता है; परन्तु फिर भी आज संसार में अशांति बढ़ती ही जा रही है। आज वह भविष्य की आशंका से सिहर उठता है। प्रत्येक देश अपने बाहुओं पर संदिग्ध दृष्टि-पात करता है कि क्या ये आगामी युद्ध-भार उठाने में समर्थ होंगे?

आज उदारता के युग में, स्वतन्त्रता, भ्रातृ-भाव और समानता की बातों के युग में, संस्कृति और सभ्यता के युग में बाज़ार-भाव बनाये रखने के लिए भूखों की आखों के सम्मुख फ़सलें जला दी जाती हैं। नंगे मनुष्यों के बीच में सरकारें घोषणा करती हैं कि कपास न बोई जाय, क्योंकि मनुष्यों के पास पर्याप्त से अधिक वस्त्र हैं, वे और नहीं पहन (खरीद) सकते।

संस्कृति-शिक्षा के नाम पर महान साहित्य का अध्ययन कर आज हम गिरहकटी, उचक्कापन और संघटित न्यायमय डकैती का पाठ पढ़ते हैं। उल्टे-सीधे विचारों के जंगल में हमें वास्तविक मार्ग का ध्यान नहीं रह जाता। हम इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

वर्त्तमान युग में समाज की विभिन्न श्रेणियों में जो संघर्ष है, वह कितना निर्मम तथा मनुष्यत्व से हीन है, यह बताने की बात नहीं। पिछली शताब्दियों में होनेवाले अत्याचारों की अपेक्षा आज के अत्याचार कुछ कम नहीं हैं; वरन् वे अधिक वैज्ञानिक तथा यन्त्रणा-पूर्ण हैं।

हम वर्त्तमान सभ्यता पर सब उत्तरदायित्व थोपते हैं। समाज के अगुवा सिर हिला, बेबसी जताकर कहते हैं–यह पार्थिव सभ्यता ही सब कष्टों का मूल है। परन्तु क्या संखिया खाकर हुई आत्महत्या की दुर्घटना में संखिया ही दोषी ठहराया जायगा?

हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारी संस्कृति का ही प्रकट रूप सभ्यता है। यदि आज हमारी सभ्यता अशांति से भरी हुई है, तो निःसन्देह हमारी संस्कृति अशांत है। विक्षिप्त सभ्यता की जननी विक्षिप्त संस्कृति न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि आज हमारी सभ्यता राक्षसी है तो निःसंशय हमारे मस्तिष्क राक्षसी विचारों से भरे हुए हैं। विज्ञान दोषी नहीं; दोषी है विज्ञान का प्रयोग करनेवाला मानव-मस्तिष्क।

सभ्यता का मुख्य कार्य मानव-समाज की व्यवस्था तथा उसके सुखों में वृद्धि करना है। वह जीवन में शांति और सौंदर्य भरने का प्रयत्न है। परन्तु आज हमारे संसार का जीवन शांति तथा सौंदर्य की परिपूर्णता के कितने निकट है, यह प्रत्येक मनुष्य जानता है। सभ्यता का सबसे व्यापक अंग, जिससे समाज के प्रत्येक सदस्य का सम्पर्क होता है, उसकी अर्थनीति है। हमारी वर्त्तमान अर्थनीति जिन भावनाओं पर अवलम्बित है, वे भावनायें अस्वस्थ, दूषित और एकांगी हैं। संसार के हित के लिए, इसलिए अपने हित के लिए, हमें सर्वव्यापी अर्थ-भावना उत्पन्न करनी होगी।

अर्थ का केन्द्र व्यक्ति न होकर समाज होगा। व्यक्तिगत सञ्चय की भावना के स्थान पर उदार वितरण-नीति महानता देनेवाली होगी। तभी संसार अपने ध्येय की ओर अग्रसर हो सकेगा।

वर्त्तमान अर्थशास्त्र में परिवर्तन करने के लिए हमें अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन करना होगा। हमें अपनी सभ्यता की आधार, संस्कृति को बदलना होगा। हमें उदारता और भ्रातृ-भाव की केवल बात ही नहीं करनी होगी, उन्हें जीवन में स्थान देना होगा। उनके सम्मुख अपने व्यक्तिगत ममत्व को झुकाना होगा। अपनी दुर्बलता से डरकर नहीं, अपने बल पर विश्वास कर आगे बढ़ना होगा।

उपर्युक्त परिवर्तन कर सकने की शक्ति मनुष्य में है। उसके दुःखों का कारण केवल यही है कि वह अपनी इस शक्ति से अपरिचित है। पवन-तनय की भाँति अपने बल का ज्ञान हो जाने पर समुद्र पार जाना उसके लिए सरल है। केवल इच्छा, प्रयत्न और आत्मविश्वास की आवश्यकता है। जिस दिन मनुष्य इस ओर डग बढ़ायेगा, सफलता उसके चरणों पर लोटेगी। उसने अपने जीवन में जैसे-जैसे कार्य किये हैं, उनको देखते हुए निराशा से डरने का कोई कारण नहीं जान पड़ता।

दिल्ली।

खुले द्वार

[श्यामू सन्यासी]

मिट्टी के ढेर पर ठीकरी-ठीकरी हँड़िया आ बिखरी।

मिट्टी के ढेर ने पूछा—क्यों ?

हँड़िया बोली—आश्रय लेने घर लौट आई हूँ। वहाँ अब मेरी आवश्यकता नहीं रही।

'आओ, आओ !'—मिट्टी का ढेर बोला—सभ्यता की तरह इस घर के द्वार खुल कर बन्द नहीं होते ; निकालना नहीं जानते। ये द्वार सदा खुले हैं। आओ।

और ठीकरियाँ उस ढेर में लुक-छिप गईं।

काशी। [२६५

बच्चा

[गणेशविहारी लाल श्रीवास्तव]

[श्री गणेशविहारी लाल श्रीवास्तव अभी नवयुवक ही हैं। आपकी कहानियाँ अक्सर पत्रों में छपती रहती हैं। १९३० में श्रीवास्तवजी को हिन्दी के क्षेत्र में लाने का श्रेय 'हंस' को ही प्राप्त है।—सं०]

इस समय रात्रि के दो बज रहे हैं। पड़ोस के कमरे से बच्चा रो रहा है, हुआँ! हुआँ!! बच्चा अधिक से अधिक एक वर्ष का है। माता उसे कन्धे से लगाकर टहल रही है। मगर एक वह है जो चुप होने का नाम ही नहीं लेता। पता लगा है आज दो-तीन दिन से उसकी तबीयत ठीक नहीं है। माता बिचारी की चुमकारने-पुचकारने की आवाज़ रोने की आवाज़ के साथ ही इस निस्तब्ध रात्रि में दूर तक सुनाई दे रही है। कभी झुंझुना बजाया जा रहा है, कभी उसे चुप करने को किवाड़ के पास लाकर कुण्डा खड़खड़ाया जा रहा है कभी उसे स्तनपान करने का संयोग दिया जाता है—टहला जाता है, लेटा जाता है, कंधे लगाया जाता है—आं, आं, आं......करके मृदुल लोरी गाई जाती है; मगर एक वह है जो रोने का सम्पूर्ण वेग आज ही शान्त करेगा। एक पल को शान्ति नहीं है। रोते-रोते क्रमशः गला पड़ने से स्वर में रूपान्तर हो गया है।—और मुझे तो यहाँ तक सुनाई पड़ रहा है कि वह रह-रहकर पिता की झिड़कियाँ भी खा रहा है। कहाँ तक धैर्य रखा जाय? प्रत्येक की एक सीमा होती है। घण्टों जब रोते-रोते, चिल्लाते-चिल्लाते, हुआँ-हुआँ करते हुए बीत गया—एक पल नींद नहीं आई, उस समय झुँझलाहट आ जाना स्वाभाविक है। मैं जानता हूँ, आज तीन रात से माता सोई नहीं है। बच्चा किसी रोग से पीड़ित है। पता लगा है, मुँह में छाले हो रहे हैं, या दाँत निकलने का कष्ट है। मगर वह रो रहा है, अब भी रो रहा है। इस समय भी स्वर उसी तीव्र गति से आ रहा है। साथ ही नीचे-ऊपर, दाएँ-बाएँ से स्वर भी आ रहे हैं। कोई वार्तालाप कर रहा है :—

'ए, जी! सो गये!!'

'नहीं! क्यों?'

'किसी का बच्चा रो रहा है'—और कहते-कहते उसने अपने बच्चे को कलेजे से लगा लिया।

कहीं से किसी ने कहा है—कितना कष्ट है किसी के बच्चे को ? आज तीन दिन से किसी को सोने नहीं दिया—ऐसा भी रोना किस काम का !

मा सहस्रो विधियाँ कर रही है। लाड़-प्यार, पुचकार, हिलाना-डुलाना और घुमाना—मगर एक वह है जो आज चुप नहीं ही होगा और रोने का वेग बढ़ाता ही जायगा। डर है कहीं रोते-रोते फेफड़ों पर असर न आ जाय, कलेजे में दर्द न हो उठे। मगर तरकीब भी भला क्या की जाय ? मैं लिख रहा हूँ ; मगर समझ रहा हूँ कि घबराहट का वेग बढ़ता ही जा रहा है। कोई शान्त रहे तो उसके बारे में उपचार की विधि ठीक-ठीक सोचकर निश्चित की जा सकती है। मगर जो हाय-तोबा करके घर ही को सर पर उठा ले, उसके लिए उपचार इत्यादि किस प्रकार सोचा जा सकता है ? यह स्वाभाविक है कि धैर्य हाथ से निकल सकता है।

कहीं से मेरे कानों में स्वर पड़ा है। 'ऐसा बच्चा भी कोई नहीं देखा, जो दो-दो घण्टे क्या सारी-सारी रात रोये—चैन से दो घड़ी सोने भी नहीं देता।'

इस सृष्टि में सभी प्रकार के लोग हैं। दयालु वर्ग समवेदना से पीड़ित है और रोग-मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है। निष्ठुर लोग जो कुछ नहीं कर सकते, जिनके लिए ऐहिक सुख ही 'इति श्री' है, उनकी नाक-भौं चढ़ रही है और 'नींद-हराम' हो रही है। एक ही सृष्टि में—एक ही पड़ोस के दो घरों में, एक ही घर के दो प्राणियों में कितना मतभेद ? - तो क्या यह मतभेद ही सृष्टि के विकास का मूल-मंत्र है ? क्या इसी के सहारे, मानव इतना उत्तरोत्तर उन्नतिशील होता जा रहा है ?

मगर मैं अनुभव कर रहा हूँ कि बच्चा अब दयनीय हो रहा है। स्वर मंद होता-होता क्रमशः बंद-सा हो गया है। चारों ओर की आवाज़ाकशी से मातृ-हृदय क्षुब्ध हो उठा है। कंधे से लगाकर टहलने में उसके पैर के आभूषणों की स्वर-लहरी रह-रहकर सुनाई दे रही है सृष्टि एक बार पुनः शांति-सागर में तिरोहित होने चली है।

निद्रादेवी का अखंड मदपूर्ण एकछत्र राज्य है। समस्त तारावलियाँ नर्तकियों के रूप में नत हैं। प्रभंजन थपकी दे रहा है। स्वर्गीय परियाँ स्वप्नों का संसार रचने में संलग्न हैं।

× × ×

माता टहलते-टहलते थक गई है। पैर भारी-भारी हो उठे हैं। पति महाशय ने दयनीय दृष्टि से उसे देखा है और करवट बदलकर सोने जा रहे हैं। झपकी का अनुभव माता भी कर रही है। तीन रात्रियों से जो एक पल भी वह सोई हो ! प्रतीत हो रहा है जैसे उसे भी कोई पीड़ा दबा लेगी। मगर क्या करे वह ? उसका गोदी का लाल, गृह की दीप्ति रोये और वह उदास न हो उठे—ऐसा तो तीनो लोकों में नहीं हो सकता। यही मातृत्व है - यही वह निधि है जिसके आगे देवांगनाएँ कर-बद्ध हैं।

माता को यह रत्न मिला है बड़ी कड़ी तपस्या से। सोचती है कितनी-कितनी साधनाएँ इस बच्चे के लिए की गई थीं। अच्छा यही रहा कि पति को दूसरा विवाह न करना पड़ा। देर-सवेर में तो कोई हर्ज है नहीं—और जिस दिन उसे इस बात का परम विश्वास मिला था कि वह गर्भवती है, वह आनंदातिरेक से झूम उठी थी। नाना भाँति के विचारों ने उसके समस्त दुःख-

वेग को रोक दिया था—वह फूली नहीं समाती थी। ईश्वर के आगे न जाने कितनी बार विनय कर चुकी थी कि उसने एक स्त्री-हृदय की पुकार सुन ली। और जब एक निश्चित अवधि पर उसने प्रसूति-गृह में प्रवेश किया था, उस समय भी उसके आनंद का ठिकाना नहीं था। इसी आनंद-वेग ने उसके समस्त विकारों—रोगों-दुःखों को जैसे एक दम अपहृत कर लिया। यह 'विचार-मात्र' ही तो है, जो मानव को जैसा चाहे बना देता है।

मगर अब बच्चा फिर रोने लगा है। माता ने उसे अपने घुटनों पर लिटा रखा है। धीरे-धीरे मस्ताने हिलकोरों से हिलाती जा रही है—सिर पर बाएँ हाथ से थपकियाँ दे रही है और आ...आ...निंदिया...का स्फुट स्वर नींद के वेग के कारण कहीं-कहीं कभी-कभी अस्पष्ट-सा सुनाई दे जाता है।

पतिदेव यहीं दफ़्तर में नौकर हैं जहाँ उनको ८-१० घंटे की कड़ी ड्यूटी बजानी पड़ती है। गोरे हैं, सुन्दर हैं, स्वस्थ हैं और साथ ही हँस-मुख भी हैं—गाने बजाने से भी भरपूर शौक़ है। मगर दिन भर की थकान भी कोई चीज़ है। यदि नींद के वेग की अवहेलना करते हैं तो कल दफ़्तर में चार और छ दस और आठ अठारह करते-करते दग़ाबाज नींद धोका देगी और असामयिक आक्रमण करेगी। हाथ की शिथिलता से कलम छूट जायगी—सिर झूले में दोलायमान होकर ऊपर-नीचे होगा और तब...और तब...और तब...

और माता अपने विचार-सूत्रों को लिये बैठी है। वह अपने इस उज्ज्वल रत्न को अफ़ीम देकर नहीं सुलायेगी—बला से उसे आजीवन जागकर ही रात्रियाँ व्यतीत करनी पड़ें। अस्तव्यस्त है, केशराशि बिखर गई है। सुंदर मुख पर एकाध लट का उत्तोलन हृदयग्राही हो रहा है—नींद का वेग पीछे पड़ा हुआ है—थकान-सी भी होने लगी है, नेत्र बरवस मुँदे जा रहे हैं... और...और...

ईश्वर ने जब गोदी भरने ही का उपक्रम किया है, तो क्या वह उसे निबाहेगा नहीं? अभी यह स्वस्थ होगा—फूल-सा सुंदर सुकोमल मेरा बच्चा! जिसके जन्म-दिन पर सारा प्यार न्योछावर हो गया था। अभी क्या है, अभी तो यह बड़ा होगा—मेरी आशाओं का केन्द्र, गृह की उज्ज्वल ज्योति, मेरे जीवन का सहारा! सारी पृथ्वी को अपने चमत्कार से चमत्कृत कर देगा। लोग कहेंगे, यह अमुक का बच्चा है—तभी तो समाज में सिर ऊँचा होगा। आ हा हा हा! ओ हो हो हो!! अभी कौन जानता है—सभी अपरिचित-से हैं; मगर...मगर बच्चे!...बच्चे!!

और एक दम घबराकर, रोआती-सी होकर चीख़ उठी—

'अरे! अरे सुनो...सु...मेरा बच्चा...क्या सो गये?'

'नहीं तो!'—पतिदेव हड़बड़ाकर उठे।

मेरा बच्चा!!—और हालत देख पतिदेव स्लीपर पहनकर सर्र से नीचे उतर गये। माता का कलेजा धड़क रहा है। घबराहट एवं प्रमाद के-से चिन्ह अब दिखाई देने प्रारंभ हो गये हैं। चटपट उठती है और बच्चे को सुकोमल बिस्तर पर लिटाकर घरेलू उपचार करती है। सिरहाने बैठ जाती है, पतिदेव डाक्टर लेकर आ गये हैं—वार्त्तालाप हो रहा है। जान पड़ता है, प्रबन्ध समुचित हो गया है—नींद की औषधि दे दी गई है—पति ने पुनः बिस्तर पकड़ा है।

किंतु माता कभी भी नहीं सोयेगी। पति के समझाने पर भी वह कैसे सो सकती है? वह देखती है कि उसका नन्हा लेटा है, वह देखती है कि नन्हे की श्वास-प्रश्वास-क्रिया ठीक-ठीक

है। उसका ध्यान लगा है कि कहीं नन्हा भय से चौंक तो नहीं पड़ेगा। फिर भला इन सहस्र कामों के बीच उसे नींद आ सकती है? वह बैठी है और इस प्रकार बैठी है कि मानो बैठने की इस क्रिया ने हठ पकड़ी है।

मगर अब सोचना तो यह है कि नन्हा बीमार क्यों पड़ा। यह क्या बात है कि अच्छे-खासे हैं और बैठे तो बीमारी! गये हैं हाट को, लौटे तो बीमार। तो यह बिमारी है क्या जो प्रत्येक के गले पड़ जाती है और फिर सोच में डाल देती है कि यह गल-फाँसी कैसे दूर की जाय। इतनी मिन्नतें मानी, देवी-देवता पूजे, पत्थरों पर सर रगड़ा, चौराहों पर पानी दिया—मनौती उठाई, सगनौती निश्चित की; मगर फिर भी यह बीमार ही बना रहा और इधर तीन दिन से जो विचित्र दशा हो रही है तो उसके आगे क्या होनहार है। क्यों और कैसे यह... अच्छा...हो...

शांति के वेग में उस पर नींद का आक्रमण होने चला है और वह देख रही है उन्हीं स्वप्निल नेत्रों से कि उसका नन्हा उसी का नन्हा है और वह उसकी माता है। अब संसार में उसे कोई निपूती नहीं कहेगा। गृहस्थ-जीवन में वह असफल होते-होते बची। छः-सात वर्ष तक न जाने उसे कौन-कौन नाम सुनने पड़े। पुत्रवती माताएँ अपने बच्चों को उसके आगे निकालने में सहसा संकोच-सा करती थीं। मगर नहीं, अब वह भी परीक्षा में सफल है, उसे भी अब माता होने का गर्व है। सहसा उसे उसी स्वप्नालोक में गहन अंधकार-सा दिखाई देता है और वह प्रत्यक्ष देखती है कि उसका नन्हा अब इतना बड़ा हो गया; मगर उस अंधकार में छवि कुछ अस्पष्ट-सी है। वह उसके पीछे बढ़ती है जैसे आज नन्हे में और उसमें भागने और पकड़ने की होड़ लगी है; लेकिन अब नन्हा पकड़ा नहीं जाता। वह हाँफ गई। साड़ी सर से खिसककर नीचे आ गिरी—शरीर से पसीने का भी उद्रेक हो चला है; मगर नन्हे की गति रुकती ही नहीं है और आश्चर्य कितना कि वह इस ओर ही मुख किये पीछे किस प्रकार बिना देखे उलटा चल रहा है और तिस पर भी पकड़ से बाहर है। तभी दिखाई दिया—नन्हें के पृष्ठ-भाग में महान् संकट का आविर्भाव! हृदय धड़कने लगा है, पैर अस्तव्यस्त पड़ने लगे हैं और चोखकर चाहती है कि भागकर उसे पकड़ ले और संकट से बचाये। भाग, भाग अभागी, जल्दी कर...जल्दी...

और तभी पड़ोस से एक भयानक चीत्कार सुन पड़ता है—सहसा नेत्र खुल जाते हैं—देखती है कि नन्हा अविकल भाव से सो रहा है। पड़ोस के घर से, दूर ही से रोने का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है, मानो सभी रो रहे हैं। मालूम होता है कोई अनर्थ...

और वह झट लेटकर अपनी निधि को एकदम सीने से लगा लेती है और साड़ी से आपादमस्तक ढक लेती है। उसके मुख से निकले हुए शब्द पड़ोस के रुदन से मिलकर कितना विषम भाव पैदा कर रहे हैं—मगर वह है जो कहे जाती है—

'यह मेरी गोदी की शोभा, सुख-सुहाग की है लाली।'

... ... ।'

और तभी बच्चा फिर रो पड़ा।

कलकत्ता, २३-११-३८।

तुर्कों का पिता

['विष्णु']

(१)

उस दिन नवम्बर की ११ तारीख थी। एक मित्र आये। वे कुछ स्वस्थ नहीं मालूम पड़ रहे थे। मैंने कहा—बात क्या है ?

वे बोले—आज आपने पढ़ा कि नवीन टर्की के निर्माता का स्वर्गवास हो गया है ? मैंने कहा—हाँ ! मैंने पढ़ा है और मुझे दुःख है। संसार का एक महान व्यक्ति हमारे बीच में से जाता रहा।

लेकिन मित्र मुसलमान थे। उन्हें राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का विशेष ज्ञान नहीं था। फिर भी उन्हें कमाल अतातुर्क की मृत्यु का दुःख था। उसका कारण था। उनकी नज़र में कमाल मुसलमान था ; शायद सबसे बड़ा मुसलमान। बस इतना ही, और कुछ नहीं।

यह मित्र की बात थी ; लेकिन कमाल पाशा की मौत का सबको दर्द है। वह हानि न तो केवल टर्की की है न मुसलमानों की। एशिया और उसके द्वारा समस्त विश्व ने इस मृत्यु में अपना कुछ खो दिया है।

उसके कारण हैं ; लेकिन जब मैं सुबह की सुनहरी धूप में बैठा हुआ अखबार पढ़ रहा हूँ, मुझे एक ख़याल आ रहा है—क्या वास्तव में मुस्तफ़ा कमाल की मृत्यु हो गई ?

सामने का पत्र कहता है—सचमुच १० नवम्बर की रात्रि को मुस्तफा कमाल स्वर्गवासी हुए। मैं भी मानता हूँ, वे स्वर्गवासी हुए। अब उनका पार्थिवरूप हम देख न सकेंगे। अब ही क्यों जब वे जीवित थे तब भी अधिकांश दुनिया ने उन्हें नहीं देखा था। आज तो सारा विश्व उन्हें एक रूप में अनुभव करता है। वे सबके और भी समीप आ गये हैं। तब वे मरे कैसे ?

हम कहते हैं वे नहीं मरे। मृत्यु किसी को नष्ट नहीं करती। वह कर भी नहीं सकती। वह तो जीवन की चिरसंगिनी के रूप में उसकी सहायता करती चलती है। न तो जीवन आरम्भ है न मृत्यु अन्त—

Birth is not the begining of life,
Nor death its ending;

Birth & death begin & end,
Only a single chapter in life.

रवि बाबू के शब्दों में 'यदि मृत्यु न होती तो जीवन की भी कोई मर्यादा न मालूम पड़ती।' तब हम कह सकते हैं—मानव को नष्ट करने वाले उसके कर्म हैं जिन्हें वह रात-दिन किया करता है। उन कर्मों में शक्ति है, जीवन है, प्रकाश है, तो वह मानव सदा-सदा के लिये अमर है अन्यथा भूल जाना समय का स्वभाव ही है। इतिहास भी अंधेरे में नहीं टटोलता। इस दृष्टि से तो उसका क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

आज के विश्व में बहुत कम दूरी रह गई है। सारे देश एक दूसरे के इतने समीप आ गये हैं कि आश्चर्य होता है। टर्की को भी हम नित जानते हैं लेकिन मुस्तफा कमाल के रूप में जो सम्बन्ध उसने विश्व से स्थापित किया वह अमर है और उसके साथ हम सबके हृदयों का सम्बन्ध है। समस्त पूर्व ने, उस पूर्व ने जिसकी आत्मा कुचली जा रही थी, जो सिसक रहा था, कमाल में एक महान और सुन्दर भविष्य के दर्शन किये। वह जाग आया और तब से निरत जागृति की ओर बढ़ता जा रहा है।

सन् १८५३ की बात है।

रूस के महान जार ने ब्रिटिश-राजदूत से कहा था—हमारे पास एक बीमार है, बहुत ज़्यादा बीमार। वह किसी समय हमारी गोद में मर जा सकता है।

उसका इशारा टर्की की ओर था। सचमुच तब से टर्की यूरोप का बीमार ही कहा (Sickman of Europe) जाने लगा। बीमारी के इस भ्रम में फँसकर अनेक यूरोपीय राष्ट्रों ने समय-समय पर उसे नष्ट कर डालना चाहा। खुद रूस ने अट्ठारहवीं सदी के मध्य-काल से लेकर महायुद्ध तक बराबर उसकी जान निकालने की कोशिश की; लेकिन बीमार मर न सका। यह आश्चर्य था।

बीसवीं सदी ऐसे ही अनेक आश्चर्यों की जननी है। इसके असंख्य प्राणियों के भीतर जो भयंकर उथल-पुथल मच रही है वह न जाने किस समय किस आश्चर्य के ऊपर से आवरण हटा दे। कौन कह सकता है, हमारे भविष्य के गर्भ में कौन-सा विचित्र जन्तु फल-फूल रहा है? ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि आज की दुनिया में क्रान्ति हो रही है और इस पर विश्व का प्रत्येक प्राणी एकमत है। फैली हुई इस अनेकता में यहीं पर हम आश्चर्य-जनक एकता के दर्शन पाते हैं; परन्तु इस एकता के पीछे भयानक अशान्ति है। संसार के उस महान क्रान्तिकारी ट्राटस्की ने लिखा है:—यह साफ़ है कि इतनी अशान्ति पिछली किसी सदी में नहीं हुई, जितनी बीसवीं सदी में हो रही है। अगर हमारे समय का कोई आदमी और सब बातों से पहले सुख और शान्ति चाहता है तो उसने संसार में जन्म लेने के लिये बुरा वक्त चुना है।

संघर्ष में पहले अशान्ति ही पैदा होती है। शान्ति तो संघर्ष का अन्त है। आज जो संघर्ष है, उसके पीछे व्यक्ति की इकाई नहीं है। वहाँ समूचे राष्ट्र, एकता का सुनहरा आवरण ओढ़े हुए जातियाँ, और कई अनेक राष्ट्रों का ग्रुप है। वे सब आत्म-रक्षा, देश-प्रेम, पीड़ित-मानवता का उद्धार और ऐसे ही अनेक (Sentimental) कारणों के नाम पर एक दूसरे को नष्ट करने के लिये मानव के रक्त से पृथ्वी को रंगे चले जा रहे हैं। भाग्य के इस प्रबल बन्धन को [२७०

ढीला करने की शक्ति किसी में नहीं है। आश्चर्य है, जो इसका विरोध करने का साहस करता है वह स्वयं रक्त के दरिया के ऊपर शान्ति का पुल बाँधने की विफल चेष्टा करता है। मानवता का कितना भयंकर उपहास है यह ?

लेकिन टर्की इसका अपवाद है। जब यूरोप के लोग क्षण-क्षण इस बीमार का जनाज़ा उठाने के लिये उतावले हो रहे थे तब उन्होंने आश्चर्य से देखा—अरे! इस बीमार की खोल के भीतर से एक तरुण राष्ट्र जन्म ले रहा है। वह मानो अपनी ही क़ब्र पर खड़े होकर दुनिया को जीवन-सन्देश सुनाने आया है। उसने अपनी पुरानी संस्कृति के खंडहरों को, जो धीरे-धीरे ढह-ढहकर उसे दबाते जा रहे थे, समूल उखाड़ फेंका और जल्दी ही एक अपूर्व सुन्दर नई इमारत खड़ी कर दी। पीड़ित मानवता ने इसमें नव युग के दर्शन पाये। बढ़ते हुए साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के लिए मानो यह एक चुनौती थी। पर कोई भी उस उठते हुए आन्दोलन को कुचल न सका। उसका एक कारण था। उस सारे आन्दोलन के अग्रभाग में एक महान व्यक्तित्व था। उसके सामने 'जार्ज बर्नार्ड-शा' के ये शब्द थे—जीवन का सच्चा आनन्द यह है कि जिसे तुम कोई महान उद्देश्य मानते हो उसी में जीवन लगा दो ; कचरे में फेंक दिये जाने से पहले अपने शरीर का कण-कण इस काम में जर्जर हो जाने दो और प्रकृति के हाथ में एक शक्ति बनकर रहो।

और (Browning) ने जिस महान जीवन-प्रवाह की गति का स्तुति-गान किया है वह उसके जीवन में प्रत्यक्ष थी। वह हरएक महान बनने वाले व्यक्ति के जीवन में होती है:—

> Then welcome each rebuff
> That turns earth's smoothness rough
> And makes not sit, nor stand, but go.

तभी तो वे सफल होते हैं। कर्म करने वाला कभी असफल हो ही नहीं सकता। 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।'—अथर्ववेद ७-५२-८। मेरे दाहिने हाथ में कर्म, पुरुषार्थ है और मेरे बायें हाथ में विजय रखी हुई है।

यह आदेश स्पष्ट है।

(२)

ऊपर हम जिस अद्भुत व्यक्ति का वर्णन कर रहे थे, वही तो तुर्कों का पिता मुस्तफा कमाल पाशा था। इस महान नेता का जन्म १८८० में सलोनिका में हुआ था। आज यह सलोनिका ग्रीस राज्य में है। कमाल ने स्वयं लिखा है—उसकी माता पुराने संकीर्ण धार्मिक विचारों की थी और पिता पश्चिम से आते हुए विचारों में बह रहे थे। वे पहले कस्टम में काम करते थे परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में लकड़ी का व्यापार करने लगे थे। उनका नाम रेजावे था। और बालक कमाल जब सात वर्ष का ही था उनकी मृत्यु हो गई। कमाल तब चाचा के घर रहकर भेड़ चराते रहे।

आज के युग के सभी महापुरुषों के समान कमाल भी बहुत ही साधारण और नगण्य धरातल से ऊपर उठे। बालक कमाल को स्कूल भेजा गया था लेकिन अरबी शिक्षक के अत्याचार से तंग आकर उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। सैनिक-प्रवृत्ति से विशेष प्रेम होने के कारण वे एक सैनिक स्कूल में जाने लगे। इसी स्कूल में गणित में अद्भुत योग्यता दिखाने के कारण आपने

'कमाल' का उपनाम पाया। इसके पहले केवल 'मुस्तफा' ही थे। सन् १९०४ में कोर्स समाप्त करके आपने (Monaster) की मिलिटरी एकेडमी से 'कप्तान' की उपाधि प्राप्त की।

इसी बीच में टर्की संघर्ष की भयंकर अवस्था में से गुज़र रहा था। क्रान्ति अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी। मुस्तफा कमाल भी सुलतान के विरुद्ध थे। उन्होंने १९०५ में 'वतन' नाम का राजनैतिक संघ बनाया, जो बाद में 'ओटोमन कमेटी आव यूनियन एण्ड प्रोग्रेस' में मिल गया। यह कमेटी १८९१ में जनेवा नगर में टर्की के क्रान्तिकारी युवकों ने स्थापित की थी। इसी कमेटी ने सन् १९०७ में 'पेरिस' में इकट्ठा होकर यह निश्चय किया कि सुलतान को गद्दी से उतार दिया जाये और प्रजातन्त्र की स्थापना हो। कमाल भी इस आन्दोलन के नेता थे; परन्तु अभी तक उन सबका मुखिया एक सुन्दर परन्तु साहसी व्यक्ति अनवर पाशा था। इसी बहादुर व्यक्ति ने फौज को अपनी ओर करके १९०८ में सुलतान को विवश किया कि १८७६ का विधान फिर जारी करे। मिदहत पाशा का बनाया हुआ यह विधान १८७६ में भी कुछ ही महीने चला था। अब विद्रोह सफल हुआ और लगा कि ओटोमन साम्राज्य शान्ति व सुख के समीप आ गया है। लेकिन यह सब क्षणिक था। अधिकांश टर्की पुरानी रूढ़ियों से चिपका हुआ था। उसे युवकों की क्रान्ति पसन्द नहीं थी। फल यह हुआ कि मुल्लाओं ने युवक क्रान्तिकारियों के विरुद्ध फतवे दिये। सेना फिर सुलतान से जा मिली। नेता लोग मैसीडोनिया भाग गये और वहाँ से एक बड़ी सेना लेकर कुस्तुन्तुनिया पर हमला किया। महान रक्तपात के बाद सुल्तान अब्दुल हमीद को गद्दी से उतार दिया गया। अब मुहम्मद पाँचवा सिंहासन पर बैठा।

मुस्तफा कमाल इस क्रान्ति में शामिल था; परन्तु १९०८ में उसका अन्य साथियों से मतभेद हो गया। वह प्रजातंत्र का पक्षपाती था। उसने कमेटी से इस्तीफा दे दिया। १९११ में वह ट्रिपोली में इटली के विरुद्ध लड़ा था। उस समय टर्की अजीब हालत में था। उसके मातहत प्रदेश स्वतंत्रता की माँग कर रहे थे। वह स्वयं महान टर्की-साम्राज्य के स्वप्न देख रहा था और यूरोप चाहता था कि टर्की को नष्ट ही कर डाले। यह अवस्था थी जब टर्की के पड़ोसी बालकन देशों ने एक 'बालकन लीग' संगठित की और अक्तूबर १९१२ में टर्की पर हमला बोल दिया। टर्की बुरी तरह पराजित हुआ। उस समय यह निश्चित जान पड़ रहा था कि यूरोप का यह मरीज़ अब जी न सकेगा। लेकिन भाग्य उसके साथ था। लूट का माल बाँटते-बाँटते लुटेरे बालकन देश आपस में ही लड़ पड़े और टर्की बच गया।

टर्की के प्राण तो बच गये; पर यूरोप में उसका अस्तित्व नाम मात्र को ही था। उसी समय यूरोप में महायुद्ध का भूचाल आया। १९१४ के पतझड़ में टर्की जर्मनी की ओर युद्ध में प्रविष्ट हुआ। उस समय मुस्तफा कमाल सोफ़िया में था। युद्ध के बीच में कमाल ने अद्भुत कौशल दिखाया। ब्रिटिश हमले के विरुद्ध डारडैनियल में जो साहस उसने प्रगट किया वह अद्वितीय है। इसी युद्ध में उसके हृदय के ठीक ऊपर एक विनाशकारी जख़्म लगा। कमाल की मृत्यु हो जाती यदि एक (Watch) ठीक समय पर उसकी मदद न करता। लेकिन १९१८ में जर्मनी के पूर्ण पराजय से एक वर्ष पहले ही टर्की ने हार मान ली। सुलतान महमूद (पाँचवा) १९१८ में मर गया और उसके स्थान पर प्रिंस वहीद-उद्दीन गद्दीनशीन हुआ। ३० अक्तूबर १९१८ की मुदरस की सन्धि के बाद ही अनवर पाशा आदि नेता देश छोड़कर भाग गये थे। टर्की तब एक निर्जीव देश था। उसके पास सैनिक शक्ति नहीं थी। इस बहादुर और खूँखार जाति ने अपने सिसकते हुए देश को

मित्र राष्ट्रों की दया पर छोड़ दिया था। कहा जा सकता है, यूरोप का बीमार एक बार फिर मरने जा रहा था। उसी समय कमाल का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी शक्ति बढ़ रही थी और मित्र-राष्ट्र उसे पसन्द नहीं करते थे। इसी कारण सुलतान ने उसे पूर्वी अनातोलिया में सेनाओं का निरीक्षक बनाकर भेज दिया।

कमाल में एक बात थी। वह निर्भय था। उसे आशा नहीं थी कि जर्मनी जीतेगा। यह बात उसने स्पष्ट हिन्डनबर्ग और लुडनहोर्फ से कह दी थी। और जब कैसर बगदाद से भारत पर हमला करना चाहता था, तब भी खुले रूप से कमाल ने उसका विरोध किया था। अपनी इस स्वतंत्र परन्तु तीक्ष्ण विचारशीलता के कारण उसने १६१८ में सैनिक-पद से भी त्याग-पत्र दे दिया था। इन्हीं कारणों से उसे दूर भेजा गया; लेकिन आश्चर्य है यही बात उसके लिए (Blessing in disguise) साबित हुई। वह खुश हुआ और शीघ्र ही अनातोलिया के लिए रवाना हो गया। कहते हैं, उसके जाने के बाद ही सुल्तान ने अपना विचार बदल दिया। न जाने क्यों उसे भय मालूम होने लगा। आधी रात को ही उसने कमाल को लौटाने के लिए अँग्रेजों के पास सन्देश भेजा पर तब तक तो पक्षी उड़ चुका था। सुल्तान के इस भय में भी कमाल की कितनी महानता है!

अब टर्की के रंगमंच पर कमाल का उदय हुआ। उसने टर्की के पराभव को पूरी तरह से नष्ट करने का प्रण किया। अनातोलिया में उसने राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन करना शुरू किया और फ़ौज को अपनी तरफ़ करने की कोशिश की। वह सफल हुआ। इस सफलता के कारण थे। पहला कारण यह था कि काकेशस का जो आर्मीनियन प्रजातंत्र था उससे अँग्रेज़ों ने वादा किया कि टर्की के पूर्वी हिस्से उसमें मिला दिये जायँगे। तुर्क और आर्मीनियन जानी दुश्मन थे। तब पूर्वी टर्की के तुर्क यह कैसे मान सकते थे। दूसरा कारण यूनान का हमला था। उसे अपने पुराने विज़ैंटियन साम्राज्य के स्वप्न आने लगे थे। वह अँग्रेजों के झाँसे में आ गया। यूनान का नेता चतुर राजनीतिज्ञ वेनीजैलो था। उस समय सर वेसिलोस ज़हरोफ़ भी बड़ा प्रसिद्ध व्यक्ति था। उसने युद्ध काल में अतुलित धन कमाया था। इस युद्ध में उसका भी हाथ था।

तुर्कों ने देखा, मित्रता का दम भरनेवाले ही फाँसी का सन्देश लेकर आये हैं तो वे जाग आये। कमाल पाशा ने इस जाग्रति से लाभ उठाया। चतुर लोग समय खोना नहीं जानते। उसने युद्ध करने का पूर्ण विचार कर लिया। वह नेता बना और सुल्तान ने उसे विद्रोही करार दे दिया; पर अब इन बातों को कौन पूछता था। फ़ौज उससे मिल गई।

सन् १६१६ में कमाल पाशा ने सिवास में एक विशाल सम्मेलन बुलाया था। उस सम्मेलन में मित्रराष्ट्रों से सुलह की शर्तें तै हुईं। यह शर्तें 'राष्ट्रीय पैक्ट' के नाम से जानी जाती हैं। उधर सुल्तान ने डरकर पार्लामेन्ट बुलाई। उसमें भी सिवास के लोग बहुमत से चुने गये। पार्लामेन्ट ने राष्ट्रीय पैक्ट मन्जूर कर लिया; पर मित्रराष्ट्र तो यह चाहते नहीं थे। कुछ दिन बाद ही अँग्रेज सेनापति ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रीय डेपुटियों को गिरफ़्तार करके माल्टा जलावतन कर दिया गया। कमाल पाशा भी डेपुटी था; परन्तु वह परिणाम जानता था, इस कारण आया नहीं था। फिर भी अँग्रेज सफल नहीं हुए। बहुत से डेपुटी निकल भागे और अंगोरा पहुँच गये। वहीं पर तुर्की की महान राष्ट्रीय सभा (Grand National

Assembly of Turkey) का जन्म हुआ। उसने अपने को देश का शासक बताया और सुल्तान की सरकार को खत्म ऐलान कर दिया। ११ सदस्यों की एक कौन्सिल बनाई गई और मुस्तफा कमाल पाशा उसका प्रेसीडैन्ट हुआ। सचमुच यह कुस्तुन्तुनिया की सरकार का पतन था। वह उठ न सकी। उसने जोर तो बहुत लगाया। कमाल को फाँसी का हुक्म दिया। 'मज़हब ख़तरे में है' यह आवाज़ बुलन्द की। परिणाम-स्वरूप गृह-युद्ध हुआ और रक्त का दरिया बह निकला।

अभी यूनान बढ़ा चला आ रहा था कि अगस्त १९२० में 'सेवरे की सन्धि' प्रकाशित हो गई। कुस्तुन्तुनिया को छोड़कर यूरोप में टर्की के लिए कुछ भी नहीं बचा। यहीं तक नहीं, कुस्तुन्तुनिया में भी नियंत्रण के लिए एक कमीशन रखने का विधान किया गया। उस समय सुल्तान की सरकार तो उस पर सही कर ही देती; पर कमाल पाशा की राष्ट्रीय सरकार ने इसे देश का अपमान समझकर ठुकरा दिया। अब प्रश्न था, इस जाग्रति के ऊपर होकर कौन सन्धि को व्यवहारिक रूप दे। मित्र-राष्ट्रों ने यूनान को सहायता दी। एक बार तो तुर्क हार भी गये। लेकिन कमाल पाशा डरा नहीं, उसने देश-वासियों के सामने ऐलान किया--'जय या जीवन का बलिदान'। और निरत फौज तैयार करने में लगा रहा। उसमें अदम्य उत्साह था, और सबसे बढ़कर उसे अपने ऊपर और अपनी शक्ति पर विश्वास था। एक विदेशी ने उसकी जय में शंका प्रकट की थी। तब कमाल ने कहा था—

'जो कौम ज़िन्दगी और आज़ादी के लिए बड़ी से बड़ी और आखिरी कुरबानियाँ करती है वह असफल नहीं होती। असफलता का मतलब है कि कौम मर चुकी है।'

इसी उत्साह ने सदा उसका साथ दिया। उधर नया साम्यवादी देश रूस था, जो लेनिन के नेतृत्व में बढ़ता चला जा रहा था और तमाम यूरोप की नज़रों में काँटे की तरह चुभ रहा था। उसने भी कमाल पाशा की मदद की। यह सहायता दैवी थी। राष्ट्रीय पक्ष की जीत हुई और यूनानी देश से भगा दिये गये। युद्ध में जो होता है वह भयानक है। पराजित यूनान जब लौट रहा था तो उसने २०० मील के उपजाऊ प्रदेश को वीरान बना दिया। मानो इस पराजय का बदला भूमि से उसने लिया।

इस युद्ध-काल में एक अद्भुत बात हुई। ज्यों-ज्यों कमाल बढ़ता गया 'मित्र राष्ट्र' अलग हटते गये। युद्ध समाप्त होते-होते सबकी सहानुभूति टर्की के साथ थी। राष्ट्रों की मनो-वृत्ति का कितना सुन्दर मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। यह टर्की के शरीर में रक्त नहीं था तो भी वह जीत गया। शायद कमाल का अदम्य उत्साह भी उसे न बचा पाता। हम मानते हैं कि रूस की मदद उत्साह-वर्धक थी; पर सबसे बढ़कर यूनान में वैनीजैलो का पतन था। सम्राट कान्स्टैन्टाइन गद्दी पर बैठा और उसकी सहानुभूति जर्मनी से थी। इस कारण फ्रांस ने कमाल की सरकार से सन्धि कर ली। सोवियट रूस से सुलह हो चुकी थी। काकेशिया, फारिस तथा अफ़ग़ानिस्तान ने भी अंगोरा की सरकार को स्वीकार कर लिया। अब सुल्तान की सरकार केवल अंग्रेज़ों के लिए रह गई थी। कमाल ने कई बार अंग्रेज़ों से सन्धि करनी चाही। आगे चलकर हम देखेंगे वह स्वभाव से शान्ति-प्रिय है; परन्तु अपना अस्तित्व खोकर उसे सुलह प्रिय नहीं है। उस समय लायड जार्ज और चर्चिल की सरकार महायुद्ध की विजय के नशे में मस्त थी। कमाल की उन्होंने एक बात भी न सुनी।

अन्त में अगस्त १९२२ में कमाल पाशा ने यूनान पर हमला करके ९ सितम्बर को स्मर्ना पर अधिकार कर लिया और यूनानियों को सदा-सदा के लिए टर्की से निकाल दिया। वह अब कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ा; लेकिन अंग्रेजों की सेना ने उन्हें रोका। यह बात सितम्बर १९२२ की है। युद्ध हो जाता; परन्तु उसी समय अंग्रेजों की राष्ट्रीय सरकार का पतन हुआ और अनुदार सरकार ने तुर्कों की लगभग सभी शर्तें मान लीं। उस समय यूरोप की अवस्था कितनी अस्थिर थी! इसी अस्थिरता के ऊपर स्थिर होकर कमाल ने विजय प्राप्त की। ऐसी तीक्ष्ण तीव्र दृष्टि विरले ही जन पाते हैं।

अब टर्की, टर्कीवालों का था, कमाल पाशा का था। फिर भी दिखावे की बातें होनी थीं। लुसान का शान्ति-सम्मेलन हुआ। अंग्रेजों की ओर से लार्ड कर्जन और कमाल पाशा के अनन्य साथी इस्मत पाशा में अच्छी पैतरेबाजी हुई। अन्त में जुलाई १९२३ में लुसान की सन्धि पर दस्तखत हो गये। एक शर्त को छोड़कर 'नैशनल पैक्ट' की सभी बातें स्वीकार कर ली गईं। टर्की एक स्वतंत्र राष्ट्र मान लिया गया।

(३)

यूरोप का बीमार जी उठा। इसके अनेक कारण थे। विश्व में अशान्ति थी। राष्ट्रों का परस्पर वैमनस्य था। सब कुछ था; पर सबसे ऊपर कमाल की तीव्र दृष्टि और तीक्ष्ण बुद्धि थी। अदम्य उत्साह और अद्भुत कार्यक्षमता थी। उसने शुरू में 'नेशनल पैक्ट' को सन्धि का आधार बनाया था। वह अन्त तक उसी पर डटा रहा, तनिक भी नहीं डिगा। उस समय के अस्तव्यस्त और पैतरेबाजी में अभ्यस्त कूट राजनीतिज्ञों में कमाल पाशा कितना बड़ा अपवाद था।

कमाल पाशा विजयी हुआ और उसने प्रजातंत्र का ऐलान भी कर दिया परन्तु इसी बीच में कुस्तुन्तुनिया की सरकार का क्या हुआ? वह बराबर मित्र राष्ट्रों से मिलकर राष्ट्रीय सरकार को तंग करती रही। देश जब आजादी के लिए लड़ रहा था तो सुलतान की यह हरकतें प्रजा को पसन्द नहीं आईं। इसी कारण सन् १९२२ में ही जब सन्धि की चर्चा चल रही थी कमाल पाशा ने सुलतानियत तुड़वाने का फैसला करवा लिया। खिलाफत अभी नहीं गई थी और उस्मान घराने के सुलतान केवल खलीफा ही रह गये थे। शायद कमाल समझता था कि खिलाफत के द्वारा वह बाकी मुस्लिम दुनिया से सम्बन्ध बनाये रखेगा। फिर भी खलीफा चुनने का अधिकार असेम्बली के हाथ में रहा। सुलतान पर विश्वासघात का जुर्म लगाकर मुकदमा चलाया गया। लेकिन वह माल्टा भाग गया। अब्दुल मजीद खलीफा बना। उसके पास राजनैतिक अधिकार नहीं थे; फिर भी धर्माध्यक्ष होने के नाते उसका प्रभाव था। बहुत से लोग कमाल पाशा के नवीन सुधारों को नहीं चाहते थे। इसी कारण धार्मिक जगत खलीफा से प्रेम करने लगा। कमाल पाशा को यह बुरा लगा और उसने खलीफा के साथ हल्का बर्ताव किया।

सन् १९२३ में नियमित रूप से टर्की प्रजातंत्र घोषित किया गया और अंगोरा राजधानी बनी। उस अद्भुत शहर का जिस पर कई सदियों तक दुनिया की आँखें जमी रहीं, रूस का ज़ार जिसके लिए बार-बार रक्त बहाता रहा, जिसे कुस्तुन्तुनिया कहते हैं, उसका यह पतन विचित्र था। १५०० वर्षों तक वह पूर्वीय रोमन साम्राज्य की राजधानी रही, फिर तुर्कों की;

लेकिन अब वह एक प्रान्तीय शहर है और अतीत की राजस्मृतियों को अपनी छाती में छिपाये अपना नाम भी खो बैठा है। उसे अब इस्तम्बोल कहते हैं। मानव की भाँति नगर भी एक राष्ट्र के उत्थान और पतन में बहुत बड़ा हिस्सा लेते हैं।

कमाल पाशा प्रजातंत्र के सर्वप्रथम राष्ट्रपति चुने गये। उन्होंने शीघ्र ही अपने को सर्वे सर्वा बना लिया। यूरोप में बीसवीं सदी में जो डिक्टेटर पैदा हुए उनमें एक और बढ़ गया। अब वे खिलाफत को नष्ट करने का अवसर खोजने लगे। उन्हें अवसर मिल गया; पर वह विचित्र बात है। दो हिन्दुस्तानी मुसलमानों ने जिनमें एक आगा खाँ थे, कमाल पाशा को एक पत्र लिखा, जिसमें खलीफा के प्रति व्यवहार का विरोध किया गया था और प्रार्थना भी कि उस महान की मर्यादा की रक्षा की जाय। राष्ट्रपति के पास पहुँचने से प्रथम ही यह पत्र लोगों ने समाचार-पत्रों में पढ़ा। उन्होंने इस अवसर से लाभ उठाकर इस पत्र के पीछे अंग्रेजों का हाथ बताया। उस पत्र में कोई षड़यंत्र की बात नहीं थी; पर कमाल पाशा को खिलाफत उड़ानी थी। वह नष्ट कर दी गई। यह मार्च १९२४ की घटना है। इस तरह १००० वर्ष से भी पुरानी यह महान प्रथा सदा के लिए अनन्त में विलीन हो गई। किसी ने उसके लिए आँसू भी न बहाये।

कमाल पाशा के मार्ग में अब कोई बन्धन नहीं रहा; परन्तु पुरानी आग कहीं-कहीं चमक आती थी। कुर्द तुर्कों का प्रदेश है। उसमें पुरानी जाति के ईरानी बोलनेवाले लोग रहते हैं। वहाँ पर मजहब के नाम एक बलवा हो गया। उसके पीछे राजनैतिक शक्ति भी थी पर मुख्य बात मजहब की थी। विकट अवसरवादी कमाल पाशा यहाँ भी नहीं चूके। असेम्बली में एक कानून बनाया गया। बोलकर या लिखकर लोगों को भड़काने के लिए मजहब का नाम लेना बहुत भयंकर देशद्रोह करार दिया गया। इसी का सहारा लेकर उसने कुर्द लोगों को बुरी तरह कुचल दिया। इतिहास के एक महान Reactionery के शब्द यहाँ कितने ठीक जान पड़ते हैं। उसने कहा था:—We claim liberty in the name of your principles & refuse it to you in the name of ours. कमाल पाशा डिक्टेटर था। डिक्टेटर प्रजा का प्रेम पाकर ऊपर उठता है। वह प्रजा की भलाई के लिए सब कुछ करता है; परन्तु उसका दखल वह नहीं चाहता। Democracy भी प्रजा का राज्य है। वहाँ अल्पमत को बोलने का अधिकार होता है। डिक्टेटर बहु और अल्पमत के फेर में नहीं पड़ता। उसका विरोध करनेवाला देश का दुश्मन है क्योंकि डिक्टेटर में ही तो देश केन्द्रित होता है। कमाल पाशा में सारी टर्की निहित थी। उस समय जिन लोगों ने भी कुर्द लोगों से सहानुभूति प्रकट की, उन्हें तंग किया गया और फाँसी पर भी लटका दिया गया।

उसके बाद स्वयं आजादी की लड़ाई में लड़नेवाले वे वीर थे जिन्हें कमाल पाशा से विरोध था। उनको भी कुचल दिया गया। जिन्होंने देश की आज़ादी जीती थी, वे तनिक से विरोध के कारण फाँसी पर लटका दिये गये। यह सब देश के नाम पर किया गया। मानव कहीं भी विद्रोह नहीं चाहता और फिर जब वह सत्ताधारी हो। कमाल पाशा के जीवन का यह प्रसंग बहुत काला जान पड़ता है, परन्तु हर एक राजतन्त्र में ऐसे अवसर हमें मिलते हैं। गान्धी के कांग्रेस राज्य में भी सत्ता अपने असली रूप में प्रकट होती है। केवल गान्धी ही आज की दुनिया में ऐसा व्यक्ति है, जो बिना रक्त बहाये विरोधी को जीतने की बात कहता है। इस प्रयोग को परखने का अवसर अभी नहीं आया है। आज की दुनिया विद्रोह और षड़यन्त्रों से पूर्ण है। [२७६

उसमें किसी भी बात को न्याय-संगत सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी टर्की की डिक्टेटरशिप यूरोप के अन्य तानाशाहियों से अनेक बातों में अलग है। उसके पास किसी विशेष वाद का सहारा नहीं है। इटली में फैसिस्ट हैं। वे शान्ति में विश्वास नहीं करते। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का घोर विरोध करती है। जर्मनी का नाजीवाद पवित्र आर्यन रक्त के पीछे पड़ा है और उसके लिए 'A majority can never be a substitute for the man' है। वहाँ भी पूँजीवाद की कमी है। कुछ देशों में केवल सेना का सहारा लेकर डिक्टेटर मनमानी करते हैं। इन सबके बीच में रूस का साम्यवादी तानाशाह है। वास्तव में युद्ध के बाद साम्यवाद की बाढ़-सी आ गई थी। उसीका विरोध करने को इटली में पूँजीवाद व मध्य श्रेणी के लोगों का सहारा लेकर फैसिज़्म ने जन्म लिया था। रूस के साम्यवाद ने भी रक्त के दरिया के ऊपर शान्ति का पुल बाँधा है। पर वहाँ पर मज़दूर के लिए रक्त बहा है। उन्हीं की सद्भावना से डिक्टेटर ऊपर उठा है। वहाँ एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन नहीं करता। राज्य की सामूहिक भावना ही सब कुछ करती है। पुर्तगाल में एक और डिक्टेटर है। इस कटुता के वातावरण में उसके शब्द कितने शान्तिमय हैं—'जहाँ शान्ति हो वहाँ युद्ध का निवारण कीजिये। स्वयं अपने हित के विचार से काम कीजिये ; पर साथ ही दूसरों के हितों से मुँह न मोड़िये। केवल स्वार्थ-साधन पर ध्यान मत रखिये ; बल्कि राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग का स्पष्टरूप से ध्यान रखिये। बस यही सब काम कीजिये फिर सार्वराष्ट्रीय दृढ़ता और एकता आपसे आप उत्पन्न हो जायगी।' इस डिक्टेटर का नाम सलाजार है।

टर्की में ऐसी कोई बात नहीं है। वहाँ साम्यवाद नहीं है। वर्गयुद्ध भी वहाँ नहीं होते। जो कुछ किया जाता है, समूचे राष्ट्र की भलाई के लिए किया जाता है। लेकिन उसकी डिक्टेटर-शिप का कारण कुछ और ही है। उसने एक देश को, जो धार्मिक संकीर्णता और अन्धविश्वास में फँसा हुआ था, नवजीवन दिया है। उसकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने पश्चिम से आती हुई चुनौती के सामने पूर्व की लाज रखी। सर वेलेण्टाइन चिरोल सरीखे यूरोपियन विद्वानों का मत है:— पौर्वात्य लोग स्वतंत्रता-प्रिय नहीं हैं। उन्हें अत्याचार और अनाचार सहन करना पसन्द है। Coloured Races के लोग अपने ऋषि-मुनियों के बतलाये हुए नियमों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए आचरण करते हैं। व्यवहारिक आवश्यकतानुसार उन नियमों में परिवर्तन करने का विचार उनके मन में पैदा नहीं होता। यह ख़याल ही ग़लत है कि इन काले पराजित लोगों को पूर्ण या औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त होगा। इसका कारण है। उनका तत्त्व-ज्ञान पाश्चात्यों के तत्त्व-ज्ञान की अपेक्षा बहुत भिन्न है। पाश्चात्यों के इस विधान को झूठा करने का सेहरा कमाल पाशा के सिर पर है। जापान को हम भूल नहीं सकते ; परन्तु वह अब स्वयं उसी अत्याचार को दोहरा रहा है।

इसका एक और कारण है। कमाल पाशा ने अपने स्वार्थ की सीमा निर्धारित की है। राष्ट्र से बाहर वह कुछ भी नहीं चाहता। इटली और जर्मनी या जापान की भाँति उसकी लालसा तीव्र नहीं है। तभी वह किसी के संघर्ष में नहीं आता। जितनी जगह है उसी को स्वतंत्र रखो, यह उसका मंत्र है। वह जानता था टर्की में जान नहीं है। उसे अपनी रक्षा करनी है। तभी उसने गैर टर्की राज्यों पर शासन करने का ख़याल नहीं किया। केवल तुर्कों की आज़ादी और उन्नति के लिए जीवन भर परिश्रम करता रहा। तुर्कों की इतनी शीघ्र उन्नति का यही एक मात्र कारण है।

इतनी शक्ति पाकर स्पर्धा को रोकना कमाल पाशा की दूरन्देशी का ज्वलन्त उदाहरण है। कहा जा सकता है—उस प्रकार वह एक जातीय Homogenous हो गया है। एक विचित्र तबादला भी ग्रीस के साथ उसने किया। टर्की राज्य में बसनेवाले सब यूनानियों को यूनान को देकर वहाँ बसनेवाले तुर्कों को टर्की में वापस बुला लिया। यह एक अद्भुत बात थी, परन्तु उन्नति के लिए सब कुछ किया जाता है। जापान ने भी एक बार पूरे ३०० वर्षों तक अपने को बन्द रखा था; पर टर्की ने ऐसा नहीं किया। उसने तो केवल आत्म-रक्षा के लिए अपने स्वार्थ सीमित कर लिए थे। वह समूचे विश्व से मैत्री चाहता है। शान्ति उसे प्रिय है। सितम्बर १९३६ में आठवें एडवर्ड से वह इस्तम्बूल में मिला, केवल अंग्रेजों की मैत्री के कारण। उसी साल डारडैनियल का प्रश्न कितनी शान्ति के साथ सुलझा दिया गया। अभी-अभी उसने ईरान, इराक और अफ़गानिस्तान के साथ सन्धि की थी। यह Four powers non agression के नाम से प्रसिद्ध है। वह निरा राष्ट्रीय है। पर उसकी राष्ट्रीयता भारत के एक महान दार्शनिक के शब्दों में मानवता की ओर ले जानेवाली है:—'Nationalism is but the halting stage in our onward march to humanity.

उसकी एक और सुन्दर विशेषता थी। वह जो शुरू में था वही अन्त तक बना रहा। जीवन में परिवर्तन तो होते ही हैं पर creed बदलनेवाले परिवर्तन उसने नहीं आने। National post इसका प्रत्यक्ष उदाहरण था। हिटलर और मुसोलिनी के समान वह रंग नहीं पलटता रहा। पोलेण्ड का पिल्सुडस्की जार के सामने समाजवादी था; किन्तु कमाल पाशा जो सुलतान के सामने था वही तानाशाह बनने पर रहा।

उसने प्रयोग के रूप में Grand National Assembly में विरोधी पक्ष का भी निर्माण किया था; परन्तु बाद को उससे कुछ लाभ न समझकर तोड़ दिया। कुछ भी हो। पूर्व को आज कमाल पर गर्व है और टर्की पूर्व का छोटा, परन्तु प्रबल राज्य है।

लेकिन युद्ध-भूमि का महान सैनिक इसी लिए तो सर्वप्रिय नहीं बना। उसकी विश्व-व्यापी सफलता का एक और मुख्य कारण है। सर चिरोल ने जिन पूर्व के धार्मिक बन्धनों का ऊपर वर्णन किया है, कमाल पाशा ने उनका समूल विच्छेद करके ही इस सफलता को पाया है। आश्चर्य है, पुराने रिवाजों पर चोट करने के लिए उसने 'फ़ैज कैप' को चुना। मानो इस छोटी-सी वस्तु के रूप में उसने संकीर्णता के मर्म पर चोट की। 'गान्धी कैप' की महानता भी तो छोटी-सी वस्तु से उपजी है। विद्रोह हुए पर दबा दिये गये। देश को आजादी देनेवाले देवता की ओर देश का बहुमत था, यही बात नहीं थी। टर्की पच्छिम के नज़दीक था। वहाँ की हवा धीरे-धीरे उस वातावरण में घुस रही थी और नवयुवक टर्की में पुरातन के प्रति एक अजीब विद्रोह अन्दर ही अन्दर घर कर रहा था। कमाल पाशा इसको जानता था। महान पुरुष के नेतृत्व की यही कसौटी है। टर्की के धार्मिक जगत में जो सुधार कमाल पाशा ने किये वे ये हैं:—समस्त धार्मिक मठ और विद्यालय बन्द कर दिये। शेख आदि उपाधियाँ गैर कानूनी करार दे दीं तथा उनका धन राज्य के लिए ज़ब्त कर लिया। दरवेशों की पोशाक भी साधारण जनता जैसी कर दी।

(२) राज्य की ओर से राष्ट्रीय स्कूल खोले तथा विदेशी स्कूलों से धर्म-शिक्षा का विषय उड़ा दिया गया।

(३) सुल्तानों के मक़बरों को, जिनकी प्रजा पूजा करती थी, बन्द कर दिया।

[२०८

(४) रोजा रखने की मनाही कर दी।

(५) जमीन पर लेटकर माथा छुआकर नमाज पढ़ना भी बन्द कर दिया।

(६) शुक्रवार के स्थान पर रविवार की छुट्टी कर दी गई।

(७) सलाम करने का जो धार्मिक रूप था, उसे हटाकर हाथ मिलाने की प्रथा प्रचलित की।

(८) इस्लाम मूर्ति-पूजक नहीं है। वे लोग कला, विशेष कर चित्र और मूर्ति-कला को धर्म-विरुद्ध समझते हैं। कमाल ने इन विश्वासों को परे हटाकर कला के विशेष अंगों का अध्ययन करने के लिए स्कूल खोले।

(९) राज्य के धार्मिक विभाग तोड़ दिये गये और ऐलान कर दिया गया कि इस्लाम राज्य का धर्म नहीं है।

इन धार्मिक सुधारों में जो क्रान्ति निहित है, वह अद्भुत है। इनसे कमाल पाशा की शक्ति का अनुमान अनायास ही हो जाता है। विशेष कर भारतीयों के लिए तो ये सुधार विश्व के दसवें आश्चर्य के रूप में हैं। इन धार्मिक सुधारों का प्रभाव टर्की के अन्य जीवन-क्षेत्रों पर भी पड़ा। क्रान्ति की होड़ में सब ही आगे बढ़ने लगे। सबसे बढ़कर परिवर्तन भाषा में हुआ। भाषा राष्ट्रीयता का एक मुख्य कारण है। मेकाले की मशहूर उक्ति के अनुसार—If you want to change a nation change its language first. कमाल टर्की को टर्की बनाना चाहता था। उस समय टर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी। उसने कानूनन अरबी लिपि का बहिष्कार किया और लैटिन लिपि प्रचलित की। यह बात उसने एक दम नहीं कर दी थी। रूस का आदर्श उसके सामने था। स्वयं परिश्रम और परीक्षण करके उसने रोमन को अपनाया था। फिर तो एक तारीख निश्चित की गई। जिसके बाद अरबी का लोप और रोमन का उदय हुआ। १६ से ४० वर्ष तक के लोगों को स्कूल में जाकर इसे सीखना पड़ा। यह आश्चर्यजनक परिवर्तन था। उसे सफलता भी खूब मिली। लिपि के बाद टर्की भाषा से अरबी-फारसी के शब्द भी निकाल दिये गये। टर्की किसानों का देश है। भाषा भी सीधी-सादी उन्हीं के अनुरूप बनी; पर उसमें जोर था क्योंकि वह जनता की भाषा थी। वही राज्य की भाषा बनी। सुलतान के दरबार में फलने-फूलनेवाली लच्छेदार भाषा अब कहीं दिखाई भी नहीं देती।

भाषा के साथ कला और साहित्य भी नये रूप में प्रगट हुए। कुरान रोमन में लिखी गई। मानो रोमन शरीर में इस्लाम की आत्मा ने प्रवेश किया। 'अजां की सदा' अब तुर्की भाषा में गूँज उठी। देश ने इस नई आवाज़ में नव जीवन के दर्शन पाये।

लैटिन जब आई तो टाइपराइटरों का प्रचार बढ़ा और उसके साथ स्त्रियों को खूब नौकरियाँ मिलीं। भाषा के इस राष्ट्रीयकरण से नगर और आदमियों के नाम भी पलटे गये। कुस्तुन्तुनिया, अंगोरा और स्मर्ना क्रम से इस्तम्बोल, अकांरा और इस्मीर कहे जाने लगे।

वेश भाषा का संगी है। फैज जा चुकी थी। दरवेशों की विशेष पोशाक भी कानूनन बन्द थी। समस्त कर्मचारियों के लिए यूरोपियन पोशाक पहनना अनिवार्य कर दिया गया। धीरे-धीरे समस्त टर्की यूरप बन गया। स्त्रियों ने बुरका फाड़ फेंका और गाउन तथा हैट धारण किया।

किसी मुसलमानी प्रदेश में धार्मिकता का अन्त शरियत का भी अन्त है। टर्की राज्य

का कानून शरियत पर आश्रित था ; परन्तु अब उसका आधार स्विस सिविल कोड (स्वीट्जरलैण्ड का दीवानी कानून) इटालियन पेनेल कोड (इटली का दण्ड-विधान) और जर्मन कमर्शल कोड (जर्मनी का व्यापारिक विधान) है। Personal law भी अब वह नहीं रहा। शादी और विरासत के लिए नये नियम बने। इस्लाम में एक पुरुष एक साथ कई औरतों के साथ शादी कर सकता था, वह भी बन्द कर दिया गया।

देश में जब इतनी स्वतन्त्रता फैली, धर्म का बन्धन ढीला हुआ ; कला के प्रति रुचि बढ़ी ; तब कैसे सम्भव था 'स्त्री' उनसे अछूती रहती। स्त्री कला और सुन्दरता की प्रतीक है। बन्धन ढीला होते ही वह पुरुष से गति में बहुत आगे बढ़ जाती है। टर्की जब संघर्ष की हालत में से गुज़र रहा था, तब स्त्रियाँ भी उसमें हिस्सा ले रही थीं। परन्तु कमाल पाशा उनके लिए मसीहा बन कर आया। उसने प्रकृति की इस सुन्दर कला को मुक्त कर दिया। पर्दे पर सबसे पहली चोट पड़ी। अब स्त्रियाँ पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे आईं। कमाल पाशा ने यूरोपियन नाच को विशेष प्रोत्साहन दिया।

राजनैतिक क्षेत्र में भी उन्होंने मताधिकार माँगे और १९३४ के अन्त तक यह अधिकार उन्हें मिल भी गया। १९२५ में ही स्त्रियों ने यह माँग पेश की थी कि किसी भी सिनेमा को प्रकाशित करने से पहले हमारी राय लेनी चाहिये। आज टर्की की नारियाँ घर की चारदिवारी में बन्द नहीं हैं। वे मास्टर, वकील, डाक्टर और जज हैं। पुलिस में भी उनका प्रवेश है। टाइप और शार्टहैण्ड तो स्त्रियों की बपोती है ही। सन् १९३७ में ऐसा कानून पास किया गया जिसके द्वारा फौज में भर्ती होने के लिए स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं माना गया। यह समता की सीमा है।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक और विचित्र परिवर्तन की बात लिखी है—कहा जाता है कि हर साल, एक हफ़्ते तक, हरेक सरकारी अधिकारी हटा दिये जाते हैं और उनकी जगह लड़के काम करते हैं और सारे राज्य का प्रबन्ध लड़कों के जरिये चलाया जाता है। मैं नहीं जानता, यह व्यवस्था किस तरीके पर की जाती है ; पर यह आकर्षक धारणा मानो अपनी तरफ खींचने वाला विधान है और मुझे विश्वास है कि कुछ लड़के चाहे कितने ही बेवकूफ हों और अनुभवहीन हों, वे उनसे ज्यादा बेवकूफी नहीं कर सकते, जितनी हमारे बड़ी उम्र के मनहूस और बड़े गम्भीर तथा पवित्र दिखाई देनेवाले शासक और अधिकारी करते हैं।' उसका नाम शिशु-सप्ताह है। यह एक विचित्र और नई ईजाद है। कुछ भी हो, नागरिकता को जागृत करने और अपने में आत्म-विश्वास पैदा करने का यह अद्भुत तरीका है।

(९)

इतना कुछ हो गया। यह सच है, यह सब सर्व-सम्मति से नहीं हुआ। ऐसी बातें कहीं भी सर्व-सम्मति से नहीं होती। टर्की में आज भी विरोध है और कौन जानता है यह विरोध किस दिन कितना प्रबल हो उठे। परन्तु कमाल पाशा के सामने उनमें शक्ति नहीं थी। जनता का बड़ा भाग, जो बहुत बड़ा था, कमाल पाशा के हाथ में था। इसी कारण सब विरोध आसानी से दबा दिये गये। सच तो यह है कि सदियों से रूढ़ियों के चक्कर में फँसी हुई जनता आप ही उभरना चाहती थी। उसे मात्र सहारे की ज़रूरत थी। वही कमाल पाशा ने उन्हें दिया। कार्य प्रणाली में भेद हो सकता है। उसे गलत भी समझा जा सकता है। अमेरिका के उस महान ऋषि Emerson ने एक स्थान पर लिखा है—'Is it so bad to be misunderstood

Pythagoras was misunderstood & Socrates & Jesus & Luther & Copernicas & Galilis & Newton & every pure & wise spirit that ever took flesh. To be great is to be misunderstood.' इसी महापुरुष ने कहा है—'If the single man plant himself indomitably on his instincts & there abide, the huge world will come round him.' कमाल के जीवन में हम प्रत्यक्ष यह आदर्श देखते हैं। तभी तो वह आश्चर्य-जनक परिवर्तन कर सका था।

वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था। उसकी पैनी और दृढ़ दृष्टि ने, निश्चिन्त और सुलझे हुए विचारों ने उसके चेहरे में एक अद्भुत आकर्षण पैदा कर दिया था। स्थान और समय सबके बीच में भेद जानेवाली उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र, पर संयमी थी। गतिमान होकर भी वह उतावला नहीं था। वह जनता का उद्धार चाहता था। उसने प्रजातन्त्र की स्थापना की थी, फिर भी वह तानाशाह और विरोधियों को कुचलनेवाला था। राज्य-कार्यों में दखल देने के कारण ही उसने अपनी अपूर्व सुन्दरी स्त्री लतीफा हानूम को भी तलाक़ दे दिया था। लतीफा हानूम धनी सुन्दरी और विदुषी थी। उसने स्त्रियों को बहुत आगे बढ़ा दिया था। संभव है, वह समझती थी टर्की के विधाता की पत्नी होने के कारण उसे भी बोलने का हक़ है; पर कमाल को यह सह्य नहीं था।

कमाल का व्यक्तित्व कठोर नहीं था। उसने पत्नी के गुजारे के लिए ५००० पौंड वार्षिक की पेंशन नियत की और आजीवन अविवाहित रहने का व्रत लिया। शायद यह लतीफा का प्रेम था; शायद पुनः स्त्री-द्वारा राज-कार्य में हस्तक्षेप का भय! कौन जाने; पर इतना जरूर जानते हैं कि उसमें दृढ़ता थी। वह दृढ़ता नहीं जो हिटलर ने जर्मनी की सड़कों पर खून बहाकर पाई है; बल्कि यह वह दृढ़ता थी जो Emerson के शब्दों में बयान की गई है। कहीं भी क्या एक तानाशाह इतना लोक-प्रिय हुआ है, जितना कमाल पाशा। तुर्क उसे पिता कहते हैं क्योंकि उसने पिता का कर्तव्य और स्नेह लेकर ही तो बीमार टर्की की सेवा की है, उसे नव-जीवन दिया है।

लेख लम्बा हो चला है; परन्तु देश की आर्थिक अवस्था पर दृष्टि डाले बिना यह अधूरा ही रहेगा। टर्की किसानों का देश है। कमाल पाशा उन्हें बहुत प्रेम करता है, क्योंकि इस आजादी की लड़ाई में उन्होंने बहुत ही भाग लिया था। उसने किसानों के लिए खेती में बहुत सुधार किये, Model Farm बनाये तथा Tractors द्वारा उसे ऊपर उठाया। लेकिन एक जातीय (Homogenous) होने के कारण Industry, को काफी धक्का लगा। कमाल पाशा नहीं चाहता था, देश में विदेशी पूँजी लगे, और आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए राष्ट्रीयता को नष्ट किया जाये। इसी कारण उसने विदेशी माल पर भी चुंगी लगाई है; लेकिन यह न समझना चाहिये कि वह उद्योग-धन्धों का विरोधी था। वह केवल उनका राष्ट्रीयकरण चाहता था और इसके लिए राज्य की सारी शक्ति उसने लगा दी और एक पंचवर्षीय प्रोग्राम बनाया। फिर भी वह प्रोसेस बहुत धीमा है और काफी समय बीतने पर इसका परिणाम प्रकट होता है। टर्की का सिक्का अब Franc के स्थान पर Sterling से सम्बन्ध रखता है।

इस प्रकार २७ वर्ष से ऊपर तुर्कों की अद्भुत सेवा करने के बाद वह महान वीर अमरता की गोद में सो गया। समूची टर्की आज उसकी एक लम्बी छाया के रूप में है। कौन कह सकता है, यह छाया कभी फीकी पड़ जायगी। जमाना परिवर्तन का है; परन्तु कमाल

पाशा ने उसे इस योग्य बना दिया है कि वह किसी भी परिवर्तन को बिना किसी दर्द के सह लेगा। डिक्टेटरों के नीचे पनपनेवाले जमर्नी और इटली से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे हिटलर और मुसोलिनी के बाद भी जी सकेंगे; पर कमाल पाशा के लिए यह कह सकते हैं कि टर्की आसानी से मर नहीं सकेगा। आनेवाले कुछ साल इस बात का निर्णय करेंगे; लेकिन आशा पर किसी का बन्धन नहीं है। भारत के मुसलमान भी उसके लिए रोते हैं परन्तु अचरज तो यह है जब उनसे कमाल पाशा के सुधारों को अपनाने को कहा जाता है तो वे मौन हैं।

क्या वे इस बात का उत्तर देगें ?

हिसार, २४-११-१९३८

द्विधा ?

[निर्मला मित्रा]

युगों से सुनती हूँ, तुमको रिझाना चाहिए—तुम्हें बाँधना चाहिए।

और ऐसे-वैसे भी नहीं, पवित्र प्रेम-डोर से, जिस प्रेम-डोर से मीरा ने तुम्हें बाँधा था, रिझाया था।

परन्तु यह तो बताओ; मैं तुम्हें चाहूँ, या तुम्हारी विभूतियों को चाहूँ ?

मेरे चारों ओर यह जो रहस्यमय रंग-मंच तुमने प्रस्तुत किया है,—इस सौन्दर्यमय ऐश्वर्य को छोड़ कर मैं तुम तक हृदय पहुँचाऊँ कब ? कब तुम्हारा ध्यान करूँ ? और एक मन होकर कैसे तुम में लीन हो जाऊँ ?...

किन्तु—मेरे हृदय से तो तुम्हीं एक श्रेष्ठ-निधि नहीं जँचते हो, और न वैसे प्रणय-पन्थ की मैं पथिका ही बन सकती हूँ ! ..

कारण,—समस्त अन्तकरण तो मेरा विश्व में बँट गया है,—इस विश्व के प्रत्येक फूल, फल, लता, तन्तु सागर, नदी, वन और वनस्पति आदि के कण-कण में समा गया है !

अब—इस सर्वमय हृदय में, एक निष्ठा की क्या पूँजी अवशेष रही,—जो अनुच्छिन्न-आवेग से तुम्हे अर्पण कर सके ?...

नहीं, नहीं, प्रिय,—यह तो मुझसे न हो सकेगा, और न एक-सर्वस्व की उपासना में अपने को ठगाना ही मुझे गवारा है। इससे तो मैं चाहती हूँ—मैं विश्व की रह कर विश्व में ही समा जाऊँ...

किन्तु, द्विधा वही...

जो—युगों से सुनती हूँ...!!

होशंगाबाद।

नोट—इस लेख के लिखने में हमें 'विश्व-इतिहास की झलक' से बहुत मदद मिली है। अतः हम पं० नेहरू के कृतज्ञ हैं। —लेखक

[१९८३

तलैया

[लेखक, वामन चोरघडे]
[अनुवादक, प्रभाकर माचवे]

'सजनी, तेरा काम हो गया ? जरा मुझे भी देगी वह जगह ?'— यह बात, यह प्रश्न एक ही के मुँह का न था। नई आई हुई प्रत्येक नागरी अपने धोने के कपड़ों की गठरी घाट की पैड़ियों पर पटकती, और अपनी पहचान की दूसरी स्त्रियों से पूछती, और वे पहचानवाली स्त्रियाँ भी उत्तर देतीं—हाँ, यह अभी हुआ...ऐसा, या ऐसा ही कुछ !!

वैसे हमेशा सब व्यवहार बड़ी मित्रता से चलता रहता था। बीच-बीच में लड़ाई-झगड़ा मच जाता था ; परन्तु वह बिल्कुल स्वाभाविक और मामूली तौर पर।

उस तलैया के पानी का रंग हरा और गन्दा हो गया था ; परन्तु उसी में वे सब अपने कपड़े धोया करती थीं। स्वच्छ आकाश की परछाईं कभी उस तलैया में पड़ जाती तो वह जल कुछ चमकने लगता ; पर वह चमक भी कितनी भयानक थी ! मुलायम गोल-मटोल कबूतर को निगलकर जैसे अजगर संतुष्ट दिखाई देता है, वैसी ही वह चमक दिखाई देती थी।

प्रत्येक घाट पर अनेक स्त्रियाँ अपने-अपने घर का मैल उस पानी में डुबा-डुबाकर छुड़ाने के प्रयत्न में जुटी थीं। इस प्रयत्न में न जाने वे कहाँ तक सफल होती होंगी ; इसे तो शायद वे स्वयम् भी नहीं जानती थीं।

छोटे-छोटे नंग-धड़ंग बच्चे, और मा का आँचल पकड़े हुए वहाँ तक रोती-रोती आई हुई बच्चियाँ, मा के क्रोध की परवाह किये बिना, बतख़ों को कङ्कर तथा पत्थर मारनेवाले शरीर लड़के और वे औरतें। सबका इकट्ठा कोलाहल, धोने की फट-फट, प्रत्येक क्षण बढ़ती ही जा रही थी। मानो वह कभी भी कम नहीं होगी।

घुटने भर पानी में पैर डुबाये हुए घाट की अन्तिम सीढ़ी पर से पीट-पीटकर यकसाँ बने धोने के पत्थर पर वे सब एकदम अपने कपड़ों की गाँठें धप्-धप् पछाड़ना शुरू करतीं। आस-पास की स्त्रियों पर छींटे उड़ते और कभी-कभी साड़ियाँ, धोतियाँ पूर्ण रूप से भींग जातीं, पर उलट-कर कौन जवाब दे ? जवाब देने की भी किसी को फुरसत हो ! और वह काम पूर्ण हुआ या न हुआ कि एकदम गृह-कार्य शुरू हो जाता। घर लौटते-लौटते वे साड़ियाँ, धोतियाँ सूख जायँगीं।

कौन परवाह करेगा ? इतनी नाज़ुकता के कारण तबीयत बिगड़ जाने का तो वहाँ डर था ही नहीं।

उनके पैर पानी में डूबे हुए थे। प्रत्येक के हाथ से धोया हुआ कपड़ा आँटों के मारे पानी को फेंटता, तथा उसमें आवर्त पैदा कर रहा था। इस कारण पानी में उभरी हुई उनकी परछाईं भी थरथराती थी। और उनका कोई आकार ही नहीं रहा था।

• • •

एक घाट, और दूसरा घाट, उन दोनो ही घाटों पर एक-सी आमद-रफ़्त चालू थी। पुराने तथा मैले धोये हुए कपड़ों का मानो हार लगा था। इधर का कोलाहल उधर सुनाई नहीं पड़ता था।

हाथों के साथ ही ज़बानें भी चल रही थीं। इतने प्रश्न जो किसी भी सभा-सम्मेलन में न दीखे होंगे उनकी ओर मुँह बाये हुए मानो निहारते खड़े थे। वहाँ कोई पराये पानी की खेती थोड़ी ही थी।

एक दुर्बल लड़का पानी में पत्थर फेंक रहा था। किसी एक औरत को वह कहीं ज़रा-सा छू गया।

'क्यों रे! क्या तेरी दोनो आँखें फूट गई हैं ?

'किसका है री यह सपूत ?'

'होगा किसी मुई का, अभी कितनी ज़ोर से लग जाता।'

'अरी! तुझे नहीं मालूम ? वह बन्नी का लड़का है, पहले पति का।'

'अरे राम !' किसी का जी बड़ी सहानुभूति से उमड़ आया। उस लड़के का रंग-रूप और डील-डौल ऐसा ही था।

'बन्नी ने अपने पति को क्यों छोड़ दिया ? किस वजह से ?'

'वजह काहे की, कहते हैं बाहर किसी से प्रेम लगा था।'

'तो क्या हो गया ? यही बहाना ? मन से पतिब्रता नहीं व्यर्थ ही बदनाम करें पति को।'

'उस राँड़ का ही मन कहीं बदल गया होगा।'

'यह तो मुआ रोज का ही रोना है। चल री सान्ती घर को।'

'सान्ती को क्या जल्दी है। बुढ़ापे की शादी, लाड़िली राधा, चुड़ैल की देवी और...'

'ओहो! क्या राधा देवी है!! पर इधर बाई आवे रूप में, और बाबा चले कूप में।'—किसी की दबी हुई आवाज़ और दो स्त्रियों की हँसी उमड़ पड़ी।

किसी में ज़रा भी खामी दीख पड़ी कि वही उनके हँसने-बोलने का विषय हो जाता। उनका विश्वास था कि दुनिया में अगर कोई सुखी है तो वे हम ही हैं। संभव है कि शायद वे दुःख के कारण ऐसी बन गई हों, और संभव है कि उनके शब्द-कोष में से सुख-दुःख नाम के पन्ने ही फट गये हों।

फिर से न जाने कोई विषय छिड़ गया।

'आहा! आओ तुलसी मा, बहुत दिनों में दीखीं। आज मानो नई ही बनी आई हो।'

'गई थी तीरथ करने, महादेव की यात्रा में।'

'क्यों जी, वहाँ क्या किया ? कुछ सोना-वोना भी मिला ? किसी मूर्ति के चरणों के

[शेषांश

पास एक-आध फूटी मणि भी मिली या नहीं ?'

'सजनी, जरा जबान सम्हालकर बोल। ठाकुरजी के नाम पर यह क्या बोल रही है, यह अभद्र ! पर यात्रा को तो गई बड़ी बन-ठनकर और मेरे पैरों में से खिसक पड़े बिछुआ-पैजन।'

'चढ़ गये होंगे महादेव को।'

'अच्छी रही तुम्हारी यात्रा।'

'और क्या अपना...?'

'ज़रा ठहर शान्ता, उस घाट की ओर देख, कैसी भम्भड़ मची है।'

सब स्त्रियाँ दूसरे घाट की ओर निहारने लगीं।

'कौन गिरा री तालाब में ?'

'रामजी की बहू।''

'कौन ! पार्वती ? कैसे गिर पड़ी ?'

'अरे राम ! अभी परसों ही तो हल्दी चढ़ी थी, और बचा भी कैसा गुलहजारा-सा था ! गई बेचारी, सुहागिन ही गुजरी। सुख पाया।'

'गृह-कार्य अधूरा ही छोड़कर भागती-दौड़ती आई होगी बेचारी। न जाने दो कौर भी पूरे हुए होंगे या नहीं।'

'कहाँ के कौर जी, कल का उपास ही था जो ! और वह आज ही तो छूटता। हाँडी वैसी ही चूल्हे पर खदबदा रही होगी।'

'जाने दो मुई को, आग पड़े। अच्छी याद दिलाई, घर में दाल चढ़ा आई हूँ, सो ऐसे ही जर-बर जायगी। जाना है जल्दी से, नहीं तो घर भर को आग लग जायगी।'

'अरी ठहर भी, मेरा तो कार्य हो गया है। चक्की पर मैं आटा छोड़ आई हूँ, सो पीसूँगी, फिर कहीं बाटी-टुकड़ा।'

'यहाँ कौन मुआ बैठने के लिए आया है ? हम भी चल ही रही हैं, ठहरो री जानेवालियो !'

'मुझे भी देर नहीं है। ठहर ज़रा बिधा। अब घर जाना चाहिये नहीं तो खा जायँगे सब घरवाले।'

'अरी ! पर वह देख रामजी का लड़का आया है। पार्वती को पानी के बाहर तो निकालने दे। मछुआ पानी में उतरेगा।'

'तू भले ही ठहरी रह। उधर मेरा तो सारा घर गलेगा। जब तक हैं तब तक सब निभाना ही है। जाना होगा तब हम भी चली जायँगी।'

एक-एक स्त्री जाने लगती, और खाली पड़े हुए पत्थर पर दूसरी स्त्री आकर कपड़े धोना शुरू करती। एक-सी गड़बड़ी, एक-सा आने-जाने का ताँता—अविश्राम !!

घुटनों तक के पानी में पैर डुबाये वे अपने कपड़े जोर-जोर से धो रही थीं। उनकी परछाईं उस हरे रंग के पानी में लगातार हिलोरें ले रही थी।

रामजी की बहू की लाश अभी तक पानी के बाहर नहीं निकली थी।

बादलों की परछाईं उस तलैया में ऊपर-ऊपर तैरती चली जा रही थी।

युक्तिवाद के विरुद्ध बग़ावत

[हेमचंद्र मोदी]

[श्री हेमचंद्र मोदी नवयुवक हैं। आपका अध्ययन गहरा है और युक्तिवाद पर आपका यह लेख बहुत उपयोगी है। श्री मोदी आज-कल बम्बई में रहते हैं।—सं०]

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद यूरोप में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में बुद्धिवाद का एक तूफान-सा आ गया। पिछले दो सौ वर्षों में मानव-समाज में जितने भी आन्दोलन हुए, उन सबका उद्देश्य समाज की सामाजिक, राजनीतिक-आकृति में जो भी युक्ति-विरुद्ध और तर्क-विरुद्ध तत्व आ गये हैं, उन सबको हटाकर उनके स्थान पर युक्ति-संगत और बुद्धि-संगत तत्वों की प्रस्थापना करना रहा है। बुद्धिवाद, उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद से भी राजनीतिक आन्दोलन इस विश्वास पर टिक रहे हैं कि एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के प्रति व्यवहार को हम युक्ति और तर्क के उपयोग से अनुशासित कर सकते हैं। समाज में जो अन्याय और दुःख दीख पड़ता है, उसका एक मात्र कारण लोगों में तर्कसंगत विचार-प्रणाली का अभाव है और हम तर्कसंगत विचार-परिपाटी के द्वारा अपनी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के दोषों को दूर कर सकते हैं। बीसियों वर्षों तक हम तृषित आँखों से पारस्परिक सहयोग से चलनेवाले, सारी दुनिया पर शासन करनेवाले, एक ही राज्यतंत्र, नवीन युक्ति-संगत अर्थ-प्रणाली, अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें और पंचायतें तथा सामाजिक न्याय-प्रणाली की राह देखते रहे हैं।

परन्तु आज हमें कुछ जुदे ही रंग-ढंग नज़र आ रहे हैं। बुद्धिवाद का स्वर्गीय राज्य आज हमें केवल स्वप्न-सरीखा मालूम हो रहा है। आज सामाजिक क्षेत्र तो क्या, हम विज्ञान में भी बुद्धिवाद के सुवर्ण-सिंहासन को उलटते हुए देख रहे हैं।

बुद्धिवाद के विरुद्ध सारी दुनिया में जो बगावत मची हुई है उसका ठीक-ठीक परिज्ञान हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि युक्तिवाद के इतिहास से परिचित न हों।

युक्तिवाद या बुद्धिवाद का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। युक्तिवाद को उपनिषदों में [२६९

'विद्या' कहा है। ईसा से करीब पाँच सौ वर्ष पूर्व ग्रीक दार्शनिक हेराक्लिटस का कथन था कि युक्तिवाद से जगत का वातावरण भरा हुआ है—प्रत्येक मनुष्य युक्ति में श्वासोच्छ्वास लेता है। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व ग्रीक महर्षि सुकरात ने कहा था कि मनुष्य को कोशिश करनी चाहिये कि वह स्पष्ट युक्ति-संगत विचारक बने और युक्ति-विरुद्ध प्रभावों से अपनी बुद्धि को मलीन न होने दे। मनुष्य का जीवन जानने के लिए है और उसे अपने समस्त अस्तित्व को युक्तिसंगत विचार के अनुशासन के अधीन कर देना चाहिये; क्योंकि अनैतिकता और दुर्गुण समझदारी की कमी के परिणाम हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून (प्लेटो) ने एक ऐसे प्रजातंत्र की कल्पना की थी जिसपर कि चुने हुए विद्वान संरक्षकों का शासन हो। यही ग्रीक की युक्तिसंगत राजनीतिक व्यवस्था का आदर्श था।

भारत में भी बड़े-बड़े दार्शनिकों और तार्किकों ने युक्तिवाद के आदर्श को जनता के सामने पेश किया था। इनमें महावीर, बुद्ध और न्याय-शास्त्र के प्रणेता गौतम विशेष उल्लेखनीय हैं। एक समय यहाँ के सभी सामाजिक और धार्मिक नेताओं ने अपने-अपने विचारों और मान्यताओं को न्याय-शास्त्र के सहारे ही जनता में प्रचार करने की कोशिश की थी। बड़े-बड़े शास्त्रार्थों का आयोजन होता था और कौन-सा धर्म या जीवन-व्यवस्था अधिक तर्कसंगत और इसलिए स्वीकार करने योग्य है, इसका निर्णय जनता इन शास्त्रार्थों से करती थी। राजनीतिक क्षेत्र में भी गण-तंत्र राज्यों की स्थापना हुई थी। परंतु मालूम होता है कि अन्यत्र के समान यहाँ भी युक्तिवाद और अयुक्तिवाद का पारस्परिक संघर्ष और उत्कर्षापकर्ष उसी क्रम से हुआ जिस क्रम और समय से कि यूरप में हुआ और हो रहा है।

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में वाल्टेयर, डिडेराट, रूसो और मान्टिस क्यू ने अपने जीवन का मुख्य व्यापार विश्व के अँधेरे से अँधेरे कोने में समझदारी और युक्ति का प्रकाश फैलाना बना लिया। प्रकाश और युक्तिवाद के इन पैगम्बरों ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि यह ब्रह्माण्ड, यह विश्व, एक बड़ा भारी यन्त्र है, जिसकी बनावट और जिसके संचालन के नियम और कानूनों का आविष्कार युक्ति-संगत विचार-प्रणाली की शक्ति के द्वारा किया जा सकता है। फरासीसी राज्य-क्रान्ति के समय यूरोप के सर्वसाधारण जन-समाज पर युक्तिवाद की गहरी छाप लगी थी। यह महान दार्शनिक आचार्य हीगल के उस समय के एक लेख से प्रकट होता है।

जब से ग्रहों, नक्षत्रों के बीच सूर्य आकाश में प्रस्थापित किया गया है तब से आज तक कभी मनुष्य सिर के बल खड़ा नहीं हुआ; अर्थात् युक्ति या बुद्धि पर खड़ा नहीं हुआ और न उसने कभी अपने व्यवहार को युक्तिवाद के साँचे में ढालने की ही कोशिश की है। क्रांति का महा महिमा-युत प्रकाश उदित हुआ है। आध्यात्मिक और मानसिक उत्साह की लहर सारी दुनिया पर एक दफे फैल गई है।

धीरे-धीरे विज्ञान की विजयों से युक्तिवाद पर मनुष्य का विश्वास इतना दृढ़ हो गया कि युक्ति-संगत विचारधारा की विश्व-रक्षक शक्ति पर सन्देह करना भी असंभव हो गया। यह हाल आज से करीब पचास वर्ष पहले का है। परन्तु आज हम देखते हैं कि दुनिया में सर्वत्र युक्तिवाद के विरुद्ध विद्रोह जागृत हो रहा है। युक्ति या बुद्धि की पूजा करने के बदले आज सब देशों की प्रजा जो भी कुछ युक्ति-विरुद्ध, युक्ति-हीन, प्रारंभिक या पशु-वृत्ति का सूचक दिखाई पड़ता है, उसी की पूजा करने पर तुली हुई-सी मालूम होती है। नस्ल, शक्ति, जाति, राष्ट्र तथा

उनसे सम्बद्ध गप्पें, अन्धविश्वास और धारणाएँ जिनका कि कोई युक्ति-संगत और प्रमाण-मूलक अस्तित्व नहीं है, आज लोकप्रिय हो रही हैं और कहा जाता है कि यही बातें नवीन सामाजिक और राजनीतिक संगठनों और प्रणालियों के विकास की स्तम्भ या नींव होंगी। ऐसे नवीन राजनीतिक पक्ष तथा ऐसे राज्य कायम हुए और हो रहे हैं जिनके पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त किसी युक्ति-संगत ध्येय को प्राप्त करना नहीं है और जिनके कानून मानुषिकता की युक्तिसंगत विचार-सरणी और प्रजातंत्र-वाद के विरुद्ध हैं। वे साफ-साफ इस बात की घोषणा करते हैं कि उनका विश्वास सिर्फ़ हृदय की अनुभूति और उन प्रेरक वृत्तियों पर है जिनको कि अभी तक पूर्व-ग्रह माना जाता रहा है और जिनका अस्तित्व न तो आज तक सिद्ध हो सका है और न कभी आगे होने की संभावना ही है।

यूरोप भर में सर्वत्र हम यह देख रहे हैं कि युक्तिवाद के पक्षपाती फूट-फूटकर एक-एक करके झंडे उड़ाते हुए और नगाड़े बजाते हुए युक्ति-विरोधी बागियों के दल की असंख्य जन-संख्या को और भी बढ़ा रहे हैं। आम जनता के लिए मनुष्य के भ्रातृत्व, विश्वव्यापी मानवता और लोक-सत्तावाद के सिद्धान्तों में कोई आकर्षण नहीं रहा है। इन आदर्शों की ज्वाला अब मलिन, उनकी सत्यता शंकनीय, और उच्चता ग्लानि की चीज़ हो गई है। नये बागी कल्पना के बहिश्त की घोषणा करते हैं, क्रियाशीलता की महत्ता, पाशविक शौर्य और हृदय की वृत्तियों की शक्ति की विजय के शंख फूँकते हैं।

युक्तिवाद-विरोधी इस सिद्धान्त ने जो एक सामाजिक और राजनीतिक रूप पकड़ा है, उसे फासिज़्म कहते हैं। इस सिद्धान्त के आदि-प्रवर्तक एक फरासीसी दार्शनिक जार्ज सारेल और एक जर्मन दार्शनिक फ्रीड्रिख़ नीत्शे हुए। मुसोलिनी और हिटलर अपने को इन दो महान् तत्व-वेत्ताओं का शिष्य स्वीकार करते हैं। सारेल ने अपना विश्वास शक्ति की सत्ता और अधिकार पर प्रकट किया है तथा इतिहास की सृष्टि में अतर्क्य तत्त्वों की प्रमुखता पर जोर दिया है उसने कहा है कि मानव-जाति की गति को निर्धारित करनेवाली जितनी भी शक्तिशाली बाह्य प्रेरणायें हैं, उनकी युक्ति-संगतता या युक्ति-विरुद्धता, सहृदयता या निर्दयता आदि से कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। मनुष्यता के इतिहास में बार-बार एक ऐसी पाशविक शक्ति का आविर्भाव होता रहा है जिसने कि मानव-समाज की समस्त पूर्व-संचित सफलताओं पर पानी फेर दिया है। और यह आविर्भाव मानव-समाज और मानव-हृदय के ऐसे निगूढ़तम स्तर से होता रहा है जहाँ कि युक्तिवाद की पहुँच तक नहीं हो सकती। सारेल ने कहा है कि इतिहास प्रवहमान शक्ति (dynamic energy) की प्रक्रिया है जिसमें युक्तिवाद के लिए तिल-भर भी स्थान नहीं है। यह प्रक्रिया इतनी बड़ी और महान है कि उसके सामने मनुष्य का छोटा-सा दिमाग़ दुनिया को तरतीब देने के लिए जितना कुछ प्रयत्न कर सकता है, वह सब दम्भ और परिहास-जनक है।

उस प्रवहमान निर्गुण विधातृ शक्ति ने जो कि इतिहास की उत्तप्त उथल-पुथलों द्वारा प्रकट होती है अपने को मनुष्य की धारणा या अंध-विश्वास के प्रतीक रूप में Symbol प्रकट किया है। अंध-विश्वास या धारणा उस निर्गुण शक्ति का एक सगुण रूप है; यह धारणा ही एक ऐसी चीज़ है जो कि जीवित वर्तमान में सतत, अनिरुद्ध, और अथक रूप से कार्य कर रही है और जो भी कुछ धर्म, मान्यता, समाज, कानून और आदर्श हैं और होंगे, वे सब [२८८

केवल धारणा के द्वारा परिचालित और नियंत्रित हैं और होंगे। हमें चाहिये कि मानव-जीवन और समाज में धारणा की प्रमुखता को स्वीकार करें और बहुत वर्षों से युक्ति ने जो उसका सिंहासन अन्याय से छीन लिया है, उससे उसको च्युत करके उस पर धारणा को पुनः प्रतिष्ठित करें। नीत्शे ने इसके साथ ही साथ यह भी कहा है कि आज जो समाज और देश की बागडोर आगा-पीछा विचारनेवाले कायर, हिसाब लगाते बैठनेवाले युक्तिवादी लोगों के हाथ में है, उसे उनसे छुड़ाकर पुनः वीर बहादुर साहसी शूरवीरों के हाथ में देकर उनका सम्मान करना चाहिये।

फरासीसी राज्य-क्रान्ति के पैरिस ने इस दुनिया में विचार का प्रकाश, विचारस्वातंत्र्य, लोकसत्तावादी सरकार आदि जिन बातों को जन्म दिया है आज फासिस्ट रोम और नाज़ी बर्लिन उन सबको बुहारकर फेंक देना चाहता है। फासिस्ट लोगों का दृढ़ विश्वास युक्ति-हीन शक्तियों में, राष्ट्र की सर्जक इच्छा-शक्ति में, और ऐसे पुरुष के नेतृत्व में है जो कि चुना न जाकर केवल विश्वास या धारणा के अनुसार निश्चित किया गया हो। नाज़ियों ने भी अपना विश्वास 'जाति' या 'रक्त' नामक एक ऐसी धारणा में प्रकट किया है जो कि कोई युक्ति-संगत वस्तु नहीं है। वे तो 'युक्तिसंगतता' शब्द से ही घृणा करते हैं। उनका कहना है कि राष्ट्रवाद के मूल आदर्श का उत्पत्ति-स्थान युक्ति या तर्क का राज्य नहीं है ; मगर मानव-हृदय की सूक्ष्म अनुभूति के राज्य में उसकी उत्पत्ति हुई है : दुनिया में जो भी कुछ महान और सर्जक है, उसकी उत्पत्ति मनुष्य की मूल भावनाओं, अनुभूतियों और रक्त से हुई है। इन्हीं में उनका मूल और उनकी जड़ है। नेशनल सोशलिज़्म (नाज़ीवाद) अपनी नींव उन शक्तियों पर रखता है जो न तो तौली जा सकती हैं और न नापी जा सकती हैं। और जो कि जोड़-बाकी आदि किसी भी प्रकार के युक्तिवादी संवेदन के अधीन नहीं हैं। वे शक्तियाँ हमारी आत्मा और रक्त की हैं। नाज़ियों के दूसरे नेता रोज़नबर्ग का कहना है कि 'हमारे अन्तःकरण से एक आवाज़ निकली है जो कि यह माँग पेश करती है कि आत्मा, जाति, वंश, कुल, रक्त और आत्म-संमान की धारणा ही हमारे संपूर्ण जीवन में व्याप्त हो, उस पर निरंकुश और एकच्छत्र राज्य करे और उसकी रक्षा और पथ-प्रदर्शन करे।' आज हजारों, लाखों आदमियों के लिए धारणा ही, 'रक्त के कोषों को बनानेवाले आध्यात्मिक केन्द्र का जागरण' है। उनके मतानुसार किसी वस्तु की युक्तियुक्तता या तर्कसिद्धता नहीं, बल्कि उसकी सफलता ही उस वस्तु की सत्यता या असत्यता की कसौटी है। वही वस्तु सफल होती है जिसकी उत्पत्ति जाति से, कुल से, वंश से, रक्त से और भूमि से है, जब कि सट्टेबाज युक्ति या तर्क से उत्पन्न होनेवाली वस्तु जो जीवन से हमेशा ही भिन्न रहती है और जो कि मनुष्य की आत्मसात् नहीं है, हमेशा ही बाँझ होती है और रहती है। — रोज़नबर्ग कहते हैं जो भी वस्तु शक्ति के रूप में अपने को प्रकट करना चाहती है सबसे पहले उसे अपनी समतोलता, शांतता, निरीहता और कषाय-रहितता का (Passion) त्याग करना चाहिये। चूँ कि युक्तिवाद और तर्क की उत्पत्ति के लिए समतौलता, शांतता आदि बातें आवश्यक हैं इसलिए युक्तिवाद या तर्कवाद कभी भी शक्ति के रक्त में प्रकट नहीं हो सकता।

× × ×

आज-कल की नवीन सभ्यता और संस्कृति के प्रकाश में हम प्रायः यह भूल जाया करते हैं कि हमारे समाज और हमारी संस्कृति के विकास में युक्तिवाद-विरोधी विचारों ने भी पिछले दो हजार वर्षों में कितना कार्य किया है। यह दुनिया, जिसके विषय में आज हमें ऐसा भय पैदा

हो रहा है कि कहीं यह अयुक्तिवाद के आक्रमण में नष्ट न हो जाय, अपने वर्तमान रूप में कभी भी अस्तित्व में नहीं आती, यदि उसे युक्तिवादी और युक्ति-विरोधी दोनो तरह के विचारों के संघर्ष में से होकर न गुजरना पड़ता। चलो, हम युक्ति-विरोधी विचार-धारा के इतिहास की थोड़ी परीक्षा करें जिससे हमें मालूम हो कि उसने मानव-जाति के इतिहास में कितना महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है।

सुकरात, अफ़लातून आदि महान युक्तिवादी तत्त्ववेत्ताओं ने ईसा के ४०० वर्ष पूर्व से ईसा के समय तक युक्तिवाद के प्रचार का सफल प्रयास किया। ईसा के ज़माने में इन विचारों की प्रतिक्रिया हुई और लोगों को उनसे अरुचि हो गई। ईसाई धर्म युक्तिवाद के विरुद्ध बगावत का परिणाम था। युक्तिवाद के प्रति सर्वसाधारण की अरुचि का कारण यह था कि काफ़िर और संशयवादी दार्शनिक बड़ी भारी बहुवर्षव्यापी ढूँढ़-खोज के बाद भी 'सत्य' के संबंध में किसी भी दृढ़ निश्चय पर नहीं पहुँचे। 'सत्य' नामक कोई वस्तु है या नहीं, इसमें भी उन्हें संदेह होने लगा। ऐसे समय में जब ईसा ने उठकर खड़े होकर कहा कि ईश्वर ने मुझे संदेश दिया है और मैं ईश्वर का पुत्र और उसका पैगम्बर हूँ और ईसा के शिष्यों ने इस संदेश को दूर-दूर ले जाकर पहुँचा दिया, तब लाखों करोड़ों आदमी उसके अनुयायी हो गये। संदेश की बात युक्तिवाद की पकड़ के बाहर की बात थी और आम जनता संदेहवाद को हमेशा से अपने अंतःकरण से घृणा करती आई है। मनुष्य निस्संदिग्ध वस्तु को ही ग्रहण करना चाहता है। जो वस्तु संदिग्ध है, उसको पकड़ने की कोशिश करना, और खास तौर से तब जब कि उसके अस्तित्व में भी उसे संदेह है, निस्संदिग्ध वस्तु को ग्रहण करने के मुकाबले में अच्छा नहीं मालूम होगा। महात्मा ईसा ने निस्संदिग्ध वस्तु को देकर, फिर भले ही क्यों न वह युक्ति-विरुद्ध हो, जनता के हृदय को जीत लिया।

युक्तिवाद के विरोध में ईसाई धर्म में प्रारंभ से ही अत्यन्त उग्र और भयंकर शत्रुता पाई जाती है। इस बात को टर्टुलियन ने बहुत ही स्पष्ट रूप में इस प्रकार लिखा है—'ईसा, जो कि ईश्वर का पुत्र था, मर गया। इस बात पर मैं इसी लिए विश्वास करता हूँ कि वह युक्ति-विरुद्ध है।' 'दफ़नाये जाने के बाद ईसा फिर मृत्यु में से उठ खड़ा हुआ, इस बात को मैं सत्य मानता हूँ क्योंकि वह असम्भव है। यदि ये बातें युक्ति-विरुद्ध और असंभव न होतीं तो इन्हें मैं हरगिज न मानता'। युक्तिवाद की ऐसी विडम्बना शायद ही और कोई कर सके।

परंतु धीरे-धीरे ईसाई धर्म में युक्तिवाद का पुनः प्रवेश होने लगा और इसके बाद के ईसाई साहित्य में अरिस्टाटल (अरस्तू) का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। युक्तिसंगत-वाद के इस प्रवेश ने ईसाई धर्म में पुनः क्रान्ति उत्पन्न कर दी और युक्ति-विरोधी विचार 'सुधार' के नाम से ईसाई धर्म में पुनः प्रतिष्ठित किये गये। इस सुधार का प्रमुख नेता लूथर नाम का जर्मन पादरी हुआ। इसका कथन था कि युक्ति-नामक बदमाश रीछ को धर्म में से बाहर निकाल देना चाहिये। कालविन नामक इसी समय के एक दूसरे प्रमुख व्यक्ति ने ईसाई धर्म के एक नये आमूल युक्ति-विरोधी सिद्धान्त का प्रचार किया। उसका कथन था कि ईश्वर ने सृष्टि बनाते समय ही यह निश्चय कर लिया था कि मैं फलाने-फलाने व्यक्ति का उद्धार करूँगा और फलाने को पतन के अंध-गह्वर में ढकेल दूँगा। ईश्वर के इस निश्चय को कोई भी व्यक्ति नहीं बदल सकता। ईसाई रहस्यवादी संतों ने इस विश्वास का प्रचार किया कि ईश्वर के दर्शन करने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह विद्या, बुद्धि, विवेक, तर्क आदि समस्त वस्तुओं से अपने को बिलकुल शून्य और अंधा बना ले। [१९

भारतवर्ष में भी हम यही नियम देखते हैं। युक्ति-विरोधी ब्राह्मण-संस्कृति के बाद युक्तिवादी श्रमण-संस्कृति का उदय और जनता का बौद्ध संशयवाद से तंग आकर पुनः एक दफे हिन्दू-निःसंशयवाद का स्वीकार इसी ऐतिहासिक समानता का द्योतक है। आज फिर भारत में प्राचीन युक्ति-विरोधी-निःसंशयवाद के स्थान पर हम युक्तिवाद का उदय देख रहे हैं ; परंतु यूरोप में युक्तिवाद के युग के बाद आज पुनः युक्ति-विरोधी भाव प्रकट हो रहे हैं। परंतु आज युक्ति-विरोधी विचारों के प्रकट होने का माध्यम धर्म न रहकर विज्ञान, समाज और राजनीति हो रहा है। आज हम देखते हैं कि वैज्ञानिकों में भी तीव्र गति से युक्तिविरोधी विचार रखनेवालों की संख्या बढ़ती जाती है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में बूकनर और हेकल द्वारा जिस जड़वाद या भौतिकवाद का प्रचार किया गया था आज वह बिल्कुल मृत हो गया है। आधुनिक प्राणिशास्त्र के अनुसार प्रकृति में एक निगूढ़ उत्पादक-संवेग (enigmatic formative impulse) का सद्भाव प्रकट होता है जो युक्तिवादी पृथक्करण के सभी नियमोपनियमों को उद्धतता से ताक पर उठाकर रख देता है। हॅन्स डीट्रिस ने एक सामुद्रिक जंतु के कोष (fertilized ovum of a sea urchin) को चार भागों में विभक्त किया तो उसने देखा कि चारो भाग पृथक-पृथक जंतु बन गये। कलल-तत्त्व के, जिसे कि वैज्ञानिक आदि जीवित पदार्थ मानते हैं, जितने भी भाग किये जायँ, वे सब अलग-अलग जीव के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार ये अभी तक आविष्कृत युक्तिवाद और तर्कशास्त्र के कार्य-कारणवाद आदि सभी यांत्रिक सिद्धान्तों का खंडन करते हुए मानव-बुद्धि को स्तंभित कर देते हैं। जैसे-जैसे प्राणिशास्त्र की अधिकाधिक प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे छोटे से छोटे पौधे के जीवन को भी किसी भी युक्तिवादी नियमों की व्यवस्था या सूत्र में बाँधना प्राणिशास्त्रज्ञों के लिए असंभव होता जाता है। मूलर फ्रीनफेल्स का कथन है कि 'घास के तिनके का न्यूटन' न तो आज तक पैदा हुआ है, न कभी होगा।

पुराने समय में वैज्ञानिकों का विश्वास था कि तर्क और बुद्धि द्वारा ग्राह्य और गणित के लिए गोचर रूप में प्रकृति का नियमित सतत विकास हुआ है और निम्न साधारण सम श्रेणी के जीव विकसित होते हुए अधिकाधिक उच्च, विषममतिबुद्धियुक्त होते गये हैं। परंतु अब पता लग रहा है कि बहुत जीवों की जातियों में एकाएक ऐसा अदृष्टपूर्व परिवर्तन होता है और उनके जातीय जीवन में ऐसी अभावनीय क्रान्तियाँ होती हैं कि उसे देखकर मनुष्य की बुद्धि और तर्क-शक्ति बिल्कुल चकरा जाती है और हतोत्साह होकर हड़ताल कर देती है। कभी-कभी दिखाई पड़ता है कि किन्हीं विशेष प्राणियों में विकास का क्रम बिना कारण एकाएक रुक जाता है। उस समय ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति कोई व्यक्ति है और उसने मानो अपना मन अब बदल दिया है, जैसा करने की उसकी पहले इच्छा थी, अब नहीं रही है। इसी प्रकार ऐसे प्राणी भी हमारी नज़र पड़ते हैं, जिनका विकास युगों से रुका पड़ा हुआ था ; परंतु अब एकाएक तेजी से उनका विकास होने लगा है, मानो अस्थिरचित्त प्रकृति ने फिर अपना मन बदल दिया है।

ज्योतिष, भौतिक और रसायन शास्त्रों में अभी तक मालूम होता था कि यहाँ युक्तिवादी दृष्टि दृढ़ता से स्थापित हो गई है ; परंतु कुछ दिनों से इन शास्त्रों में से भी युक्ति और तर्क सिंहासन-च्युत कर दिये गये हैं। बड़ी से बड़ी रसायन-शालाओं और वेध-शालाओं में भी, जहाँ

कि सूक्ष्म से सूक्ष्म नाप-जोख की जा सकती है और दूर से दूर के नक्षत्र स्पष्ट से स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं; प्रकृति की समस्त प्रक्रियाओं को हम किन्हीं विशेष सयुक्तिक प्राकृतिक कानूनों में निबद्ध कर सकते हैं, यह आशा नष्ट हो गई है। युक्ति और तर्क की ज्ञान के समान कार्य-कारणवाद के मूलभूत सिद्धान्त पर भी वैज्ञानिकों की श्रद्धा शिथिल हो गई है। आधुनिक भौतिक शास्त्र के इतिहास में यह काल कार्य-कारण-वाद का संकट काल, नाम से पुकारा जा सकता है।

आधुनिक ज्योतिर्भौतिक शास्त्र (astro-physics) के अनुसार पहले के समान अब ज्योतिराकाश (Steller space) के समस्त पिण्डों के घूमने की प्रक्रिया घड़ी के यंत्र के समान नियमित नहीं मानी जाती। उनके मार्ग भी पूर्ण रूप से गणित-गोचर नहीं माने जाते और न यही माना जाता है कि अनन्त काल तक इनकी प्रक्रिया ऐसी ही होती रहेगी। इसके विरुद्ध वैज्ञानिकों में यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि यह विश्व अज्ञेय रूप से सतत परिवर्तित हो रहा है। गणित और ज्योतिष-शास्त्र अब इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह विश्व फैलता है और सिकुड़ता है, पुनः फैलता और फिर सिकुड़ता है। यह फैलाने और सिकुड़ने की प्रक्रिया बहुत कुछ हृदय के स्पन्दन के समान होती है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य के फेफड़ों के समान यह विश्व भी मानो श्वासोच्छ्‌वास लेता है और तदनुसार सिकुड़ता और फैलता है। परंतु कहा नहीं जा सकता कि विश्व की यह गति किन नियमों के अनुसार हो रही है और क्यों हो रही है, उसमें युक्ति और तर्क के लिए स्थान है या नहीं। सर्वश्रेष्ठ ज्योतिर्विद सर जेम्स जीन्स का कहना है कि 'विश्व आज हमें एक महान यंत्र के बदले एक महान विचार अधिक मालूम होता है। आज फिर हमें यह मानने के लिए लाचार-सा होना पड़ रहा है कि ऐसी आत्मा या प्राण है जो समस्त चराचर जगत पर अपना अधिकार रखता है; हमें विश्वास करना पड़ रहा है कि कोई अति-उच्च अतर्क्य और असंवेद्य शक्ति है।' इस तरह कुछ शताब्दियों पहले युक्तिवाद और तर्कवाद ने जिस ईश्वर या परमात्मा को कान पकड़कर दुनिया से बाहर निकाल दिया था मानो फिर वह आज लौटा आ रहा है। हमारे लिए संतोष की बात सिर्फ इतनी ही है कि यदि आज ईश्वर का पुनरागमन होगा भी तो वह उतने भौंड़े रूप में नहीं होगा जितना कि पहले था।

युक्तिवाद को असफलता केवल इस ज्योतिष-शास्त्र की दुनिया से ही नहीं मिली है परमाणुओं की दुनिया में भी मिली है। अणुओं और परमाणुओं की दुनिया में युक्तिवाद के मापतौल के समस्त कानून ग़लत सिद्ध हो चुके हैं। हेनरी पोइन्कारे नामक महान् फरासीसी गणित-शास्त्री ने कहा था कि यदि मनुष्य की आँखों में अणुवीक्षण यंत्र के बराबर शक्ति होती तो प्रकृति के समस्त गणित-संबंधी नियम कभी आविष्कृत नहीं होते। यह सब नियम बाहरी स्थूल जाँच के लिए ही उपयोगी हो सकते हैं, अधिक सूक्ष्म जाँच और परीक्षा करने पर ये नियम ग़लत सिद्ध होते हैं। सभी वैज्ञानिक इस विषय में एकमत हैं कि जिन्हें हम 'प्रकृति के नियम या कानून' की संज्ञा देते हैं वे सब केवल संभावनाएँ मात्र हैं। अणुओं और परमाणुओं की दुनिया में कोई कानून नहीं बनाये जा सकते। वहाँ सिर्फ एक ही शक्ति काम करती है, जिसे कि हम भाग्य या दैव या सूक्ष्मवीक्षक अदृष्ट कहते हैं और यह शक्ति समस्त युक्तिसंगत गणना को चिढ़ाती-सी है। सुप्रसिद्ध जर्मन नोबुलप्राइज़ प्राप्त भौतिक शास्त्रविद श्रोडिनगर का कथन है कि पारमाणविक प्रक्रिया के संबंध में कोई नियम बनाये ही नहीं जा सकते। पहले वैज्ञानिकों में यह

विश्वास फैला हुआ था कि समस्त प्राकृतिक प्रक्रियाएँ धीरे-धीरे सतत होती हैं; प्रकृति कभी चौकड़ी या छलाँग नहीं भरती। परन्तु प्लान्क साहब का कथन है कि यह विश्वास अणुओं-संबंधी दुनिया के संबंध में गलत सिद्ध हुआ है और यह बात प्रयोग-द्वारा बतलाई जा सकती है। पुराने ज़माने के लोग जहाँ यह कहते थे कि प्रकृति छलांगें नहीं भरा करती, वहाँ आज हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृति छलांगें मारने के सिवाय क्या और भी किसी प्रकार चलती है ?

जो बात अन्य शास्त्रों के संबंध में है, वही बात दर्शन-शास्त्र के संबंध में भी सिद्ध हुई है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट ने अपने ग्रंथ 'क्रिटिक आव द प्युर रीज़न' नामक ग्रन्थ में इस विश्वास की धज्जियाँ उड़ा दी हैं कि युक्ति और तर्क सर्वशक्तिशाली हैं। फिश्टे, शीलिंग, और शोपनहार के दर्शनशास्त्रों ने यह सिद्ध कर दिया है कि तर्क या युक्ति विचार करने की एक खास 'रीति' मात्र है और इस कारण वह 'विचार' का एक बहुत छोटा अंश है। इसलिए विश्व का संतोषकारक चित्र खींचने के लिए तथा हमारे भीतर और बाहर क्या हो रहा है, इसे अच्छी तरह यथार्थ में समझने के लिए युक्ति और तर्क के साथ उसी अनुपात की पूर्ति के लिए अन्य अंशों का भी सहारा लेना आवश्यक है। धारणा-वृत्ति, जीवन-संवेग, (Vital impulse), इच्छा-शक्ति, आदि जो वस्तुएँ युक्तिवाद के गाज़ियों (champions) द्वारा उपेक्षित रही थीं, उन्हें पुनः स्वीकार किया गया और दर्शन-शास्त्र में उन्हें उपयुक्त स्थान दिया गया। इन लोगों ने कहा कि 'युक्तिवाद प्रकृति की एक राक्षसी और बर्बर विडम्बना है जो कि सचेतन सेन्द्रिय जीवन को विचार की बर्छियों से दो टूक कर देती है।' इन युक्तिवाद-विरोधी (रोमांटिसिस्ट) दार्शनिकों ने दिन और प्रकाश के पूजक युक्तिवादियों के विरोध में अंधकार और रात्रि की कीर्ति गाना शुरू किया और कहा कि दुनिया समस्त प्राणियों और वस्तुओं के लिए रात्रि और अंधकार माता के समान है। हेनरी बर्गसन ने कहा है कि मानवीय अस्तित्व का मूल स्रोत युक्ति-संगत संवेदन नहीं है; बल्कि वह जीवन-संवेग है जो कि सतत आकार-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। रिचमण्ड हच ने कहा कि युक्ति या तर्क एक ऐसी मानव-शक्ति (Faculty) है जिसका काम बन्दर के समान ईश्वर की नकल करना मात्र है, क्योंकि वह जो कुछ सृष्ट हो चुका है सिर्फ उसकी नकल कर सकती है—किसी वस्तु को स्वयं नहीं बना सकती—या बहुत से टुकड़ों को, जिनका कि ज्ञान पहले से हो चुका होता है, ढंग से इकट्ठा करके यथास्थान लगा देती है। लुडविग क्लोजिस ने कहा है कि युक्ति या तर्क आत्मा का शत्रु है। युक्तिवाद ने दुनिया के सिर पर उस यूपकाष्ठ (क्रास) का भयंकर बोझ लाद दिया है, जिसके ऊपर जीवन और आत्मा बलि कर दिये गये हैं।

सबसे अंत में हम मनोविज्ञान को लेते हैं। वर्तमान युग के सभी मनोवैज्ञानिक एक स्वर से इस बात से इन्कार करते हैं कि मानवीय क्रियाएँ मुख्य रूप से बुद्धि या युक्ति-द्वारा निश्चित होती हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान के आविष्कर्ता डा० फ्रूइड और जंग ने यह स्पष्ट करके बता दिया है कि हमारे मानसिक जीवन में कितने अधिक परिमाण में अयुक्ति-संगत प्रभाव काम करते हैं और किस प्रकार हमारे मन के निगूढ़तम स्तर से, जिसके विषय में हमें बिलकुल बाह्य-ज्ञान नहीं है, जन्म-जन्मान्तर की स्मृतियाँ, प्रतीक, इच्छाएँ, वासनाएँ आदि उन उग्र शक्तियों को जन्म देती हैं जो कि हमारी प्रक्रियाओं और निश्चयों को निश्चित करती और उन्हें क्रियात्मक

रूप देती हैं। युक्ति और तर्क का उपयोग तो अधिकांश में मनुष्य-द्वारा अपने भीतर के उद्देश्यों को बाह्य रंग देने के लिए ही होता है।

तो क्या फिर आधुनिक विज्ञान में अयुक्तिवाद की निशानियाँ दर असल विज्ञान और युक्तिवाद के संभवनीय संपूर्ण तलाक़ की पूर्व सूचनाएँ मात्र हैं ? वास्तव में इस किस की कोई बात नहीं है। नये अयुक्तिवाद के पुरस्कर्ता न तो कोई स्वप्नशील पैगम्बर हैं, न पियक्कड़ रहस्यवादी हैं, न सिर-फिरे सन्त हैं, न अस्पष्ट भावनाओंवाले कवि ही हैं ; बल्कि वे पक्के वैज्ञानिक, दार्शनिक और अन्वेषक हैं;—अर्थात् अपने अन्तस्तल में वे सब संयत युक्तिवादी ही हैं। फिर भी यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि युक्तिवाद के नियम सब जगह और सब समय लागू नहीं हो सकते और किन्हीं सीमाओं के बाहर वे ज्ञप्ति के अन्य प्रकारों की सहायता की अपेक्षा करते हैं। अपनी सीमा के भीतर युक्ति अपने नियमों के अनुसार आज भी कार्य कर रही है और एक के बाद दूसरी विजय प्राप्ति करती जाती है। राजनीतिक नारों के द्वारा कुंठित बुद्धिवाले मूर्ख ही आज सर्वविजयी अयुक्तिवाद की वकालत करते फिरते हैं।

युक्तिवाद के विरोध में जो बगावत हो रही है, उसका अन्तिम नतीजा मानव-समाज के लिए शुभ ही होगा। बहुत समय से मानव-समाज केवल युक्तिवाद के पैर पर खड़ा रहकर लँगड़ा हो रहा था। अयुक्तिवाद के उदय ने उस लंगड़े को दूसरे पैर की प्राप्ति करा दी है। अंत में युक्तिवाद और अयुक्तिवाद दोनों का समन्वय हो जायगा। अनादिकाल से होने वाले युक्तिवाद और अयुक्तिवाद के पारस्परिक संघर्ष से ही मानव-समाज की इतनी उन्नति हुई है।

आज भारतवर्ष में, हम देख रहे हैं कि राष्ट्रवाद का उत्थान हो रहा है। राष्ट्रवाद समस्त युक्ति और तर्कसंगत विचार-धाराओं का विरोधी है। तर्कवाद के अनुसार समस्त मानव-जाति एक है, उसमें विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के भेद की कल्पना कल्पना ही है, यथार्थता उसमें कुछ भी नहीं है। और सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रवादी साम्यवाद तक को, जो ऐसी किसी भी बात को मानने से इन्कार करता आया है, जो युक्तिसंगत और बुद्धिसंगत नहीं है, राष्ट्रवाद का जामा पहनना पड़ रहा है। उसे भी यह महसूस हो रहा है कि युक्तिवाद के अकेले पैर पर वह एक डग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

बम्बई।

(Hibbert Journal में Rene Fulop Miller लिखित The Revolt against Reason नामक लेख के आधार से।)



नीरक्षीर

'सगर-विजय'—लेखकः—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशकः—मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, मूल्य १)

यह नाटक हमें भारत की धुँधली दंत-कथाओं में छिपे पुराने युग का परिचय कराता है। जब अयोध्या के सूर्यवंशी नरेश हैहयवंशजों से अपनी सत्ता के लिए युद्ध कर रहे थे, उस संघर्ष का कुछ वर्णन हमें 'सगर-विजय' में मिलता है।

नाटक का पूर्ववर्त्ती भाग कुछ अधिक अच्छा है। बाहु और विशालाक्षी, त्रिपुर और कुन्त सच्चरित्र हैं। भाषा में काव्य और गंभीरता है। बाहु कहते हैं—जीवन स्वप्न है, मृत्यु जागरण। आज मेरे जागरण का ब्राह्ममुहूर्त्त है। 'इस जीवन-रथ के दो पहिये हैं, एक पुरानी स्मृति और दूसरी नई आशा। परन्तु मेरी गाड़ी में...अब एक पहिया रह गया है।' इसी प्रकार बाहु चल बसे।

किन्तु नाटक को पढ़ते-पढ़ते हमारी धारणा दृढ़ हो जाती है कि यह अभिनय के योग्य नहीं। वक्तव्य लम्बे-लम्बे हैं। दृश्य बहुत हैं। एक दृश्य तो केवल एक पात्र का ही वक्तव्य है। घटनाओं का घटाटोप है; किन्तु घटना-जाल में कोई नक़्क़ाशी नहीं।

और भी कमज़ोरियाँ दीखती हैं। पात्र सीधी लकीर हैं। एकदम सरल अथवा धूर्त। कठपुतली के खेल के पात्रों की तरह। उनमें मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं। मानव-स्वभाव के अनुरूप उनमें जटिलता कम है। जीवन में हमें न दुर्दम मिलते हैं, न सगर। विशालाक्षी की रंगमंच पर यह पहचान है कि चेतना की अपेक्षा वह मूर्च्छा में ही अधिक मिलेगी। सगर, छोटा-सा बालक, अनायास ही हमें दिग्विजयी के आकार में दीखता है।

वैद्य का चरित्र काफ़ी मनोरंजक और विनोदपूर्ण है। यदि छोटा 'कैन्वैस' लेकर उस पर हमारे नाटककार तल्लीन होकर काम करें, तो अधिक सफलता मिले। दुर्दम हमको कभी अच्छे शासक और सैनिक के गुण नहीं दिखाता। न कोई उसकी आज्ञा पालन ही करता है; न जाने क्यों! इस विषय में तुलसी की अपेक्षा केशव को हमें अपना आदर्श मानना चाहिये।

प्रकाशचन्द्र गुप्त।
आगरा।

•

'सावनी समाँ'—लेखकः राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, प्रकाशकः राज-राजेश्वरी-साहित्य मंदिर, सूर्यपुरा (शाहाबाद), मूल्य—दो रुपए।

एक भूली और लुप्त हुई संस्कृति का सजीव चित्र यह पुस्तक हमारे सामने लाती है—बहुत मँजी, मुहावरेदार और सरस भाषा में। इसी संस्कृति की एक झलक हमें स्वर्गीय प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' में मिली थी। हमारे देश के किसानों में एक नई जागृति हो रही है और सामन्तीय प्रथा अस्तप्राय है। उसका टिमटिमाता आलोक अब साहित्य में ही हमें प्रतिबिम्बित मिलेगा। 'उस विलुप्त गौरव की धुँधली स्मृति गोधूलि की म्लान आभा की तरह स्निग्ध भी है—करुण भी।'

एक चित्र : 'शाम होते-होते दुतल्ले की छत पर मनचले यारों की टोली जमती। रंगीनों की रंगीनी रंग लाती। और दिनों तो शतरंज और गंजीफ़े से भी हमारी पार्टी के ऐश-विलास की आयोजना किसी कदर सम्पन्न हो जाती, मगर सावन से जलसे के जलूस के लिए तो किसी की जादूनज़री की कटारी, किसी की काँपती उँगलियों पर पुलकित प्याली, किसी चपल सलोल चरखों के घुँघरू की झंकार, एक ज़री आँचल का दिलफ़रेब निखार हमारे गोपाल बाबू के दिल के उभार के लिए ज़रूरी थी। जब तक किसी चुलबुली चितवन के चोंचले नहीं चलते, तब तक दिल की कली नहीं चिटख़ती।'

इस चित्र में सरसता और सजीवता है। किन्तु यह चित्र करुण भी है। उस ज़माने के लोग आमोद-प्रमोद जानते थे; किन्तु उनके विलास के शिकार कितने होते थे! उनकी स्त्रियाँ घर की बाँदी थीं। रूप के बाज़ार में ही वे पूरा मोल चुकाना जानते थे। समय की गति में यह संस्कृति विलीन हो रही है। कुछ पुराने घरानों में ही—जो हम को नयज़ोर के बाबुओं का स्मरण दिलाते हैं—इसके भग्नावशेष बचे हैं।

इन कहानियों में हमें एक मार्मिक व्यथा और अन्तर्वेदना मिली। गोपाल बाबू अन्त तक भटकते ही रहे। प्रेत की तरह उनका अतीत इस संस्कृति के खँडहर में उनके पीछे लगा रहा, और अन्त में उनके प्राण लेकर ही शान्त हुआ। रामू अपने बड़प्पन की लत से विवश रहा। अच्छे ख़ान्दान के लड़के हाथ से काम नहीं करते, इसलिए चोर बन गये। इसी प्रकार रतन का लड़का मास, मदिरा और रूप के चक्कर में अपनी मा के एहसान भूल गया।

विलास के इन चित्रों को रंगीन बनाने में लेखक की भाषा का विशेष स्थान है। इस भाषा में भी अमीरी की बू है। रूप और मदिरा के वर्णन में यह बहुत चंचल हो उठती है। उर्दू का अच्छा ख़ासा पुट है। एक अजीब अन्दाज़, लहज़ा और लचक इस गद्य में है। अशआर, पुराने ग़ज़ल, दोहे और कवित्तों की बीच-बीच में भरमार है। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा हिन्दी के लेखकों में ऐसी भाषा पर अधिकार रखते थे।

मध्यकालीन संस्कृति के भग्नावशेषों की यह पुस्तक सुन्दर स्मारक है। आशा है हिन्दी में इसका उचित आदर होगा।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

विज्ञान की कहानियाँ—प्रथम भाग—लेखक, श्रीश्यामनारायण कपूर, प्रकाशक 'नवशक्ति' प्रकाशन मन्दिर, पटना मूल्य—अजिल्द १) सजिल्द १।)

आज-कल की शिक्षा-पद्धति ने विज्ञान और साहित्य का अत्यन्त पार्थक्य-सा कर रखा है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। विज्ञान में भी कल्पना है, ईश्वरीय महत्ता है, और परीलोक की-सी रुचि और कौतूहलवर्धक बातें हैं; किन्तु ये एक निश्चित आधार-भूमि पर टिकी हुई हैं और कभी-कभी इस आधार-भूमि की कड़ाई ही विज्ञान को शुष्क और अरुचिकर बना देती है और मानसिक परिश्रम से बचनेवाले काव्य के अपेक्षाकृत अबाधित गतिवाले कल्पना-लोक में विचरना पसन्द करते हैं।

श्रीकपूरजी ने जो विषय इस भाग में चुने हैं, वे वास्तव में बड़े कौतूहल-पूर्ण हैं। सूर्य और अन्य ग्रहों की चाल के आधार पर बेचारे मानव कीट की जन्म-कुण्डली बनाई जाती है और

उसकी आयु पर भी भिन्न-भिन्न मतों से विवेचना की जाती है। वैज्ञानिकों ने सूर्य और पृथ्वी की भी जन्म-कुण्डली बनाई है। कपूरजी ने अपने पाठकों को उसका कुछ आभास कराया है।

ज्योतिष-सम्बन्धी आँकड़ों को पढ़कर कल्पना की आँखें कुछ चकाचौंध में पड़ जाती हैं। एक उदाहरण लीजिये। सूर्य का भार एक मिनिट में २५ करोड़ टन (एक टन २७ मन २० सेर के क़रीब होता है) कम हो रहा है। इस हिसाब से एक दिन में ३६ सहस्र कोटि टन कम होगा। इस हिसाब से उसको निःशेष होने में १५००००००००००००० मिनट लगेंगी। इससे सूर्य की बड़ाई का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। विश्व में बेचारे सूर्य की भी क्या स्थिति है। उससे भी एक करोड़ गुने बड़े नक्षत्र हैं। यह तो 'महतो महीयान' का कुछ अंश है। इससे अधिक धर्मनिष्ठा बढ़ानेवाली कौन चीज़ होगी?

हमारी धरती माता की आयु केवल दो करोड़ वर्ष की है। अभी उसका बाल्य-काल भी नहीं समाप्त हुआ। मनुष्य को इस पृथ्वी पर विकसित हुए तीन लाख वर्ष हुए। ये सब खोजें एक दिन का कार्य नहीं। सूर्य और चन्द्र को दूरवीन-द्वारा निकट ले आने के अपराध में कई वीर आत्माओं का बलिदान हुआ है।

ऐसे ही रोचक वायु की विजय और रेडियो के इतिहास हैं। अब तो वायु की विजय नहीं, आकाश की विजय की जा रही है। वैज्ञानिक लोग ऊर्ध्वाकाश में १४ मील ऊपर जाने में सफलता प्राप्त कर चुके हैं, बीस मील ऊपर जाने की आयोजना हो रही है। चन्द्र-लोक की यात्रा अब कुछ-कुछ कल्पना के भीतर आने लगी है। ऊर्ध्वाकाश में एक वेधशाला भी स्थापित की जाने की आयोजना हो रही है। उस आयोजना में प्रयाग विश्वविद्यालय के मेघनाद साहा का प्रमुख भाग है।

नये राकेट यानों का १००० मील फी घंटे की रफ़्तार से चलना सम्भव होगा। यह शायद 'मारुत-तुल्य वेग' से भी अधिक होगा। लेखक ने विज्ञान के नये आविष्कार दूर-दर्शन के सम्बन्ध में भी अधिक प्रकाश डाला है। दूर-दर्शन के प्रचार से सिनेमा-घरों की आवश्यकता न रहेगी। रेडियो की भाँति दूर-दर्शन यंत्र में दूर देशों के नाटक और सिनेमा देखे जा सकेंगे।

विज्ञान की कल्पनातीत सफलता का अनुकरण करना तो हम लोगों के लिए वर्षों की बात है; किन्तु उसकी जानकारी भी न प्राप्त करना घोर मानसिक आलस्य है। प्रस्तुत पुस्तक इस आलस्य को दूर करने में किसी अंश तक सहायक होगी। जैसा कि लेखक महोदय ने स्वीकार किया है, वैज्ञानिक पुस्तक में चित्रों का अभाव अवश्य अखरता है। लेखक महोदय ने विज्ञान को रुचिकर बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है; किन्तु वह इतना रुचिकर नहीं हुआ है जो कहानी के नाम की व्यञ्जना को सार्थक करे। इसमें लेखक का दोष नहीं। हिन्दी पाठकों में से अब शिशुता दूर होनी चाहिये। मुलायम हलुआ खाने से पाचन-शक्ति का ह्रास हो जाता है। विज्ञान तो लोहे के चने हैं। यह पुस्तक हलुआ की तरह मुलायम नहीं है। मुलायम रोटी या पूड़ी की भाँति है। इसको न ग्रहण करना मानसिक शिशुता का बोधक होगा। हम अगले भागों की चाव से प्रतीक्षा करेंगे।

गुलाबराय।

आगरा।

निरतिवाद—प्रणेता : श्रीदरबारीलाल सत्यभक्त ; प्रकाशक : सूरजचन्द डाँगी, सत्यसन्देश-कार्यालय, वर्धा, सी० पी०, अगस्त १९३८, मूल्य छः आने।

निरतिवाद को लेखक ने 'समाजवाद की आत्मा का भारतीय अवतार' कहा है और उनका विश्वास है कि 'यहाँ का इलाज़ निरतिवाद से ही हो सकता है।'

पूरी पुस्तिका पढ़ जाने के बाद लगा कि यह निरतिवाद एक हास्यास्पद-सी चीज़ है, कि इसमें समय और शक्ति का दुरुपयोग ही हुआ है और यह कि लेखक को समाज-रचना और समाज-शास्त्र के मोटे-मोटे और मूल सिद्धांत तक नहीं मालूम हैं। यह प्रयत्न सत्यनारायण की उस कथा जैसा है, जिसमें पण्डित सत्य की पूजा, दक्षिणा, प्रसाद और आरती तक ही सीमित रहता है। उसके आगे, सत्य को जीवन में उतारने की ओर न वह अग्रसर है और न उसका आग्रह है।

'निरतिवाद' में से दो-एक अवतरण बस होंगे। बेकारशाला के अन्तर्गत लेखक लिखते हैं : '...सरकार के पास कुछ काम न हो तो भी कुछ न कुछ काम लेना चाहिये। कहावत है कि—

> ख़ाली न बैठ कुछ न कुछ किया कर।
> कुछ न हो तो, पैज़ामा उधेड़कर सीया कर॥

धन-संग्रह पर रोक के बारे में एक शंका का समाधान करते हुए लिखा है : 'दान कर दे तो अच्छा है ही। इसमें वह धन समाज में फैलेगा ही। अगर रिश्तेदारों में वितरण कर देगा तो भी सम्पत्ति का विभाजन होगा। और धीरे-धीरे वह सम्पत्ति समाज में फैल जायगी।'

यहाँ लेखक का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है कि आज भी कई दानीश्वर हैं, जो लाखों का दान देते हैं ; परन्तु वह धन समाज में नहीं फैला और एक ही जगह जमा होता गया है।

लेखक के मतानुसार प्रत्येक कुटुम्ब को एक लाख तक की सम्पत्ति संग्रहीत करने का अधिकार रहे। परन्तु प्रायमरी स्कूल का मास्टर वेतन के रूप में केवल १६) से ३०) तक प्रति-मास पा सकेगा। जब कि उतना वेतन गुज़ारे भर को पूरा नहीं होगा, वह संग्रह क्या कर सकेगा? और तब पूँजी और श्रम का संघर्ष अनिवार्य ही हो जायगा।

और जब एक आदमी अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण १६) से ३०) तक में ही करे तो एक राजा किस न्याय से मुफ़्त में मकान और मुफ़्त के नौकर-चाकर पाकर भी स्वयं १०००) और रानी ५००), राजकुमार इत्यादि प्रत्येक २५०) मासिक पाते रहें?

सत्यभक्तजी ही निर्णय करें कि सत्य की किस दृष्टि से राजा लोग अपने पास दस लाख तक की सम्पत्ति रख सकें और राष्ट्राध्यक्ष, जो राजाओं का भी नियन्त्रण करेगा, केवल एक लाख? और क्या वह इसमें कोई ख़तरा नहीं देखते? क्या यही एक मात्र इलाज है? क्या इस इलाज से रोग घट जायगा? हमें तो रोग के और बढ़ जाने की सम्भावना दीखती है।

कोई वाद-विशेष केवल थोड़े-से पन्नों में लिख देने की चीज़ नहीं है। उसके लिए चाहिये गम्भीर, विचारशील मस्तिष्क और जीवन की गहन साधना। केवल लिखने के लिए लिखना अपराध है, भयंकर अपराध! लेखक ने हरएक विषय का विचार अत्यन्त संकुचित दृष्टि-कोण से किया है। कई महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है। मध्य-दान, श्रीमन्त, राजा और भिक्षा, जिन पर किसी समाज या संस्था का जीवन निर्भर है ; [२९८

वित्त लोग जिसके अपेक्षणीय हैं, ऐसे ही विषयों पर भ्रामक बातें लिखी गई हैं। आजकल लिखना सार्वजनिक वाद-विवाद का विषय है ; इसलिए बिना किसी विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये लिखना हानिकर है। अन्त में लेखक को हमारी यह नम्र सलाह है कि वह साम्यवाद, लोकतन्त्र, गणतन्त्र और समाज-शास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों का अध्ययन कर लें।

काशी, २७ः ११ः ३८। श्यामू सन्यासी

• • •

उदान—मूल पाली से अनुवादकः भिक्षु जगदीश काश्यप, एम्० ए०। प्रकाशकः महाबोधि सभा, सारनाथ प्रथम संस्करण १९३८। पृष्ठ संख्या १२२+३+४+४=१३३ मूल्य एक रुपया।

भवातिरेक में सन्तों के मुँह से निकलनेवाले वाक्य उदान कहे जाते हैं। 'उदान' में महात्मा बुद्ध के ऐसे ही प्रीति-वाक्य संग्रहीत किये गये हैं। 'उदान' मूल पाली में है और प्रस्तुत पुस्तक उसका हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद से अधिक वह भाषान्तर है। जिस तरह की वाक्य-रचना इसमें दी गई है वह हिन्दी में नहीं पाई जाती। शायद धर्म-ग्रन्थ समझकर मूल पाली के अनुसार ही ऐसा किया गया हो : जैसे—'इस बच्चे वाली मेरा आप पोषण करें।' 'जिस ज्ञानी और पंडित पुरुष को कुछ नहीं है, उसे ही यथार्थ में सुख है।' आदि।

धार्मिक महत्त्व के साथ ही इसका साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व भी है। उदान किसी न किसी कहानी से सम्बन्धित है और अन्त में आदर्श वाक्य के रूप में वह कहा गया है। ये कहानियाँ हमें उस काल की छोटी-छोटी कहानियों की सुन्दर झाँकी करवाती हैं। कहानियों का प्राथमिक और सुन्दर रूप यहाँ है। ईसप की नीति-कथाओं (इसलिए कि हम भारतीय उनसे अधिक परिचित हैं।) की भाँति ही ये भी उपदेशात्मक हैं। ईसप ने अवश्य ही इन्हें आदर्श मानकर अपनी कहानियों की रचना की होगी। सुप्रसिद्ध 'अन्धे आदमी और हाथी' वाली कहानी इसी में आती है। विश्व के कण-कण से और प्रत्येक लघुपल से ज्ञान प्राप्त करने की ओर यह हमें इंगित करती हैं।

सारी पुस्तक आठ वर्गों में विभक्त है ;—बोधिवर्ग, मुचलिन्द वर्ग, नन्द वर्ग, मेघिय वर्ग, सोण स्थविर का वर्ग, जात्यन्ध वर्ग, मूल वर्ग और पाटलि ग्राम वर्ग।

बौद्ध-धर्म और दर्शन के अध्ययन में इससे बड़ी सहायता मिल सकती है। सारनाथ की महाबोधि-सभा का ऐसा प्रयत्न स्तुत्य और अभिनन्दनीय है। हिन्दी-संसार से उसे उचित प्रोत्साहन मिले, यही हमारी कामना है।

पुस्तक का मूल्य अधिक मालूम होता है।

काशी, २७-११-३८ श्यामू सन्यासी

• • •

दर्पणना टुकडा (गुजराती)—लेखक : अम्बालाल पुराणी, प्रकाशक : श्री अरविंद-कार्यालय, आनन्द; १९३३, मूल्य एक रुपया।

पुराणी जी गुजराती के गम्भीर लेखक हैं। श्री अरविंद के योग-दर्शन में आपकी अखण्ड आस्था है। प्रस्तुत पुस्तक आपकी एक लम्बी और गम्भीर कहानी है। कहानी से अधिक वह एक धार्मिक प्रवृत्तिवाले पुरुष की आत्मकथा है।

वासुदेव बड़ौदा अजायबघर का क्यूरेटर है। पुरातत्त्व-शास्त्र के पीछे वह पागल है, इस लंबी-चौड़ी दुनिया में नितान्त एकाकी और गम्भीर। मानव-मात्र के प्रति कृतज्ञता से भरा; और प्रत्येक बात के पीछे विचार-मन्थन तथा प्रश्न-परम्परा लिये हुए। वह जिज्ञासु और आत्मनिरीक्षक है। यह उसी की आत्म-कथा है, जो जीवन का सच्चा चित्रण है।

रुखी भीख माँगनेवाली एक लड़की है। वासुदेव और रुखी दोनो दो परिस्थितियों में हैं। उसकी रुखी से अकस्मात भेंट होती है। वह उसका नाम पूछता है। फिर कई वर्षों बाद वह रुखी को सड़क पर संज्ञाहीन अवस्था में पाता है। ग़रीब और रक्षाहीन वह युवतीसमाज और व्यक्ति द्वारा प्रताड़ित और गर्भवती है। वासुदेव के मन की करुणा, उसकी आत्मा का उदात्त प्रेम, मानव के लिए आशीर्वाद से भरा उसका मन, उसे प्रेरणा देते हैं। रुखी को वह अस्पताल ले जाता है और वहाँ से अपने घर। शान्ति को जन्म दे रुखी मर जाती है और वासुदेव ने अनुभव किया : 'मेरे घर की एक कोठरी की तरह उसने मेरे हृदय की एक कोठरी में भी जगह बना ली थी।' वह शान्ति की मा बनता है और उसका लालन-पालन ममता से करता है। विनायक से उसका विवाह कर अन्त में निश्चिन्त हो गाँव में जा बसता है कि लिखे-पढ़े, चिन्तन करे और गाँववालों का शान्त जीवन व्यतीत करे।

नारी-पुरुष के सम्बन्ध की कहानी होते हुए भी लेखक ने इसमें कहीं कलुषता नहीं आने दी है। सारी कहानी एक पवित्र वातावरण से व्याप्त है। जीवन का सफल और सम्पूर्ण चित्रण है।

पांडेजी की पोशाल में विद्यार्थियों का 'सरसती-सरसती तू मेरी माता' रटना, स्कूल और कॉलेज में धमाचौकड़ी मचाना सब का सब स्वाभाविक है। लेखक में अपने पाठक को बहा ले जाने की शक्ति है। भाषा प्रौढ़, प्राणों को छूती और अनोखी मिठास लिये है। कई चित्र कला और परिभाषा (टेकनिक) दोनो की दृष्टि से सम्पूर्ण हैं। उदार हृदय कांगा, वात्सल्यमयी कुमुद बहन, वृक्षों को सींचती और उनसे बोलती-बतलाती नन्हीं शान्ति प्राणवान और उतावला बिनु एक स्मृति छोड़ जाते हैं।

अजन्ता की गुफाओं के वर्णनवाला और ऐसे ही कुछ अन्य परिच्छेद अनावश्यक-से हैं। कहानी की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं; डायरी या आत्मकथा में वे निश्चय ही उपयोगी हैं। परन्तु लेखक ने इसे 'वार्ता'—कहानी माना है, जहाँ वे अनावश्यक अतएव अक्षम्य हैं।

गुजराती में इतनी सुन्दर चीज़ लिखने के लिए लेखक अभिनन्दनीय हैं।

श्यामू सन्यासी

काशी, १६ : ११ : ३८।

• • •

संगीताञ्जलि—लेखक और प्रकाशक—ओंकारनाथ गौरीशंकर ठाकुर, आचार्य—श्री संगीत-निकेतन। सोल सेलिंग एजेंट—वोरा एंड कंपनी, पब्लिशर्स लिमिटेड, राउंएड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई। मूल्य १)।

पंडित ओंकारनाथ जी संगीत-महामहोपाध्याय का भारतवर्ष के विख्यात और श्रेष्ठ गवैयों में एक निजी और स्वतन्त्र स्थान है।

जिस शुद्ध संगीत-कला से मनुष्यत्व का विकास होता है, उस कला का प्रचार सर्वान्तःकरण में वाञ्छनीय है।

संगीत-शास्त्र पर कई मत हैं, और अपने-अपने मत तथा दृष्टि-कोण को लेकर कलाकार आगे बढ़ते हैं।

श्री ओंकारनाथ स्वर्गीय विष्णु दिगम्बर के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं और फिर उस पर संगीत-कला में आपकी स्वयं अपनी मौलिक सृष्टि भी है।

बड़े हर्ष की बात है कि भारत के श्रेष्ठ कलाकार के द्वारा ऐसी पुस्तक का लेखन तथा प्रकाशन हुआ है। श्री ओंकारनाथ की नोटेशन पद्धति भी अनोखी है। एक नये मार्ग के पथ-प्रदर्शक के रूप में संगीताञ्जलि को हम पाते हैं। इस ढंग से रागों का चयन किया गया है कि उसी अंग के राग उसमें सुन्दरता तथा सरलता से पनप सकें। इससे शिक्षार्थी को अधिक सुगमता से आगे बढ़ने का रास्ता मिल जाता है। इस रीति से एक ही अङ्गों के रागों में गला सध जाता है।

संगीताञ्जलि में स्वर-लिपि-सहित प्रसिद्ध रागों के सिवा उनके अलाप और तानें भी हैं। इसके उपरान्त गायन-समय, काल, रूप, रस प्रकृति आदि संक्षेप में सब बतलाया गया है।

इस प्रकार से पुस्तक अत्यन्त उपयोगी संग्रह है। संगीताञ्जलि संगीत-प्रेमी मात्र को संग्रह में रखनी चाहिये। ऐसी पुस्तक का स्वागत हम हृदय से करते हैं। पुस्तक की छपाई-सफ़ाई श्रेष्ठ है और मूल्य भी उचित है।

जबलपुर। बुलबुल मित्रा।

• • •

चिता की चिनगारियाँ—कहानी-संग्रह। लेखक—श्रीमोहनसिंह सेंगर, प्रकाशक, श्री सत्यभक्त, नवयुग-पुस्तक-भंडार, इलाहाबाद। पृष्ठ-संख्या १६७। मूल्य १)।

हिन्दी-साहित्य के सम्राट स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द की लिखित भूमिका ताज-स्वरूप मस्तक पर धरे हुए पुस्तक हमारे सामने आती है। संग्रह में कुल नौ कहानियाँ हैं। और प्रत्येक कहानी पठन तथा मनन करने योग्य है।

प्रायः कहानियों में समाज के अन्याय, बुराइयों के प्रति एक आक्षेप है और है निन्दा। दरिद्र और असहायों के प्रति लेखक की सहानुभूति, सहृदयता पाठक के मन को स्पर्श कर लेती है। पुस्तक में पुरुष के अत्याचार के प्रति घोर संग्राम है, युद्ध है, और है पुरुष के हाथ से अत्याचारित नारी के प्रति आन्तरिक सहानुभूति। भाषा मँजी हुई है। शैली मनोरम है।

पुस्तक में यदि कहीं कुछ खटकता है तो वह केवल इतना ही कि कुछ कहानियों में कुछ अस्वाभाविकता है, बिना कारण भी कहीं कुछ घटना चल पड़ी है।

'मुर्दा उर्फ़' में लेखक की शुद्ध दृष्टि राख के अन्तर्निहित तत्त्व को खोज निकालती है। जनसाधारण जिस राख को तुच्छ समझते हैं, उसी राख का ऐसा वास्तविक और सार-गर्भित तत्त्व लेखक ने बतलाया है जिसकी कि किसी प्रकार भी अवहेलना नहीं की जा सकती। वरन लेखक की सूक्ष्म दृष्टि पाठक की दृष्टि को भी सूक्ष्म कर देती है। पाठक तब अनायास कह देता है—वाह, बात तो सीधी है, फिर मेरी दृष्टि में छिपी कैसे रह गई थी? यथा—

'अनायास-शान्ति के मुँह से निकल पड़ा—'इसमें सोई है मेरी मा, विश्व की मा, ईसा और बुद्ध की मा, राजा और सम्राट की मा, धर्मात्मा और पापी की मा, भले और बुरे की

मा..., कितनी प्यारी, पवित्र और श्रद्धास्पद है यह राख !' (पेज ३१)

और साथ ही एक संकेत है धनी-निर्धन, पापी-धर्मात्मा पर, कि मृत्यु के बाद तो राख ही अवशिष्ट बच रहती है, फिर यह धनी और निर्धन, भले और बुरे का प्रश्न कैसा ? छूत और अछूत कैसा ? यह सभी प्रश्न हल हो जाते हैं उसी राख में। मानो राख परिहास से पुकारकर कह रही हो—राजा और भिखारी, भंगी और ठाकुर का तो अन्त मैं ही हूँ, फिर यह ऊँच-नीच का प्रश्न कैसा ?'

'मातृत्व की भूख' में पाते हैं हम मातृहृदय की स्वाभाविक फल्गु-धारा को। माता के आसन को विश्व के परे आरूढ़ और सभी बन्धनों से मुक्त। भिखारिनी का मातृ-स्नेह असीम स्पर्द्धा से कह उठता है—तुम पुरुष हो...तुम नहीं समझ सकते कि इन बच्चों को मैंने क्यों पैदा किया। सुनो, इन्हें मैंने नहीं मेरे मातृत्व की भूख ने जन्म दिया—जिसने कि तुम्हें और हमें पैदा किया। (पेज ६३) फिर उसका मातृत्व गर्व से, एक उपेक्षा से कह उठता है—दुनिया क्या कहेगी ?...कुछ भी कहा करे, तुम उसकी परवाह क्यों करते हो ? जिस दुनिया ने बेकारी में तुम्हारी मदद नहीं की, उस निगोड़ी दुनिया की तुम्हें इतनी फ़िक्र क्यों ? इस कहानी का आरम्भ जिस सफलता से निभा है अन्त वैसा नहीं निभ सका। कुछ अस्वाभाविक, कुछ लेखक के उतावलेपन से अन्त वैसा नहीं हो सका है। परन्तु इससे 'मातृत्व की भूख' असफल नहीं हो सकी।

'सन्तान की याद' में हम पाते हैं पुरुष के अत्याचार के विरुद्ध नारी के कर में रक्त-रंजित तलवार को।

एक बार रेखा जीवन के प्रति एक श्रद्धा, सम्मान लिये कह उठती है—जीजी, हम-तुमको जीने का भी उतना ही अधिकार है जितना और किसी को। फिर हम-तुम अपने इस अधिकार की हत्या क्यों करें ? क्यों न हम अपने इस अधिकार का सदुपयोग करें ? (पेज ८८) किन्तु ऐसा कहनेवाली वही रेखा जब स्वयं ही पति की प्राणघातिनी स्वरूप बन बैठती है, तब विस्मय-स्तब्ध रह जाना पड़ता है।

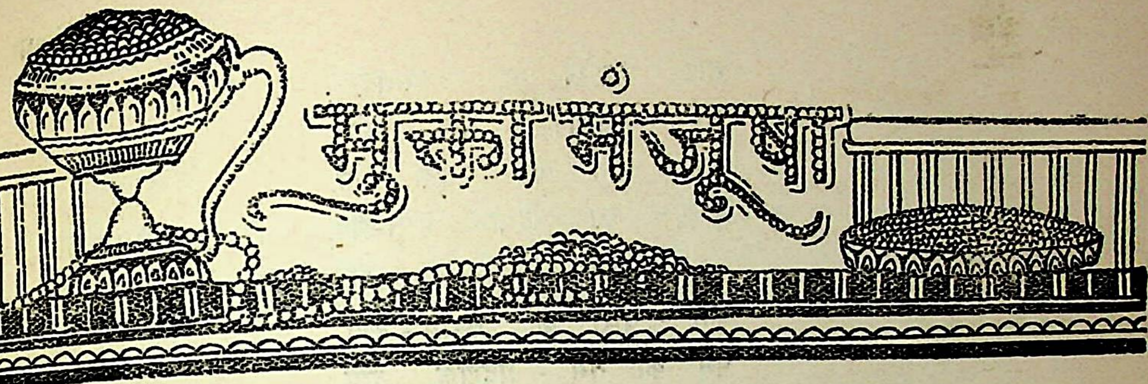
रेखा विवाह-विच्छेद प्रथा को चलाना चाहती है। और उसका ऐसा दृष्टिकोण शायद हमें इसलिए खटक जाता है कि यह प्रथा हमारे भारतवर्ष की सभ्यता, संस्कृति आदि के लिए उपयोगी नहीं है।

'प्रारब्ध' के लिए स्वयं लेखक ही 'अपनी बात' में कह चुके हैं कि कथानक यथातथ्य है। और यथातथ्य होने के नाते भी—एक वास्तविकता से हृदय को विकल कर देता है।

'मा'—नवीं कहानी इस संग्रह की अन्तिम कहानी और सब कहानियों से श्रेष्ठ गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण है। भारत माता की दुःखद दशा का चित्रण कलाकार ने अत्यन्त विचार तथा विद्वत्ता के साथ किया है। साथ ही भारतमाता के लिए लेखक के नेत्र में भरे हुए आँसू पाठक की आँखों में भर-से आते हैं।

जबलपुर।

उषादेवी मित्रा।



तमिल

मंगल-दीप

[श्री० वें० श्रीनिवासन्, संपादक, 'मणिक्कोडि', तमिल के एक उदीयमान प्रतिभासंपन्न कवि हैं। उनकी 'मंगल-दीप' शीर्षक यह कविता 'हनुमान' साप्ताहिक के नववर्षांक में प्रकाशित हुई है।—सं०]

जलाया है मैंने मंगल - दीप,
स्तुति कर, कर जोड़ो, रे स्वर्ण-विहंग !

दौड़-धूप करने की फ़ुरसत कहाँ ?
आँख-मिचौनी के लिए प्रकाश कहाँ ?
आओ भीतर प्यारे ! आओ रे भीतर प्यारे !

साँझ की चमेली के खिलने का वक़्त,
सुन्दर कमल के सिकुड़ने का वक़्त,
चिड़िये का घोंसले में धँसने का वक़्त,
गाय के घर में हँसने का वक़्त,
आओ भीतर प्यारे ! आओ रे भीतर प्यारे !

व्याप्त अंधकार को चीर कर,
जाज्वल्यमान ज्योति हो कर,
गभीर मन - मानस में,
ज्ञान - दर्शक दया - दीप; (जलाया है।)

चहुँ ओर प्रकाश फैलाकर,
मध्य में सिर उठाकर;
आँधी-सी आती तम-राशि पर
फुफकारने वाला ज्योति - पटल, (जलाया है।)

तेल - बत्ती के अस्तित्व तक
स्वयं जलकर तप करने वाला
काम - क्रोध की हवा लगते
झिलमिल - हिल - डुलने वाला; (जलाया है।)

सार - वर्द्धक अन्तर्दीप,
उद्वेग - नाशक तीव्र - दीप,
कर्म - मार्ग का रक्षक - दीप,
कृष्ण का दिया हस्त-दीप, (जलाया है।)

जय - वीरों का जय - दीप,
कर्म - वीरों का सहाय - दीप,
यम को तम - प्रदर्शक दीप,
मातृ - भूमि का मंगल - दीप, (जलाया है।)

पिताजी आ बुला रहे हैं;
फुदकते - कूदते उड़ो तुम।
प्राण-सम भ्राता ज्येष्ठ भी,
उन्हें भी नति कर आओ तुम! (जलाया है।)

मद्रास।

चयनकर्ता, का० श्री० श्रीनिवासाचार्य।

गुजराती

पंचतन्त्र

['पंचतंत्र' की कथाएँ संसार में अतीव लोकप्रिय हैं। उनका प्रचार भी खूब पाया जाता है। कार्तिक के 'कुमार' से हम श्री वालजी गोविन्दजी देसाई की एक टिप्पणी इसी विषय पर अनूदित करते हैं, जिससे 'पंचतंत्र' के महत्त्व और प्रचार का अन्दाजा लगाया जा सकता है। --सं०]

दिग्विजयी पुरुष अकेले एक बुद्ध ही हुए, उसी प्रकार दिग्विजयी ग्रन्थ भी अकेला पंचतन्त्र ही है। किसी ने लिखा है कि बाइबिल के सिवा दूसरे किसी ग्रन्थ का इतना अधिक प्रचार नहीं पाया जाता। परन्तु बाइबिल की बात जुदी है। बाइबिल धर्मशास्त्र है; पंचतन्त्र अर्थशास्त्र। जहाँ बाइबिल के प्रचार में कृत्रिमता है तहाँ पंचतन्त्र तो स्वयं प्रचारी है। यों पंचतन्त्र विश्व के सब ग्रन्थों में एक और अद्वितीय सिद्ध होता है। प्रोफेसर हर्टले के अनुसार देश-विदेश की पचास से अधिक भाषाओं में इसके लगभग दो सौ जितने अनुवाद हो चुके हैं। ईरान के हकीम ने, जो खुशरू नौशेरवाँ का आश्रित था संवत् ६०० के आस-पास इसका पहल्वी में अनुवाद किया। यूरोप में पंचतन्त्र संवत् १००० के लगभग पहुँचा। उसके बाद के पाँच सौ वर्षों में इसका ग्रीक, लैटिन, स्पेनिश, इटालियन, जर्मन, अंग्रेजी, स्लवॉनिक, चेक आदि विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ। पंचतन्त्र का प्रचार पूर्व के जावा द्वीप से लगाकर पश्चिम के आइसलैण्ड तक पाया जाता है।

भारतवर्ष में भी इसके विभिन्न संस्करण हुए हैं। किसी ने इन कथाओं का विस्तार किया, किसी ने संक्षेप; किसी ने गद्य में तो किसी ने पद्य में रूपान्तर किया। प्राकृत में अनुवाद किया गया और प्राकृत से पुनः संस्कृत में अनुवाद हुआ। एक चक्रवर्ती की तरह ये दिग्विजय करती रहीं।

काशी।

चयनकर्ता, श्यामू सन्यासी

हिन्दी

जीवन-दर्शन

[श्री भगवतीचरण वर्मा एक कवि के रूप में बहुत लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध हैं। आपकी कविताओं की सरलता और विचारों का सुलझाव ही आपकी इस लोकप्रियता का रहस्य है। आपकी एक सुन्दर कविता 'जीवन-दर्शन' नवम्बर, १९३८ के 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई है, जिसे हम पाठकों के मनोरंजन और अध्ययन के लिए यहाँ उपस्थित करते हैं।—सं०]

—१—

मानापमान हो इष्ट तुम्हें,
मैं तो जीवन को देख रहा !
मैं देख रहा दानवता के
दुःसाहस के विकराल कृत्य,
मैं देख रहा बर्बरता का
भू की छाती पर नग्न नृत्य,
मैं देख रहा उठनेवाली
अम्बर पर संसृति की उसाँस
मैं देख रहा यह मानवता
कितनी निर्बल कितनी अनित्य !

जमघट है रोनेवालों का,
जमघट है गानेवालों का,
सब देने को लाए थे पर
जमघट है पानेवालों का,
कुछ बने लुटेरे लूट रहे
कुछ बने भिखारी माँग रहे
है जमा मिटाने को ही यह
जमघट मिट जानेवालों का
मैं जग को सुख देने वाले
जग के क्रन्दन को देख रहा !

—२—

मैं अभी देखकर आया हूँ
गर्वोन्नत हँसता एक महल
जिसमें श्रीमानों का जमाव
—अपनी गुरुता में उच्छृंखल
वैभव का अथक प्रलाप लिए
उत्पीड़न का सन्ताप लिए—
था झूम रहा उन्माद-ग्रस्त
उनके पैरों पर सिसक रहा
था आँसू से भीगा भूतल !
निज पशुता का अभिशाप लिए;
मैं सोच रहा था मौन वहाँ—
मैं देख रहा था कौन कहाँ !
वे भूपति थे, अति ज्ञानी थे,
वे पूँजीपति थे, दानी थे,
वे यश, श्रद्धा के पात्र अरे,
वे थे समर्थ, अभिमानी थे,
उनके मस्तक पर खेल रहा
था अहम्मन्यता का पिशाच,
उनके प्यालों के साथ-साथ
थीं जग की आहें रहीं नाच !

कह उठा एक—'हम जो कह दें
वह न्याय, वही है बुरा-भला !'
दूसरा कह उठा, 'हमसे ही
जीवित है यह साहित्य-कला !'
पर उस कमरे की दीवारें
भर-भरकर विष की फुफकारें
कह उठीं, 'अरे तुम हत्यारे !
तुम सदा घोंटते रहे गला।
हम खड़ी हुई उन नीवों पर
जो चुनी गईं कंकालों से
इतिहास हमारा तुम पूछो
उन भूखों मरनेवालों से !'

—३—

भीतर उठता था राग-रंग,
बाहर था जय-जय का निनाद,
जूठे टुकड़े पाकर भूखे
थे बाँट रहे आशीर्वाद—

'भगवान तुम्हारा भला करे
कुल बढ़े और सम्मान बढ़े !'
वे अस्थिहीन, वे मांसहीन,
वे अन्नहीन, वे वस्त्रहीन,
वे सड़कों पर सोनेवाले,
वे धूल-धूसरित अति मलीन,
चिथड़ों में ले दुर्गन्ध कड़ी,
रोगों से उनकी देह सड़ी,
उनके मुख से थी छूट रही
कलुषित वचनों की एक झड़ी !

वे घोर नरक में पड़े हुए
वे जग-जीवन से उदासीन !
वे किनकी जय-जय करते हैं ?
किनको देते आशीर्वाद ?
मैं पूछ रहा था अन्तर में
लेकर मानवता का विषाद !

कैसा विषाद ? क्या मानवता ?
मेरे सन्मुख तो है पशुता,
ये भक्ष्य और वे भक्षक हैं,
इनमें लघुता, उनमें गुरुता,

इनकी तड़पन, उनका विलास;
मैं देख रहा निर्माण-ह्रास,
ये तो मिटने को जीवित हैं,
है उन्हें रक्त की प्रबल प्यास !

क्या कभी इन्होंने सोचा है,
है मिली इन्हें भी मानवता ?

यदि सोच-समझ सकते केवल
ये मिटनेवाले भिखमंगे,
तो क्या ये यों तिल-तिल मिटते
रहकर भूखे, बनकर नंगे ?
जो हैं उनके ही काल—अरे
क्या ये उनकी जय-जय करते ?
जीवन का निज अधिकार गँवा
क्या जूठे टुकड़ों पर मरते ?

—४—

वह राग-रंग, वह त्राहि-त्राहि,
जग की चीत्कारों का जमघट !
यह क्या ? सन्मुख ही नाच उठा
उन हाहाकारों का मरघट !
मैं देख रहा भू पर रक्खे
धनिकों के, कंगालों के शव,
उन सर्व-भक्षिणी लपटों का
मैं सुनता हूँ अति कर्कश रव !
जग के शापों से लदा हुआ
दो दिन का यह उन्माद-विभव
दो दिन की पशुता का जीवन
हो रहा चिता में यहाँ प्रकट !
केवल मुट्ठी-भर अन्न, इसी
पर केन्द्रित मानव का जीवन !
दो-चार हाथ कपड़ों से ही
ढक जाता है मानव का तन !
छै हाथ भूमि पर बना हुआ
है मानव का ऐश्वर्य-सदन !
फिर क्यों इतना मानापमान ?
इतनी तृष्णा ? इतना क्रन्दन ?
मैं हँसकर पागलपन को, रो
कर उत्पीड़न को देख रहा !

• • •

भारतीय साहित्य और भाषा

[श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का एक विचार पूर्ण लेख 'भारतीय साहित्य और भाषा' दिसम्बर १९३८ की 'वीणा' में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के विषय में आपके विचार हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।—सं०]

'इस प्रश्न के साथ हिन्दी और उर्दू का प्रश्न उपस्थित होता है। यह प्रश्न अधिकतर संयुक्त-प्रान्त का है। दूसरे प्रान्तों का नहीं। इस प्रान्त में संस्कृतमय हिन्दी और फारसीमय उर्दू

के बीच में झगड़ा चल रहा है। और जान या अनजान में इस प्रश्न को समस्त भारत का समझ-कर, इस सम्बन्ध में मनचाही करते हुए कई लोग आवेश प्रगट करते हैं। इस सम्बन्ध में वास्तविक परिस्थिति इस प्रकार है—

(१) 'वास्तव में हिन्दी और उर्दू दो पृथक् भाषाएँ नहीं हैं। कुछ इने-गिने लोगों को छोड़ दिया जाय तो संयुक्त-प्रान्त की जनता एक ही भाषा बोलती है, जिसमें संस्कृत, फ़ारसी और देशी तीनो का समावेश है। इस भाषा में जो अधिक फ़ारसी-शब्दों का व्यवहार करता है, उसे उर्दू बोलनेवाला और जो संस्कृत तथा देशी शब्दों का व्यवहार करता है, उसे हिन्दी बोलनेवाला कहते हैं। साधारण मनुष्य तो व्यावहारिक शब्दों का उपयोग करते हैं, वे किसी भी भाषा के क्यों न हों। यह भाषा सेंसस के अधिकारियों की दृष्टि में हिन्दुस्तानी, हिन्दुओं की दृष्टि में हिन्दी, मुसलमानों की दृष्टि में उर्दू और भारतीय साहित्य-परिषद् की दृष्टि में हिन्दी-हिन्दुस्तानी है।

(२) 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी का संस्कृतमय रूप ही साहित्य की भाषा है। मलिक मुहम्मद जायसी, अकबर बादशाह के मन्त्री अब्दुल रहीम खानखाना तथा यारी साहब के समान साहित्यकारों ने भी इसकी सेवा की है। अर्वाचीन शिक्षा-पद्धति के प्रारम्भ से तथा जब से हिन्दू लेखकों ने नवीन साहित्य का निर्माण किया तब से साधारणतया संस्कृत-साहित्य का अधिक सहयोग लिया जा रहा है और इसी लिए यह भाषा अधिक संस्कृतमय हो गई है। यह हिन्दी-भाषा गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल तथा मध्य-प्रान्त में सरलता से समझी जाती है। हिन्दी का अध्ययन करनेवाला कानड़ी, तेलगु तथा मलयालम भी सरलता से समझ सकता है।

(३) 'वास्तव में मुगल फौज में व्यवहृत भाषा उर्दू है। इस भाषा और हिन्दी में केवल यही अन्तर है कि इसमें फारसी शब्दों का बाहुल्य रहता है। अर्वाचीन काल में जब मुसलिम विद्वानों ने भाषा द्वारा साहित्य का निर्माण प्रारम्भ किया तब उन्होंने अपने को सरल मालूम पड़ने-वाली फारसी तथा अरबी भाषा के द्वारा उर्दू साहित्य की सृष्टि की। परिणाम-स्वरूप साहित्यिक उर्दू फारसीमय हो गई। और इसीलिए वह हिन्दी-हिन्दुस्तानी तथा साहित्यिक हिन्दी से पृथक् हो गई। इस भाषा को केवल संयुक्तप्रान्त के कुछ भाग के हिन्दू तथा मुसलमान और दूसरे प्रान्तों के मुस्लिम विद्वान् ही समझते हैं। जो संस्कृतमय समझ सकते हैं उनमें से अधिकांश के लिए यह भाषा विदेशी है।

'उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने हिन्दी से संस्कृतमय हिन्दी तथा फारसीमय उर्दू का निर्माण किया उनको इसके सिवाय कोई दूसरा मार्ग न था। इस प्रयत्न में न तो द्वेष की भावना थी न वैमनस्य था और न था संप्रदायवाद।

'मैं यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं हूँ कि इन दो प्रवाहों में से किसी एक को भी रोका जा सकता है। हिन्दी का लेखक आज यदि शृंगार-रस की अथवा ऐतिहासिक कहानी लिखेगा तो वह जयदेव तथा व्यास और वाल्मीकि से ही प्रेरणा प्राप्त करेगा। इसी प्रकार मुसलिम लेखक साहित्य-निर्माण के लिए शादी और हाफिज की ही शरण लेगा।

'जब तक संयुक्तप्रान्त की व्यावहारिक भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी साहित्य को वहन करने योग्य नहीं हो पाती तब तक इन दो प्रवाहों का संगम असंभव है। इसकी अपेक्षा यदि उर्दू साहित्य का अनुवाद हिन्दी में तथा हिन्दी-साहित्य का अनुवाद उर्दू में प्रारम्भ हो जाय तो साहित्य-विनिमय बढ़ सकता है और व्यवहारिक हिन्दी-हिन्दुस्तानी साहित्योपयोगी हो सकती है।

'अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में हिन्दी-लेखक फारसी शब्दों का व्यवहार करते समय हिचकते न थे और उर्दू लेखकों को भी संस्कृत शब्द अप्रिय न थे। हमारे दुर्भाग्य से आज राजकीय तथा धार्मिक वैमनस्य के कारण हिन्दी लेखकों के लिए फारसी के शब्द तथा मुसलिम लेखकों को संस्कृत के शब्द अस्पृश्य हो गये हैं। यदि दोनो कौम के लोग परस्पर घृणा के भाव को दूर कर दें तो संस्कृतमय हिन्दी तथा फारसीमय उर्दू के बीच का अन्तर बहुत कम हो सकता है।

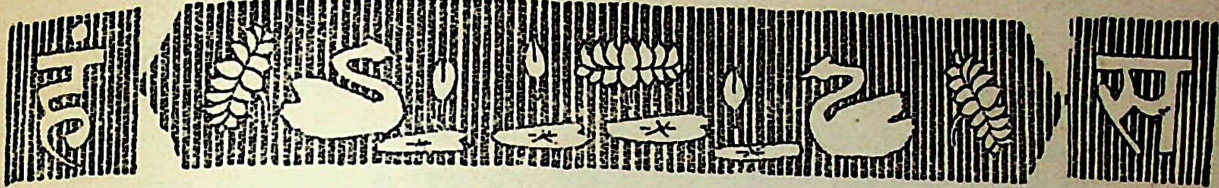
'हिन्दू-मुसलिम कौमों के बीच जो कठिन प्रश्न है, उसी का यह एक अङ्ग है। जब तक हिन्दू तथा मुसलमान परस्पर सामाजिक तथा संस्कारिक परिचय से एकता की वृद्धि न करेंगे तब तक इस कठिन प्रश्न को हल करना सम्भव नहीं।

'संयुक्तप्रान्त के बाहर मुसलमान लोग इसी हिन्दी-हिन्दुस्तानी के दूसरे स्वरूपों का उपयोग करते हैं। निजाम हैदराबाद में यह हिन्दी-दिन्दुस्तानी लगभग उर्दू हो जाती है, गुजरात में लगभग गुजराती बन जाती है तथा महाराष्ट्र में बहुत कुछ मराठी के समान हो जाती है। इसका कानड़ी रूप बीजापुर के जेल में मुसलमान सिपाही बोलते पाये जाते हैं। उसी प्रकार राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर संयुक्तप्रान्त के अन्य प्रान्तों में स्त्री-पुरुष हिन्दी में बातचीत करने का प्रयत्न करते हैं तो वे अधिकतर अपनी भाषा के संस्कृत तत्वों को लेकर उनका हिन्दी व्याकरण-पद्धति पर व्यवहार करते हैं। इस राष्ट्र-भाषा में संस्कृत का तत्त्व प्रधान है। कारण, बोलनेवाले को इसी भण्डार से शब्द मिलते हैं। हिन्दी भाषा में जो सामान्य तत्त्व है, वह इस प्रकार की एक नवीन भाषा को जन्म देता है।

'इन बहुत-सी बातों को ध्यान में रख कर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि संयुक्तप्रान्त के लोगों के व्यवहार की भाषा एक है। हिन्दुस्तान के एक प्रान्त की जीवित मातृ-भाषा समस्त देश की व्यावहारिक भाषा नहीं।

'इस भाषा के बोलनेवालों का जीवन-व्यवहार उनकी मातृ-भाषा द्वारा ही होगा। उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा भाषा का विकास होगा, परन्तु जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावों का विकास होता जायगा, ज्यों ज्यों विज्ञान भारत के विभिन्न भागों को एक दूसरे के निकट लाता जायगा और ज्यों-ज्यों सम्पूर्ण देश के संस्कार तथा जीवन एक धारा में प्रवाहित होंगे, त्यों-त्यों यह भाषा सजीवता प्राप्त करती जायगी। परन्तु जहाँ तक दृष्टि जाती है, प्रान्तीय भाषाओं का स्थान वह नहीं छीन सकेगी। जितना अधिक यह भाषा व्यावहारिक बनती जायगी, जीवन की समस्त आवश्यकताओं का समावेश उसमें होता जायगा और उसका रूप सर्वग्राही होगा। उसमें बहुत से योरपीय शब्द आयेंगे और जब समस्त भारत का जीवन-व्यवहार मिल जायगा तब उन समस्त तत्त्वों की एकाकरिता से युक्त राष्ट्रभाषा जीवित रहेगी। उस भाषा में साहित्य की सृष्टि करना सरल होगा और बाद में उर्दू, हिन्दी के संस्कृत-फारसी झगड़े का नाम-निशान नहीं रहेगा।'





जनवरी, १९३९ वर्ष—९ : अंक—४ पूस, १९९५

दो शब्द

[जैनेन्द्रकुमार]

दो शब्द इधर बहुतायत से सुनने में आने लगे हैं। जैसे वे अनिवार्य हों। शब्द अंग्रेज़ी के हैं; पर आज हिन्दुस्तान में वे खासे चलते हैं। देशी उल्था उनका कोई उतना ठीक नहीं बैठता। कारण तद्गत भेद-भाव शायद देशी नहीं है।

वे शब्द हैं: रीयलिज़्म और आइडियलिज़्म। उनके अनुवाद बन गये हैं—यथार्थवाद और आदर्शवाद।

मुझे कुछ ठीक पता नहीं चल सका है कि इन शब्दों की क्या सीमाएँ हैं। कोई किसी अर्थ में उन्हें प्रयोग करता है, दूसरा दूसरे अर्थ में। इससे सफ़ाई के बजाय कुछ उलझन बढ़ती है।

एक बार सुन पड़ा कि कहानियाँ लिखने में जैनेन्द्र यथार्थवादी है। आदर्श की रचा वहाँ नहीं है। जिन्होंने यह कहा, भरी सभा में और निश्चय-पूर्वक कहा था।

दूसरी जगह बताया गया कि यथार्थ की रचा जैनेन्द्र की कहानियों में बिल्कुल नहीं हो सकी है। वहाँ कोरा आदर्शवाद है। यह कहनेवाले भी दृढ़ता से कह रहे थे और विवाद के लिए प्रस्तुत थे।

दोनो विज्ञ। टालें तो किसे? ग़लत वे थे नहीं; क्योंकि विज्ञ थे। उनके ढंग से मालूम होता था कि वह जानते हैं कि वह सत्य भाषण कर रहे हैं। किसी को मौक़ा नहीं है कि कहे कि दोनो में से कोई असत्य कह सकता है। पर विज्ञों के बीच होकर मुझ-सा अज्ञ क्या करे? अज्ञ की बड़ी विपता है। क्या वह उन शब्दों को कोनों पर से होता हुआ कोरा निकल जाने दे? यह तो विज्ञता की अवज्ञा होगी। तो क्या उन शब्दों से आतंकित होकर मूढ़ से मूढ़तर हो जाय? ऐसा करे तो उसकी निज की ख़ैर नहीं। फिर वह यथार्थ और आदर्श के भेद को और अभेद को लेकर करे तो क्या? अपरिचित शब्दों से भरे वाक्-सागर में वह तो वैसे ही डूबता-सा मालूम होता है। तिस पर जब विज्ञ-जन झगड़ने लग जायँ, तब वह तिरता रहे तो किसका सहारा थामकर?

रीयल क्या ? और आइडियल क्या ? रीयल की हिन्दी यथार्थ है और आइडियल की आदर्श। सो वह यथार्थ और आदर्श क्या, इसकी कुछ टटोल करनी चाहिये। उसके बाद उनके 'इज़्म' यानी वाद फिर अपनी परवा स्वयं कर लेंगे।

असल में शब्द को बहुत ऊपर ले जायँ तो वे अपने से भी ऊपर जा सकते हैं। कहते हैं कि सृष्टि के आदि में था शब्द। वह जो हो; लेकिन मामूली तौर पर शब्दों को उठाकर व्यवहार के तल से ऊँचा नहीं ले जाना चाहिये। जहाँ वे अपने से ही ऊपर उठ जाते हैं, वह होता है काव्य। वहाँ शब्द के शब्दार्थ नहीं, उसके ध्वन्यर्थ से प्रयोजन होता है। लेकिन काव्य है अतर्क्य। समझ अतर्क्य नहीं हो सकती। इससे जहाँ समझ की बात की जा रही हो, वहाँ शब्द को उसी तल पर रखना चाहिये जिस तल पर कि बोल-चाल में उसे समझा जाता है।

यथार्थ नाम सत्य का भी हो सकता है; पर जिसमें वाद लगा हुआ है, उस यथार्थ का मतलब शायद इतना विस्तृत होने के लिए नहीं है। वहाँ तो मानो अर्थ जिसकी सीमा है, वही है यथार्थ!

सामने मेज़ रखी है, एक कुर्सी भी रखी है। दोनो दीखती हैं। वे नप सकती हैं, तुल सकती हैं। उनकी कीमत में तुलना हो सकती है। उनका उपयोग हमको मालूम है। इससे मेज़ और कुर्सी हुईं यथार्थ।

कुछ शायद उस यथार्थ शब्द के प्रयोग में यह भाव है कि उन मेज़ और कुर्सी के बारे में दो आदमी दो राय नहीं रख सकते। दो मत वे रखेंगे भी, तो झट फैसला किया जा सकता है कि यह तो ग़लत है और वह सही है। एक ने कहा कि मेज़ शीशम की है। दूसरे ने कहा कि सागौन की है। या एक ने पचीस रुपए और दूसरे ने तीस रुपए उसकी कीमत बताई। तो मेज की यथार्थता दो में से एक को इस तरह सही साबित कर देगी कि दूसरे को अपनी ग़लती माननी ही होगी।

यह हुआ यथार्थ। यानी जिसकी यथार्थता निश्चित मान के पैमानों में आ सके। जहाँ तक यह संभव है, वहीं तक यथार्थ की यथार्थता खिंच सकती है।

पर जहाँ यह संभव नहीं है, वहाँ?

यह तो साफ़ है कि पैमाने किसी वस्तु को नापकर ख़त्म नहीं कर सकते। यानी उसे सब तरफ़ से पूरी तरह नहीं नाप सकते। वस्तु की अगणित संभावनाएँ हैं जो पैमानों की पकड़ में नहीं आतीं। इस तरह हरेक ही चीज़ नाप-तौल के बाहर भी रह जाती है। नाप में वह नहीं, हमारी बुद्धि नपती है।

मेज़ जब तक मेज़ है, तब तक तो बहुत आसान चीज़ है; लेकिन जब उसकी विशिष्टता में न देखकर उसकी साधारणता में उसे देखना चाहते हैं तो, मालूम होता है कि मेज़ उतनी सरल-सी चीज़ नहीं है। उस निगाह में मेज़ जरा देर में मेज़ तक ही नहीं रहती। वह लकड़ी हो जाती है; लकड़ी पदार्थ हो जाती है; पदार्थ तत्त्व हो जाता है। और इस तरह जो अभी मेज़ थी, देखते-देखते वह एक अणुओं का स्कंध बन जाती है। और आगे चलें तो कुछ नहीं रहता। मेज़ हम ही हो जाते हैं!

इस मेरे कहने में कोई ज़्यादती आप न मानें। ठीक इस वक्त भी लोग हैं जो मेज़ को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग अर्थों में लेते हैं। कारीगर की आँख उसकी कारीगरी पर है,

मेज़-मालिक की आँख उसकी तात्कालिक उपयोगिता पर है और एक वैज्ञानिक की आँख मेज़ पर होकर भी उन दोनो से कहीं अलग ही जगह है। मेज़ की बाज़ारू क़ीमत तय हो और एक हो; पर हरेक के लिए उसकी निजी कीमत एक नहीं है, अलग-अलग है।

इस दृष्टि से तो यथार्थ और उसकी यथार्थता स्वयं ही सापेक्ष वस्तु हो जाती है। लेकिन यथार्थ को आपेक्षिक मानें तो यथार्थ-वाद शब्द ही मानो बेकार पड़ जाता है। यथार्थ-वादवाला यथार्थ तभी तक है, जब तक वह निश्चित है। पर निश्चित कुछ है नहीं। इससे यथार्थ भी कुछ है नहीं। अर्थात् हरेक यथार्थ ठीक उसी क्षण आदर्श भी है।

पर शंका होगी कि जिससे बचना चाहते थे, ऊपर के वाक्यों में कहीं उसी अथाह में तो हम नहीं गिर गये? पहले कहा था कि शब्दों को बहुत ऊँचे उठाकर हम नहीं देखेंगे। वह बात हमें याद है। पर यह भी याद रखना ज़रूरी है कि शब्दों के सत्य की मर्यादा को देखने के लिए शब्दातीत सत्य की पीठिका को एक दम ओझल न होने देना होगा।

इस तरह हम बेखटके यह कह सकते हैं कि इन्द्रिय-द्वारा ग्रहण हो सकनेवाला पदार्थ का रूप यथार्थ है। उससे आगे जो रह जाता है, वहाँ यथार्थ की गति नहीं, सो उसे आदर्श कहा जाता है। आदर्श संभाव्य वास्तविकता है।

इस भाव में शरीर यथार्थ और आत्मा आदर्श। इसलिए नहीं कि शरीर कुछ है, और आत्मा कुछ और है। यों तो शरीर और आत्मा में भेद हमेशा से माना जाकर भी कभी होने में नहीं आया। फिर भी शरीर को आत्मा-पूर्वक मानना होगा और आत्मा को साधने के लिए शरीर का भी स्वास्थ्य साधना होगा।

पर शरीर दीखता है, इससे शरीर है। आत्मा नहीं दीखता, इससे आत्मा है।

शरीर का विकास आत्मा की ओर है; क्योंकि शरीर की अपनी ही असली निजता का नाम आत्मा है।

शरीर द्वारा आत्मा की प्रतिष्ठा धर्म है।

आत्मा की अशरीरी प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। यानी, जो तेज व्यवहार के तल पर भी तेजस्वी नहीं है, वह आत्म-तेज नहीं है।

और जो निरा शारीरिक है, उसमें शरीर की भी सफलता नहीं है।

इसी के अनुरूप यथार्थ और आदर्श में परस्पर संबंध हो सकता है और होना चाहिये।

यथार्थ जड़-स्वरूप है, यदि वह प्रतिक्षण आदर्शोन्मुख नहीं है।

आदर्श हवाई है यदि वह प्रतिक्षण यथार्थ को उभार नहीं दे रहा है।

यथार्थ अर्थात् प्राप्त। आदर्श अर्थात् अप्राप्य। प्राप्त में यदि कुछ अर्थ है तो तभी जब कि उस पर अप्राप्य का खिंचाव भी है। नहीं तो उसका आनन्द नष्ट हो जाता है। आनन्द स्वयं स्पंदनशील तत्त्व है। वह गति की निरंतरता में है। इससे आनन्द प्रयत्न में है, न कि फल में। और प्राप्त की उपयोगिता तभी तक है जब तक अप्राप्य की ओर प्रयत्न जारी है। वह प्रयत्न जितना ढीला है, प्राप्त का आनन्द भी उतना ही स्खलित है।

अर्थात् यथार्थ की यथार्थता आदर्श की ही परिभाषा में समझी जा सकती है। आदर्श की भूमिका यदि नहीं है तो समूचा यथार्थ माया-जाल हो जाता है।

बेशक जगत मिथ्या है, अगर वह ईश्वर (सत्य) के विमुख होकर प्रतीत होता है। और तब तो उसके त्याग में ही सत्य का लाभ है।

इस सिलसिले में हम यह भी देखें कि प्रत्येक प्राप्ति का प्रयत्न प्राप्त का त्याग है। बिना त्याग गति नहीं। पैर जहाँ हैं, आगे बढ़ने के लिए उस जगह को छोड़कर पैर को उठना ही होगा। अगर पैर अपने स्थान को पकड़ रहता है, तो वह निकम्मा है। कहना चाहिये कि वह पैर पैर नहीं है। उसमें चलने की शक्ति नहीं रही। और उस पैर के स्वामी को अगर जीवित रहना है, तो उस पैर से उसे छुट्टी ले लेनी होगी।

भोग का यही मतलब है। उसमें हम प्राप्त से चिपटते हैं, और त्याग से बचते हैं। पर गति है त्याग। और भोग है आराम। आराम को यदि इजाज़त है तो इसी लिए कि उससे गति की शक्ति बढ़े। अन्यथा आराम मौत है। त्याग द्वारा भोग को यदि भोगा जा सके तो ठीक। नहीं तो भोग विलास है। उसमें राग रुकता है और चेतना में गाँठ पड़ती है।

मैं सड़क पर जा रहा हूँ। कि किनारे खड़ी मिली आठ मंजिल की एक पर्वताकार बिल्डिंग। राम-राम, इतनी ऊँची, इतनी ठोस, कि क्या बताऊँ। एक-एक पत्थर है उसका शिला सरीखा। मेरे सिर के ऊपर वह बिल्डिंग ऐसी डटी खड़ी मालूम होती थी कि नीचे चलता हुआ मैं मानो कुछ हूँ ही नहीं। उसकी विशालता पर मन को कुछ हौल-सा लगा। जैसे मैं दबा जाता होऊँ।

यह यथार्थ की महत्ता है।

और अभी हाल यहाँ पुलिस-विभाग की ओर से एक भारी पहलवानों का दंगल कराया गया था। दूर-दूर के नामी पहलवान आये थे। शहर में से उनका वह ठाठ का जुलूस निकला कि क्या बात। बाज़ार में तब वे जहाँ-तहाँ दीख पड़ते थे। मानो साकार भीम हों। वह सीने, वह ज़बरदस्त भुज-दण्ड, वह डील और डौल कि देखिये तो देखते रह जाइये! महीन कुरते के भीतर से उनकी कसरती देह का वैभव मानो फूटा पड़ रहा था। एक-से-एक वह बाँका तगड़ा जवान था कि तस्वीर के लायक़। यह भी यथार्थ महत्त्व है।

लेकिन सुनिये। उस क़िले-सी बिल्डिंग के मालिक हैं एक सेठ, जो देह में मुझसे कम हैं। अक़्ल में तो ज़रूर ही ज़्यादा होंगे; क्योंकि सेठ हैं। मालिक से नहीं जानता कि क्या मतलब लेना चाहिये। यों तो हाथ से वह एक ईंट नहीं उठा सकते। रोटी का कौर उठाते उनके हाथ काँपते हैं। फिर भी, मानो जादू से उस पहाड़-से दैत्य के भाग्य की कुंजी उनके हाथ है। वह सेठ कुछ सनकी आदमी हैं। सनक पर लाखों उड़ा दिये हैं और उड़ा सकते हैं। सो आप समझिये कि वह लाखों टन की पर्वत-सदृश कायावाली हवेली सेठ की सनक पर खड़ी है। उठे सनक, कि वह इस हाथ से उस हाथ ही नहीं हो सकती; बल्कि एकदम भूमिसात् हो सकती है! उस सारी भीमकायता की कल है उस सनकी-से आदमी के सेठ होने और हो सकने में। यह है लाखों टन के ईंट-पत्थरवाले यथार्थ की यथार्थता। उससे भी आगे जायँ, तो उस यथार्थता में और भी विचित्र भेद निकलेंगे। कहीं बदल जाय विनिमय की दर, या मानो समाज की रचना और हमारे ख़याल ही बदल जायँ, तो हमारे सेठ का सेठपन भी एकदम ग़ायब हो जाय। और कारोबार सब चौपट दीखे। तब फिर क्या हो जायगा उस पथरीली हवेली का नसीब, कौन जाने। यह है यथार्थ की महत्ता का सार।

और उन बड़े-बड़े पहलवानों की हक़ीक़त भी देखिये। चले आ रहे हैं, दूर से, ऐसे मस्त कि वाह! जानें वही हों, शेष हो हेच। लेकिन पीछे मालूम हुआ कि दंगल में कइयों को तो एक ज़ीन की लंगोटी जंट साहब की धर्मपत्नी ने इनाम में दी थी और आने-जाने का ख़र्च भी मिला था। और हाल यह भी देखा गया कि साहब के बंगले का चपरासी दसियों पहलवानों को एक साथ इधर-से-उधर खदेड़ रहा था। सो यह उस दूसरे यथार्थ के महत्त्व की यथार्थता!

फिर भी यथार्थ को कोई कम न माने। आपमें से कोई उस पत्थर की बिल्डिंग के कोने से अपना सिर टकराकर या कि पहलवान से बदकर देख सकता है। मैं विश्वास दिला सकता हूँ कि आप में से किसी की उस मुक़ाबले में ख़ैर नहीं है। इससे उन दोनो की यथार्थता अपनी जगह पर होकर इस लेख की यथार्थता से कहीं बढ़कर है, यह असंदिग्ध सत्य है। उसे चुनौती देना संकट बुलाना होगा।

पर हम देख लें कि हरेक यथार्थ के व्यक्त रूप के भीतर कुछ और अव्यक्त यथार्थता निवास करती है। व्यक्त की हद है, अव्यक्त का पार नहीं। जहाँ तक हम जाते जायँ, उससे आगे भी जाने का अवकाश है। यथार्थ की यथार्थता में तह पर तह हैं। छीलते जाओ, छीलते जाओ, और भी छीलते जाओ। थक तुम्हीं जाओ तो जाओ, यथार्थता एक कण की भी नहीं चुकेगी। अतः हद हममें ही है, यथार्थमात्र बेहद है।

इस तरह जो दीखता है, उसका भरोसा नहीं किया जा सकता। क्योंकि हम सब नहीं हैं। हमारी आँखें समूचेपन को देखकर ख़त्म नहीं कर सकतीं। फिर हमारे ही पास चाम की आँखें हैं, तो उसके आगे बुद्धि की आँखें भी हैं। और मन की आँखें भी हैं। सब आँखों का यथार्थ अलग-अलग है। आँखों से स्थूल दीखता है; लेकिन मन सूक्ष्म भी अनुभव करता है। आँख पर अपना बोझ डालकर चलनेवाली बुद्धि मन के अनुभव को आदर्श कहकर अ-यथार्थ ठहराने की कोशिश कर सकती है। लेकिन हमने जान तो लिया कि यथार्थता की हद कहीं खिंची हुई नहीं है। साबित कर देने या साबित न कर सकने में ही सचाई का खात्मा नहीं है। झगड़ा अहंकार में ही संभव है। और जहाँ दो बुद्धियाँ झगड़ती हैं, वहाँ खेल अहंकार का है यह निश्चित मानना चाहिये। झगड़ा यथार्थ और आदर्श में नहीं है। असल में वह कहीं भी नहीं है। झगड़े का बीज सदा मन की खोट में है।

लेकिन प्रश्न होगा कि तो क्या सब झूठ सच है और सब सच झूठ? क्योंकि अगर यथार्थ के नाम पर यथार्थ हम किसी को कह ही न सकें और सब तरह का अ-यथार्थ (मिथ्यात्व) आदर्श के नाम पर चलने दिया जाय, तो क्या ऐसे कुछ भी काम चल सकता है?

बेशक, नहीं चल सकता। और काम को ज़रूर चलना चाहिये। काम के रुकने के हम पक्ष में नहीं हैं। लेकिन यथार्थ के संबंध में आग्रह छोड़ देने से सब काम रुकने की नौबत आ जानी चाहिये, यह हमारी समझ में नहीं आता। अगर मैं किसी दूसरे को ग़लत साबित करने का पेशा नहीं पकड़ूँ, तो इस तरह जगत्-कर्म में कौन-सी त्रुटि उपस्थित हो जायगी; यह मुझे स्पष्ट नहीं होता है।

हाँ, कुछ तो ज़रूर कमी होगी। वह यह कि बुद्धि-जीवी विद्वानों को (और बुद्धि से

कौन रीता है!) अपने समर्थन और गर्व का मौक़ा शायद उस तरह कुछ कम रह जायगा। लेकिन मैं तो समझता हूँ कि यह उपकार की ही बात होगी। काम का जहाँ तक मतलब है, वहाँ तो यह बड़े क़ाम की बात होगी। बहस कम होगी; लेकिन इस तरह असल काम तो बढ़ेहीगा। विद्वान्-लोग विद्वत्ता के अलावा भी कुछ काम करने को तब ख़ाली हो सकेंगे। विद्वान् के साथ तब वह मेहनती भी हो सकेंगे।

इसलिए अ-यथार्थ दीखनेवाले सभी-कुछ को आदर्श शब्द के अंतर्गत रहने देने की इजाज़त से और चाहे कुछ हो, कर्म की हानि तो हो नहीं सकेगी। और यदि उससे काम में गड़बड़ पड़ने की संभावना है भी तो तभी जब कोई दूसरे के आदर्श को अपने यथार्थ से नापेगा, और अपने आदर्श का आरोप दूसरे पर करना चाहेगा। सब अपनी बुद्धि के अधिकारी होने के कारण दूसरे की बुद्धि के अनधिकारी होंगे। इससे असंख्य यथार्थ और असंख्य आदर्श होने से भी बाधा नहीं होगी।

यह हमारे सामाजिक प्रश्नों के समाधान के लिए मूल दृष्टि होनी चाहिये। सबका स्वत्व अखंडित रहे। आतंक असंभव हो जाय। धन का आंतक, बुद्धि का आंतक, पद का या शक्ति का आतंक। आतंक सब एक-से हैं। वे विकास को रोकते हैं। जब कोई अपनी बात दूसरे से मनवाना ही चाहता है तब मानो वह दूसरे की बुद्धि को आतंकित करना चाहता है।

'यथार्थ' और 'आदर्श' इन शब्दों का प्रयोग करके अपने पक्ष को पुष्ट और दूसरे पक्ष को हीन दिखलाने की कोशिश आंतकहीन नहीं कही जा सकती। वह विवेक की और विज्ञान की पद्धति नहीं है। वह मानसिक आतंकवाद की पद्धति है। प्रचारवाद आधुनिक आतंकवाद है।

पर प्रश्न हो सकता है कि आदर्श की क्या मर्यादा है? अज्ञेय और अप्राप्य कहकर क्या आदर्श अनाचार और अनिष्ट को भी सहारा नहीं दे सकता है?

यह प्रश्न आज, बहुत महत्त्व-पूर्ण है। साध्य की लगन क्या साधन को औचित्य दे सकती है? आदर्श के नाम पर क्या सब कुछ किया जा सकता है? आदर्श विविध हो सकते हैं। घोष बदलते रहते हैं। वे घोष हमेशा अच्छी संभावना को लेकर बनते हैं। लेकिन क्या अच्छे घोष को लेकर उसके तले सब करने की छुट्टी मिल जाती है? क्या घोष काफ़ी समर्थन है, और व्यक्ति की नीयत सब कर्मों को उचित बना सकती है।

मेरा ख़याल है कि ठीक यही जगह है जहाँ नियम और नीति आवश्यक होकर आते हैं।

साध्य और आदर्श के बारे में तो बहस हो नहीं सकती। मुझे जहाँ से, जिससे, जैसे प्रेरणा मिले, वैसे लेने को मैं स्वतंत्र ही नहीं हूँ, कर्तव्य से बाध्य भी हूँ। उसी के प्रति मुझ में आदर्श-भावना हो सकती है। उस पर दूसरे का या समाज का, कोई बंधन नहीं। उस पर मैं चाहूँ तो ही विचार-विनिमय हो सकता है मैं न चाहूँ तो किसी को उसमें दख़ल देने का सामर्थ्य नहीं है। इस तरह आदर्श सब ठीक मानने होंगे। बेशक उन पर कोई मर्यादा नहीं हो सकती। कल्पना पर कब कोई सीमा चढ़ाई जा सकी है? वैसा करना मनुष्य को पंगु बनाना होगा। यह तो ब्रह्म के साथ उसके ऐक्य-भाव को चुनौती देना ही हो जायगा। यह अधर्म होगा। व्यक्ति किसी भी आकार को अथवा कि निराकार को पूज सकता है। किसी के मन की मूर्ति

नहीं तोड़ी जा सकती। और कोई एक मूर्ति सब मनों में बलात् धँसाई नहीं जा सकती। वह प्रयास बचपन है।

लेकिन साध्य पर जब कि मैत्री-भाव से की गई चर्चा के अतिरिक्त और किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी का अवकाश नहीं है, तब साधनों के बारे में वह स्वतंत्रता किंचित् भी नहीं है। यहाँ व्यक्ति व्यक्ति नहीं, वह समस्त का अंग और समाज का सदस्य हो आता है।

व्यक्ति जहाँ सामाजिकता को छूता है, वहीं उसके व्यक्ति-धर्म पर मर्यादा आ जाती है। व्यक्ति का कर्म मात्र सामाजिक है। इस लिए साधन का प्रश्न हमेशा ही विचारणीय बनता है।

हम असामाजिक नहीं हो सकते। किसी आदर्श के लिए भी नहीं हो सकते। इससे धर्म चाहे अनेक हों; पर समाज-धर्म (Morals) को सब पुष्ट ही कर सकते हैं। जो नीति (मोरल्स) को स्खलित करता है, वह धर्म नहीं है। फिर चाहे उसका कुछ भी नाम हो, उसका विरोध ज़रूरी है।

पर आज धार्मिक आदर्शों के मामले में इस मर्यादा को हम पहचान भी जाते हैं। लेकिन राजनीतिक आदर्शों को लेकर उन मर्यादाओं को भूल जाना हमारे लिए बहुत सहज हो गया है! स्वराज्य या देश-प्रेम या देश-रक्षा या दायित्व-रक्षा या जातीय विशिष्टता अथवा और इसी तरह के शब्दों को लेकर मानो हम मानव-समाज-धर्म की मर्यादाओं से छुट्टी पाने के अधिकारी हो जाते हैं!

राजनीति में आज चारो तरफ़ क्या हो रहा है? इस देश में या परदेश में, आदमी और आदमी में क्या द्वेष-भावना को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है? मानो कि साध्य को जैसे बने साधना ही पुरुषार्थ है, शेष सब कुछ व्यर्थ है। मुझे कहना है कि यह भयावह है!

और इस सबके लिए तर्क प्रस्तुत होता है कि आदर्श तो आदर्श है। लेकिन यथार्थ की अपनी कठिनाइयाँ हैं। हम समूचे विश्व में शांति चाहते हैं; आदमी और आदमी को भाई बना हुआ देखना चाहते हैं। लेकिन वर्तमान की यथार्थता को बिना देखे कैसे चला जा सकता है? आदर्श स्वर्ग से उतरकर नहीं आता न। सो हम जो हिंसा करते मालूम होते हैं, वह इसी लिए कि हमारा और तुम्हारा शान्ति का आदर्श एक रोज़ यथार्थ हो आये। हम कवियों की तरह स्वप्न से संतुष्ट नहीं हैं, हम यथार्थवादी हैं। इसलिए घृणा को, द्वेष को, हिंसा को भी हम इस्तेमाल करने से परहेज़ नहीं कर सकते। यथार्थ यथार्थ है। आदर्श आदर्श है। आदर्श में हम एक हैं। पर यथार्थ—भई, वह तो राजनीति की चालें हैं। इत्यादि।

तो मैं कहूँगा कि ऐसा कहनेवाले अपने को छलते हैं। शब्दों से छल में सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। जो करो, खुलकर कर सकते हो। पर लाख छल से आदर्श और यथार्थ में, साध्य और साधन में, प्रतिकूलता नहीं डाल सकते। कर्म और फल में अंतर नहीं है। कारण और कार्य में भेद नहीं है। जो बोओगे, वही उगेगा। कहने से नहीं, आम बोने से आम मिलेगा। और काँटे बोओगे, तो स्वप्न कुछ रखो, मिलेगा काँटा।

सो हमारे लिए यथार्थ ही आदर्श हो। आदर्श में ही हमारी प्रतिज्ञा की यथार्थता हो। दोनो में विरोध जहाँ है, वहाँ धोखा है ही। दोनो का अंतर हमारी संभावना और वेदना हो, और उस अंतर को पाटने के लिए हमारा समूचा कर्म हो। अन्यथा तो शब्द हमारे लिए

जाल हो जायगा। और हम उसके चक्कर में पड़कर आदर्श के सपने में चलते-चलते भ्रष्ट भाव से कहीं गड्ढे में मुँह के बल ही गिरेंगे।

आदर्श की तो असल में बात ही नहीं की जा सकती है। वह मन में बसा रखने के लिए है। वह कहीं समाप्त नहीं है। इसलिए आदर्श काल के अंत से भी आगे है। पर जितनी आदर्शवाली नक्शेबंदियाँ हैं, सब कल्पित हैं। हिन्दू का स्वर्ग, मुस्लिम का बहिश्त, साहित्यिक का नन्दन-कानन, समाजवादी का अपना नक्शा या और किसी मतानुयायी का अपना स्वप्न—सब ठीक है, जहाँ वह मन में उद्‌भावना जगाते हैं। आग्रह पर वही बंधन हो जाते हैं। इससे आदर्श का उपयोग तो बहुत है। वह एकदम अनिवार्य है। लेकिन बातचीत और प्रचारवाला आदर्श अर्थात् काम का आदर्श यथार्थ से भिन्न नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से, आदर्श का कोई 'वाद जो कि यथार्थ के किसी 'वाद से भिन्न है, नहीं हो सकता। और यथार्थ का 'वाद तो अपने में असंभव ही है। सच यह है कि शब्द सब जायज़ हैं अगर उन पर वैज्ञानिकता का आग्रह न डालकर उन्हें केवल समझ-बूझ के लिए और हार्दिक आदान-प्रदान के लिए व्यवहार में लाया जाय। रूढ़ बनाना शब्द का इष्ट नहीं है। और जब किसी शब्द में हृदय कम और रूढ़ प्रतिपादन अधिक ध्वनित होने लगे, तब उस शब्द की शक्ति विकृत हो जाती है। उस समय उससे सावधान रहने की आवश्यकता है।

आज के दिन यथार्थ और आदर्श इन शब्दों को लेकर हम अपनी सावधानता न खोदें। जाने कैसी-कैसी हवाएँ आ रही हैं और आयँगी। लेकिन वे हवा हैं। अख़बारों और आंदोलनों की लहर पर शब्द कुछ ऊँचे चढ़ेंगे, वे नारे बनकर उठेंगे। लेकिन लहर से डरना डूबना है। जिसे लहर में दिशा देखनी है, या उसे दिशा देनी है, वह शब्दों को चिन्ह मानेगा, प्रतीक मानेगा। काम में उन्हें भी ले लेगा। पर असलियत को मानो समूचे जीवन के ज़ोर से अनुभव करने का वह यत्न करेगा। और क्या प्रचलित शब्दों के सहारे या क्या उनके बावजूद, वह उस असलियत के प्रति अपना ईमान क़ायम रखेगा।

दिल्ली, २६-१२-'३८।

मनुष्य—यह !

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

(श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कहानियाँ बड़ी मार्मिक होती हैं। वे निशाने पर अचूक जा बैठती हैं। आपकी प्रस्तुत कहानी एक मनोवैज्ञानिक चित्रण है। इसमें कमजोर इन्सान के मनोभावों का गहरा चित्रण है। श्री 'अश्क' की कहानियों में परिवार के जो निकटतम चित्र होते हैं, उनका इस कहानी में अच्छा उदाहरण मिलेगा।—सं०]

अपनी पत्नी की मृत्यु के चौथे रोज़, जब पं० परसराम श्मशान से फूल चुनने के बाद मुहल्ले की धर्मशाला में आकर बैठे तो उस समय उनके मन में असीम वैराग्य उत्पन्न हो उठा था। उस समय ही क्यों, पत्नी उनकी जब से ही बीमार पड़ी थी, और जब ही उन्हें मालूम हुआ था कि डाक्टरों, हकीमों और वैद्यों की दवाएँ और उनकी मा के देवी-देवता, पीर-फ़क़ीर, सब उसे काली मौत के मुँह से न बचा सकेंगे, तभी से एक अज्ञात वैराग्य उनकी नस-नस में समाया जाता था।

प्रातः का अँधेरा अभी क़ाफी गहरा था। लोग चुपचाप आकर दरी पर बैठ गये थे। धर्मशाला के मन्दिर का पुजारी भी मन्दिर के चौतड़े को धोने का काम छोड़ चुप-चाप शोक प्रकट करने के निमित्त आ बैठा था, परे दरवाज़े पर लालटैन, जैसे अपनी अन्तिम साँसों को भरसक रोककर प्रकाश देने का प्रयास कर रही थी; तेल शायद समाप्त हो चुका था, और उसका मद्धम प्रकाश, अंधकार की गहराई को और भी व्यग्रता से प्रकट कर रहा था।

पं० परसराम ने दीर्घ निश्वास छोड़ा। चाहा उन्होंने कि यह अँधेरा उन्हें भी चुप-चाप लील जाय, उसी तरह निगल जाय जैसे मृत्यु का अंधकार उनकी पत्नी को निगल गया था। गर्म कम्बल उनके कंधों से खिसककर धरती पर आ रहा था। क़मीज का गिरेबाँ खुला था; पर शरीर में तीर की भाँति चुभ जानेवाले शीत का उन्हें लेश भी ज्ञान न था। उनकी तो मानो चेतना ही सन्न हो गई थी।

नाई ने कहा—यजमान, उठकर हाथ दे दो !×

परसराम अन्यमनस्क भाव से कम्बल को सम्हालते हुए उठे। खोये-खोये-से धर्मशाला

× चौथे के रोज़ जब श्मशान से अस्थियाँ चुनने के बाद लोग आकर बैठते हैं तो फिर उन्हें अपने घर जाने की आज्ञा देने को हाथ देना कहते हैं।

के दरवाज़े पर आ खड़े हुए और उपस्थित लोगों की ओर उन्होंने हाथ बढ़ा दिया। तब सबको सुनाई देनेवाली एक लम्बी साँस के साथ, मानो उम्र-भर के अनुभवों से दबी हुई कमर को लेकर ला० राम लुभाया उठे और कुछ समीप आकर उन्होंने कहा—देखो बच्चा, अब ग़म को छोड़कर आगे की चिन्ता करो, यह संसार तो ऐसे ही चलता है।

इस 'आगे की चिन्ता' में जो संकेत निहित था, उसे समझकर परसराम का हृदय ग्लानि से भर आया और उन्होंने उपेक्षा से मुँह फेर लिया।

ला० राम लुभाया फिर लम्बी साँस लेकर चल पड़े और उनके बाद दूसरे लोग एक-एक करके शोक प्रकट करते हुए उनके पास से गुज़रने लगे :

'भाई, मौत के आगे क्या चारा है, अपने मन को शान्ति दो और अपना घर दर बसाओ।'

'संसार में आना-जाना तो लगा ही है पंडितजी, इस तरह दुःख करके आदमी कहाँ तक जी सकता है ?'

'मा के बुढ़ापे का ख़याल करो भाई, और कोई ऐसी सबील करो जिससे उसे भी सहारा मिले।'

'पण्डितजी, आपकी अभी उम्र ही क्या है, इस उम्र में तो हमें खाने-पहनने तक का भी ज्ञान न हुआ था।'

जब शोक-पूर्ण शब्दों के साथ प्रायः प्रत्येक पड़ोसी के कुछ ऐसे ही वाक्य उनके कान में पड़े तो पं० परसराम का विषाद और भी गहरा हो गया। और जब सबके चले जाने के बाद वह नाई के साथ मिलकर दरी उठाने लगे और नाई ने एक खिसियानी-सी मुस्कराहट के साथ कहा—यजमान, वे तो देवी थीं, दया-धर्म का जैसा उन्हें ज्ञान था, वैसा किसे होगा ! और फिर दरी लपेटते-लपेटते यह देखकर कि उसकी बात से यजमान के चेहरे पर एक बादल-सा होकर गुज़र गया है, नाई ने कहा—उन जैसी देवी तो यजमान, अब कहाँ मिलेगी ; पर यदि आप हाँ करें, तो सुन्दर, शिक्षित, घर के काम-काज में चतुर...

परसराम रूखी हँसी हँसे और—हाँ, हाँ, क्यों नहीं ! कहते हुए कम्बल को लपेट, अँगोछा कंधे पर रख, जैसे अंगारों पर से गुज़रते हुए घर को चल पड़े।

× × ×

दुपहर को ऊपर छत पर धूप में आरामकुर्सी डाले वे चुपचाप पड़े थे और सुबह की बातें एक-एक करके उनके कानों में गूँज रही थीं— आगे की चिन्ता करो...घर-दर बसाओ...मा के बुढ़ापे को सहारा मिले, ऐसी सबील करो...अभी आपकी उम्र ही क्या है ? और सोच रहे थे वे कि ये लोग कैसे शुष्क और हृदयहीन हैं ? कैसे यह किसी की अस्थियों पर बैठकर विवाह की बातें कर सकते हैं ? यह संसार कितना स्वार्थी है ? हृदय नाम की वस्तु इसके यहाँ कितने कम परिमाण में मौजूद है ?...तभी उन्होंने सुना, सीढ़ियों पर उनकी मा, इस अपने बुढ़ापे को, इन न ख़त्म होनेवाली निगोड़ी सीढ़ियों को कोसती, चढ़ी चली आ रही हैं।

मा जब पास आकर बैठ गईं और साँस को उन्होंने ठीक कर लिया और बीमारी के दिनों में परसराम ने बहू की जो सेवा की और जिस-जिस तरह अस्पताल में उसे रखा और जिस तरह पैसा पानी की तरह बहाया, उन सबका ज़िक्र करके, जब अन्त में दो आँसू भी बहा लिये, तो कहने लगीं कि बेटा जो बना है, अवश्य टूटेगा, इस जग में और किस चीज़ को स्थायित्व है

कि मनुष्य ही अमर रहे। यदि आदमी इस तरह चुप बैठ जाय तो फिर संसार के काम कैसे चल सकते हैं। और फिर एक लम्बी साँस लेकर उन्होंने गली बालमातावाले पं० दीनदयाल की चाची का ज़िक्र छेड़ा कि बेचारी बड़ी भली हैं, जब से पति की मृत्यु हुई है, उन्होंने भूलकर भी उजला कपड़ा नहीं पहना। अपने मन को उन्होंने घर के काम-काज और साधु-सन्तों की संगत में लगा दिया है और धर्म-कर्म की तो मानो वे मूर्ति हैं। और फिर बोलीं कि उनका भतीजा दीनदयाल तो बड़ा ही भला मानुस है, बिजली की कम्पनी में हेड क्लर्क है, दो सौ वेतन पाता है, अपनी चची को वह मा की तरह मानता है, उस बेचारे के कोई सन्तान नहीं। ले-देकर एक ही लड़की भागवन्ती है जो अपने पिता की धर्मपरायणा चची के चरणों में बैठकर घर के काम-काज और धर्म-कर्म के कामों में दक्ष हो गई है।...

तभी आकाश में कहीं से एक कटा हुआ पतंग असहाय-सा, बेबस-सा, इधर-उधर डोलता, क्षण-प्रतिक्षण नीचे गिरता उन्हें दिखाई दिया। जिधर को वह जा रहा था, उधर ही उनकी दृष्टि भी जा रही थी और उनकी मा उस समय यह जानकर कि उनका लड़का दत्तचित्त होकर सुन रहा है, सोल्लास भागवन्ती के रूप-गुण का बखान कर रही थीं। सहसा एक झपकी खाकर पतंग दूर किसी मकान के आँगन में जा गिरा।—पं० परसराम ने लम्बी साँस ली। मा तब तक कह रही थी कि बच्चा दीनदयाल की चची ने तो कहा था कि यदि परसराम माने तो भागवन्ती...

तब पं० परसराम ने सहसा उन आँखों से मा की ओर देखा, जिनमें सफ़ेदी होने पर भी आग बरस रही थी और एक बार उनके मुँह से निकला—मा! उनकी कल्पना के सम्मुख तब उनकी सास का उदास और विवर्ण मुख फिर गया। कितनी मिन्नतों, कितनी प्रार्थनाओं के बाद एक-एक करके सात बच्चों को मृत्यु की गोद में सुलाने के बाद, उसने यह लड़की पाई थी। उसे अपने पति के साथ सुखी देखकर ही वह अपने सारे अभाव को, अपने बच्चों के निधन को, अपने पति की मृत्यु को, सब दुःख को भुलाये हुए थी। अपनी लड़की और दामाद को देखकर ही वह जीती थी; पर आज वह भी न रही! अपनी सास के दुःख का ख़याल करके परसराम सिहर उठे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि धर्म का जो नाता एक बार स्थापित हो गया, उसे वे कदापि न टूटने देंगे। उसे सान्त्वना देंगे, उसे तसल्ली देंगे, कहेंगे कि क्या हुआ यदि उसकी लड़की मर गई, उसका लड़का तो है। आख़िर दामाद और लड़के में अन्तर ही क्या है? वे उसके चरणों पर सिर रख देंगे और कहेंगे कि मा, तुम्हारा यह लड़का तुम्हारी हर सेवा के लिए हाज़िर है।

यह सोच वे उठे, सुसराल उनकी नगर ही में थी, चुपचाप वे उधर को चल पड़े।

× × ×

ड्योढ़ी में स्त्रियों के दायरे में बैठी उनकी सास अपनी जवान लड़की की मृत्यु पर क्रन्दन कर रही थी, उसे तो आयु भर रोना ही था; पर समाज का भी यह अनुरोध है कि ११ दिन तक उसे दिखाकर रोया जाय। उसके करुण-क्रन्दन को सुनकर परसराम का दिल भर आया, चुपचाप वे ड्योढ़ी के पास जाकर खड़े हो गये। रोना कुछ क्षण के लिए बन्द हो गया। अन्दर जाने के लिए उन्हें मार्ग दे दिया गया। तभी उन्हें पहचानकर एक बुढ़िया ने गहरा निश्वास छोड़कर कहा—बेचारे का इस घर से इतना ही नाता था, अब सूरत तक को भी तरस जायँगे।

दूसरी ने कहा—भला यह कोई बात है, विमला जो है, और तब परसराम की सास से उसने कहा—अपना तो जो जाना था चला गया, बिल्लो की मा, पर घर की आग दूसरे क्यों सेकें?

बित्तो की मा ने केवल एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

परसराम के कानों में भी इन बातों की भनक पड़ी। उन्हें इन दोनो पर दया हो आई। उनके दिल पर जो गुज़र रही थी, उनकी सास के हृदय पर जो बीत रही थी, उसे यह शुष्क, हृदय-हीन बुढ़िया क्या जाने ?

जब स्त्रियों के चले जाने के बाद सास उनके पास आई तो अनायास ही उसकी आँखों में आँसू आ गये ; पर शीघ्र ही व्यस्त-व्यस्त होते हुए बोली—सुबह का काहे को कुछ खाया होगा ? और फिर उसने अपने भतीजे की बहू को बुलाकर कहा कि जल्दी से कुछ बना दो। परसराम ने बहुतेरा कहा कि मुझे भूख नहीं, मैं कुछ न खा सकूँगा ; पर जब सास ने एक लम्बी साँस भरी और दुःखी होकर कहा—कि बच्चा, अब तू कब-कब मेरे घर खायेगा...तो परसराम चुप हो गये, खाना बना तो भूख न होने पर भी वे चुपचाप खाने लगे। सास भी चुपचाप पास आ बैठी। तब अचानक ही उसकी आँखें भर आईं, कण्ठ अवरुद्ध हो गया, घुटे-घुटे स्वर में बोली—इतना ही सम्बन्ध था भाग्य में, मैं तो तुम्हें पाकर निश्चिन्त हो गई थी; पर जिस विधाता ने अपने लड़के ही छीन लिये, वह दूसरे...

परसराम ने विनीत कंठ से कहा—तुम क्या बात करती हो मा। यह नाता इतना साधारण नहीं, इतना कच्चा नहीं कि मृत्यु सूत के तागे की भाँति इसे तोड़ दे।

'दुनिया में यह होता ही आया है बच्चा !'—सास ने कहा।

'दुनिया, दुनिया, मुझे तुमने दुनिया जैसा देखा है !'

सास ने कहा—बेटा, पराई लड़कियाँ तो आकर भाई-भाई में विछोह डाल देती हैं, फिर मेरा तो नाता अब कल की बात हो गई।

'पराई लड़की...'

'हाँ, अन्त को पराई लड़की तो आयेगी ही। अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है बेटा—और फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़कर एक दबे स्वर में सास ने कहा—लोग कहते हैं कि घर की आग घर ही में रहे। विमला है—मेरे जेठ की लड़की, तुमने उसे देखा ही होगा, छोटी-सी ही थी जब अपने बाप के पास गया चली गई थी, पर अब तो बेटा, वह ब्याहने योग्य है, मेरे अगर कोई दूसरी लड़की होती तो क्या मैं तुम्हें जाने देती ; पर अब यही...

परसराम ने कहा—तुम कहती क्या हो मा ?

'सोचती हूँ कि यह रिश्ता हो जाय तो मेरा भी आना-जाना खुला रहे ; नहीं तो पराई लड़की कब...'

परसराम को गुस्सा आ गया। क्रोध से बोले—मा ने यह बात की, चची ने यह बात की, पास-पड़ोस ने यह बात की, कई आँख के अंधे सगाइयाँ लेकर भी आये ; पर मैं चुप रहा। किन्तु तुम—उसकी, मरनेवाली की मा होकर, यही बात करोगी और वह भी उसकी मृत्यु के चौथे दिन ही !—इस बात की मैंने स्वप्न में भी कल्पना न की थी।—क्रोध और भावावेश से परसराम का गला रुँध गया, तभी किसी ने धीरे से कहा—नमस्कार, जीजाजी !

परसराम ने सिर उठाकर देखा। अत्यन्त सुन्दर पर उदास, बड़ी-बड़ी आँखें लिये लज्जा के भार से जैसे सिमटी विमला उनके सामने आकर बैठ गई है।

क्रोध के आवेग में परसराम कुछ और भी कहनेवाले थे, कि रुक गये और हैरान-से विमला की ओर देखने लगे। यह वही विमला है, जिसे उन्होंने आठ वर्ष पहले अपने विवाह

के दिनों में फटी पुस्तकें और कटे बालों को लिये स्कूल जाते देखा था !

'पहचाना नहीं ?'—सास ने दीर्घ निश्वास भरकर कहा—विमला है, तुम्हारी साली !

परसराम ने धीरे से कहा—पहचानता हूँ, अब तो यह सयानी हो गई है।

और विमला का मुख लाल-लाल हो गया।

× × ×

साँझ पड़े जब परसराम लौटे तो उनका हृदय उदास न था, कुछ उत्फुल्लित ही था और रह-रहकर उनकी आँखों के सामने कान्त कामिनी विमला की सूरत फिर-फिर जाती थी। छिः छिः—वे अपने आप पर क्रुद्ध होते चले जा रहे थे ; पर जितना ही वे क्रुद्ध होते, जितना ही उस चित्र को मस्तिष्क से हटाने का प्रयास करते, उतना ही वह और भी गहरा होकर अंकित होता जाता और अनजाने ही वे विमला के गुण-दोषों का विवेचन करने लगते।

वहीं बैठे-बैठे उन्होंने पूछा था—कहो विमला, क्या करती रहीं ? वहाँ, कुछ पढ़ीं भी, या यों ही वक्त गँवाया कीं ?

तब विमला ने कहा था—आठ जमातें पढ़ी हूँ और फिर अपनी रौ में कह चली थी—वहाँ से बहुत कुछ सीखा है जीजाजी। मैंने, चादरों में ऐसे अच्छे फूल निकालती हूँ कि इधर कौन निकालेगा, दुसूती काम नफ़ीस-से-नफ़ीस सीख गई हूँ, इतने किस्म के स्वेटर बुन लेती हूँ कि गिना नहीं सकती, और फिर धोतियों के किनारों से ट्रंकों के गिलाफ बना लेती हूँ, फटे कपड़ों के तागों से आसन बुन लेती और क़सीदा...और परसराम सोचते—ऐसी ही पत्नी तो मैं चाहता हूँ, और तभी अपनी मृत पत्नी के अनेकों दोष उनकी आँखों के सामने फिर जाते—वह कहाँ इतनी चुस्त थी, अनपढ़ और अशिक्षित ! और उसे कहाँ यह सब करना आता था और तभी वे अपने-आपको कोसने लगते। छिः छिः ! यह क्या उचित है ; बित्तो से विमला का क्या मुक़ाबला, उस-जैसा सरल, अबाध प्रेम उन्हें कौन दे सकता है ? लेकिन विमला...

वहीं बैठे-बैठे तब विमला की बड़ी बहन आ गई थी और आँखों में आँसू भरकर उसने कहा था—जीजाजी, बित्तो को कहाँ छोड़ आये ! और वह ऊँचे-ऊँचे रो उठी थी। तब उसका यह क्रन्दन उन्हें बहुत बुरा लगा था। विमला से बातें करते-करते वे एक और ही दुनिया में खो गये थे, और विमला की बड़ी बहन की यह सँवेदना तब उन्हें रुचिकर प्रतीत न हुई थी, यद्यपि आज कई दिन से वे एक-मात्र इसी के सहारे जी रहे थे। अब अपने घर को जाते-जाते अपने इसी व्यवहार के अनौचित्य पर वे खिज-खिज उठे थे। क्या उनके लिए ऐसा करना उचित था, क्या उन्हें इस तरह खो जाना चाहिये था ? अपनी प्रिय पत्नी की मृत्यु के चौथे दिन ही ! छिः छिः !!

अपने-आप से इसी तरह लड़ते-झगड़ते वे चले जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें उनका मित्र चेतन मिल गया चेतन—वह सदैव खुश, सदैव प्रसन्न रहनेवाला कँवारा !

'तुम्हारी पत्नी मर गई।'—चेतन ने ज़रा गम्भीर होकर कहा—मैंने कल ही सुना। और फिर एक ही साँस में कह उठा—देखो, अब शीघ्र ही विवाह के फंदे में न फँसना, कुछ देर आराम करना !

पं० परसराम को उसका यह कथन अच्छा नहीं लगा। विमला का चित्र फिर विद्युत-सा उनकी आँखों के सम्मुख फिर गया, दीर्घ निश्वास लेकर उन्होंने कहा—नहीं, अब क्या शादी करूँगा !

चेतन ने कहा—हाँ अब इस जंजाल में हरगिज़ न फँसना और फिर तुम तो इस

जीवन का आनन्द भी ले चुके हो।

पं परसराम के यह दूसरा घाव लगा ; पर मन के भावों को मन ही में दबाकर कुछ दबे-दबे स्वर में उन्होंने कहा—नहीं, अब शादी क्या करूँगा। मेरी सास मेरी साली के लिए कह रही है, उसके कोई और लड़की भी नहीं। चाहती है कि उधर नाता कर लूँ तो उसका आना-जाना भी बना रहे। और फिर सहसा जोश से कह उठे—पर मैं तो शादी करने का ख़याल भी नहीं रखता, बित्तो की मृत्यु के बाद...

'हाँ-हाँ कहीं भी न फँसना, बिल्कुल न फँसना। आकाश में विचरनेवाले पक्षी की भाँति आज़ाद, स्वतन्त्र !'—और चेतन यह कहता-कहता चला गया। पं० परसराम कुछ परेशान-से वहीं कुछ क्षण खड़े रहे। एक तीव्र अट्टहास की भाँति चेतन के वाक्य उनके कानों में गूँजने लगे।

रात को खाना खाते समय मा ने गली-बालमातावाली पं० दीनदयाल की चाची की बात छेड़ी तो वे चुप सुनते रहे, उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि चेतन की बातों से उनके हृदय पर जो घाव-से लगे थे, उन पर मा की बातें ठंडे मरहम का काम दे रही हैं।

× × ×

सुबह उठे, तो पं० परसराम का सिर भारी था। रात वे बहुत देर तक सो न सके थे। एक द्वन्द्व-सा सारी रात उनके मन में छिड़ा रहा था और प्रातः उठने के साथ ही जैसे ससुराल जाने की एक प्रबल आकांक्षा उनमें जाग उठी थी। विमला की वह सरल, सुन्दर मूर्ति सारी रात उनकी आँखों में घूमती रही थी। शौचादि से निवृत्त हो, नहा-धो, जल्दी-जल्दी खाना खा, कपड़े पहन वे तैयार हो गये। तभी दरवाज़े के ऊपर टँगे हुए अपनी स्व० पत्नी के चित्र पर उनकी नज़र गई। वे खड़े-के-खड़े रह गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे चोरी करने के जाते समय उनका पाँव किसी ने पीछे से पकड़ लिया है। अपना यह कृत्य भयावह रूप धारण करके उनके सामने आ गया। कोट उतारकर खूँटी पर टाँगते हुए वे कुर्सी पर बैठ गये और मन ही मन में इस कृत्य के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के उस चित्र के सामने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी।

इसके बाद वे कई दिन तक अपने कमरे से बाहर न निकले। द्वन्द्व उनके मन में शान्त हो गया हो, यह बात न थी ; पर उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वे उसे शान्त कर देंगे।

इन सात दिनों कई अच्छे-अच्छे घरों से पैग़ाम भी आये ; पर परसराम अपने कमरे से बाहर ही नहीं निकले। मा के पास भी वे नहीं बैठे कि कहीं वह गली-बालमाता वाली—पं० दीनदयाल की चाची और उनकी भतीजी का ज़िक्र न ले बैठें।

क्रिया-कर्म के दिन जब उनकी सास और उनकी बड़ी साली शोक प्रकट करने के निमित्त आईं तो विमला भी उनके साथ थी। तब भी पं० परसराम सामने न आये। क्रिया-कर्म से निबटकर ऊपर अपने कमरे में जा बैठे। जा तो बैठे ; पर जैसे वहाँ से उठकर बाहर जाने के लिए उनका मन व्यग्र हो उठा। विमला आई हुई है, यह बात वे न भूल सके। रह-रहकर उनका मन उठकर खिड़की में जा बैठने के लिए, नज़र-भर विमला को देख लेने के लिए व्यग्र हो उठता। अपने मनको रोकने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। उनकी पत्नी का चित्र अब भी वहीं लगा था। उसे देख अपने-आपको उन्होंने कोसा भी ; पर इन सब बातों के बावजूद जब उन्होंने सुना कि वे सब जा रही हैं तो वे खिड़की में जा खड़े हुए। तभी जैसे विमला ने उधर देखा और निमिष मात्र के लिए उनका हृदय धक-धक करने लगा।

जब वे दूर निकल गईं, तो उन्होंने खिड़की लगा ली और जाकर कुर्सी पर बैठ गये। तब फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई ; पर इस बार वह अधिक देर तक न टिक सकी और उस आराम-कुर्सी पर लेट आँखें बन्द करके वे कल्पना की सुन्दर, सुरम्य वाटिकाओं की सैर में निमग्न हो गये, जिनमें उसकी मुस्कराहट की स्निग्ध धूप खिलती थी, उसकी सुगन्धित केशराशि के परस से भारी होकर हवा चलती थी और उसके मादक स्वर-संगीत को सुनकर सरिता कल-कल बहती थी—विमला, विमला...उन्होंने गुनगुनाया, वे उससे ही विवाह करेंगे।

तभी किसी ने कहा—बित्तो ! और घबराकर उन्होंने आँखें खोल दीं। सामने दीवार पर उनकी स्व० पत्नी का चित्र टँगा था। उन्हें मालूम हुआ जैसे यह आवाज़ वहीं से आई है। दिल धक-धक करने लगा। स्तब्ध बैठे कुछ क्षण वे उस चित्र को देखते रहे, फिर अचानक जैसे कोई दृढ़ निश्चय करके उठे। दरवाज़ा धीरे से बन्द कर दिया और चिटकनी लगा दी। तब मेज़ को वे घसीटकर दरवाज़े के पास ले आये, उस पर कुर्सी को रखा, चढ़े और चित्र को उतार लिया।

कमरे में अँधेरा छा गया था। रौशनदान के शीशों से आनेवाले धीमे प्रकाश में उनकी नज़र दायीं ओर के क़दादम शीशे में गई और उस वक्त उन्हें अपना प्रतिबिम्ब एक प्रेतात्मा की भाँति दिखाई दिया। तभी बढ़कर उन्होंने एक समाचार-पत्र उठाया, तस्वीर को उसमें लपेटा और अन्दर कोठरी में जाकर चार ट्रंकों को उठाकर नीचे के बड़े ट्रंक में रख आये। मेज़ को उसकी जगह घसीट, कुर्सी को उसके ऊपर से उठा, उन्होंने दरवाज़ा खोलकर बिजली का बटन दबा दिया। तब उन्होंने समझ लिया, उस आवाज़ का उन्होंने गला घोंट दिया है।

× × ×

रात को खाना खाते समय, उन्होंने मा से स्वयं ही विवाह की बात चला दी।

मा का चेहरा खिल गया। गली-बालमातावाले पं० दीनदयाल की चाची की बात उन्होंने फिर चलाई। कहने लगीं—बेटा, वे तो आज भी आई थीं। लड़की तो भागवन्ती ऐसे सलीकेवाली, चतुर और बुद्धिमती है कि क्या कहूँ ? न हो तू जाकर एक नज़र देख लेना।

तब परसराम की आँखों में विमला की मूर्ति बैठी थी। सुन्दर चंचल आँखें लज्जा के आवरण में लिपटी रहने पर भी उन्हें निमन्त्रण दे रही थीं। और मा कह रही थीं—

बेटा, कँवारे के तो अढ़ाई पर होते हैं, रिवाज ही ऐसा है, लोग एक-दो महीने तक तो आते हैं, फिर कोई बात भी नहीं करता, मैं यह नहीं कहती कि तू कँवारा रहेगा, पर अच्छे घर-दरवाले तो पूछ-पूछकर हार जायँगे।

अपनी कल्पना में निमग्न परसराम सुनते रहे, जैसे विमला उन्हें बुला रही थी, उन्हें कह रही थी—जीजाजी, तुम्हारे लिए ही तो मैं इतनी दूर से आई हूँ, इतनी दूर से—गया से...

और मा कह रही थी—तुम हाँ करो तो बेटा, मैं कल ही उसे बुलवा लूँ।

परसराम ने जैसे अपने आप 'हूँ' कहा। मा ने समझा, उसके पुत्र को समझ आ गई है और मन उसका फूल उठा। और पुत्र ने समझा कि गया से चलकर आनेवाली उस कान्त कामिनी विमला ने उसे बुलाया है, और वह उसे मिलने ज़रूर जायगा। लम्बी साँस लेकर वे उठे।

दूसरे दिन जब उनकी मा घर के काम-काज से निबटकर गली-बालमाता की ओर अपनी सहेली से मिलने जा रही थी, परसराम एक अत्यन्त सुन्दर, पर सूफ़ियाना सूट पहनकर अपने सुसराल की ओर अग्रसर थे।

× × ×

दिसम्बर का महीना था और आकाश खिला हुआ था। सूरज जो सुबह कंजूस की भाँति अपने धन को आँचल में छिपाये था, अब दोनों हाथों से उसे लुटा रहा था। बड़े दिनों की छुट्टियों में लाहोर में एक विशेष चहल-पहल थी। दुःख को जैसे दबाकर, व्यथा को जैसे भुलाकर, और अपनी विपन्नता को जैसे छिपाकर लोग घूम रहे थे। परसराम को सब ओर एक नयी स्फूर्ति, एक नया जीवन दिखाई दे रहा था। मन उनका जैसे निर्मल आकाश की गहराइयों में उड़ने-वाली चीलों की भाँति पंख फैलाकर उड़ने को हो रहा था और उनका मस्तिष्क सुख के एक नये साम्राज्य का सृजन कर रहा था—जिसके राजा वे थे और रानी थी अनिन्द्य सुन्दरी विमला—तभी उनकी ससुराल आ गई।

सास उनकी आँगन में बैठी सूत अटेर रही थी, वे चुपचाप उसके पास जा बैठे। एक बार उसने अन्यमनस्कता से पूछा—कहो अच्छे हो! और जब उत्तर में उन्होंने कह दिया—आपकी कृपा है! तो वह फिर चुपचाप सूत अटेरने लगी।

पाँच मिनट बीते, दस मिनट बीते ; पन्द्रह मिनट बीते, परसराम के लिए यह वातावरण असह्य हो उठा। खिसियाने-से स्वर में उन्होंने पूछा—तबीयत तो ठीक है?

उत्तर में सास ने केवल एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

पं० परसराम का सारा नशा हिरन हो गया। वे बैठे क्या करें, सास के मुँह की ओर ताकते रहे। वे कुछ भी तय न कर सके। हारकर उन्होंने पूछा—वे सब लोग किधर हैं?

'क्रिया के बाद अपने घर चले गये।'

कृत्रिम हैरानी के साथ परसराम ने पूछा—गया!

'नहीं अभी गया कैसे जायँगे, विमला का विवाह करके ही तब वापस लौटेंगे।'

'तो कहाँ सगाई की?'—परसराम ने जैसे बेपरवाही के साथ पूछा

'यहीं शहर में की है। आज ही शगुन देकर आये हैं, तुम तो माने ही नहीं और उनको वापस भी जाना है।'

शहीदी भाव से वे बोले—मैं कैसे मान सकता, सावित्री की मृत्यु के बाद इतनी जल्दी...

सास बोली—मुझसे तो उन्होंने अनुरोध किया था ; पर मैंने कह दिया भाई, उसके दिल पर बड़ी चोट लगी है, वह न मानेगा इतनी जल्दी...

परसराम ने दिल में जैसे रोते हुए कहा—अच्छा किया, अच्छा किया और प्रणाम करके सास से छुट्टी ली और उठ आये।

घर पहुँचकर वे खटखट सीढ़ियाँ चढ़ गये। मा ऊपर आँगन में बैठी मटरों से दाने निकाल रही थी। उन्हें आते देखकर उसने शिकायत भरे लहजे में कहा—बेटा, तुमने बड़ी देर कर दी, गली-बालमातावाले पं० दीनदयाल और उनकी चाची...

गरजकर पं० परसराम ने कहा—तुम पागल हो गई हो क्या, यदि वह तुम्हारी लड़की होती तो तुम्हें अपने दामाद का इतनी जल्दी शादी कर लेना भाता क्या...और धम-धम पैर रखते वे अन्दर अपने कमरे में जाकर सूट समेत ही बिस्तर पर लेट गये।

मटर की फली मा के हाथ से गिर गई और हैरान-सी भौं-चक्की-सी वह उसी शून्य में देखती रह गई!

लाहौर, २४ दिसम्बर।

[११४

छायावाद की व्यापकता

[गंगाप्रसाद पाण्डेय]

[श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय प्रधानतः कवि हैं । आपने छायावाद और छायावादी कवियों पर समय-समय पर अच्छे विचार-पूर्ण निबंध लिखे हैं । पाठक उनसे अनभिज्ञ नहीं ही होंगे । प्रस्तुत निबंध में भी छायावाद का अच्छा विश्लेषण है ।—सं०]

आजि ए प्रभाते सहसा केनरे
पथहारा रवि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिए
आमार प्राणेर पर
बहुत दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा !
—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रीति-काल की बाह्य-सौन्दर्य-प्रधानता, अभिसारिका-मुग्धा-नायिकाओं की अनेकात्मकता तथा उनके बाह्य-शृङ्गार, अङ्गराग, केश-कलाप, आदि से उत्पन्न उद्दाम शारीरिक वासना से भक्ति-काल की मुरली-माधुरी की पवित्रता और मर्यादित-जीवन की सदाचारिता पंकिलता की गोद में शयित हो गई । कबीर की सान्त-अनंत-मिलन की साधना से प्रफुल्ल हिन्दी-काव्योपवन विलासिता की श्यामलता में एक अन्धकार-ग्रस्त कन्दरा बन गया । तुलसी की कला से संजीवित तथा सूर की अनन्य-हृदयता से निर्मल कविता-कामिनी का सहज-सुन्दर शरीर बनावटीपन (Artificiality) से जकड़ दिया गया ।

इसी अन्धकारमय क्षितिज पर सहसा एक निर्मल-ज्योति की प्रभा अवतरित हुई । कविता-सुन्दरी अपने बन्धनों से मुक्त होकर इस 'आंधार सलिले' में जीवन की, परिवर्तन की, तथा प्रतिभा की एक ज्योति-किरण लेकर आई । उसमें अतीत का हास-रुदन था, वर्तमान का उत्थान-पतन था और था भविष्य के प्रति एक प्रकाशमय सन्देश । जीवन-सी स्वच्छन्द तथा आत्मा-सी निर्लेप यह किरण उदित हुई थी ; किन्तु पार्थिव-अस्तित्व में रहकर वह निर्लिप्त नहीं रह सकी—वह भी 'छायावाद' नाम के बन्धन में बँध गई । आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रग-रग

में इसी 'छायावाद' नाम की जीवन-ज्योति का उदात्त प्रवाह है ; इसी क्रान्ति-शील किरण का मधुर प्रकाश है।

छायावाद की कविता हमारे आस-पास के संसार की इतिवृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करती है। इतिवृत्तात्मकता कविता की सामग्री नहीं; वह कविता की अपेक्षा विज्ञान के अधिक समीप पड़ती है। इसी प्रकार जीवन-स्पर्शिता विज्ञान का प्राण नहीं, वह भाव के सुरम्य देश की ही निवासिनी है। इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य-सौन्दर्य से है ; आन्तरिक तथा सूक्ष्म के सौन्दर्य से नहीं। इसी के विपरीत छायावाद का सम्बन्ध आन्तरिक सौन्दर्य तथा सूक्ष्म आत्मा से है। बाह्य-सौन्दर्य-साधनावाला कवि एक फूल के सर्वाङ्ग का ही वर्णन करेगा ; किन्तु जीवन का छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनायेगा, जो उसकी आत्मीयता तथा उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है।

छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग स्थापित करने की साधना करता है। यही कला के रहस्य की खोज है, उसका स्पष्ट उद्घाटन है। इस स्थिति पर पहुँचकर कवि अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत् के संगीत सुनने लगता है। यह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषाद-पूर्ण ; परन्तु सदा नवीन ही बना रहता है। संसार का कण-कण इसी स्वर-लहरी के मधुर पाश में परस्पर बँधा है ; किन्तु हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और उस चैतन्य के बीच, एक गहरा आवरण पड़ा हुआ है, जिससे हम उसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने इस सूक्ष्म का रहस्योद्घाटन किया ; उनकी हृत्तन्त्री बरबस झंकृत हो उठी—

हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौनसा तुझमें ?
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें !
हृदय तू बना है जलनिधि, लहरियाँ खेलती तुझमें !
मिला अब कौनसा नवरत्न, जो पहिले न था तुझमें ?

कण-कण में अनुप्राणित रागिनी की स्वर-लहरी एक बार रवीन्द्र के अन्तस्तल में गूँज उठी थी। भोला कवि इस रहस्य को नहीं समझ सका। वह अपने हृदय की ओर मुड़कर प्रश्न करता है—

बाजिलो कहार बीना मधुर स्वरे !
आमार जीवन निभृत परे
जागि उठे सब शोभा सब माधुरी,
पुलक पुलक हिय मुदित तरी

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक जगत बुद्धिवाद तथा भौतिकवाद का उपासक है। भौतिकता मनुष्य की अभिवृद्धि कर सकती है, विकास नहीं कर सकती। आज मानवात्मा संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुःखों से जर्जर होकर, अविकसित अवस्था में पड़ी हुई है। इस

समय उसको यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है जो उसे अतुल शक्ति से सम्पन्न कर बाह्य-प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करने को कटिबद्ध कर दे। इस समय मानव-जीवन अपने बाह्य क्षेत्रों और विभागों को संगठित एवं असीमित कर, अपने आंतरिक जीवन से उदासीन होता जा रहा है; इतिवृत्त का उपासक बनकर मानव अपनी आत्मा को एक नवीन कारा निर्मित कर रहा है। छायावादी कवि अपने अस्तित्व का बलिदान इसी उदासीनता के विनाश तथा कारा के परिवर्तन की वेदी पर कर देता है। वह विज्ञान की बाह्य-सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव-समाज को आंतरिक जीवन दिखलाने का प्रयत्न करता है। अपनी अन्तर्दृष्टि से वह जग-जीवन के मर्म में प्रवेश करता है और अपनी आत्मा की साधना से अन्तर्जीवन का ज्योतिमय चित्र प्राप्त करने में सफल होता है। इसी को वह मधुर स्वरूप देकर, स्वर-लहरी की माधुरी से परिप्लावित कर पथ-भ्रान्त, विवश, परिश्रान्त मानवात्मा के सम्मुख रख देता है—

आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है, लहर लहर है,
गति गति, सृति सृति चिर भरिता। —पंत

उपर्युक्त विवेचना से कदाचित् रहस्यवाद को ही छायावाद समझने का भ्रम हो सकता है और वास्तव में दोनो एक दूसरे के इतने निकट और एक दूसरे के इतने समान हैं कि बिना दोनो के बीच एक विभाजक रेखा बनाये उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत हैं, उसका दृष्टिकोण सांसारिक-दृष्टि से उदासीन पूर्ण आध्यात्मिक है। छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है, वह केवल आत्मा और जगत के ही प्रदेश में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार Matter of fact के आगे की चीज़ छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज़ रहस्यवाद है। छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं, तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किन्तु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतन का विकास या आभास पाते हैं, तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी। यही रहस्यवाद और छायावाद का एक छोटा सा अन्तर है। फूल और कलियों में रहस्यवादीजीवन का कम्पन नहीं; किन्तु अपने प्रियतम की रूप-माधुरी देखता है—

सुमन में तेरा मधुर विकास
कली में नव-नव अस्फुट हास,

इन्हीं सुमन और कलिका को छायावादी कवि आत्मा की समान लहर से अनुप्राणित पाकर सप्राण समझ लेता है। वह उनसे मधुरालाप करने लगता है। निर्जीव को सजीव बनाकर उसी का आलिंगन-पाश माँगता है—

गाओ, गाओ कुसुम-बालिके!
तरुवर से मृदु मंगल-गान,

मैं छाया में बैठ, तुम्हारे
कोमल-स्वर में कर लूँ स्नान,
हाँ सखि ! आओ, बाँह खोल, हम
लग कर गले, जुड़ालें प्राण ! —पंत

आधुनिक हिन्दी-काव्योपवन छायावाद के काव्य की मलय-पराग, उसकी कलिकाओं के हास-विलास तथा सुधा-स्राविणी पंचम-तान से इस प्रकार आप्लावित है कि उसमें अन्य प्रकार के कलित-कूजन का कोई अपना स्वच्छंद अस्तित्व ही नहीं रह गया है। जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करती हुई, प्रकृति तथा दृश्य-जगत के सभी उपकरणों को प्रणय-पाश में बाँधती हुई तथा भावों के सभी तारों से माधुरी-स्रोत बिखेरती हुई छायावाद की कविता कण-कण के साथ अपना जीवन-सम्बन्ध स्थापित कर रही है। अतः उसकी प्रगति का एक सवाक् चल-चित्र खींचने के लिए आवश्यक है कि उसके भावों के विषयों पर सरसरी-दृष्टि से विचार कर लिया जाय।

सौन्दर्य

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, यह मन के भीतर की वस्तु है। इसकी पूर्णता के लिए अंतस्सत्ता की तदाकार-परिणति की आवश्यकता है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। सौन्दर्य काव्य का एक प्रधान उपकरण है। छायावाद के काव्य में भी सौन्दर्य अपनी पूर्ण कला में उदित हुआ है। सौन्दर्योपासक कवियों ने सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'नारी' जाति को नाना रंगों के आवरण पहना उसे अनेक कोणों से देखा है। पाश्चात्य-साहित्य में चित्रित Neo-Platonic सौन्दर्य-चित्रों की मात्रा हमारे काव्य-कानन में भी उद्भासित हुई। अंगरेजी का सुप्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि शेली (Shelley) अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करने के पहले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष समझता था। उसकी सम्मति में जो ज्ञानालोक सुन्दर और अमर है उसकी क्षणिक आभा नारी में दिखाई देती है। मानवात्मा नारी-रूप की उपासना कर ही, क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य के दर्शन करने में सफल-मनोरथ हो सकती है। शेली के 'प्रोमीथियस' के लिए 'Asia' उसके जीवन का आलोक एवं अदृश्य सौन्दर्य की छाया है—

"Asia thou light of life,
Shadow of beauty unbeheld;"

इसी की प्रतिमूर्तिमय भावना से पूर्ण सौन्दर्य-चित्र छायावाद के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पन्त की तूलिका से चित्रित हुआ है। कवि की प्रेयसी कवि की आत्मा को प्रकाशित करने वाली ज्योति है। वह पार्थिवता का आभूषण नहीं; किन्तु प्रकृति की दुलारी नैसर्गिक रूप की रानी है—

अरुण अधरों का पल्लव-प्रात मोतियों-सा हिलता हिम-हास;
इन्द्रधनुषी-पट से ढक गात बाल-विद्युत का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अङ्गों का मधु मास;
तुम्हारी छवि का कर अनुमान प्रिये, प्राणों की प्राण !

पंतजी का उपरि-लिखित कवितांश पथ-भ्रांत नवयुवक छायावादी कवियों के आदर्श-रूप में रखने के योग्य है। यदि मानव का हृदय वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन करना चाहे तो वह इस भौतिकता से परिपूर्ण विश्व के कोलाहल से दूर प्रकृति की श्रृंगार-शाला में जाये। George Whithers इसी प्रकार अपनी प्रियतमा को प्रकृति-प्रदत्त आभूषणों से सुशोभित कर वासना-लोलुप कवि-समुदाय के सामने लाये थे—

Her cheeks were like the cherry,
Her skin was white as snow,
When she was blithe and merry
She angel like did show.

पंतजी ने 'चाँदनी,' 'छाया', 'वीचिविलास', 'अप्सरा' इत्यादि कविताओं में नारी-सौन्दर्य की कल्पना तो की है; किन्तु वह उतनी सजीव, सर्वांग तथा स्पन्दन-शील नहीं हो सकी, जितनी 'निराला'जी की 'शरत्-पूर्णिमा की बिदाई', 'संध्या-सुन्दरी', 'कविता', 'शेफालिका' और 'जूही की कली' में हो गई है। इन कविताओं में कवि, पंतजी के समान किसी नारी का प्रति-बिम्ब नहीं देखता, वरन् कविता को ही नारी समझ लेता है—

शिला-खंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था—
मुक्त बन्ध संध्या-समीर-सुन्दरी-संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था;
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू-छू कर—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मार बड़े प्यार से इठलाते थे।

इन सौन्दर्य-चित्रों में न तो कामुकता का विकार-चित्र है, और न उद्दीपन की दृष्टि से किया हुआ काव्य-परम्परा-प्रणाली के अनुमोदन का प्रयास। इनमें जीवन है, आंतरिक-सौन्दर्य की स्पन्दनशीलता है; किन्तु अभी काव्य-साधना की वह प्रस्फुटित ज्योति नहीं जो अपनी प्रेयसी के प्रति कवि-हृदय से कहला लेती है—

'तुमि मोर जीवन-मरण
बांधिया छो दु-टि बाहु दिया।'—रवीन्द्र

और न अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे परिपूर्ण होकर कवि अपनी प्रेयसि को अपने ही आनंद के स्वर्गीय प्रकाश से समावेष्टित देखता है—

Thou art folded, thou art lying,
In the light which is undying
Of thine own joy, and heaven's smile divine.
—Shelley.

छायावाद के काव्य में नारी-सौन्दर्य के कलात्मक तथा संयमित चित्र के अतिरिक्त पंकिल चित्र भी हैं। ऐसे चित्रकारों को 'रवीन्द्र' की 'उर्वशी' नाम्नी कविता की पंक्तियाँ पढ़ लेनी चाहिये। 'उर्वशी' में 'वारांगना-सौन्दर्य' का चित्र खींचा है; किन्तु तो भी वह कितना निर्मल एवं संयमित

है। साथ ही उनको जर्मन दार्शनिक कैन्ट की निम्नांकित सौन्दर्य की परिभाषा भी हृदय में धारण कर लेनी चाहिये—

"Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and practical advantages pleases and in its objective meaning it is a form of an object suitable for its purpose in so for as that object is perceived without any conception of utility."

नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शिशु-सौन्दर्य भी कवियों की तूलिका का विषय रहा है। शेक्सपियर का 'आर्थर' जो निर्दय वधिक के हृदय में भी पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, तथा कालिदास का 'सर्वदमन' जो दुष्यंत के निराश हृदय में आशा का प्रकाश फैला देता है—शिशु-सौन्दर्य की अद्वितीय प्रतिमाएँ हैं। सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम विषयक शिशु-सौन्दर्य चित्र छायावाद के अंचल में नहीं आये। अकेले पंत में ही इसकी कुछ झलक देखते हैं; किन्तु वह क्षीण-सी, नहीं-के बराबर ही है।

प्रेम

सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। किन्तु सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एवं संकोच होगा, उसी प्रकार प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी। आधुनिक छायावाद के काव्य में नवयुवक कवियों की चंचल तूलिका प्रेम के जो चित्र अंकित कर रही है, वे वास्तविक प्रेम के नहीं; किन्तु उद्दाम शारीरिक वासना के अशांत नग्न चित्र हैं। उनका अपना नया आदर्श है—'अतृप्ति कवि का जीवन-संगीत है। कोई प्रेम कर के शांति चाहे तो, मनुष्य-जीवन, प्रेम और शांति ये तीनो चीज़ें साथ नहीं रह सकतीं।' किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह प्रेम नहीं, वासना का प्रचंड ताण्डव है, मोह का पंकिल क्षेत्र है। प्रेम जीवन की मूलप्रेरक-शक्ति है। प्राणी की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। जैसा कि ऊपर वर्णित हो चुका, सौन्दर्य की भावना पर ही प्रेम का आधार है। अतः सौन्दर्य की भावना कलुषित हो जाने पर प्रेम की भावना भी कलुषित हो गई है। इस स्थल पर सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक भाव (Idea) स्थिर कर देना विशेष उपयुक्त होगा, जिसके प्रकाश में नवयुवक कवि अपनी मोह-वासना-पूरित अंधकार-कारा से मुक्त हो जायँ—

"The deeper the mind penetrates into the facts of esthatics, the more they are perceived to be based upon an ideal identity between the mind itself and things. At a certain point the harmony becomes a complete and the finality'so close that it gives us actual emotion. The beautiful then becomes sublime, and for a passing flash, the soul rises into the true mystic state and touches the "Absolute."—E. Recijac.

ऐसे सौन्दर्य की भावना ही प्रेम की उत्कृष्ट भावना का प्रत्यक्ष कारण है। सान्निध्य की ऐसी ही अवस्था का निर्देश Wordsworth निम्न-लिखित पंक्तियों में इस प्रकार करता है—

"Ah ! then if mine had been the painter's hand,
To erpress what then I saw, and add the gleam,
The light that never was, on sea or land,
The consecration, and the poet's dream."

छायावाद के काव्य में प्रेम के कुछ ऐसे निर्मल चित्र भी हैं, जो संसार के किसी भी

प्रेम-चित्र से समानता स्थापित करने के योग्य हैं। बालकृष्ण-बलदुवाजी ने अपने आपको प्रेमिका के योग्य उपासक बनाने के लिए, प्रेम की आंतरिक जलन में रक्त-मांस के विकारों को जला दिया है—

जो कुछ कालिमा भरी है इस रक्त-मांस में मेरे ;
यह जलन जला देगी जब मैं योग्य बनूंगा तेरे।

प्रेम की पवित्रता पर एक बार वासना का अधिकार हो चला था। कवि का भोला हृदय पीड़ित हो गया—

कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार ;
हुई मुझको ही मदिरा आज, हाय, क्या गंगा-जल की धार, —पंत

प्रेम के शान्त—धवल प्रदेश पर उद्दाम शारीरिक आकर्षण, अशान्ति, उद्वेगपूर्ण वासना का आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से परिप्लुत हो जाता है, एक करुण-क्रन्दन उसकी निश्वासों पर चढ़कर वायु में मिल जाता है—

प्रणय की महिमा का मधु-मोद ; नवल सुषमा का सरल विनोद।
विश्व-गरिमा का जो था सार ; हुआ वह लघिमा का व्यापार ॥ —'प्रसाद'

नवयुवक सुकुमार कवि के हृदय में अज्ञात पर प्रेम की तीव्र अनुभूति की उद्भावना हुई ; भावावेश में कवि अपने को सँभाल नहीं सकता, वह मूक होकर अपने हृदय में इधर-उधर टटोलने लगा—

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ! एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति !

× × ×　　　× × ×　　　× × ×

कौन हो तुम उर के भीतर बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ? —पंत

इसी आत्मानुभूति की तीव्रता में भावों के प्रसून कवि के हृदय से बिखर पड़ते हैं—

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन-सा हिल कर अविरल शीतलता सरसाने दो ;
अपने मुख से जग-चिन्ता के श्रम-कन सदय सुखाने दो। —पंत

प्रेम का पागल कवि अपनी प्रेमिका को इसी प्रकार बुलाता है—

तूमि रवे नीरवे हृदय मम
निबिड़ निभृत पूर्णिमा-निशीथिनी सम।

मम जीवन यौवन
मम अखिल भुवन,
तूमि भरिबे गौरवे निशीथिनी सम।

जागिबे एकाकी
तव करुन आँखि,
तव अंचल-छाया मोरे रहिबे टाकि।



मन दुःख वंदन
मम सकल स्वपन,
तूमि भरिबे सौरभ निशीथिनी सम। —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कितनी व्यापकता है इस प्रेम में! कितनी श्रद्धा और विश्वास है!
पंत जी की निम्नांकित पंक्तियों में प्रेम का ऐसा ही सुन्दर पावन चित्र मिलता है—

जब मेरा चिर-संचित प्यार
मुझे डुबाता है गंभीर;
द्रोह-मदन, मद का मल मेरा धो देता है जब दृग-नीर!
तब मेरे सुख का अनुमान, क्या तू कर सकती है प्राण! —'वीणा'

वेदना और विषाद

"Our sweetest songs are those
That tell of our saddest thoughts." —Shelley

वेदना जीवन की मूल रागिनी है। सदैव से ही कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी वेदना से सिंचित रही है। क्रौंच-पक्षी की अंतस्तल की करुण निश्वास से वेदना-विह्वल होकर आदि-कवि ने प्रथम कविता-कामिनी को पार्थिव संसार में अवतीर्ण किया था। यूरोप के मनीषी-कवि दांते की प्रेयसि इस अनंत रूपात्मक संसार को छोड़कर उस अनंत लोक की निवासिनी बन गई, उसी क्षण से दांते की आत्मा कविता का सवाक् चित्र बन गई। उसने आहों की भीषण प्रज्वलन से आहत होकर यूरोप के काव्य-साहित्य में भीषण बवंडर स्थापित कर दिया। सारा यूरोप अपनी सजल नेत्रों की छलछल में तथा अतल स्पर्शी निश्वासों में कहता था—'Whitis! you are in Ellisium!! But restore me, myself and my soul.' संसार के अद्वितीय उपन्यास-कार Victor Hugo का चरित्र-चित्रण हृदय में एक क्रांति-सी, एक मधुर टीस-सी क्यों मचाने लगता है? कारण वही कि Hugo ने मनाव-जीवन में प्रवाहित एक अलक्षित वीणा की स्वर-लहरी को प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान किया है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावाद-धारा कलकल ध्वनि में भी वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत मिला हुआ है, जो अबाध गति से मानवात्मा की करुण-वृत्ति में जागृति का कम्पन भर रहा है; एक मधुर स्पन्दन उत्पन्न कर रहा है प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि का हृदय भग्न होकर कैसी तप्त उसासें निकालता है:—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय, रो! —पंत

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से विशृंखल कवि के हृदय की वीणा सिसकियों की ध्वनि में झंकृत हो उठती है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं ! —'निराला'

इसी प्रकार की करुण सिसकियों में Shelley का हृदय फूट पड़ता है:—

Misery we have known each other,
Like a sister and a brother.

दुःखी-हृदय को अपने चारो ओर सुख का स्रोत बहता देख अपना अभाव और भी वेदना-प्रद हो जाता है—

मधुमालतियाँ सोती थीं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे॥

यह वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है। इसी निराशा से कवि-हृदय भार-स्वरूप बन जाता है, वह विवशता में बँधकर व्याकुल हो रो उठता है—

मेरे दुःख में प्रकृति न देती क्षण-भर मेरा साथ;
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ। —रामकुमार वर्मा

पार्थिव घात-प्रतिघातों से निरन्तर निराशा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसका भार मानव-शक्ति-द्वारा वहन नहीं किया जा सकता। कवि आक्रांत हो जाता है—

नहीं सहा जाता अब तो देवि,
असफलता का यह भीषण भार। —भगवतीचरण वर्मा

महाकवि शेली भी इसी प्रकार असफलताओं, वेदनाओं के भार से दबा जाता है; किन्तु वह अकर्मण्य बनकर प्रलाप ही नहीं किया करता, वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है—

Oh lift me as a wave, a leaf, a cloud.
I fall upon the thorns of life, I bleed ! —Shelley

जिस प्रकार निशा के अंधकार में व्यक्तिगत भेद-भाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही ऐसी वृत्ति है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से बाँध देती है। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है; पर दुःख सब को बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीव को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलबिंदु समुद्र में मिल जाता है—यही कवि की निर्वाण-प्राप्ति है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान

करता है ; किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व। दुःख के इस सिद्धान्त की अन्वेषक श्री महादेवी वर्मा इसी भाव को निम्न-पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का ;
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।

दुःख की उपयोगिता उनके भावना-क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख के पक्ष को प्रबल सिद्ध करने में सुख के प्रति उनके हृदय में लघुता और निष्प्रयोजनीयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं—

सुख आता श्वासों के पग धर
रुद्ध हृदय-पट लेता कर
गर्वित कहता मैं मधु हूँ मुझसे पतझड़ का क्या नाता।

पंतजी के हृदय से भी दुःख के प्रति बड़े ही मार्मिक उद्गार उद्भूत हुए हैं—

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन ;
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन।
अपनी डाली के काँटें नहीं बेधते अपना तन,
सोने सा उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणों का धन।

Gray भी इसी प्रकार पंतजी के साथ स्वर में स्वर मिलाता है—जब वह अपने अनुभव को निम्न शब्दों में चित्रित कर देता है —

Sorrow, the Tamer of the human breast !

किसी-किसी कवि को तो सुख से इतनी घृणा तथा दुःख से इतना प्रेम हो गया है कि वे उसको हृदय के कुंज में मृग-छौना-सा पालते हैं—

मेरा दुख हत्यारे जग का बन जाये न खिलौना-सा ;
इस भय से उर के कुंजों में छिपा रखा मृग-छौना-सा।

इस प्रकार आधुनिक काव्य-साहित्य में छायावादी कवियों ने विषाद और वेदना का जो अबाध स्रोत बहाया है उसमें अन्य विषय पूर्णतया डूब-से गये हैं। कवि-सम्राट् Shakespeare के शब्दों में वे अश्रु के टलमल नृत्य को हास के मधुर लास से अधिक मनोहर मानते हैं—

"A Beauty's tears are lovelier than her smiles."

वेदना, विषाद, करुणा, आँसू की अनुभूति में इस काल में जो कलात्मक चित्र अंकित किये गये हैं, वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य रत्न-लड़ियाँ हैं। करुणा के व्यापक प्रभाव को दृष्टि में रखकर पंतजी का कवि आर्द्र वाणी में कह उठता है—

आँसू की आँखों से मिल भर ही आते हैं लोचन

× × ×   × × ×   × × ×

दुख-दावा से नव अंकुर पाता जग-जीवन का वन।
करुणार्द्र विश्व की गर्जन बरसाती नव-जीवन-कण।

'प्रसाद'जी की करुणा तो उनकी सर्वस्व है। 'निराला'जी के करुण-चित्र कोमल और सुकुमार नहीं; किन्तु उनमें एक आह-सी, एक मौन-वेदना-सी कुछ सजीव टीस है जो बरबस करुणा से आँखें सजल कर देती है 'भारत की विधवा' और 'भिक्षुक' में उनकी स्वर-लहरी के शब्द-शब्द में, तार-तार में, करुणा इस प्रकार घुली पड़ी है कि वह उसकी आत्मा, उसकी ताल बन गई है। 'भारत की विधवा' की निम्न पंक्तियों में कितना करुण-प्रवाह है—

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव में लीन

× × ×   × × ×   × × ×

वह टूटी हुई लता-सी छुटी दीन

× × ×   × × ×   × × ×

उस सरिता की करुणा की मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को—
दुख-रूखे सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में—
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहर कर।

जीवन और जगत

"No man ever was yet a great poet, without being at the same time a profound philosopher of life.
—Coleridge.

अमेरिका के सर्व प्रसिद्ध कवि Walt Whiteman ने एक बार कवि-कर्त्तव्य के सम्बन्ध में लिखा था—उसका जन्म-स्थान आत्मा है; अतः जिस रचना का सर्वस्व आत्मा नहीं, वह कविता नहीं। कवि न तो सदुपदेश देता है, और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना आत्म-गौरव समझता है। इस आत्म-गौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनन्त है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है। इस प्रकार कवि जगत और जीवन का एक बड़ा उत्तरदायी समालोचक है। अपने अनुभव से, भावना से, कल्पना से वह जगत और जीवन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालता है। जीवन के सभी पक्षों की अनुभूति के निमित्त अपने हृदय को वह खुला रखता है। जीवन के प्रत्येक तत्त्व में

प्रत्येक मनोविकार में वह घुसकर उसके एक-एक कण को टटोलता है, और अन्त में अपनी साधना से सन्तुष्ट होकर उनके चित्र खींचता है।

हिन्दी के छायावादी कवियों की दृष्टि भी पर्याप्त रूप में जीवन और जगत की समस्याओं पर गई है। फल-स्वरूप अनेक ऐसे मुक्ताकण प्रकट हुए हैं जो साहित्य की 'स्थायी सम्पत्ति' में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं।

जीवन सुख-दुख, हास-विषाद, प्रेम-घृणा की आँख-मिचौनी है। न तो जीवन पूर्णतया सुख ही है और न पूर्णतया दुःख ही। सुख-दुःख जीवन-पक्षी के दो पंख हैं जिनसे वह इस अनन्त विश्व में साधनाशील होकर जीवन के, आत्मा के सत्य को खोजता फिरता है। कविवर पंत जी इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

'सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि औ शशि में ओझल हो घन।'

यदि जीवन में प्रत्येक पक्ष में, प्रत्येक स्थिति में उल्लास की ही सुधा-स्राविणी रागिनी बजती रहेगी, अथवा जीवन के पग-पग पर दुःख के अश्रु ही बिखरा करेंगे—तो वह जीवन भी एक भार-स्वरूप हो जायगा—

'अपने मधु में लिपटा पर कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर खो देता जीवन-कम्पन।' —पंत

'प्रसाद' जी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे;
चन्द्रिका अंधेरी मिलती मालती-कुंज में जैसे।

महादेवी वर्मा जीवन को हर्ष-प्रधान अथवा हर्ष और विषाद का सम्मिलन मानने की अपेक्षा उसे वेदना-प्रधान मानती हैं। अपने इस सिद्धान्त में वे तथागत भगवान बुद्ध के दर्शन से प्रभावित हुई प्रतीत होती हैं। भगवान बुद्ध की भाँति वे संसार की उत्पत्ति को ही दुःख मानती हैं—सभी वस्तुओं में वे उस अनन्त विषाद का ही प्रतिबिम्ब देखती हैं—

विकसते मुरझाने को फूल उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ दीप जलता होने को मन्द;
यहाँ किसका अनन्त यौवन!

'प्रसाद' का कवि-हृदय जीवन की नश्वरता तथा क्षण-भंगुरता का ध्यान कर ही विकल मुख फेर लेता है—

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की;
मकरन्द भरी खिल जावें, तोड़ी जावें वे मन की।

'हम जीवन को सार रूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसार रूप में नहीं।' क्योंकि संसार के सुख-दुःख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति उसके जीवन से एक भिन्न वस्तु हैं; जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है— [३३६

अस्थिर जीवन का सुख-दुख, जीवन ही सत्य, चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन।

आधुनिक छायावादी कवियों का वैराग्य में अथवा जगत के कार्य-क्रम से उदासीनता में विश्वास नहीं ; वरन् कर्म में विश्वास है। मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बंधनों में उनकी अधिक आस्था है—

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिरगूढ़ सरलपन ;
है सहज मुक्ति का मधुक्षण, पर, कठिन मुक्ति का बंधन।

इसी प्रकार का भाव कवीन्द्र रवीन्द्र की 'स्वर्ग से विदा' में मिलता है। इसी प्रकार अंगरेज़ी का प्रसिद्ध विचारक कवि Browning अपने Rephan नामक काव्य में अपने हृदय की वृत्तियों को चित्रित करता है। वह स्वर्ग के सुख से ऊब गया, स्वर्ग के अस्तित्व में ग्लानि का भाव उदित हुआ, वह पार्थिव-जगत के लिए व्याकुल हो गया—

I yearned for no sameness but difference
In thing and thing.
×× ××
Thou art past, Rephan,
Thy place to earth.

श्रीमती महादेवी वर्मा भी इसी प्रकार अपनी रागिनी गाती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार !
मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर,

कर्म-योग में विश्वास के साथ कवियों को फल की आकांक्षा नहीं। उनका सिद्धांत है- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।' निम्न पंक्तियों में यही भाव है—

इस अचल क्षितिज-रेखा से, तुम रहो निकट जीवन के ;
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके।—महादेवी वर्मा
उठ-उठ लहरें कहती यह, हम कूल विलोक न पावें ;
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।—पंत

इन साधना-शील तथा पार्थिव-प्रिय हृदयों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या उन कवियों की भी है जो संसार की ज्वाला से, वेदना-पूर्ण स्थिति से व्याकुल होकर एक नये ही लोक में जाना चाहते हैं—

हमें जाना है जग के पार—जहाँ नयनों से नयन मिलें ;
ज्योति के रूप सहस्र खिले, सदा ही बहती नव रस-धार ;
वहीं जाना इस जग के पार।—'निराला'

एक श्रेणी के कवियों के हृदय में संसार की इस अशान्ति, उद्वेग, विश्रृंखलता के प्रति क्रोध का एक बवंडर छिपा पड़ा है। वे संसार का अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हैं। अपनी

वेदना-पूर्ण स्थिति से वे इतने क्रोधित हैं कि शेष संसार की उनको कुछ चिन्ता ही नहीं। वे प्रलय को निमंत्रित करते हैं—

गगन पर घिरो मंडलाकार ! अवनि पर गिरो वज्रसम आज !
गरज कर भरो रुद्र हुंकार, यहाँ पर करो नाश का साज ! —भगवतीचरण वर्मा

प्रकृति

आधुनिक छायावादी हिन्दी-कवियों ने प्रकृति की गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही कलापूर्ण दृश्य-चित्रण किया है। जिस प्रकार अंग्रेजी की Romantic कविता ने विगत प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसमें अमर सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के संश्लिष्ट चित्र अंकित किये हैं, उसी प्रकार वर्तमान छायावाद की धारा के कवियों ने भी शेली के स्वर-में-स्वर मिलाकर गाया है—

"I sang of the dancing stars,
I sang of the daedal earth;
And of heaven—and the giant wars,
And Love, and Death, and Birth"

हिन्दी-साहित्य का प्रकृति का सलोना शिशु कवि भी प्रकृति से इसी प्रकार मधुरालाप करता है—

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि, तुम्हारे मीठे-मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान। —पंत

फिर तो प्रकृति का वह इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कलरव करता है, उसी में मिल जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन पक्षियों को भी उसी ने गान सिखाया हो—

विजन-वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान ?
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि सजल मेरा सोने-सा गान। —पंत

पंतजी ने 'बादल', 'चाँदनी,' 'नौका-विहार,' 'एक तारा,' 'छाया' शीर्षक कविता में प्रकृति के बड़े ही संश्लिष्ट चित्र निर्माण किये हैं, जिन पर हिन्दी को गर्व और गौरव है। 'निराला'जी की 'जूही की कली,' 'संध्या-सुन्दरी', 'शेफालिका' तथा 'यमुना के प्रति' कविताओं में प्रकृति-चित्रण एवं प्रकृति-पर्यवेक्षण-चातुरी की जिस अद्वितीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी के लिए एक सौभाग्य की वस्तु है तथा उससे निर्मित चित्र संसार की किसी भी उच्च कला एवं साहित्य के सम्मुख रखे जा सकते हैं। पं० इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती', 'प्रथमवर्षा,' 'मधुवन का माली' कविताओं में प्रकृति के मर्मों का मननशील रहस्योद्घाटन है। भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद के द्वारा प्राचीन परम्परा के प्रति क्रांति और विद्रोह की अग्नि भी प्रज्वलित हुई। इसका स्पष्ट स्वरूप काव्य-शैली के कलेवर में देखा जा सकता है। प्रबंध-काव्य की परम्परा अतल उदासीनता में डूब-सी गई है तथा उसके स्थान पर गीति-काव्य का पुनर्निर्माण किया जा रहा है। 'प्रसाद',

[३३८

'निराला', 'पंत' ने सर्व प्रथम बंगला-साहित्य और अंगरेज़ी-साहित्य की गीति-कला से प्रभावित होकर हिन्दी-काव्य-साहित्य में उसका श्री गणेश किया। तत्पश्चात् समस्त काव्य-साहित्य में एक ऐसी लहर आलोड़ित हो उठी कि उसमें समस्त अन्य शैलियाँ मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठीं तथा गीति-काव्य-कला ही आधुनिक कविता की मुख्य धारा रह गई।

कालिदास और तुलसी की शब्द-चित्र-कला अतीत के गर्भ में विलीन होकर नष्ट-सी हो गई थी। यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि के निमित्त ही शब्दों का प्रयोग होता था ; किन्तु छायावाद की धारा के साथ कुशल चित्रकारों का भी हमारे काव्य-साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। Shelley का आंतरिक चित्र-निर्माण पंत का मुख्य विषय बन गया। उन्होंने मुद्रा, स्थिति तथा भाव-भंगिमाओं का ऐसा चित्रण किया कि जो स्वयं बोलकर बिना अर्थ के ही अपना स्वरूप स्पष्ट कर देता है—

'गहरे धुंधले, धुले, सांवले, मेघों से मेरे भरे नयन।'

'निराला' के शब्द-चित्र तो हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। वस्तुओं के अंतराल तथा बाह्य-स्थिति का उनका प्रत्यक्ष-दर्शन एवं शिल्प-कौशल उनके चित्रों को चेतन-जैसा सवाक्, सप्राण तथा सरल बना देता है—

सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न—
अमल कोमल-तनु-तरुणी जूही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में,

पुराने छंदों को जो कि व्रजभाषा के ही विशेष उपयुक्त पड़ते थे ; बहिष्कृत कर उनके भग्नावशेष नवीन-नवीन छंदों की उद्भावना की। कवियों ने विरोध की भीषणता में भी अपने आंदोलन को गतिशील रखा है। नवीन छंदों के साथ-साथ मुक्तक-छंद भी हमारे काव्य-कानन में गूँजने लगे। इनका सूत्रपात एवं समर्थन 'निराला' जी ने किया। उन्होंने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ीं, जिनसे कविता की स्वच्छंद गति बँध-सी गई थी।

कल्पना-शक्ति अधिक सरस एवं विस्तृत हो गई, साथ-ही-साथ कविता-कला संगीत-कला के साथ एकाकार होकर मधुरता की मूर्ति बन गई। भारतीय संगीत के साथ-साथ बंगला, अंगरेजी संगीत का भी हमारी काव्य-कला पर रंग चढ़ गया। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी-काव्य-अप्सरा अपने बंधनों से मुक्त होकर, विविध शृंगार से युक्त होकर, नुपूरों की मंजुल ध्वनि करती तथा अपने कल कंठ से जगत पर माधुरी-कण बरसाती विश्व-साहित्य-प्रांगण में उतर पड़ी है

इलाहाबाद।

आत्महन्ता

[रामेश्वर शुक्ल 'अंचल']

[श्री 'अंचल' कवि ही नहीं हैं, वे एक सफल कहानी-लेखक भी हैं। आपकी कहानियों का एक ताज़ा संग्रह 'तारे' अभी हाल में प्रकाशित हुआ है।—सं०]

मध्य-प्रदेश के एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर मि० के० सी० वर्मा कलकत्ते के रायल होटल में अपने कमरे में मरे हुए पाये गये।

यहाँ पर कुछ खुलासा कहना होगा। मि० के० सी० वर्मा चार मास से छुट्टी पर थे। उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। वह अकेले यहाँ आये थे और रायल होटल में ठहरे थे। आज सुबह होटल का बैरा जब चाय और जलपान लेकर गया तब वे चारपाई पर मृत पड़े पाये गये। उनकी देह बर्फ के समान ठंडी थी—जैसे माघ-पूस की नग्न रात। उनके चेहरे पर भीषण अशान्ति थी मानों आत्महत्या करते समय भी उनके हृदय में शान्ति नहीं थी। थी केवल भीषण अशान्ति और उसी को लेकर वे सदा के लिये सो गये। वे नवयुवक थे। घर में पिता हैं, माता हैं, बहन है, छोटे भाई हैं—वे अभी अविवाहित ही थे। उन सबकी क्या दशा होगी! पिता-माता स्नेही-सम्बन्धी सब कह-कह कर हार गये; लेकिन उन्होंने विवाह नहीं किया।

लोग उनका जीवन, रहन-सहन देखकर हैरान थे। यह आदमी तीन बजे रात तक जागता रहता है—और फिर दस बजे तक सोता है। वह भी चारपाई पर नहीं; वरन आराम-कुर्सी पर। कभी दो-दो तीन-तीन दिन बीत जाते हैं, भोजन ही नहीं करता। जब शराब पीना आरम्भ करता है तब हफ़्तों नशे में ग़र्क रहता है, नहीं तो सालों नहीं छूता। पढ़ता है तो दस-पन्द्रह दिन पढ़ा ही करता है, नहीं तो फिर अख़बार भी नहीं छूता। कभी किसी ने हँसते नहीं देखा—कभी किसी ने रोते नहीं देखा।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि दो-तीन दिन बीत जाते, खाना भी न खाता। तब हैरान होकर नौकर-चाकर माता-पिता को खबर देते। वे हाँपते हुए आते, खिला-पिलाकर समझा-बुझाकर, डाँट-डपटकर भाग्य को कोसते हुए लड़खड़ाते हुए चले जाते। जब कई रातें बीत जातीं और पल-भर को भी न सोता, तब नौकर कुढ़ते हुए जाकर माता-पिता से कहते। वे आते डाक्टर को

[३५०

साथ लेकर। डाक्टर इवसामनिया की दवा देकर चला जाता। पिता के चले जाने के बाद वह दवा की शीशी सड़क पर फेंक देता और रात को गहरी नींद में सोता।

इधर कई महीनों से उनका जीवन और भी अनियमित और उच्छृङ्खल हो उठा था। उनके पिता ने यह देखकर उन्हें चार महीने की छुट्टी दिलवाई और साथ में नौकर को रुपया-पैसा देकर यात्रा के लिये भेज दिया। बम्बई, मद्रास, मैसूर और हैदराबाद घूमते हुए वह एकदम से कलकत्ते आ गये और यहाँ आने के ठीक आँठवें दिन, आज सुबह अपने कमरे में मरे पाये गये।

वे धर्म को नहीं मानते थे। ईश्वर को मूर्खता का पुतला कहते थे। साथ ही समाज, जीवन और जगत के किसी भी बन्धन को सदैव ठुकराते चलते थे। न जाने कितनी किताबें पढ़ी थीं—कितना साहित्य धँसी हुई आँखों की पुतलियों के नीचे उतार दिया था; लेकिन बाहर से देखने में वही शून्य—महाशून्य।

लोगों ने नौकर से पूछा—पुलिस ने होटल के कर्मचारियों से जिरह की। लोगों ने यही कहा—कल शाम से उदासीन थे—आँखें भरी हुई थीं—पुतलियाँ जल रही थीं—ओठ भभक रहे थे। सारा शरीर झंकृत हो रहा था, जैसे टूटा सितार हो। सुबह थोड़ी-सी पी थी। दोपहर को सो गये थे। शाम को फिर थोड़ी-सी पी और टैक्सी पर बाहर निकल गये। रात को ११ बजे आये। कमरे में जाने पर खाना भेजा गया; मगर वापस कर दिया। शराब की बोतलें तोड़ डालीं—गिलास खिड़की के बाहर फेंक दिये। तीन बजे रात तक जागते रहे। नौकर भी बाहर बरामदे में पड़ा रहा। तीन बजे जब उसकी आँख खुली तो देखा—कमरे में टहल-टहलकर प्रज्ज्वलित हो रहे हैं। उसने कहा भी—साहब, सो जाइये अब। बोले—हाँ, अब सोता ही हूँ। कै बजे होंगे?

नौकर—तीन का घंटा अभी सुना था।

चौंककर बोले—अरे, तीन बज गये! मैं अब तक नहीं सो पाया। अच्छा बत्ती बुझा दे—दरवाज़ा बन्द कर दे।

इसके बाद उसने कहा कि जब सुबह वह जागा तब उसने दरवाज़ा खोलना ठीक न समझा। वह उठा तो यह समझकर कि अभी तो ये ९-१० बजे तक सोयेंगे, घूमने चला गया। लौट आकर यह सब देखा। साहब ने ज़हर कब पिया और कब उनका हार्ट फेल हुआ, यह वह कुछ नहीं जानता। लेकिन रोता है—रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई है। बड़े बाबू को वह कौन-सा मुँह दिखायेगा। उसी के 'चारज' में तो उन्होंने अपने साहब लड़के को छोड़ दिया था। नहीं, माजी से वह कैसे मिलेगा, जो साहब की खास खबर रखने के लिये उसे हर महीने १० रुपए अलग अपने पास से देती हैं। फिर वह यह भी सोचता है कि भगवान को कैसे मुँह दिखायेगा। वह सोता ही रहा—उसके साहब सदा के लिए चले गये।

घर तार दे दिया गया है। माता-पिता भाई-बहन सब आ गये हैं। रोते-रोते सबकी आँखें फूट गई हैं, गाल नीले पड़ गये हैं—सिर जल रहा है। इस सत्यानाशी विस्फोट से सब के प्राण भस्म हो चुके हैं। पिता ने आर्त्तनाद करते हुए क्रिया-कर्म किया। माता विक्षिप्त होकर चिता में कूद पड़ीं—वृद्ध शरीर झुलस गया। भाई-बहन अपने चीत्कार में होटल को व्यास और सजल करने लगे। मित्र सीने में इतना बड़ा घाव लेकर जीवन के इस नग्न सत्य की साक्षी देने लगे। जिसने सुना-देखा-समझा उसी ने कहा—ईश्वर ऐसा दुःख सातवें दुश्मन को भी न

दें। किसी के स्वर्ण-नीड़ में ऐसी विध्वंसमयी आग न लगे। आह! यह मोतियों से भरी जवानी माता-पिता के सामने इस प्रकार भी मिट्टी में मिलती है!

[२]

लेकिन कहानी जहाँ समाप्त हो गई वहाँ से तो मैंने आरम्भ किया है और जहाँ से आरम्भ होनी चाहिये वहाँ से अन्त करूँगा।

गाँव की घनी छायावाले बरगद और पीपल के वृक्षों के नीचे वे मिलते, खेलते-कूदते, हँसते-रोते और एक दूसरे से लिपट भी जाते। पल-भर के लिए शरद की दोपहरियों में विश्व का रव-शून्य महाप्राण भी चंचल हो उठता था। उस समय वही अवस्था थी, वही सिन था, जब आँखों में कोई तरल मोती फूटकर भर देता है। दोनो हँसा ही करते। कभी किसी ने अलका या कपूर को रोते नहीं देखा। दोनो के प्राणों में एक गति थी—एक महागति थी। महाकाश की-सी नीलिमा, महासागर की मधुरिमा उनके भोले प्राणों में क्रीड़ा करती रहती थी। बरसात की नदी जब अपने दोनो किनारों को छापकर आगे बढ़ती तब उन दिनों उनके प्राण भी उसकी कल-कल मुखर द्रुतधारा के साथ समुद्र-तट तक जाने के लिए व्याकुल हो उठते थे। जिस समय उल्कापात बहाती हुई आँधी चलती उस समय उसी के साथ-साथ जाकर, सृष्टि के अतल-वितल में घूम आने की उनकी लालसा जल-जल उठती थी। वे, एक महाध्वनि की प्रतिध्वनि के समान सुख-पूर्वक एक-दूसरे के ऊपर गिर-गिर पड़नेवाले दिन, बचपन के थे। वह मदभरा बचपन था—कलरव और कोलाहल, क्रीड़ा और चपलता, आशा और अभिलाषा से लदा हुआ।

इसके बाद उन्माद लुटाती हुई जवानी आई। दोनो ने एक-दूसरे को देखा और समझा। नर-नारी के चिरन्तन, अग्निभरे अमिट सौन्दर्य-सम्बन्ध को समझा और जाना। कपूर को मालूम पड़ता, जैसे अलका की अपनत्व भरी वाणी उसके अंगों को परिपूर्ण-सा किये देती है। और अलका? उसे तो यह मालूम पड़ता था कि मानों उसके यौवन-प्लावित लावण्य-कुञ्ज में एक अन्धड़ की सहेली—उन्माद की लतिका-सी विचित्र प्रवृत्ति छा गई है। जिसे वह कभी भी आँखों से ओझल नहीं कर सकती शरद की ठंडी हवा चलने पर नस-नस में गर्म खून क्यों लहराने लगता है? आकाश में नये बादलों को देखकर हृदय में बिजली की प्राणमयी धारा फूट पड़ती है। वसन्त की उद्दीपन-भरी मधु-लहरियों में हृदय का कोना-कोना तक आन्दोलित होकर हिल-हिल उठता है। पर यह सब उसने कैसी प्रिय विवशता के साथ सीख लिया। शोभा-पूर्ण सन्ध्या-काल में कल्पना के महा-संगीत को सुनते-सुनते, गाँव की बढ़ी हुई नदी के तट पर अपने घरवालों से लुक-छिप कर जब वे दोनो आते और एक दूसरे से अपनी अनन्त यौवना की-सी पिपासा निवेदित करते तब दोनो के कोकाबेली के उज्ज्वल फूलों-से अंग इस प्रवाह में चिर संतप्त मीनों की भाँति डूबने-उतराने लगते। यौवन की सुवास से मस्त-मस्त हो वे कुछ क्षणों के लिए एक दूसरे में अपने को विसर्जन कर देते थे।

चैत की खिली हुई चाँदनी उस दिन थी। अलका ने अपना शृंगार-सज्जित प्रकंपित गात्र कपूर के आगे रखकर सिहर-भरे अधरों से कहा था—भैया! मैं कल चली जाऊँगी। ठीक तुमसे ८०० मील दूर! अब मैं कब तुम्हें देख सकूँगी—नहीं जानती; लेकिन तुम अपना जीवन नष्ट न करना। पढ़ने-लिखने में मन लगाना और जाकर कालेज में नाम लिखा लेना। इस आवारा-गर्दी में यदि तुमने अपना जीवन नष्ट कर दिया तो मैं उस परमात्मा से भी ज़्यादा पीड़ित

[३४९

होऊँगी। मैं तुमसे छोटी हूँ। मैंने बहुत से अपराध भी किये होंगे; पर उन सबको आज माफ़ कर दो और यही आशीर्वाद दो कि जितना दुःख आज मिल रहा है उससे अधिक अब न मिले। मैंने तुम्हारी किसी किताब में पढ़ा था कि जीवन ईश्वर के साथ एक नित का अनन्त युद्ध है। आज से जीवन ईश्वर के साथ नहीं, अपने साथ एक चिर युद्ध हो जायगा। लेकिन, यहीं तो हम विवश हैं भैया!

कपूर ने उस अग्नि-प्रवाह में सुलगते हुए कहा था—अलका, मैं आवारा और नालायक़ हूँ इसी से तो तुम्हारे पिता ने मेरे साथ तुम्हारा विवाह नहीं किया। उन्हें यह नहीं मालूम कि तुम्हीं मेरी नालायक़ी और आवारापन दूर कर सकती हो। ख़ैर, इसके लिये मैं उन्हें या किसी को भी दोष नहीं देता। यह तो एक नाटक है। कभी सुखान्त हो जाता है—कभी दुःखान्त। मैं तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुमने तो कभी-न-कभी यह अनुभव किया होगा कि कैसे तृष्णा का उल्लास संगीत की भाँति घिरकर नस-नस में नाचने लगता है। आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि वही तृष्णा मेरे जीवन को सोख लेगी। और मुझे ले जाकर न जाने कहाँ—शायद जहाँ से आई है वहीं—उड़ जायगी। तुम जाओ और मुझे भूल जाओ। यही मेरा आशीर्वाद है। लेकिन यदि कभी मेरी याद आ जाय, साल-छः महीने में भी, तो अपने हृदय पर नाराज़ न होना। न तो उसे प्रताड़ित करना और न अपने को अपनी दृष्टि में हीन समझना।

[३]

इसके बाद की एक और हसरत-भरी रात क्या कपूर जीवन-भर सुख या दुःख से भूल सका। वह रात कैसी थी? बड़ी ही ज्वलन्त और लोलुप। रात को एक बजे अपने बिस्तर पर पड़ा कपूर मोमबत्ती के लहकते प्रकाश में शराब के नशे में चूर पाइप पी रहा था। वह अलका की बड़ी बहन के यहाँ ऐसे ही इधर-उधर घूमता हुआ चला आया था। अलका भी वहीं थी। उसके पति अनूप और भाई देवराज भी थे। कपूर को नींद नहीं आ रही थी। हृदय जल रहा था। ओंठ जल रहे थे। नेत्र जल रहे थे। न जाने अन्तस्तल में कैसी विध्वंस की ज्वाला वारुणी की विस्फोट-राशि के साथ-साथ प्रज्ज्वलित हो रही थी। तो फिर मोमबत्ती के उजेले में कुछ तो उसके इस आत्मभरण का आभास किसी चिर परिचित को मिले।

उधर दूसरे कमरे में अलका की बड़ी बहन खाना बनाने का प्रबन्ध कर रही थीं। कल उनकी लड़की का अन्न-प्राशन था। सब लोगों के लिये खाना बनाना था। कपूर के बगल के कमरे में अलका के पति और तीसरे कमरे में भाई पड़े थे। सहसा कपूर उठ बैठा और लड़खड़ाते हुए चला आया सीधा औरतों के बीच में।

'दीदी, बड़ी प्यास लगी है।'

'अभी सोये नहीं हो मुन्ना! क्या बात है? क्यों नींद नहीं आ रही है? सोजा बेटा! (पुचकारकर) कल सुबह जल्दी उठना है। ५ बजे चलोगे नहीं मंदिर तक। तुम्हारी भाञी का अन्न-प्राशन है।'

अलका ने भी झूमती हुई आँखों में करुणा की सजल विद्युतधारा बहाते हुए कहा—भैया को 'घर की' याद आ रही है। अभी तो रात को कोई गाड़ी जाती है।

कपूर ने कहा—अलका, एक गिलास पानी तो दे दो।

अलका उठ खड़ी हुई—हृदय के सारे चीत्कार को धीरे से दबाकर। एक गिलास पानी लिया।

तब तक कपूर अपने बिस्तर पर आकर लेट गया था। अलका ने पास आकर कहा—यह लो भैया, पानी ले लो।

अलका के सिर पर घूँघट था। कपूर ने कहा—अब तुम बड़ी हो गई हो न तभी तो घूँघट काढ़ना सीख गई हो।

'नहीं तो भैया ! मैं तो वैसी ही हूँ। जैसी पहले थी वैसी ही अब हूँ। बड़ी कब और कहाँ हो गई ?'

'अच्छा, तुम्हें कभी मेरी याद आती थी ?'

'हाँ भैया, जब दादा की बैठक में जाती थी तब तुम्हारी तस्वीर को देखकर ज़रूर एक मोह सजल हो उठता था। नहीं तो इस दुनिया में कौन किस को याद करता है और क्यों याद करे !'

उसी रात को ४ बजे कपूर की नींद एकाएक खुल गई। अलका अपनी धोती अँगले पर फैला रही थी—साथ ही गुनगुना रही थी – मैं पापिन ऐसी जरी क्वैला भई न राख !

कपूर ने अँगड़ाई लेकर कहा—कौन दीदी ?

'नहीं तो, मैं हूँ भैया !'

क्या स्वर में ऐसा गीला विषाद, वेदना का ऐसा अनियंत्रित परन्तु मूक मौन सजग हाहाकार हो सकता है ? मानों एक वाक्य में सारी मानवात्मा मुखरित हो उठी हो।

[४]

इसके बाद फिर कपूर की अलका से भेंट नहीं हुई। कपूर ने एम० ए० पास किया—लॉ किया और एक साल बैठे रहने के बाद डिप्टी कलक्टर भी हो गया। नौकरी पाते ही सीधा मध्य-प्रान्त को चला गया, जहाँ उसके पिता थे। फिर तो अलका से मिलने का कोई अवसर ही नहीं आया। बीच-बीच में गाँव से उसके मित्रों के पत्र आते रहते थे। उनसे गाँव के हाल-चाल भी मिलते रहते थे। अलका भी साल दो साल में जब एक-आध बार गाँव आती थी तब उसे मालूम हो जाता था ; लेकिन उसके लिये क्या। वह तो जिन सुदृढ़ बंधनों में बँधा था वे मानों उसकी स्फुर्ति, चेतना और संजीवन को उसके प्राणों से निकाल-निकाल कर फेंक देते थे। इस बीच में उसके जीवन में कितना अकल्पित परिवर्तन हो गया था। उसकी अब यही इच्छा रहती थी कि किसी परिचित से कभी भेंट न हो। वह यदि चाहता तो एक-आध बार छुट्टी लेकर गाँव जाकर अलका को देख आ सकता था ; लेकिन उसकी इच्छा ही न होती थी। जिस सृष्टि से वह अलग हो आया था उसके लिए उसके मन में न तो कोई लालसा थी और न उसमें भाग लेने की कोई उमंग। वह सोचता भी तो उधर सोचने की उसकी इच्छा ही न होती। सचमुच ही बड़ी काल-णिक जड़ता ने उसकी नसों को अभिभूत कर लिया था। वह स्वर्ग-मर्त्य-विप्लावनी उन्मादधारा—जो कपूर को सदैव, प्रतिपल एक उत्कट उत्कण्ठा और आकांक्षा से उजागर-सा किये रहती थी, आज न जाने किस अविजानित मरु-पुञ्ज में सूखकर अपनी प्रगति की हल्की काली रेखाएँ छोड़ गई थी।

एक दिन कपूर ने अत्यन्त पीड़ित होकर सुना कि अलका के पति ने उसे निर्वासित-सा करके गाँव में उसके पिता के घर में छोड़ दिया है। न जाने क्यों वह उससे असन्तुष्ट होकर उसे बुलाने से इन्कार कर रहा है।

एक दिन उसने जो सुना उससे तो उसके शरीर का सारा रक्त उसकी छाती में शिला-

संघात के समान एकत्र हो-हो पछाड़ें खा-खाकर टकराने लगा। अलका के पति आकर उसे कलकत्ते ले गये थे, वहीं उसे टाइफ़ाइड हुआ और उसकी मृत्यु हो गई। कपूर ने आज प्रथम बार अपने को जी-भरकर दोषी ठहराया। यदि एक बार भी वह छाती फुलाकर आगे खड़ा हो जाता तो अलका को कौन इस जीवन से अलग कर सकता था। जब उसे रह-रहकर यह सब याद आता तो वह भौंचक-सा रह जाता। ओह! जो एक क्षण का, बचा-खुचा थोड़ा-सा कभी-कभी मिलने वाला सुख था वह भी अब कितना मँहगा हो गया था। एक छोटी-सी कहानी थी-वह भी बीच में ख़त्म हो गई।

[४]

बम्बई, मैसूर और हैदराबाद से कलकत्ते आकर भी कपूर को कोई शान्ति न मिली। उसने इतना बड़ा शहर पहले और कहीं नहीं देखा था। लेकिन रोज़ उसके पिता उसकी तबियत का हाल पूछते और रोज़ लम्बे-लम्बे उपदेशों से भरे उनके पत्र उसके पास आते। यहाँ तक तो ठीक था; लेकिन मुसीबत तो यह थी कि उसे उनका जवाब भी लिखना पड़ता था। उसे यहाँ आकर एक नई आदत घूमने की पड़ गई थी। शाम को ५ बजे निकल जाता और कभी पैदल, कभी टैक्सी पर इधर-उधर घूमा करता। यहाँ का प्रत्येक कोना, रास्ता, पदार्थ यहाँ तक कि प्रत्येक घर उसे अलका की स्मृति से चंचल और अनुप्राणित प्रतीत होता। आह! यदि वह होती तो, कम-से-कम एक बार तो वह उससे अवश्य मिलता। किन्तु, वह तो यहाँ नहीं है—वह तो कहीं नहीं है। वह तो अब अप्राप्य है—अलभ्य है।

कपूर को यहाँ आये आठ दिन हो गये थे। इतने समय में उसने प्रायः सारा कलकत्ता देख डाला था। आज उसने सोचा सोनागाछी की ओर जाने को। सोनागाछी कलकत्ते की सबसे बड़ी रूप की मण्डी है।

सहसा उसने जो देखा वह प्राणों को कंटकित कर देनेवाला था। यदि वह एक खम्भे की आड़ न ले लेता तो वहीं धम्म से गिर पड़ता। उसी ओर एकटक कई मिनिटों तक देखते रहने के बाद कपूर की आँखों में खून की ज्वलन्त रेखाएँ नाचने लगीं। अरे! यह तो अलका है! निश्चय ही वही है। क्या आज तक इन आँखों ने उसे पहचानने में कभी भूल की है? लेकिन वह तो मर चुकी है। सब लोग तो यही जानते हैं कि वह वहाँ चली गई है, जहाँ किसी की पहुँच नहीं है। तो यह अलका है! वह प्रदीप्त मुख-मण्डल से उन्मत्त; लेकिन लज्जा से कानों तक आरक्त हो जानेवाली कुसुम किशोरी सत्यानाशी कलकत्ते में व्यभिचार के जघन्य मण्डल में बैठी हुई प्रेम का अभिनय कर रही है।

वह चला आया—प्रज्ज्वलित वक्ष और शुष्क अधर लेकर; उद्ग्रीव, आतुर और पीड़ाकुल। लेकिन सुख की लालसा से तीव्र उग्र उसके प्राण फिर न जाने कहाँ जाने के लिए तड़प उठे। चलूँ, वहीं चलूँ—लौट चलूँ—मर्मस्थल में नर्क का सारा अन्धकार लेकर। देखूँ जीवन का यह भीषण आवर्तन—महाचक्र का यह भयानक उद्‌गार! आह, वह सीन, वह झलक!

× × ×

इसके बाद खुली छत पर स्वच्छ नीलाकाश था—नीचे चरणों पर—उदधि-गर्जन का-सा आत्म-दाह लिये एक हाहाकार-भरी नारी, जो अब वेश्या बोली जाती थी और बीच में सन्तप्त वासना का स्पन्द-भरा एक एकाकी पुतला।

'भैया, तुम यहाँ क्यों आये ? तुम तो अमरावती में थे ?'

'योंही ; तुम्हें देखने चला आया ।'

प्राणों के दुर्दान्त आवेग को रोकते-रोकते उसके नेत्र स्फुरित हो गये । वह बोली— मानव-संघर्ष के प्रबलतम भावों से तो तुम अपरिचित नहीं हो—तुम यहाँ कैसे आये !

'मैंने तो सुना था कि तुम मर गई हो । मृत्यु के बाद का कैसा जीवन होता है यह कभी न देखा था ; लेकिन अलका, क्या तुम पृथ्वी पर हो ?

'और कहाँ हो सकती हूँ ! मृत्यु-जैसी महती शक्ति भी तो मुझे इस दुनिया से अलग न ले जा सकी । अभी मुझे बहुत देखना—तुम्हें बहुत कुछ दिखाना था ।'

'लेकिन तुम इस जीवन में आई कैसे ?'

'जैसे और सब आती हैं । थोड़ी-सी खुशी और थोड़ी-सी विवशता से ।'

'देखो अलका, तुम सारे संसार को धोखा दे सकती हो ; लेकिन मुझको तुम धोखा देने की चेष्टा न करो । इसमें तुम्हें तो कुछ न मिलेगा ; पर मेरा बहुत कुछ खो जायगा ।'

'कुछ नहीं खो जायगा । और यदि खो भी जायगा तो उसका खोना ही अच्छा । अच्छा अब जा रहे हो ?—कल आओगे तो ?'

'हाँ; अगर कल रहा तो अवश्य आऊँगा ।'

दूसरे दिन चार बजे वह फिर वहाँ पहुँचा । देखा—कमरे में ताला बन्द है । पूछने पर मालूम हुआ कि आज सुबह से उसे भीषण फ़िट आ रहे थे । दोपहर को खून की क़ै होने के कारण दूसरी वेश्याओं ने चिन्तित होकर उसे अस्पताल पहुँचाया । अभी एक घण्टे पहले उसकी मृत्यु हो चुकी है ।

कपूर एक क्षण के लिए भी विचलित न होकर ज्यों-का-त्यों चला आया—स्पन्दन-हीन, मौन, जड़ और पत्थर ।

और बड़ी भयंकर घड़ियाँ होती हैं वे, जब मनुष्य का पिछला जीवन हृदय के अँधेरे अन्तस्तल में उतरकर किसी को ढूँढ़ने लगता है । यदि एक उसी चेष्टा में छटपटाकर खून की क़ै कर सकता है तो दूसरा—अरे ! दूसरे को क्या कहा जाय ?

× × ×

और दूसरे दिन मध्य-प्रदेश के एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर मि० के० सी० वर्मा कलकत्ते के रायल होटल में अपने कमरे में मरे हुए पाये गये ।

इलाहाबाद ।

———

कविता और विज्ञान

[सुशीलकुमार चौबे]

[अक्तूबर के 'हंस' में श्री सुशीलकुमार चौबे का परिचय देते समय हमने गलती से लिखा था कि आप फतेहचन्द कालेज में अध्यापक हैं। पर सचमुच में आप फोरमैन क्रिश्चियन कालेज में अँग्रेजी के अध्यापक हैं।—सं०]

आधुनिक अँग्रेज़ी कविता पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि साहित्य और जीवन—विशेषकर 'साइंस' का रचा हुआ जीवन—एक दूसरे के लिए घनिष्ट सहानुभूति रखते हैं। विज्ञान की गहरी छाप हमारे आधुनिक जीवन पर पड़ चुकी है और उसको मिटाने के लिए इस युग में कोई शक्ति नहीं है। हम मशीन की सभ्यता में पाले-पोसे जा रहे हैं, और इसी कारण हमारे रक्त में उसके लोहे की बू आने लगी है। हम इस मशीन की सभ्यता पर फूले नहीं समाते। हम कहते हैं कि इसमें दृढ़ता, शक्ति और वेग सब कुछ हैं। हवा के सदृश हम उड़ते चले जा रहे हैं; परन्तु कहाँ ? किस ओर ? इस प्रश्न का हमारे पास कोई उत्तर नहीं। हम अपने निर्दिष्ट स्थात तक को नहीं जानते। एक विशिष्ट परिधि के भीतर रहकर हमारी आत्माओं में भी मशीन और विज्ञान की बू आने लगी है। यह है विज्ञान का युग। विज्ञान के विरुद्ध कुछ कहना अपने सिर पर पाप लेना है। चुपचाप, सिर झुकाये साहित्य भी इस विज्ञान के आगे भयभीत-सा खड़ा है। कला भी चुपचाप है। हाँ, इधर-उधर वह अपनी असली भाषा में संसार से बात कर रही है। परंतु उसने एक झूठी और नक़ली भाषा भी सीख ली है। सीखे न तो क्या करे ? अंग्रेज़ी साहित्य पर विज्ञान की गहरी छाप कई बरसों से पड़ रही है और पड़ती जा रही है। इसमें से दो आवाज़ें सुनाई देती हैं—एक तो बड़ी कर्कश, तेज़ और कर्णकटु है; यह है विज्ञान की आवाज़, जो सब ध्वनियों को छिपा देती है। यह असंगत है और अस्वाभाविक भी ; परंन्तु सुसंस्कृत रुचि ही इसका पता लगा सकती है। लाखों के लिए तो यह आकाश की अलौकिक आवाज़ है। इसी को हम कहते हैं उन्नति, आधुनिक ज्ञान और वैज्ञानिक सुख की आवाज़। परंतु एक और धीमी आवाज़ सुनाई देती है जिसे बहुत कम सुन सकते हैं। इसमें मानव-हृदय की स्फूर्ति है, लोक-रुचि का समावेश नहीं। इससे लाखों अनभिज्ञ हैं। ये दो

भिन्न-भिन्न आवाज़ें आज साहित्य में सुनाई दे रही हैं। एक उस ओर मनुष्य को ले जा रही है जहाँ उसकी निर्बलता है, उसका नाश है। यह है विज्ञान का चुंबकीय आकर्षण। मनुष्य नैतिक प्राणी भी है और इसी कारण वह आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति को रखता हुआ विज्ञान के विलासों की अक्षय वाटिका में नहीं ठहरता। उसकी आत्मा उसे दूसरी ओर ले जाती है। अन्तरंग और बहिरंग में अंतर अवश्य होगा। अंतर्जगत और बहिर्जगत की सीमाएँ एक दूसरे के समीप होते हुए भी, एक दूसरे से अलग हैं।

कविता क्या है और उसका विज्ञान से क्या सम्बन्ध आदि परिभाषाओं से कुछ काम नहीं चलता। हम जानते हैं कि काव्य और चित्रण-कला सहोदरा कलाएँ हैं। दोनो का ध्येय अन्तरात्मा की सन्तुष्टि है। कविता पढ़ने से और चित्रों को देखने से मानस-तरंगिणी में पवित्र स्फुरण होने लगता है ; प्रत्येक सुन्दर अनुभव को समीप लाना ही कविता है। सुन्दर अनुभव केवल वही नहीं है जो सुख और अच्छाई का वर्णन करे। इस सौन्दर्य को हम नैतिकता के सुनहरे पिंजरे में बन्द नहीं रख सकते। हम उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं; परन्तु वह वहाँ छटपटाता रहेगा। नहीं, यह सौन्दर्य इतना संकुचित नहीं है। यह विस्तृत है और इसकी सीमा जीवन और संसार की सीमाओं के बराबर है। कविता सुन्दर अनुभवों की समाधि-भूमि है। उसे विज्ञान के शुष्क तर्कों से कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्य, जिसमें कविता का अस्तित्व है, कल्पना-प्रसूत संसार के अनन्त सत्यों का दिग्दर्शन कराता है। कविता स्वयं जीवन का और उसके सत्यों का दर्शन कराती है। हृदय-सागर की उत्ताल तरंगें क्षण-भर के लिए इस कविता-रूपी बाँसुरी की करुणा को सुनकर स्तब्ध हो जाती हैं। असली कविता अलंकार-प्राचुर्य से दूर रहकर सदैव वागाडंबर-विहीन, सरस शब्दावली का प्रयोग करती है। कवि भावों की उमड़ी हुई आँधी को अपनी कविता में समेट लेते हैं ; परन्तु केवल भावों से ही कविता का निर्माण नहीं होता। कल्पना की निर्बल नीवों पर कविता की इमारत को हम खड़ा नहीं कर सकते। यदि कवि छोटी-छोटी सुंदर कल्पनाओं का उपासक है और सुकुमार सूक्तियों का संचालक है तो वह सत्य की दृढ़ता का भी उपासक है। उसकी गहरी दृष्टि जीवन पर पड़ती है। उसे सुंदर भावनाओं का दास नहीं बनना है। भावुकता का गुलाम बनकर उसे 'जीवन की समालोचना' से दूर भागना पड़ेगा। अनुभव, वह अनुभव जो अमर है और सच्चा है, कविता का विषय है। क्षणिक अनुभव भी अमर है ; क्योंकि उसमें सौंदर्य का आभास है। यह है जीवन का अमर्त्य और अपार्थिव सौंदर्य। प्रत्येक अनुभव के साथ हमारी आत्मा के अंदर कितनी संवेदनाएँ और उपचेतनाएँ उठती हैं, जो अत्यंत अस्पष्ट और आकुलित-सी रहती हैं। इन्हीं का चित्रण करना कविता का काम है। जीवन-सौंदर्य का अंतर्निरीक्षण करना ही कविता का ध्येय है। प्रत्येक अंग से कविता जीवन को देखती है।

My love is like a red red rose.
....
Tiger tiger burning bright,
In the forest of the night.
....
Child is the father of man.
....

Then let wise nature work her will,
And on my grave her darnel grow.

प्रत्येक पंक्ति एक अनोखे भाव को दिखाती है। बहुत मुमकिन है कि वैज्ञानिक इस पर ठहाका मारकर हँसें और कहें कि नीचे लिखी पंक्तियाँ भी कविता कहलाई जा सकती हैं—

Thirty days hath September,
April, June and November.
या Jack and Jill,
Went up the hill.

इनको तुकबंदी अवश्य कह सकते हैं, कविता नहीं। यदि इन्हें कविता कह दिया जाय तो फिर चने बेचनेवाले की बंदिशों को भी हम कविता कह सकते हैं। क्या निम्न-लिखित पंक्तियाँ कविता है?

चना ज़ोर गरम।

चना चुरमुर चुरमुर बोले।
बाबूजी का मनुआ डोले।

कदापि नहीं। परंतु नीचे दी हुई पंक्तियाँ सच्ची कविता के नमूने हैं।

साहिब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहिं।
राई ते परबत करे, परबत राई माहिं॥

× × ×

यार बुलावै भाव से, मों पै गया न जाय।
तन मैली, प्यू ऊजला, लागि न सकूं पांय॥

× × ×

मोह न अंध कीन्ह केहि केही।
को जन काम नचाव न जेही॥
तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा।
केहि के हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

× × ×

फिरि फिर दौरत देखियत, निचले नेकु रहैं न।
ये कजरारे कौन पै, करत कजाकी नैन॥

× × ×

पिय के ध्यान गही गही, रही-वही ह्वै नारि।
आपु आपुही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥

× × ×

जैसा हम पहले कह चुके हैं। कविता में अनुभव-समष्टि है। कवि की कविता में उसका संवेदना-कोण अवश्य होता है; परन्तु उसकी स्वकीय सहृदयता और राग-विरागमयी प्रवृत्ति की सच्ची अनुरंजना होना भी आवश्यक है।

जिस यथार्थ को कविता अनुरंजित करती है, उसी यथार्थ को विज्ञान अपना ध्येय समझता है। प्रकृति का विश्लेषण करना ही 'साइंस' अपना काम समझता है। छान-बीन करना और वस्तुओं के गुणों को ढूँढ़ना ही विज्ञान का काम नहीं है। विज्ञान का यह दावा कि उसी में स्वाभाविक उपपत्ति है, कविता में नहीं ; नितांत निर्मूल है। विज्ञान जिस सत्य को ढूँढ़ता है वह प्रयोग-शाला में ही रहता है। उस प्रयोग-शाला में वह मनुष्य की आत्मा को भी चीर-फाड़ के लिए ले जाता है। विज्ञान शंका की उत्पत्ति करता है। जब ईसा मरकर जी उठे तो उन्हें अपने कमज़ोर विश्वास-हीन शिष्यों को क्रूस की वेदना का प्रमाण देने के लिए अपने हाथ के छेदों को दिखाना पड़ा था जिनमें कीलें ठोकी गई थीं। यह है विज्ञान का असली रूप। आज-कल पाश्चात्य देश में साइंस का अत्यधिक प्रसार है। हम भी उससे बचे नहीं हैं। साइंस पदार्थों का प्रत्यक्ष विवेचन करता है और मनुष्य को प्रत्यक्षवादी बनाता है। काल्पनिक और भावुक जगत का आकर्षक आभास सबको होता है। केवल विज्ञान को नहीं। विज्ञान की आत्मा या तो रबर की बनी है और या लोहे की। अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ (Words Worth) ने वैज्ञानिकों की ख़ूब खबर ली थी कि वे 'Would botanize over their mother's graves.' बिल्कुल सच है। वैज्ञानिक ऐसा ही प्रतिदिन करते हैं। धर्म के आत्मा-परमात्मा के सामंजस्य और जीवन के अलौकिकत्व से विज्ञान का कोई संबंध नहीं। विज्ञान जीवन को भौतिकता की परिधि में बंद करता है। उसकी परख-प्रवृत्ति वहीं पर केन्द्रित रहती है। कविता का उद्देश्य सत्य की अभिव्यक्ति है। विज्ञान कल्पना और अनुभूति को जो काव्य-कला के अनिवार्य साधन हैं, दूर रखता है। उसे तो यथार्थता की भूख और प्यास है। नंगे जीवन को ही वह सब कुछ समझता है। संसार जैसा है उसी प्रकार उसके बाहरी शरीर (आत्मा नहीं) का वर्णन करना विज्ञान अपना धर्म समझता है। सौंदर्य-सृष्टि से रूखे विज्ञान को कोई मतलब नहीं। यह जीवन को नापता है और तौलता है। अपने तराज़ू पर ही वह प्रकृति की यथार्थता को तौलकर सत्य के नाम से पुकारता है। उसे सुंदर भावों के अनुभव से कोई संबंध नहीं। उसे कल्पना के रंग-बिरंगे चित्रों से नफ़रत है। अपना तराज़ू लिये वह जीवन के पीछे भागता है। मनुष्य की आत्मा को भी वह उसी पर तौलता है। वह ज्ञान की अवहेलना करके उसे कुचलना नहीं चाहता। गिनतियों से वह जीवन को गिनता है और अपने वज़नों से उसे तौलता है। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' उसकी सीमा के बाहर हैं। वह एक विशिष्ट परिधि के भीतर रहकर पारस्परिक विभेदों का पता लगाता है। कविता जीवन की अदृश्य गहराइयों में घुस जाती है। उसकी दृष्टि गहरी है। विज्ञान सतह ही पर रहता है। यथार्थता के बाहर वह जा ही नहीं सकता। आधुनिक निराशावाद भी इसी भयंकर यथार्थवाद से उत्पन्न हुआ है। इसी कारण साइंस के रचे हुए संसार में आशा अप्रधान है और निराशा प्रधान है। कविता में उत्साह और शक्ति है। इस शक्ति में आशा है, और इसी आशा पर मानव-समाज का जीवन अवलंबित है। आधुनिक कविता घबराई हुई है। उसे अपना पथ नहीं दिखाई देता। विज्ञान ही ने भ्रम में डाल रखा है। कविता की असली शक्ति सौन्दर्य के दिग्दर्शन कराने ही में है। विज्ञान इस सौंदर्य को नहीं देख सकता ; क्योंकि उसने संसार की यथार्थता के पर्दे को नहीं उठाया। 'सत्य' का अनुभव उसे कविता ही सिखलाएगी।

लाहौर।

सन् बत्तीस की बात

[शांतिप्रसाद वर्मा]

[श्री शांतिप्रसाद वर्मा को हिन्दी पाठक गद्यकाव्य के एक बहुत ही सफल लेखक के रूप में जानते हैं। आपके अध्ययन और चिंतन का कायल हमें होना पड़ता है। इधर आपने कुछ समस्या-कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें से एक यह प्रस्तुत कहानी भी है। पाठक देखेंगे कि इसमें कितनी विचारोत्पादक शक्ति है और यह कितनी सुन्दर बन पड़ी है। इसी प्रकार की और भी कहानियाँ वर्मा जी 'हंस' के पाठकों के सम्मुख रखेंगे, यह वचन हमें उनसे मिला है। आज-कल आप इन्दौर के होल्कर कॉलेज में इतिहास के अध्यापक हैं।—सं०]

मैं, श्यामाचरण और प्रफुल्ल—हम तीनो रब्बे * में बैठकर लक्ष्मीपुर से लौट रहे थे। संध्या घनी होती जा रही थी, छुट-पुट तारे निकल आये थे। आकाश में एकाध भूला-भटका पक्षी आश्रय की खोज में था। और हमें नगर में लौट जाने की जल्दी थी, लेकिन बैल भी तो दिन-भर के थके हुए थे, और सँभल-सँभलकर बैलगाड़ी के जटिल मार्ग पर क़दम रख रहे थे। पीछे हम गाँव का झुरमुट छोड़ आये थे—और मेरे ठीक सामने पूनो का बड़ा-सा चाँद उग रहा था। प्रफुल्ल और श्यामाचरण रब्बे के दाईं और बाईं ओर बैठे, झकझोरे खाते, प्रकृति के निःस्वन सौंदर्य का आनन्द ले रहे थे।

श्यामाचरण गंभीर प्रकृति के मनुष्य हैं। फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाले ; सशंकित। विचारक इतने गहरे कि एक विचार को जब तक समझकर अपनी पकड़ में लें, तब तक उसका दूसरा पक्ष उनके मन पर इतना स्पष्ट हो जाता कि उसे निरर्थक समझकर वह उससे गला छुड़ाने की कोशिश में लग जाते। साहस उनकी प्रकृति का मुख्य आधार था। दो साल पहले कॉलेज की अपनी अध्यापकी को तिलांजलि दे चुके थे। आन्दोलन की आँधी बत्तीस के प्रारंभ में जब

---

* युक्तप्रान्त के कुछ हिस्सों में दो प्रकार की बैलगाड़ियाँ होती हैं—एक कुछ अधिक संभ्रान्त, रथनुमा जो रब्बा कहलाती है, और दूसरी साधारण, रहलू।

दुबारा उठी तो निःसंकोच उसमें कूद पड़े ; पर अब ज्यों-ज्यों उसमें प्रवेश करते जा रहे थे, उनकी शंकाएँ भी तीव्र होती जा रही थीं। जिस कमज़ोर मानवता के संपर्क में वह आ रहे थे, वह ऐसी नहीं थी कि उसके आधार पर एक सार्वभौम क्रान्ति खड़ी की जा सके। अभी जब तैयारी की इतनी कमी है, तो आन्दोलन का यह गर्द-गुबार क्यों बार-बार उड़ाया जाय ?

प्रफुल्ल प्रकृति में श्यामाचरण के बिलकुल विपरीत, एक उत्तर ध्रुव तो दूसरा दक्षिण ध्रुव। यौवन का प्रथम चरण था। साहस का अंधड़ ज्वालामुखी-सा उसके मन में चीत्कार कर रहा था। किसी ज़माने में प्रांत के क्रांतिकारी आन्दोलन का वह मुखिया था। बारीक-से-बारीक निशाने को उड़ा देना उसके बाएँ हाथ का खेल था—वह इसलिए कि उसका सीधा हाथ बचपन में ही बेकार हो गया था ; पर बाएँ हाथ से भी वह जो लक्ष्य साधता था, उसकी सचाई आश्चर्यजनक थी। दोअन्नी को उछालकर उसे शूट करने का हस्त-कौशल मैं भी देख चुका था। कुछ महीने पहले ही फीरोजपुर में जब गाँधी आये थे, तब उन्हें देखा, कुछ देर बात-चीत की, और तब एकान्त में जाकर उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया। तब से, नाम और कीर्त्ति की आकांक्षा से दूर, मेरे साथ रहकर गाँव-गाँव में भ्रमण करता था, और सविनय अवज्ञा के आंदोलन को आगे बढ़ा रहा था। संदेह नाम का शब्द उसके कोष में नहीं था। जो काम हाथ में ले लिया उसमें जी-जान से जुट पड़ा, यही उसके चरित्र की विशेषता थी।

और मैं—इन लोगों को संयोजित करने वाली श्रृंखला—नेता। कुछ थोड़ा-सा सोच लेता था ; पर उसे काम में लाने की मेरी बचपन से ही आदत रही है। शिक्षा मेरी साधारण हुई है। मध्यम श्रेणी का व्यक्ति हूँ। सत्याग्रह के दिनों में शिक्षक की नौकरी छोड़ी थी, तब से छोटे-मोटे सार्वजनिक कार्यों में लगा रहता हूँ। श्यामाचरण मेरे पुराने मित्र हैं, सहपाठी भी रह चुके हैं। सोचते खूब हैं ; पर काम का अनुभव कम ही है। इस बार आन्दोलन में पड़े तो मुझे नेता बनाकर आगे बढ़े। प्रफुल्ल भी न जाने क्यों मेरे साथ काम करने में आनंद पाता है। एक के विचार और दूसरे की कार्यशीलता को लेकर—और दोनो को एक कड़ी में पिरोकर मैं अपने ज़िले में कुछ जागृति उत्पन्न कर पाया हूँ, और उससे आन्दोलन कुछ आगे बढ़ा है। मैं स्वयं कभी कोई विशेष चीज़ नहीं रहा—न वैसी मेरी आकांक्षा ही है।

लेकिन मैं जब एक ओर श्यामाचरण और दूसरी ओर प्रफुल्ल को लेकर रब्बे में बैठा हूँ, तो क्यों देर तक इन्हें प्रकृति की शान्ति अक्षुण्ण रखने दूँ—कुछ इस विचार से—और कुछ मेरी अपनी इस कमज़ोरी के कारण कि श्यामाचरण और प्रफुल्ल को एक दूसरे से बहस करते देखकर मुझे आनंद आता है—मैंने बातचीत का दौर फिर से जारी किया।

बातचीत का उठान तो धीमे ही हुआ। मैंने कहा—श्यामाचरण, क्या सोचते हो ? लक्ष्मीपुरवाले साथ देंगे ?

श्यामाचरण एक क्षण तक चुप रहे—मानो उस सफ़ेद होते हुए चाँद में कुछ ढूँढ़ रहे हों—और तब गंभीर होकर बोले—लोगों में उत्साह तो दिखाई देता है—देखा नहीं, चौधरी किस जोश में बोल रहा था—कष्ट तो ये लोग सह लेंगे—लेकिन शैलेन, मैं एक बात कहता हूँ—तुम्हारा यह आंदोलन ज़्यादा चलेगा नहीं।

श्यामाचरण बोले क्या, तिनकों के ढेर में चिनगारी-सी डाल दी—प्रफुल्ल भभक उठा—मामाजी, आप तो अपनी किताबें लेकर बैठिये फ़ीरोज़पुर की अपनी स्टडी में, और

लिखिये तारों की गति के ऊपर निबंध ! क्यों पड़े हैं आप इस तेज़ चलनेवाले आंदोलन में ! आप इसके साथ दौड़ न सकेंगे ! छोड़िये आप हम लोगों के ऊपर इसे। हम आपको तीन महीने में बता देंगे कि युक्तप्रांत के किसी भी गाँव से तौज़ी का एक पैसा भी न दिया जायगा !

श्यामाचरण बोले—देखो प्रफुल्ल, आंदोलन को यदि जीना है, तो चलना ही पड़ेगा, वह दौड़ न सकेगा—जितनी तेज़ी से तुम उसे दौड़ाओगे, अंत में उतनी ही उसमें शिथिलता आयेगी। जिन आदमियों के कन्धे पर तुम एक राजनैतिक आंदोलन को ले जाना चाहते हो, पहले उनकी शक्ति तो देख लो। माना, चौधरी में जोश है ; पर रक्त-हीन, अस्थि-हीन, तेज-हीन व्यक्तियों का जो झुण्ड मैली चादरें लपेटे सभा में बैठा था, उसे भी तो तुम पीछे छोड़ नहीं सकते—नहीं तो वह तुम्हें पीछे की ओर घसीटेगा।

मैं और सतर्क होकर बैठ गया—अब पर्वा नहीं थी कि फ़ीरोज़पुर हम कब पहुँचते हैं। वसंत की धीमी हवा चलने लगी थी, और इधर द्वन्द्व शुरू हो गया था।

मैं सोच रहा था—इसका मतलब तो यह हुआ कि आंदोलन को आप बरसों तक चलाइये ! अरे बाबा, आंदोलन तो आँधी ही ठहरी जो उसे करना होगा, जो नये बीज वह बिखेरना चाहेगी, उन्हें बिखेरकर, वह तो चली ही जायगी न ! और मुझे आश्चर्य हो रहा था कि श्यामाचरण आँधी और हवा में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं मानते, या उनका ख़याल है कि आँधी ही को संयत होकर हवा की मंथर गति से आगे बढ़ना चाहिये— और मैं यह भी सोच रहा था कि ऐसी दशा में हवा क्या तो उखाड़ेगी, और क्या बोयेगी। यह तो आँधी ही का काम है कि वह पुरातन का ध्वंस करके एक नये वसंत को जन्म दे।

तब तक रब्बे की गति भी धीमी पड़ चली थी— मानो श्यामाचरण की थकान बैलों पर भी असर डाल रही है।

प्रफुल्ल बात करने में ही सब कुछ नहीं भूल जाता, वह कान खोलकर सुनता भी रहता है, और आँख फाड़कर देखता भी जाता है।

और यह प्रफुल्ल का ही काम था कि उसने देखा कि एक व्यक्ति का आकार गाँव के झुरमुट से अलहदा होकर कुछ तेज़ चलता-सा आ रहा है।

तब हमारी बातचीत का क्रम बदला। गाड़ीवाले से और भी धीरे चलने को कहा—और हम प्रतीक्षा करने लगे कि आखिर क्यों, और यह कौन व्यक्ति यों भागा आ रहा है ? श्यामाचरण ने अपनी चीज़ें टटोलीं कि कहीं कुछ भूल तो नहीं आये हैं—प्रफुल्ल की आँखें उत्सुकता से चमक रही थीं।

तब तक धोती, रेज़े का कुर्त्ता और साफ़े के नाम पर एक कपड़ा सर पर लपेटे एक व्यक्ति गाड़ी के बिल्कुल नज़दीक ही आ गया।

'ठहरिये, ठहरिये, आपसे मिलना है। आपसे काम है। आपसे कुछ पूछना है', —उसका दम फूल रहा था। हमने गाड़ी और भी धीमी की। कहा—कहो। उसे समझाया कि हम रुक तो नहीं सकते। फ़ीरोज़पुर पहुँचकर अपने काम का विवरण देना है, कांग्रेस-आफ़िस में। और वहाँ दिन-भर में क्या हुआ, यह जानने के लिए तो हम उत्सुक हैं ही—हाँ, धीरे चलेंगे। तुम कहो, तुम्हें क्या कहना है। साथ-साथ चलते चलो न ! कुछ दूर से लौट आना। रब्बे में हम बिठा लेते तुम्हें, लेकिन जगह भी तो नहीं है।

और हमने देखा कि कुछ दूर पीछे, पाजामा पहने और एक डुपट्टा लपेटे एक मुसलमान औरत भी, भागती-सी, चली आ रही है—और चिल्ला रही है—करीम, ओ करीम!—उसकी आवाज़ में एक बेबसी है, जैसे करीम जा रहा है तो लौटेगा नहीं। आखिर क्यों वह यों गला फाड़ रही है!

और हमने उस मैले कपड़े पहने; पर स्वस्थ, भीगी मसोंवाले तरुण से कहा—तुम्हारा नाम करीम जान पड़ता है, वह शायद तुम्हारी मा पीछे पुकार रही है। आख़िर क्यों इतना चिल्ला रही है? तुम्हें कहना क्या है? इतने उतावले क्यों हो?

करीम ने हाँफते-हाँफते कहा—हाँ सरकार, मा है। मना करता आ रहा हूँ; पर पीछे चली ही आ रही है। आख़िर पिछड़ जायगी। कहाँ तक पीछा करेगी। आपसे दो बात कहना चाहता हूँ—

'आपका व्याख्यान सुना, और यह जो पंडितजी हैं'—उसने श्यामाचरण की ओर मुख़ातिब होकर कहा, हालाँकि श्यामाचरण सात जन्म पहले भी शायद पण्डित न रहे हों—इन्होंने भी ठीक ही कहा—त्याग दो सब कुछ देस के लिए—मैं चाहता हूँ मैं भी कुछ कर सकूँ, लेकिन समझ में नहीं आता, क्या करूँ—हैरान हूँ...'

मैंने समझाने के लहज़े में कहा—क्या रुकावट है तुम्हारे रास्ते में, करीम? तुम इच्छा कर लो तो क्या नहीं कर सकोगे? देश की सेवा करना तो अच्छा है। उसमें तुम कुछ कुर्बानी करना चाहते हो तो तुम्हें कौन रोक सकता है? कोई रोके भी तो तुम तो अपनी आत्मा की आवाज़ सुनो और वही करो जो ईश्वर तुम्हें करने की प्रेरणा देता है। घबराने की कोई बात नहीं है, करीम!

करीम हिचकिचा रहा था—कह रहा था - रुकावट तो बहुत बड़ी है साहिब, मैं उस पर जीत न पाऊँगा—उससे भागना ज़रूर चाहता हूँ। लेकिन कैसे करूँ यह सब, कुछ समझ में नहीं आता।

वह अपने दोनो हाथ मल रहा था, और तेज़ी से रब्बे के पीछे-पीछे चला आ रहा था। मा उसकी थककर लौट चुकी थी।

'एक औरत है, मैं उसे चाहता हूँ, साहिब, कैसे करूँ...'

श्यामाचरण की नाक-भौं कुछ सिकुड़ी, शायद सोचते हों, देश की बात करने चला है यह आवारा छोकरा—ज़रूर स्वराज्य मिलेगा इन लोगों के बूते पर! प्रफुल्ल ने तो रब्बा रुकवाया और कूद पड़ा और धीरे-धीरे हम लोग भी उसके पीछे-पीछे उतरे। प्रफुल्ल करीम के कंधे पर हाथ रखकर बैठ गया—भाई करीम, तुम सब बात कह दो।

करीम भी झिझका नहीं—अपने आपको खूब ही स्पष्ट भाषा में हम लोगों के सामने रखा—बताया कि वह गाँव के नानू चमार की लड़की सेई को प्यार करता है—प्यार क्या करता है, लाचारी है—खूब अपने को संयम में रखता है, पर उसे देखता है तो अपने को रोक नहीं पाता—न जाने क्यों रुँआ-रुँआ काँप उठता है एक अजीब भावना के वशीभूत होकर—और वह चाहने लगता है कि किसी तरह उसे पाले—और सुंदर भी कितनी है वह लड़की—उसकी आँखें लेकिन कैसी अच्छी हैं! और करीम को भी तो कितना प्यार करती है। घर में कुछ बनता है तो अपने हिस्से में से बचा रखती है और अपनी बकरियों को लेकर जब शाम को करीम लौटता है,

[१५४

उसके पिछवाड़े होकर, व्यग्र, उत्सुक, आँखों से उसकी झोंपड़ी की ओर ताकता हुआ—तब वह चुपचाप लाकर उसे दे जाती है, बिना एक शब्द बोले हुए। और भाग जाती है अपने झोंपड़े में। और, वह लौटता है, एक नये आनंद में मग्न, गुनगुनाता हुआ, और एक नई प्यास अपने शरीर में लिये हुए। और सपने में देखता है कि वह बादशाह बना है, और सेई मलका बनकर उसके पास तख़्त पर बैठी है—और न जाने कैसे-कैसे पागलपन के सपने वह देखता है—लेकिन साहिब, दुनिया में कहीं ऐसा हो सकता है। मा को पता लगेगा तो मर जायगी वह रोती-रोती, और मा भी तो उसे कम प्यार नहीं करती है।

वह भाग जाना चाहता है इस जंजाल से—इस जीवन में उसे सेई से मुक्ति नहीं मिलेगी—आप लोग आ गये हैं, न जाने कहाँ से, फ़रिश्तों के समान; और ऐसी बातें कुछ कहते हैं जो कलेजे में चुभती-सी हैं। त्याग होना चाहिये देश के लिये। आप इतना त्याग कर रहे हैं, इतना कष्ट उठा रहे हैं—हम क्यों न आपका साथ दें—मेरे मन में तो साहिब, बात जम गई है। मैं तो अब आपके भरोसे हूँ, जो आप कहोगे वह करूँगा—लक्ष्मीपुर तो अब लौटूँगा नहीं।

चाँदनी अब ख़ूब फैल गई थी। श्यामाचरण खिन्न-से, और नाराज़-से दूर को टहल रहे थे। प्रफुल्ल करीम की बातें बड़े चाव से सुन रहा था।

मेरे भीतर का नेता जाग उठा। मैंने कहा—नहीं करीम, अब तुम लक्ष्मीपुर नहीं लौट रहे हो। हम लोगों के साथ चलो।

और तब एक बार फिर हम लोगों को लेकर रब्बा चला। बैल कुछ विश्राम पा चुके थे, इसलिए तेज़ी से चले। श्यामाचरण और प्रफुल्ल ने जगह बदल ली थी। करीम हमारे पीछे-पीछे भागता हुआ चला। और इस प्रकार अपने अनुयायियों के समुदाय में एक की वृद्धि करके मैं लक्ष्मीपुर से फ़ीरोज़पुर लौटा।

× × ×

आप इसे मेरी निर्दयता कहेंगे, पर मैं इस बात से बिल्कुल भी लज्जित नहीं हूँ कि मैंने करीम का नाम स्वयंसेवकों में लिख दिया, और इस बात का तो मुझे गर्व ही है कि जेल जाने का जब दूसरा रेला आया, तब करीम के साथ गिरफ़्तार होने वालों में मैं, श्यामाचरण और प्रफुल्ल तीनो भी थे।

जेल में मुझे करीम को अध्ययन करने का ख़ूब ही मौका मिला।

प्रफुल्ल साहब तो जेल के दारोग़ा को सलाम न करने के कारण शीघ्र ही काल-कोठरी में भेज दिये गये। मैं और श्यामाचरण एक ही बैरक में थे। मेरे विशेष अनुरोध पर करीम को भी हमारे साथ ही रखा गया था। और सच तो यह है कि वह न होता तो मेरा जीवन तो सूना ही बीतता। श्यामाचरण अपना कम्बल एक कोने में बिछा किताबें लेकर बैठ जाते। करीम मूँज का ढेर और रस्सी बँटने का सामान लेकर मेरे पास आ बैठता। अपनी तकली एक ओर रखकर मैं भी उसके काम में सहायता देने लगता, और तब हम लोगों की बातें शुरू होतीं—

जेल की पहली प्रतिक्रिया तो करीम के जीवन पर बहुत अच्छी नहीं हुई, वह बहुत अधिक बेचैन हो उठा था। घबराया-सा फिरता और दरवाज़ों के सीख़चों पर सिर रखकर न जाने क्या सोचा करता। बात भी कम करता; पर धीरे-धीरे उसके जीवन में शान्ति प्रवेश करती जा रही थी। बात करने बैठता तब ज़रूर थोड़ा बेचैन हो जाता था। बात करने के लिए विषय

भी उसके पास सेई के अतिरिक्त दूसरा न था।

वह मुझे बताता कि किस प्रकार सेई उसके सम्पूर्ण जीवन पर आक्रान्त हो बैठी थी। कैसे वह अपना जोड़ा गुँथवाने नानू चमार के यहाँ गया, लम्बे सफ़र पर उसे जाना था, इसलिए बिना उसे दुरुस्त कराये वहाँ से चल नहीं सकता था। नानू की बागड़ के बाहर वह उसके चौतरे पर जा बैठा था—आलसी, अकर्मण्य। और नानू जूता गाँठता जाता था और उससे बातों में लग गया था। करीम पानी पीने के लिए जाना चाहता था पर नानू ने उसे उठने ही न दिया। आवाज़ दी किसी को—और तब लजाती, शर्माती, सेई पानी का लोटा लेकर आ गई थी। कौन-सा अमृत था चमार के घर के उस ठण्डे पानी में! पर करीम ने ख़ूब तृप्त होकर उसे पिया, और सतृष्ण आँखों से सेई की ओर देखते हुए लोटा लौटा दिया। नानू का जूता गाँठने का काम और बातों का क्रम दोनो जारी थे। सेई उसके बाद कई कामों से बाहर आई, और भीतर गई—वैसी ही लजाती और शर्माती हुई और हर बार करीम के मन पर एक लहर-सी दौड़ गई।

उसके कई दिनों बाद की एक बात भी करीम ने मुझे बताई। वह अपने जानवरों का रेवड़ लेकर लौट रहा था, संध्या के झुटपुटे में। तब वही लड़की उसे मिली, वहीं उसी झोंपड़ी के पिछवाड़े। न जाने किस काम में लगी हुई थी। करीम जब पास से निकला, तब उसने अपनी सुंदर आँखें ऊपर उठाईं, और बोली—पानी नहीं पियोगे? बा घर पर नहीं हैं।

करीम मंत्र-मुग्ध-सा उसके साथ घर पर गया। न जाने कहाँ से कुछ थोड़ी-सी मिठाई, गुड़ और लाई के लड्डू और थोड़ी-सी बर्फ़ी—सेई ने उसके लिए एक कटोरदान में रखकर दी—बिना कुछ बोले हुए, केवल अपनी मूक आँखों से उसकी ओर देखते हुए। और वह उसे चुपचाप खा गया, बिना सेई से किसी प्रकार का आग्रह या इसरार किये। लोटा-भर जल पिया, और उठ खड़ा हुआ। सेई के घने बालोंवाले सिर को दोनो हाथों से दबाकर अपनी छाती में चिपकाते हुए बोला—सेई, तुम कितनी अच्छी हो!

तब से यह उसका नित्यक्रम हो गया था कि करीम जब शाम को रेवड़ लेकर लौटता तो सेई दरवाज़े के पिछवाड़े खड़ी उसकी ओर देखती रहती। और जब बा घर पर न होते, दौड़कर उसके आलिंगन में बँध जाती, और दो-चार बातें करके लौट आती थी।

जेल में ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, सेई की बातें कुछ कम हुईं और करीम से मैंने गाँव की और भी बातें सुनीं। पटेल और सेठ मन्नालाल की गुट, पटवारी के अत्याचार, उसकी मा की भलमंसाहत, रामू और किसुन के आपसी संबंध, आदि सैकड़ों विषय इस प्रकार के उठ आये जिनमें करीम की स्पष्ट दिलचस्पी मुझे दीखी, और मैं भी ख़ूब रस ले सका। दो महीने के बाद जाकर करीम का जीवन ठीक रास्ते पर आता दिखाई दिया। अब तक तो आँधी में पड़ी हुई नौका के समान उसकी दशा थी। अब संयत और शान्त बना। और एक रोज़ श्यामाचरण को किताबों से जब थोड़ी फ़ुर्सत मिली, मैंने करीम की बात करते हुए उनसे कहा—श्याम, तुम कहते हो हमारा व्यक्ति अभी इतना पतित और गिरा हुआ है कि उसके आधार पर कोई महान् काम खड़ा नहीं किया जा सकता। करीम को तो तुम देख रहे हो न?

पर तब तक श्यामाचरण व्यक्ति और सामूहिक आंदोलन के अपने विचारों को पीछे छोड़ आये थे—गन्ने के पोरों का रस पी लेने के बाद फेंक दिये गये छिलपट के समान। और अब किसी दूसरे विचार के अध्ययन में लगे हुए थे। मेरी बात को न समझकर बोले—हाँ,

तुमने उसे सेई से अलहदा करके अच्छा ही किया। अब वह ज़्यादा खुश मालूम होता है।—और तब वह फिर अपनी पुस्तकों में सिर गड़ाकर जा बैठे।

× × ×

बारिश वैसे भी जीवन में एक शिथिलता ले आती है। मैं कई दिनों से देख रहा था कि करीम अपने उस पार के बराखडे में बैठा हुआ मूँज की रस्सी बँटा करता है। बीच में जो खुला हुआ थोड़ा सहन था, उसे पार कर मेरी कोठरी में कम ही आता था। कुछ गुमसुम-सा रहने लगा था। मुझ पर इधर कुछ श्यामाचरण का असर भी पड़ा था, और मैं भी किताबें लेकर अपनी चादर के भीतर जा बैठता था, और करीम की इस अन्यमनस्कता पर कई दिनों तक ध्यान ही न दे सका। कभी-कभी किताब से सिर उठाकर मैं जब उसकी ओर देखता तो उसके चेहरे से मालूम होता जैसे वह किसी षड्यंत्र में जुटा हुआ है; पर उन दिनों तो मैं उस षड्यंत्र के अध्ययन में ज़्यादा दिलचस्पी ले रहा था जिसने रूस में ज़ार का तख़्ता उलट दिया था।

और एक दिन जब वर्षा धीमी थी, और मैं अपनी कोठरी से निकलकर बरामदे में आ गया था—किताब मेरे हाथ में थी; पर बन्द थी—मैं खपरैलों से गिरनेवाली बूँदों को मानो गिन रहा था—तब मैंने देखा कि सीख़चों के बाहर, लाल चुँदरी लपेटे एक काली-सी लड़की खड़ी है, और करीम उससे बातों में जुटा है।

मुझे लगा कि जैसे मैंने इस लड़की को कहीं देखा है। और तब लछमीपुर का वह संस्मरणीय दिन मेरी आँखों के सामने नाच उठा, जब मैं श्यामाचरण और प्रफुल्ल के साथ चमारों के मुहल्ले में गया था, और किसी चमार के एक बड़े, चौकोर, अँधेरे घर में घुसकर उसके रहने की स्थिति देखी थी। आदमी घर पर था नहीं। एक छोटी-सी बच्ची रसोई के लिए सुरक्षित कोने में बैठी खाना खा रही थी। और पीछे के दरवाज़े से जब हमने बाहर झाँककर देखा तो एक कोने में दबी, सकुचाई, यह लड़की खड़ी थी। हमने उसे समझाया था कि किस तरह पूर्व की ओर की बड़ी दीवार में एक खिड़की खोली जा सकती है जिससे सारे घर में उजाला रह सकता है, और वह लड़की, चुपचाप, अपनी बड़ी गोल आँखें खोले, हमारी बातें सुनती रही थी, बिना हाँ या ना किये। और तब अचानक, बिजली की चमक के समान यह विचार मेरे मन पर आया कि हम नानू चमार के घर हो आये हैं, और यह लड़की सेई है, और हमारी जानी-पहचानी है।

मैंने स्नेह की आँखों से उसकी ओर देखा। उसकी करीम के साथ जो घुल-घुलकर बातें हो रही थीं, उनमें विघ्न डालने का डर न होता तो मैं जाकर पूछता—सेई, पूरब की दीवार में तुमने वह खिड़की खुलवा ली? पर अब तक सेई की तरल, भोली आँखें मेरी ओर देखने लगी थीं, और मैंने देखा—मेरे प्रति बहुत अधिक सद्भाव नहीं है उस दृष्टि में। और केवल उस समय एक क्षण के लिए मुझे ऐसा लगा कि इन आँखों से करीम को जुदा करके मैंने बहुत अच्छा नहीं किया। और मैं अपनी किताब में और अधिक सिर गड़ाकर बैठ गया।

इस मुलाक़ात के बाद करीम मेरे प्रति फिर वैसा ही श्रद्धालु और स्नेहशील हो गया। मूँज का ढेर लेकर वैसे ही पास आ बैठता, और गाँव की बातें करता।

बत्तीस के उन संस्मरणीय दिनों के करीम के जिस प्रसंग को मैं आपके सामने रख रहा हूँ, उसके संबंध में एक बात और आपसे कह दूँ, और तब विदा लूँ।

एक रोज़ सबेरे की ही बात है। दिन अच्छी तरह निकला भी न था। मेरी एक कमज़ोरी है। बुद्धिवाद के बहुत निकट संपर्क में आकर भी बचपन से संध्या कर लेने की जो आदत पड़ गई है, वह छूट नहीं सकी है। तो मैं बैठा हुआ संध्या ही कर रहा था कि करीम आया और मेरे पैर पकड़कर बैठ गया। उसकी आँखें सूजी थीं मानो रात-भर रोया हो। बोला—सेई को प्यार कर मैंने कोई पाप नहीं किया है। उसने मेरी आत्मा को गिराया नहीं। दुनिया क्यों इसे पाप मानती है?

उसकी आँखों में उत्तर की प्रतीक्षा थी; पर मैं चुपचाप था। सोच रहा था—इस बिना पढ़े-लिखे अशिक्षित, गँवार की आत्मा में कैसा मंथन चलता रहा है—और कष्टों की ज्वाला में तप-तपकर वह कैसा खरा सोना निकलता आ रहा है! करीम के प्रति मैं अधिक श्रद्धालु हो उठा।

और तभी, दूर से, राष्ट्रीय गीत की कड़ियाँ सुन पड़ीं। स्वयंसेवक नित्य के समान प्रभात-फेरी पर निकल रहे थे। सन्नाटे को चीरता हुआ वह राग बड़ा ही सुन्दर लग रहा था। अभी हाल ही में शुरू होनेवाली प्रभात-फेरी की यह पद्धति जेल के हमारे जीवन में एक नया संगीत ले आई थी। पर उस समय तो मैं करीम की समस्या में व्यस्त था, श्यामाचरण पुस्तक के अध्ययन में डूबे हुए और करीम खुद...

मैंने देखा, वह दौड़कर सींख़चों से जा लिपटा है। बाहर ऊँची दीवार है। कुछ दिखाई नहीं देता। पर उसकी गीली आँखों में एक चमक है। मुझे लगा कि करीम का व्यक्तित्व यह जो अधिक-से-अधिक सौम्य बनता चला जा रहा है, सेई के प्यार ने ही उसे ऐसा नहीं बनाया, आंदोलन की ये जो उत्ताल तरंगें विशाल—विशालतर होती चली गई हैं, इनके प्रति भी उसका असंस्कृत व्यक्तित्व सतत जागरूक है। सेई में उसने जो खोया इस आंदोलन में उसे वह मिला है, और आदान-प्रदान की इस क्रिया में, उसके माथे पर कुछ झुर्रियाँ ज़रूर पड़ गई हैं, और उसके चेहरे पर भी कुछ गम्भीरता आ गई है; पर आत्मा का धन उसे मिला है।

प्रभात-फेरी का गीत, दूरी के कारण, अस्पष्ट हो चला था, और मैं सोच रहा था—मैं और श्यामाचरण जब जेल से छूटेंगे तब शायद कुछ ग़रीब होकर ही घर लौटें—संस्कृति और तहज़ीब की यह जो काली चादर हमारे व्यक्तित्व पर आ लिपटी है; पर करीम वास्तव में अमीर होकर बाहर निकलेगा।

प्रफुल्ल कहीं हमारे बीच होता, और इस प्रकार सोचता, तो ज़रूर श्यामाचरण को झकझोरकर कहता—मामाजी, आप हैं किस ख़याल में? छोड़िये इन किताबों को और सोचिये तो सही, करीम जैसे व्यक्ति को लेकर जो समाज एक क्रान्ति करना चाहता है, वह सफल क्यों न बनेगा!

पर बात मामाजी की ही सच निकली। आंदोलन शिथिल पड़ चला। जेल से निकलकर हम लोगों ने देखा, दुनिया वैसी ही, शायद कुछ अधिक सहमी हुई है। समाज के जिस सुनहले पुनर्निर्माण के स्वप्न प्रफुल्ल देखता रहा है, उसकी कहीं छाया तक नहीं है, और मैं तो इस मानी में ज़रूर ग़रीब हो गया हूँ कि करीम का साथ छूट गया है। बत्तीस के दिनों की ये स्मृतियाँ मन में जब कभी जागृत हो जाती हैं, मैं आश्चर्य से सोचने लगता हूँ—कहाँ होगा इस समय करीम? और, उसे सेई मिली या नहीं?

इन्दौर। [१५८

दिवाली

[हरदयाल 'मौजी']

[श्री हरदयाल सिंह 'मौजी' हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में नवागंतुक हैं ; पर आपकी प्रतिभा असंदिग्ध है। आपने कुछ प्रथम श्रेणी की कहानियाँ लिखी हैं, जो आदर की वस्तु है।—सं०]

आज २२ अक्टूबर सन् १९३८ को दिल्ली में भी दिवाली मनाई गई ; लेकिन बुरी या भली कुछ विशेषता के साथ। शहर आतंक की साँस ले रहा था। बाज़ार दिवाली की याद भर दिला रहे थे। सड़कों पर जैसे कठपुतले चल रहे थे—शून्य-भाव, शंकित, और चोटी-बेचोटी का ख़याल रख, दाँये-बाँये देखकर कन्धे-से-कंधा 'बचाते' हुए। कुछ को किसी की मृत्यु का ग़म था, कुछ को किसी की घायल अवस्था का और कुछ को इस-उस की गिरफ़्तारी का। और दूकानदार बहुत सतर्क हुए बैठे थे—देखें किसके माल-पूआ की बलि का अब नंबर आता है! पर हाँ, और भी प्रदर्शनीय एक स्थान था—घंटाघर, जो लाल पगड़ियों से लाल-लाल था और शिव-भक्तों के जय-घोष से कभी-कभी गुंजायमान। साधारण आदमी को उधर से निकलते भय लगता था। वैसे अन्य स्थानों पर भी काफ़ी प्रदर्शन था—दो-दो चार-चार की टोली में थके-माँदे कानिस्टबिल उनींदे पैरों से डोलते दिवाली की शोभा बढ़ा रहे थे।

यह सब था अबकी दिवाली का शृंगार ; लेकिन दिवाली तो मानो उससे रूठी बैठी थी। कोई उत्साह उसमें न जान पड़ता था। पर हाँ, फिर भी उसके प्रेमियों ने उसे मनाने की कोशिश की। कुछ-एक ने तो उसे मनाया ही—बहुत खुश-खुश और मन भरकर। मानो दैवयोग से ही उन्हें इस वर्ष यह एक सुअवसर मिला। और गुप्ताजी उन्हीं में से एक थे। क्यों न? दिवाली की देवी लक्ष्मी की उन पर सदैव विशेष कृपा रही है। और इससे सेठ तो वे हैं ही, लेकिन आवश्यक रूप में देवी-देवताओं और उन संबंधी पर्वों में प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हैं। अत्यंत धार्मिक वृत्ति के वे व्यक्ति हैं। भोले इतने कि दुनिया में अपने काम और धर्म को छोड़कर तीसरी बात नहीं जानते—उनके सीधेपन की आज-कल के छोटे-छोटे छोकरे भी मज़ाक उड़ा लेते हैं। लेकिन वे इसकी कुछ परवाह नहीं करते। भले करे कोई मज़ाक, वे अपने काम से काम रखते हैं और दृढ़ कर जानते हैं कि जब तक वह ठीक है, सब ओर सब ठीक है—सुख ही सुख है—उसमें उन्हें कोई धोखा नहीं। बाज़ार में एक अच्छी चलती बजाजे की दुकान है, और पास ही उनकी बिठाई एक प्याऊ और उनका बनवाया एक मन्दिर है। लोक-परलोक दोनों ठीक हैं।

लेकिन यह तो है ही, ख़ास खुशी उन्हें इस दिवाली पर एक और ही वजह से है। वह यह कि आज उन्होंने शिवजी को भी मानो प्रसन्न किया है—अपने एक सच्चे सेवक को शिव-मन्दिर के रक्षार्थ भेंट किया है। वह उनका स्वामी-भक्त युवक कहार है जो आज सुबह ही घंटाघर पर गिरफ़्तार हुआ है। और वह उन्हीं का आदमी है। उसके बाल-बच्चों का निर्वाह आवश्यक समय के लिए उन्हीं के ज़िम्मे है। इस कार्य की धार्मिकता सचमुच ही उनके रोम-रोम में व्याप्त होकर उन्हें पुलकायमान कर रही है। तिस पर, आज लक्ष्मी-पूजन का दिन है!

हाँ, तो शाम हुई, दिवाली मानो जगने लगी। जहाँ-तहाँ मकानों की मुंडेरों पर बालक-बालिकाएँ और युवक-युवतियाँ रोशनी-भरे थाल लिये चढ़ते दिखाई पड़े। और थोड़ी ही सी देर में तारे-से छिटकाकर, दिवाली मानो बोल उठी—मैं आ गई। गुसाईंजी ने भी विधि-पूर्वक पूजन कर अपने हर्ष का प्रकाश मानो दिया-दिया करके मकान के नीचे-ऊपर सब जगह फैला दिया। तत्पश्चात भोग लगाया और फिर बच्चों को साथ ले रोशनी दिखाने के लिए वे बाहर चल दिये।

लेकिन नीचे उतर जैसे ही वे सड़क पर आये कि सर्वप्रथम अपने विशाल भवन को दाँयें-बाँयें नीचे से ऊपर तक देखा, देखकर मन ही मन उसकी जगमग-जगमग छटा पर ईश्वर को धन्यवाद दिया। और फिर दोनो ओर बच्चों को हाथ देकर रोमांचित हुए वे आगे की ओर बढ़े—उन्हें अनुभव हुआ दिवाली मानो उनका आलिंगन कर रही है।

लेकिन कुछ ही क़दम चलने के पश्चात् उन्हीं के मकान के कोने पर जैसे किसी ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने देखा कि कोने का वह तबेला, जिसमें उनके उस धर्म-हित दिये गये सेवक का परिवार रहता है, प्रकाश के स्थान पर अन्धकार से ठसाठस भरा हुआ है और उसकी सूनी देहली पर एक पांच-छः साल की बालिका ठिनक-ठिनककर रो रही है और खोई हुई-सी आते-जाते व्यक्तियों में जैसे किसी को पाने की चेष्टा करती हुई बीच-बीच में 'बापू', 'बापू' पुकार उठती है। यह देख, कंचन-से शरीर में जैसे कोढ़—यह कोना उनकी आँखों में हूल दे गया। माथा सिकोड़ते हुए वे उस लड़की की ओर बढ़े और बोले—क्यों, क्या हुआ?

लड़की ने जैसे उस ओर कोई ध्यान न दिया और उसी दम रोते-रोते पुकारा—बापू! बापू!

'बापू आ जायँगे बेटा!'—सेठजी ने तब कहा और फिर तबेले के अंधकार को चीर-कर कुछ देख सकने का एक निष्फल प्रयास करते हुए वे बोले—और यह तेरी मा कहाँ गई है, बेटा?

'भीतर।'—लड़की ने रोते-रोते जवाब दिया।

'भीतर!'—सेठजी अत्यंत अचरज में हुए बोले,—यहाँ तो कोई चकारता भी नहीं।—और तब 'सरूपिया! सरूपिया!!' उन्होंने आवाज़ दी।

'जी!'—भीतर से आवाज़ आई।

'क्यों, कैसी तबियत है?'—सेठजी ने तुरंत पूछा।

'अच्छी है।'—उत्तर मिला।

'अच्छी है!'—सेठजी को जैसे कुछ गरमाहट हो आई—आज दिवाली के दिन क्या इस घर में एक दिया भी जलाने की क़सम खा ली है?

सरूपिया चुप रही—सिसटी-सी, उत्तर देने में जैसे कोई मार्मिक घाव उसका छू जायगा।

'क्यों, बोलती नहीं री!'—सेठजी ने फिर कहा।

सरूपिया को फिर भी न सूझ पड़ा कि जिस बात का उत्तर केवल उसके हृदय की असमर्थता है, उसे वह क्यों कर बताये। आख़िर उसने धीरे से कह दिया—तेल नहीं था।

'तेल नहीं था! हूँ-हूँ!'—सेठजी हँसे और बोले—अरे पगली, आज तुझको यह भी नहीं मालूम था कि दिवाली है, जिसके लिए लोग हफ़्तों से तेल-बत्ती ठीक करके रखते हैं? और अगर नहीं भी था तो ऊपर हम तो दूर नहीं रहते; वहीं से ले लेती!—और फिर रुककर जैसे अफ़सोस करते हुए वे बोले—न-न यह सब तेरा फूहड़पन है...घर पर घरवाला नहीं तो चिराग़ की भी फ़िक्र नहीं रही। क्यों री?...और फूहड़पन ही क्यों, नास्तिकता कहो, घोर नास्तिकता!...आज है कोई ऐसा हिन्दू-घर जहाँ कम-से-कम दस दीये न जलते हों!—और फिर कुछ देर रुककर जैसे दाँतों में अगुँली काटते हुए बोले—क्यों री, तुझे यह भी ख़याल नहीं हुआ कि मेरा पति आज ऐसे धर्म के काम पर गया है, उसके लिए कम-से-कम दो दीये ही घी के जलाकर लक्ष्मी महारानी का अर्चन कर लूँ। ताज्जुब है, कैसा तेरा पति और कैसी तू!—और अंत में मानो चेतावनी देते हुए वे आगे बढ़े—बावली, यह दिवाली का अंधकार है, जिसने इसे आज निकाल दिया, निकाल दिया; वर्ना साल-भर घर में अँधेरा ही अँधेरा रहता है। जा उठ, जल्दी चार दिये जला। देखती नहीं समूचे मकान के प्रकाश को इस कोने की नहूसत जैसे खाये जा रही है।

सेठजी यह कह आगे बढ़े और सरूपिया, जो खड़ी-खड़ी अब तक मानो लहू के घूँट पी रही थी, भीतर-ही-भीतर पूछ बैठी—क्या मैं अपने पति और अपने को तुम्हारे बराबर भी नहीं जानती? मैं जानती हूँ, सब जानती हूँ, पर अब जो कुछ हो चुका, उस पर फिर और यह...? —और वह फफक-फफककर रोने लगी। रोते-रोते उसकी सिसकियाँ, सुबकियाँ और चीख़ भी निकलीं और फिर बक छूटी तो न जाने क्या-क्या बकने लगी।

और तब के गये सेठजी इधर-उधर बच्चों को घुमा-फिरा और रोशनी दिखाकर लौट भी आये; किन्तु सरूपिया उसी दम सिसकती रही—दिये जलाने की ओर तो ध्यान ही भला क्या दे पाती। सेठजी आये और माथा ठनकाकर वहीं फिर रुक गये। बोले—क्यों री, तूने माना नहीं?

इस पर भीतर सिसकी की आवाज़ तो धीमी हो गई, किन्तु उत्तर कोई न मिला।

'क्यों री, ओ सरूपिया!'—सेठजी ने फिर पुकारा।

सरूपिया अब बिल्कुल चुप हो रही।

सेठजी ऐसी अवज्ञा के आदी न थे। फिर भी, पराई और अकेली औरत का ख़याल कर, बेबसी में भीतर-ही-भीतर तिलमिलाते हुए बोले—अच्छा!...तो न मानेगी? तो एक बात सुन!—मैं न जाने किस लिहाज़ से यह तेरी हिमाक़त इस वक्त बरदाश्त कर रहा हूँ; लेकिन आगे तुझे रहना है तो सलीक़े से रहना होगा—इस नेस्ती और नहूसत को दूर रखना होगा। वर्ना... वर्ना तेरी किसी बात का ज़िम्मेदार होने को मेरी तबियत गवाही देती नहीं मालूम होती। ओफ़! कैसी हठीली औरत उस भले के पल्ले पड़ी है! राम-राम मैं तो...

और यह कह सेठजी बच्चों को ले ऊपर चढ़ गये। किन्तु इधर क्षोभ से सरूपिया के भीतर जैसे लपटें उठने लगीं—कहाँ उसने अब तक अपने पति को भी कोई अपशब्द निकालने

का मौक़ा नहीं दिया था और कहाँ अब यह ! ज़िम्मेदारी उठा लेने की धमकी तो मानो उसके रहे-सहे धैर्य को भी ले गई। माना कि वह गाँव के एक मज़दूर की बेटी थी; लेकिन ऐसी धमकी पी जाने का संस्कार उसे अब तक प्राप्त न था। दबते-दबते भी जैसे उसका आत्माभिमान बोल उठा—नेस्ती ! नहूसत !!...धर्म इनके घर और नेस्ती मेरे ! जैसे इस नेस्ती का देनेवाला कोई और है।...तन बेच दिया तो मन भी बेच दिया है ? पर वह बिक सके तब न ! कैसे मनायें दिवाली जब उसका कोई...

और वह फिर फफकने लगी। फफकती रही; किन्तु सेठजी की बात उसके दिल से न हटी। आख़िर वह उठी और कुछ सँभालने लगी।

सेठजी उधर बच्चों को ले ऊपर पहुँच गये। किन्तु उनके पहुँचते ही सेठानीजी रोष करके बोलीं—आज इस सरूपिया चपरासिन को किसने छेड़ा है ? न-जाने क्या-क्या कह रही है। यहाँ तक सुनाई आ रही थी।

'कुछ भी तो नहीं !'—सेठजी बोले—मैंने सिर्फ़ यह कहा कि भई, आज दिवाली का दिन है, तुमने घर में दिया भी नहीं जलाया। इसी पर वह बिगड़ रही होगी।

'क्या सच ? दिया तक नहीं जलाया !'—सेठानीजी आश्चर्य कर बोलीं—बर-दिन के बर-दिन ऐसा असगुन ! क्या ठीक है ? तभी... और इसके पश्चात् कुछ रुककर और सोचकर वह फिर अफ़सोस के साथ बोलीं—पर तुमने भी क्यों छेड़ दिया ? न-जाने क्या-क्या कह-कह हमारे बच्चों को दुरसीस रही थी। आज दिवाली के दिन यह अच्छा नहीं हुआ।

'तो क्या बहुत बुरी-बुरी बात कह रही थी ?'—सेठजी ने व्याकुल हो पूछा।

'कुछ ऐसा ही कह रही होगी।'—सेठानीजी ने और भी चिन्ता से दबे स्वर में कहा।

'अच्छा !'—सेठजी ने उसी तबेले की ओर मुँह करके कहा, और फिर कुछ सोचते हुए बोले—ख़ैर, हम सब ठीक कर देंगे।

'क्या कर दोगे ?'—सेठानीजी ने पूछा ?

'कल ही कह देंगे कि जहाँ जाना हो चली जाओ।'

'ठीक।'—सेठानीजी बोलीं और तभी फिर रुकते-रुकते कहा—लेकिन तब क्या वह और भी ज़्यादा हम और हमारे बच्चों पर आह न खींचेगी ?

इस पर सेठजी ने जैसे अत्यन्त दीन होकर बेचैनी से आँखें टिमटिमाते सेठानीजी के मुख की ओर देखा और फिर जैसे किसी दलदल में फँसे हुए बोले—तो क्या करूँ ?...जाओ, तुम्हीं जाकर मना आओ कि वह हमें माफ़ करे और दिवाली का दस्तूर कर ले।

यह बात, जो सेठजी के मुँह से खीज में निकल पड़ी, सचमुच ही सेठानीजी की समझ में आ गई और वह उठीं और खटखट ज़ीने से नीचे उतर गईं।

लेकिन जब वह लौटीं तो ज़ीने ही में से चिन्तित हुई बोलीं—वहाँ तो कुछ भी नहीं है।

'कुछ भी नहीं ?'—सेठजी ने तभी दुहराकर कहा—तो क्या कहीं चली गई ?

'बिल्कुल चली गई मालूम होती है !'

'अच्छा !'—सेठजी यह कहते हुए उठे और यों ही छत से सड़क की ओर झुककर देखा। फिर बोले—गई तो फिर हम क्या करें ?

'लेकिन उसे छेड़कर आज के दिन अच्छा नहीं किया, न-जाने कम्बख़्त कब-कब तक

[३६१

दुरसीसेगी ।'—यह कहते हुए सेठानीजी भी सेठजी के पास आ खड़ी हुईं। और तभी सेठजी ने साहस की एक साँस भरकर कहा—पागल हो !...न-जाने ऐसी कितनी दुरसीसनेवाली हमने देखी हैं । आख़िर जो कुछ भी धर्म-कर्म मैंने किया है, क्या दुरसीस लगने के लिए किया है !

सेठजी इधर यह कह रहे थे और सरूपिया उधर स्टेशन पर खड़ी सोच रही थी कि कहाँ और कैसे जाय ।

[संस्कृति-संघ-द्वारा]

दिल्ली ।

पुत्रनी वाट जोती

रझडु दीकरा ! घेर आवजे
नहि वढुं तने, नासी ना जजे.

विषम रातने देव-दीवडे
भजती मातने दीन-झुंपडे
पथ भूल्या शिशु ! आवी पोंचजे
पथ बीजे चडी क्यांय न जजे.

प्रहरी हे भला ! पाय लागुं हुं
गभरुडी थई तात ! वीनवुं :
रझडु दीकरो, क्यांय जो मले
पथ बतावजे, घर भणी वले.

हिन्दी अनुवाद

पुत्र की प्रतीक्षा में

ओ मेरे भटके पुत्र ! तू घर लौट आना ।
मैं तुझपर नाराज़ न होऊँगी ; (इस
डर से) भाग न जाना ।

भयंकर अँधेरी काली रात में,
याद करती मा की ग़रीब झोपड़ी में
पथ-भूले शिशु ! तू आ जाना
दूसरे रास्ते पर हो कहीं (और जगह)
न चले जाना ।

हे भले प्रहरी ! मैं तेरे पाँवों पड़ती हूँ
घबराकर तुझसे प्रार्थना करती हूँ
(कि) मेरा भटका पुत्र यदि कहीं मिल
जाय, (तो) उसे राह बता देना ।
(ताकि) घर की ओर लौट आवे ।

('फूलछाब' साप्ताहिक से)

जीवन

[नित्यानन्द]

[श्री नित्यानंद एक सफल कहानी लेखक हैं। अभी थोड़े दिनों से आपकी कहानियाँ सहयोगी 'विशाल भारत' में छपने लगी हैं। 'हंस' के पाठकों के सम्मुख हम आपकी कहानी 'जीवन' खुशी से प्रस्तुत करते हैं।—सं]

मैं सत्य को पाना चाहती थी। उस वक्त चिन्ता ने आकर मेरा हाथ थाम लिया और कहा—चलो मेरे साथ, मैं तुम्हें सत्य के पास ले चलती हूँ; पर तुम रास्ते में डरना-पछताना मत।

'मैं किसी से नहीं डरती।'—मैंने कहा।

चिन्ता ने मेरे ऊपर एक करुण दृष्टि डाली; किन्तु कुछ कहा नहीं। वह मुझे एक बड़े आलीशान कमरे में ले गई, जहाँ हर प्रकार के वाद्य, संगीत, चित्र, तथा अन्य कलाएँ थीं। यहाँ तो डरने की कोई बात नहीं थी।

'यहाँ पर कलाएँ रहतीं हैं।'—चिन्ता ने कहा—तुम एक को ले सकती हो; पर याद रखो—अपने आप, ख़ुद पसन्द करके तुम उसे लो। वह तुम्हें सत्य के पास पहुँचने में मदद देगी।

तब मैंने एक वाद्य को उठाते हुए कहा—मुझे संगीत पसन्द है! मैं गन्धर्वों की तरह बजाना सीखूँगी, चाहे मेरी जान ही न चली जाय।

कितने उत्साह से मैंने बजाना-गाना आरम्भ किया था! संगीत के पीछे मैं पागल प्रेमी की भाँति पड़ गई थी! मैंने चाहा कि वह मुझे सत्य तक पहुँचाये, पर वह हमेशा मुझसे आगे रहती थी—या मुझसे ऊँचे उड़ान मारती थी और मैं बजा-बजाकर थक जाती थी। मेरे गले में राग अस्फुट होकर रह जाता था। तब दुःखित होकर मैं जंगल में भाग गई—और वहाँ मुझे कुछ सांत्वना मिली।

फिर एक दिन चिन्ता ने आकर मुझे हिलाया—तुम अभी तक रही-सा ही गाती हो, यूँ ही बजाती हो! चलो, आगे चलें; तुम कलाकारिणी नहीं हो।

मैंने बाजा एक ओर रख दिया, और रोने लगी।

[५६४

'छिः, रोती हो ?'—चिन्ता ने पूछा—तुम तो धैर्यमयी थीं न !—फिर वह मुझे एक धुँधले कमरे में ले गई...वहाँ पर पुस्तकों के ढेर लगे थे। 'यहाँ तुम्हारी आत्मा के लिए भोज्य सामग्री है। खोजो ; विज्ञान में ही सत्य का निवास है।'

मैं एक कुर्सी पर बैठ गई और सीखने लगी। किन्तु मैं धीरे-धीरे ही पढ़ती थी। कभी-कभी हवा ज़ोर से चलती और मुझे अद्भुत राग सुनाती, कभी चिड़ियाँ आकर मनमोहक कहानियाँ सुनातीं...और तब पुस्तक में के अक्षर मेरी आँखों के सामने से मिट जाते। मैंने कितना चाहा कि इस अर्थ-हीन कल्पना को रोकूँ। किन्तु वह मुझ से ज़्यादा ताकतवर थी! कभी-कभी वह मेरे हाथ में लेखनी थमा देती थी, और मैं छोटी-मोटी कविताएँ लिखती, और फिर उन्हें छिपा लेती।

अन्त में मैं हताश होकर बोली—ज्ञान भी मेरे लिए नहीं है। वह मुझे मृत मालूम पड़ता है, और मैं...मैं जीवन चाहती हूँ।

'तुम जीवन चाहती हो ?'—चिन्ता ने आकर पूछा—तब तुम्हें डरना न चाहिये !

'मैं नहीं डरती। मैं जीवन चाहती हूँ।'

तब चिन्ता मुझे ले चली। मैंने देखा कि एक सुन्दर होनहार बालक मृत्यु से लड़ रहा है, उसका कष्ट असह्य है ; किन्तु दुःख उसे नहीं छोड़ रहा है। पर धैर्य भी उसके पास ही है। दो वर्ष तक यह भीषण युद्ध रहा, और तब मैंने चिन्ता से पूछा—सत्य कहाँ है ? क्या इसी का नाम जीवन है ?

जब वह मरा तब मैं पहले पहल काँप उठी, डर से। तब चिन्ता मुझे एक मृत्यु-शय्या से दूसरी मृत्यु-शय्या के पास ले चली ! कितने ही सुन्दर पुष्प जो मेरे साथ फले-फूले थे, मैंने कुम्हलाते देखे—और रो-रोकर मेरी आँखें धुँधला उठीं।

'क्या यही जीवन है ?'—मैंने फिर पूछा। तब चिन्ता मुझे ले चली—उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम ; मैंने हर जाति, हर कला, हर कौशल, हरेक धन-संपत्ति को देखा—समुद्र, शहर, पहाड़ इत्यादि फिरी—यहाँ तक कि मैं घर के लिए बेचैन हो उठी—उसी घर के लिए जहाँ मैंने कइयों को मरते देखा था। जहाँ पर अब मेरे पिता की आँखें भी मुंद गई थीं ! तब मैं दुःख के मारे मरने को थी।

'अभी मरोगी ?'—चिन्ता ने पूछा—और तुम तो धैर्य की डींग मारती थीं न ? अभी तो तुम ने जीवन ही नहीं पाया ; क्योंकि अभी तो तुम प्रेम से वञ्चिता हो।

यह कहते हुए उसने मेरे हृदय पर हाथ रखा और एक महान नदी की तरह प्रेम मेरे हृदय में भर गया, और फिर अत्यन्त छिप-छिपकर मैं कविता करने लगी।

परन्तु सत्य प्रेम में न था—और न त्याग में, क्योंकि मुझे पता न था कि त्याग क्यों आवश्यक है ! चिन्ता ने मुझे पकड़ रखा था। और बहुत देर तक मेरी चाल अत्यन्त धीमी थी। मैंने सत्य की खोज करनी छोड़ दी थी। अन्त में मुझे मालूम हुआ कि सत्य कर्म में रहता है—महान् कर्म में। जब चिन्ता ने यह सुना, तो मेरा सिर उठाया और सामने की ओर दिखाकर कहा—वह देखो, एक आदमी खड़ा है। क्या तुम उसे आमरण प्रेम कर सकती हो ? यह देखो, तुम्हारा पथ—ऊबड़-खाबड़, कँटीला है, और खाइयों से होकर उच्च पर्वत-श्रेणी तक गया है—क्या तुम इस पर चल सकती हो ? और वही तुम्हारे लिए कर्म है—महान् ! क्या तुम करोगी ?

'हाँ करूँगी।'—मैंने उत्तर दिया।

तब चिन्ता ने मुझे विवाह-ग्रन्थि में बाँध दिया और मुझे मातृत्व का उच्च पद प्रदान किया। और मेरे कन्धों पर बड़े भारी कार्य का भार रख दिया। मुझे मार्ग सुझाई न देता था और कठिनता से आगे बढ़ पाती थी। वहाँ, दोनो ओर घृणा और कलह खड़ी थीं; किन्तु मैं डरती न थी क्योंकि मैं मा थी। किन्तु बहुत दिनों तक वह सौभाग्य मेरा न रहा। मेरे शिशु की आँखें मुँद गईं और मैंने उसे चिता पर रख दिया! किन्तु तब भी मेरा सिर न झुका और मैंने चिन्ता से कहा—अब, जब जीवन की सारी आशाएँ, सारी कामनाएँ जल गई हैं, मुझे सत्य के दर्शन होने चाहियें! मैं इसकी अधिकारिणी हूँ।

तब चिन्ता ने मेरे हाथ में लेखनी पकड़ा दी और कहा—खोजो।

और मैंने लिखना शुरू किया—लिखती गई। मुझे मालूम न था कि यह भी एक कला है। मैं तो कला-लाभ से पहले ही निराश हो चुकी थी। मैंने मनुष्यों के अन्तरतम को पहचाना, उनके विचारों की थाह पाना सीखा, पर मुझे सत्य न मिला। फिर मैं उद्विग्न हो उठी। अन्त में मैं बीमार पड़ गई। और उस बीमारी की अवस्था में मुझे संसार के सभी कटु अनुभव हुए। वे सभी निराशाएँ, दुश्चिन्ताएँ जो कि किसी के हृदय को पीड़ित कर सकती हैं, मुझसे लड़ीं और तंग आकर मैं मृत्यु की कामना करने लगी। तब चिन्ता ने आकर मुझे चंगा होना सिखाया। और फिर मेरी लेखनी चलने लगी। मेरी कल्पना-शक्ति बढ़ उठी।

तब ज़मीन काँप उठी और कलह नज़दीक आ पहुँची। उसकी नासिकाओं में आँधी थी, आँखों में अग्नि, हाथों में वज्र...उसके कपड़े मानो आकाश को अन्धकारमय कर रहे थे। हमने जीवन, धन, मान इत्यादि सब की आशा त्याग दी। हमारे हृदय से रक्त के आँसू निकलकर टपक पड़े। अन्त में जीत हमारी ही हुई; किन्तु सत्य यहाँ भी न था। कलह से हम शुद्ध होकर तो निकले; परन्तु ईर्ष्या और लोभ रास्ते में खड़े थे।

'ओह, सत्य! सत्य!'—मैंने कहा—मेरा यौवन बीत गया है। मैंने सभी कष्ट भुगत लिये हैं; किन्तु तुझे न देख पाई।

तब चिन्ता ने कहा—वह देखो, सत्य है।

मैंने सर उठाकर देखा कि दूर नदी-तट पर एक बालक खड़ा है।

'क्या वह बालक सत्य है?'—मैंने पूछा

'हाँ।'

'तो उससे डरूँ न?'

'नहीं।'—पर चिन्ता के यह कहते-कहते वह बालक बढ़ने लगा...यहाँ तक कि सारा विश्व भी उसमें समा गया।

'वह देखो, सत्य है।'—चिन्ता ने कहा—अब अपने भीतर देखो, वहाँ पर भी वही है!

मैंने देखा, और कहा—क्यों मैं मूढ़ा की भाँति भटकी? सत्य तो मुझमें ही था—बाहर-भीतर। और अब...अब मैं मरूँगी।

'नहीं।'—चिन्ता ने कहा।

तब मैं मूर्छित होने लगी; पर चिन्ता ने मेरा हाथ थाम लिया और मुझे जीवन-पथ पर ले चली।...

कलकत्ता।

आज और कल

[जनार्दन राय]

[श्री जनार्दन राय से 'हंस' के पाठक परिचित हैं। आपने कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य तथा निबंध लिखे हैं। आपका एक सुन्दर ऐतिहासिक नाटक 'आधीरात' प्रकाशित हो चुका है।—सं०]

प्रवीण सवेरे-सवेरे उठा तो ऐसा मालूम हुआ कि वह इस दुनिया में ज़बरदस्ती धकेल दिया गया है। नित्य-कर्म से निवृत्त होने तक तो उसकी यह भावना अत्यंत तीव्र रही; आख़िर वह ऐसे कुल में पैदा ही क्यों हुआ, जो नवाब साहब की कृपा के भार में इतना डूबा हुआ है। अपने तन-बदन के कहे जाते जो ये संबंधी हैं, उनमें वह कितना बेगाना, कितना अकेला है? विचारों से, भावों से, कार्यों से वह जैसे सारे समुंदर से अलग एक टापू-सा उस विशाल कुनबे में स्थित था।

और इसी लिए कभी-कभी वह अपने जीवन से इतना खिन्न, इतना निराश, इतना डूबा-सा रहता था। आज सुबह-ही-सुबह तो समाचार-पत्र के एक समाचार ने उसके अंतःकरण की अग्नि की राख फूँककर भभका दिया। वह देर तक बैठा बजरंगपुरवालों के निश्चय की तारीफ़ करता रहा और अपनी आत्मा की बेड़ियों को मानो कातर दृष्टि से देखता रहा—गिनता रहा। इस पृष्ठ का वह सनसनी-भरा समाचार-पत्र मानो उसके लिए कोरा-कष्ट था। आख़िर वीरों का शंखनाद सुनाई पड़ा ही: उसके जीवन में ऐसे शंखनाद सुनने के कई प्रसंग आये थे; पर वह कानों में अँगुली डाल देने के लिए मज़बूर किया गया था। छोटी-छोटी अँगुलियों के छोरों ने आत्मा के सिंहनादों को मानो निबिड़ चुप्पी में बदल दिया था—प्रवीण, यह था उस समय अपने ही अंतरात्मा के साथ अत्याचार।

ठीक तो—वह उठा और चुपके से अपने कमरे में चला। देखा—साढ़े सात बज रहे थे; पौन घंटे बाद नौकरी पर। लिखना चाहता था; पर जैसे किसी ने हृदय में प्राणों की आग लगा दी हो, यों वह बेचैन-सा होकर आरामकुर्सी पर लेट गया।

कुछ देर वह मन के अँधेरे पर अत्यंत तरंगित समुद्र के किनारे यों खड़ा रहा।

कि सविता द्वार के बीचो-बीच आ खड़ी रही। 'रुपया चाहिये।'—उसने ध्यान से प्रवीण के चेहरे को देखते हुए कहा।

प्रवीण ने हाथ लंबाकर टेबल का दराज़ खोला और अठअन्नी निकालकर फेंकी—रुपया नहीं है ; इससे काम चलाओ।

अठअन्नी देखी, तो सविता झल्ला उठी—या तो तरकारी और तेल मँगवाऊँ या केवल घी ही। कुर्सी से उठने का आलस है। मा है नहीं, नहीं तुमसे क्यों मुफ़्त में सर खपाती ?

प्रवीण को ऐसा लगा, सविता जान-बूझकर उसे चिढ़ा रही है। इस समय वह सविता-द्वारा एक प्रकार का समर्थन चाहता था, जिसे हम सहानुभूति कह सकेंगे, अवश्य ! जिस संघर्ष में उसकी आत्मा दोनो ओर से चीरी जा रही थी, उस संघर्ष में उसे छद्म-ही-छद्म एक शहीदी का रस आ रहा था ; बोला – तुम्हें सिवाय सुपारी-तम्बाकू के और भी कुछ माँग है ?

सविता को इस व्यंग की ध्वनि समझने की फ़ुर्सत न थी ; पास खिसक आई, बोली—अबकी मैं सियालकोट अवश्य जाऊँगी।

प्रवीण ने मन-ही-मन अपने होंठ काटे ; मन-ही-मन जैसे बाल नोंचे। बोला—मेरी बात का क्या जवाब है ? सिवाय तेल-नौन के और भी कुछ तुम्हें चाहिये ?

सविता ने कहा—तुम जानो। मैं यहाँ हरगिज़ न रहूँगी। मुझसे यहाँ की ठंड बरदाश्त न होगी। इस बार तो मर जाऊँगी भी तब भी जाऊँगी।

प्रवीण का धैर्य्य यों बह चला, जैसे बाढ़ में फूस की झोपड़ी। बोला—अच्छा, पधारना। और सिर धुनकर वह आराम-कुर्सी पर ही करवट बदलने की चेष्टा करने लगा।

सविता ने जाते-जाते कहा—अब बदलना मत। खीझ तो रहे हो ; पर मैं जाऊँगी अवश्य ही। – और वह जैसी आई थी, वैसी ही चली गई। केवल मन में हलकी थी। एक क्षण-भर के लिए वह जैसे मन के विमान पर चढ़ सियालकोट के अपने मकान पर पहुँच गई। अम्माँ से मिली, बहनों से मिली, सखियों से मिली।

प्रवीण ने बाइसिकल उठाई और चला ; जैसे फरज़ियात किसी के यहाँ बैठने जा रहा हो। इस समय वह आँखें मूँदकर अपने अथाह को देखना चाहता था। अपनी अंतरात्मा को साक्षात् करना चाहता था। जो द्वन्द्व उसमें हो रहा था, उसका श्रम, उसके घाव वह अपने दुखी हिरदे में डूबकर बुझाना चाहता था।

आती-आती ठण्डी के सुनहले प्रभात ; शहर के बाहर की सड़क—डामरपुती और कुछ दूर पर जाकर स्थित खेतों की पंक्ति। सरसराट वह साइकल पर चला जा रहा था। क्या तरकीब करूँ कि मैं सत्याग्रह में मिल सकूँ ? न मिला तो दुनिया को मुँह क्या दिखाऊँगा ? जनता क्या कहेगी, क्या सोचेगी ? प्रवीण ! उसके अंतरात्मा की बलवान पुकार उठी—कहीं डिगा तो समझ ले सदा के लिए चांस गया।

पैडल पर जम-जमकर पैर पड़ने लगे मैं जाऊँगा ज़रूर ! ज़रूर !! उसने उचक-उचककर पैडल मारना आरंभ किया ; और फिर स्वच्छ नील गगन में दूर-दूर तक प्रणाम करते हुए खेतों के ऊपर जैसे एक दृश्य चित्रित हो उठा। एक जमघट हज़ारों का खड़ा है। वह भी उसमें है। एक वीर मंच पर खड़ा-खड़ा राष्ट्रीय गीत गा रहा है। झण्डा उसके हाथ में है। केसरिया वस्त्रों में सज वह मर्द हाथी की तरह झूम रहा है। कि पुलिस आती है, लोग सगबगाते हैं ; डरते हैं—भगदड़। झंडाधारी गिरफ़्तार होता है, वह कहता है—झण्डा गिरने न पाये। पर अचल शान्ति

रहती है। सहसा भीड़ चीरकर वह शेर की चाल चलता आगे आता है और वन्देमातरम् के गगन-भेदी नारे के साथ झंडा हाथ में धरता है—यह झंडा हमारे मुक्ति-संग्राम का निशान है।

प्रवीण का रोम-रोम बगरा हुआ, आँखों में प्रकाश। अब साइकल अत्यंत धीमी, साँस मन्द। वह जैसे भाषण देने लगा—राज्य सदा प्रजा का है और रहेगा। ईश्वर की भूमि और उसके संतानों को अपनी सम्पत्ति और गुलाम समझने का किसी भी मनुष्य को अधिकार नहीं है। और नवाब साहब को यह मालूम होना चाहिये, वे दिन हवा हो गये जब मनुष्यों ने राजा को भगवान का अवतार माना था। वह ईश्वरत्व का प्रतिनिधि तभी हो सकता है, जब वह डाकू न हो; पर संत हो, त्यागी हो। अब वह ज़माना आ गया है, जब ये राक्षस, प्रजा के सभी शत्रु-तलवार के घाट...

कि ब्रेक आप-से-आप लगी; स्कूल का दरवाज़ा बन्द था। हेडमास्टर ने उसे देखा तो बोले—मिस्टर! आप हमेशा देर से आते हैं।

प्रवीण ने स्कूल की घड़ी देखी और बोला—घड़ी आगे है।

बूढ़ा हेडमास्टर ठनका—अजी, सब इसी घड़ी से आते हैं!

प्रवीण ने कहा—मेरा मिनट-मिनट कीमती है, जनाब! मुझसे यह नहीं हो सकता कि आध घंटे पहले यहाँ आकर बैठ जाऊँ।

हेडमास्टर ने भौं चढ़ाकर कहा—मैं हुज्जत पसंद नहीं करता। आपको स्कूल की घड़ी से आना होगा। आज आप पंद्रह मिनट लेट आये हैं, दर्ज कीजियेगा। Punctuality is the soul of the school-

'लेकिन स्कूल के कोई आत्मा भी है?'—वह सहसा पूछ बैठा।

हेडमास्टर ने अब तीवर चढ़ा लिये; बोला—आपका क्या ख़याल है?

'नहीं है; रत्ती-भर भी नहीं है।'—वह बोला—जहाँ रटाई, मार, भय और केवल परीक्षाओं का साम्राज्य हो, वहाँ आत्मा कैसे होगी? मैं इसे बूचड़खाना समझता हूँ।

सव्यंग हँसकर हेडमास्टर ने कहा—आप के ये रिमार्क एजुकेशन-मिनिस्टर को पसन्द न आयेंगे।

'न आयें मुझे किसी की पसन्दगी-नापसन्दगी की चिन्ता नहीं है।'—वह अपनी क्लास में चला गया।

लड़कों ने उसे देखते ही कहा—मास्ट' सा'ब, शिवपुर में सत्याग्रह होगा। आप जायँगे न?

'मैं? क्यों? मैं पढ़ाऊँ कि जेल में जाऊँ?'—अन्तःकरण पर करौंती चलाते हुए वह बोला—मैं तो तुम लोगों को पढ़ाऊँगा; तुममें देश प्रेम भरूँगा; तुम्हें देश की सेवा के योग्य बनाऊँगा।

'खादी; पहननेवालों को पुलिस गिरफ़्तार कर लेगी', एक लड़का बोला—तब आप क्या करेंगे?

'तब मैं भी जेल चला जाऊँगा।' वह बोला—आज पढ़ना भी है या नहीं? मैथिली-शरणजी ख़तम कर दें...

एक खद्दरधारी लड़का बोला—आज तो बातें ही होने दीजिये।

सबने सहमति दी कि आज लोक-परिषद की बातें हों; कांग्रेस की बातें हों; हर हिटलर की बातें हों। और बातें तो चल रही थीं; केवल उनका रुकना-भर था; पर वे द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ती चली गईं। प्रवीण का रुँधा हुआ मन इस वार्तालाप से कुछ तसल्ली पा रहा था। एक प्रच्छन्न भय कि एजुकेशन-मिनिस्टर क्या करेंगे, उसकी मनसा में यों रेंग रहा था जैसे रस्सी के साथ तिनका।

[२]

सविता अड़ बैठी; वह मर जायगी तब भी सियालकोट जायगी। प्रवीण ने पहले क्यों कहा था कि अबकी पीहर चली जाना। अब, जब उसका मन मा-बाप पर बँध गया है, ख़त लिख दिये गये हैं, सब तीर छूट गये हैं, प्रवीण ना कह रहा है; कम-से-कम वह बरदाश्त न करेगी। बोली—आप अब ऊपर से नीचे गिरो, मैं तो जाऊँगी।

प्रवीण ने मा की ओर देखा, बोला—तुम क्या कहती हो, मा? मुफ़्त में रेलवे को आने-जाने में ४०) रुपए दे देने पड़ेंगे। इतने रुपए की औषध जो शरीर में जायगी, तो वह ताज़ा हो जायगी। मुन्नी के टाइम भी कुछ खाया-न-पीया।

मा ने कह दिया—मैं इस पचड़े में नहीं पड़ती।

सविता ने झल्लाकर कहा—अब आप भी किनारा कर रही हैं।

प्रवीण—ज़िद हो तो बात अलग है।—और उठ आया। रविवार होने से छुट्टी थी और वह चाहता था कि सविता के साथ बैठकर भावी जीवन का निश्चय कर ले। कुछ कह ले, कुछ समझ ले; पर सविता को तो पीहर जाने की रट लगी हुई थी। वह खीझा हुआ अपने कमरे में आ रहा। और करता क्या? उसके तन-बदन में आग-सी लग रही थी। आख़िर इसके क्या माने हैं? मुँह से निकला वह होकर रहेगा? नहीं होगा यह।

उसकी इस धमकी को दोपहर की चुप्पी ने सुना या उसकी अंतरात्मा ने। 'यह क्या है? यह भी हिंसा है। आख़िर क्यों सविता को रोक रहे हो? क्या तुम्हारा काम अड़ा रहता है?'—अंतःकरण की इस आवाज़ ने बहुत बेर उसे शर्मिन्दा किया था; अंधकार-पूर्ण जीवन में अनेकों बार उसे उजेला दिखाया था। और इतनी हया उसमें बाक़ी थी कि वह अपने मन को घूर-घूरकर देख ले। सविता का शरीर तुम्हें इतना अतार्किक, इतना हिंसक बना रहा है? और शरीर का उपयोग अब तुम कैसे कर सकते हो? दुनिया को ऋषी-मुनियों की व्यवस्था न पालने के लिए उलहना देते हो और ख़ुद? उसकी आत्मा ने जैसे उसके गाल पर जलता हुआ तमाचा दे मारा—ढोंगी! धोखेबाज़!

कि उस वृत्त-घटा को दो भागों में चीर, हवा के लचकीले पट पर धीरे-धीरे प्रखर सूर्य की तेजोमयता धारण किये एक विश्व-विख्यात मूर्ति उसकी ओर जैसे आ रही हो। हाँ, हाँ तो। वह जैसे स्पष्ट, सजीव यह अनुभव कर रहा था। और जो संगीत उसकी दैवी पद-ध्वनि से हो रहा था, जो दिव्य बन्धन उसके वरद हाथ सत्याग्रही, देश-व्रती को बाँध रहे थे, उनसे उसकी आत्मा नंगी और मुक्त थी।

वह गहरी आह खींचकर लेट गया।

जैसे वह अपने मन के अथाह और अंधकार-पूर्ण समुद्र में उतर रहा हो। एक के बाद एक, यों भयानक कामनाएँ भयानक जानवरों के समान उसके मन में बसी हुई थीं। सबसे

प्रमुख थी यश की भावना। यह जो वेदना उसके कलेजे में आज-कल हो रही थी, वह निरी लीडरशिप के अवसर के विनाश की आशंका से पैदा हुई थी। जब वह कामी है, अ-ब्रह्मचारी है, भोगी है, स्वार्थी है; तब वह भारतीय स्वाधीनता-युद्ध का सिपाही कैसे हो सकता है? वह जब एम० ए० होना चाहता है, वकालत करना चाहता है, बँगला चाह रहा है; तब वह उस फ़क़ीरी को कैसे अपना सकता है, जो भारतीय-मुक्ति यज्ञ के प्रत्येक बलिदान के लिए आवश्यक है।

नहीं, अभी कुछ और ठहरो। ठहरो? वह अब हँसा; मूर्ख! इसी दम से प्रारंभ कर। एक उल्लसित बल के भाव ने, प्रभात के अंशु के समान मन के टकराते हुए बादलों को दूर कर दिया। और वह उठ बैठा।

कि उसके पिताजी ने पुकारा—प्रवीण!

प्रवीण को मालूम न था कि उसके चाचा वहाँ जमे हुए हैं। देखते ही भाँप गया कि आज हाइनेस में रंग जमा है। कुछ-न-कुछ हुआ अवश्य है। वह मूर्तिवत् आ खड़ा हुआ।

उसके पिताजी का मुँह जैसे तेज़ाब से जल गया हो, यों विकृत हो रहा था; बोले—कहो, जो कहना हो। यह रहा; मैं तो कुछ न कहूँगा इसे। मुफ़्त में अपमान कौन करवाये।

चाचा साहब ने अपनी ही मूँछों की ओर देखते हुए कहा—मैं तो इसका मुँह तक देखना नहीं चाहता। मैंने कह दिया; हाइनेस ने फ़रमा दिया है, अगर लोक-परिषद में मिला, तो नौकरी से निकाल दिया जायगा।

'सुना?'—प्रवीण के जन्मदाता गर्जे।

प्रवीण के मन में जैसे एक के बाद दूसरा यों तीर लग रहा था। उसे ताज्जुब हो रहा था कि वह क्या देख रहा है, सुन रहा है? तीस रुपट्टी क्या दे रहे हैं, मन, वाणी, आत्मा, शरीर सब कुछ ख़रीद लिया है! उसने मन-ही-मन अपने को कोसा, देख ले दुनिया...

कि चाचा साहब ने अधीर होकर कहा—इस नीच के कारण हमारी इज़्ज़त धूल में मिल जायगी।

'मुझे तो मेरी नौकरी की चिन्ता हो रही है।'—प्रवीण के पिता बोले।

चाचा ने पुनः कहा—मानेगा तो नहीं; पर कह देना ठीक है। कृपाकर उन बदमाशों के साथ मत लगना, नहीं दर-दर मारे-मारे फिरोगे।

'वे बदमाश नहीं हैं।'—प्रवीण ने अब कहा।

'तब कौन हैं?'—दहाड़कर चाचा ने पूछा—एक बार नहीं हज़ार बार बदमाश, लुच्चे, शैतान। सालों को उत्तरदायी शासन चाहिये! जूते मिलेंगे; जूते!

'जेल में पकड़कर ठूँस दिये जायँगे।'—पिताजी उछले।

प्रवीण ने उत्तर दिया—मुझे समझ में नहीं आता, आप लोग क्यों इतना उछल रहे हैं? आप लोग तो उत्तरदायी शासन उन्हें नहीं दे रहे हैं।

'सामने सवाल-जवाब करता है!'—चाचा ने पैंतरा बदला।

'बी० ए० क्या हो गया, अपने को लाट साहब समझता है।'—पिताजी ने जोड़ा।

प्रवीण ने मारे क्रोध के कहा—वे दिन लद गये हैं, जब धूर्तों, लालचियों, प्रजा के शत्रुओं की बातों को 'बड़ों का अनुभव' बतलाकर मनवाया जाता था। समय की आँखें आज कहीं अधिक सूक्ष्मता से सचाई देख रही हैं। बदमाश, लुच्चे, शैतान वे हैं, जो ग़रीबों के रक्त से

मौज उड़ाते हैं। व्यभिचार, रिश्वत, घमण्ड, तुच्छता, नीचता और बर्बरता के जो घर हैं, ढोंग के अवतार, उन्हें आज शैतान माना जाता है...

चाचा साहब जैसे थिज गये ; पानी ठंड में जैसे जम गया हो ; और पिताजी कुर्सी पर यों बैठे रहे, जैसे कोई पद-भ्रष्ट। प्रवीण एक साँस में सब कह गया और पुनः अन्दर। बाहर दोनो मुरब्बियों की मुख-रूपी तोप से गालियों और अभिशाप के वचनों के गोले बरसते रहे। और समय आगे बढ़ता ही गया।

रात को प्रवीण जब कुछ देर से घूमकर लौटा, तो मा ने उसे अपने पास बिठाकर कहा—तुम लोक-परिषद् में हो क्या ?

'अभी तक तो नहीं हूँ।'—वह बोला।

तो मेरी बात मानो, वह बोली—तुम यहाँ से बाहर चले जाओ ; और बाहर कांग्रेस का काम करो। यहाँ कुछ भी नहीं रखा है।

पर प्रवीण ने तारों-भरे आकाश को बड़ी देर तक देखा था ; अन्धकार में लीन दुनिया को भी देखा था और अपने मन के तम और दिन के द्वन्द्व को भी उसने जीवन-सागर के किनारे खड़े होकर सुना था। बोला—मैं अब किसी की परवाह नहीं करता। मैं धैर्य और सत्य के मार्ग पर हूँ।

थोड़ी देर तक मा चुप रही ; फिर बोली—यह नेटिव स्टेट है ; यहाँ न क़ायदा है, न क़ानून। तुम जानते हो, आज उनको अलग कर दे तो कल खाने के साँसे पड़ेंगे। इतना विस्तार किस की भाड़ में डालोगे ?

'ईश्वर की।'—वह बोला।

मा हँसी, बोली—आज ईश्वर कहाँ से आ टपका ? अब तक तो ईश्वर-वीश्वर कुछ भी न था। क्योंकि गांधीजी कहते हैं, तुम भी कहने लगे ? प्रवीण, यह सरासर आत्म-प्रवंचना है।

'आत्म-प्रवंचना ?'—वह जैसे चाँटा खाकर बोला—कैसे ?

'कैसे ?'—वह भगवती बोली—तुम्हारी यह सारी उछल-कूद यश की लिप्सा है। तुम, मैं कहती हूँ, देश-सेवा के लिए अभी योग्य ही नहीं हो। तुम में अभी तक क्रोध है, हिंसा है, द्वेष है। पतितात्मा देश की सेवा सहसा नहीं कर सकता। गाँधीजी को लिख पुछवा दूँ ?

प्रवीण चुप ; जैसे किसी ने मुँह पर मोम लगा दिया हो।

मा ने कहा—जेल में जायेंगे अभी ! तुम्हें पिछानता है कौन ? तुमने अब तक जन-सेवा का ऐसा कौन काम किया ? वृथा बेवक़ूफ़ी करने से क्या होगा ? देश-सेवा, जेल में जा बैठना नहीं है।

सोते समय सविता ने कहा—तुम्हारा दिमाग़ आज-कल ख़राब हो गया है।

प्रवीण चुप ; वह चुप-चाप मन के मौन तीर पर बैठा था।

'जेल में जाना ही था, तो शादी क्यों की ? बच्चे क्यों पैदा किये ?' वह बोली—देखती हूँ कैसे जेल जायँगे।

प्रवीण ने हताश होकर सविता की आँखों में देखा।

[३]

निश्चित तिथि को बजरंगपुर में कुछ उत्साही व्यक्तियों ने सत्याग्रह छेड़ दिया। मानो वर्षों से इसी अवसर की टोह में थे। एक ने झण्डा लिया और लोक-परिषद् की जय बोली; गिरफ़्तार हो गया। यों एक के बाद दूसरी गिरफ़्तारियाँ होने लगीं। और प्रवीण एक छद्म-साक्षी के समान यह युद्ध देखता रहा। पीछे सी० आई० डी० के आदमी लगे हैं, इसी भाव में उसे कुछ संतोष मिलने लगा। लोगों ने खद्दर पहनना छोड़ना शुरू किया, प्रवीण ने बाल भी इधर-उधर न किया, यही उसके लिए काफ़ी तसल्ली देनेवाली बात थी। जैसे एक तूफ़ान आया हो, यों लोगों के सर लाठियों से फूटने लगे, बेड़ियों की झनकारें बजने लगीं और प्रवीण अपने घर में आग की लपटों पर जीने लगा। लोगों की निगाहें इशारे में पूछतीं—आप? बाहर? प्रवीण एक रहस्यमय उत्तर देता—चुप्पी।

और आन्दोलन बुलबुलों की तरह उठा; और दब गया। नवाब साहब ने पुलिस को सहस्त्रार्जुन बना दिया और उसने जो समझ में आया किया। सारे राज्य-भर से चुन-चुनकर खद्दरधारियों को पकड़ लिया गया। जैसे आँधी आई हो। यों यह व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ और शान्त हो गया।

पर प्रवीण ने देखा कि उसकी जीवन-आशाएँ आकाश के मन्दिर की तरह नष्ट हो गईं। उसके सभी मित्र जेल में थे—सभी। केवल वही बाहर था। बाहर, वह साइकल पर घूम सकता था, हर कहीं आ-जा सकता था, जो मर्जी आये खा-पी-पहिन सकता था, किताबें पढ़ सकता था, पर जेल के बाहर रहकर उसने अहर्निश अग्नि-जीवन बहोर लिया था। यह आग इतनी विचित्र थी कि बुझाये न बुझती। वह लोभ और राग के पानी से कुछ देर ठण्डी तो अवश्य होती; पर पुनः भभक उठती।

सविता मना करने पर भी चली ही गई। और प्रवीण मन मारकर स्टेशन पहुँचा आया। उसके विद्रोह की विजय हुई। सविता ने साफ़ कह दिया था, वह उसके विचारों को फालतू समझती है—बिल्कुल वाहियात! न तो वह खादी पहनेगी, न उसे इस बारे में कोई सहानुभूति ही है। प्रवीण ने अपनी पराजय, अपनी कमज़ोरी दीपक के समान देख ली।

सुबह-ही-सुबह वह उठकर धूप में बैठा था कि एक 'बेबी कार' आकर उसके सामने रुकी और एक संभ्रान्त महिला ने अन्दर बैठे-बैठे ही कहा—मैं श्रीयुत प्रवीणचन्द्रजी से मिलना चाहती हूँ।

'वह मैं ही हूँ।'—प्रवीण साश्चर्य उठ खड़ा हुआ।—घर में पधारिये।

'नहीं, मैं इसी ट्रेन से जाऊँगी।'—वह श्रीमती बोली—मैंने 'कमल' में आपका लेख पढ़ा है। यहाँ आई तो किसी ने बतलाया, आप भी यहीं बसते हैं। सोचा, मिलती चलूँ।

एक मन्द मुस्कराहट! प्रवीण अपने सम्मान को समझ मन-ही-मन झेंपा, बोला—बड़ी कृपा की।

'कृपा? नहीं। कृपा तो आप लोग करते हैं। आपकी एक कहानी ने मेरा जीवन ही बदल दिया।'

प्रवीण का वह महीनों का द्वन्द्व जैसे क्षण में ग़ायब हो गया।

'यह तो आपकी गुण-ग्राहिता है।'—उसने विवेक किया। पर रोम-रोम एक प्रच्छन्न ख़ुशी के मारे फूला हुआ था।

उसने कहा—मैं तो मैं, मेरे पति को भी आपकी दो-एक रचनाएँ काफ़ी पसन्द आईं। अच्छा, तो मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिये।

और उसने छोटा-सा चाँदी का दावात और सोने की कलम प्रवीण के हाथों में रख दी—यह आपकी 'जीवन और मृत्यु' के लिए। सच्चा साहित्य वह है, जिसमें अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब मिल जाय। है न?

वह सोत्साह बोला—अवश्य। वह साहित्य ही क्या जिसमें अपने जीवन की झंकार न हो। आपने मेरी उस कहानी को समझा।

वह हँसी और बोली—ऑल राइट, गुडमार्निंग। याद रखियेगा—यह मेरा पता। और छोटा-सा सुनहला विज़िटिंग कार्ड उसे दे, वह सुश्री जैसी आई थीं, वैसी ही चली गईं। और प्रवीण खुशी-खुशी; पर ताज्जुब में रँगा इस भेंट को जैसे आँखें फाड़-फाड़कर निरखता रहा।

कि सामने श्रीमती विमला देवी आती दिखाई दीं।

प्रवीण की वह तन्मयता ग़ायब हो गई। अब? इस देवी के पति सबसे पहले जेल-यज्ञ की बलि हुए हैं और उसने वादा किया था कि वह उनके पीछे उनके कुटुम्ब की देख-भाल करता रहेगा। आज दस दिन से वह उधर गया ही नहीं।

देवीजी ने नमस्ते किया और बोलीं—उसका प्रबंध हुआ?

'नहीं'—मारे शर्म के उसने सिर हिलाकर 'ना' कहा।

'तब?'—देवीजी ने निराश होकर कहा—मैं आपके भरोसे रह गई। मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिये। उन तीन ग़रीबों के घर में रोज़ का दाना रोज़ आता है।

प्रवीण गाय-मारा-सा खड़ा रहा।

देवीजी ने फटकारा—आपको ना कह देना चाहिये था।

प्रवीण ने कहा—प्रबंध तो मैंने कर रखा है। आप घर पहुँचिये, मैं लेकर आया।

एक सूक्ष्म, पर दिव्य संकल्प उसके स्वर में गूँज-सा रहा था।

दो-तीन मिनट देवीजी चुपचाप खड़ी रहीं; फिर-चुपचाप हाथों से नमस्ते कर चली गईं। और प्रवीण ने साइकल सँभाली। क़लम-दावात लिये और सीधा अपने एक धनी मित्र के पास पहुँचा। वह इस समय अपनी इस सबसे क़ीमती वस्तु का त्याग करेगा। मोह और त्याग, इन दो भावों का संघर्ष तब तक होता रहा जब तक वह मि० मसीहा के यहाँ न पहुँचा।

मसीहा अभी-अभी सोकर उठे थे; और चाय पी रहे थे। प्रवीण की बुलाहट पाकर उसे अन्दर ही बुला लिया।

चाय की रकेबी एक ही घूँट में खाली कर देते हुए आप बोले—कहो हज़रत? कैसे टपके इतने सवेरे? हुँ-हुँ-हुँ!

प्रवीण ने अधीरता-पूर्वक कहा—मैं एक काम के लिए आया हूँ।

और उसने अपना काम सामने रख दिया। मसीहा ने उलट-पुलटकर चीज़ों को देखा और बोला—कितना चाहते हो?

'कम-से-कम पचास।'—वह बोला।

'पचास! माई गुड लॉर्ड!—दस-पंजे पचास! फिर गालों को फुला-फुलाकर आपने दो-चार फुफकारें कीं और बोले—बहुत मँहगी, बहुत-बहुत मँहगी, जनाब! Can't.

प्रवीण के हाथों से जैसे जादू का डंडा निकला जा रहा हो, बोला—आप कितना दीजियेगा ?

'फोर्टी ! चार और दस, चालीस ! तुम तो जानते हो, मैं चालीस के अंक से मुहब्बत करता हूँ। बम्बई की रेस में मेरा शेरिडन चालीसवाँ था।'—मसीहा ने एक बिस्कुट मुँह में दबाते हुए कहा।

प्रवीण चालीस की नोटें जेब में दबाकर जब विमला देवी के यहाँ पहुँचा तो जैसे पुण्य के बल से स्वर्ग के दरवाज़े आ खड़ा हो। पर वहाँ रंग ही दूसरा था। विमला देवी अपने घर के सामने खड़ी हुई थीं ; बच्चे पास ही में खड़े हुए थे और इंस्पेक्टर साहब घर की तलाशी ले रहे थे। ज्यों ही वह परिस्थिति समझा, त्यों ही तलाशी ख़तम हुई और दो-चार पुस्तकें, पत्र तथा दो-एक अख़बार हाथ में लिये इंस्पेक्टर साहब बाहर आये। प्रवीण को देखते ही बोले—आदाब-अर्ज़ है। मुझे आपकी भी तलाश थी।

प्रवीण धक्। बोला—कहिये।

इंस्पेक्टर ने कहा—ये सुबह आप के यहाँ आई थीं ?

'हाँ।'

'क्यों ?'

'यह मैं नहीं बता सकता।'

'अच्छा !'—वह मुस्कराकर बोला।

उस शाम को विमला देवी बच्चों सहित गिरफ़्तार कर ली गईं। और प्रवीण को नोटिस दे दिया गया कि आया वह हाइनेस में जाकर माफ़ी माँगे, या नौकरी से निकाल दिया जायगा। प्रवीण के पिताजी को कह दिया गया, नौकरी से हाथ धोओ या लड़के से कोई सम्बंध मत रखो,

घर पहुँचते-पहुँचते मानो धरती-कम्प आ पहुँचा हो।

पिता, चाचा, मामा, भाई, बन्धु, अड़ोसी-पड़ोसी सभी का भयत्रस्त, क्षुब्ध और समय-सूचक वह जमघट था। प्रवीण को देखा तो जैसे एक साथ दसों दुनाली उसकी ओर घूमी हो, यों सबकी आँखें उस ओर घूमीं। सवाल-जवाब, डाट-डपट से जब बड़ों को छुट्टी मिली, तो एक पहले से तैयार माफ़ीनामा उसके सामने रखा गया—हस्ताक्षर कर दो।

प्रवीण ने पूछा—आख़िर किस बात की माफ़ी माँगूँ ?

'किस बात की ? क्यों ? हाइनेस चाहते हैं, और किस बात की ?'—चाचा ने कहा।

प्रवीण ने अनंत आकाश की ओर देखने की चेष्टा की और पुनः कहा—मुझे नौकरी की चिन्ता नहीं है।

'पर हमें तो है !'—उसके पिताजी बोले।

'आपके लिए मैं अपनी आत्मा का पतन नहीं कर सकता।'—उसने हारकर कहा। उसकी आत्मा ने उसे साफ़ कह दिया—डिगा तो सदा के लिए गया। इस समय जैसे एक अभ्र ताक़त उसकी रग-रग में बहने लग गई।—'आप लोग मुझे अधर्म सिखाते हैं। सत्य और न्याय से मुँह मोड़ने के लिए यों मजबूर कर रहे हैं।'

चाचा का क्रोध अन्तिम डिग्री तक पहुँच गया था। हाथ का डण्डा प्रवीण के कन्धे पर जमाते हुए उन्होंने कहा—नालायक़ ! सबका निकन्दन निकालने पर तुला है, दुश्मन कहीं का ! वेणीशंकर, यह साँप बड़ा किया है तैने छाती का रक्त पिलाकर...

प्रवीण अचल खड़ा रहा ; बोला -- मुझे मार डालिये ; पर मैं अधर्म और अन्याय न करूँगा। जब मैंने गुनाह ही नहीं किया, तो ईश्वर से भी माफ़ी न माँगूँगा।

'चुप रह, सूअर !' – चाचा साहब गरजे।

और उसी चुप्पी में प्रवीण आधी रात तक अपने कमरे में कुछ लिखता रहा। वे जले दिल के उद्‌गार थे ; गाड़े हुए स्वप्नों के बाग़ थे ; रूँधी हुई नदियों का तट-तोड़ बहाव था। शान्त-कोलाहल-शून्य रात में यों उसने एक अन्तिम कहानी लिखी। पत्र लिखा—

'आख़िर ये जिन्होंने मुझे पाला, पोसा, बड़ा किया, ये मुझसे यही चाहते हैं कि मैं अपनी आत्मा का ख़ून किये जाऊँ ? यही न ? तब क्या ये सब अपने स्वार्थ ही के लिए मुझे चाहते हैं ? अपने भोगों की अबाध स्थिति के लिए ही तब क्या वे मुझे अपना चिर-साधन बनाना चाहते हैं ? हा ईश्वर ! क्या इस दुनिया का सत्य यही है ? यही है संसार का अन्तिम बोध-पाठ ? तन-बदन, एक लहू के संबंधों का यही तक़ाज़ा है क्या ?'

उसके इस सनातन प्रश्न का उत्तर कौन देता ? कौन ?

प्रवीण का हृदय जैसे किसी निर्मम ने कुचल दिया। वे जर्जर, पर स्नेह के सुनहले लीसे तन्तु यों टूटे, जैसे कमल-नाल के तन्तु टूटते हैं। हे भगवान !

वह उठा ; दो-एक पुस्तकें कुछ काग़ज-पत्तर की गठरी दबाये वह सबको सोता छोड़कर निकल आया—सघन अंधकार में। कहाँ ? वह क्या जाने ? इस जगत के मार्गों का बनानेवाला जाने कि उसके मूर्छना-मूढ़ पैर किधर जायँ ?

× × ×

सविता वापस भी लौट आई ; पर प्रवीण वापस न लौटा। वह हाहाकार—जो उसके जलते हुए पद-चिन्ह छोड़ गये, आँधी की तरह उठा और वापस शम गया। कुछ दिन, कुछ मास प्रवीण के नाम के घाव स्वजन-स्नेहजन अपनी छाती में खाते रहे और फिर तो वे घाव मानो घड़ी की टिकटिक के समान हो गये। एक वसन्त, एक पतझड़ ; यों तीन वसन्त तीन पतझड़ बीते, जैसे तीन नई दुनिया किसी खिलाड़ी ने सर्जी और पुनः बिगाड़ डाली ; पर प्रवीण न आया। और सविता की पुतलियाँ जैसे अपने घर की दीवारों के ऊपर के आसमान और उसके तारे जान गईं ; समझ गईं। समय के अद्‌भुत और जादूई रोग़न ने सबके हृदय पर एक विस्मृति का पक्का लेप कर दिया ; पर सविता के हृदय की दाह पर वह जम न सका ; जम न सका।

लल्लू ढाई बरस का हो गया। उसकी बहन ने रोटी बेलना सीख लिया। साड़ी पहनना सीखा, बरतन माँजना सीखा, कपड़े धोना सीखा, खिचड़ी बनाना वह सीख गई। और लल्लू उसके लम्बे-लम्बे बाल कसकर खींचना सीख गया ; पर प्रवीण, ज़ालिम प्रवीण न लौटा। सविता की आँखों से कभी-कभी एकान्त में ही एकाध आँसू बिखर पड़ता।

और समय की बढ़ती के साथ स्वयं उसने क्या नहीं सीखा ? प्रवीण की उस अन्तिम (?) हाँ अन्तिम ही तो—वार्ता ने उसके पर्दों को हटा दिया। उसकी दो-एक सखियों ने उसके अज्ञान को यों धो दिया, नल की धार कीचड़ सने पैरों को धो देती है जैसे। वह स्वराज्य के गाने सीख गई ; यहाँ तक कि झंडा का उसका एक गीत, जो जी-भरकर रोने के बाद उसके उल्लास-पूर्ण प्राण से निकला था, लोक-परिषद ने अपना गीत बना लिया।

एक दिन लोक-परिषद ने आज्ञा दी, अपने विदेशी कपड़े लाओ, होली होगी। और

सविता ने अपनी सभी विदेशी वस्तुएँ ठेले में भर लीं। सास-बहू दोनो ने जाकर हजारों का माल भस्मीभूत कर दिया। सौ-सौ रूपए की साड़ियाँ यों जलीं, जैसे बेकारी की आग में दस-दस हज़ार का एम० ए० का एक ज्ञान-पट।

प्रवीण के गृह-त्याग ने बुढ़ऊ को सदा के लिए चुप कर दिया था।

और एक दिन घट्टी पीसकर सविता आँगन में आई, उसने देखा, लल्लू ने एक मकान बनाया है और उस पर एक झण्डा गाड़ रहा है। दस-पाँच बालक उसे छोटी-छोटी सींकों से मार रहे हैं और उसकी बहन वन्देमातरम् गा रही है। सविता ने दौड़कर लल्लू को छाती से लगा लिया।

उस मूक, पर अथाह अश्रु-प्रवाह में कितने स्वर्गों की शान्ति थी! कितना गहरा आन्दोलन था उस सिसकने में! कितनी वेदना थी बुझ रही उस विचित्र वर्षा-ऋतु में! आज सविता को क्या न मिला? क्या न मिला? कल तो उसके पास कपड़ों से भरे ट्रङ्क थे; गहनों का भारी कलमदान था; खुमार था; अज्ञान का वह घमण्ड था, जिसे दुनिया इज़्ज़त समझती है। और आज उसके पास सिवाय इन आँसुओं के और क्या था? और इन आँसुओं की दिव्य निधि पाकर उसने क्या नहीं पा लिया था?

वह नहीं देख रही थी; पर द्वार पर एक युवा संन्यासी नयनों की इस स्वर्ग-गंगा का उतरना देख रहा था, अपने ब्रह्मचारियों के साथ भिक्षा का खप्पर लिये।

उदयपुर; २ : १२ : '३८।

सार्थकता

['विष्णु']

[१]

वसन्त का एक विकसित प्रभात था।

वाटिका में यौवन की बाढ़-सी आ गई थी। उसमें डूबते-उतराते अनेक फूल जहाँ-तहाँ खिल आये थे। परोपकारी समीर उस मदमस्ती की सुगन्ध को चारो ओर ढोये लिये जा रहा था। यौवन के इस महाप्रलय में भी भौंरे स्वार्थ-साधन में रत थे। सौन्दर्य-वारुणी ने उन्हें मदमस्त बना दिया था। वे संगीत-सौरभ बिखेर रहे थे।

तभी यौवन को आँचल में समेटे कई पौर युवतियाँ वहाँ आ गईं।

एक बोली - मल्लिका रानी! पुष्प की सुन्दरता कितनी क्षणिक है!

'तुम जानती नहीं, माधवी।'—मल्लिका ने कहा—जो क्षणिक है वही आनन्द है। अमरता तो थका देनेवाली है।

और हसँते-हँसते उसने एक फूल तोड़ा, मसला और फेंक दिया।

'हाँ आँ !!'—मालती जैसे काँप आई—क्या किया तुमने?

वह अट्टहास कर उठी—उसकी उपयोगिता जो थी, उसे सार्थक किया मैंने!

उसने फिर फूल तोड़े और चुन-चुनकर मालती के जूड़े में जड़ दिये।

फूल रोये नहीं। हँस-हँसके आगे झुक आये। ऐसी मस्ती से जैसे दीप-शिखा पर मुग्ध शलभ!

परन्तु आम्र-वृक्ष की ओट में एक फूल झूल रहा था। उसे यह सब पसन्द नहीं आया। विद्रूप के साथ उसने अपने साथी से कहा—सौन्दर्य भी कितना मोहक काँटा है। साथी हँसकर रह गया और पौर युवतियाँ अनेक प्राणों में संगीत बजाती हुई चली गईं।

[२]

एक दिन फिर बागीचे में चहल-पहल मच आई।

राजकीय वर्दी में आकर कुछ सैनिक बोले—हम फूल लेगें।

फूल उन्हें देखकर जैसे काँप-काँप आये।

सैनिक फिर बोले—इस देश के राजराजेश्वर अनेक देशों पर विजयी होकर इस रास्ते से लौट रहे हैं। फूलों द्वारा हम उनका स्वागत करेंगे।

तब अनेक फूल आगे बढ़ आये—हमारे प्राणों से राजा का अभिषेक हो! हम धन्य हैं!

सचमुच उसी रास्ते से राजराजेश्वर लौटे। अनन्य उत्साह से भींगी जनता के जयजय-कार से वायु-मंडल गूँज उठा। छज्जों से पौर युवतियों ने पुष्प बरसाये। पंखड़ियाँ हो-होकर अनेक मुस्कराते हुए फूल धूल में लोटने लगे। हाथी-घोड़े उन्हें रौंदते हुए चले गये। उनका शरीर चूर-चूर होकर मिट्टी में अपना अस्तित्व खो बैठा।

आम्र-वृक्ष की आड़ में झूलनेवाले पुष्प ने यह दृश्य देखा। उसका रोम-रोम घृणा से भर आया। साथी से वह बोला—कितनी अन्धी है यह शक्ति। ख़ून में स्नान करके भी वह हँस देती है।

साथी अब भी नहीं बोला।

[३]

एक सुनहरी सन्ध्या को फिर कहीं दूर विजय-दुन्दुभी बज उठी।

आम्र-वृक्षवाले फूल के अतिरिक्त सभी फूलों के मुख पर हल्की-सी मुस्कराहट दौड़ गई। वे उतावले-से होकर झूम-झूम आये।

सचमुच भयाक्रान्त उस फूल ने देखा—अजीब दीवानों की वह टोली थी वे पागल हो रहे थे। स्वर उनका जागृत था और वे महामहिमामयी जय-श्री का आह्वान कर रहे थे। उनकी गति में स्फूर्ति थी। उनकी आँखें उस मार्ग पर थीं जहाँ जीवन की माँग है।

अचरज और भय से प्रतिहत होकर उसने अपने साथी से पूछा—आख़िर ये कौन हैं?

'अरे! तुम नहीं जानते?'—उसके साथी ने कहा—ये देशदीवाने हैं।

'ये भी हमें चाहते हैं?'

'हाँ! इनके हाथों मृत्यु पाकर कौन धन्य न होगा!'

सुनकर वह फूल काँप उठा। बोला—पर मैं ऐसा नहीं मानता। दूसरे का जीवन लेकर जिसे सुख होता है, वह राक्षस है।

साथी ने उसे दयाभरी दृष्टि से देखा और आगे बढ़ गया। बोला—मृत्यु के उपासको! मैं तुम्हारा अभिषेक करूँगा।

दूसरा बोला—तुम्हारे मार्ग की चरण-रज पर मैं अपना जीवन लुटा दूँगा।

तीसरे ने कहा—हम तुम्हारी क़ब्र पर भी पहरा देंगे और इस कहानी को अमर कर देंगे।

ऐसे ही चौथा बोला, पाँचवा बोला; पर वह बच-बचकर ही झूलता रहा। उसने अपने को आम्र-वृक्ष के पीछे ख़ूब छिपा रखा था।

मस्ताने युवक अपने नायक पर फूल बरसाते हुए चले गये।

[४]

अब वाटिका खाली थी। उस निर्जनता का वह अकेला स्वामी था। गर्व से सिर उठाकर वह बोला—इस दुनिया में हत्यारों का कितना सम्मान है!

और सोच-सोचकर वह अपने साथियों की क़िस्मत पर रो भी उठा—कितने मूर्ख थे वे सब।

उधर समय के पंख लगाकर दिन उड़ते रहे।

उस उदासी में भी वह फूल हँसता और गाता। कभी-कभी समीर भी उसके साथ आँख-मिचौनी खेलने आ जाता। कभी-कभी भौंरे भी चुम्बन की छाप लगा जाते। कभी-कभी आम्र-वृक्ष भी पूछ लेता—अब जीवन कैसा लगता है, फूल!

'बहुत सुन्दर, दादा!'

पर कहकर जैसे उसका जी उखड़ने लगता। वह ख़ूब खेला; पर खेलकर ढलने भी लगा। जी में हलके-हलके उठा—अरे! कोई आता!

एक दिन उसने आम्र-वृक्ष को पुकारा—दादा! दादा!

'कहो!'

'जी नहीं लगता दादा! बात करोगे?'

दादा बोला—भला मुझे फ़ुर्सत कहाँ है फूल! अब कोयल का गाना सुन रहा हूँ फिर माली को अमियाँ दूँगा। पथिक का भी सत्कार करना है।

फूल का कोमल मन कुम्हला-सा गया। फिर जल्दी ही बुढ़ापे की झुर्रियों से उसका शरीर भरने लगा। अपनी बनाई हुई कड़ियों में बँधकर ही वह तड़प उठा। समीर आता तो; पर खिंचा-खिंचा चला जाता! बोलता भी नहीं। भौंरों ने रास्ता ही बदल लिया।

अब वह क्या करे?

एक दिन फिर उसने आम्र-वृक्ष को पुकारा—दादा! सुनते हो!

'फूल, क्या है?'

'हाँ दादा, मैं ही हूँ। तुम भी भूल गये क्या?'

'नहीं रे, तू कह तो क्या कहता है?'

फूल ने कहा—दादा! इस जीवन को मैंने ख़ूब बचाकर रखा; पर आज यही भारी जान पड़ रहा है, जैसे मैं इससे छुटकारा पा जाऊँ।

आम्र दादा हँस पड़ा...

फूल दुःखी-सन्तप्त उसे देखता रहा...

'मैं क्या कहूँ, फूल...'

'कुछ भी हो, दादा! मैं अब जी न सकूँगा! मुझे डर लगता है!'

'बस, फूल! यही मैं कहता हूँ, तू डर मत। तब तू आप ही समझ लेगा।'

लेकिन फूल नहीं समझा। वह अधिक जी भी नहीं सका। एक दिन आप-ही-आप ज़मीन पर आ रहा। तब अचानक ही उसके नेत्र खुल गये। चिल्लाकर उसने आम्र दादा को पुकारा—दादा! दादा!

दादा ने झुककर देखा—फूल पगडंडी पर पड़ा था। वह द्रवित हो उठा—तुम्हें क्या हुआ, बेटा!

'रो मत, दादा!'—फूल वहीं से बोला—आज मैंने जाना है। मैं किसी के काम नहीं आया; पर अब समय निकल गया। मैं जा रहा हूँ। आह! मैं किसी के लिए जीवन दे देता...

और उसकी आँखें मुँद गईं।

आम्र दादा की अनुभवी आँखों से दो बूँद जल टपक पड़ा।

हिसार।

शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

[अम्बालाल पुराणी]

[अनु० रवीन्द्र]

प्रत्येक कर्म की आवश्यक पूर्णाहुति के रूप में तथा आर्य-संस्कृति के प्रत्येक कर्म-काण्ड में 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' कहा जाता है। इस मन्त्र के दृष्टाओं ने कितने महान सत्य का दर्शन किया है।

प्राचीन काल में यह मंत्र उपयोगी रहा हो या न रहा हो ; पर कौन कह सकता है कि हमारे लिए यह अत्यन्त उपयोगी नहीं है। वर्तमान युग की बड़ी-से-बड़ी आवश्यकता है शान्ति। चाहे हमें ऐश्वर्य, सत्ता, धन सभी क्यों न प्राप्त हो ; पर क्या शान्ति के बिना यह सब कुछ अधूरा नहीं लगता ? रात-दिन हम काम-काञ्चन-मन्त्र की ही रट लगाये रहते हैं ; पर काम अथवा काञ्चन में न तो सुख ही मिलता है और न शान्ति के ही दर्शन होते हैं। हमारा ज़माना इधर-उधर हाथ-पैर मारने में ही गर्व का अनुभव करता है। सच पूछो तो व्यक्ति और समाज के सुख के लिए वावेला मचाने की क्रिया को ही हम काम कहते हैं। हम वास्तव में केवल हाथ-पैर ही पटका करते हैं, काम नहीं करते। एक लेखक ने कहा है—अमरीकावाले झपटकर खाते हैं, छलाँगें मार-मारकर चलते हैं और शीघ्र ही मर जाते हैं। हम लोग शान्ति की अनन्त नींव पर कार्यों की इमारत चुनना जानते ही नहीं। हम यह भूल गये हैं कि संसार के अन्दर जितने भी चिरस्थायी कार्य हुए हैं, वे सभी पहले शान्ति के गर्भ में पोषण पाने के बाद ही जन्मे हैं।

आँखों पर पट्टी बाँधे घोड़े की नाईं हम भी वर्तमान से कुछ ही आगे तक दृष्टि फेंक सकते हैं, हमारी दृष्टि दूर तक जाकर अनन्त काल का भेदन कर सकने में असमर्थ है। निकटस्थ वस्तुओं के बाह्य स्वरूप से ही हम धोखे में आ जाते हैं। तारागण तथा अनन्त ब्रह्माण्ड में भरे हुए शान्त और मौन स्वर का हमें ज्ञान नहीं है। ;फूल के अनिवार्य विकास में, हमारी अटल श्रद्धा नहीं है।

शान्ति है जीवन के अनन्त पटल की वास्तविक भूमिका ; शान्ति है वास्तविक आनन्द की प्रतिष्ठा। शान्ति को क्रियाशीलता और सच्ची क्रियाशक्ति तथा कार्य-दक्षता और कार्य-क्षमता

का अभाव मानना सरासर भूल है। इस जीवन पर अविश्वास को भी शान्ति माना जाता ; पर यह सब शान्ति नहीं तमोगुणी मृत्यु है।

सच्चे कर्म-कौशल का आधार शान्ति है। सचोट कार्य-दक्षता शान्ति में से ही जन्मती है, सच्ची शान्ति में अद्‌भुत क्रियाशीलता है।

यह ठीक है कि शान्ति का अर्थ है हाथ-पैर पटकने की प्रवृत्ति का अभाव, यह भी ठीक है कि शान्ति का मतलब है आरम्भ में होनेवाली तीव्र चञ्चलता और घबराहट का अभाव ; पर यह मानना बिल्कुल ग़लत है कि सुख और आनन्द का अभाव शान्ति है। सच्चे सुख और आन्दन की प्रतिष्ठा करना ही तो शान्ति की प्राप्ति है।

और यह शान्ति बिना श्रद्धा के सम्भव ही कहाँ है ! तारागण और नक्षत्रों में छिपे मूक छन्द और सङ्गीत का सुननेवाला, विराट ब्रह्माण्ड में कार्य करनेवाले प्रभु के अनिवार्य हेतु को जानता है। यह महती श्रद्धा केवल विचार-जन्य तो है नहीं, यह केवल बुद्धि की क्रिया भी नहीं, यह तो सक्रिय होकर विश्व में रमे हुए दिव्य हेतु में अटूट श्रद्धा से ही प्रेरित होती है, फिर चाहे सारे ही तात्कालिक संयोग और दृश्य, सारी ही घटनाएँ उसके विरुद्ध क्यों न हों।

हम वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए, सुखों का उपभोग करने के लिए बुरी तरह व्याकुल हैं। हमें यह डर सताता रहता है कि कहीं यह वस्तु चली न जाय, ज़रा ठहरने से कहीं समय न बीत जाय और हमें बहुत देर हो जाय।

ठीक है, हमारा समय भागा जाता है। प्राचीनों की तरह समय को रोक रखने की कला हम में से विरले ही जानते हैं। न जाने कैसे प्राचीनों को समय का अभाव कभी नहीं खटकता था। वे उसे रोक रखना जानते थे।

शान्ति का अर्थ है—'मेरे पास समय है।'

आख़िर हमें यह कला क्यों नहीं आती ? हम समय को बाँधना क्यों नहीं जानते ? इसका कारण यही है कि हमें तो अनन्त काल के एक अपूर्णाङ्क क्षणिक वर्तमान पर ही श्रद्धा है। हमें शाश्वत समय और अनन्त कोटि वर्षों के दर्शन तो मन की आँखों से भी नहीं होते, जब कि प्राचीनों की दृष्टि के आगे सदा अनन्त काल खेला करता था, वे युग-युगान्तरों को पार कर सकते थे। अप्राप्त 'भूरि कर्त्वम'—के प्रति वे निश्चल दृष्टि से देख सकते थे। आत्म दर्शन के लिए मन्वन्तर-के-मन्वन्तर और युग-के-युग बिताते भी वे थकते न थे। पृथ्वी के केन्द्र की ओर होनेवाले गुरुत्वाकर्षण पर हमें श्रद्धा है, पर ब्रह्माण्डों को समतुलित रखनेवाले आध्यात्मिक गुरुत्वाकर्षण और उसके केन्द्र प्रभु पर हमें श्रद्धा नहीं ! इसी मारे हम इधर-से-उधर बेतहाशा भाग-दौड़ में लगे रहते हैं मानो किसी अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित विरासत का भार हमारे कंधों पर आ पड़ा हो। फिर भी मज़ा तो यह है कि उस अव्यवस्था में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं आता ; बल्कि वह बढ़ती ही जाती है। इसी का नाम हमने प्रगति रख छोड़ा है।

आपको कभी तो इस शान्ति की झाँकी मिली ही होगी। हृदय के अनन्य प्रणयी के साथ प्रथम मिलन के समय उसका मज़ा तो लूटा ही होगा। आप कहेंगे कि इस आनन्द को शब्दों में रखकर मैं खोना नहीं चाहता ; पर इसके द्वारा शान्ति का जो मर्म आप को ज्ञात हुआ है वह कहाँ जायगा ? आज भी उसकी स्मृति अन्तर की गहराइयों के अमोल भण्डार में मौजूद है। और आवश्यकता पड़ने पर आप उसका सहारा लेते भी हैं।

यह ठीक है कि मनुष्य को भाषा के प्रयोग की आदत पड़ गई है। सारे समय शब्दों का तूमार बँधा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव यह मान बैठा हो कि आत्माओं का मिलन अथवा परिचय वाणी-द्वारा ही हो सकता है; पर यह कितनी बड़ी भूल है। मौन की शान्ति में होनेवाले गाढ़ परिचय और वास्तविक मिलन से अनभिज्ञ होने के कारण ही मन में ऐसा विचार आ सकता है। लम्बे प्रवास से लौटने पर मा अपने बालक का जो मूक स्वागत करती है, क्या उसका भी वर्णन हो सकता है? बड़े अर्से के बाद मिलने पर सहृदयी मित्र अथवा वियोग से पीड़ित प्रिया के अन्तर के भाव पढ़ते समय क्या वाणी मौन में विलीन नहीं हो जाती? पर इस अवस्था में आत्मा-आत्मा का मिलन नहीं होता, यह मान बैठना भ्रमात्मक है। यदि मौन में प्रसार करती हुई शान्ति में क्षुद्र वाणी का प्रवेश हो जाय तो आत्म-युगल का परस्पर आदान-प्रदान भी लुप्त हो जाता है। इस गाढ़ आन्तरिक मिलन में जो अपनेपन की अनुभूति होती है, वह वाणी के मिलन की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी और अटूट होती है। क्या मानव-जीवन के यह नीरव शान्त क्षण उसके वर्षों के जीवन की अपेक्षा ज़्यादा क़ीमती और आत्म-विकास में गुप्त; पर अक्षर हिस्सा नहीं लेते?

शायद इसी कारण अंग्रेज़ी कहावत बनी होगी कि वाचा रजत है और मौन स्वर्ण।

क्या आपने कभी जीवन की क्षुद्र कठिनाइयों और छोटी-छोटी, पर मानव को अशान्त कर देनेवाली दुविधाओं को छोड़कर इस शान्ति का अनुभव करने का प्रयत्न किया है? शान्ति का यह साम्राज्य सनातन-काल से निरन्तर विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य ही तो देर करता है।

जिन्हें यह शान्ति प्राप्त हो गई है, उन्हें मानो विश्व-भर का आध्यात्मिक गुरुत्व-मध्य-विन्दु प्राप्त हो गया है—जिसने विश्व के दिव्य नियमों में अन्तर्निहित छन्द को जान लिया और उसके साथ अपनी हृत्तन्त्री का समवाय कर लिया—उसके जीवन में ताल भङ्ग या बेहूदे संगीत का स्थान नहीं।

शान्ति के पानेवाले मानव-शक्ति की परिमित परिधि से भली भाँति परिचित होते हैं; पर साथ ही उन्हें मानव के उज्ज्वल और दिव्य भविष्य पर भी पूरी श्रद्धा होती है। अपने उतावलेपन में हम अपने आप को जिस तिजोरी का ठेकेदार समझ बैठे हैं, उसके विषय में हमारी जानकारी कितनी अपूर्ण है; पूरी जानकारी प्राप्त की जा सके, इतना तो समय भी नहीं। पृथ्वी और सूर्य के अयनों के उस पार अनन्त आकाश में विचरते और चमकते हुए ब्रह्माण्डों की छन्द-प्रेरित सतत गति के अन्दर जो दिव्य शान्ति छिपी हुई है उसके बारे में हम नहीं जानते, पर्वत-शिखरों में निहित शान्ति के दर्शन भी दुर्लभ हैं और इसी प्रकार घटाटोप जङ्गलों में ओत-प्रोत शान्ति से हम एक दम अपरिचित हैं।

कार्य-सम्बन्धी हमारे विचार कितने संकुचित और मामूली हैं। जिस कार्य को हम महान् मान बैठते हैं उसे शुरू करने से पहले ढोल पीटे बिना हमसे रहा नहीं जाता। हम अपने कार्य की सफलता का अनुमान उसके लिए होनेवाले शोर से ही लगाया करते हैं, जब कि हमारी आँखों के आगे प्रति दिन सूर्यनारायण अपनी शान्त भव्यता की पुनरुक्ति करते हुए दिन-प्रतिदिन आकाश में आरूढ़ होते हैं, कलियाँ रात के गहन मौन में चटककर प्रफुल्लवदन हो उषा का स्वागत करती हैं और प्रचण्ड वट-वृक्ष का अंकुर भी अज्ञात रूप से किसी मिट्टी के ढेर में से निकल आता है!

ज़रा-सी हेर-फेर से ही हम चौंक पड़ते हैं। ज़रा-ज़रा-सी बात में हम लाल-पीले हो जाते हैं और निराश हो बैठते हैं। जब कि भौतिकी चिल्ला-चिल्लाकर हमें यह सुना रही है कि एक-एक एलेक्ट्रोन और प्रोटोन प्रति क्षण विकार-ग्रस्त हो रहा है, तब भी हम आस-पास की हल-चल और विकार की परंपरा को शान्ति और प्रसाद-भरे गांभीर्य के साथ नहीं देख सकते।

हमारी अशान्ति का एक कारण यह भी है कि हम ज़रा-ज़रा-से हिस्सों के फेर में पड़कर समग्र को भुला बैठते हैं। ज़माना ही विशेषज्ञों का है, जो अपने अंश को छोड़ समग्र की ओर आँख भी नहीं फेर सकते। हमें विभाजन की आदत पड़ गई है, वर्गीकरण में ही हमारा विश्वास रह गया है, विशाल सर्वग्राही, एकीकरण या समन्वय की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

कला को प्रभावोत्पादक बनाने के भी प्रयत्न हो रहे हैं। नवीन सृजन का विधान करते-करते हमारे कलाकार थके जाते हैं। वास्तविक सृजन प्रभावोत्पादक तो होता ही है; पर वह इसके लिए यत्न नहीं करता। इससे तो उथल-पुथल और फेन की ही सृष्टि होगी। वास्तविक सृजन तो मन्थन की दुःखदायी अशान्त अवस्था को पार करने के बाद दिव्य शान्ति में से प्रभु के प्रसाद के रूप में प्रगट होता है। यह प्रसाद पा लेने पर ही कलाकार आनन्द को सदा जागृत रख सकता है और दुःख-सुख के मन्थन से पार हो सकता है।

हम जीवन-समुद्र के किनारे-किनारे की लहरों में ही भूले रहते हैं। उसकी गहराई में जाकर डुबकी लगाना हमें नहीं आता। बाह्य-जीवन में हम इतने अधिक रमे हुए हैं, उसके कोलाहल में इतने मस्त हैं कि अन्तरात्मा के शान्त और गम्भीर नाद को सुनने की फ़ुर्सत ही नहीं।

जीवन-तट पर विकारी व्यक्तित्व की वासनाओं को तृप्त करने में, अपने अन्दर स्थित बहिर्मुख मानव की अभिलाषाएँ पूरी करने में, हम ऐसे मस्त हैं कि अन्दर की शान्त और गहन गहराइयों में रहनेवाले वास्तविक मानव की हमें सुध तक नहीं आती; उसकी आवश्यकताओं की ओर कभी भाग्य से ही ध्यान चला जाय तो चला जाय।

प्राचीन लोग शान्ति का मर्म जानते थे और उसे प्राप्त कर जीवन को शान्तिमय बना लेते थे। उनका जीवन चारो ओर शान्ति का प्रसार करता था। वही परम शान्ति, जिससे वे भारतवर्ष को वेद, उपनिषद् और षड्दर्शन प्रदान किये, जिसने भगवान गौतम बुद्ध की ध्यानस्थ निर्वाण-शान्ति भरी और विराट् जगत में नृत्य करनेवाले नटराज की कला-मूर्तियाँ और अजन्ता के अमर चित्र-पट जैसी कलाओं का सृजन किया, जिसने व्यास और वाल्मीकि के अमर महाकाव्यों की रचना की, वही परम शान्ति आज हमें प्राप्त हो। हे परम शान्ति, आज हमारे जीवन को दृढ़ प्रतिष्ठा और परम शान्ति में अचल करके एक नये सर्वग्राही समन्वित जीवन की रचना कर।

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्री अरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी।

अरिस्टोटल और प्लेटो के कविता-सम्बन्धी विचार

[देवराज उपाध्याय]

[श्री देवराज उपाध्याय में विश्लेषणात्मक प्रतिभा बहुत अच्छी है। यद्यपि आपने अभी थोड़ा ही लिखा है; पर आपकी भाषा-शैली और विचार-गुम्फन सुन्दर है। 'हंस' के पाठक आपका सुन्दर लेख लेनिन और साहित्य' भूले न होंगे। आप आजकल जोधपुर में अध्यापक हैं।– सं०]

कविता की प्रकृति, उसके महत्त्व, उपयोगिता और मानव-जीवन के संबध को लेकर विचारकों और चिन्तनशील व्यक्तियों में सदा से मत-भेद रहा है। जब से मनुष्य कहलानेवाले चेतन जीव ने अपने को शेष सृष्टि के बीच में रखकर अपने ऊपर विचार करना सीखा, जब से उसके हृदय में विश्व के ज़र्रे-ज़र्रे से अपनेपन का रागात्मक संबंध स्थापित करने की वासना आई, उसी समय कविता की देवी मानव-भूमि पर अवतरित हुई। उस देवी के रूप में कुछ ऐसा अलौकिक तेज था, आकर्षण था और थी अन्तःकरण के तत्त्व की आनन्द-ग्रन्थि को खोलने की शक्ति कि कुछ लोगों ने उसे हृदय खोलकर स्वागत किया, उसके लिए आँखें बिछा दीं और कहाँ तक कहा जाय उस रूप के भिखारी होकर अपना सर्वस्व न्योछावर कर निहाल हो गये। पर ऐसे लोग भी निकले जो इस तेज और आकर्षण को सह नहीं सके और इस देवी की ओर भयभीत और सशंक दृष्टि से देखा। इसे मानव-जाति को निर्बल बनानेवाली भाव-शक्ति के भार से कर्तृत्व शक्ति को नष्ट करनेवाली वस्तु समझा और पथ-भ्रष्ट मानव-जाति को इसके माया-जाल से बचे रहने का उपदेश दिया। यों तो समय-समय पर अनेक ऐसे विद्वान होते गये हैं जिन्होंने अपनी सारी शक्ति के साथ एक या दूसरे पक्ष का समर्थन किया है; पर यदि हम यूरोपीय साहित्य के आदि आचार्य अरिस्टोटल को प्रथम दल का नेता कहें और दूसरे दल का प्लेटो को कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। कारण, इन दोनो तेजःपुंज आचार्यों की प्रतिभा से आज का साहित्यिक जगत भी किसी न किसी रूप में प्रभावित हो रहा है। जितनी तर्कशक्ति और वाग्मिता के साथ प्लेटो ने कविता में कदर्थता बतलाई है और मानव-जाति को पतन की तरफ़ ले जाने-वाली चीज़ कहा है और जिस सशक्त भाषा में अरिस्टोटल ने उसकी युक्तियों को भ्रामक बतलाते हुए कविता के महत्व को स्थापित किया है, वह यूरोपीय समीक्षा-साहित्य की अक्षय निधि है।

इन दो आचार्यों की विचार-परम्परा के अध्ययन से हमें कविता के वास्तविक स्वरूप को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी।

अरिस्टोटल (384—323 B. C.) प्लेटो (427—343 B. C.) का शिष्य था। प्लेटो के चरणों के नीचे ही अरिस्टोटल को शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ था; पर वास्तव में दोनो की विचार-पद्धति में महान अन्तर था। समय के प्रवाह के साथ और प्रतिभा के विकास के साथ यह पार्थक्य और भी दृढ़तर होता गया। कहावत है कि गुरु गुड़ ही रहे और चेला चीनी हो गये। दोनो एक विषय पर विचार करने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण से अग्रसर होते थे। इसी अग्रसर होने के ढंग ने दोनो की विचार-पद्धति को बहुत प्रभावित किया था और कविता-संबंधी विचारों में जो अंतर दिखलाई पड़ता है, उसका मूल कारण यही है। अतः सर्व प्रथम इन दो आचार्यों के दृष्टि-कोण और इस अग्रसर होने के ढंग से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

प्लेटो गणित-शास्त्र के अध्ययन में दिलचस्पी लेता था और अरिस्टोटल जीव-विज्ञान (Biology) में। एक गणितज्ञ की विचार-पद्धति और जीव-शास्त्री की विचार-पद्धति में जो अंतर है, वही इन दोनो की पद्धतियों में है। गणित का आधार कल्पना है। संसार में इन्द्रिय-गम्य जितने पदार्थ हैं, वे इसलिए वास्तविक हैं कि वे कल्पना में स्थित अपने आदर्श रूप का अनुसरण करते हैं। गणितज्ञों की परिभाषित रेखा पर विचार कीजिये। यह कल्पना की चीज़ है जो वास्तविक जगत में शुद्ध रूप में अवतरित नहीं हो सकती। और हमारी रेखा अपने नाम सार्थक करने में वहीं तक समर्थ है, जहाँ तक वह आदर्श और काल्पनिक रेखा के अनुकरण करने में सफलीभूत हुई है। अर्थात् वास्तविक जगत की वस्तुओं की रूप-रेखा कल्पना से प्राप्त होती है। दूसरी ओर जीव-शास्त्री को देखिये, वह संसार के एक-एक जीव को देखेगा, उनके रूप पर विचार करेगा। वह देखेगा कि संसार में एक प्रकार का जीव है जिसे दो सींग, एक पूँछ और चार पैर होते हैं और इतना निरीक्षण करने के बाद वह गो-जाति की कल्पना करेगा। इस गोत्व या गो-जाति की कल्पना सत्य है; पर इसलिए सत्य है कि वह वास्तविक संसार की वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् जीव-शास्त्री वास्तविकता से काल्पनिकता की ओर जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्लेटो की बुद्धि दार्शनिक की थी और अरिस्टोटल की एक वैज्ञानिक की। इस बुद्धि-भेद को ध्यान में रखना आवश्यक है। कारण, यह प्रायः कहते हुए सुना जाता है कि कविता का युग समाप्त हो गया, इस युग में व्यवहारिक चीज़ों की आवश्यकता है, हमें कल्पना-प्रसूत कविता को लेकर क्या करना है ? इस स्कूल के विचारकों के लिए शायद यह बात कौतूहल-वर्धक हो कि कविता की निन्दा दार्शनिक बुद्धि प्लेटो के द्वारा होती है—एक ऐसा कल्पना-प्रधान व्यक्ति जिसके यहाँ कविता का आदर होना चाहिये था। और कविता का समर्थन एक अरिस्टोटल जैसे वैज्ञानिक द्वारा होता है जिसकी ठोस वास्तविकता की चोट के सामने कविता चूर-चूर हो जानी चाहिये थी ! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि जिस विज्ञान से हम कविता के मूलोच्छेद की आशा करते हैं वही इसका सबसे बड़ा समर्थक होता है ?

इन दो आचार्यों के मस्तिष्क की प्रवृत्ति से परिचय प्राप्त कर लेने के बाद अब प्रकृत विषय पर आना अच्छा होगा। प्लेटो की दार्शनिकता के अनुसार सांसारिक वस्तुओं की सार्थकता

या महत्त्व इसी बात में है कि वह एक आदर्श का अनुसरण करती है। इस प्रतिज्ञा के अनुसार यह स्पष्ट है कि वह वस्तु जो किसी आदर्श (Idea) का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है या नहीं करती, वह निरर्थक है और उसे संसार में नहीं रहना चाहिये। कविता तो किसी Idea का प्रतिनिधित्व नहीं करती। कविता के द्वारा जो भाव या उद्‌गार प्रकट किये जाते हैं, वे आदर्श-रूप में उसी प्रकार के भाव या उद्‌गार की छाया-मात्र नहीं। अतः कविता Reality से दूर हो जाती है और इसी कारण उसके अस्तित्व को मिटा देना ही श्रेयष्कर है। परन्तु अरिस्टोटल की वैज्ञानिक बुद्धि 'क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये, क्या श्रेयष्कर है और क्या श्रेयष्कर नहीं,' इसकी उधेड़-बुन में नहीं पड़ती। वह तो देखती है कि कविता नामक वस्तु का अस्तित्व संसार में है और इसके अस्तित्व की बात भी उतनी ही सत्य है कि जितनी हमारा और आपका होना। इसी बात को ध्रुव-सत्य मानकर, मध्य-विन्दु समझकर अरिस्टोटल विचार प्रारम्भ करता है और एक बहुत ही मनोरंजक, सुन्दर और विश्वासोत्पादक तर्क-धारा में पाठकों को प्रवाहित करते हुए उन्हें इस निष्कर्ष के तट पर पहुँचा देता है कि कविता मानव-जीवन को उन्नत बनाने वाली विभूति है—वही कविता, जिसे प्लेटो ने आवेश में आकर A pursuit unworthy of man's intellectual dignity and radically vicious in its effect तक कह डाला था।

अरिस्टोटल किस वैज्ञानिक सम्पूर्णता, सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ किसी विषय पर विचार करता है, वह उसकी प्रसिद्ध पुस्तक Poetics के प्रथम वाक्य से प्रकट होता है। वह कहता है, "I shall speak of the art of poetry and of its various species, discenssing the function of each kind, along with the proper structure of a poem and the number and nature of its part. कहने का अर्थ यह कि अरिस्टोटल कविता की बाहरी छान-बीन से ही संतुष्ट नहीं है। वह इसकी आत्मा तक पहुँचकर उसके Function पर भी विचार करेगा, जिसके विना कविता के सच्चे स्वरूप की प्रतीति नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये—एक पशु के शरीर-संगठन, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की संख्या के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उस 'पशु' को नहीं जान सकते, जब तक हमें यह नहीं मालूम हो कि वह दुनिया में किस तरह Behave करता है ; वह कितनी छलाँगें मारता है, मनुष्य को देखकर उन पर चोट करता है या डरकर भाग जाता है। उसी तरह कविता के सच्चे और वास्तविक रूप को जानने के लिए हमें यह जानना होगा कि वह मानव-जीवन में किस तरह Behave करती है। इसी को अरिस्टोटल कविता का Function कहता है जिसका ज्ञान हमारे लिए अति आवश्यक है।

अरिस्टोटल और प्लेटो—इन दोनो तेजोपुंज नक्षत्रों का उदय उस समय हुआ था जब ग्रीक-साहित्य तथा संस्कृति का गगन-मंडल अपने पूरे उत्कर्ष पर था। माना कि इन दोनो ने अपने ज्योतिर्मंडल से उस गगन की सौन्दर्य-राशि को और भी चमका दिया ; पर साथ ही साथ ये भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। ग्रीक विचार-धारा प्रत्येक ललित कला को Imitation या अनुकरण के रूप में देखा करती थी ; अतः उसी के स्वर में स्वर मिलाकर इन्होंने भी कविता को Mode of imitation कहा। कविता का कर्तव्य यह है कि जिन उपकरणों को लेकर उसकी सृष्टि हुई है वे इस तरह से सजाये गये हों कि उनमें किसी चीज़ का प्रतीकत्व आ जाय, वे उसका आभास दें और उसका प्रतिनिधित्व करें। यदि कविता इस कर्तव्य में असफल है अर्थात् किसी चीज़ को Imitate नहीं करती तो कविता की उच्च श्रेणी में प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।

इतनी-सी छोटी बात लेकर अरिस्टोटल चलता है और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है, हमारे सामने ज्ञान का वह समुद्र उद्घाटित करता जाता है कि आश्चर्य होता है कि इस सान्त में अनंत कहाँ छिपा था, व्यष्टि में समष्टि कैसे छिपाया था। अरिस्टोटल यदि साक़ी के रूप में मेरे सामने कविता का प्याला लेकर न आ गया होता तो हम इस कतरे में दरिया कैसे देख सकते थे और कैसे यह कहते—

जिस रोज़ से साक़ी ने इक बुन्द पिलाया है ;
उस रोज़ से हर कतरा, दरिया नज़र आता है।

दोनो ही कविता के Imitation वाली परिभाषा को मानते हैं। कविता के इसी स्वभाव को लेकर प्लेटो इसकी निन्दा करता है ; परन्तु अरिस्टोटल ने जो काव्यात्मक प्रतीकत्व की परिभाषा दी है वह सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic) शास्त्र के लिए बड़ी देन है। यह कविता के सिद्धान्तों को ऐसी सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित करती है कि कविता सदा के लिए अचल और अमर हो गई। बात तो यह है कि इस परिभाषा के गर्भ में वह चीज़ वर्तमान है जिसके रूप, स्वभाव और तत्त्व को पहचानने की बड़ी आवश्यकता है ; नहीं तो अनाड़ी या इसके मर्म को न पहचानने वाले व्यक्ति के हाथ में पड़कर एक ऐसे विष की उत्पत्ति होगी, जिसके कारण कविता देवी का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा। दूसरी ओर यदि यह परिभाषा एक चतुर और Imitation रूपी बीज़ के वास्तविक मर्म को जाननेवाले व्यक्ति की देख-रेख में पड़ी तो एक प्रतिभावान् तथा प्रतापी बालक का अवतार होगा जो कवितादेवी की सब आपत्तियों और आघातों से रक्षा करेगा। गीता में श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है कि जब-जब भारत में धर्म की ग्लानि होती है, असुरों के उत्पात से दुनिया त्रस्त हो उठती है, तब-तब धर्म की संस्थापना के लिए, साधुओं की रक्षा और दुष्कृतों का नाश करने के लिए पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार होता है। उसी तरह यह कहा जा सकता है कि जब कविता की दुनिया प्लेटो और उसके समर्थकों के अत्याचार से पीड़ित हो उठी थी, उसी समय अरिस्टोटल ने इस Imitation रूपी बीज़ से एक ऐसे बालक को अवतरित किया जिसने फैले हुए अनाचार और भ्रम को दूरकर कविता-धर्म की संस्थापना की। प्लेटो ने प्रतीक (Imitation) का अर्थ निर्जीव अनुकरण लगाया था ; परन्तु अरिस्टोटल काव्यात्मक प्रतीक को निर्जीव नहीं ; परन्तु सजीव मानता है।

यहाँ यह सम्भव नहीं कि जिस सजीवता, आवेग और मनोहारिता से प्लेटो ने अपने मत का प्रतिपादन किया है, उसका आभास-मात्र भी दिया जा सके। फिर भी उसके विचारों को सरसरी तौर पर देख लेना बुरा न होगा। मनुष्य का गौरव इसी में है कि वह आदर्श या कल्पना (Idea) से सम्पर्क बढ़ाये। संसार की वस्तुएँ कुछ अंश में अपनी आदर्श वस्तु की झलक दिखलाती हैं और इसी लिए ही मनुष्य को उन्हें अपनाना चाहिये। आदर्श-रूप ही वास्तविक सत्य है और सब जगत मिथ्या है। कविता एक कला है। कला प्रकृति का प्रतीकत्व या अनुकरण करती है। चित्रकला और काव्यकला में बहुत समानता है। चित्रकला-विशारद किसी वस्तु की नकल करता है, वस्तु किसी Idea या आदर्श का प्रतीकत्व करती है। आदर्श ही सत्य है और वस्तुएँ मिथ्या हैं। अतएव चित्रकला सत्य से दूर हो जाती है। प्लेटो के प्रसिद्ध 'पलंग' वाले उदाहरण से बातें और भी स्पष्टतर हो जायँगी। संसार में बहुत से पलंग हैं ; परन्तु उनका अस्तित्व इसी लिए सत्य है कि ईश्वरीय एक आदर्श पलंग भी है। बढ़ई जब एक पलंग निर्माण करता है

तो वह उस आदर्श ईश्वरीय पलंग का अनुकरण करता है। हम बढ़ई के इस पलंग बनानेवाले कार्य की प्रशंसा कर सकते हैं; क्योंकि इसका सीधा लगाव आदर्श सत्य पदार्थ से है। पर चित्रकार? वह बढ़ई-द्वारा बनाये पलंग का अर्थात् अनुकरण का अनुकरण करता है। अतएव चित्रकला का सम्बन्ध सत्य से सीधा न होकर दूर का हो जाता है। यही कारण है कि प्लेटो के मतानुसार चित्रकला के पीछे समय बरबाद करना व्यर्थ है, सत्यता को छोड़ असत्य के पीछे मरना है। जो बात चित्रकला के लिए लागू होती है, वही कविता के लिए भी ठीक हो सकती है। कवि भी मनुष्य के स्वभाव, उसकी रहन-सहन का प्रतीकत्व करता है। दूसरे शब्दों में दोनो कलाएँ मिथ्या, मृग-तृष्णा, छाया, नकल के पीछे पड़ती हैं। अतएव दोनो सत्य से दूर होने के कारण निन्दा के पात्र हैं।

परन्तु अरिस्टोटल कहता है कि कविता के सम्बन्ध में जिस Imagination शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ केवल निर्जीव नकल नहीं। कला को प्रकृति का दर्पण कहा गया है; परन्तु यह कथन सम्पूर्ण रूप में नहीं, आंशिक रूप में सत्य है। यदि कला केवल प्रकृति के स्वरूप की हूबहू नकल, प्रतिछाया मात्र ही रहती, उसके निर्जीव अनुसरण मात्र से ही सन्तुष्ट रहती, तो इससे लाभ ही क्या होता? वास्तविक चीज़ जब हमारे सामने है ही तो उसकी छाया या अनुकरण की आवश्यकता ही क्या? नकली चीज़ चाहे कितनी अच्छी क्यों न हो असल चीज़ की समता कर नहीं सकती। असली चीज़ में जो प्रभावशालिता या चमक होगी, वह तो नकल में आ ही नहीं सकती। तब क्या कारण है कि कला से हमारा हृदय एक विचित्र रूप में प्रभावित होता है और वह प्रभाव प्राकृतिक वस्तु के प्रभाव से कहीं अधिक ज़ोरदार, शक्तिशाली तथा समर्थवान होता है। अएतव यह निष्कर्ष निकलता है कि कला सजीव होती है, वह शुद्ध निर्जीव नकल ही नहीं करती; पर 'कुछ और' करती है और इसी 'कुछ और' में उसका महत्त्व निहित है। किसी कविता के पात्र की सजीवता की, उसके वास्तविक मनुष्यों के रूप में होने की हम प्रशंसा कर सकते हैं, यह कह सकते हैं कि अमुक पात्र Life-like है; पर सच पूछो तो जीवन में ऐसे मनुष्य कहाँ मिलते हैं जिनके प्रत्येक कार्य-कलाप में हमें चमत्कृत कर देने की शक्ति रहती है; जिसकी वेदना, रुदन, हास्य और एक-एक शब्द में कुछ विशेषता रहती है; जिनका उत्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना उनका पतन। उदाहरण के लिए श्रीमती महादेवी वर्मा या 'बच्चन'जी की कोई कविता लीजिये।

सजनि मैं उतनी करुण हूँ,
करुण जितनी रात

× × ×

सुभग मैं उतनी मधुर हूँ,
मधुर जितना प्रात

× × ×

सजनि मैं उतनी सजल
जितनी सजल बरसात

× × ×

मैं नीर-भरी दुख की बदली
× × ×
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा कभी न अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

—महादेवी वर्मा

जीवन में हम कितने मनुष्यों के सम्पर्क में आते हैं, उनके दुःख में दुःखी होते हैं और सुख में सुखी ; उनकी वेदनाओं के चरणों पर अपनी सहानुभूति का अर्घ्य अर्पित करते हैं ; पर इन पंक्तियों से जिस विचित्र रूप में हमारे हृदय का तार छू जाता है, जिस तरह हम द्वन्द्वमय जगत की सतह से उठकर एक अलौकिक जगत में जाते हुए-से दीख पड़ते हैं, क्या दुनिया के चलते-फिरते कठपुतलों की वाणी में उस शक्ति की छाया भी आ सकती है ! इस प्रश्न का उत्तर मैं स्वयं न देकर पाठकों के हृदय के सामने रखता हूँ ।

अतएव यह सिद्ध होता है कि कविता के पात्र जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, वे चाहे जो कुछ करते हों ; पर प्रकृति का निर्जीव अनुकरण नहीं करते । इसी बात को ध्यान में रखकर अरिस्टोटल ने कविता के ऊपर विचार करते हुए कविता की उपमा, प्लेटो की तरह चित्र-कला से नहीं ; परन्तु नृत्य या संगीत-कला से दी है। संगीत में स्वरों के आरोह या अवरोह से और नृत्य में अंगों की तोड़-मरोड़ या भाव-भंगी से मनुष्य के हृदय की भाव-दशा, उसकी आशा, निराशा, व्याकुलता, आवेग, संकल्प-विकल्प का परिचय भले ही मिले ; पर इतना तो निर्विवाद है कि ये सब प्राकृतिक मनुष्य के कार्य के अनुकरण नहीं । अरिस्टोटल कहता है कि काव्यात्मक प्रतीक की आधारशिला Men in action है । अर्थ यह कि कविता उन सब बातों का प्रतीकत्व करती है जो मानवता के अनुकूल हों, मनुष्य-जीवन में जिसकी संभावना हो सकती हो (not 'men-doing things' but 'Things happening in the terms of human nature, events embodied in human lives) अतएव साहित्य को ऐसी वस्तु हमारे सामने उपस्थित करना पड़ता है जो कुछ दुनिया से ऊपर उठी ; फिर भी दुनिया की हो, जिसकी आँखें चंद्रमा की ओर भले ही हों ; पर पैर ज़मीन पर ही टिके हों । भाई जैनेन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परख' की भूमिका में उपन्यास-कला के सम्बंध में जो बातें कही हैं, वे कविता के विषय में भी अक्षरशः सत्य हैं। उन्होंने कहा है—'उपन्यास, इस तरह, सत्य में स्वप्न का पुट देकर, वास्तव में कल्पना मिलाकर, व्यवहार से आदर्श का साम्य और सामञ्जस्य स्थापित कर, वर्तमान पर भविष्य का रंग चढ़ाकर, जो जीवन से मिलता-जुलता है, फिर भी अनोखा है, जिससे मनोरंजन भी प्राप्त होता है और शिक्षा भी, जिससे हठात् एक नई चीज़ हृदय में पैठ जाती है और हम ज़रा आगे बढ़ जाते हैं। हमें मालूम नहीं होता ; पर एक संस्कार, एक नई बात धीरे-धीरे उगना आरंभ हो जाती है...। और वह बहुत ही कम विश्लेषण और मस्तिष्क के पकड़ में आती है। चित्र में भाव की तरह, वह सारी कृति में रमी रहती है । मस्तिष्क की विवेचना को पार कर हृदय की अनुभूति में इस तरह चुभ जाती है कि मस्तिष्क बौखलाता ही रह जाय, हृदय हिल जाता है ।'

बात यह है कि कविता का बाह्य संसार से या प्रकृति से वैसा सीधा-सादा सम्बंध नहीं जैसा प्लेटो समझता है । बाह्य संसार से कवि कल्पना-द्वारा मिलता है । कवि अपनी कल्पना-द्वारा ही बाह्य संसार से वह प्रेरणा प्राप्त करता है, जिसके सम्पर्क से उसका हृदय लेखनी के मार्ग होकर

उतरने के लिए तड़फड़ा जाता है। यही Imaginative impulse. (भावोत्कर्ष) ही कविता की आत्मा है। बिना इसके कला परिस्फुटित नहीं होती, यही कला का जीवनाधार है। अरिस्टोटल इसी काव्यकला की छानबीन करता है। वह इस Impulse को ध्रुव सत्य मानकर चलता है और इस बात की विवेचना करता है कि यह किस तरह भाषा का सहारा पाकर अपना जाला पसारता है। यह impulse कहाँ से आया, किस तरह आया, क्यों आया ; इन बातों पर विचार करना उसका (साहित्यिक) का विषय नहीं। जो मनुष्य कविता और उसका बाह्य संसार के सम्बंध पर बिना कल्पना को लाये ही विचार करना चाहते हैं वे इन्हीं प्रश्नों पर विचार करना चाहते हैं। यह काम मनोविज्ञान का है, साहित्य का नहीं।

जोधपुर।

लेखक के दान और दायित्व

['प्रभु-सेवक']

[इस छद्मनाम से लिखनेवाले सज्जन एक ईसाई पादरी हैं। वय अभी कम है; पर अनुभूति गहरी है। हिन्दी पर अच्छा अधिकार है।—सं०]

लेखक क्या है, कौन है—इसे शब्दों में समझाना अत्यन्त मुश्किल है। 'लेखक' शब्द इतना स्पष्ट है कि अपनी प्रत्यक्षता के कारण परिभाषा की परिधि से बाहर है। यह गणित के नीरस, निर्जीव, निर्मम सत्य के समान नहीं है जिसका अर्थ नवसिखों तथा पारंगतों को समान-रूप से प्रभावित करता है। लेखक एक ऐसा शब्द है, जिसका आन्तरिक अर्थ, अपरिमित रूप, जीवन तथा अनुभव के साथ-साथ उत्तरोत्तर विकसित होता है। बच्चों के लिए लेखक का अर्थ है—लिखनेवाला, कलम घसीटनेवाला तथा कागज को रोशनाई से पोतनेवाला ; युवक-युवतियों के लिए लेखक का अर्थ है—हृदय को आंदोलित करनेवाला, नव-जीवन की सुख

अभिलाषाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं को शब्द के पुष्प-बाणों से जागृत करनेवाला, और रग-रग में जीवन का जोश तथा उत्सर्ग का उत्साह भरनेवाला ; पर वयस-प्राप्त सज्जनों के लिए लेखक का अर्थ है—समाज की अन्तरात्मा पहचानने वाला, राष्ट्र के अस्पष्ट विचारों तथा मूक माँगों को स्पष्ट तथा दहकते हुए शब्दों में नेताओं के आगे रखनेवाला ; वह समाज का पथ-प्रदर्शक है, तथा राष्ट्र का प्रतिनिधि।

यहाँ पर लेखक बहुत ही विस्तृत रूप में लिया गया है ; याने कोई भी जो किसी प्रकार की रचना लेकर समाज के आगे आता है। यहाँ केवल साहित्यकारों से ही काम नहीं है जो कविता, उपन्यास, निबन्ध, आख्यायिका आदि लेकर जन-साधारण के आगे उपस्थित होते हैं ; पर उनसे भी जो दैनिक पत्रों में अपनी लेखनी का प्रभुत्व दिखलाते हैं। और इन सभी के विषय में हमारा विषय सिर्फ़ एक पहलू लेकर अपने विचार प्रकट करेगा।

यदि हम लेखक की स्थिति पर उड़ती हुई नज़र भी डालें तो उसमें हमें दो प्रकार के गुण दीख पड़ेंगे। एक श्रेणी ऐसी है जिसके अन्तर्गत वस्तु-विषयक गुण आते हैं, और दूसरी, जो नैतिक गुणों का संग्रह है। पहली श्रेणी के गुण रचना से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे रचना की सरलता, स्पष्टता, हृदय-स्पर्शिता ; पर दूसरी श्रेणी के गुण लेखक के आचार-विचार, दर्शन तथा सिद्धान्त से संबन्ध रखते हैं। हम इस लेख में सिर्फ़ नीति-सम्बन्धी गुणों के ही महत्त्व तथा दायित्व का विश्लेषण करेंगे।

नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रचुरता, प्रभाव तथा प्रभुत्व ने आधुनिक संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया है। १९वीं सदी के वैज्ञानिक जिन वस्तुओं को असंभव-प्राय समझते थे, २०वीं सदी का जन-साधारण उनका प्रयोग करता है। विज्ञान ने स्थान और काल का अन्तर मिटा दिया है और फलतः साहित्य के प्रचार में, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, अमूल्य सहायता पहुँचाई है। पहले जो पुस्तकें द्रव्य देने पर भी दुर्लभ थीं, वे आज गलियों में कौड़ी की तीन हो रही हैं। १९वीं सदी के लोग मुद्रित पुस्तकें देखकर अपने को धन्य मानते थे ; पर २०वीं सदी की जनता उनसे आँखें फेर लेती है। आज-कल मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक ने ऐसा हल्ला मचाया है कि दुनिया के किसी भी कोने में आप समस्त संसार के विचारों तथा समाचारों से परिचित हो सकते हैं। लेखक सिर्फ़ अपने प्रांत या देश का निवासी कहलाते हुए भी वास्तव में संसार का नागरिक बन गया है और फलतः उसके विचारों का प्रभाव बिल्कुल अपरिमित हो गया है।

इतना ही नहीं, आधुनिक संसार चलने के बदले दौड़ने लगा है। मजा तो यह है कि इतने शीघ्रगामी यन्त्रों के होते हुए भी, और शायद इन्हीं के कारण, लोगों के दैनिक जीवन में ऐसी हलचल पैदा हुई है कि शान्त तथा स्वतन्त्र विचार की कौन कहे, उन्हें खाने-पीने तक का समय नहीं मिलता। इनका व्यावहारिक सिद्धान्त है—कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक सीखना, करना और कमाना चाहिये। कौन-सी बातें किस प्रकार सीखनी चाहियें, कौन-से काम किस तरह करने चाहियें तथा कितना धन किस रीति से कमाना चाहिये—इन महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार करने के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं रहता। अतः अधिकांश जनता के लिए, जो कुछ कागज़ में छपता है, वह ब्रह्म-वाक्य के समान ही निश्चित होता है। लेखक ही उनके लिए सोचता है, लेखक के ही विचार तथा प्रमाण पाठकों के लिए काफ़ी हैं। वे उसी के

साथ-साथ डूबने-उतराने के लिए तैयार रहते हैं। इस बात को साबित करने के लिए न उदाहरणों तथा प्रमाणों की कमी है, न उन्हें यहाँ देने की आवश्यकता है। दैनिक पत्रों का प्रभाव आज हम से छिपा नहीं है ; यद्यपि इनका प्रभुत्व, किसी प्रचण्ड दामिनी की तरह, अपने क्षणिक तथा दग्धकारी प्रभाव के बाद अंनत में विलीन हो जाता है।

हमें अभी लेखक की अपार शक्ति की सिर्फ़ पहली झलक मिली है, जो विशेषतः आधुनिक आविष्कारों पर निर्भर है। लेखक भाषा तथा शैली-सम्पन्न व्यक्ति है जिसका असर आजकल के वातावरण में पले हुए मनुष्यों पर अचूक रीति से पड़ता है। विज्ञान ने उसे काल तथा स्थान के बन्धनों से मुक्त कर दिया है, प्रांत तथा देश की सरहदों से ऊपर उठा दिया है।

पर वास्तविक लेखक सबसे पहले विचारों का पुंज है, जो असंख्य धाराओं में उसकी लेखनी से प्रस्फुटित होते हैं। और मनोविज्ञान की दृष्टि से यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मानव-जीवन में विचार बारूद की पुड़ियों का फ़र्ज़ अदा करते हैं। अंतर इतना ही है कि बारूद को पलीते की ज़रूरत होती है ; पर हमारे विचार आप-ही-आप कार्य-रूप में परिणत हो जाते हैं, उन्हें बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। मानव-स्वभाव की रचना ऐसी विचित्र रीति से हुई है कि जो विचार हम किसी रूप में भी ग्रहण करते हैं, वे अपना उपस्थिति-चिह्न हमारे मस्तिष्क में छोड़ जाते हैं और ये कभी-न-कभी कार्य-रूप में अवश्य ही प्रकट होते हैं। मनोविज्ञान में यह माना हुआ सिद्धान्त है कि प्रत्येक मानव का विचार गतिशील या क्रियाशील (Dynamic) होता है ; हमारे कार्य स्वभावतः हमारे विचारों का अनुसरण करते हैं ; व्यावहारिक जगत हमारे वैयक्तिक विचार-लोक का चित्र है, अंतर्जगत का बाह्य प्रदर्शन है। फलतः जो लेखक जनता के विचारों का विधायक है तथा संचालक है, वही राष्ट्र या समाज का वास्तविक व्यवस्थापक भी है।

यदि हम किसी देश-विशेष के इतिहास की तात्कालिक दार्शनिक विचारों से तुलना करेंगे तो यह सिद्धांत बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। यूरप के अनेक विभागों की आधुनिक अवस्था को ही लीजिये। यहाँ नास्तिकता अपना ताण्डव-नृत्य करती है, अनीति लोगों की आँखों पर पट्टी बाँधकर सदाचार की हत्या करती है और जीवन का अंतिम लक्ष्य समाज या देश तक ही सीमित करके अत्याचार का रूप धारण कर लेती है। यहाँ स्वाधीनता धीरे-धीरे स्वच्छन्दता बन जाती है और साम्यवाद का शंख फूँककर भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को पैरों-तले मसल देती है। मानव स्वतंत्रता जिस बुनियाद पर टिकी है वह अपना उपहास करते ही स्वयम् अपने ही बोझ से धराशायी हो जाती है।

पर इस दयनीय अवस्था का कारण हमें कहाँ मिलेगा ? ये किस घातक बीज के पौधे हैं ? यदि हम इन प्रश्नों की तह तक पहुँचना चाहते हैं तो कहना पड़ेगा कि इनका एकमात्र वास्तविक कारण १८वीं तथा १९वीं सदी के दार्शनिक विचार हैं। इन सदियों में वस्तुवाद और आदर्शवाद का ही बोलबाला था। वस्तुवाद जीव को भूलकर जड़ का उपासक बन गया। उसने आध्यात्मिक सत्यों को अपने विचार तथा व्यवहार दोनों से बहिष्कृत कर देने का भगीरथ-प्रयत्न किया और कुछ अंशों में उसे सफलता भी प्राप्त हुई। और जिस मात्रा में वस्तुवाद सफल हुआ, उसी अनुपात में धर्म तथा नीति को मनुष्य के व्यवहारिक जीवन से विदा होना पड़ा। पर दिनों की फेर कहिये या मनुष्य की सहज प्रेरणा, वस्तुवाद ने ऐसा धक्का खाया, विरोधियों के हमलों से ऐसा गिरा कि इसी के घातक सिद्धांतों को लेकर प्रतिद्वंद्वियों ने आदर्शवाद की

नींव डाली और जड़ संसार का अस्तित्व ही मिटा दिया। प्रतिक्रिया का ऐसा भीषण और विचित्र उदाहरण शायद ही कहीं मिले।

किन्तु जब आदर्शवाद का हल्ला मचा तो आदर्शवादी विचारों के विमान में इतना ऊँचा उड़ा कि वह अपने को भूल गया; उसने अपने सीमित अभावपूर्ण स्वभाव को विसार दिया और अपने को ईश्वर के आसन पर बिठा दिया। वह अब ब्रह्माण्ड का स्वामी हो गया। उसने धर्म और नीति का अस्तित्व तो माना; पर उन मूर्खाधिराजों के लिए जो अभी तक संसार को ठोस और यथार्थ मानते हैं, जो अपने ज्ञानेन्द्रियों के भ्रम-जाल में फँसे हैं। इस प्रकार वस्तुवाद तथा आदर्शवाद दोनो ही ने परस्पर विरोधी सिद्धांतों के अनुयायी होते हुए भी ईश्वर तथा आत्मा, धर्म और नीति जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर एक ही फैसला सुनाया—याने उसका अस्तित्व मानना मनुष्यों की नादानी है। इन महानुभावों से कौन कहे—

जीव न जीवन से इतराना;
ईश्वर की थाती है यह, इसे भूल नहीं जाना।

इस प्रकार जब धार्मिक तथा नैतिक जीवन का आधार ही हिल गया, टिकाव नीचे से सरक गया, तो फिर हमें व्यावहारिक जगत में इनका भव्य भवन कैसे दीख पड़ता। जैसा विचार, वैसा आचार। इस उदाहरण से उपरोक्त सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है। याने जो विचार का प्रवर्त्तक तथा प्रचारक है, वही समाज का वास्तविक इतिहासकार भी है। श्री बेलॉक ने ठीक ही कहा है कि 'इतिहास दर्शन का व्यावहारिक रूप है।' यहाँ पर यह ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है कि यद्यपि दार्शनिक विचारों का जन्मदाता है; लेकिन लेखक ही उसका वाहक तथा प्रचारक है।

इस जगह शायद पाठकों के मन में अनेक संदेह तथा आपत्तियाँ उमड़ रही हैं। वे सोचते हैं—साहित्य में हृदय का उफ़ान है, विचार-प्रचार का एकाकी मार्ग है। वास्तविक लेखक या साहित्यकार तो वह है जिसके विचार इतने उग्र तथा प्रचंड हो जाते हैं कि काग़ज़ पर बरबस निकल पड़ते हैं। अतः लेखक तो अपने स्वभाव से लाचार है। जिस प्रकार हम बोलनेवाले की ज़बान नहीं पकड़ सकते, उसी तरह लेखक की लेखनी रोकने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

इतना ही नहीं, यह तो अनुभव-सिद्ध है कि लेखक के विचारों का प्रभाव सभी पर समान रूप से नहीं पड़ता। सज्जन उसे सही रोशनी में देखते हैं और उन्हें कोई हानि नहीं होती। दुष्ट तो सत्य में भी असत्य खोज निकालते हैं, पुण्य में भी पाप की मलीनता देखते हैं। यह लेखक का दोष नहीं; पर उनकी पतित, निकृष्ट प्रकृति का प्रतिबिंब है। क्या आप कृष्ण-भक्त सूर के पद भूल गये हैं?

सीप गए मोती भए, कदली गए कपूर।
अहि-सिर गए तो विष भए, संगति के फल सूर॥

अतः इससे यही प्रतीत होता है कि लेखक अपने विचारों की प्रतिक्रिया के लिए जवाबदेह नहीं कहा जा सकता, यह तो पाठकों की रुचि तथा संस्कार-विभिन्नता पर निर्भर है।

इन शंकाओं या आपत्तियों में कितना सार है, यह यदि प्रथम दृगपात में प्रत्यक्ष नहीं है तो किंचित् शांत विचार से बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। यहाँ पर हमें उन व्यसनों तथा वासनाओं के प्रचार से मतलब नहीं है जो हमारी बुद्धि के विरुद्ध पाशविक विकारों के प्रदर्शन हैं;

क्योंकि ऐसे उद्गारों को कोई भी लेखक, जिसमें आंशिक शिष्टता भी बाकी है, लिपिबद्ध करने से हिचकता है। यहाँ पर उन मानसिक उद्गारों के प्रचार से भी मतलब है जो हमारी निम्न वृत्तियों को एकाएक जागृत नहीं करते ; पर जीवन के चिर-संचित सात्त्विक सिद्धांतों का उन्मूलन करते हैं और क्रमशः धर्म और नीति के पथ से हमें गिरा देते हैं। हमारी बुद्धि ही हमारे जीवन की पथ-प्रदर्शिका है, उसी के प्रभाव तथा प्रयोग से हम पशुओं की श्रेणी से निकलकर मनुष्य की श्रेणी में आते हैं। अतः हमारे उग्रतम उद्गार भी यदि बुद्धि के अनुकूल नहीं हैं, हमारे ठोस बौद्धिक सिद्धांतों की हत्या करते हैं, तो हमें उन्हें लिपिबद्ध करने का अधिकार नहीं है। भावनाओं की उग्रता या प्रचण्डता उनकी नैतिकता का मापन नहीं हैं, उनकी अनैतिकता की प्रसारिका भले ही हो।

यहाँ पर भी हमारा पूर्वोक्त सिद्धांत लागू है—याने अधिकांशतः हमारे उद्गारों की उत्कटता हमारी मानसिक धारणाओं की दृढ़ता और प्रेरक शक्ति पर निर्भर है। और यदि वे धारणाएँ बुद्धि-संगत हैं, तो अवश्य ही हृदय के उद्गार भी उन्नत और उत्तम होंगे।

दूसरी शंका का समाधान करना भी मुश्किल नहीं है। हम दैनिक अनुभव से जानते हैं कि यदि लेखक शुद्ध संस्कारों तथा परिष्कृत विचारों को पाठक के सम्मुख रखता है तो पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता ; मनुष्य स्वभावतः सत्य और सुन्दर की ओर झुकता है। किन्तु यदि लेखक पाठक के दुर्विचारों तथा कुवृत्तियों को उत्तेजित करता है तो अग्नि में घी छिड़कता है। मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को सजग करने में कोई वीरता नहीं है ; पर उनके शमन तथा युक्ति-युक्त संचालन में लेखक की चतुराई की जाँच अवश्य हो जाती है। कोई भी जान-बूझकर असत्य की आराधना नहीं करता। अतः लेखक अनायास ही सुधारक बन सकता है।

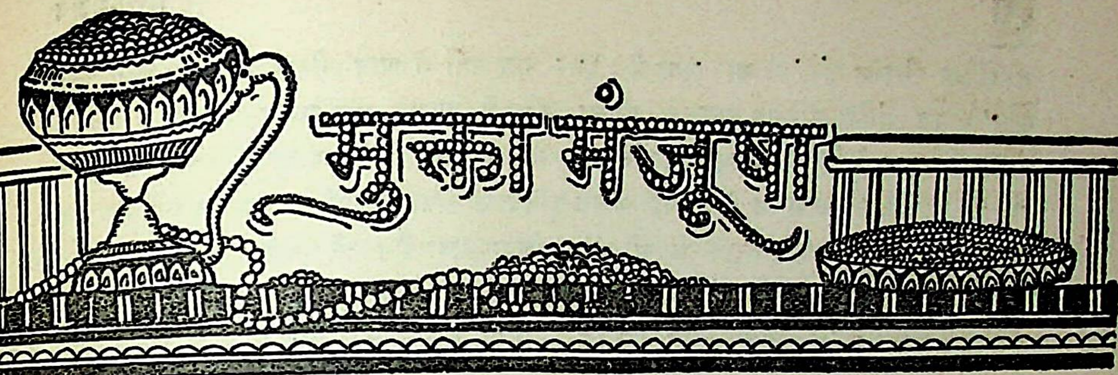
लेखक के दायित्व की समस्या और भी जटिल हो जाती है, जब हम युवक के दृष्टि-कोण से देखते हैं। युवावस्था में अनुभव का अभाव तथा कामनाओं का प्रथम आवेग रहता है। उसके पास निश्चित, कसौटी पर कसे हुए सिद्धांत नहीं होते, वह जीवन के चौराहे पर खड़ा रहता है। जिस ओर से प्रथम आवाहन आता है, जिन विचारों का सिक्का चलता है, उधर ही वह बिना विचारे दौड़ पड़ता है। वह एक दिशा में दौड़ पड़ता है ; इसलिए नहीं कि उसे अपना लक्ष्य मालूम है, वह अपने लक्ष्य के औचित्य का कायल है ; नहीं, उसके पास शान्त व्यक्तिगत विचारों के लिए समय नहीं है, और न इसके विषय में वह परवाह ही करता है। उसकी स्नायुओं में जीवन-शक्ति थिरक रही है, हृदय में उत्साह तथा उदारता उबल रही हैं और वह इनका उपयोग करने के लिए अधीर हो रहा है। ऐसी दशा में सचमुच लेखक की अवस्था बहुत ही नाजुक और दायित्वपूर्ण हो जाती है। एक प्रकार से उसके हाथ में सैकड़ों का भविष्य चला आता है, वह भावी राष्ट्र का भाग्य-निर्णायक भी बन जाता है। यह किसे मालूम नहीं है कि लेखनी के आगे तलवार और विज्ञान को भी सिर झुकाना पड़ता है। जहाँ पाशविक बल से काम नहीं चलता, जहाँ विज्ञान के नूतनतम आविष्कारों का चमत्कार लोगों को डिगा नहीं सकता, वहाँ लेखक की एक-एक उक्ति और उपमा जनता को तिलमिला देती है, उसकी धारणाओं को बदल देती है और हृदय में नवीन जीवन और जोश का संचार करती है, जो क्रियाशील होकर समाज को ही नहीं ; पर सारे देश को हिला देती है। इस प्रकार लेखक एक अँधेरे कोने में भी बैठकर देश के हृदय पर निर्विघ्न राज्य कर सकता है।

पर जहाँ लेखक देश और समाज का अपार उपकार कर सकता है, वहाँ उन्हें विनाश की खाईं में भी गिरा सकता है। लेखनी दोधारी तलवार है। यदि लेखक अनुपस्थित रहकर भी हजारों के दिल में सत्य का दीपक जला सकता है, उन्हें भ्रम के दलदल से बचा सकता है, प्रचलित कुप्रथाओं तथा पनपती हुई बुराइयों का खंडन करके सर्वसाधारण का पथ-प्रदर्शक बन सकता है, तो इसके प्रतिकूल उसका हृदय उस सोते के समान भी हो सकता है जो भ्रान्ति और झूठे सिद्धांतों का विष प्रवाहित कर अशिक्षित जनता और निर्दोष बालकों की हत्या कर सकता है, स्वस्थ विचार-वालों को क्षीण तथा शिथिल बना सकता है और फलतः वह हमारे उच्चतम सिद्धांतों की जड़ हिलाकर हमारी आध्यात्मिक धारणाओं का रक्षक होने के बदले भक्षक हो सकता है।

एकाकी मनुष्य के सिर पर अपने व्यक्तिक कार्यों का दायित्व रहता है, पिता के सिर पर परिवार का बोझ; राजा की ज़िम्मेदारी भी देश तक ही सीमित रहती है; पर लेखक के नैतिक दायित्व का भार उसके साहित्यिक प्रभाव पर निर्भर रहता है। यदि लेखक का प्रभाव देश तथा काल से परे है, तो उसका दायित्व भी अपरिमित है; यदि उसके विचार वसुधा के कोने-कोने में व्याप्त हैं, तो उन विचारों से प्रसूत कार्यों के लिए भी वही उत्तरदायी होगा। सर जेम्स जीन्स लिखते हैं—'चंद्रमा सुदूर पृथ्वी पर ज्वार-भाटा उठाता है, और ये भी दूरतम सितारों पर तरंगें उठाते हैं यद्यपि ये परिमाण के विचार से 'नहीं' के बराबर हैं। जब कभी बालक अपनी शिशु-गाड़ी से अपना खिलौना उछालता है, तो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक सितारों की गति में बाधा पहुँचाता है।'

यदि जड़ प्रकृति के अंगों में ऐसी विचित्र एकता है, तो जीवित संसार के सदस्यों में कितना घनिष्ठ संबंध होगा। नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में विचारों का प्रभाव कितना सूक्ष्म, कितना विस्तृत, कितना वास्तविक, कितना क्रियाशील होगा! और फलतः लेखक का प्रभाव तथा दायित्व कितना विशाल, विराट् भयंकर है!

शेखगनूर।



मलयालम

दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार

श्री ए० चन्द्रहासन केरल में भारतीय साहित्य-परिषद् के संयोजक हैं और एर्नाकुलम के महाराजा कालिज में हिंदी के अध्यापक हैं। आपने केरल के महाकवि वल्लत्तोल का यह संदेश और उस पर अपनी टिप्पणी तैयार करके हमारे पास भेजी है। इतर प्रांतीय भाषाएँ और साहित्यिक हिन्दी के प्रचार में कितनी सहायता पहुँचा रहे हैं, यह इस संदेश से प्रकट हो जायगा।—सं०

इधर कुछ वर्षों से मद्रास प्रांत में हिन्दी-भाषा का प्रचार जोरों से हो रहा है। १९१८ में पूज्य महात्माजी के आज्ञानुसार श्री देवदास गांधी और स्वामी सत्यदेव ने मद्रास शहर में राष्ट्रभाषा का जो बीज बोया था, वह आज एक बड़ा भारी पेड़ बन गया है जिसकी शाखाएँ दक्षिण भारत के कोने-कोने तक फैल चुकी हैं। अभी इस साल के शुरू में मद्रास के कांग्रेसी मंत्रि-मंडल ने माननीय श्री० सी० राजगोपालाचार्य जी की अगुआई में सेकन्डरी स्कूलों में हिन्दी को अनिवार्य पाठ्य-विषय के तौर पर स्थान देकर हिन्दी-प्रचार को एक-दम आगे बढ़ाया है। कांग्रेस-विरोधी लोग अब हिन्दी-विरोधी भी बन गये हैं और वे आज-कल तमिल-प्रांत में इस बात को लेकर आंदोलन मचा रहे हैं। वे तो कांग्रेसी सरकार के सभी कार्यों में कलंक लगाने एवं त्रुटियाँ निकालने की धुन में लगे हैं। हिन्दी-प्रचार को शुरू हुए बीस साल के बाद ही इन महाशयों को ये विचित्र बातें सूझी हैं कि भारत को राष्ट्रभाषा की ज़रूरत नहीं है, हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती है, हिन्दी-प्रचार से मातृभाषा की हत्या होती है आदि। इनकी अर्थ-शून्य और परिहासास्पद दलीलों की आलोचना करना मेरा यहाँ उद्देश्य नहीं है। केरल के वृद्ध कवि-सम्राट इस आन्दोलन को किस दृष्टि से देख रहे हैं, उसका ही उल्लेख यहाँ होगा।

केरल के कवि-सम्राट श्री वल्लत्तोल नारायण मेनोन अब भारत में काफ़ी नाम पा चुके हैं। आपने महात्मा गांधी को अपना गुरु माना है और उनके बताये मार्ग पर अपना जीवन बिताने की कोशिश कर रहे हैं। आप बड़े सीधे-सादे हैं और बूढ़े बन जाने पर भी बड़े उत्साही और उद्यमी हैं और अपनी धुन के पक्के हैं। आप बिल्कुल बहरे हैं अतः अपनी प्रशंसा या दूसरों की निंदा सुनने का दुर्भाग्य आपको प्राप्त नहीं। केरल की भाषा और कलाएँ आपको जान से भी प्यारी हैं और उनकी उन्नति करना आपने अपना जीवनोद्देश्य बनाया है। आप मलयालम और संस्कृत को छोड़कर कोई अन्य भाषा नहीं जानते हैं। आपकी रचनाओं में नये युग की जो भावनाएँ चमकती नज़र आती हैं, वे बिल्कुल मौलिक हैं। आपके साहित्यिक प्रयत्नों

का संक्षिप्त विवरण 'हंस' में आ चुका है। इधर कुछ वर्षों से आप केरल की खास कला 'कथकलि' नामक संगीत-अभिनय-नृत्य के पोषण करने में अपना पूरा समय दे रहे हैं। आपने कोचीन रियासत के सिरे में षोरनूर रेल जंक्शन के समीप 'केरल कलामण्डलम्' नामक संस्था की स्थापना की है जो अब भारत के ही नहीं बल्कि दुनिया के कला प्रेमियों का तीर्थ बन गया है। वहाँ कथकलि नृत्य का अभ्यास कराने का भी प्रबंध किया गया है। गत नवंबर के दूसरे हफ़्ते में श्री. वल्लत्तोल की 'षष्टिपूर्ति' (६०वीं वर्ष-गाँठ) और कलामण्डलम् का वार्षिक-कलोत्सव एक साथ मनाये गये थे। उसी समय पालघाट में माननीय मंत्री श्री गोपाल रेड्डीजी की अध्यक्षता में केरल के हिन्दी-प्रचारकों का भी सम्मेलन किया गया था। सम्मेलन की सफलता चाहते हुए श्री वल्लत्तोल ने जो संदेश भेजा था उसका हिन्दी-अनुवाद नीचे दिया जाता है।—

'विद्यापति, तुलसीदास आदि महाकवियों के लालन-पालन से जो भाषा उत्कृष्ट दशा को प्राप्त हुई है, बाईस करोड़ लोग जिस भाषा का व्यवहार करते रहते हैं, और जो भाषा सर्वदा उन्नति कर रही है, उस हिन्दी-भाषा के प्रचार का काली झंडी दिखाकर निषेध करना अंधकार के सूर्य-रश्मि का सामना करने के बराबर है—ऐसा मुझे सूझता है। छः हज़ार मील दूर से आई हुई अंग्रेजी भाषा हम भारतीयों के लिए कितनी ही संपन्न क्यों न हो, वह हमारे राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी दारिद्र्य को दूर करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

'मान्य भ्राताओ! क्या आप एक एकीभूत भारतवर्ष को कम से कम स्वप्न में देखते हैं? हाँ, तो उस ऐक्यरूपी विजय-सौध पर चढ़ने के लिए हिन्दी-रूपी सोपान का ही आश्रय लेना पड़ेगा। भाषा के द्वारा ही एक हृदय दूसरे हृदय में प्रवेश करता है।'

एक सच्चे मातृभाषा-प्रेमी इस प्रकार हिन्दी का स्वागत ही करते हैं।

पनीकुलम। —चयनकर्ता, पं० चन्द्रहासन।

• • •

मराठी

स्पेन की रण-भूमि पर भारतीय वीर

मराठी सहयोगी 'किर्लोस्कर' के जनवरी, '३९ अंक में एक महाराष्ट्रीय युवक का परिचय छपा है, जो हाल ही १८वीं दिसम्बर को जनरल फ्राँको की कैद से छूटकर स्वदेश लौटे हैं। निराश युवकों के लिए यह परिचय आशा और स्फूर्ति का सन्देश है। उसके कुछ अंश 'हंस' में अनूदित किये जाते हैं।—सं०।

'आज से लगभग अठारह महीने पूर्व की वह रात, मैं कभी नहीं भूल सकता। वेस्ट केन्सिंग्टन (लन्दन) में अपनी फ्लेट में आराम-कुर्सी पर पड़ा हुआ मैं रेडियो में 'न्यूज़ बुलेटिन' सुन रहा था। मेरा एक अंग्रेज़ साथी लेफ़्ट बुक क्लब द्वारा प्रकाशित फ्रेंक जेल्लिनेक की The Paris Commune of 1871 पुस्तक के पन्ने पलट रहा था। उसने सहज भाव से पूछा—No news from spain to night John? (जॉन, क्या आज स्पेन का कोई समाचार नहीं है?)

मैं उसे उत्तर में—Not so far! कहता हूँ तभी रेडियो पर सुन पड़ता है; General Franco's planes bombed Gurinica in the early hours of the morning.

One bomb fell in the Nursery School and ten children were killed. ग़रम शीशे की तरह ये शब्द मेरे कानों में पड़े। मेरा मस्तिष्क संताप-अनुताप, आशा-निराशा, दुर्बलता और धैर्य आदि परस्पर-विरोधी विचारों से भर गया। आराम-कुर्सी पर से मैं एक दम उठ खड़ा हुआ और कमरे में चक्कर काटने लगा। वर्तमान का और अपने आपका ख़याल ही मैं भूल गया। मेरे अंग्रेज़ साथी ने यदि 'What's the matter with you John ?' कह मेरे कन्धे पर हाथ न रखा होता, तो नहीं कह सकता कितनी देर तक मेरी वैसी ही अवस्था बनी रहती। मेरे साथी विक ने जब मुझे विचारों से जाग्रत किया तो मैं स्पेन जाने का निश्चय कर चुका था।'

श्री गोपाल मुकुन्द हुद्दार ही अकेले भारतीय युवक थे, जिन्होंने स्पेनिश गण-तन्त्र के लिए अपने प्राणों को तिलांजलि देने का निश्चय किया था। उन्हें उनके भारतीय मित्र 'बाला' नाम से और विदेशी मित्र 'कॉमरेड जॉन' के नाम से पहचानते हैं।

'स्पेन जाने की मेरी इच्छा उत्कट थी और मुझमें दुर्दमनीय आत्म-विश्वास था। पहले मैंने जब अपने एक भारतीय बन्धु से इस बात का ज़िक्र किया तो उसने समझा कि मैं पागल हो गया हूँ। उसने मुझे सलाह भी दी कि जीवन की सार्थकता इसी में है कि अपने-आपको बचा कर रखा जाय।

'लन्दन में इंटर नेशनल ब्रिगेड में स्वयंसेवक भर्ती किये जाते थे; परन्तु उसका पता अन्यन्त गुप्त रखा गया था, इसलिए उसे खोज निकालने में मुझे दो-तीन दिन लग गये। मैंने उसे ढूँढ़ निकाला और अपना नाम लिखाकर स्पेन के लिए रवाना हो गया। स्वयंसेवक के फॉर्म पर मैंने 'जॉन स्मिथ' नाम से हस्ताक्षर किये और जानकारी के फॉर्म पर गोपाल मुकुन्द हुद्दार और अपना पूरा परिचय लिखा।

'पेरिस से मैं और मेरे साथी फ्रेञ्च-स्पेनिश सीमा की ओर रवाना हुए। पिरेनीज पर्वत-श्रेणी के रुक्ष पहाड़ को पारकर हम लोग ताराज़ोना (Tarazona) पहुँचे, जहाँ आन्तर-राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ का प्रधान कार्यालय है।

'फ्रेंच-स्पेनिश सीमा पार करने के दो रास्ते हैं, एक दस घण्टोंवाला और दूसरा तीस घण्टोंवाला। मेरे हिस्से में तीस घण्टोंवाला मार्ग पड़ा था। पिरेनीज के मार्ग से ही हम पर तीन बार गोलीबारी की गई; परन्तु वह जान-बूझकर नहीं की गई थी। रात में फौजी छावनियों की रक्षा के लिए इस तरह की गोली-बारी करने का नियम था। हम लोग केवल रात में चलते थे और इस तरह ताराज़ोना पहुँचे।

'अपने साथियों सहित मैंने वहाँ छः सप्ताहों तक फौजी शिक्षा प्राप्त की। वहीं हमें थोड़ी-थोड़ी स्पेनिश भाषा और वहाँ की जनता के प्रचलित रीति-रिवाजों का ज्ञान कराया गया। आन्तरराष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ में लगभग छब्बीस राष्ट्रों के स्वयंसेवक उपस्थित थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की आर्य भावना का वहाँ मुझे मूर्तिमन्त स्वरूप देखने को मिला।

'१९३८ की दसवीं मार्च को हुद्दार वेलचेटी फ्रन्ट पर भेजे गये। वहाँ उन्होंने शत्रु-सैन्य का जमकर मुक़ाबला किया। भयंकर ठण्ड में गिने-चुने सैनिकों सहित अन्न और दारू-गोले की कमी में डेढ़ सप्ताह तक वे लोग लड़ते रहे। अन्त में उन्हें (Caspi) की ओर हटने का हुक्म मिला।

'कॉस्पी जाने का अर्थ था मौत की घाटी में होकर अपना मार्ग बनाना। हुद्दार और

कॉमरेड जे० हॉल्ली जब सरपट चाल से चले जा रहे थे, शत्रुओं के एक गोले ने कामरेड हॉल्ली की गर्दन साफ उड़ा दी। सौभाग्य से हुद्दार बच निकले।

'एक बार हुद्दार सत्तर सिपाहियों के साथ एक टेकरी की रक्षा के लिए भेजे गये। जब वे अपने साथियों सहित टेकरी की चोटी पर पहुँचे ही थे कि शत्रु-सेना के विमानों ने आकाश से Strafsfing शुरू कर दिया। हर बार तीन-तीन हवाई जहाज़ों ने तीन बार श्री हुद्दार और उनके साथियों पर बम वर्षा की; परन्तु वे और उनके साथी बाल-बाल बच गये।

'एक बार और इसी तरह हुद्दार मौत के मुँह से बच आये। केलसेरी में उन्हें कमाण्डर इवन्स (Evans) के साथ मैशीनगन टीम में कूच करने का हुक्म मिला था। जब वे रास्ता तै कर रहे थे उनकी मुठ-भेड़ जनरल फ्रैंको के टैंक से हो गई। हुद्दार ने स्वाभाविक निडरता से टैंक का मुँह खोला और स्पेनिश में प्रश्न किया कि ये टैंक्स किसके हैं। उन्हें समुचित उत्तर मिल गया और जनरल फ्रैंको की ओर से गोली-बारी शुरु होने के पूर्व ही एक खन्दक में छिप हुद्दार और इवन्स ने अपनी रक्षा की।

'इस तरह कई स्थलों पर लड़ते हुए वह १२वीं अप्रैल को गाँडेसा में क़ैद किये गये। हुद्दार वहाँ भी चुप नहीं बैठे रहे। वहाँ उन्होंने स्पेनिश भाषा के लोकगीतों का और स्पेनिश दार्शनिक स्पिनोज़ा के ग्रन्थों का अध्ययन किया और लोगों को हिन्दुस्तान की वास्तविक दशा पर भाषण दिये।

'उनके ये शब्द क्या कम स्फूर्ति-प्रद हैं?—क्रान्ति के विचारों से भरा सिपाही जब लड़ता है तो उसमें एक अनोखी शक्ति भर जाती है। साधनों का अभाव उसके लिए बाधक नहीं होता। फ्रैंको के सिपाही जहाँ हाथ में की कार्तूसें समाप्त होते ही बन्दूकें फेंककर भाग खड़े होते हैं, तहाँ हम केवल बन्दूकों के कुन्दों से ही दो-दो घण्टों तक लड़ते रहे हैं।'

भाई हुद्दार नागपुर के रहनेवाले हैं और पत्रकार-कला की शिक्षा के लिए विदेश गये थे। बचपन से ही आप अन्याय और अत्याचार के विरोधी हैं। विद्यार्थी अवस्था में आपने रिस्ले सर्क्यूलर के विरुद्ध प्रदर्शन किया था और जब माफ़ी माँगने के लिए दवाव डाला गया तो नील सीटी हाई स्कूल से निकलना मंजूर किया; परन्तु माफी न माँगी। आप का कहना था कि मैंने जो कुछ किया है, वह ठीक है और मुझे उसका तनिक भी पश्चात्ताप नहीं है।

काशी।

— चयनकर्ता, श्यामू सन्यासी

• • •

गुजराती

माइगेल द'सर्वान्टिस सावेंरा

['डान क्विक्ज़ोट' विश्व-साहित्य में हास्यरस का एक अनुपम ग्रन्थ है। लगभग तीन-सौ वर्ष पहले वह लिखा गया था। तब से आज दिन तक संसार के कोने-कोने में लोग उसे पढ़कर हँसते हैं और अपने दुःखों को भुलाते हैं; पर बहुत कम पाठक यह जानते हैं कि उसके लेखक का जीवन विषाद और पीड़ा का जीवन था। दुनिया-भर को तीन-सौ वर्षों तक हँसानेवाली पुस्तक जिसने लिखी उसका जीवन तो रुलाई का नवीन था। गुजराती सहयोगी 'कुमार' से 'हंस' के पाठकों की जानकारी के लिए हम उस लेख के कुछ अङ्ग अनूदित करते हैं।]

'माइगेल द' सर्वान्टिस का जन्म १५३४ ईसवी में अलकाला द' हिनारिज़ में, जो स्पेन की राजधानी मैड्रिड से दस कोस की दूरी पर है, हुआ था। सालामंका के विश्व-विद्यालय में उसने

अध्ययन किया था। बचपन से ही वह पढ़ने का बेहद शौक़ीन था। अपनी इस चाह को तृप्त करने वह सड़क पर फेंके रद्दी काग़ज भी पढ़ जाया करता था।

'कविता से भी वह प्रेम करता था। उसने अगणित सॉनेट, लिरिक् और अन्य कविताएँ लिखी हैं। 'फ़िलीन' नाम का उसका एक ग्राम्य गीतों का संग्रह बहुत प्रसिद्ध है। इक्कीस वर्ष की उम्र में वह रोम के कार्डिनल एक्वावी का 'कामारिरो' सेक्रेटरी होकर इटली गया।

'१५७० ईसवी में ओटोमन साम्राज्य के जिहाद को रोकने स्पेन, वेनिस और रोमन राज्यों ने एक अजेय सेना बनाई। सर्वान्टिस उस सेना में शरीक हो गया।

'उस युद्ध में वह अपना बायाँ हाथ गवाँ बैठा और बेहोश हो गया; परन्तु जब होश में आने पर उसे सूचना मिली कि उसका पक्ष विजयी हुआ है, तो उसके आनन्द का पार न रहा। वह हँसते-हँसते बोला—दाहिने हाथ को अधिक कीर्तिवाला बनाने के लिए मैंने बायाँ हाथ गँवाया है। और वह सच था। दाहिने हाथ से उसकी कलम ने उसे अमर कर दिया।

'१५७५ ईसवी में जब वह नावारिनो और ट्यूनिस की लड़ाई से अपने भाई रोडरिगो और अन्य साथियों सहित स्वदेश लौट रहा था, अल्जीरिया के समुद्री लुटेरे अर्नोमामी ने उसे युद्ध में परास्त कर बन्दी बना लिया। और उसे कोई आफ़िसर समझ खूब अत्याचार करने लगा। फिर उसने उसे अल्जीरिया के तुर्की हाकिम हसनपाशा के हाथ एक मोटी रकम में बेच दिया।

'हसनपाशा के कारागृह में २५००० ईसाई क़ैदी थे, जिन पर वह भयंकर अत्याचार करता था।

'सर्वान्टिस ने बन्दियों को छुड़ाने के अनेकों उपाय किये। काफ़ी सावधानी से काम लेने पर भी, दुर्भाग्य से अथवा साथियों की गफ़लत से वह सफल न हो सका और अत्याचार बढ़ते ही गये।

'चोरी-छिपे वह स्पेन के राजा फ़िलिप द्वितीय के पास एक पत्र भेजने में समर्थ हुआ; परन्तु युद्ध में व्यस्त रहने के कारण वह कोई ध्यान न दे सका। हसनपाशा ने उसकी मुक्ति के लिए उसके परिवार से एक मोटी रक़म चाही, जो वे न दे सकते थे। उन्होंने धन एकत्रित करने का खूब प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। महा-प्राण सर्वान्टिस निराश होनेवाला नहीं था। उसने ओरान के गवर्नर के पास एक गुप्त पत्र भेजा जो पकड़ लिया गया और परिणाम-स्वरूप उसे दो हज़ार कोड़ों की मार खानी पड़ी।

'उसके पिता रोडरिगो द' सर्वान्टिस ने राज्य में प्रार्थना की और पुत्र की देश-भक्ति का भी उसमें उल्लेख किया; परन्तु कुछ लाभ न हुआ। सेसाना के ड्यूक ने कुछ सहायता अवश्य की और बाक़ी की रक़म उसके पिता ने घर-द्वार बेचकर इकट्ठा की। अन्त में जुआंजिल नाम के एक साधु को सब धन दे वैलेन्शिया से अलजियर्स भेजा। वह साधु १५८० ईसवी के अन्त काल में अलजियर्स पहुँचा, जब कि सर्वान्टिस हसनपाशा के साथ कस्तुन्तुनिया भेजा जा रहा था। दुर्भाग्य से कुछ रक़म कम पड़ गई और फिर सर्वान्टिस की मुक्ति में अड़चनें आईं, परन्तु अलजियर्स के उदार हृदय व्यापारियों ने वह रक़म पूरी कर दी और सर्वान्टिस मुक्त हुआ।

'दुर्भाग्य ने सर्वान्टिस का साथ न छोड़ा। वह बेकार सड़कों पर घूमता रहा। देश को अब उसकी सेवाएँ नहीं चाहिये थीं।

'थोड़े दिन बाद वह पुर्तगाल गया। अब उसका निश्चय बाक़ी का जीवन साहित्य-सेवा में व्यतीत करने का था। वहाँ उसने धनाढ्य परिवार की एक लड़की से विवाह कर लिया, जिससे उसे एक पुत्री हुई।

'अकेली सहित्य-सेवा पर जीवन-यापन करनेवालों का जीवन कितना कष्टमय होता है इसे तो भुक्तभोगी ही जानते हैं। सर्वान्टिस ने नाटकों की ओर दृष्टि दौड़ाई। एक के बाद एक यों उसने तीस नाटक लिख डाले, जिनमें 'ला न्यू मैन्सिया' और 'अलट्रेटो द' आर्जील' विशेष उल्लेखनीय हैं परन्तु उस समय के प्रसिद्ध साहित्यिक लोपी द' येगा के कारण सर्वान्टिस प्रसिद्ध न हो सका। तब उसने नाटक लिखना सदा के लिए बन्द कर दिया और जीविकोपार्जन का कोई अन्य मार्ग ढूँढ़ने लगा। इस प्रतिभा-सम्पन्न लेखक को भूखों मरना पड़ा और 'सूट' का कपड़ा ख़रीदने तक के लिए उसके पास पैसा न था।

'अन्त में वह एक व्यापारी जहाज़ पर नौकर हो गया। वहाँ उसकी बुद्धि का उपयोग नोन-तेल-लकड़ी के फेर में होता रहा। सर्वान्टिस को अपनी शक्ति पर विश्वास था और वह अपने वर्तमान जीवन से ऊब उठा था। उसने फिर साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। किसी रोडरिगो ओसोरियो नामक प्रकाशक से उसने प्रति नाटक पचास ड्यूक की क़ीमत से छः नाटक लिखने का इक़रार किया। और शर्त यह भी कि वे नाटक स्पेन में अभी तक लिखे गये सभी नाटकों में सर्वोत्तम होने चाहियें।

'परन्तु इस बीच एक दूसरी ही आफ़त आ खड़ी हुई। सर्वान्टिस ने किसी व्यक्ति के हाथ सरकारी रक़म मैड्रिड में जमा करवाने भेजी, जिसे लेकर वह व्यक्ति भाग गया। और वह रक़म जमा करवानी सर्वान्टिस के लिए ज़रूरी हो गई।

'सर्वान्टिस ने पेट पुरती आमदनी में से काट-कसरकर सरकारी पैसा भरना शुरू किया; परन्तु वह सफल न हो सका। अन्त में बन्दी बना वह सेवाइली की जेल में ठूँस दिया गया। इन दिनों उसे मानव के अनेकविध अनुभव प्राप्त हुए और जो कटु दार्शनिकता उसके जीवन में व्याप गई, उसका सीधा चित्रण हम 'डान क्विक़ज़ोट' में पाते हैं। जेल से छूट उसे कर्ज़ उगाहनेवाला बनना पड़ा। स्पेन के किसी गाँव में उस पर हमला किया गया और फिर जेल की हवा खानी पड़ी।

'उसके दुर्भाग्य का फिर भी अन्त न हुआ। जेल से छूट घर लौटते समय उसने एक घायल सिपाही देखा। दयार्द्र हो वह उसकी सेवा-शुश्रुषा करने उसे घर ला रहा था कि सिपाही राह में ही मर गया। न्यायानुसार सर्वान्टिस अपराधी क़रार दिया गया और अब की परिवार सहित उसे जेल जाना पड़ा।

'निराश और दुःखित सर्वान्टिस के लिए यह अन्तिम क़ैद आशीर्वाद-स्वरूप बनी। इसी बन्दीकाल में उसने 'डान क्विकज़ोट' लिखना शुरू किया। जेल से जब वह छूटा तो निराश नहीं था। प्रसन्नवदन और मुक्त सर्वान्टिस की बग़ल में 'डान क्विकज़ोट' के प्रथम भाग की पाण्डुलिपि थी। और उसका दूसरा भाग पूरे चौबीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ।

'सर्वान्टिस का अन्तिम ग्रन्थ 'पर्साइली इ सिजिस्मुण्डा' था, जो संसार के सभी बिदाई के गीतों में अजोड़ है।

'उक्त पुस्तक की समाप्ति के तीन महीने बाद ईसवी सन् १६१६ की तेरहवीं अप्रैल के दिन कैलीदलीओ नामक स्थान पर इसने संसार से विदा ले ली। जिसकी क़ब्र का स्थान अभी तक अनिश्चित है, ऐसे उस अभागे लेखक की कृतियों को पढ़ने के लिए पिछले तीन सौ वर्षों से जनता व्यग्र रहती है; और आज भी उन्हें बारम्बार पढ़ने में उसी आनन्द का अनुभव करती है।

काशी। चयनकर्ता, श्यामू सन्यासी।

शिक्षा-पद्धति पर विचार

महात्माजी की शिक्षा-योजना को लेकर इधर देश में काफी विचार विनिमय होने लगा है। वर्धा की शिक्षा समिति ने अपने विचारों और उद्देशों के प्रचार के लिए एक पत्र 'नई तालीम' के नाम से प्रकाशित किया है। उसके प्रथम अंक में से हम कविवर ठाकुर के शिक्षा सम्बन्धी विचार 'हंस' के पाठकों के सामने रखते हैं —सं०

'मनुष्य की शारीरिक और मानसिक सब प्रकार की शक्तियों में आपस में एक अखण्ड संबंध है। वे एक दूसरे के सहयोग से सबल होती हैं।

'दुर्भाग्य से आजकल की शिक्षा-पद्धति में हम साधारण किताबों में लिखे हुए कुछ विषयों को चुनकर संसार के और सारे ज्ञान को अस्वीकार कर देते हैं। पश्चिमी देशों के विद्या-लयों में जो कमियाँ रहती हैं वे बाहर के जीवन द्वारा पूरी हो जाती हैं। पर हमारे देश में तो स्कूल और कालेज के बाहर शिक्षा के लिए कोई जगह या साधन है ही नहीं, ऐसा कहना चाहिये। इसलिए जो विद्या वे केवल नोट लेकर और रटकर ले सकते हैं वह उनके दिमाग़ पर जितना बोझ डालती है, उतना विकास नहीं करती।

'देह की शिक्षा अगर साथ-साथ न चले तो दिमाग़ी शिक्षा की प्रगति में भी तेजी नहीं आती। हम हमेशा विद्यालयों में बहुत-से विद्यार्थियों को जड़-बुद्धि और उदासीन देखते हैं। उसका एकमात्र कारण यही है कि शिक्षा के सिलसिले में उनके शरीर की माँग के लिए कोई जगह नहीं होती। इस अनादर से उनकी बुद्धि में यह दैन्य आता है।

'देह की चर्चा से मेरा मतलब खेल-कवायद की चर्चा नहीं है। मेरा तो मतलब है उन सब कामों की चर्चा से जिनका शरीर से सम्बन्ध रहता है। इसी चर्चा से शरीर सुशि-क्षित होता है और उसकी जड़ता दूर होती है। ऐसे कामों को व्यवस्थित रूप से करने से देह के साथ मन का संयोग स्थापित होता है और इसी संयोग से दोनों के विकास में मदद पहुँचती है।

'मेरा विचार तो यह है कि हमारी शिक्षा-पद्धति में हर-एक विद्यार्थी को किसी न किसी दस्तकारी में विशेष रूप से, जहाँ तक हो सके, कुशल बना देना चाहिये। इसका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक शिक्षा ही नहीं है। असल बात यह है कि ऐसी किसी शारीरिक कला की चर्चा से मनुष्य का मन भी सजीव और सतेज हो उठता है। जिन विद्यार्थियों को हम बुद्धिहीन या मोटी बुद्धिवाला मानते हैं, उनकी सोती हुई बुद्धि-शक्ति बहुधा इस दैहिक या दस्तकारी की शिक्षा से जाग उठती है। देह की अशिक्षा मन की शिक्षा के बल को चुरा लेती है। इसके अलावा जिस-के शरीर की शिक्षा नहीं हुई है, वह कितना ही बड़ा पंडित क्यों न हो, दुनिया की ज्यादातर

बातों में उसे दूसरे के ऊपर निर्भर रहकर जीना पड़ता है। वह अपूर्ण मनुष्य है। हमें अपने बच्चों को इस अपूर्णता से बचाना ही होगा। इसमें हमें किन्हीं अभिभावकों से बाधा जरूर मिलेगी; लेकिन इस रुकावट को मान लेना हमारे लिए उचित नहीं है।

'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि देह की शिक्षा के साथ मन की शिक्षा का और देह की सचलता के साथ मन की सचलता का गहरा संबंध है। दोनो के बीच में अच्छी तरह मेल न होने पर हमारे जीवन का छंद ही टूट जाता है।



कर्नाटकद बलिदान—(कन्नड़) कर्नाटक का बलिदान । लेखक; श्रीयुत गुरुनाथ जोशी, क्रौन अष्टमय २६६, कीमत १।) मिलने का पता—सत्य-शोधन पुस्तक-भांडार, बेंगलोर सिटी ।

भारत के राजकीय क्षेत्र में जब से महात्मा गाँधीजी का पदार्पण हुआ, तब से कांग्रेस के अंदर जान आ गई । भाषा एक ऐसी चीज़ है कि जो बिछुड़े हुए लोगों को एक सूत्र में बाँध देती है । इसे परखकर गाँधीजी ने कांग्रेस से यह प्रस्ताव पास कराया कि भाषा के अनुसार प्रांतों की रचना हो । उसके फल-स्वरूप कर्नाटक भी एक प्रांत बना और खूब जोश से महात्माजी से संचालित सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने लगा । तब से लेकर आज तक स्वतंत्रता की वेदी पर कर्नाटक ने जो बलि दी है, उसकी बराबरी भारत का कोई भी प्रांत नहीं कर सकता; यों कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । १९३२ में सत्याग्रह संग्राम का जो आखिरी अस्त्र-लगान बंदी कर्नाटक में इस्तेमाल किया गया, वह इतना उज्ज्वल था कि लंदन के इंडिया लीग डेलिगेशन तक ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।

प्रस्तुत पुस्तक में केवल लगान-बंदी का ही ज़िक्र नहीं है, बल्कि सत्याग्रह संग्राम के विभिन्न अस्त्र जैसे कि पिकेटिंग, बहिष्कार, मद्यपान-निरोध, जंगल सत्याग्रह, नमक सत्याग्रह आदि के बारे में भी लिखा गया है । लेकिन इन अस्त्रों को महात्माजी ने क्यों उठाया, इसे बताने की दृष्टि से ब्रिटिश शासन समय का थोड़ा-सा पुराना इतिहास भी लिखा गया है । कर्नाटक के नेताओं के चित्रों से पुस्तक की सुन्दरता बढ़ गई है ।

कन्नड़-साहित्य में यह किताब ऐसी है, जैसी कि गुजराती साहित्य में बारडोली सत्याग्रह संग्राम की किताब है । लेखक ने बड़ा परिश्रम उठाकर यह पुस्तक लिख कर्नाटक की अपार सेवा की है, जो सराहनीय है ।

एम० ए० कृष्मा ।

बेंगलोर ।

• • •

गुजराती के दो नाटक ❀—दुनिया प्रगतिशील है । कल हम जिसे विद्वत्ता समझते थे, उसे आज नहीं समझते । और हमारी आज की विद्वत्ता आनेवाले कल भी वही रहेगी कि और कुछ इसमें हमें सन्देह है । अभी कल तक जिसे लोगों ने पाप माना था, आज वह एक साधारण-सी घटना है । अब लोगों के मन में न उसके प्रति कौतूहल है और न घृणा । यों मानव प्रगति की ओर, महानता की ओर, एक सच्चे जीवन की ओर प्रतिक्षण बढ़ता चला जा रहा है । और पृथ्वी नाम के इस ग्रह पर वह पैदा ही इसलिए हुआ है कि महान से महानतर होता जाय । कि महानतम होकर पूर्णता पाले ।

* 'प्रीतमनी प्यास' और 'योगी कोण ?' लेखक—श्री दिव्यानन्द ; प्रकाशक—नवचेतन साहित्य मन्दिर; २४५६, भद्र ; अहमदाबाद । मूल्य प्रत्येक का १।) रुपया ।

मानव जूझता है। लड़ता है। टकराता है। अपने में संघर्ष की मस्ती भरता है और आपदों के बावजूद भी बढ़ता है। बढ़ता है, कि बढ़ना उसका धर्म है; स्वभाव है। और आदमी अपने आप से ही लड़ता है। उसके अन्तर में देव और दानव का एक सतत संग्राम चल रहा है। विवश होकर आदमी लड़ता है और जीतकर भी विवशता ही उसके पाले पड़ती है। संघर्ष की आग में कुछ क्षण वह पा जाता है, जो धन्य हैं। इन धन्य क्षणों में उसकी महानता की एक झाँकी मिलती है। उस महानता की जो मानवता से ओत-प्रोत है।

× × ×

प्रियलता पत्नी है और मा है। अपने पति वीरेन्द्रनाथ पर उसे अडिग और अखण्ड श्रद्धा है। वीरेन्द्र महान है और इसी लिए प्रियलता पति के प्रति मन से झूठी नहीं रहना चाहती। वह प्रयत्न करती है कि अपना संपूर्ण प्रेम वीरेन्द्र के चरणों पर उड़ेल दे और कहे—वीरेन, मैं तेरी हूँ। परन्तु प्रियलता नाम की उस नारी के मन में कहीं एक गाँठ है। वासना से लबालब उसका हृदय शरीर-सौन्दर्य को अस्वीकृत नहीं कर सकता। वह विवश होकर जानती है—नहीं कर सकती; नहीं कर सकती। एक मन्थन उसके हृदय में मचा है और निस्तार वह नहीं पाती। जयेन्द्र का आकर्षण उसे खींचता है और खींचता है। पति के आगे वह न असत्य जानती है और न छल। शरीर अर्पण करनेवाले पुरुष को वह मन अर्पण नहीं कर पाती हैं और यह स्थिति दोनो के लिए असह्य है। दोनो जलते रहते हैं। आख़िर प्रियलता अपनी जेसल को और अपने वीरेन को छोड़ जयेन्द्र के पास चली जाती है। वीरेन्द्र को इसमें कोई आपत्ति नहीं है। वह चाहता है कि जेसल के प्रति उसकी मा पवित्र बनी रहे। प्रियलता जयेन्द्र के पास जिस सुख की खोज में जाती है वह उसे नहीं मिलता है। जयेन्द्र की मृत्यु के बाद वह भटकती रहती है और अन्त में उसे उसी का वीरेन एक नाटकीय परिस्थिति में से उबारकर आश्रय देता है। वीरेन भी पाता है कि प्रियलता के बिना उसका जीवन शून्य ही है। प्रियलता को फिर पाकर वह धन्य ही होता है।

'प्रीतमनी प्यास' में लेखक ने पाठक के मस्तिष्क को एक नई विचार-धारा दी है। वीरेन की महानता और पछतावा सारे नाटक को एक भव्य रूप प्रदान करते हैं; परन्तु पाठक नहीं भूलता कि यह भव्य रचना एक मानव की कृति है और दोष उसमें असम्भव नहीं। नारी को एक पक्षपात-पूर्ण दृष्टि-कोण से लेखक ने देखा है। पुरुष वीरेन जहाँ-तहाँ आदर और श्रद्धा का पात्र बनकर आया है; परन्तु नारी प्रियलता सदा निर्जीव और दया की पात्री ही रही है। वीरेन के इन शब्दों में: 'जेसल की समझ में तू पूज्य बनी रहे यही योग्य है'—जो एक अपमान छिपा है; पतित के प्रति जो धिक्कार छिपा है, उसे सुनकर भी उसके मन में विद्रोह नहीं जागता। वह चुपचाप चली जाती है और सोच उसे यह है कि उसके चले जाने के बाद समाज में उसके पति की स्थिति क्या होगी? नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व शायद लेखक भूल जाता है। वीरेन को प्रियलता इसी लिए अधिक स्वीकृत है कि जेसल का चरित्र अब बिगड़ने की सम्भावना नहीं है और कि वह सीता की तरह अग्नि-परीक्षा में तपकर खरी हो आई है। उसी के शब्दों में: 'तूने अपना पतन नहीं होने दिया। अपनी इज़्ज़त और शरीर को भ्रष्ट होने से बचाये रख सकी।'

फिर भी वीरेन ने अपनी ग़लती महसूस की है। वह लज्जा से नत है। जिसे उसने

अपराधी समझा उसी के आगे वह अपने अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थी है। वीरेन जहाँ आदमी बन सका है, वहीं प्रियलता में नारी बन जाने की कमी रह गई है। जिससे इस भव्य कृति में एक शिथिलता आ गई है।

किशोर और जेसल का चरित्र काफ़ी उठावदार है। दोनो वासना के अनन्त प्रवाह से बच निकल प्रेम की दिव्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। फिर भी दोनो के प्रेम संभाषण अति तक पहुँच गये हैं।

× × ×

'योगी कोण ?' का प्रो० देवप्रसाद सचमुच एक महान आत्मा है। उसकी पत्नी मालिनी उसके मित्र डॉ० रमाकान्त के साथ एक भूल कर बैठती है और गर्भवती हो जाती है। मालिनी के पश्चात्ताप का पार नहीं रह जाता है; परन्तु प्राणि-मात्र को प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखनेवाला देवप्रसाद उसकी क्षमा और संस्कृति की रक्षा के लिए उसे एक नव-जीवन की ओर संकेत करता है। ग़लती किससे नहीं होती ? पापी कौन नहीं है ? कौन है जो पुण्यात्मा ही है ? और फिर किसे हम पाप कहें और किसे पुण्य ? लेखक को इस नाटक में 'प्रीतमनी प्यास' से बहुत अधिक सफलता मिली है। प्रेम का और आशा का एक महान और सर्व-जन-हिताय सन्देश इस नाटक में मिलता है। स्त्री, पुरुष और लग्न की समस्या पर एक नई दृष्टि से विचार किया गया है। जीवन जीने के लिए है और पृथ्वी सुन्दर और आशाओं से पूर्ण है। अपराधियों के लिए और पापियों के लिए भी यहाँ अनन्त कार्य-क्षेत्र खुले हैं कि वे अपनी आत्मा का विकास कर सकें और उन्नत हो सकें।

'योगी कोण ?' में एक दोष आ गया है। वह यह कि चरमता पर पहुँचने के बाद भी कहानी चलती रहती है। इसका तीसरा अंक अनावश्यक-सा हो गया है।

शायद लेखक ने दोनो नाटक अभिनय की दृष्टि में रखकर लिखे हैं।

गुजराती साहित्य में इतनी सुन्दर चीज़ें देने के लिए लेखक श्री 'दिव्यानन्द' बधाई के पात्र हैं। हिन्दी में प्रकाशित हो दोनो नाटक राष्ट्र-भाषा के गौरव की वृद्धि करेंगे।

प्रकाशकों से हमारी विनम्र सलाह है कि पाठ्य-सामग्री के बीच विज्ञापनादि न दिया करें। इससे पाठकों को बड़ी असुविधा होती है और यह सुरुचि-पूर्ण भी नहीं है। यहाँ यह लिख देना भी आवश्यक है कि पुस्तकों में छापे की अशुद्धियाँ रह गई हैं जो कहीं-कहीं बेहद खटकती हैं। और प्रेम-संभाषण अश्लीलता तक पहुँच गये हैं।

श्यामू सन्यासी।

काशी, ४:१:'३६।

• • •

चचा छक्कन—(उर्दू)—लेखक, सैयद इम्त्याज अली 'ताज'। प्रकाशक, दारुल-अशात, पंजाब, लाहोर, मूल्य १।) सजिल्द।

उर्दू में जिस कोटि का हास्य है, हमारा अनुमान है कि वैसा हास्य भारत की किसी भी प्रांतीय भाषा में नहीं है। उर्दू भाषा ही हास्य के उत्पादन के लिए अद्वितीय है। और इसी कारण उर्दू में बड़ा शिष्ट और सुन्दर हास्य-साहित्य प्रकाशित होता रहता है। 'चचा छक्कन' भी हास्य-रस के निबंधों (अथवा कहानियों) का एक अच्छा संग्रह है। मज़ाक ज़िन्दगी के

लिए ज़रूरी है, और जो राष्ट्र जितना अच्छा मज़ाक उत्पन्न कर सकता है, उतना ही वह मन से स्वस्थ होता है। इस दृष्टि से उर्दू का हास्य हमारे राष्ट्र के लिए बहुत ही लाभकर है। परंतु इस हास्य को अांतरप्रांतीय बनाने में भाषा की बहुत बड़ी कठिनाई है। अनुवाद में मूल का बहुत कुछ सौंदर्य नष्ट हो जाता है। लेकिन, हाँ, कुछ अंश तो अवश्य ही प्रत्येक पाठक के मनोरंजन के लिए शेष रह जाता है।

लेखक ने अपनी भूमिका में कहा है कि उन्होंने अंग्रेज़ी के प्रख्यात हास्य-लेखक जेरोम के० जेरोम के कुछ हास्य-निबंधों से अपने इन निबंधों में सहायता ली है। पर आपने अपने अमर चरित्र चचा छक्कन को कुछ ऐसा भारतीय या अधिक सही तौर पर मुसलमानी, जामा पहनाया है कि कोई क़यास भी नहीं कर सकता कि आपने किसी विदेशी सामग्री की सहायता अपने इस चरित्र के निर्माण में ली है। निबंधों के विषय ही कितने हँसानेवाले हैं—चचा छक्कन ने तसवीर टाँगी, चचा छक्कन नौचंदी देखने चले, चचा छक्कन ने धोबिन को कपड़े दिये आदि, आदि। इस संग्रह का सर्वश्रेष्ठ निबंध चचा छक्कन ने सबके लिए केले खरीदे, बहुत ही मार्मिक है। किस प्रकार चचा छक्कन ने परिवार भर के लिए केले खरीदे और किस प्रकार अपने मन को समझा-बुझाकर आपने सब केले खा डले, यह बड़ी खूबी से लेखक ने दिखाया है। सब मिलाकर पुस्तक खूब है और प्रत्येक हास्य-प्रेमी, या स्वस्थ आदमी के पढ़ने लायक है।

काशी।

'सुशील'।

• • •

एर्यन पाथ (आर्यपथ)—अंग्रेज़ी मासिक। जनवरी, १९३९ का विशेष शांति-अंक। प्रकाशक, थियोसफ़ी कम्पनी (इंडिया) लिमिटेड। वार्षिक मूल्य, ६)।

अंग्रेज़ी का यह मासिक-पत्र भारत की थियोसोफ़िकल कंपनी प्रकाशित करती है। भारत से प्रकाशित होनेवाले अंग्रेज़ी मासिकों में इसका बहुत ही ऊँचा स्थान है। भारतीय पत्रों में ही क्यों, यह संसार के किसी भी ऊँचे मासिक से मुकाबला कर सकता है। थियोसोफ़ी के कार्यकर्ताओं को जो अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक सहयोग प्राप्त है, उसी के बल पर इतना उत्कृष्ट संपादित पत्र निकालना संभव है। इसको संसार के सभी प्रसिद्ध विचारकों और आलोचकों का सहयोग प्राप्त है। जिन शिक्षित पाठकों को गम्भीर विषयों की उनके विशेषज्ञों द्वारा समीक्षा की आवश्यकता हो, वे इस पत्र के मनन से बहुत लाभान्वित होंगे। सचमुच किसी पत्र के अस्तित्व का कोई विशेष कारण अवश्य होना चाहिये। इस दृष्टि से 'एर्यन पाथ' का अस्तित्व नितांत आवश्यक और शुभ है।

यह पत्र समय-समय पर विशेष-अंक निकाला करता है। जिस प्रकार के विशेषांकों का अभ्यस्त हिन्दी का पाठक है, वैसे विशेषांक तो वे नहीं होते। इसके विषय में 'हंस' में कई बार लिखा जा चुका है कि विशेष-अंक से मुराद क्या होनी चाहिये। इसके ये विशेष-अंक, उस प्रकार के अंकों के आदर्श हैं। केवल किसी एक विचार-धारा को लेकर उस पर इसके संपादक, विद्वानों के विचार आमंत्रित करते हैं और उन्हें बिना किसी बाह्य सौन्दर्य के प्रकाशित कर देते हैं। अभी थोड़े दिन हुए 'एर्यन पाथ' का 'विशेष हिन्द-स्वराज्य अंक' प्रकाशित हुआ था जो सभी दृष्टियों

से महत्त्व-पूर्ण था। इस मास में उसने 'विशेष शान्ति-अंक' प्रकाशित किया है।

आज जब दुनिया शस्त्रीकरण की ओर इस वेग से भाग रही है कि इसका भी ठिकाना नहीं है कि कब यह दौड़ मानवी सभ्यता का अन्त न कर दे, यह विशेष-अंक बड़े मौक़े से प्रकाशित किया गया है। सच तो यह है कि शांति में ही आज विश्व का कल्याण है। प्रस्तुत अंक में शान्ति के बहुत बड़े पुजारी सर नॉर्मन एंजेल्ल का एक लेख 'युरोपीय सभ्यता की नींव' प्रकाशित हुआ है जो बड़ा ही सारगर्भ तथा महत्त्व-पूर्ण है। और भी जिन पाश्चात्य विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें से कुछ के नाम ये हैं : सी० ई० एम० जोड, एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड, सिसिल रॉथ, स्टेला गिवन्स, आदि, आदि। अंक प्रत्येक तरह से पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है। इतना महत्त्व-पूर्ण अंक निकालने के लिए संपादक अभिनन्दन के पात्र हैं।

काशी।

'सुशील'

स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?

तू गौरव-गिरि उत्तुङ्ग काय !

१९३३ में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने आचार्य द्विवेदीजी को एक अभिनंदन-ग्रन्थ समर्पित किया था। उस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कविवर सियारामशरण गुप्त की एक सुन्दर कविता 'पूजन' प्रकाशित हुई थी, जिसकी प्रथम दो लाइनें ऊपर दी गई हैं। सचमुच द्विवेदीजी जैसे उत्तुंग पुरुष के पद-पूजन का भी कोई उपाय हम सबके पास नहीं था। पर आज की परिस्थिति तो और भी दयनीय, विकट है। तब तो संभवतः उन चरणों की पूजा हम कर भी लेते—पर आज ? आज ? आज तो वे चरण भी नहीं हैं कि उनको अपने आँसुओं से धोकर हम सांत्वना पा लें। सचमुच पद-पूजन का भी अधिकार अब हमारे लिए शेष नहीं रहा।

इसी २१ दिसम्बर को आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता और युग-प्रवर्तक लेखक का देहान्त हो गया। आयु कम न थी, इधर रुग्ण भी थे और खिन्न भी। हमने यह समाचार सुना और सुन लिया। सोचा तो पाया अंधकार। अब उस आधार-स्तम्भ के ढह जाने पर हम क्या करें। करने की सामर्थ भी कहाँ है। अभी तो मन इतना भारी है, आघात इतना आकस्मिक है कि उससे बच निकलना समय का प्रश्न है। आचार्य को अधिक जानना अधिक दुःख-दर्द का कारण होगा। हम उन्हें एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में जानते हैं। उन्हें करीब से जानना तो और भी करुण होता। जिस रूप में हम उन्हें जानते हैं, उसमें ही वे कम श्रद्धा और प्रेम की वस्तु न थे। फिर जिनसे मनुष्य द्विवेदी का ज़िक्र सुना, उससे तो वे अधिक प्रेम की वस्तु हो जाते हैं। और प्रेम की वस्तु खो देना आसान नहीं है। इस पीड़ा को जीवन का अमृत समझकर हृदय में धारण करना होगा। और जिनके पास यह पीयूष है, वे क्या इससे अपने जीवन को अधिक तपमय, साधनामय न बनायँगे ? नहीं, तो वे उस अमृत का दुरुपयोग करेंगे। दुर्भाग्य से हमारे पास वह नहीं है। इसलिए उस महत्त्व की वस्तु की रक्षा का भार भी हम पर नहीं है। पर इसी से क्या दिल हल्का हो जा सकता है ? इसकी कहीं गुंजाइश नहीं है। उस महानता का कोई नगण्य अंश भी कोई समझ ले, तो भी उसे दुःखी होने का पर्याप्त कारण है। और इसलिए आज हम सब दुःखी हैं।

उस स्वर्गीय आत्मा के विषय में बताने की आवश्यकता नहीं बचती है। उसे हम जानने के अभ्यस्त हो चुके हैं। जिसने अपना तन, मन, धन हमारी भाषा के लिए दे दिया, उसे भी हम क्या न समझेंगे ? इतनी कृतघ्नता शायद अभी हममें नहीं है। और आज हम केवल थोड़ी देर शान्ति से बैठकर सोचें तो कि उस महा-आत्मा ने हमें क्या दिया है—वह, जो साहित्य, भाषा और समाज का सृजन करती है। जरा-मरण से मुक्त कौन है ? इसमें हमारी लाचारी है। हमारी परवशता है। पर उससे मुक्ति का मार्ग है। वह मार्ग सीधा नहीं है। न ही वह बोधगम्य है। पर उस मार्ग के अस्तित्व को इनकार भी नहीं किया जा सकता। द्विवेदीजी उसी पथ के राही हो गये हैं। वह पथ सेवा का, तप का, अपरिग्रह का है। वह पथ आदर्श है, मुक्ति का दायक है। तो क्या इस महान आत्मा के मृत्यु के अवसर पर, हम माथा नीचा करके, शोक करके चुप हो लें ? यह उसके जीवन का सबसे बड़ा दुरुपयोग होगा। दुरुपयोग पाप है। इस पाप के भागी क्या आप होना चाहेंगे ?

इसलिए हम उस जीवन से शिक्षा लें। हम उन पद-चिह्नों की ओर बढ़ें। उन पद-चिह्नों को पा जाना भी सहज नहीं है। पर हममें लगन चाहिये और हम उनका अनुसरण कर सकेंगे। उस लगन को पैदा करना होगा। यही उसकी आत्मा को सन्तोष प्रदान करेगा। यही हमारे लिए कल्याणकारी होगा। उसके जीवन की शतांश सेवा-परायणता और तपस्या यदि हममें आ जाय तो हमारा अस्तित्व वृथा न जाय।

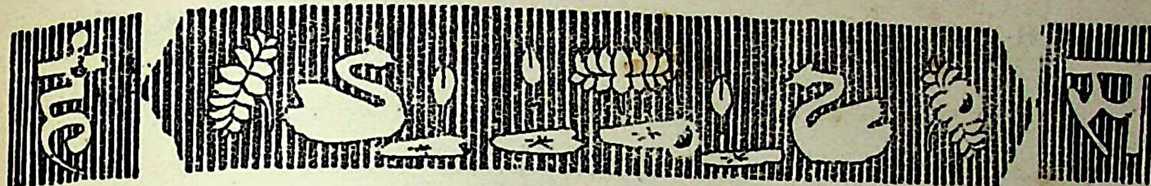
उस स्वर्गीय आत्मा को शांति ईश्वर तो प्रदान करेगा ही, क्योंकि वह उसका अधिकारी है। हम भी तो अपनी ओर से उसे शांति दें।

देर आ द दुरुस्त आयद !

हमारे पूर्व निश्चय के अनुसार यह अंक रेखाचित्र-अंक होना चाहिये था। पर आप देख ही रहे हैं कि यह एक साधारण अंक के रूप में प्रकाशित हो रहा है। हम जानते हैं कि इससे पाठकों को बहुत निराशा होगी। पर हम लाचार थे। अपने शब्दों की क़ीमत इस प्रकार घटने देना हमारे लिए सह्य न था, पर लाचारियाँ आदमी को कब छोड़ती हैं। जब हमने दिसम्बर का अंक प्रकाशित किया तब तक हमें आशा थी कि हम जनवरी में ही रेखाचित्र-अंक प्रकाशित कर सकेंगे। पर सामग्री पूरी न मिल सकी और अंक न निकल सका। हमारी आकांक्षाएँ भी इस दिशा में कम नहीं हैं। और उनकी पूर्ति के लिए पर्याप्त समय चाहिये। यह विशेषांक भी 'हंस' के ही अनुरूप हो, यह हम चाहते हैं। और 'देर आयद दुरुस्त आयद' की कहावत पुरानी

है। थोड़े-से विलम्ब के भय से अंक को सर्वांग-सुन्दर बनने से रोकना हमसे न हो सका। इस विलम्ब के लिए हम अपने पाठकों के सम्मुख विनीत भाव से क्षमा-प्रार्थी हैं। पर पाठक इससे यह थाती के रूप में ले सकता है कि वह अंक सचमुच एक स्थायी चीज़ होगी। कठिनाइयों के उल्लेख का न तो यहाँ समय है, और न अवसर। अंक अब वह मार्च का होगा। छपाई प्रारंभ हो गई है और अब विलंब असंभव है।

पाठकों से कुछ निवेदन करने का भी हमें अधिकार है। हमारी इस नई प्रवृत्ति का भारत के प्रत्येक कोने से हार्दिक स्वागत हुआ है। इससे हमारे पाठकों की संख्या में बहुत काफ़ी वृद्धि हुई है। पर इतना पर्याप्त नहीं है। हाँ, अधिक चाहिये भी नहीं। यदि प्रत्येक पाठक अपने एक मित्र को भी 'हंस' का नियमित पाठक बना ले तो हमें संतोष हो जाय। 'हंस' जैसे पत्र के लिए इतनी सहायता करना कौन न चाहेगा। हमें तो यही हर्ष है कि हम हिन्दी के पत्रों में एक नया आदर्श उपस्थित कर सके—मात्र सामग्री के बल पर ही उसे जनता का प्रिय बनाया, बाह्य तड़क-भड़क से 'हंस' को अलग रखा—और हमारी इस आंशिक सफलता का श्रेय भी हमारे दयालु सहायकों को है। यदि हम जन-रुचि को थोड़ा भी परिष्कृत कर सके हों, तो हम बहुत सफल कहे जा सकते हैं। जो कुछ भी हो, 'हंस' की सफलता का निर्णायक हमारा पाठक है। तो क्या हम उम्मीद कर सकते हैं कि आप हमारी सहायता करेंगे? केवल अपने किसी एक मित्र को 'हंस' का ग्राहक बना दीजिये।



फरवरी, १९३५   वर्ष—५ : अंक—५   माघ, १९९

मुक्ति का मार्ग

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]

[अनु०—गुप्तेश्वर]

[श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं अपना परिचय हैं। हमने आपका प्रस्तुत पद्यात्मक प्रहसन 'अलका' के आश्विन, १९९५ के अंक से लेकर अनुवाद में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। आशा है पाठक इसमें से रस पावेंगे।—सं०]

भूमिका

स्वामी अच्युतानन्द का चेला फ़क़ीर, जिसके चेहरे का बारह आना भाग दाढ़ी-मूछों से ढँका हुआ है। फ़क़ीर की पत्नी हैमवती, जो अपने बाप की लाड़ली बेटी थी, और जिसके लिए वह सम्पत्ति छोड़ गये हैं। फ़क़ीर के पिता विश्वेश्वर भी पुत्र-वधू पर स्नेह रखते हैं और पुत्र की अखण्ड गुरु-भक्ति से चिन्तित रहते हैं।

पुष्पमाला संस्कृत की एम० ए० परीक्षा में सर्वप्रथम आई है। वह दूर के रिश्ते में हैम की दीदी लगती है! कॉलेज के पिंजड़े से अभी ही छुट्टी पा, गाँव में बहन के घर दुनिया-दारी को प्रत्यक्ष देखने आई है। उसका कुतूहल असीम है। नेपथ्य में और कभी रंगभूमि पर कुतूहल की वस्तु को नाना प्रकार से परखती रहती है। उसे बड़ा मज़ा आता है। सारे गाँव में वह समान रूप से आ-जा सकती है। सभी उससे स्नेह रखते हैं।

पुष्पमाला के एक गुरु हैं, जो बिलकुल सीधे-सादे हैं। देश में अगुरु के जङ्गल छा गये हैं। पुष्प की इच्छा होती है कि उस जङ्गल में हँसी का दावानल प्रकटा खाण्डव-दहन करे। इस कार्य का प्रारम्भ उसने इसी गाँव से किया है। सुन पड़ता है कि विवाह के बाद से इस पुण्य-कर्म में बाधा हुई। तब से घर में ही पंचशर के साथ हास्यशर के योग से वह मधुर अशान्ति आलोड़ित करती रहती है। परन्तु वह प्रहसन इस प्रहसन से अलग है।

षष्ठीचरण पास के मुहल्ले का मुखिया है। उसका पुत्र माखन दो स्त्रियों द्वारा प्रतारित हो सात साल से विदेश में है। षष्ठीचरण का पुष्पमाला की आकर्षण-शक्ति में अखण्ड विश्वास है। वही माखन को लौटा ला सकती है। पुष्प सुनकर हँसती है और सोचती है कि यदि सम्भव हो सके तो इस प्रहसन को पूरा कर दिया जाय। इसी विषय को लेकर उसने रवि ठाकुर नाम के ग्रन्थकार से जब-तब पत्र-व्यवहार किया है।

प्रथम दृश्य

फ़कीर । पुष्पमाला । हैमवती

फ़कीर—सोहं सोहं सोहं ।

पुष्प—बैठे-बैठे क्या जप रहे हो ?

फ़कीर—गुरु मंत्र ।

पुष्प—कितनी दूर पहुँचा है ?

फ़कीर—यही इड़ा नाड़ी के पास तक आकर रुक गया है ।

पुष्प—एकाएक रुका क्यों ?

फ़कीर—यह मेरी रोनी बिटिया की करनी है । मंतर गुड़गुड़-गुड़गुड़ कर ज़ोर से एकदम ऊपर की ओर चला था । जान पड़ा चौथाई इंच और चढ़ने से ही पिंगला में पहुँच जाता उसी समय लड़की नाक से चिल्ला उठी,—बाबू नचम्चूस । गाल पर तड़ से एक चाँटा जड़ दिया, में-में कर रोने लगी । उस तरह तो मंतर एक पल में ही पिंगला के मुख के पास से बिलकुल नाभि-गह्वर तक उतर आया । सोहं ब्रह्म, सोहं ब्रह्म ।

पुष्प—तुम्हारे गुरु का मंत्र क्या अजीर्ण रोग की तरह है ? नाड़ी के भीतर जाकर—

फ़कीर—हाँ दीदी, नाड़ी के भीतर वह गुड़गुड़ कर रहा है—वह वायु है न ।

पुष्प—वायु है ?

फ़कीर—और नहीं तो क्या ? ब्रह्म शब्द में वायु के सिवा कुछ भी नहीं है । ऋषि लोग जब केवल वायु पीते थे, तब मंतर ही बनाते थे ।

पुष्प—हाँ ?

फ़कीर—नहीं तो इतनी वायु जमा होने देने से पेट फट जाता । नाड़ी पड़ पड़ाकर (पट्-पट् कर) बीस टुकड़े हो जाती ।

पुष्प—ओः, तभी तो—एकदम चार वेद मंत्रों से भरे हैं—कम हवा तो लगी नहीं ।

फ़कीर—सुनने ही से तो समझ सकती हो, यह देखो पहले ओ—म्, है यह तो विशुद्ध वायु का उद्गार है । पुण्य वायु है, संसार को पवित्र करता है ।

पुष्प—यह सब ज्ञान की बातें तुमने पाईं कहाँ से ? हम तो पागल हो जाते ।

फ़कीर—सभी गुरु के मुख से । वे कहते हैं कलियुग में गुरु का मुख ही गोमुखी है—जिस से मंत्र-गंगा कल्-कल् ध्वनि करती हुई निकलती है ।

पुष्प—बी० ए० में संस्कृत में ऑनर्स लेकर बेकार ही इतनी परेशान हुई । अजीर्ण की भी शिकार हुई ; किंतु पाकस्थली के अजीर्ण से, इड़ा-पिंगला के नहीं ।

फ़कीर—इतने से ही गुरु की कृपा समझ लो—तभी तो मेरी नाड़ी के भीतर मंतर प्रायः गुरु-गुरु शब्द करता है ।

पुष्प—अच्छा, आवाज़ क्या आहार के बाद बढ़ती है ?

फ़कीर—हाँ, बढ़ती है ।

पुष्प—गुरु क्या कहते हैं ?

फ़कीर—वे कहते है, पेट में स्थूल और सूक्ष्म में देवता और दैत्यों की तरह संग्राम होता है,

खाने के साथ मंत्र का निशाना गोले की तरह जाता है, तब भाविधाँ उच्चस्वर में गुरु का स्मरण करने लगती हैं।

हैम—दुःख की और क्या बात कहूँ दीदी! पेट के भीतर तो गुरु का स्मरण हो ही रहा है, बाहर भी चैन नहीं। चरणदास बाबाजी उनके गुरु भाई हैं, उस आदमी के पास दया-माया कुछ नहीं, उन्हें गाना सिखला रहे हैं। महल्ले के लोग—

पुष्प—चुप-चुप! तुम पतिव्रता हो। जब स्वामी बोलते हैं, तो साध्वी नारियाँ प्राणपण से नीरव रहती हैं। फ़कीर दादा, गुन-गुना क्यों रहे हो? गाँधी जी की अहिंसा नीति की बात नहीं सुनी?

हैम—तुम दोनो तत्व-कथा लिये बैठे रहो। मुझे मछली बनाने जाना होगा। मैं चली।

(प्रस्थान)

फ़कीर—अपनी बात समझाये देता हूँ। गुरु का मंत्र जिसे गुरुपाक कहते हैं, जब भीतर बहुत अधिक जमा हो जाता है, तब सारा शरीर सिहर उठता है, पैरों के नीचे से नाचने की घुमनी ऊपर उठने लगती है और कोल्हू चलने से जैसी आवाज़ होती है, भक्ति के चक्कर में उसी प्रकार गले के भीतर से गाने की आवाज़ निकलती है। यह देखो न अभी एकाएक मूलाधार से साधना की सिहरन उठ रही है, ओः!

पुष्प—अरे रे! क्या डाक्टर बुलाऊँ?

फ़कीर—कुछ करना नहीं होगा। एक बार पेट भर नाचना होगा। गुरु ने कहा है, गुरु का मंत्र है धारक और नृत्य है सारक, दोनो की बड़ी जरूरत है। (खड़े होकर नृत्य)

गुरु चरण रहो शरण—हाँ, भव तरंग से होगा तरण—हाँ
सुधा-क्षरण प्राण-भरण—हाँ, मरणभय का होगा हरण—हाँ

पुष्प—केवल मरण भय हरण ही नहीं भाई। गुरु-दक्षिणा की चोट से स्त्री के गहने और पिता की धरोहर का हरण भी जोर-शोर से हो रहा है।

फ़कीर—वह देखो बाबूजी बहू को लिये आ रहे हैं, बड़ा व्याघात, बड़ी बाधा। गुरो।

पुष्प—व्याघात किस बात का?

फ़कीर—स्थूल रूप से वे लोग मुझे फ़कीर ही समझते हैं।

पुष्प—क्या और भी एक रूप है?

फ़कीर—मेरी फकीरी देह भीतर ही भीतर क्षय हो गई है और गुरु-देह के सूक्ष्म रूप के साथ मिल गई है। बाहर खोल-मात्र पड़ा हुआ है। वे असल को कभी भी न देखेंगे।

पुष्प—खोल तो बहुत ज्यादा दीख रहा है। किन्तु स्वच्छ बिलकुल ही नहीं है।

फ़कीर—दृष्टि शुद्धि होने में देर लगती है। किंतु सबसे पहले विश्वास चाहिये। भगवत्-कृपा से अगर इनके मन में कभी विश्वास जागा, तो ये गुरु-देह और फ़कीर-देह में एक बार ही अभेद रूप पायेंगे—तब पिताजी—

(फ़कीर का प्रस्थान)

पुष्प—तब पिताजी गया में पिंडदान देने जायँगे।

(विश्वेश्वर तथा हैमवती का प्रवेश)

विश्वेश्वर—(हैम से) समधी साहब बैंक में तुम्हारे नाम कुछ रुपए जमाकर गये हैं। फ़कीर को यह मालूम है, इसीलिए तो उसका कुछ हुआ नहीं।

पुष्प—और, क्या यदि होता तो क्या होता, उसका खयाल करने ही से सिर में दर्द होने लगता है।

विश्वेश्वर—मैकिनन के हेड बाबू मेरे मित्र के साढ़ू हैं, उन्होंने कहा था कि फ़क़ीर के कोई परीक्षा पास कर लेने से ही वे उसे असिस्टेन्ट स्टोर-कीपर बना देंगे। यह बन्दर बार-बार ज़िद कर फ़ेल होने लगा।

पुष्प—फ़ेल होने की गंदी ज़िद और भी कई लड़कों में देखी है। मित्तर लोगों के घर के मोतीलाल ने मेरे साथ ही पढ़ना आरम्भ किया था। वह मैट्रिक के इस पार के खूँटे को इसी तरह बड़ी ज़िद कर पकड़े रहा। उसके फूफा ने उसका कान पकड़ ऐंठते-ऐंठते प्रायः उखाड़ डाला; किन्तु उसे पास न करा सके। चलो हैमी, आकर पढ़ा करना—स्वामी की ओर से पास करने का काम तुम ही ठीक कर लेना। चलो।

विश्वेश्वर—जाओ पढ़ो, किन्तु सुनो बेटी, फ़क़ीर के माँगने से ही तुम रुपए क्यों दे देती हो?

हैम—क्या करूँ बाबूजी, रुपया-रुपया कर वे बड़ी आफ़त कर देते हैं।

विश्वेश्वर—यह देखो न, एक रोएँदार बाघ के चमड़े पर बैठा बड़बड़ा रहा है।—ऐ फ़क़ीर, सुने जा बन्दर। कहता हूँ सुने जा।

पुष्प—जा, मैं समझती हूँ उसको उसकी गंडी से बाहर खींच लाने की आपकी हिम्मत नहीं हो रही है!

विश्वेश्वर—सच कहता हूँ, बहन, डर लगता है। यह बात नहीं है कि मैं उसके सब मंतर-तंतर को सही मानता हूँ; पर न मानने का बल भी हृदय में नहीं है। देखो न उस जगह को, खोदकर कैसा पागलखाना बना रखा है। गुरु ने कभी पाठा मछली खाई थी, उसके सर के खोल को ऊनी आसन पर रखे हुए हैं।

पुष्प—उसने उस जगह का नाम मोक्षधाम रखा है। गुरु के सिगरेट पीकर फेंकी हुई दियासलाई की तीलियों को काटे हुए कच्चे केले के टुकड़ों के ऊपर खोंस-खोंसकर उसने गंडी बनाई है। वह कहता है तीलियों की अग्नि कभी बुझती नहीं, जिसको दिव्य दृष्टि मिली है, वह आँखें बन्द करते ही देख पाता है। गुरु के चाय-सेट की एक टूटी तश्तरी लाया है, उसकी प्रतिष्ठा हुई है गुरु के बर्मी चुरूट के पैक बॉक्स में। गुरु साढ़े अठारह व्यंजन के प्रेमी हैं। ख़रीद कर इसी तश्तरी में भर नैवेद्य चढ़ाता है। कहता है, इस पिरिच का किसी समय जो प्याला था, उसका अदृश्य रूप गुरु का अदृश्य प्रसाद देता रहता है। मोक्षधाम दार्जिलिंग चाय की सुगन्धि से भर जाता है।

विश्वेश्वर—अच्छा बहन, इन बड़ी-बड़ी बोतलों को किस लिए सजा रखा है। उनमें गुरु के फ़ीवर मिक्सचर का अदृश्य रूप तो नहीं भर रखा है!

पुष्प—बताओ न हैमी, वे किस लिए हैं?

हैम—दक्षिणा पाते ही गुरुजी ताड़ के पत्तों के ऊपर गीता के श्लोक लिख उन्हें जल में धो देते हैं। ये बोतलें गीता धोये जल से भरी हैं। त्रिकाल स्नान करके इसका तीन बार आचमन करते हैं। उनका विश्वास है कि उनके रक्त से गीता की बाढ़ चल रही है। मेरे संसार-ख़र्च के दस-दस रुपए के पाँच नोट इसी बाढ़ में डूब गये हैं। जाती हूँ। मुझे काम है।

(प्रस्थान)

विश्वेश्वर—अरे ओ फ़क़ीर!

पुष्प—अच्छा, मैं उसे लाती हूँ। (पास जा, घबराकर) ऐ फ़क़ीर दादा, यह क्या किया !

फ़क़ीर—क्यों, क्या हुआ ?

पुष्प—गुरु ने जो बत्तख़ के अंडे का बड़ा खाया था, उसका छिलका तुम्हारे मन्दिर में से बरामदे के कोने में गिर पड़ा है।

फ़क़ीर—(उछलकर खड़े हो) आ, छी-छी, मैंने क्या किया।

पुष्प—अभागे बत्तख़ तक को तुमने वंचित कर दिया ! वह तुम्हारे पीछे-पीछे पाँक-पाँक करता हुआ वैकुण्ठ-धाम पहुँचता—और वहाँ पर स्वर्गीय अंडा देता।

फ़क़ीर—(बाहर निकल छिलके को बार-बार माथे से लगाते हुए) क्षमा करो गुरु, क्षमा करो ! यह अंड जगत-ब्रह्मांड का विग्रह है—इसके भीतर चन्द्र, सूर्य, लोकपाल, दिक्पालादि सभी हैं। गंगाजल से धो लाऊँ।

पुष्प—(चादर दबाकर) आओ, अभी अपने पिताजी की बात सुन लो।

(चादर के खूँट में अंडे को बाँध फ़क़ीर ने विश्वेश्वर को प्रणाम किया)

विश्वेश्वर—बाबू, भक्ति कम कर मेरा कहा मानो।

फ़क़ीर—कहिये ?

विश्वेश्वर—एक बार और पास करने की कोशिश करो।

फ़क़ीर—कर नहीं सकूँगा बाबूजी।

विश्वेश्वर—क्या नहीं कर सकोगे ? पास करना या पास करने की कोशिश करना ?

फ़क़ीर—मुझसे अब कोशिश न होगी।

विश्वेश्वर—क्यों नहीं होगी ?

फ़क़ीर—गुरुजी कहते हैं, पाश का अर्थ है बन्धन। पहले पास उसके बाद ही नौकरी।

विश्वेश्वर—अभागे तेरा काम किस तरह चलेगा ! मेरी पेंशन के ऊपर ? मैं क्या तुझे खिलाने-पिलाने के लिए अमर हो जाऊँगा ? एक बात पूछता हूँ—बहू से रुपए माँगने में तुम्हें लाज नहीं लगती ? पुरुष होकर स्त्री के पास भीख...!

फ़क़ीर—मैं अपने लिए एक पैसा भी नहीं लेता।

विश्वेश्वर—तब किसके लिए लेता है ?

फ़क़ीर—उनकी ही सद्‌गति के लिए।

विश्वेश्वर—अच्छा ? इसका मतलब ?

फ़क़ीर—मैं तो सब कुछ गुरुजी के भोग के लिए निवेदन करता हूँ। उसके फल का अंश वह भी पायेंगी।

विश्वेश्वर—ठीक है, अंश पायेंगी। वे ही गुठली सहित फल पायेंगी। बाल-बच्चे भूखों मरेंगे।

फ़क़ीर - मैं कुछ भी नहीं जानता। (गहरी साँस लेकर) जो करते हैं सब गुरु करते हैं।

विश्वेश्वर—दूर हो, दूर हो मेरे सामने से कँगले बन्दर। तेरा मुँह देखना नहीं चाहता। (प्रस्थान)

(हैमवती का प्रवेश)

फ़क़ीर—का तव कान्ता।

हैमवती—क्या बक रहे हो ?

पुष्प—और, क्या यदि होता तो क्या होता, उसका खयाल करने ही से सिर में दर्द होने लगता है।

विश्वेश्वर—मैकिनन के हेड बाबू मेरे मित्र के साढ़ू हैं, उन्होंने कहा था कि फ़क़ीर के कोई परीक्षा पास कर लेने से ही वे उसे असिस्टेन्ट स्टोर-कीपर बना देंगे। यह बन्दर बार-बार ज़िद कर फ़ेल होने लगा।

पुष्प—फ़ेल होने की गंदी ज़िद और भी कई लड़कों में देखी है। मित्तर लोगों के घर के मोती-लाल ने मेरे साथ ही पढ़ना आरम्भ किया था। वह मैट्रिक के इस पार के खूँटे को इसी तरह बड़ी ज़िद कर पकड़े रहा। उसके फूफा ने उसका कान पकड़ ऐंठते-ऐंठते प्रायः उखाड़ डाला; किन्तु उसे पास न करा सके। चलो हैमी, आकर पढ़ा करना—स्वामी की ओर से पास करने का काम तुम हीं ठीक कर लेना। चलो।

विश्वेश्वर—जाओ पढ़ो, किन्तु सुनो बेटी, फ़क़ीर के माँगने से ही तुम रुपए क्यों दे देती हो?

हैम—क्या करूँ बाबूजी, रुपया-रुपया कर वे बड़ी आफ़त कर देते हैं।

विश्वेश्वर—यह देखो न, एक रोएँदार बाघ के चमड़े पर बैठा बड़बड़ा रहा है।—ऐ फ़क़ीर, सुने जा बन्दर। कहता हूँ सुने जा।

पुष्प—जा, मैं समझती हूँ उसको उसकी गंडी से बाहर खींच लाने की आपकी हिम्मत नहीं हो रही है!

विश्वेश्वर—सच कहता हूँ, बहन, डर लगता है। यह बात नहीं है कि मैं उसके सब मंतर-तंतर को सही मानता हूँ; पर न मानने का बल भी हृदय में नहीं है। देखो न उस जगह को, खोदकर कैसा पागलखाना बना रखा है। गुरु ने कभी पाठा मछली खाई थी, उसके सर के खोल को ऊनी आसन पर रखे हुए हैं।

पुष्प—उसने उस जगह का नाम मोक्षधाम रखा है। गुरु के सिगरेट पीकर फेंकी हुई दिया-सलाई की तीलियों को काटे हुए कच्चे केले के टुकड़ों के ऊपर खोंस-खोंसकर उसने गंडी बनाई है। वह कहता है तीलियों की अग्नि कभी बुझती नहीं, जिसको दिव्य दृष्टि मिली है, वह आँखें बन्द करते ही देख पाता है। गुरु के चाय-सेट की एक टूटी तश्तरी लाया है, उसकी प्रतिष्ठा हुई है गुरु के बर्मी चुरुट के पैक बॉक्स में। गुरु साढ़े अठारह व्यंजन के प्रेमी हैं। ख़रीद कर इसी तश्तरी में भर नैवेद्य चढ़ाता है। कहता है, इस पिरिच का किसी समय जो प्याला था, उसका अदृश्य रूप गुरु का अदृश्य प्रसाद देता रहता है। मोक्षधाम दार्जिलिंग चाय की सुगन्धि से भर जाता है।

विश्वेश्वर—अच्छा बहन, इन बड़ी-बड़ी बोतलों को किस लिए सजा रखा है। उनमें गुरु के फ़ीवर मिक्सचर का अदृश्य रूप तो नहीं भर रखा है!

पुष्प—बताओ न हैमी, वे किस लिए हैं?

हैम—दक्षिणा पाते ही गुरुजी ताड़ के पत्तों के ऊपर गीता के श्लोक लिख उन्हें जल में धो देते हैं। ये बोतलें गीता धोये जल से भरी हैं। त्रिकाल स्नान करके इसका तीन बार आचमन करते हैं। उनका विश्वास है कि उनके रक्त से गीता की बाढ़ चल रही है। मेरे संसार-ख़र्च के दस-दस रुपए के पाँच नोट इसी बाढ़ में डूब गये हैं। जाती हूँ। मुझे काम है।

(प्रस्थान)

विश्वेश्वर—अरे ओ फ़क़ीर!

पुष्प—अच्छा, मैं उसे लाती हूँ। (पास जा, घबराकर) ऐ फ़कीर दादा, यह क्या किया !

फ़कीर—क्यों, क्या हुआ ?

पुष्प—गुरु ने जो बत्तख़ के अंडे का बड़ा खाया था, उसका छिलका तुम्हारे मन्दिर में से बरामदे के कोने में गिर पड़ा है।

फ़कीर—(उछलकर खड़े हो) आ, छी-छी, मैंने क्या किया।

पुष्प—अभागे बत्तख़ तक को तुमने वंचित कर दिया ! वह तुम्हारे पीछे-पीछे पाँक-पाँक करता हुआ वैकुण्ठ-धाम पहुँचता—और वहाँ पर स्वर्गीय अंडा देता।

फ़कीर—(बाहर निकल छिलके को बार-बार माथे से लगाते हुए) क्षमा करो गुरु, क्षमा करो ! यह अंड जगत-ब्रह्मांड का विग्रह है—इसके भीतर चन्द्र, सूर्य, लोकपाल, दिक्पालादि सभी हैं। गंगाजल से धो लाऊँ।

पुष्प—(चादर दबाकर) आओ, अभी अपने पिताजी की बात सुन लो।

(चादर के खूँट में अंडे को बाँध फ़कीर ने विश्वेश्वर को प्रणाम किया)

विश्वेश्वर—बाबू, भक्ति कम कर मेरा कहा मानो।

फ़कीर—कहिये ?

विश्वेश्वर—एक बार और पास करने की कोशिश करो।

फ़कीर—कर नहीं सकूँगा बाबूजी।

विश्वेश्वर—क्या नहीं कर सकोगे ? पास करना या पास करने की कोशिश करना ?

फ़कीर—मुझसे अब कोशिश न होगी।

विश्वेश्वर—क्यों नहीं होगी ?

फ़कीर—गुरुजी कहते हैं, पाश का अर्थ है बन्धन। पहले पास उसके बाद ही नौकरी।

विश्वेश्वर—अभागे तेरा काम किस तरह चलेगा ! मेरी पेंशन के ऊपर ? मैं क्या तुझे खिलाने-पिलाने के लिए अमर हो जाऊँगा ? एक बात पूछता हूँ—बहू से रुपए माँगने में तुम्हें लाज नहीं लगती ? पुरुष होकर स्त्री के पास भीख...!

फ़कीर—मैं अपने लिए एक पैसा भी नहीं लेता।

विश्वेश्वर—तब किसके लिए लेता है ?

फ़कीर—उनकी ही सद्गति के लिए।

विश्वेश्वर—अच्छा ? इसका मतलब ?

फ़कीर—मैं तो सब कुछ गुरुजी के भोग के लिए निवेदन करता हूँ। उसके फल का अंश वह भी पायेंगी।

विश्वेश्वर—ठीक है, अंश पायेंगी। वे ही गुठली सहित फल पायेंगी। बाल-बच्चे भूखों मरेंगे।

फ़कीर - मैं कुछ भी नहीं जानता। (गहरी साँस लेकर) जो करते हैं सब गुरु करते हैं। (प्रस्थान)

विश्वेश्वर—दूर हो, दूर हो मेरे सामने से कँगले बन्दर। तेरा मुँह देखना नहीं चाहता।

(हैमवती का प्रवेश)

फ़कीर—का तव कान्ता।

हैमवती—क्या बक रहे हो ?

फ़कीर—का तव कान्ता ? कौन कान्ता है ?

हैमवती—हिन्दुस्तानी बोल रहे हो ? बँगला में बोलो ।

फ़कीर—कहता हूँ कौन रोता है ?

हैमवती—तुम्हारी ही लकड़ी मिन्टू ।

फ़कीर—हाय रे, इसी को कहते हैं दुनिया । रोकर डुबा दिया ।

हैमवती—किसको कहते हैं संसार ?

फ़कीर—तुमको ।

हैमवती—और आपको ? मेरी मुक्ति का जहाज ! आप लोग बाँधते नहीं, हम ही बाँधते हैं !

फ़कीर—गुरु ने कहा है, तुम्हीं लोगों के हाथ बंधन है ।

हैमवती—मैंने अगर आपको सात भाँवरों में बाँधा है, तो आपके गुरु ने आपको सत्तावन भाँवरों में बाँध रखा है ।

फ़कीर—औरत ज़ात—तुम क्या समझोगी तत्त्व-कथा ! कामिनी कांचन—

हैम०—देखो पाखंड मत करो । कंचन का मूल्य तुम्हारे गुरुजी कितना समझते हैं, यह मुझे खूब अच्छी तरह बता दिया है । और कामिनी की बात कहते हो ! मूर्ख कामिनियाँ ही पैर की धूलि ले अगर पैर पर कांचन न चढ़ातीं तो तुम्हारे गुरुजी की तोंद इतनी मोटी न होती । तुम्हें एक बात बता देती हूँ । इस घर से तुम्हारी एक माया दूर हो गई । तुम्हारा कांचनरूपी बंधन हटा । ससुरजी ने मुझसे सौगंध ले रखी है कि अपने रुपए में से तुम्हें एक पैसा भी न दे सकूँगी ।

(पुष्प का प्रवेश)

पुष्प—फ़कीर भैया ? यह क्या ! तुम्हारे सोने के कमरे में मिला मांडूक्योपनिषत् ! यह क्या अनिद्रा का काढ़ा है ?

फ़कीर—(थोड़ा हँसकर) तुम लोग क्या समझोगी—स्त्री-जाति ?

पुष्प—कृपा कर समझा देने में तो कोई दोष नहीं है ? (फ़कीर हँसता है, पर कुछ बोलता नहीं)

हैम—क्या जानूँ बहिन, उसे रात में वे तकिये के नीचे रखकर सोते हैं ।

पुष्प—वेद-मंत्रों को नींद के नीचे डुबा देते हैं । इस पुस्तक को पढ़ने के लिए तुम्हें सात जन्म पूर्व वापस जाना होगा ।

फ़कीर—गुरु-कृपा से मुझे पढ़ना नहीं पड़ता ।

पुष्प—नींद में पढ़ना होता है ।

फ़कीर—इस किताब को हाथ में लेकर उन्होंने इसके पन्ने-पन्ने को फूँक दिया है, इसका प्रकाश जल उठा है, जिल्द फोड़कर ज्योति अक्षर-अक्षर के बीच से बाहर निकलती रहती है, और सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती रहती है ।

पुष्प—नींद क्या इसीलिए आवश्यक है ?

फ़कीर—ठीक-ठीक । मैंने स्वयं गुरुजी को देखा है, कि दोपहर के समय खाने के बाद पेट के ऊपर भगवद्गीता रखे बिछौने पर गंभीर निद्रा में चित पड़े हुए हैं—साधना में बाधा पहुँचाने के लिए मना कर दिया है । वे कहते हैं, इड़ा पिंगला के भीतर से होकर श्लोक अंतरात्मा में प्रवेश करते रहते हैं, उसकी आवाज़ साफ़ सुन पड़ती है । अविश्वासी

कहते हैं, नाक बजती है ; वे हँसते हैं, कहते हैं—मूर्खों की नाक बजती है, ज्ञानियों की इड़ा पिंगला बोलती हैं—नासारंध्र और ब्रह्मरंध्र ठीक एक रास्ते में हैं, जैसे चितपुर और चौरंगी।

पुष्प—क्यों हैमी फ़क़ीर भैया की इड़ापिंगला आजकल कैसी आवाज़ करती है ?

हैम—ख़ूब ज़ोर से। मालूम पड़ता है पेट के भीतर तीन-चार बैंड बज रहे हों।

फ़क़ीर—यह देखो, सुना पुष्प दीदी ? आश्चर्य है ! सच्ची बात न जानने के कारण मुँह से ऐसा निकल पड़ा है। गुरुजी ने कह दिया है, मांडूक्य-उपनिषद् की ध्वनि ही मेंढक की पुकार है। अंतरात्मा चरम अवस्था में नासि-गह्वर में प्रवेश कर कूप-मंडूक बन जाती है, फिर चारो ओर की वस्तुएँ नहीं दिखाई पड़तीं। तभी नाड़ियाँ पेट के भीतर केवल शिवोहं, शिवोहं शिवोहं की रट लगाती हैं। उस नींद में क्या गंभीर आनंद है वह मैं ही जानता हूँ— योग-निद्रा इसी को कहते हैं।

हैम—किसी दिन मिन्टू के रोने से अपनी दादुर-धुनि निद्रा भंग होने पर उसे मार डालेंगे क्या ?

पुष्प—फ़क़ीर दादा, संस्कृत में ऑनर्स लिया था, तब मुझे मांडूक्य का कुछ अंश भी पढ़ना पड़ा था। नाक में काली मिर्च की बुकनी डाल छींक-छींककर नींद भगानी पड़ती थी। छींक की चोट से ठोस ब्रह्म-ज्ञान का बारह आना भाग तरल होकर नाक से ही बाहर निकल पड़ा था। इड़ापिंगला बेकार हो गई थी। तोभी मैं अभागिनी गुरु की फूँक के ज़ोर से अज्ञान समुद्र पार न कर सकी।

फ़क़ीर—(थोड़ा हँसकर) पात्र का भेद है।

पुष्प—ज़रूर है। देखो न, इसी शास्त्र में ऋषि अपने एक शिष्य को देखकर कहते हैं, सोयमात्मा चतुष्पात् इसकी आत्मा चौपाया है। पात्र के ही भेद को तो दोपाये और चौपाये का भेद कहते हैं। हैम, रात को तो बैंड की आवाज़ सुनकर जगी रहती हो ; पर क्या दिन में भी किसी प्रकार की आवाज़ सुनती रहती हो ?

हैम—क्या जानूँ भाई, दैवात् मिन्टू ने ज्यों ही उनके मंत्र पढ़े जल के लोटे को उलटा, वैसे ही उन्होंने जिस तरह डकारा था, वह—

पुष्प—हाँ, वह चौपाये की बोली है। वही इस शास्त्र के साथ मेल खाती है।

फ़क़ीर—सोहं ब्रह्म। सोहं ब्रह्म। सोहं ब्रह्म।

पुष्प—फ़क़ीर दादा, तपस्या भंग होने पर शिवजी अपनी वरदात्री के पास आये थे—तुम अपनी तपस्या इस बार बंद कर दो, यह देखो लाल किनारे की साड़ी पहने वरदात्री प्रतीक्षा कर रही है।

हैमवती—पुष्प दीदी, वरदात्री की अपेक्षा उसकी रंग-बिरंगी किनारवाली साड़ी का ही इन्हें अधिक ध्यान है।

पुष्प—समझ गई, मालूम होता है गेरुआ रंग की छटा घर की दीवार पर होकर बाहर फैल गई है।

हैमवती—इतने ही में एक-दो वरदात्री आने लगी हैं। गेरुआ रंग का नशा औरतें सँभाल नहीं सकतीं। इन मुँहजलियों की मौत और क्या है ! उस दिन एक बेहया ही इनके पास मुक्ति-मंत्र लेने आई थी, मेरे ही कमरे में आ पड़ी—एक-दो खरी-खोटी सुनाई, मुक्ति-मंत्र का ही काम हुआ, मुँह फेरकर भागी।

फ़क़ीर—देखो, मेरा मांडूक्य दे दो।

पुष्प—क्या करोगे?

फ़क़ीर—नारी का हाथ लगा है, अब गंगाजल से धोना पड़ेगा।

पुष्प—वही अच्छा है, बुद्धि से धोना तो इस जन्म में होता नहीं।

फ़क़ीर—सुनो हैम। आज गुरु-गृह में नवरत्न दान-व्रत है। मैं उन्हें सोना दूँगा, एक गिन्नी चाहिये।

हैमवती—मैं तो नहीं दे सकती, ससुरजी ने पाँवों पड़ छूकर मना किया है।

पुष्प—मालूम होता है, तुम्हारे गुरुजी को कांचन से अरुचि नहीं है।

फ़क़ीर—उनकी महिमा तुम लोग क्या समझोगी! उनकी झोली में कंचन गिरता रहता है और वे आँखें बंद कर कहते हैं—हुँ फट्। बस, बिलकुल ख़ाक हो जाता है—जो उनके भक्त हैं, उन्होंने अपनी आँखों देखा है।

पुष्प—झोली में अगर राख ही भरना है, तो लकड़ी की राख है, कोयले की राख है; सोने की राख डालकर बेवकूफी क्यों करते हो?

फ़क़ीर—हाय रे, इतना भी नहीं समझीं। गुरुजी ने कहा है, महादेव के तृतीय नेत्र से कामदेव जले थे। सोने की आसक्ति को नष्ट करने ही के लिए इस धरा-धाम में गुरुजी का अवतार हुआ है। वे स्थूल सोने को कामना भस्म कर कान में गुरुमन्त्र-रूपी सूक्ष्म सोना देंगे।

पुष्प—अब नहीं सहा जाता, चलो जी हैमो, तुम्हें पढ़ाना है।

फ़क़ीर—सोहं ब्रह्म! सोहं ब्रह्म! सोहं ब्रह्म।

पुष्प—(थोड़ी दूर जाकर लौट आ) ज़रा रुको तो एक बात है, कह दूँ। फ़क़ीर दादा, सुना है आपके गुरुजी ने एक बार मुझसे भेंट करना चाहा था।

फ़क़ीर—हाँ, उन्होंने सुना है कि तुमने वेदांत पास किया है। उन्होंने मुझसे कह रखा है कि तुम्हें एक न एक दिन अवश्य उनके पैर पर गिरना पड़ेगा; वेदांत कहीं लापता हो जायगा! और वह समय प्रायः आ पहुँचा है।

पुष्प—अब समझी। तभी कई दिनों से बाईं आँख फड़क रही है।

फ़क़ीर—फड़क रही है न? उनकी अव्यर्थ वाणी देखा। कितना सम्मोहन है।

पुष्प—किन्तु पहले से ही कह देती हूँ, राख कर देने लायक माल-मसाला वे मुझमें अधिक नहीं पायेंगे। जो कुछ था पास करते-करते सब यूनिवर्सिटी के घूरे में डाल दिया है।

हैमवती—क्या कहती हो पुष्प दीदी! फिर तुम किस भूत के पाले पड़ो?

पुष्प—क्या जानूँ बहन, इस देश की हवा में ही कुछ ऐसी बात है। वह बुद्धि को झकझोर कर हठात् इस प्रकार आती है जैसे मलेरिया की कँपकँपी। कहीं सुना हुआ रवि ठाकुर का एक गाना स्मरण होता है—

> गेरुआ फाँद पाता भुवने
> के कोथा धरा पड़े के जाने
> (यदि सन्यासी सांसारिक जीवन में आता तो कौन जानता है क्या होता!)

फ़क़ीर—पुष्प दीदी, तुम जो इतनी आगे चली गई हो, वह मैं नहीं जानता था। पूर्व जन्म का कर्मफल है और क्या!

पुष्प—अवश्य ही, अनेक जन्मों की अबुद्धि को आश्रय देते-देते इस प्रकार की अद्भुत बुद्धि हठात्

[४३०

परिपक्व हो जाय—तो फिर उससे कोई त्राण नहीं है।

फ़क़ीर—ओः आश्चर्य ! तुम धन्य हो। संसार में कोई-कोई ऐसे होते हैं जो एक बार ही... क्या कहूँ !

पुष्प—एक बार ही अन्त की ओर से आरम्भ करते हैं। रवि ठाकुर कहते हैं—

जखनि जागिले विश्वे पूर्ण प्रस्फुटिता।

(जब संसार में पूर्ण चेतनता जगी।)

फ़क़ीर– वाह-वाह, रवि ठाकुर ने तो बहुत अच्छा कहा है—मैंने तो कभी पढ़ा ही नहीं !

पुष्प—अच्छा किया जो न पढ़ा। पढ़कर तो आफत ही में फँसते। हैमी, अपना वह मटरदाने का दो लड़ीवाला हार तो देना। महापुरुषों के दर्शनार्थ खाली हाथ नहीं जाया जाता।

हैम—क्या कहती हो दीदी ! वह तो मेरी सास का दिया हुआ है।

पुष्प—यह आदमी भी तो तुम्हारी सास का दिया हुआ है। यह भी जहाँ जाता है वहाँ हमारा जाना नहीं हो सकता।

फ़क़ीर—अबोध नारी, आसक्ति त्याग करो, तुम्हारे पास जो कुछ हो सब कुछ गुरु-चरण में समर्पित करो।

पुष्प—हैमी, विश्वास करके मेरे हाथ में दे दो, तुम्हारा नुक़सान नहीं होगा।

फ़क़ीर—अहा, विश्वास—विश्वास ही तो सब कुछ है। अपने छोटे लड़के का नाम रखूँगा—अमूल्यधन विश्वास।

पुष्प—हैमी, भय नहीं है। मेरी साधना खोये धन को लौटा लाने की है। गुरु की कृपा से सिद्धि-लाभ होगा।

द्वितीय दृश्य

(गुरु-धाम)

(चेला-चेलियों से घिरे हुए गुरु। जटा-जाल पीठ के ऊपर लटक रही है—गेरुआ चादर स्थूल उदर के ऊपर गँदले पानी के झरने की तरह टेढ़ी-मेढ़ी पड़ी है। धूप की धूनी है। गद्दी की एक ओर खड़ाऊँ हैं। जो आता है खड़ाऊँ को प्रणाम करता है, दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहता है—गुरो। गुरु के चक्षु बन्द हैं, दोनो हाथ छाती पर जुड़े हुए हैं। स्त्रियाँ रह-रहकर अंचल से आँखें पोंछती हैं। दो आदमी दोनो बगल खड़े हो पंखा झल रहे हैं। बहुत देर तक सब निस्तब्ध रहते हैं। हठात् आँखें खोलकर—)

गुरु—तुम सब आ गये और मुझे मालूम भी न पड़ा। सिद्धिरस्तु, सिद्धिरस्तु। अब मन लगाकर मेरी बातें सुनो।

सेवक—मन तो सदा गुरु-चरण में लगा ही है।

(शिष्याओं का सिसक-सिसककर रोना)

गुरु—आज तुम लोगों की बड़ी कठिन परीक्षा है। मुक्ति के सात द्वारों में यह तीसरा दरवाजा है। शिवोहं, शिवोहं, शिवोहं। इसको किसी भी प्रकार पार करना चाहिये। जिनके धन की थैली जलोदर के रोगी के पेट की तरह फूली हुई है, वे इस छोटे दरवाजे में चक्की की तरह अटक जाते हैं,

सब—ठीक है ! ठीक है !

गुरु—यहीं पर मुक्ति की इच्छा में बाधा पड़ती है। कोई बैठ जाता है, कोई लौट जाता है। उसके बाद घंटा बजा, एक-दो-तीन, बस—हो गया, नौका डूब गई, और शिखा तक दीख पड़ने की संभावना नहीं रहती। ओ३म् !

सब—ठीक है ! ठीक है।

गुरु—इतने दिनों के मेरे संसर्ग से तुम्हारे धन के लोभ में यदि कुछ कमी हुई तो चिन्ता नहीं। तब शुरू हो। ऐ चरणदास, भजन शुरू करो।

गुरु-चरण का ध्यान करो, झोली में दो उसको सोना—
भार हरे, भव-बन्धन टूटे, पड़े नहीं पीछे रोना।
खाता-बही उलटते रहते,
सूद महाजन को जो देते,
जो है अरे महाजन सच्चा ध्यान नहीं क्यों उसका होना—
कमर के रुपए गिनते-गिनते क्या जगना क्या सोना।

गुरु—क्यों निताई, चुपचाप मुँह छिपाये क्यों बैठे हो ? मालूम होता है तबियत ठीक नहीं है। अच्छा, यह लो, पैर की धूलि लो।

निताई—गुरु के सामने झूठ नहीं बोलूँगा। मन में बड़ी घबड़ाहट है। कल सारी रात धकमधुका कर स्त्री का बक्स तोड़ एक जोड़ा बाजूबंद लाया हूँ।

गुरु—लाये हो, तब फिर घबड़ाहट कैसी ?

निताई—प्रभो, घबड़ाहट तो अभी है ही। स्त्री ने कहा है,—अगर घर लौटे तो झाड़ू मारकर निकाल दूँगी।

गुरु—उसके लिए इतना भय क्यों ?

निताई—यह मार प्रभु को मालूम नहीं है, तभी ऐसा कह रहे हैं।

गुरु—नारद-संहिता में लिखा है, दाम्पत्य-कलहे चैव—झगड़ा दो दिन में मिट जायगा।

निताई—इस स्त्री को आप नहीं जानते। यह कोई सीता-सावित्री नहीं है। इसका नाम रखा है हिडिम्बा। यदि आज्ञा हो तो दूसरा विवाह कर शान्तिपुर में घर बसाऊँ।

गुरु—हर्ज क्या है ! वशिष्ठ प्रभृति ऋषियों ने कहा है—अधिकन्तु न दोषाय, उसी प्रकार के दृष्टान्त भी दिये हैं—पुरुष के लिए बहुवचन स्त्री ही गौरव है।

माधव—उसका अर्थ है कि एक ही स्त्री एक सहस्र के बराबर है।

गुरु—उलटा है। आध्यात्मिक अर्थ में पुरुष के लिए एक सहस्र ही एक है। बड़े-बड़े कुलीन सज्जनों ने बहुत परिश्रम कर उसका प्रमाण दिया है। इसीलिए इस देश को कहते हैं, पुण्यभूमि—विवाहरूपी पुण्य कर्म में हम पुरुषों में क्लान्ति नहीं।

माधव—अहा, इस देश के आध्यात्मिक विवाह की ऐसी सुन्दर व्याख्या और कभी नहीं सुनी थी।

गुरु—क्यों विपिन, तैयार तो हो ? जैसा कहा था, कल सारी रात जप किया था—सोना झूठ है, सोना झूठ है, सब धूल है, सब धूल है ?

माधव—हाँ जपा था। मोहर तो और भी तारे की भाँति मन के भीतर जगमग-जगमग करने

लगी। (गुरु का पैर ज़ोर से पकड़) प्रभु, मैं पापी हूँ, इस बार क्षमा कीजिये, थोड़े दिन और समय दीजिये।

गुरु—यह क्या ! मालूम होता है तुम्हारे प्राण ही निकल गये। सब चौपट हो गया। देने के लिए लाकर वापस ले जाना, यह तो गुरु का धन चोरी करना है ! (झोली बढ़ाकर) कहता हूँ डालो डालो, अभी डालो।

(माधव ने बहुत कष्ट से काँपते हाथों से रूमाल से मोहर खोल झोली में डाल दी।)

गुरु—इस बार सब मिलकर कहो तो—

सोना छाई सोना छाई सोना छाई।
नाहीं चाही नाहीं चाही, नाहीं चाही।
आँख मुँदे पर कुछ नाहीं कुछ नाहीं कुछ नाहीं।

(सब ज़ोर से दुहराते हैं)

गुरु—यह आई तारिणी ! आओ, आओ, यह लो आशीर्वाद। तुम्हारी चिन्ता नहीं, तुम बहुत आगे बढ़ी हो। तुम लोग स्त्री हो, तुम्हारी भक्ति सरल है। उसे देखकर पुरुष लोग शिक्षा ग्रहण करें।

(तारिणी पैर के पास एक जोड़ी बाली रख बहुत देर तक माथा टेके रही)

गुरु—(हाथ में घुमाते हुए) बड़ी भारी है—यह बन्धन मन को खूब दबाये हुए था। जाओ इतने दिनों पर तुम्हारे हाथ से बेड़ी कटी। यह बेड़ी लोहे की बेड़ी से भी बहुत कठोर है। क्यों ठीक है न ?

तारिणी—बहुत ठीक बाबा। मालूम पड़ता है जैसे थोड़ा-सा मांस काट लिया है।

गुरु—मांस नहीं, मांस नहीं, मोहपाश। सभी ग्रंथियाँ अलग होने लगीं, उसके बाद क्रम-क्रम से—

तारिणी—नहीं बाबा, और नहीं हो सकेगा। लड़की के विवाह के लिए सास के समय के गहनों को यत्न से रख दिया है।

गुरु—(थैली में दोनो बालियों को डालते हुए) अच्छा अच्छा, इस समय इतना ही सही। तुम लोग सब बोलो—सोना छाई इत्यादि।

(सब दोहराते हैं)

गुरु—क्यों रे बलदेव, क्या ख़बर है ?

बलदेव—(पाँव के पास हज़ार रुपए का नोट रख) ख़बर स्वयं आँख से देख लीजिये हज़रत।

गुरु—भला, भला, दिल तो खुश हय ?

बलदेव—पहले तो बहुत घबड़ा गया था। रात भर मेरी जीवात्मा ने हज़ारों दफे बताया कि कुछ नहीं, कुछ नहीं, यह तो सिर्फ़ काग़ज़ है, हवा से उड़ जाता, आग से जल जाता, पानी से गल जाता, इसकी क़ीमत तो कौड़ी से भी कम है। लेकिन आत्माराम बराबर गड़बड़ करते थे। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यह काग़ज़ गुरुजी के पाँव पर रखने लायक एकदम नहीं है—इससे दो-एक रुपया ही अच्छा है। पर सवेरे जब दो लोटा भर भांग पी ली, तब सब दुरुस्त हो गया। मेरा दिल इस काग़ज़ की तरह हलका हो गया।

गुरु—जीते रहो बाबा, परमात्मा तेरा भला करे। सभी बोलो—

नोटों को मारो लात, मारो लात, मारो लात—
वह सब खरपात, खरपात, खरपात—
राख होय उड़ जात, उड़ जात, उड़ जात।

(दोहराते हैं)

गुरु—आज फ़कीर दीख नहीं रहा है।

बलदेव—एक औरत फकीरचन्दजी को आपनी साथ लेके आई है। नया आदमी, हमारा मालूम दिया कि भीतर आके चिल्लायेगी—इस वास्ते दोनों को बाहार खड़ा रखा है। हुकुम मिलने से ले आयगा।

गुरु—सर्वनाश हो गया। औरत! अरे लाओ, लाओ, अभी लाओ। यहाँ पर एक अच्छा आसन लगा दो, छोकड़ी हाथ से निकलने न पाये।

(फ़कीर के साथ पुष्प का प्रवेश)

गुरु—आओ आओ, आओ। मुख देखने से ही पता चलता है कि दैव वाणी का वाहन होकर आई हो।

पुष्प—ग़लत समझा है। मैं राख फेंकने का टूटा पात्र होकर आई हूँ। मेरे साथ जिन्हें देख रहे हैं, इन सा बड़ा विशुद्ध राख का ढेर अंगरेजी-राज में और नहीं पायँगे। हो सकता है कि किसी दिन उनमें पैतृक सोने का थोड़ा आभास था—अब गुरु के आशीर्वाद से चिह्न तक नहीं है।

गुरु—इन सब बातों का क्या मतलब है?

पुष्प—मतलब यह कि इनके बाप ने इन्हें त्याग दिया है, ये अपनी स्त्री का त्याग करने जा रहे हैं। अब इन्हें एक पैसे का भी सहारा नहीं है। सुना है आपके पास सब प्रकार के आगन्तुकों के लिए स्थान है, इसलिए ये आपके श्रीपादपद्म में रहेंगे।

फ़कीर—एँ, यह सब क्या कहती हो पुष्प दीदी? वह जो सोने का हार लाई हो, उसे गुरु-चरण में नहीं रखोगी?

पुष्प—जरूर रखूँगी। (गुरु के हाथ में दे) अब तो तृप्त हुए?

गुरु—(हार को हाथ में ले वज़न का अंदाज़ कर) मेरी तो यत् सामान्य में ही अति तृप्ति है। पत्रं पुष्पं फलं तोयं।

फ़कीर—प्रभु भूल नहीं करेंगे, वह मेरा ही दान है।

पुष्प—भूल-सुधार बहुत ज़रूरी है, नहीं तो आसन्न विपत्ति की संभावना है। इनके पिता विश्वेश्वर बाबू ने पुलिस में ख़बर दी है, कि उनका हार चोरी गया है। तलाशी लेने के लिए मखलूक़गंज के बड़े दारोगा दबीरुद्दीन साहब अभी आते ही हैं।

गुरु—(खड़े होकर) कैसी बला है!

पुष्प—कोई भय नहीं, अभी सब सोने को भस्म कर डालिये, पुलिस की एक बड़ी बेवकूफ़ी साबित होगी।

गुरु—(कातर स्वर में) बलदेव!

बलदेव—(लाठी घुमाते हुए) कुछ परवाह नहीं भगवान। आप तो परमात्मा हो, आपको हुकुम से हम लड़ाई करेंगे।

मथुर—गुरुजी, उसके भरोसे न रहियेगा। उसकी भाँग का नशा अभी नहीं टूटा है। लाल पगड़ी देखते ही टूट जायगा। आप अभी भागिये। क्या जाने यह नोट परमात्मा के भरोसे पर वह अपने किसी मुनीम का बक्स तोड़कर लाया हो!

गुरु—एँ, क्या कहते हो मथुर? कहाँ भागूँ? वे तो मेरे डेरे का पता जानते हैं। इस झोली को क्या तुममें से कोई रखेगा?

सभी—कोई नहीं, कोई नहीं।

तारिणी—मेरी बालियों की जोड़ी लौटा दो।

गुरु—अभी, अभी। और बलदेव, तुम अपना नोट लो बाबा।

बलदेव—अभी तो न ले सकेंगे। पुलिस चला जाने से पीछे लेऊँगा।

पुष्प—अच्छा, मेरे हाथ में झोली दीजिये। पुलिस का अफसर मेरा परिचित है। इसमें जिसकी-जिसकी चीजें हैं सबको लौटा दूँगी।

मथुर—अरे बाप रे, सिपाही है सिपाही। आज किसी का छुटकारा नहीं।

गुरु—सिपाही। सर्वनाश! (ऊर्ध्वश्वास के साथ) मैं चला। मोटर है?

एक आदमी—है।

फ़कीर—(पैर पकड़कर) मैं तो आपका संग नहीं छोड़ता।

गुरु—दूर हो दूर! छोड़, कहता हूँ छोड़। दरिद्र, अभागे!

फ़कीर—तो हमारी क्या दशा होगी? हम कहाँ जायँगे?

गुरु—मेरी तरफ़ से जहन्नुम में जाना। (जल्दी से भागता है)

विपिन—ऐ मा, इस झोली में मेरी मोहर है।

निताई—और मेरा बाजूबंद है।

पुष्प—ये लो।

सभी—तुम्हीं ने बचाया मा, शरीर में प्राण आये।

बलदेव—माईजी, वह नोट हमको दे दीजिये। आफ़िस के वक्त में थोड़ी देर है।

पुष्प—यह लो, ठीक जगह पहुँचा दोगे न?

बलदेव—जरूर। परमात्मा जी तो फरार हो गया, सिवा मुनीम और डाकू के दूसरा लेनेवाला कोई है नहीं। मालूम था कि नोट भस्म हो जायगा, उसका पता नहीं मिलेगा, मेरा पुण्य और पुलिस का दण्ड फरक रहेगा। अभी देखता हूँ कि हिसाब की थोड़ी ग़लती थी। (प्रस्थान) हर-हर, बम-बम।

पुष्प—फकीर भैया, माथे पर हाथ रख सोच क्या रहे हो? गुरु की पद-धूलि तो अठारह आने मिली है। अब घर चलो।

फ़कीर—नहीं जाऊँगा।

पुष्प—कहाँ जाओगे?

फ़कीर—रास्ते में।

पुष्प—बहुत अच्छा, छान्दोग्य तो लाओगे!

फ़कीर—वह तो मेरे पास है।

पुष्प—किंतु तुम्हारे गुरु?

फ़क़ीर—मेरे अंतर में हैं।

पुष्प—और अंडे का छिलका ?

फ़क़ीर—वह गमछे में बँधा मेरी छाती के पास झूल रहा है। (प्रस्थान)

पुष्प—(पीछे से) सोयमात्मा चतुष्पात्।

(हैम का प्रवेश)

तुम विश्वास न कर सकीं ? यह लो अपना हार।

हैम—और मेरा आदमी ?

पुष्प—वह चारो पैर फटकार कर भागा है।

हैम—उसके बाद ?

पुष्प—लंबी डोरी है।

हैम—किंतु भय हो रहा है।

पुष्प—तुम चिल्लाओ मत। क्या जानवर थोड़ा चरने बाहर भी न जाय !

हैम—छांदोग्य लेकर जब वे निकल गये तभी समझी कि लौटेंगे नहीं। मंडूक माने मेंढक समझी।

पुष्प—हाँ।

हैम—वे आजकल कहने लगे हैं, मनुष्य की आत्मा मेंढक है। वह जब अन्तर में टर्राने लगता है, तभी जाना जाता है कि वह परमानन्द में है।

पुष्प—वही सही, उसकी आत्मा देश-विदेश में पुकारती फिरे और तुम्हारी आत्मा का मेंढक अभी थोड़े दिनों के लिए सो ले

हैम—पर मन जो हाय-हाय करेगा ! उससे तो मेंढक का टर्राना ही अच्छा है।

पुष्प—घबड़ाओ मत, तुम्हारे मांडूक्य को लौटा लाऊँगी।

तृतीय दृश्य

षष्ठीचरण। पुष्प।

षष्ठी—बेटी। बेटी, अब तुम्हारा ही आसरा है।

पुष्प—महल्लेवालों से पता लगा है, कि तुम्हारा लड़का माखन सात वर्ष से भागा हुआ है—संसार की दुनाली बंदुक उसकी छाती में लगी है, कष्ट अभी भी भूल नहीं सका है। एक विवाह करने से पुरुष का पैर ज़मीन पर नहीं पड़ता, स्त्री के माथे के ऊपर सवार रहता है, और दो विवाह करने पर दो जोड़े पायल उन लोगों की पीठ पर बजते रहते हैं—मेरु दण्ड टेढ़ा हो जाता है।

षष्ठी—तुम क्या नहीं जानती बेटी। नवग्राम से मखलूगंज तक के सभी गाँवों को तुमने जीत लिया है। विधाता निष्ठुर है, इसीलिए तुम्हें उसके शासन को मुलायम करना पड़ता है।

पुष्प—नहीं ताऊजी, बढ़ाकर मत कहो। मैं तो बहार लूटने आई हूँ—किताब पढ़ने के कारागार से छुट्टी मिली है। यह देखने आई हूँ कि अपने पैरों बेड़ी और अपने गले में फाँसी लगाने के लिए मनुष्य के दोनो हाथ किस प्रकार कुलबुलाते रहते हैं। यह न होने से संसार

का खेल जमता भी नहीं। भगवान, जान पड़ता है, रसिक आदमी हैं, और हँसना पसंद करते हैं।

षष्ठी—नहीं बेटी, सब अदृष्ट है। हाथों-हाथ देखो न! बड़ी बहू को संतान नहीं हुई। सोचा पिंड न पा पितृगण वैतरणी-तीर पर तड़पकर मर जायँगे। और धैर्य न रहा, माखन की दूसरी शादी कर दी, देखते-देखते दोनो ही पक्ष के कल्याण से एक-एक कर चार लड़कियाँ और तीन लड़के हमारे घर में अवतीर्ण हुए।

पुष्प—अब तो पितृगण को अजीर्ण के रोग की आशंका होती है।

षष्ठी—बेटी, तुम में सब अच्छा है, केवल एक बात बड़ी खटकती है, ऐसा लगता है जैसे तुम देवता-ब्राह्मण मानती ही नहीं।

पुष्प—बात सही है।

षष्ठी—क्यों बेटी, तुममें यह खामी कैसी रह गई है।

पुष्प—संसार में देवता-ब्राह्मण के अविचार के विरुद्ध ही जिन्हें लड़ाई करनी पड़ती है, यदि वे ही उन्हें मान लें तो उनके पक्ष को बल नहीं मिलता। वे सब बातें पीछे होंगी, अभी तो माखन की खोज में हूँ।

षष्ठी—बेटी, तुम जानती तो होगी, कि वह किस प्रकार हा-हा-ही-ही करता फिरता था, केवल खेल-कूद, केवल हँसी-मजाक। डर लगता था कहीं कुछ कर न बैठे! इसीलिए तो उसके गले में एक लंगर के बाद दूसरा लंगर लगा दिया।

पुष्प—लंगर बढ़ते ही गये, और अब भार से नौका ही के डूब जाने की संभावना है। मैं तुम्हारे महल्ले में हैमी की खोज में आई हूँ। सुना है वह तुम्हारे यहाँ ही है।

षष्ठी—हाँ बेटी, इतने दिन मैं नाम का ही मामा था। उसकी शादी के बाद से यहीं उसे देखा। उसके मधुर स्वभाव से छाती जुड़ा गई। उसका स्वामी भी भागा है। क्या हुआ। कहो तो। कांग्रेसवाले क्या इस विषय में कुछ न कर सके।

पुष्प—यदि महात्माजी से कहा जाय तो वे स्त्रियों को असहयोग-आन्दोलन में लगा देंगे और देश-भर में चूड़ियों की आवाज़ बन्द हो जायगी। तब गली के मोड़ पर बुद्धू हलवाई की दूकान में तेल की कढ़ी खा बाबुओं को आफिस दौड़ना पड़ेगा—और दो दिनों बाद ही सिक लीव की दरखास्त देना होगी।

षष्ठी—ग़ज़ब हो जायगा।

पुष्प—चिन्ता मत करो, स्त्रियों की ओर से मैं महात्माजी के दरबार में नहीं पहुँचूँगी। बल्कि रवि ठाकुर को पकड़ूँगी कि वे एक प्रहसन लिख दें।

षष्ठी—किन्तु रवि ठाकुर क्या आजकल लिख सकते हैं? मेरे साले के पास...

पुष्प—और कहने की ज़रूरत नहीं। बात सारे देश में फैल गई है। किन्तु चिन्ता नहीं, लेखक बहुत पैदा हो गये हैं। द्वादश आदित्य ही कहा जा सकता है।

षष्ठी—प्रत्युत लिखना ही यदि हो, मैं तो समझता हूँ आजकल स्त्रियाँ जैसा...

पुष्प—असह्य, असह्य। कुरता-पायजामा धारण करने के बाद से उनकी लाज-शर्म सब चली गई है।

षष्ठी—एक दिन कलकत्ता गया था, देखा औरतों ने ट्राम-बसों में ऐसी भीड़ कर रखी है...

पुष्प—कि बेचारे मर्द खाली गाड़ी पाने पर भी हिलना-डुलना नहीं चाहते।—वह बात अभी जाने दो—माखन के लिए चिंता मत करो।

षष्ठी—बहुत अच्छा। तुम्हारे ऊपर ही मार रहा।

(षष्ठी का प्रस्थान। हैम का प्रवेश)

हैम—सुना तुम आई हो, इसीलिए जल्दी-जल्दी दौड़ी आई।

पुष्प—धृतराष्ट्र अंधे थे, इसीलिए आँखों पर कपड़े बाँध गांधारी भी अंधी बनी। तुम्हारी भी वही हालत है। स्वामी दर-दर भटका और तुमने भागकर मामा के घर शरण ली।

हैम—मन नहीं लगता है बहिन, क्या करूँ! तुमने कहा था कि खोये धन को लौटा लाओगी!

पुष्प—थोड़ा धैर्य धरो—बंसी सावधान होकर फेंकी जाती है—एक को पकड़ना चाहती हूँ, चारा लगाते-लगाते दो हाजिर हो जाते हैं।

हैम—मुझे तो दो की ज़रूरत नहीं है।

पुष्प—समय देखते एक-दो अधिक हाथ में रखना ही अच्छा है। कौन जानता है कौन-सा कब खिसक जाय।

हैम—अच्छा, एक बात पूछती हूँ, मैंने देखा समाचार-पत्र में तुम्हारे नाम से एक विज्ञापन निकला है...

पुष्प—हाँ वह मेरी ही कीर्ति है।

हैम—उसमें लिखा है—प्राइवेट सिनेमा के सेतुबंध नाटक के लिए पात्र चाहिये, हनुमान का पार्ट अभिनय करना होगा। पर तुम्हारा सिनेमा कहाँ है?

पुष्प—तुम सबों को लेकर यह चारो ओर सिनेमा ही तो है।

हैम—वह तो समझी, पर इसमें हनुमान का अभाव कब से हुआ?

पुष्प—घर-घर में दल पूरा है। एक पगला पूँछ उठाकर भागा है, उसे पुकार रही हूँ।

हैम—उत्तर मिला है?

पुष्प—मिला है।

हैम—उसके बाद?

पुष्प—रहस्य अभी नहीं खोलूँगी।

हैम—जो इच्छा हो करो, पर मेरे प्राणी को अधिक दिन छुट्टा मत छोड़ो। यह कौन आता है भाई, दाढ़ी-मूँछ झूलता हुआ चेहरा—उसे भगा देने को कहूँ।

पुष्प—नहीं-नहीं, बल्कि तुम जाओ, मैं उसके साथ निपट लूँ।

(हैम का प्रस्थान। उस आदमी का प्रवेश)

पुष्प—तुम कौन हो?

वह आदमी—वह तो आरंभ से ही—जन्म-काल से ही प्रकाश-योग्य नहीं है। मैं विधाता की कुकीर्ति हूँ, हाथ की कारीगरी का जो नमूना उन्होंने दिखया है, उससे उनका सुनाम नहीं हुआ।

पुष्प—बात तो बुरी नहीं लगती।

वह आदमी—अर्थात् मज़ेदार लग रही है। इसी गुण से तो बच रहा हूँ। प्रथम धक्के को सँभाल लेने ही से लोगों को मज़ा मिलने लगता है। मैंने लोगों को ख़ूब हँसाया है।

पुष्प—किंतु सब जगह तो मज़ा नहीं मिलता।

वह आदमी—तुम्हें सब ख़बर है। तब अब और छिपाने से क्या लाभ? मेरा नाम श्री माखनचंद्र है। यह तो समझती ही हो कि रामलीला पार्टी की सरकारी मूँछ-दाढ़ी पहनकर क्यों आया हूँ? इस महल्ले में मुँह दिखाने का साहस नहीं है, पीठ दिखाने का ही अभ्यास हो गया है।

पुष्प—फिर आये ही क्यों?

माखन—हिलसा मछली पकड़नेवालों के साथ नाज़ीरपुर जा रहा था। स्टेशन पर विज्ञापन देखा—हनुमान की आवश्यता। मछुए का काम छोड़ा। मछुए मुझे छोड़ना नहीं चाहते थे, वे मुझे बहुत चाहते हैं। मैंने कहा—भाई अगर मैं न जाऊँ तो इनके विज्ञापन के पैसे व्यर्थ जायँगे। और दूसरा कोई नहीं जिसमें इतनी बड़ी योग्यता हो। यह तो त्रेता-युग नहीं है।

पुष्प—मालूम होता है खाने-पहनने की कुछ तकलीफ़ हुई है।

माखन—बिलकुल झूठ तो नहीं हैं। जब केवल धनिये से बघार दी हुई अंडेवाली कई तरह की मछलियों के झोल की गंध-स्मृति अंतरात्मा के भीतर जाग उठती है, तब मेरे तबले की धाधी-धीना, नाधी-धीना, नाती-तीना, नाधी-धीना ताल-ताल पर दूर से ही मन जैसे कुलबुलाने लगता है।

पुष्प—वह तो समझती हूँ। इसीलिए पकड़ में आ गये हो।

माखन—नहीं, नहीं, मन अभी भी उतना सख्त नहीं हुआ है। आखिरकार विज्ञापन-दाता की खोज में आ जब मैंने देखा कि ठिकाना इसी आँगन की सीमा के भीतर है, तब सोचा विज्ञापन की मर्यादा रखूँ, और मारूँ एक छलाँग। किंतु आनन्द के लोभ में रह गया। प्रतिज्ञा की कि अंत तक देखूँगा। दीदी मेरी, किसी भी सूत्र में मुझे पहचानने में तुम्हें संदेह कैसे हो सकता है, नहीं तो ऐसा विज्ञापन तुम्हारे दिमाग़ में आता ही नहीं।

पुष्प—तुम्हारी मसखरी नाक की ख्याति महल्ले के हर आदमी की ज़बान पर है। तुम्हारा विज्ञापन तुम्हारी नाक के ऊपर है। विश्वकर्मा के हाथ से यह नाक दुबारा नहीं बन सकती—मन के क्षोभ से उन्होंने साँचे को तोड़ फेंका है।

माखन—इसी नाक के बल से एक बार बच गया हूँ दीदी। मदरूगंज में चोरी हुई; चौकीदार ने मुझे संदेह में पकड़ा। दारोगा बुद्धिमान् था, उसने कहा, यह आदमी किस साहस से चोरी करेगा—नाक कहाँ छिपायेगा? समझी दीदी, मेरी इस नाक से मसखरे का काम चलता है, चोर का तो एक दम नहीं।

पुष्प—किंतु तुम्हारे हाथ में जो केले का घौद है उसे तो मैं पहचानती हूँ। किस युक्ति से अपनी दोनो अन्नपूर्णाओं के घर से उसे निकाल लाये हो?

माखन—पेट की ज्वाला में उनके भंडार में चोरी करने का अभ्यास पहले से ही है।

पुष्प—इतना बड़ा घौद लेकर क्या करोगे? हनुमान के पार्ट की तालीम दोगे?

माखन—वह तो बचपन से ही दे रहा हूँ। रास्ते में देखा कि एक ब्रह्मचारी पाकड़ के पेड़ के नीचे बैठे हुए हैं। मेरी बुरी आदत के अनुसार मैंने उन्हें हँसाने की कोशिश की; पर होंठ का एक कोना भी हिला न सका, मंतर की आवृत्ति होती ही रही। भय हुआ कि शायद

ब्रह्म पिशाच है। किंतु मुख देखने पर पता चला कि हतभागा उपवास करने में तिथि विचार नहीं कर रहा है। उसके पंचांग में तीन-चार एकादशी एक साथ जमा हो गई हैं। पूछा--बाबाजी, कुछ खाओगे? आँख उठाकर बोले—गुरु की यदि कृपा हो। बीच-बीच में देखता हूँ, माथे के नीचे पोथी रख वे खर्राटे भी भर लेते हैं। नाक के शब्द से उस पेड़ पर एक भी चिड़ियाँ बाकी नहीं।। केले के घौद को उनके नाक के सामने रख आऊँगा।

पुष्प—उस आदमी का परिचय तो प्राप्त करना होगा।

माखन—जरूर-जरूर। हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जायेंगे, मुझसे भी मज़ेदार है।

पुष्प—अच्छा हुआ। हनुमान के साथ अंगद चाहिये ही? उसको तुम्हारे ही हाथ से तैयार करना होगा। केले के घौद तो इतने मँगवा लूँगी कि शिउड़ाफूली का हाट ही उजड़ जायगा।

माखन—केवल केले के घौद से काम नहीं चलेगा।

पुष्प—ठीक है। जिस कारखाने में तुम स्वयं तैयार हुए हो। वहीं के दो चक्केवाले यंत्र के नीचे उसे भी डालना चाहिये।

माखन—दयामयी, उस गरीब के प्रति इतनी हिंसा ठीक नहीं।

पुष्प—डर नहीं, मैं हूँ, हठात् अपघात नहीं होने दूँगी। संप्रति केले के घौद उसे दे आओ।

माखन—हमारे देश में स्त्रियों के रहते सन्यासी भूखों नहीं मर सकते। किन्तु उस आदमी ने भूल की है—वह वैरागी होने के लायक नहीं है—उसके चेहरे में बनावटीपन नहीं। केवल अपनी स्त्री के सिवा उसकी खातिरदारी करनेवाला और कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा।

पुष्प—फिर ऐसी सूरत लेकर तुमने छः वर्ष कैसे बिताये?

माखन—बिकने से बची तेल की बासी पूरियों पर हलवाई की दूकान पर मक्खियाँ उड़ाई हैं। अधिकारियों से जलपान में चबेना और सड़े केले पा रामलीला में भिश्ती भी बना हूँ। जब पुरुष लोग काम से बाहर चले जाते तो मौका पा औरतों को मा-मौसी कह पंचालिका भी सुनाई है—ऐ भाई जानकी को ले जाओ वन... ऐ हे लक्ष्मण, यह क्या कुलक्षण, विपद पड़ा है विलक्षण। और यों मा-बहनों की आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित कर दो-चार दिनों का सामान उठा लाया हूँ। मुझे सभी चाहते हैं। यदि बड़ी मा मेरी दो शादियाँ न करती तो मेरी अपनी स्त्री भी शायद मुझसे प्रेम करती। बाहर से तुम नहीं समझ सकती, कितने थोड़े में ही मेरा मन भी द्रवित हो जाता है। यह देखो, अभी तुमको मा अन्नपूर्णा कहने की इच्छा हो रही है।

पुष्प—बहुत अच्छा, मेरे नातियों की संख्या बढ़ चली है, दीदी का पद बहुत अधिक भारी हो गया। अच्छा, मैं पूछती हूँ तुम्हारा मन क्या कहता है?

माखन—तब मैं साफ-साफ कहता हूँ। बहुत दिनों के बाद जब इस महल्ले के पास आया तो राँधने की गंध से प्रथम दिन ही आफत में पड़ गया। उस दिन हमारे रसोई-घर में पाक बन रहा था—सच कहता हूँ, बड़ी बहू का मुँह खराब है, किंतु पाक-विद्या में वह निपुण है। उस रोज़ हवा सूँघ-सूँघकर मकान के इर्द-गिर्द सारे दिन चक्कर काटता रहा। उसके बाद से अर्ध भोजन के आकर्षण से इस महल्ले को छोड़ना मेरे लिए असाध्य हो गया। बार-बार याद आ रही हैं कितने दिनों की कितनी गालियाँ और कितनी तरकारियाँ।

एक दिन मैंने कसम खाई थी, कि इस घर में और प्रवेश नहीं करूँगा। बस कल प्रतिज्ञा तोड़ी है।

पुष्प—किस चीज़ से टूटी ?

माखन—ताड़ के बड़े की गंध से। तड़पते हुए दिन काटा। रात में जब सब सो गये, बाहर से चिटखनी खोल घर में घुसा। खट से आवाज़ होते ही मेरी छोटी स्त्री एक हाथ में दिया और एक हाथ में डण्डा ले कमरे में घुस पड़ी। मुँह पर कालिख लगाकर आया था, मेरे जोर से दाँत निकाल 'हाऊँ-माऊँ-खाऊँ' करते ही वह गिर पड़ी और मुच्छित हो गई। बड़ी बहू एक बार झाँककर ही भाग खड़ी हुई। मैंने बैठकर भरपेट भोजन किया और दौरी सहित बड़े ले, बाहर चला आया।

पुष्प—पतिव्रताओं के लिए कुछ प्रसाद नहीं रख आये ?

माखन—ढेर-सी पैर धूलि रख आया हूँ, और सब बड़े लाया हूँ, अपने दलबल को खिलाने के लिए।

पुष्प—अच्छा, तुमसे एक बात पूछती हूँ, सच कहोगे ?

माखन—आफत में पड़ने के सिवा मैं कभी झूठ नहीं बोलता।

पुष्प—लोग कहते हैं, कि काशी जाकर, तुमने एक और विवाह किया है।

माखन—किया है।

पुष्प—क्या पीठ खुजला रही थी ?

माखन—नहीं तो, मेरी रग-रग जानती है, कि दो विवाह कैसे होते हैं। मरने के पहले यह जान लेने की बड़ी इच्छा हुई कि एक विवाह कैसा होता है।

पुष्प—जान गये ?

माखन—अधिक दिन नहीं जान सका। भाग्यवती थी न, स्वामी के जीते ही, पुण्य-फल के साथ सवेरे-सवेरे चल बसी। घूँघट भर खुला था। किन्तु अच्छी तरह से चेहरा खिलने का तब समय नहीं हुआ था। बचे रहने पर भाग्य में क्या होता, नहीं कहा जा सकता।

पुष्प—किसके भाग्य में ?

माखन—वह भी एक कहानी है।

चतुर्थ दृश्य

[निद्रा-मग्न फ़क़ीर। मुख के पास केले का एक घौद। जगकर केले के घौदे को उठा हिला-डुलाकर देखता है]

फ़क़ीर—अहा, गुरुदेव की कृपा। (घौद को माथे से लगा, आँख बंद कर) शिवोहं, शिवोहं, शिवोहं। (एक-एक कर करीब दस केलों को खा दीर्घ निश्वास छोड़) अः !

(माखन का प्रवेश)

माखन—कहो भैया, अच्छे तो हो ! मेरा नाम श्रीमाखनानंद है।

फ़क़ीर—गुरु के चरणों का भरोसा है।

माखन—गुरु खोजते ही तो मर रहा हूँ। सद्गुरु मिलता ही नहीं। क्या दया होगी ? क्या कुपात्र को स्वीकार करेंगे ?

फ़क़ीर—सोच मत करो, समय होने दो पहले।

माखन—(रोने के सुर में) मेरा समय नहीं होगा प्रभु, नहीं होगा। दिन तो गया! मैं बड़ा पापी हूँ। मेरी क्या गति होगी?

फ़क़ीर—गुरु-पद में मन स्थिर करो—शिवोहं।

माखन—जब इस पद में ही मेरी नौका लगी, तो भय से अब यम भी पास न आ सकेगा।

फ़क़ीर—तुम्हारी निष्ठा देख बहुत संतुष्ट हुआ।

माखन—केवल निष्ठा नहीं गुरु, ताड़ के थोड़े बड़े भी लाया हूँ। तालवृक्ष का भी उद्धार हो जाय।

फ़क़ीर—(व्यग्र भाव से खाते हुए) अहा ख़ूब स्वादिष्ट हैं। भक्ति का दान है न!

माखन—मेरा निवेदन सार्थक हुआ। घर की स्त्रियाँ खबर पा अवश्य ही ख़ुशी होंगी! जाऊँ उन्हें संवाद भेज दूँ, वे कुछ और भेंट भी लायेंगी। प्रभु, गृहस्थाश्रम में क्या फिर नहीं लौटेंगे?

फ़क़ीर—और क्यों? गुरु कहते हैं—वैराग्यं एवं भयं।

माखन—मैं गृही हूँ, सिर से पैर तक दाहिने-बाँये माया-जाल जकड़े हुए हैं। धन-दौलत और सोने का किला कितना बड़ा धोखा है, यह मैं अच्छी प्रकार समझ गया हूँ। यह भी समझा हूँ कि वह बिलकुल स्वप्न है। भगवान मुझे किंचन बनाकर दर-दर घुमायेंगे, यही तो मेरी दिन-रात की साधना है; किंतु वह सब तो होता नहीं, एक उपाय बता दीजिये।

फ़क़ीर—उपाय अवश्य है।

माखन—(पैर पकड़कर) बता दो, बता दो, वंचित न करो।

फ़क़ीर—दिन भर उपवास करने से लेकर...

माखन—उपवास! सत्यानाश! उसका बिलकुल अभ्यास नहीं। मेरे दुष्टग्रहों ने दिन में चार बार आहार जुटाकर अंतर को एक दम ठोस कर दिया है। और कोई रास्ता यदि...

फ़क़ीर—अच्छा दो चपातियाँ...

माखन—और थोड़ी दया यदि करें, दो कटोरे खीर!

फ़क़ीर—अच्छा ले सकते हो।

माखन—अहा, प्रभु की क्या करुणा? अगर पैर दबाता हूँ तब पाठा भी...

फ़क़ीर—नहीं, नहीं, ठहरो।

माखन—अच्छा जाने दीजिये! एक ही दिन में बहुत-सी चीज़ें नहीं खानी चाहियें। तब क्या करना होगा कहिये। देखिये मैं मूर्ख आदमी हूँ, अनुस्वार-विसर्गवाला मंतर मुख से नहीं निकलेगा—क्या कहना चाहिये, क्या कह बैठूँगा, अंत में दोष होगा।

फ़क़ीर—चिन्ता मत करो, तुम्हारे लिए सरल ही बना देता हूँ. गुरु की मूर्ति स्मरण कर सारी रात जप करोगे, सोना तुमको ही दिया, तुमको ही दिया, जब तक तुम्हारे ध्यान में यह नहीं आ जाय कि, सोना और नहीं, कहीं भी नहीं।

माखन—होगा होगा प्रभु, इस अधम से भी होगा। बोलूँगा, सोना नहीं सोना नहीं, इस हाथ में नहीं उस हाथ में नहीं, कमर में नहीं, थैली में नहीं, बैंक में नहीं, बक्स में नहीं। मंत्र ठीक सुर में बजेगा। अच्छा गुरुजी, उसके साथ एक अनुस्वार लगा देने से नहीं होगा?

नहीं तो बिलकुल ठेठ हिन्दी जैसा सुन पड़ता है। अनुस्वार देने से ज़ोर मिलता है—सोनां नहीं, सोनां नहीं, कुछं नहीं, कुछं नहीं।

फ़कीर—बुरा नहीं सुन पड़ता।

माखन—अच्छा, तब अनुमति हो, पुलाव ठंडा हो चला है!

(प्रस्थान)

फ़कीर गाता है—

सुन रे सुन, अबोध मन,—
सुन साधु की उक्ति जिससे होवे मुक्ति
वही सुयुक्ति कर ग्रहण।
भव की शुक्ति तोड़ मुक्ति मुक्ता करो अन्वेषण।—
ऐ रे मेरे भूले मन।

(षष्ठीचरण दौड़ आकर)

षष्ठी—देखूँ देखूँ, यही तो मेरा बबुआ—मेरा मखान। (मुँह पर हाथ फेर) ऐसा चाँद-सा मुखड़ा दाढ़ी-मूँछ से एक दम ढक दिया है! एक तो भगवान ने मेरी आँखों में बुढ़ापे का पर्दा लगा दिया है, अच्छी तरह देख भी नहीं सकता, उसके ऊपर तुमने यह क्या किया है माखन?

फ़कीर—सोहं ब्रह्म, सोहं ब्रह्म, सोहं ब्रह्म।

षष्ठी—क्या किया है दादू, मंतर पढ़-पढ़कर ऐसे मीठे गले को कर्कश बना लिया है। सुर मोटा हो गया है!

फ़कीर—शिवोहं, शिवोहं, शिवोहं।

(वामनदास बाबू का प्रवेश)

वामनदास—अरे अरे, हमारा माखन है क्या? अरे वही तो है! ऐ षष्ठी भैया, योग-बल मानना ही पड़ेगा—नाक के ऊपर से मस को एकदम साफ़ उड़ा दिया है। पंडित, देखते जाओ भाई, नाक के ऊपर क्या मंतर का निशाना लगाया था! थोड़ा चिह्न तक नहीं बचा! षष्ठी भैया, इस नाक को लेकर तुमने कितना झाड़-फूँक किया था, थोड़ा भी हटा नहीं सके थे। तपस्या का माहात्म्य है!

षष्ठी—नहीं भाई, मुझे माहात्म्य अच्छा नहीं लग रहा है। तुम लोग जिसे गैंडे की नाक कहते थे, वही अच्छी थी।

निशि ठाकुर—इसका चेहरा सिर्फ़ बदल गया है और तो कोई ख़ास बात नहीं है। जान पड़ता है मुनी होकर साधारण बोल-चाल की बातें भी भूल गया है।

भजहरी—देखूँ देखूँ मखना, मुँह देखूँ (चिकोटी काट चमड़ा खींचकर) ना रे, यह नकाब नहीं है। गजब कर दिया!

निताई—कन्नू, जटा खींचकर देखो तो उसकी दाढ़ी-मूँछ सची है या नहीं!

फ़कीर—ओः ओः!

चंडी—(पीठ ठोककर) कैसा मालूम हुआ?

फ़कीर—ओः!

चंडी—यही तो सन्यासी का सुख-दुःख-बोध है न ? माथे पर हुक्के का जल डालूँ तभी—माथा ठंडा हो।

षष्ठी—ओह, उसे तंग क्यों करते हो भाई ? सात वर्ष पर वापस आया है, देखता हूँ सब मिलकर फिर उसे भगाओगे। माखन, ऐ भाई माखन, और दुःख मत दो—कुछ बात करो ; नहीं तो दो गालियाँ ही सही।

फ़कीर—आप लोग मुझे माखन कहकर क्यों पुकारते हैं ? पूर्व आश्रम में मेरा नाम चाहे जो हो, मेरा गुरुदत्त नाम है चिदानन्द स्वामी।

(सबों का ज़ोर से हँसना)

चंदू—अरे बाबा, हमारे त्राणकर्त्ता आये। देख मखना चालाक न बन। सोचता है इसी तरह फिर धोखा देकर भागूँगा। वह होने का नहीं ; तुम्हारी दोनो स्त्रियों के हाथ तुम्हारे दोनो कान पकड़वा दूँगा, और कड़े पहरे में पड़े रहोगे।

फ़कीर—गुरो, हाय गुरो !

(दो स्त्रियों का प्रवेश)

प्रथम—यह देखो, मुँह-आँख बदलकर आये हैं हमारे कलयुगी नारद।

फ़कीर—मा, तुम्हारी अधम संतान हूँ, मेरे ऊपर दया करो।

सभी—अरे, यह क्या किया ! प्राण के डर से मा कह दिया ?

प्रथम—ऐ दाढ़ीजार, तू मा किसे कहता है ?

द्वितीय—अन्धा हो गया है। मरता भी नहीं !

फ़कीर—थोड़ा गौर से मुझे देख लीजिये।

प्रथम—तुमको देखते-देखते आँखें फूट गई हैं। तुम अबोध बच्चा नहीं हो, नये जन्मे हुए भी नहीं हो। तुम्हारे दूध के दाँत कभी के गिर गये हैं, तुम्हारी उम्र कोई पेड़-पहाड़ है ? तुम्हें यम भूल गया है, इसलिए क्या हम भी भूल जायँगी ?

द्वितीय—(नाक मसलकर) नाक के सामने से साची को विदा कर दिया है। उससे हम लोगों को धोखा नहीं दे सकोगे—तुम्हारी धोखेबाजी हम ख़ूब जानती हैं। भाई रे भाई, यह देखो—हमारी ताड़ के बड़ेवाली दौरी।

प्रथम—तभी रात को गये थे भूत बनकर बड़ा खाने !

द्वितीय—चौबेजी, यह देख लीजिये—हज़रत रसोईघर में घुस बड़ों के साथ-साथ हमारी दौरी भी चुरा लाये हैं।

(सबों का हँसना)

कानूराम—क्या यही है, योगबल, भंडार से उड़ा लाया है।

षष्ठी—ऐ बेटी, उसे भला-बुरा क्यों कह रही हो ? घर के बड़े अगर घर का ही आदमी ले आये तो क्या उसे चोरी कहेंगे ?

प्रथम—भलेमानुस की तरह अगर लेता तो कोई हर्ज़ नहीं था—भाई रे वह दाँत कटकटाना। मेरे तो दाँत लग गये।

षष्ठी—भाई माखन, यह तो अच्छा नहीं किया—चुपचाप मुझे क्यों नहीं कहा ? ताड़ के बड़ों की कमी ही क्या है ?

[३१६

फ़कीर—गुरो।

द्वितीय—(केले के घौद के बाकी अंश को उठाकर) यह देखिये आप लोग, भंडार में ब्राह्मण-भोजन कराने के लिए रखी थी। सवेरे जगने पर देख न सकी। दरवाजा भी खुला नहीं था, डर से घबड़ा गई। हमारे इस महापुरुष की कीर्ति है। केला चुरा धर्म-कर्म चलाते हैं!

षष्ठीचरण—(खूब बिगड़कर) देखो, यह मैं कभी भी बरदाश्त नहीं कर सकता। इन दो डाइनों को घर से निकाल देना होगा, नहीं तो अपने माखन को टिका नहीं सकूँगा। देख रहे हो न माखन? तुमने अपनी भलमनसी से दोनो बहुओं को किस प्रकार बिगाड़ दिया है!

फ़कीर—सर्वनाश। आप लोग भारी भूल कर रहे हैं। आप सबों के पाँव पड़ता हूँ—मुझे बचाइये! हे गुरो, क्या किया तुमने!

षष्ठी—नहीं भाई, इनकार मत करो। दौरी तुम उनके घर से लाये, केले के घौद को भी निकाल लाये हो। उसमें तुमने अपराध नहीं किया—तब लज्जा किस बात की?

फ़कीर—दुहाई धर्म की, दुहाई आप लोगों की—मैं दौरी भी नहीं लाया, केले का घौद भी नहीं लाया।

षष्ठी—साफ दिखलाई पड़ता है कि तुम्हींने खाया है, क्यों इतनी जिद्द करते हो?

फ़कीर—खाया है, किन्तु—

वामनदास—फिर किन्तु किस बात की!

फ़कीर—मैं नहीं लाया।

(सबों का हँसना)

पाँचू—तुम खाओ ताड़ के बड़े, दें लाकर एक और महात्मा, यह भी तो कम मजेदार नहीं। उसे पहचानते नहीं?

फ़कीर—जी नहीं।

सिद्धू—वह तुम्हें नहीं पहचानता?

फ़कीर—जी नहीं।

नकुल—यही है आरब्योपन्यास।

(सबों का हँसना)

षष्ठी—जो होना था वह तो हो गया, अब घर चलो।

फ़कीर—किसके घर जाऊँ?

प्रथम—छीः छीः, घर नहीं पहचानते दाढ़ीजारे! कहती हूँ, हम दोनो को तो पहचानते हो?

फ़कीर—सच्ची बात कहता हूँ, रंज न होगी, मैं नहीं पहचानता।

सभी—इस आदमी की चालबाजी तुम नहीं समझोगी। जबर्दस्ती पकड़कर ले जाओ, ताला बंद कर रखना।

फ़कीर—गुरो।

(सबका मिलकर ठेला-ठेली)

उठो, कहता हूँ उठो। [३३

सुधीर—दोनो बहुओं से छुटकारा पाना चाहते हो उसका मतलब समझता हूँ; किंतु अपने लड़के लड़कियों को ? तुम्हारी चार लड़कियाँ तीन लड़के हैं, वह भी भूल गये हो क्या ?

फ़कीर—ओ आफत ! जान से मार डालो तो भी यहाँ से नहीं हटूँगा । (पेड़ की जड़ को जोर से पकड़कर) कभी भी नहीं ।

हरिश वकील—जानते हो मैं कौन हूँ ? पूर्व आश्रम में जानते थे । अनेकों साधुओं को जेल भिजवा चुका हूँ । मैं हूँ हरिश वकील । जानते हो तुम्हारी दो स्त्रियाँ हैं !

फ़कीर—यहाँ आकर पहले-पहल जाना ।

हरिश—और तुम्हारी चार लड़कियाँ, तीन लड़के ?

फ़कीर—आप लोग जानते हैं, मैं कुछ नहीं जानता ।

हरिश—इनके भरण-पोषण का भार अगर तुम नहीं लेते, तो अभी बता देता हूँ तुम्हारे ऊपर मुकदमा चलेगा ।

फ़कीर—बाप रे ! मुक़दमा ! पैर पड़ता हूँ थोड़ा रास्ता दीजिये ।

दोनो स्त्रियाँ—जाओगे कहाँ, किस चुल्हे में, यम के किस द्वार पर ?

फ़कीर—गुरो । (हत बुद्धि हो बैठ जाता है)

(हैमवती का प्रवेश और फ़कीर को प्रणाम)

फ़कीर—(उछलकर खड़े हो) यह कौन ! हैमवती ! बचाओ, मुझे बचाओ ।

प्रथम—वह देखो, उसकी वह काशीवाली स्त्री, मालूम पड़ता है अभी भी मरी नहीं !

(माखन के साथ पुष्प का प्रवेश)

माखन—बेउज्र पकड़ा ही दिया—लगाओ हथकड़ी । प्रमाण की आवश्यकता नहीं । एक दम सीधे नाक की ओर देखो । मैं हूँ माखनचंद्र । यही है मेरी डोरी और यही है मेरा घड़ा । मा अंजना, किष्किन्धा में तो घुसाया । कभी-कभी ख़बर लेगी । नहीं तो आफत में पड़ने पर फिर छलाँग मारूँगा ।

पुष्प—फ़कीर दादा, तुम्हारी मुक्ति कहाँ है वह तो अब समझ गये ?

फ़कीर—अच्छी तरह समझ गया—यह मार्ग और नहीं छोड़ता ।

पुष्प—बबुआ माखन, तुम्हारा खूब मजा है—तुम्हारे मौज में कोई बाधा नहीं दे सकेगा । ये दोनो भी नहीं ।

दोनो स्त्रियाँ—छीः छीः थोड़ी देर और न आने से तो आफत मच जाती ! (साष्टांग प्रणाम कर) आकर बचा लिया ।

शान्तिनिकेतन ।

गीत

[उदयशंकर भट्ट]

[श्री उदयशंकर भट्ट से 'हंस' के पाठक परिचित हैं। भट्टजी ने कविताओं के साथ ही साथ नाटक और कुछ सफल एकांकी भी लिखे हैं। जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण निराशावादी है। 'विश्वामित्र' के नाम से अभी हो आपका एक गीतिनाट्य प्रकाशित हुआ है। इन दिनों आप लाहोर के सनातन-धर्म विद्यालय में शिक्षक हैं।—सं०]

आज स्वप्निल प्राण में किसका छलकता प्यार आया
लघु सरित में महासागर का उछलता ज्वार आया

शशिमुखी मधु यामिनी परिधान नीला पहन आती
रवि मिलन उत्का लिये नित झाँकने उस पार जाती
हाय, प्रिय मिलने न पाता युग-युगान्त अनन्त बीते
तारिका के मिस विरह से दग्ध उसके प्राण जीते
देखती है निशा अन्तर में उषा हँसती खड़ी है
औ' उधर संतप्त यौवन विचुम्बित संध्या अड़ी है
ओस के मिस अश्रु पलकों से गिराती, लौट जाती
काश, युग-युग से उफनता दिल जलन को दिखा पाती!
दामिनी दिल की जलन ले बादलों को छान आती
पर कहाँ, शशि का सुखद मुख दिलजली वह देख पाती!
हाय, उस बूढ़े विधाता को दिये अधिकार किसने
दामिनी को घन, निशा को शशि दिये उपहार जिसने ?

किस मधुरके प्राण का इस विश्व ने अभिसार पाया!
आज सोये प्राण में किसका छलकता प्यार आया

हृदय में अपने छिपाये मदिर उषा-स्मृति निराली
चूमते घन दामिनी की पुलक पीत कपोल वाली
मत्त अलसित से नशे से गगन में घन घिर चले हैं
दिलजलों की साँस के अम्बार पानी से गले हैं!

मधुकरी कलि को छिपाये अंक में चुपचाप बैठी
देखती है भ्रमर-लीला मानिनी-सी आप ऐंठी
कुसुम रस पी मत्त-सी चल दी भ्रमर का प्यार पाने
और प्रणयी विश्व के उन्माद का अनुराग गाने
विधु विचुम्बित अधर गीले मुख-श्री ले रात आई
विरहिणी का धड़कता दिल मल नई बरसात लाई
बूँद में प्रत्येक आँसू के लिखी बीसों कहानी
और युग-युग के महा इतिहास भी जिसकी निसानी

आज उनका विरह-जीवन मिलन बन साकार छाया
आज सोये प्राण में किसका छलकता प्यार आया

आज कोकिल का नशीला कण्ठ क्यों गाता नहीं है
आज बादल उमड़ क्यों मधुधार बरसाता नहीं है
आज आँखें देखती हैं क्यों किसी को, भूल अपना
आज मेरा जागरण होता न क्यों वे अन्त सपना
कुसुम की लघु प्यालियों में मधु छलकता देख पड़ता
भ्रमर की गुंजार में संसार उड़ता देख पड़ता
दूध-सी निर्मल सरित में हास हँसता देख पड़ता
और प्रिय के मिलन में विश्वास बढ़ता देख पड़ता
यह तरंगिणि वेग से बढ़ती किधर, क्यों, जा रही है
क्यों उमंगों पर उठाये फेन-सा दिल ला रही है
उस अनन्त अपार मिलने को हृदय में प्यार भरकर
आज आया मिलन मेरा विरह की कटुहार भर कर

तृषित चातक के लिये शशि स्वयं बन उपहार आया
आज सोये प्राण में यह कौन छल-छल प्यार लाया

अर्जुन-नगर, लाहौर, १८-१-'३६ ।

ओ नारी !

[लीलावती]

[श्रीमती लीलावती बी० ए० अक्सर पत्रों में निबन्ध लिखा करती हैं। आपका यह छोटा-सा टुकड़ा छापते हमें प्रसन्नता है।—सं०]

ओ नारी ! तेरी सृष्टि किसने की ? हृदय की गूढ़तम व्यथाओं को चारों ओर से समेट-समेटकर अन्दर ही अन्दर उनको एक अभेद्य, अच्छेद्य आवरण में छिपाकर तुम बाहर से शान्त गम्भीर कैसे बनी रहीं ?

संसार समझ रहा है तुम बड़ी प्रसन्न हो। तुम्हारा हँस-हँसके बोलना, चारो ओर के अनन्त कार्य्यों को सुचारु रुप से चलाते जाना, इन्हीं प्रक्रियाओं से लोग समझते हैं कि तुम सुखी हो। पर जो अथाह महासागर तुम्हारे हृदय में हिलोरें ले रहा है, क्या उसकी एक भी बूँद बाह्य-जगत को स्पर्श कर पाई है। यह कैसे होता ? तुम तो इस कपटी स्वार्थ-मय संसार की उपेक्षा कर रही हो, इसे भुलावे में डाल रही हो। हँस-हँसकर इसे छलना चाहती हो। पर क्या यह सब तुम जान-बूझकर करती हो ? नहीं, तुम्हें यह कपट-व्यापार करना पड़ता है। तुमसे करवाया जाता है।

मन अशान्त है। व्यथाओं के थपेड़े उसे पग-पग पर डावाँडोल कर रहे हैं। पर दूसरों को प्रसन्न करने के लिए, कम से कम उनको अपने-अपने उचित स्थान पर बनाये रखने के लिए तुम्हें ज़बरदस्ती मुँह पर मुस्कराहट लानी पड़ती है। तुम्हारी उस समय की मुस्कराहट को देखकर उच्च-स्वर से रो उठने को जी चाहता है। आह ! उस मुस्कारहट के बदले में यदि तुम आँखों में आँसू ला पातीं ! फिर तुम्हारी अन्तर-व्यथा भी बहुत कुछ धुल जाती।

पर यह सब कैसे होता। फिर तुम नारी कैसे रहतीं ! नारी-नाम की सार्थकता तो इसी छल में है न ! हाँ तो नारी ! तू इसी रुप में रह ! अपने हृदय के दावानल की एक चिनगारी भी बाहर न फूटने देना। नहीं तो, नहीं तो, विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था ही कहीं उलट-पलट न जाय !

बाह्य-रूप वही प्रशान्त-गम्भीर, स्वयं मृत्यु जैसा। अन्तर में जो कुछ भी हो, उसके जानने या समझने का किसी को अवकाश नहीं है। बस तुम्हारा वही रूप ठीक है। तभी तुम नारी हो, ओ नारी !

दिल्ली।

अन्धकार का संगीत

[वीरेन्द्रकुमार]

फागुन की निस्तब्ध, उनींदी दोपहरी।
प्राणों को व्याकुल कर देनेवाली—निःशब्दता फैली है...
जन-रव के कोलाहल की रेख भी यहाँ आते-आते डूब चली है।
पके हुए गेहुँओं का निर्जन खेत दूर तक फैला है।
उस किनारे जामों के पीले हरे बाग़ हैं।
भूमि को छूते हुए पेड़ों पर काँप रही है दोपहरी की शून्यता,
नीचे उनके ख़ूब हरी-हरी सब्ज़ी लहलहा रही है।
कुएँ के धारे पर कोई नहीं है।
पास ही दो-चार बबूलों के ओट होता हुआ मिट्टी का घर है।
आधे हिस्से पर टिन छाये हैं—आधे पर खपरैल।
खपरैल पर फैली है कुम्हड़े की बेल।
निर्जन आँगन में दीख रहा है खुला दर्वाज़ा—
जिसमें से झाँक रहा है घर के भीतर का अँधेरा।
जी में उठ रहा है क्या वहाँ कोई नहीं है?
पर वह खुला दरवाज़ा—वह भीतर का अन्धकार?
मेरे प्राणों में वह चिरकाल का प्रश्न-दीप जल उठा—
'ओ अन्धकार तुम कौन हो—कौन हो?'
कि सहसा काँटों की बाड़ की ओर से निकल आई—
वह पीली ओढ़नी... !

उस दर्वाज़े के अन्धेरे में लीन हो गई पल भर में।

फिर घर का आँगन सूना था।

पर जाने कैसी नवचेतना की व्याकुलता वहाँ बिखर गई।

गेहूँ के पीले खेत में से हलकी-सी हवा सरर-सरर बह गई।

आम के बागों में चिरिर-चिरिर चिरकलियाँ बोल चुप हो गईं

बबूलों की विरल डालों में वन-टिटहरियाँ टीर-टीर कीर-कीर

कर उस प्रक्षुब्ध शान्ति को भंग कर गईं।

पर उस मिट्टी के घर का आँगन सूना ही है—

और वह दर्वाज़ा खुला है—

वहाँ सब शान्त, चुप, स्तब्ध है।

पर वहाँ उस घर के अँधेरे में से आकर

कौन-सा निशब्द संगीत मेरे प्राणों को व्यथित-व्याकुल कर रहा है—

इस फागुन की सूनी दुपहरिया में?

इन्दौर।

कला : जीवन

[वामन चोरघडे]

[अनु० प्रभाकर माचवे]

कॉलेज की दूसरी मंज़िल। वह लम्बी-चौड़ी चाँदनी। उस पार दिखाई देनेवाली बगीची और आसमान के दृश्य। इसके अलावा वह खिड़की, जहाँ बगीची पर से आनेवाली शीतल-समीर की पहली लहर आकर रुकती थी।

हमारे प्रिन्सिपल साहब ने उसी कमरे में अर्थशास्त्र पढ़ाने का प्रबन्ध कर ज़रूर बड़ा औचित्य दिखाया था, इसमें कोई सन्देह नहीं। अन्दर शुष्क विषय की चर्चा और बाहर प्रकृति व असमान के नेत्र-संकेत।

वह आषाढ़ के प्रथम चरण की बादल-वेला!

'अरी! पर मेरी वेणी तो छोड़ दे'—कान पर शब्द आये न आये, त्यों ही पुनः मेरा सारा ध्यान उसी ओर केन्द्रित हो गया। पाँच-छः लड़कियाँ बाग़ की गलीचे-जैसी हरियाली पर दिल चाहे वैसे खेल रही थीं। उन्हीं के पदांक उस गलीचे पर नक़्क़ाशी कर रहे थे। ज़रा काली-सी दिखनेवाली पगडण्डी। पर वह ताज़ी-ताज़ी, नरम-मुलायम, जीवनरस से भरी हरियाली—उसे गलीचा चाहे तो कह लो, पर वह बात नहीं आती।

ऊँचे-ऊँचे, छोटे-छोटे पत्तों के पेड़ों पर पीले-पीले, भड़कीले फूल उभरे आ रहे थे। नज़दीक में ही थी लताओं की जाली। उन पर के वे सुन्दर भरे-भरे कलियों के गुच्छे! लड़कियों की नज़र अभी उस पर नहीं गई थी, इसीसे वे फूले-फूले, बिहँसौंहे दिखाई दे रहे थे। और उन्हीं की वजह से वह लताओं की झुरमुट मानो जैसे जोशे-शवाब में नहाई नज़र आ रही थी।

अब घंटा ख़त्म होगा। बेल बजेगी। झटपट से लड़कियाँ इधर-उधर भागेंगी। कोमल-कोमल पत्तियों से सजे पीले-नीले फूल अब वे लड़कियाँ शीघ्रता से अपनी वेणी में लगायेंगी। जो हिन्दू-लड़कियाँ होती हैं वे सिर में फूल लगाती हैं। पर हम लोगों में ऐसा रिवाज़ नहीं। मुझे नीना की याद आई। उसे तो फूल हाथों में लिये खेलने-चलने का बड़ा शौक था। पड़ोस का गुलाब तो जैसे उसी की प्रतीक्षा कर रहा था। फूल भी कैसा खिल रहा था। पर कितना आतुर दीखा वह! हवा ज़रा सरसराई कि एकदम नाचने लगता। मानो वह नसीम उसे अपने ही साथ ले जायेगी।

वह फ़व्वारा! उस यकसाँ बिछी हुई हरियाली पर कैसा ख़ुशनुमा दीखता। उसके

मुझे वेसी के कान्तिमय मुख पर के दाईं ओर के तिल की याद हो आई। सारा बाग मानो गीला हो रहा था। आखिर पावस ऋतु ही ठहरी! और कितना सुन्दर था आज का दिन।

एक दम आकाश घटाओं से भर आया। काले-काले मेघ-पुञ्ज! सारा आसमान उन्होंने जैसे निगल लिया। सर्राटे का अन्धड़ उन्हें गति दे रहा था। वे एक दूसरे से चिपटकर मानो एक-रूप हो रहे थे।

पर यह सब थोड़ी ही देर के लिए था! अब मोती झरने लगे। वह धारा—मानो मोती की लड़ियाँ ही हों। सारा बाग जैसे जल-प्लावित हो गया। सारा प्रदेश पानी के फव्वारों से जैसे दूधिया बन गया।

कितना मनोहर वह दृश्य था। सब की सब लड़कियाँ कभी की भाग गई थीं। मेरा ध्यान कभी का उड़ गया था। उस खिड़की में से अतृप्त नेत्रों से मैं वह सब देख रहा था।—

कला बोली—'देख, और देख ले और देखता ही रह—'!!

वर्षा! मुझे हमेशा ही वह ऋतु भाती है, उसमें चाहे मधुरता नहीं यह कह लो; पर वत्सलता अवश्य है। और बिलकुल लबालब और छलक भी रही हो जैसे। कितनी सुहावनी वर्षा!!

तभी मैंने सोचा कि क्यों ये पहाड़ ऊँचे ही ऊँचे चले जा रहे हैं। यह एक, दूसरा उससे भी ऊँचे पर, तीसरा और भी। उनकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ!! काले-काले मेघों से जैसे जाकर मिली हुईं। कुछ तो उनसे भी ऊपर गई हुईं। कदाचित् वे भी सोच रही हों—ऊपर आख़िर है क्या? कौन-से दिव्यत्व का सत्यदर्शन दिव्यत्व की परिसीमा कौन-सी? सौंदर्य क्या? विकास कैसा?—किसी महर्षि की जिज्ञासा जैसे उमड़ आई है। और उनकी वह जिज्ञासा पूर्ण हुई-सी दीख रही थी। उन्हें न जाने कैसा आनन्द हो रहा था। वे खिल उठे थे।

हरी प्रकृति!—उसने अपने अंचल के नीचे पहाड़ पर के पत्थर, कंकड़, गड्ढे, घाटियाँ सब छिपा रखी थीं। और सबका एक ही हरा रंग!

मैं अकेला ही चला जा रहा था। दोनो तरफ आगे-पीछे प्रकृति और उनमें से राह निकालनेवाला मैं। यह कल्पना जैसे मेरे अंतरतम में जा चुभी। वे छोटे-छोटे झरने कैसे खिल-खिला रहे थे! कैसे भाग रहे थे! कोई बड़ा-सा पत्थर बीच में आते ही वे उसके आसपास चक्कर काटते। और आगे खिलखिलाते हुए निकल जाते। मानो आगे किसी को पकड़ना हो। सब अपने ही छंद में। किसी का किसी ओर ध्यान नहीं।

सर्वत्र शांत। न आदमी की बास। न घर का आसरा। बीच में ही पंछी बोल उठा। वही सिर्फ आवाज़। और बीच में प्रचंड घन-गर्जन!!

फिर वही गंभीर निनाद—मानो देवताओं के घर की दुंदुभी बजी। अभी हीरे-माणिकों की लूट। अभी सर्राटे की हवा। फिर सर्वहारा जलधारा—प्रकृति का गर्जन-तर्जन—सब प्रदेश जलमय होगया—आसपास कोई—कोई भी नहीं!!

जीवन बोल उठा—देखते क्या हो? भागो उठो! जाओ और कहीं किसी आसरे से खड़े रहो।

मुझे उस वक़्त कुछ भी न सूझ पड़ा।

वर्षा।

(पुमिला की डायरी से)

दीपंकर ! जब तूने गाया

['अज्ञेय']

['अज्ञेयजी' का पूरा नाम श्रीसच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। आप सहयोगी 'विशालभारत' के सम्पादक हैं। और आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी हैं। कवि, कहानी लेखक, एवं विचारक के साथ ही, आप एक कुशल शिल्पी और चित्रकार भी हैं। 'शेखर' नाम से आपने एक गंभीर उपन्यास भी लिखा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।—सं०]

दीपंकर ! जब तूने गाया
वाताहत यह नीरस तरु भी
आकुल हो फल आया !

जरा जीर्ण था बहुत देर से
फूल कहाँ से आते ?
उतना गहरा पीड़ा-स्पन्दन
प्राण कहाँ से लाते !

और पर्ण ? वे तो जीवन के
बाह्य आवरण भर हैं—
उनमें कहाँ बँधे जीवन के
गहरे मानस-सर हैं !

दूर रहे तुम, दर्शन मैंने
बहुत देर से पाये—
हँसने का दिन बीत चुका था
आँसू बरसे आये !

दीपंकर ! जब तूने गाया
वाताहत यह नीरस तरु भी
आकुल हो फल आया !

कलकत्ता।

[९१९

मृत्यु

[वाडिस्ला रेमोण्ट]

[अनुवादक, रवीन्द्र]

[रैमोण्ट पोलेण्ड का एक लोकप्रिय कहानी-लेखक है, कला की दृष्टि से यह शायद सर्वोत्तम गिना जा सकता है। इसकी कहानियों में ग्रामीण जीवन का जोरदार भाषा में सच्चा चित्र हुआ करता है—सं०]

'पिताजी, पिताजी, सुनते हो, उठो जरा, यहाँ से खिसको तो।'—लड़की ने बूढ़े को हिलाते हुए कहा। बूढ़ा कराहने लगा और 'हे प्रभो, हे मरियम' कहके रह गया। अपने बकरी के चमड़े में से उसका पिचका हुआ झुर्रियोंदार चेहरा दिखाई दे रहा था। वर्षों मिट्टी में काम करते-करते उसने भी मिट्टी के रंग को अपना लिया था। उसके सिर के बाल शिशिर की बरफ से ढँके हुए खेतों की तरह सफेद थे। उसकी आँखें बन्द थीं। ज़ोर-ज़ोर से साँस लेते हुए उसकी जीभ बाहर निकल आई थी, उसके चेहरे पर नीलिमा छाई हुई थी और ओठ फटे हुए थे।

'अरे उठो भी !'—लड़की फिर चिल्लाई।

एक छोटी-सी बालिका ने जो एक कुर्ता और उसके ऊपर एक सूती उपरिवस्त्र डाले हुए थी, उचकते हुए 'नाना-नाना' करना शुरू किया।

आँखों में आँसू भरे हुए बालिका 'नाना-नाना' कहती हुई बड़े दुःख के साथ बूढ़े के सिरहाने जा खड़ी हुई।

बालिका की मा ने बड़े ज़ोर से 'चुप रह' कहा और बेचारी की गर्दन पकड़कर उसे चूल्हे से दे मारा।

एक अंधी-सी कुतिया बिस्तर सूँघती फिर रही थी। उससे ठोकर-खाते हुए वह चिल्लाई, 'निकल यहाँ से, आई कहीं की सड़ी-सी कुतिया।'—यह कहते हुए कुतिया के एक लात लगाई और उसे बाहर करके दरवाज़ा बन्द कर लिया। छोटी लड़की भी अँगीठी के पास खड़ी आँखें मल रही थी।

'बापू, उठो देखो, अभी उठ बैठो, फिर कहीं मुझे गुस्सा आ जाय।'

बीमार चुप था। उसका सिर एक तरफ़ को मुड़ गया था और उसे साँस लेते बहुत कष्ट हो रहा था। वह अब बहुत देर का मेहमान न था।

'अरे उठो तो, आखिर सोचते क्या हो, यहीं मरने के इरादे हैं क्या, ना-ना, यह न हो पायेगा। जा न वहीं जुलीना के पास, कुत्ता कहीं का। सारी माल-मता तो जुलीना को दे आया। अब वही करे न तेरी सेवा। अच्छा चलो, लो, देखो मैं कह रही हूँ।'

'हे बाल-स्वरूप जीसस, हे मरियम!'

उसका चेहरा एकदम अकड़ गया और चिन्ता के मारे उस पर ठण्डा पसीना आ गया। एक झटके के साथ उसकी लड़की ने उसका बिस्तर फाड़ डाला और बीच से पकड़कर उसे बिस्तर से नीचे घसीटा। अब उसका सिर और कंधे ही बिस्तर पर थे। वह चुपचाप लकड़ी की तरह सख्त और सूखा हुआ पड़ा था।

'पादरी'''पादरी।' कठिन श्वासों के बीच उसके मुख से निकला।

'हाँ-हाँ बुलाती हूँ मैं तुम्हारे लिए पादरी, अरे पापी, तू तो सूअरों के साथ पड़ा-पड़ा कुत्ते की मौत मरेगा।'—उसने बुड्ढे को बाँहों से पकड़कर उठाया और फिर छोड़ दिया। और उसके सिर पर बिस्तर डाल दिया, क्योंकि खिड़की में से किसी की छाया पड़ रही थी। शायद कोई आ ही रहा हो।

उसे बूढ़े के पैर ऊपर करने का अवकाश भी मुश्किल से मिला। उसने बड़ी ज़ोर से बिस्तर पटका और उसे एक ओर खिसका दिया।

इतने में डिजियाक नामक किसान की स्त्री अन्दर आ गई।

'जीसस क्राइस्ट की जय।'

'अनन्त काल तक...'—दूसरी ने कनखियों से देखते हुए सशङ्क स्वर में कहा।

'कहो क्या हाल है, अच्छी हो?'—पैरों की बरफ द्वार के पास झाड़ते हुए उसने पूछा।

'यह कैसे ठीक हो सकता है; इसके लिए तो साँस लेना भी असम्भव-सा हो रहा है।'

'पड़ोसिन...ऐसा मत कहो.. पड़ोसिन!'—उसने बुड्ढे के बिस्तर पर झुकते हुए कहा।

वह गहरी आह भरते हुए बोला—पादरी!

'अरे रे रे देखो तो...यह तो मुझे पहचानता भी नहीं, पादरी को बुलवाना चाहता है। यह मर रहा है, निश्चित बात है। लगभग मरा हुआ ही समझो। तुमने पादरी को बुलवाया है?'

'मेरे यहाँ कोई हो भी जिसे भेजूँ।'

'तुम एक ईसाई आत्मा को बिना क्रिया-कर्म के मर जाने दोगी?'

'मैं यहाँ से दौड़कर उधर जाऊँ तो इसे अकेला छोड़ जाऊँ?...और फिर शायद यह ठीक ही हो जाय।'

'अरे ऐसा मत समझो, इसकी साँस नहीं सुनती, इसका मतलब यह है कि अब यह अन्दर से खतम हो रहा है। पिछले वर्ष जब मेरा वालेक बहुत बीमार था तो उसका भी यही हाल था।'

'अच्छा-अच्छा तो बहिन, तुम ही पादरी के यहाँ चली जाओ। जल्दी करो...देखो।'

'बहुत अच्छा, देखो बेचारे को; ऐसा लगता है कि अब यह ज्यादा न चलेगा, जल्दी करूँ...अच्छा लो मैं चली।'—उसने अपने सिर का कपड़ा कसते हुए कहा।

'अच्छा एंटकोवा, खुदा हाफ़िज़।'

'हाँ, खुदा का नाम लो और जाओ।'

डिज़ियाकोवा चली गई। दूसरी स्त्री ने कमरे की सफाई शुरू की, झाड़-बुहार कर राख बाहर फेंकी और हंडियाँ क्रम से जमा दीं। बीच-बीच में बड़े क्रोध और घृणा से बुड्ढे की तरफ़ देख-देखकर घूँसे दिखाती, थूकती और सिर हिलाती जाती थी।

'पन्द्रह एकड़ ज़मीन, इतने सूअर, तीन गौएँ, फ़र्नीचर और कपड़े...उफ़...इसका आधा माल छः हज़ार का हो...'

इतनी बड़ी राशि का ध्यान आते ही उसमें नया जोश आ गया और उसने बर्तन बड़ी ज़ोर से पटके, कि और आगे गिनती करने लगी—हाँ-हाँ, और मुर्गियाँ, बतखें, बछड़े। इतना खेती का सामान...सब कुछ उसी कम्बख्त को दे दिया, तेरा नाश हो। तूने मुझे जिस असहाय अवस्था में छोड़ा है, इसका तुझे बदला मिले। कब्र में तुझे कीड़े खा जायँ।

क्रोध से लाल होती हुई वह बिस्तर के पास जा पहुँची और 'उठ यहाँ से, उठ यहाँ से' चिल्लाने लगी। जब बुड्ढा ज़रा भी न खिसका तो वह घूँसे दिखा-दिखाकर चिल्लाने लगी—हाँ इसी के लिए आया है यहाँ, चला है यहाँ मरने। और देखो तो यह समझता है कि मैं इसके कफ़न का खर्च करूँगी। अरे यह तेरा भ्रम है। यह न होगा। जब तेरी जुलीना इतनी प्यारी है तो वहीं जा न...जा उसी के पास। क्या मैं ही तेरी बुढ़ापे में सेवा करूँगी? वह तेरी लाड़ली है और...अभी वह वाक्य पूरा न कर पाई थी कि घंटी सुनाई दी और साज-सामान सहित पादरी अन्दर घुसा।

एंटकोवा ने पादरी को प्रणाम किया और क्रोध के आँसू पोंछते हुए उसने पवित्र पानी एक बर्तन में डाला और उसके पास ब्रुश रखकर पादरी के साथ जो लोग आये थे उनके पास चली गई।

'मसीहा की जय।'

'अनन्त काल तक।'

'यह है क्या?'

'अरे है क्या...यह यहाँ, हमारे यहाँ प्राण छोड़ने आया...हमारे यहाँ जिनके साथ इसने इतना अन्याय किया है। और अब चलता भी तो नहीं। हाय-हाय!'—उसने रोना शुरू कर दिया।

'हाँ ठीक तो है, उसे सड़ना पड़ेगा और तुम लोग लम्बी आयु पाओगे।'—सब के सब एक स्वर से सिर हिलाते हुए बोल उठे।

'देखो तो यह हमारा बाप है। क्या हमने...एंटेक ने और मैंने इसकी सेवा में खून-पसीना एक नहीं किया। क्या मैंने उन लोगों की अपेक्षा इसकी ज्यादा सेवा नहीं की। मैंने एक भी अण्डा नहीं बेचा, ज़रा-सा भी मक्खन नहीं बेचा, सब कुछ इसी के गले से उतारा। छोटी-सी बच्ची के मुँह से छीनकर इसे दूध पिलाया—केवल इसीलिए कि यह बूढ़ा है और अपना बाप है; पर इसका फल क्या मिला? आप चल दिये और सब कुछ जाकर टोमेक के सुपुर्द कर आये। देखो तो, पन्द्रह एकड़ ज़मीन, वह झोंपड़ी, गाएँ, सूअर, बछड़े, गाड़ी, फ़र्नीचर सभी कुछ तो दे डाला। क्या यह कुछ भी नहीं? हाय-हाय इस संसार में न्याय का तो नाम भी नहीं।'

वह दीवार पकड़कर खड़ी हो गई और रोते-रोते हिचकियाँ लेने लगी।

'देखो पड़ोसिन, रोओ मत। परमात्मा दयालु है। यद्यपि उसकी दया सदा गरीबों पर ही नहीं होती। तुम्हारे भी कभी दिन फिरेंगे।'

'हट मूर्ख, ऐसी बातें करने से लाभ क्या ?'—कहनेवाली के पति ने बात काटते हुए कहा—जो अन्याय हुआ, वह तो हो ही गया। बुड्ढा मरेगा और गरीबी रहेगी।

दाँतों के बीच में से थूकते हुए एक तीसरा बोल उठा—आदत से सब कुछ हो जाता है। समय बीते नरक में रहने की भी आदत पड़ जाती है।

सब चुप हो गये। हवा साँय-साँय करती हुई चल रही थी और दरवाजे की दरारों में से कुछ-कुछ बरफ भी अन्दर आ रही थी। लोग फर्श पर पैर पटक-पटककर अपने अन्दर ऊष्मा को निमन्त्रित कर रहे थे और स्त्रियाँ मुँह लटकाये दरवाजे की ओर ताक रही थीं।

आखिरकार एक घंटी बजी और वे सब एक दूसरे को धक्के देते हुए कमरे के अन्दर घुस गये। बुड्ढा मरने की तैयारी में बिस्तर पर सीधा लेटा हुआ था। कुरते में से उसकी छाती के सफेद बाल बाहर झाँक रहे थे। पादरी ने झुककर उसकी जीभ पर पवित्र पानी के छींटे डाले। सब लोगों ने घुटने टेक दिये और जोर-जोर से छाती पीटना और आहें भरना शुरू किया। फिर वे सब गुनगुनाये—हे संसार के पाप निवारक प्रभु के मेमने।

बार-बार घंटी सुनते-सुनते कुत्ता भी तङ्ग आकर गुर्राने लगा।

पादरी अपनी अन्तिम क्रिया समाप्त कर चुका था और अब उसने मरनेवाले की लड़की की तरफ़ इशारा किया और बोला—एंटकोवा, तुम्हारे वे कहाँ हैं ?

'भगवन, अपनी नौकरी के सिवाय और कहाँ जायगा।'

क्षण-भर के लिए पादरी चुपचाप खड़ा रहा मानो सोच रहा हो कि इतने आदमियों से क्या कहा जाय। लोगों पर एक दृष्टिपात करते हुए उसने अपना पवित्र श्वेत हाथ आगे उनके चूमने के लिए बढ़ाया। लोगों ने उसके घुटनों को प्रणाम किया और वह चलता बना।

पादरी के जाते ही सारी भीड़ तितर-बितर हो गई। सर्दियों के छोटे दिन समाप्त होते देर ही कितनी लगती है। हवा तो कुछ कम पड़ गई थी, पर बरफ बहुत ज़ोर से पड़नी शुरू हो गई थी। सांध्य वेला की अन्तिम किरणें कमरे में आ रही थीं, एंटकोवा आँच के पास बैठी छोटी-छोटी लकड़ियाँ तोड़-तोड़कर आँच में डालती जा रही थी। शायद वह कुछ प्रोग्राम बनाने में लगी थी, क्योंकि वह बार-बार कभी खिड़की पर और कभी बिस्तर पर नजर डाल रही थी। बीमार चुपचाप पड़ा था। वह विह्वल हो उठी। अपने स्थान से उछलकर आहट लेने के लिए इधर-उधर ताकने लगी और फिर जहाँ की तहाँ आ बैठी।

रात होती जा रही थी, कमरे में अँधेरा था। छोटी लड़की ऊँघ रही थी और कुत्ता बार-बार पंजे से फ़र्श कुरेद रहा था। मुर्गियाँ और चूजे भी शोर मचा रहे थे। रात ज़्यादा हो गई और कमरे में सन्नाटा छा गया। एंटकोवा ने उछलकर खिड़की के बाहर झाँका। गली में सन्नाटा था। बरफ बहुत जोरों से गिर रही थी। वह कुछ ठिठकी और फिर एकदम बिस्तर खींचकर दूसरी खाट पर डाल दिया और बूढ़े को बगलों में हाथ देकर उठा लिया।

'मेगडा, दरवाजा खोलो।'

मेगडा चौंक पड़ी, कुछ घबराई और दरवाजा खोल दिया।

'यहाँ आओ, इसके पैर पकड़ो।'

मेगडा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से नाना के पैर पकड़ लिये। 'अच्छा इधर-उधर मत ताक, इसे ले चल, अपना काम कर।'—उसने बड़े कर्कश स्वर में कहा।

बुड्ढा असहाय और अर्ध-मूर्छित अवस्था में था। यह सब क्या हो रहा है और क्या होनेवाला है, इसकी उसे कोई खबर न थी। बालिका ठोकर खाकर गिर पड़ी और उसने पैर छोड़ दिये। मा उसे अकेली ही घसीटती हुई ले चली।

कड़ाके की सर्दी के मारे बुड्ढे को कुछ होश आया और उसने कराहना और परमात्मा का नाम लेना शुरू किया।

'हाँ-हाँ ठीक है, तुझे तो रोना ही चाहिये, रो-रो, दिल खोलकर रो ले, तेरी सुननेवाला है ही कौन, तू चाहे सिर पीटकर रो पुकार।'—आँगन में से घसीटकर वह उसे सूअरों की कोठरी में ले गई और उसे दीवार के पास डाल दिया।

सूअरी अपने बच्चों के साथ घुर-घुर करती वहाँ आ पहुँची। सूअर भी आ गये और उसने दरवाजा बन्द कर दिया ; पर थोड़ी देर में फिर लौट आई और बुड्ढे का कुरता फाड़कर और उसे ठोकर मारकर फिर चलती बनी—यहीं मर, कोढ़ी कहीं के!

'आओ, आओ, आओ।'

सूअर दौड़ते हुए वहाँ आ गये। उसने थोड़े-से आलू उनके आगे डाल दिये। मज़ा ले-लेकर सूअरों ने सब कुछ सफाचट कर दिया।

एंटकोवा ने दिया जलाया और फटे कुरते में देखने लगी। उसमें से कुछ नोट और दो रूबल गिरे। वह एकदम प्रसन्न हो गई और बोल उठी—हाँ ठीक ही तो कहता था कि मैं अपने दफ़नाने के लिए प्रबन्ध कर दूँगा।

बर्तन वगैरह ठीक करके कजलाती हुई आग को ठीक किया—धुत्तेरे की, देखो तो, इस शैतान लड़के ने एक बूँद पानी नहीं रखा। वह बाहर निकली और चिल्लाने लगी—इग्नाट्ज़! ओ इग्नाट्ज़!

आधा घंटा बीत गया। बरफ पर किसी के पैरों के पड़ने का शब्द हुआ और उसके साथ ही कमरे में छाया पड़ने लगी। एंटकोवा ने एक लकड़ी उठा ली और दरवाजे पर जा खड़ी हुई। एक नौ वर्ष के बालक के प्रविष्ट होते ही वह बरस पड़ी—हाँ देखो तो, आप इधर-उधर घूमते फिर रहे हैं और घर में एक बूँद पानी नहीं। देखो तो इसकी काहिली, पोस्ती कहीं का। एक हाथ से बच्चे का हाथ पकड़ दूसरे से छड़ियाँ रसीद करना शुरू किया।

'मा,...मा...अम्मी...आगे से ऐसा नहीं करूँगा...अच्छी अम्मी इस बार छोड़ दो...अम्मी।' पर वह बराबर पीटती जाती थी और अपना सारा गुस्सा उतारने में लगी हुई थी।

'अरे रे रे अम्मा...हे प्रभो देखो यह तो मुझे मारे डालती है!'

'धत्तेरे की कुत्ता कहीं का, दिन-भर मटरगश्त करता रहता है, एक बूँद पानी नहीं लाता, घर में ईंधन नहीं है। मैं तो तेरे पेट में ठूँसती जाऊँ और तू ऊपर से मुझे तङ्ग करता जा—ठहर तो ज़रा।'—वह मारती जा रही थी और चिल्लाती थी।

आखिरकार किसी तरह हाथ छुड़ा, लड़का खिड़की में से बाहर हो गया और रुँधे हुए गले से चिल्लाने लगा—तेरे हाथ सड़ जायँ, उनमें कीड़े पड़ें, मा है कि कुतिया। तेरा जनाज़ा निकले, सूअरिया कहीं की,...ठहर जा तेरी खाद बनाऊँगा और तब पानी दूँगा।—यह कहता हुआ वह गाँव की ओर भाग गया।

कमरा एकदम सूना हो गया। दिया टिमटिमा रहा था और बालिका बैठी रो रही थी।

'अरे तुझे क्या हो गया है।'

'अम्माँ अम्माँ,—नाना—नाना !'

बालिका मा के पैर पकड़, बिलख-बिलखकर रोने लगी। 'अरे छोड़ भी कम्बख़्त को' कहते मा ने बच्ची को गोद में धर लिया और उसके बाल ठीक करने लगी। छोटी-सी बच्ची रोती ही जा रही थी और रोते-रोते ही सो गई। नींद में भी रह-रहकर रो उठती थी।

थोड़ी ही देर में पति घर लौटा। बड़े डील-डौल का आदमी, भेड़ का चमड़ा ओढ़े हुए, मूँछों पर बरफ़ जमी हुई थी। टोपी, गुलूबन्द सब पर बरफ ही बरफ थी और चेहरा ठण्ड से नीला पड़ गया था। टोपी और गुलूबन्द उतार उसने एक ओर रख दिये और बेंच को आँच के पास करके बैठ गया। एंटकोवा ने चूल्हे पर से गोभी उतार एक तश्तरी भरके पति के आगे रख दी, रोटी काटकर चम्मच सहित उसके हवाले की। पति ने चुपचाप सब कुछ खा लिया और फिर पैर पसारते हुए और कपड़े उतारते हुए बोला—और भी है।

उसने दोपहर का बचा हुआ शोरबा पति को दे दिया। रोटी के एक और टुकड़े पर हाथ साफ करके उसने जेब से डिबिया निकाली और सिगरेट पीना शुरू किया। बड़ी देर बाद इधर-उधर देखते हुए उसने कहा—वह बुड्ढा कहाँ है ?

'होगा कहाँ, वहीं सूअरखाने में है।'

वह कुछ समझ न सका और उसकी ओर देखने लगा।

'हूँ ठीक है, वह यहाँ बिस्तर पर क्यों लोटें लगाये। उसे भगाना तो है, जितनी जल्दी हो उतना ही अच्छा। उसने मुझे दिया ही क्या है ? फिर मेरे यहाँ क्यों आता है, मैं ही उसके कफ़न और मो-जनका खर्च उठाऊँ ? अगर अब वह चलता न बने तो मैं तुम्हें बताता हूँ, वह हम सबको निगल जायगा।'

'देखो न, मेरा बाप है और मुझे ही धोखा देता है, ठग एक नम्बर का।'

धुँआ निगलते हुए एंटेक ने कमरे के बीचोबीच थूक दिया। 'हाँ अगर उसने हमें ठगा न होता तो एँ...पाँच यह हमारे...और साढ़े सात यानी...पाँच...और सात...एँ...हाँ साढ़े बारह। यह तो मैंने बहुत पहले हिसाब कर रखा था...हम तीन गौएँ ले लेते और एक घोड़ा रखते...गधा कहीं का।'—यह कहते हुए उसने फिर एक बार बड़े जोर से थूका।

स्त्री उठी, लड़की को खाट पर डाल दिया और बुड्ढेवाला धन उसके हाथ में दे दिया।

'यह क्या ?'

'देखो तो।'

उसने खोलकर देखा और छिपाकर गिनने लगा। उसके चेहरे पर लोभ स्पष्ट दीख रहा था। स्त्री गिनना तो जानती न थी, उसने पूछा—कितने हैं ?

'चौवन रूबेल।'

'अरे बाप रे इतना !'–उसकी आँखें चमक उठीं।

'तुम्हें यह कहाँ मिला ?'

'याद है, बुड्ढा कहा करता था कि मेरे पास जनाज़े का ख़र्च है।'

'हाँ ठीक है, कहता तो था।'

'इसे वह अपने कुरते में ताबीज के साथ सिये हुए था। मैंने उसे फाड़ लिया तो अन्दर से यह निकला। यह सब हमारा है, हमारे साथ कितना अन्याय किया है उसने।'

'यह परमात्मा का न्याय है, यह हमारा तो है ही, आखिर कुछ न कुछ तो आ ही रहा है। इसे मेरे धन के साथ रख दो। कल ही स्मोलेट्ज़ कहता था कि वह पाँच एकड़ जुते हुए खेत रेहन रखकर मुझसे हज़ार रूबेल उधार लेगा।'

'इतना है भी तुम्हारे पास ?'

'होगा शायद। और अगर न हुआ तो भी सूअर बेचकर मैं उसे उधार दूँगा। क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह कर्ज चुका न सकेगा। हम एक वकील के पास जा कर पट्टा लिखा लेंगे कि अगर वह पाँच साल में न चुका सका तो खेत मेरे।'

'ऐसा हो सकता है ?'

'क्यों नहीं, डूमिन ने डिजियाक के खेत कैसे हथियाये हैं। अच्छा इसे रख दो और चाँदी तुम ले लो और उससे जो चाहो खरीदो। हाँ इग्नाट्ज़ कहाँ है ?'

'कहीं मारा-मारा फिर रहा है। घर में एक बूँद पानी नहीं।'

किसान चुपचाप उठा—जानवर देखे, पानी और लकड़ी ले आया और फिर बैठ गया। पतीली में भोजन उबल रहा था। इग्नाट्ज़ चुपके से अन्दर घुसा तो उससे कोई कुछ न बोला। बुड्ढे का कहीं जिक्र भी नहीं था। मानों वह कभी आया ही न हो।

एंटेक को अपने पाँच एकड़ का ही ध्यान आ रहा था। अचानक बूढ़े का खयाल आया और फिर उस सूअरी का जिसका दूध बन्द होते ही वध करना था। वह बार-बार उस बिस्तर की ओर देख-देखकर थूकने लगा। उसे बूढ़े के विचार से ही घृणा आ रही थी। वह कुछ चिन्ता-ग्रस्त था, थोड़ा बहुत खाकर फौरन लेट गया और करवटें बदलने लगा। गोभी, आलू और रोटी से उसे अजीर्ण हो रहा था; पर फिर भी नींद आ ही गई।

जब सन्नाटा छा गया तो एंटकोवा ने धीरे से पासवाले कमरे का दरवाजा खोला और वहाँ पड़े हुए सन के थैलों के नीचे से नोटों का एक पैकेट निकाला और अच्छी तरह सँवार-सुधारकर आजवाले नोट भी उसमें रख दिये। दिया बुझाकर वह अपने पति के साथ लेट गई।

इसी बीच बुड्ढा मर चुका था। सूअरखाने में कुछ तख्ते लगे थे और कुछ वृक्षों की शाखाएँ पड़ी थीं। इनसे भला सर्दी और ठण्डी ठण्डी हवा कैसे रुकती। उसकी काँपती हुई आवाज़ में दया की पुकारें किसी के कानों तक नहीं पहुँचीं। खिसक-खिसककर दरवाजे के पास पहुँचकर उसे खोलने के प्रयत्न भी व्यर्थ गये। मृत्यु उसपर हावी हो रही थी। वह बार-बार अकड़ता जा रहा था। उसके जबड़े इतने अकड़कर एक दूसरे पर चढ़ गये कि उन्हें खोलना और चिल्लाना असम्भव हो गया। उसकी नसें लोहे के तारों की तरह कड़ी हो गईं। वह दरवाजे की देहली पर गिर पड़ा। मुख से झाग निकल रहे थे। आँखों से एक घोर निराशा और भयङ्कर भीषणता टपक रही थी। चेहरा बिलकुल बिगड़ चुका था।

पौ फटने से पहले, एंटेक अपनी स्त्री सहित उठा। अब उन्हें चिन्ता हुई कि देखें बुड्ढे का क्या हुआ।

वह देखने गया, पर दरवाजा खुलता ही न था। अन्दर लाश जो पड़ी हुई थी। बड़े यत्नों के बाद वह किसी तरह अन्दर घुसा, पर घुसते ही मारे डर के सिर पर पैर लेकर बाहर भागा। डर के मारे वह बेहोश-सा था। सारा शरीर काँप रहा था और वह स्वयं न जानता था कि उसे हो क्या गया। मुख से एक शब्द निकालना असम्भव था।

एंटकोवा इस समय मेगडा को प्रार्थना करना सिखा रही थी। उसने पति की ओर प्रश्नात्मक भाव से देखा, पर कहती गई—तेरी इच्छा पूर्ण हो।

'तेरी इच्छा...पूर्ण...हो'—घुटने टेके हुए लड़की ने प्रतिध्वनि के रूप में कहा।

'हाँ तो वह मर गया? ज़मीन पर पड़ा है?'

'अरे वह तो दरवाजे के बीच में पड़ा है।'—पति ने घबराई हुई आवाज़ में कहा।

'सचमुच।'

'लेकिन उसे वहाँ छोड़ना तो ठीक नहीं, लोग कहेंगे कि हमने पिण्ड छुड़ाने के लिए उसे वहाँ डाल दिया था, यह तो ठीक नहीं...'

'तो मैं क्या करूँ, तुम चाहते क्या हो?'

'मैं क्या जानूँ, पर तुम्हें कुछ करना ज़रूर होगा।'

'उसे यहाँ भी तो लाया जा सकता है'—एंटेक ने कहा।

'हाँ...देखो तो यहाँ लाया जायेगा उसे, अरे सड़ने भी दो वहीं।'

'उस कम्बख़्त को गाड़ना भी तो पड़ेगा।'

'और इसका खर्च हम उठायें...हमें पाप से मुक्त कर...हाँ तुम इधर-उधर क्यों देखती हो, अपनी प्रार्थना करो।'

'...हमें...पाप...से...मुक्त...'

'ऊहुँ, मैं उसके लिए खर्च करने से रहा। यह तो टोमेक का काम है—उसी का कानूनी कर्तव्य है।'

'...आमीन...'

'आमीन।'

बच्ची पर क्रास का चिह्न बनाते हुए मा ने उसकी नाक साफ़ की और पति के पास चली आई। उसने बहुत धीरे से कहा—उसे यहाँ लाना पड़ेगा न।

'यहाँ घर में...यहाँ!'

'नहीं तो और कहाँ?'

'नहीं-नहीं गाय के छप्पर में उसे डाल दो। बछिया इधर आ जायगी। बस वह वहीं पड़ा रहे, था भी तो ऐसा ही।'

'मोनिका!'

'ओ!'

'हमें उसे वहाँ पहुँचाना पड़ेगा।'

'अच्छा...पर...'

'क्या तुम्हें डर लगता है?'

'कम्बख़्त कहीं का...पापी...'

'और क्या।'

'अँधेरा है।'

'तुम दिन निकलने तक ठहरी रहोगी तो लोग देख लेंगे।...अच्छा चलो हम दोनों चलें।'

'तुम्हें इतनी पड़ी है तो जाओ।'

'तू आती है कि नहीं कुतिया, वह बाप तो तेरा था कोई मेरा थोड़े ही था।'—कहता-कहता वह गुस्से में कमरे के बाहर आ गया और स्त्री भी चुप-चाप उसके पीछे हो ली।

अन्दर घुसते ही दोनो पर ख़ौफ़ हावी हो गया। बरफ़ जैसी ठण्डी लाश वहाँ पड़ी थी? उसका आधा हिस्सा नीचे फ़र्श पर जम गया था। उसे बाहर घसीटने से पहले फ़र्श पर से उखाड़ना आवश्यक था।

इस भयानक दृश्य को देखते ही एंटकोवा मारे डर के काँपने लगी। सवेरे के धुँधले प्रकाश में वह बहुत ही भयावना दीखता था। श्वेत बरफ से ढका हुआ शरीर, चेहरे पर घबराहट छाई हुई, आँखें फटी हुईं, जीभ बाहर निकली हुई और दाँत उसमें गड़े हुए, सिर से पैर तक मल ही मल...भला कौन है जो इसे देखकर डर न जाय।

'अच्छा पकड़ो ज़रा।'—पति ने झुकते हुए धीरे से कहा—उफ़ कितना ठण्डा है।

सवेरे की ठण्डी-ठण्डी हवा चल पड़ी थी और पेड़ों की टहनियों पर से बरफ़ झड़ रही थी। कहीं-कहीं एक-आध सितारा टिमटिमा रहा था। गाँव के मुर्गों की बाँग सुनाई देने लगी थी और ऐसा लगता था कि ऋतु-परिवर्तन होने को है।

बुड्ढे के पैर उठाने से पहले एंटकोवा ने अपनी आँखें बन्द कर लीं और हाथों पर कपड़ा लपेट लिया। वह इतना भारी था कि उठाना मुश्किल हो रहा था। उसे गौशाला में पहुँचाते ही स्त्री भागी और जब तक पति ने उसे कपड़े से ढक नहीं दिया, तब तक बाहर नहीं निकली।

बच्चे आलू छील रहे थे। नाश्ता निकालते हुए उसने कहा—इसे धोना भी तो पड़ेगा।

'मैं उस गूँगे-बहरे को बुला लूँगा।'

'आज तुम काम पर न जाओ।'

'एं नहीं...जाऊँ...मैं।'

बिना भूख के ही उन्होंने चुप-चाप सारा नाश्ता खतम कर डाला, आँगन में जाकर भी वे चुप थे। न जाने क्यों दोनो बहुत चिन्तित और बेचैन थे। शायद मुर्दे का या मौत का डर उन पर हावी हो गया था। दिन होने पर एंटेक गाँव के बहरे-गूँगे को बुला लाया, जिसने लाश को धो-पोंछकर बाहर ला रखा और उसके सिर पर एक बत्ती रख दी। एंटेक पादरी और सोलटिस को मौत की ख़बर देने और खर्च कर सकने में असमर्थता प्रकट करने चला गया।

'टोमेक ही उसे गाड़ने का प्रबन्ध करे। सारा धन भी तो ले बैठा है।'

गाँव-भर में बुड्ढे की मौत का समाचार फैल गया। लोग वहाँ लाश को देखने और कुछ प्रार्थना गुनगुनाने के लिए आने लगे। सिर हिला-हिलाकर वे चले जाते और आपस में इस विषय पर बातचीत करते जाते थे।

लोगों के दबाव डालने पर दूसरा दामाद टोमेक शाम को जाकर कहीं तैयार हुआ और दफ़नाने का खर्च उठाना स्वीकार किया। तीसरे दिन अन्तिम क्रिया से पहले टोमेक की बीवी एंटेक के घर आई। उसकी बहन बाहर एक कड़ाई में पानी लिये जा रही थी। इसे देखते ही एकदम उबल पड़ी। दरवाज़े पर हाथ रखे हुए इसने कहा—जय क्राइस्ट की। पर वह चिल्ला पड़ी—अरे

देखो तो इस चुड़ैल को हमें देखने आई है, सब कुछ तो वह तुझे दे गया, फिर भी तूने उसे घता बताया और अब आई है उसकी चिन्धियाँ लेने ।

'मैंने उसके लिए एक नया सुकमाना व्हाइट सन टाइड से खरीदा था, वह तो उसके शरीर पर रहने दो । पर वह भेड़ की खाल तो मुझे चाहिये, वह तो मेरे गाढ़े पसीने की कमाई से खरीदी गई थी ।'

'हाँ ठहर तो जरा, ले जा उसे ।'—वह इधर-उधर पीटने के लिए कोई चीज़ ढूँढ़ने लगी—ले जा, हो हिम्मत तो । तू पहले तो उसके तलवे चाटती रही और उसे ख़ूब उल्लू बनाया जब वह मेरा गला काटकर सब कुछ तुझे दे चुका ।'

'हर एक जानता है कि हमने वह ज़मीन उससे मोल ली थी । साची भी तो हैं ।'

'हाँ, मोल ली थी तूने । अरे परमात्मा के आगे भी झूठ बोलते नहीं डरती । खरीदी थी तूने, चोट्टी कहीं की, ठग, कुतिया । पहले तो उसका धन चुरा लिया फिर... उसे सूअरों के बर्तन में से आलू निकाल-निकालकर खाने पड़े । उसे गाय के छप्पर के नीचे सुलाया; क्योंकि तुम्हारे खाने में बाधा पड़ती थी । पन्द्रह एकड़ ज़मीन और यह सब कुछ लेकर भी तू उसे पीटती थी...गधी कहीं की, सूअरिया ।'

'चुप रह। जबान सम्हाल । नहीं तो मैं तेरा मुँह बन्द किये देती हूँ, सूअरिया नालायक।'

'अच्छा तो ले, आ भी जा नापाक कहीं की ।'

'मैं...नापाक!'

'हाँ, हाँ तू, अगर टोमेक तुझसे शादी न करता तो तू...तू पड़ी-पड़ी सड़ जाती, तुझमें कीड़े लग जाते ।'

'क्या बकती है—सड़ी हुई कुतिया कहीं की ।'

दोनो एक दूसरे पर झपट पड़ीं । एक दूसरे के बाल पकड़ वहीं रास्ते में ही गुथ गईं । दोनो ख़ूब शोर मचा रही थीं ।

'राँड़, बदमाश कहीं की...यह ले एक । पन्द्रह एकड़ जमीन के लिए, कुतिया ।'

पड़ोसी चिल्ला रहे थे—परमात्मा के नाम पर छोड़ दो, कैसी शरम की बात है ।

'मुझे छोड़ दे कोदिन, छोड़ती है कि नहीं ।'

'मैं तो तुझे मार डालूँगी, तेरा कचूमर निकालूँगी, आई है कहीं की ।'

दोनो गिर पड़ीं । बेतहाशा एक दूसरे को पीटती जा रही थीं । कड़ाई पर गिरीं, फिर दोनो लड़ती-लड़ती सूअरों की कीचड़ में जा पड़ीं, जीभें बन्द हो गईं । दोनो हाँफ रही थीं, फिर भी पीटना जारी था । लोगों का उन्हें छुड़ाना असम्भव हो रहा था । सारे शरीर पर छोटे-मोटे घाव और लाल मुख, गन्दे शरीर की वजह से वे डाइनें-सी दीखती थीं । एक बार छुड़ा देने पर भी वे दुबारा फिर लपक पड़ीं पर किसी न किसी तरह बीच-बचाव करा दिया गया ।

एंटकोवा ने घर के अन्दर से रोना-चिल्लाना शुरू किया । अपने बाल अपने हाथों से नोच-नोचकर वह चिल्ला रही थी—हे प्रभो, हे खुदावन्द ईसू मसीह, हे बीबी मरियम, तुम्हीं इसे देखो, इन नास्तिकों को नष्ट करो !

टोमेकोवा दरवाजे के बाहर खड़ी गालियाँ दे रही थी और दरवाजे को ठोकरें मार रही थी । दर्शक-गण छोटे-छोटे झुण्ड बनाये आपस में बातें कर रहे थे और बार-बार बरफ़ पर

[७६१

पैर पटकते जाते थे। स्त्रियाँ दीवारों के साथ लगी सिकुड़ी हुई खड़ी थीं और रह-रहकर टीका-टिप्पणी करती जाती थीं। ज़रा-ज़रा-सी देर बाद कोई न कोई मुर्दा देखने आता था। अजवाइन के जलने की गंध और प्रार्थना की गुनगुनाहट बराबर सुनाई दे रही थी। आख़िरकार पादरी अरगनवाले के साथ आया। अर्थी को उठाकर गाड़ी में रखा गया। स्त्रियों ने दुःख के गाने शुरू किये और धीरे-धीरे सारा जुलूस गाँव की सबसे लम्बी सड़क पर चलने लगा।

आगे-आगे पादरी अपना काला झब्बा पहने और लाल का चुग़ा डाटे धीरे-धीरे कुछ लैटिन के शब्द बोलता जा रहा था। शब्द इतने धीरे और रह-रहकर निकल रहे थे, मानो वे भी ठण्ड से जम गये हों। पादरी थका हुआ और उकताया-सा लगता था। वह बार-बार इधर-उधर देख रहा था। हवा में काला झण्डा खूब लहरा रहा था। स्वर्ग और नरक के चित्र शायद अपने आप को दिखाने के लिए आतुर हो रहे थे। जुलूस के दोनो ओर स्त्री-पुरुष अपने-अपने गरम कपड़े पहने शाल ओढ़े खड़े थे। वे सम्मान-पूर्वक झुककर अपने ऊपर क्रास की निशानी बनाते और छाती पीटते जाते थे। बाड़ के उस तरफ़ से कुत्ते शोर मचा रहे थे और कहीं-कहीं उस पर से उछलकर झुण्ड में आ जाते थे। पोपले मुँह और झुर्रियोंदार चेहरेवाले बुड्ढे और छोटे-छोटे बच्चे घरों की खिड़कियों से झाँक रहे थे।

फलालेन के पाजामे, नीले कुरते और खड़ाऊँ पहने कुछ छोटे लड़कों का झुण्ड पादरी के पीछे-पीछे दौड़ता जा रहा था। उन्हें स्वर्ग और नरक के चित्रों में ख़ास दिलचस्पी थी और जब कभी अर्गनवाला स्वर बदलने के लिए ज़रा रुकता तो वे हा-हा हू-हू शुरू कर देते।

इग्नाट्ज़ झण्डा हाथ में लिये हुए और सबसे ऊँची आवाज़ में गाता हुआ सबसे आगे था। वह थक जाने पर भी रुकने का नाम न लेता था। शायद वह दिखाना चाहता था कि मेरे नाना मरे हैं, अतः सबसे ज़्यादा गाने का अधिकार मुझे ही है।

गाँव पीछे छूट गया था। तेज़ हवा लम्बे-चौड़े एंटेक के पीछे पड़ गई थी और उसके बाल बिखेर रही थी, पर उसे घोड़े सम्हालने और अर्थी को ठीक रखने के काम से फ़ुर्सत ही कहाँ थी। दोनो बहिनें प्रार्थना गुनगुनाती हुईं और आँखों से अङ्गारे बरसाती हुईं एक दूसरे की ओर देखती अर्थी के पीछे-पीछे चली जाती थीं।

'तू तू तू, जा, घर जा, यहाँ कहाँ आ रहा है।'—कङ्कड़ उठाते हुए एक ने कहा। कुत्ता डर के मारे दुम दबाये भाग गया। वह भी दौड़कर आगे आ गई, ताकि कहीं रह न जाय।

लेटिन प्रार्थना समाप्त हो गई थी और स्त्रियाँ कर्कश स्वर से 'जो रहता है गोद में प्रभु की' वाला गीत गा रही थीं, पर सर्दी इतनी बढ़ रही थी कि आवाज़ निकालना भी मुश्किल था। हवा बड़ी तेज़ी से बादल और बरफ ला रही थी। बीच में 'सदा धर्म करता है जो' का गान और थके हुए एंटेक की आवाज़ 'हाँ बढ़े चलो' सुनाई दे जाती थी।

सड़क पर बरफ जमी हुई थी। लोग बार-बार बरफ की वर्षा को देखने में गाना भूल जाते थे। कभी बड़े-बड़े टुकड़े बन जाते, कभी बरफ घुल जाती और कभी उसके छोटे-छोटे टुकड़े सीधे मुख पर सुइयों की तरह गिरते थे। बहुत-से लोग आधे रास्ते से ही लौट पड़े। बाकी दौड़ते-दौड़ते कब्रिस्तान पहुँचे, क्योंकि बरफ-बारी के बढ़ने का डर था। कब्र तैयार थी। अर्थी उसमें उतारी गई, गीत झट-पट जैसे-तैसे समाप्त किया गया, पादरी ने थोड़ा-सा पवित्र जल छिड़का, मिट्टी और बरफ के लौंदे अन्दर लुढ़का लोग घरों की ओर भागे। टोमेक

ने सब लोगों को अपने घर आने का निमन्त्रण दिया, क्योंकि पादरी ने कहा था कि ऐसा न करने से धार्मिक विधि न रहेगी। एंटेक ने निमन्त्रण का उत्तर गालियों में ही दिया। स्मोलेट्ज़, इग्नाट्ज़ आदि चार सराय में घुस गये और वसा सहित चार बोतल शराब और तीन पाउण्ड मांस पर हाथ साफ़ किया। बीच-बीच में लेन-देन की बातचीत भी करते जाते थे।

कमरे की गर्मी और शराब का एंटेक पर तो ख़ूब नशा चढ़ा। वह लड़खड़ाने लगा। उसकी स्त्री उसे पकड़कर ले चली। उधार मिलने की ख़ुशी में एक बोतल और चढ़ाने के लिए स्मोलेट्ज़ सराय में ही रह गया, पर इग्नाट्ज़ को तो सर्दी बहुत सता रही थी। वह सिर पर पैर लेकर भागा।

'मा, देखो तो...'—एंटेक बक रहा था—यह पाँच एकड़ ज़मीन तो मेरी हो गई। आहा, ओहो, अरे सुनो तो। सर्दियों में गेहूँ बोऊँगा और वसन्त में आलू...मार लिया, मार लिया, सब कुछ मेरा है...अरे सब कुछ मेरा है, तू क्या कहती है। उसने गाना शुरू कर दिया।

तूफ़ान बढ़ता जा रहा था। अँधेरा इतना छा गया था कि हाथ को हाथ न सूझे। साँय-साँय करती हुई हवा चल रही थी और बर्फ़ के मानो पहाड़ बरस रहे थे।

'अरे चुप भी रह, अभी गिरता है नहीं तो।'—स्त्री ने कहा।

टोमेक की झोपड़ी में से विलाप की और बातों की आवाज़ आ रही थी। 'देखो तो इन पापियों को, चोर, डाकू! अच्छा ठहरो तो ज़रा, मैं भी दिखाता हूँ अपने पाँच एकड़। पाँच से फिर दस होंगे। फिर देखें तू कैसे रोब गाँठता है। कुत्ते की औलाद...मेहनत करूँगा, नौकरी करूँगा, सब कुछ करूँगा और उन्हें पाकर रहूँगा।' – छाती पीटते हुए एंटेक चिल्लाने लगा। इसी तरह करते-करते दोनो घर पहुँचे। स्त्री ने उसे बिस्तर पर डाल दिया। वह गिरा तो एक लाश की तरह, पर एक दम चिल्लाया—इग्नाट्ज़ इधर आओ।

लड़का डरता-डरता, लातों से सावधान होता हुआ सामने आया। 'इग्नाट्ज़, अरे कुत्ते...तू एक अच्छा किसान बनेगा। तुझे भिखारी नहीं बनना पड़ेगा'—कहते हुए फिर चिल्ला पड़ा—पाँच एकड़ मेरे हैं...हाँ मेरे...हैं। तू तू कहीं की लोमड़ी...आये हैं कहीं के जर्मन *...' उसे नींद आ गई।

श्री अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी।

---

* जर्मन शब्द आम तौर पर सभी विदेशियों के लिए प्रयुक्त होता है, जिनसे पोलिश किसान बहुत घृणा करता है।

साहित्य और साहित्यकारों का जीवन

[श्रीमन्नारायण अग्रवाल]

[श्रीमन्नारायण अग्रवाल से 'हंस' के पाठक भली प्रकार परिचित हैं। आप आजकल वर्धा में नवभारत-विद्यालय के आचार्य हैं और लिपिसुधार तथा राष्ट्र-भाषा-प्रचार के कामों में दिलचस्पी रखते हैं। प्रस्तुत निबन्ध उस भाषण का अंश है जो आपने नागपुर विश्वविद्यालय की हिन्दी-साहित्य-समिति में दिया था।—सं०]

हम अक्सर सुनते हैं कि साहित्य को राजनीति से दूर रखना आवश्यक है। साहित्य-सम्मेलनों में राजनीतिज्ञों को देखकर हमारे साहित्यकार नाराज़ हो जाते हैं और उनका बहिष्कार करने की कोशिश करते हैं। अगर इस भावना का यह अर्थ है कि साहित्य में राजनीति की तरह गुटबन्दियाँ न हों, तब तो यह सभी को मान्य होगी। किन्तु अगर इसका यह मतलब है कि हमारे साहित्य-सेवी देश की राजनीतिक हलचल और संघर्ष से दूर भागकर अपनी एक निराली कल्पित दुनिया में रहना चाहते हैं, तो यह खेद की बात है। यहाँ मैं राजनीति को व्यापक अर्थ में इस्तेमाल कर रहा हूँ। राजनीति से मेरा मतलब राजनीतिक दलों और चुनावों से नहीं; किन्तु सामान्य लोक-जीवन से है। चूँकि लोक-जीवन और राजनीति पृथक नहीं किये जा सकते, इसलिए कोई भी साहित्य-सेवी देश की राजनीतिक परिस्थिति की अवहेलना नहीं कर सकता।

साहित्य का लोक-जीवन से तो अटूट सम्बन्ध है ही; किन्तु साहित्य और साहित्यकारों के जीवन के सम्बन्ध का महत्त्व हममें से बहुत कम लोगों ने सोचा और समझा है। 'कला कला के लिए', 'साहित्य साहित्य के लिए' के विरोध में 'साहित्य और कला जीवन के लिए', की आवाज़ बहुत लोगों ने उठाई है। किन्तु हमको अब एक क़दम और बढ़ाना होगा, और वह है—'जीवन, साहित्य और कला के लिए।' साहित्य तो जीवन का एक रूप है, ढंग है। हमें अपने जीवन को इतना शुद्ध और सुन्दर बनाना है कि उसी में साहित्य और कला की झलक मिल सके। साहित्य और कला के नाम पर हम अपने व्यक्तिगत जीवन, रहन-सहन और शिष्टाचार को ठुकरा नहीं सकते। साहित्य और कला तो जीवन की एक दृष्टि (attitude towards life) है। अगर हमारा जीवन, कला और साहित्यमय नहीं है, तो हम साहित्यकार कहलाने योग्य नहीं बन सकते।

आख़िर साहित्य है क्या चीज़? वह तो हमारे जीवन की चिनगारी है। हमारे चारो ओर संसार में संघर्ष और कशमकश है। हमारे अन्दर भी सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रेम,

द्वेष, भावना और तर्क का सनातन संघर्ष है। जिस प्रकार दो पत्थर ज़ोर से रगड़ने से चिनगारियाँ पैदा हो जाती हैं, उसी तरह हमारे आत्मचिन्तन और साधना से हमारा अन्दरूनी संघर्ष बढ़ता है और चिनगारियों के रूप में हमारे अन्तःकरण से कला और साहित्य का जन्म होता है। इसी प्रकार का साहित्य जीवित और ज़िन्दादिल साहित्य बन सकता है। कशमकश और आत्म-चिन्तन की चिनगारियाँ तो बहुत से व्यक्तियों के अन्दर पैदा होती हैं; किन्तु जो व्यक्ति इन चिनगारियों को सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से व्यक्त कर सकते हैं, और अपनी अभिव्यक्ति की शक्ति के कारण दूसरे व्यक्तियों में भी उसी प्रकार की चिनगारियाँ पैदा कर सकते हैं, वे कलाकार अथवा साहित्यकार कहलाये जाते हैं। लेकिन जिस व्यक्ति में जीवन-साधना और आत्म-निरीक्षण के अभाव से चिनगारियाँ ही उत्पन्न नहीं होतीं, वह साहित्य का निर्माण कैसे कर सकेगा ?

एक पौधे ही को देखिये। वह अपनी जीवन-शक्ति के कारण खाद, पानी और सूर्य की किरणों से पोषण ग्रहण करके, स्वाभाविक और सुन्दर रूप से बढ़ता है और संसार को ललित और सुरभित पुष्प अर्पण करता है। इसी प्रकार एक साहित्यकार का विकास होना चाहिये। अगर वह अपनी जीवन-तपस्या और साधना से लोक-जीवन के संघर्ष को आत्म-चिन्तन-द्वारा पचा सके, तो उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि होगी, जो दुनिया को अधिक सम्पन्न बनाकर ऊँचा उठा सकेगा और जनता के जीवन में एक नई दृष्टि उत्पन्न कर सकेगा। ऐसे साहित्य-सेवियों का जीवन ही जीता-जागता साहित्य बन जाता है। यह इसी साधना और तपस्या का चमत्कार है कि तुलसी, सूर, कबीर और मीरा हिन्दी-साहित्य-गगन के गौरवपूर्ण नक्षत्र बन सके हैं और मानव-जीवन को अपने साहित्यरूपी प्रकाश से आलोकित कर रहे हैं। कविवर रवीन्द्र की ख्याति और प्रभाव का भी यही रहस्य है। रोमाँरोलाँ और टाल्सटाय अपनी जीवन-साधना के कारण ही आज संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में गिने जाते हैं।

जिस प्रकार एक सुन्दर और सुविकसित फूल में से सुन्दर सुगन्ध अनायास ही बहती है, जिस तरह पवित्र ज्योति में से प्रकाश सहज ही चारो ओर फैल जाता है; और जिस प्रकार शैलों की बर्फ़ से ढँकी हुई ऊँची-ऊँची शिखरें स्वभावतः सरिताओं को जन्म देती हैं, उसी प्रकार एक साधक, तपस्वी और कलाकार के अन्तःकरण से श्रेष्ठ, सुरुचिपूर्ण, और गौरवशाली साहित्य का प्रादुर्भाव होता है। अगर हमारा जीवन गन्दा है, अव्यवस्थित है, चरित्रहीन और असंयत है, तो हम कभी उत्कृष्ट साहित्य और कला के जनक नहीं बन सकते। हमारा साहित्य काग़ज़ और कपड़े के नकली फूलों की तरह होगा जो जीवन और सुरभि-हीन हैं। हम अपने जीवन की गंदगी को अपनी साहित्य-कृतियों से उसी प्रकार छिपाना चाहते हैं, जिस प्रकार कुरूप स्त्रियाँ अपने कालेपन और भद्देपन को पाउडर से ढँकना चाहती हैं। लेकिन सत्य की प्रखर ज्योति के सामने यह भद्दापन कब तक छिपा रहेगा ?

लोग अक्सर नामी कवियों और लेखकों के 'दर्शन' बड़े आदर-पूर्वक करने जाते हैं; किन्तु बहुधा उन्हें साहित्यकारों की ज़िन्दगी को पास से देखकर निराश और चकित होना पड़ता है। कुछ लोग मन को समझाने के लिए सोच लेते हैं कि शायद इसी प्रकार का असंयत और मर्यादा-रहित जीवन, कला और साहित्य के निर्माण के लिए ज़रूरी है। किन्तु इस तरह के विचारों को फैलाना जनता को भ्रम में डालना है। जिस व्यक्ति के आचार-विचार में सामंजस्य नहीं है,

वह बेसुरे सितार की तरह ही रहेगा। इसलिए अगर किसी साहित्यकार का जीवन अशुद्ध है, तो मैं उसकी साहित्य-कृतियों को, चाहे वे ऊपर से देखने में कितनी ही सुन्दर क्यों न हों, बिल्कुल महत्व देने को तैयार नहीं हूँ। जिस नदी का उद्गम ही गन्दा है, उसकी धारा स्वच्छ और पवित्र कैसे हो सकती है?

साहित्य-निर्माण के लिए कठिन तपस्या चाहिये। हमें अपनी इन्द्रियों को और मन को वश में करना पड़ेगा; अपने जीवन को शुद्ध बनाकर आचारों और विचारों में सामंजस्य स्थापित करना होगा। जब बालक ध्रुव ने अखण्ड तपश्चर्या की, तब देव के काव्यमय शंख ने उसके कपोलों को स्पर्श किया और उसके मुख से चमत्कारी काव्य का श्रोत बह निकला। तुकाराम के शुद्ध और साधनामय जीवन के कारण ही उन्हें अभंग-वाणी का वरदान प्राप्त हुआ। शुद्ध और उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण करने के लिए हमें भी अपने जीवन का ढंग बदलना होगा, आत्मनिष्ठ और चरित्रवान् बनना होगा। हमें सर्वप्रथम मनुष्य बनना पड़ेगा; मानवता के गौरव को समझना होगा। बाद में कला और काव्य अनायास ही हमारे जीवन से निकलेंगे।

ईशावास्योपनिषद् में कवि के गुणों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधान् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इस श्लोक के अर्थ का जितना भी मनन किया जाय, उतना ही वह हमारे लिए लाभकारी सिद्ध होगा।

गीत

[दुर्गेशनंदिनी]

सीमित रातों के अनजान बटोही, तुम यह नवीन रागिनी क्यों छेड़ रहे हो?

पथ बहुत लम्बा है—एक ऐसा गीत गाते हुए चलो पथिक, जिससे तुम्हारी अन्तरात्मा परिचित हो। सफल ध्वनि वही है जिसे तुम अपना सको। एक अनजान की तो तुम साँस तक न भर सकोगे।

रात्रि अनन्त नहीं है; अभी प्रभात हो जायगा।

तब विश्व के कोलाहल-गान से तुम अपना गीत अलग न कर सकोगे। सम्भव है कि तुम्हारी अन्तरात्मा भी उसे न सुने।

रात और तुम सीमित हो; पथ और आत्मा अनन्त हैं;

जगत नश्वर है पर गीत अमर। फिर परिचित गीत क्यों न गाओ?

सीमित रातों के अनजान बटोही, तुम यह नवीन रागिनी क्यों छेड़ रहे हो?

लागा पैलेस, बीकानेर।

दो बच्चों का घर

['विष्णु']

मास्टर साहब स्कूल चले गये। सुनयना ने भी घर का काम सँभाला और कामता बाबू के घर चली गई। उसका मन भारी हो रहा था जैसे बोलते ही रो पड़ेगी।

शान्ता ने देखा तो बोली—भाभी, जी कैसा है आज ?

सुनयना बोले-बोले कि दया हँस पड़ी—जी की कैसी बात कही, शान्ता जीजी... और न जाने आँखों ही आँखों में उसने क्या कहा कि सब हँस पड़ीं। वहाँ सुनन्दा, शान्ता, दया, कला और न जाने कौन-कौन थीं। सब बाबुओं और मास्टरों की घर वालियाँ। दस बजे कि वे लोग अपने-अपने काम पर जाते और घर का काम-काज निबटा बहुएँ पड़ोस में इकट्ठी होकर बात करतीं। बात तो वे करतीं, पर साथ-साथ हाथ भी उनका चलता रहता। कोई सीती तो कोई कातती। बुनना, अटेरना, काढ़ना और ऐसे ही अनेक काम वे करतीं। मानो कामता बाबू का घर एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ था। अनेक घर-रूपी राष्ट्रों की प्रतिनिधि-स्वरूप बहू-बेटियाँ वहाँ मीटिंग जोड़तीं, अनेक समस्याओं पर विचार-करतीं और बड़ी गम्भीरता के साथ अपना निर्णय देतीं। विवाह-शादी के दान-दहेज से लेकर मरने के बाद किसने कैसा काज किया, यह सब बातें अनेक प्रस्तावों के रूप में उस सभा में पेश होतीं। सुनन्दा के लड़के के जसुठन पर जो कच्ची और पक्की दो ज्योनारें हुई थीं, उसको लेकर उस संघ में बहुत काल तक वाक्युद्ध होता रहा, पर किसी निर्णय पर वे पहुँच न सकीं। आज भी वही विवाद छिड़नेवाला था कि भारी मन लेकर सुनयना वहाँ आ गई...।

दया की बात पर सब तो हँसीं पर सुनयना जैसे और भी भारी हुई। नेत्र दुबकर पिघल चले। कला ने देखा। हँसी न जाने कहाँ चली गई ? उठी और पास आकर बोली—सच-मुच तुम तो रो पड़ोगी ! बात क्या है ?

लेकिन सुनयना बोले-बोले कि आँसू आ गये।

'छि, छि, जीजी ! इत्ती बड़ी होकर रोती हो। कुछ कहो तो !'

सुनयना ने आँसू पोंछ लिये। बोली—कुछ नहीं।

चरखा रोककर सुनन्दा ने कहा—लता और विनोद तो अच्छे हैं री ? तू कहती क्यों नहीं ? मास्टर साहब से फिर लड़ी थी क्या ?

[४५०

और चरखे की आवाज गूँज उठी घर, घर, घर... ।

सुनयना अनमनी-सी। सुनन्दा को देखकर बोली—जीजी! घर में रोज-रोज की कल-कल भी क्या अच्छी चीज़ है ?

'तो क्या फिर लड़ाई हुई ?'—चरखा उसने रोक दिया ।

'देख-देख तू किधर फन्दा डाल रही है, पगली !'

'हाँ तो तू आज लड़ी थी ; क्यों ?'

तब काम सबका रुक गया मानो मिल में खतरे की घन्टी बजी। आँसू पोंछकर सुनयना बोली—क्या कहूँ जीजी। इतना पढ़कर डुबोया है। सुनकर कोई मानेगा भी नहीं।

शान्ता ने गम्भीर होकर कहा—यह तो ठीक है, जीजी! पढ़े-लिखों के घर में भी कलह हुई, तो फिर कैसे होगा ?

'अरी ये पढ़े-लिखे... ।'

दया न जाने क्यों रुक गई ? शायद धोती का फूल काढ़ते-काढ़ते सुई उँगली में जा चुभी थी।

सुनयना अब तनिक स्वस्थ हो आई—न जाने कॉलेज में कैसे निभी होगी। ज़रा-ज़रा-सी बात में तिनकते हैं। पुराने ख़्याल... ।

'छि, छि, यह भी क्या बात हुई ?'

'दो-दो बच्चों का घर ठहरा ।'

'ना, भाभी ! मेरी समझ में अक्ल का सम्बन्ध पढ़ाई से नहीं है। पढ़ाई तो केवल पेट भरने का साधन है ।'

'सच कहती है तू शान्ता ! यह रोज की दाँता-किल-किल...' और सुनयना जैसे फिर रो उठी।

'आग लगे ऐसे घर को। जहाँ शान्ति नहीं, वह भी क्या समझदार का घर है ?'

'बोलते हैं जैसे खा जायँगे। दो-दो बच्चों का घर ठहरा। इधर से उधर, उधर से इधर करते रहते हैं।'

'बच्चे भी भाग्य से होते हैं। नहीं तो नरेन का घर है। सब कुछ करके हार बैठी है, फिर भी सूनापन मिटा नहीं।'—सुनन्दा बोली और चरखे की आवाज़ फिर पूर्वतः घर, घर, घर... ।

'जिनके घर बच्चे हैं, उन्हें अखरता है। ना, जीजी! यह दुःख बड़ा है। मा कैसे सहेगी इसे...।'

शान्ता कह रही थी कि लता वहाँ आ गई। चौथे साल में गोरी-गोरी लड़की, झबूले बाल, बड़ी-बड़ी आँखें, गोल चेहरा ।

सुनयना के गले में बाहें डालकर बोली—मा ! विनोद गेंद माँगता है ।

सुनयना शान्ता की ओर देखकर मानो रो पड़ी। बोली—डिब्बे में से निकालकर दे दे। जा हट, तंग मत कर ।

बालिका को यह आवाज़ खरखरी लगी। क्षण-भर के लिए वह ठिठकी और चुपचाप उसने मा की ओर देखा ; परन्तु बोली नहीं, चली गई ।

दया बोली—कैसी सुन्दर बच्ची है ? मानो देवी ।

स्वेटर का फन्दा डालती-डालती शान्ता रुक गई—लेकिन भाभी । यह बात थी क्या ?

'बात कुछ हो तो कहूँ, शान्ता ! कूड़े में चक्कू डाल आई होगी यह छोकरी ! मैंने देखा तो उठा लाई ।...'

'बच्चों का घर है ऐसा हो ही जाता है । हाँ तो... ।

'तो क्या शान्ता ? वे वहीं खड़े थे, बोले—अब उसका क्या करोगी ?'

'मैंने कहा—क्यों ?'

'क्यों ? इतनी भी समझ नहीं । कितना गन्दा है यह, कूड़े से उठाकर चौके में ले जायगी इसे ? काठ का चाकू... ।

दया बोली—उन्होंने कहा यह ?

'हाँ, हाँ ! उन्होंने जो कालेज में पढ़े हैं ।'

'आग लगे ऐसी अक्ल को ।'

'बच्चों का घर है क्या-क्या चीज़ फेकोगी ।'

'यही तो जीजी ! क्या चीज़ फेकूँगी ? यही मैंने कहा कि बरस पड़े...' और कहते-कहते सुनयना रो पड़ी—जीना कठिन है इस घर में...

शान्ता बोली—दो-दो बच्चों का घर है । ऐसा भी क्या विचार ?

चरखा रोककर सुनन्दा ने कहा—ना सुनयना, तू रो मत ! यह अशुभ है । दो-दो बच्चों का घर है ।

'घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं, जीजी ! पर ऐसा भी क्या घर... ।'

चरखे की फिर घर घर घर... ।

पर सुनयना कहकर और भी भारी हुई—ना जीजी ! यह भी क्या एक दिन की बात है ?

और तभी लता फिर वहाँ आ गई, आहिस्ता-आहिस्ता विनोद की ऊँगली पकड़े-पकड़े... ।

'क्यों री...'—सुनयना इतना ही बोली ।

विनोद जो था बच्चा, हँसते-हँसते आकर गोद में दुबक गया । फिर बोला—मा ! बीबी नया चाकू... ।

लता ठिठक गई ।

सुनयना बोली—कैसा चाकू री ?

लता और भी सकुची । अपने में सिमटती-सिमटती मा से सट गई ।

सुनयना अभी भारी थी—फिर चाकू फेक आई क्या ? तू कह तो ?

विनोद फिर बोला—बीबी जेब...।

और काम सब रुक गया था । सारी की सारी उन बच्चों की ओर देखने लगीं ।

सुनयना ने लता की जेब टटोली तो नया चाकू निकला—यह क्या ?

सब ही ने मन में प्रश्न किया—यह क्या ?

सुनयना कुछ-कुछ समझी—तू बाजार से लाई है क्या ? डिब्बे में से अपने पैसे लेकर...!

लता बोली नहीं । सिर हिला दिया—हाँ ।

'क्यों री ?'

अब वह क्या कहे ? मा की धोती में मुँह दुबका लिया और रो पड़ी फूट-फूटकर।

सुनयना का हृदय जैसे बहा जाने लगा। छाती से चिपकाकर बोली—बेटी मेरी...।

और ओठ दातों के बीच में भींच लिये, कहीं आँसू न निकले। अब क्या रोने की बात थी ?

सुनन्दा के चरखे की घर-घर रुक गई। परे हटा कर बोली—ऐसा घर है री तेरा...।

शान्ता बोली—ऐसे बच्चे घर-घर हों।

और सब की सब, स्तम्भित, चकित, मा की छाती से चिपकी उस सिसकती हुई बालिका को देखती रहीं, देखती रहीं...।

ऐसा घर...।

ऐसी बालिका...।

कि उस चुप्पी को तोड़ती हुई सुनयना सुनन्दा की ओर देखकर बोल उठी—जीजी ! आशीर्वाद दो यह बालक जीये-जागे। यह भी क्या जीते...और छाती उमड़ पड़ी।

'हाँ, हाँ। क्या अशुभ बोलती है कलमुँही ? जुग-जुग जियें ये बच्चे !'

शान्ता बोली—दो बच्चों का यह घर !!!

और सुनयना जैसे गद्-गद् हो उठी। बोली—परमात्मा करे सबको मिले ऐसा घर...।

हिसार।

कोयले

[श्यामू सन्यासी]

(१)

लहरें उछालते समुद्र ने पहाड़ पर आक्रमण करते हुए कहा—मैं महान हूँ।

पहाड़ ने उपेक्षा से उसके आक्रमण को निस्सार करते हुए कहा—मैं महान हूँ।

और तभी आसमान से कड़कड़ाते वज्र ने गिरकर समुद्र को सुखा दिया और पहाड़ को धँसा दिया। दोनो को बे पता ही कर दिया।

(२)

उनकी सात पुश्तों की लड़ाई थी और वे जन्म-भर लड़ते रहे।

एक दिन श्मशान की उस काली भूमि पर दो चितायें जलीं और ठण्डी हो राख एक दूसरे को छूती घुलती-मिलती उड़ चली।

और जो एक दूसरे से अत्यन्त घृणा करते रहे वे अपनी भूल को ही रोककर रख न सके !

काशी, २१ : १२ : '३८

तुलसी की स्वकथित जीवनी

[तेजनारायण काक]

[श्री तेजनारायण काक 'क्रान्ति' गद्य-काव्य के सफल लेखक हैं। आपके गद्य-काव्यों का एक संग्रह 'मदिरा' प्रकाशित हो चुका है। अभी आप नवयुवक हैं और जोधपुर में रहते हैं।—सं०]

हमारे हिन्दी-साहित्य में जहाँ अर्थशास्त्र, विज्ञान, कला, राजनीति आदि विषयों के ग्रन्थों का अभाव है, वहाँ जीवन-साहित्य-विषयक पुस्तकें भी अत्यंत अल्प हैं। हिन्दी के अधिकांश प्राचीन कवि अपनी कृतियों में अपने विषय में कुछ लिखते हुए अथवा अपनी जीवन-संबंधी घटनाओं का उल्लेख करते समय संकोच करते थे, क्योंकि उन्हें यह आशंका बनी रहती थी कि कोई उनके सीधे-सादे आत्म-परिचय को भी आत्मश्लाघा न समझ बैठे। कदाचित् यही कारण है कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में रचित जीवन-साहित्य-विषयक ग्रन्थ, जिनमें से गोकुलनाथ-कृत '२५२ तथा ८४ वैष्णवन की वार्त्ताएँ', नाभादास का 'भक्तमाल' और बाबा वेणीमाधोदास का 'गोसांई चरित' प्रमुख हैं, केवल भक्ति तथा धर्म-प्रचार के दृष्टिकोण से ही लिखे गये; किन्तु आगे चलकर केशव ने आत्म-चरित-लेखन प्रारंभ किया और देव, बिहारी आदि कवियों ने भी स्वयं अपने जीवन पर यत्किञ्चित प्रकाश डालकर हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों का कार्य अनेक अंशों में सुगम बना दिया। भक्ति-काल के अन्य कवियों की तरह तुलसीदासजी ने भी अपने विषय में बहुत कम लिखा है, और जो कुछ थोड़ा-बहुत लिखा भी है, तो वह आत्म-ग्लानि, दुःख, दैन्य, दारिद्र्य अथवा रामचन्द्रजी की भक्ति से प्रभावित होकर। किन्तु इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य के अनुसार हमें जो तुलसीदासजी की जीवन-विषयक सामग्री प्राप्त होती है, वह इतनी अल्प तथा अव्यवस्थित है कि केवल उसी के आधार पर तुलसीदासजी का कोई सांगोपांग, संपूर्ण जीवन-चरित्र नहीं लिखा जा सकता। फिर भी बहिर्साक्ष्य के अनुसार तुलसीदासजी की जीवन-गाथा के विषय में उपलब्ध अधिकांश तथ्य जब कि अभी तक पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माने जाते, तो हमें विवश होकर तुलसीदासजी की जीवन-घटनाओं की खोज करते समय उन्हीं के ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। और ऐसा करना उचित भी है, क्योंकि कोई कवि या लेखक अपने विषय में स्वयं जो कुछ लिख जाता है, उसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

कुल

केवल अन्तर्साक्ष्य के अनुसार ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदासजी का जन्म किसी दरिद्र ब्राह्मण-कुल में हुआ होगा। कवितावली के ७३वें कवित्त की प्रथम पंक्ति इसके प्रमाण-स्वरूप उद्धृत की जा सकती है—'जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी-जनक को।'

'जायो कुल मंगन' का अर्थ है 'दरिद्रों के कुल में जन्म लिया'; किन्तु 'मंगन' शब्द बनारस तथा मिर्जापुर के आस-पास प्रायः ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि ब्राह्मणों का प्रधान धर्म भिक्षा माँगना ही माना जाता है। इस कारण 'जायो कुल मंगन' से तुलसीदासजी का किसी दरिद्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना सिद्ध होता है। विनय-पत्रिका के १३५वें पद की तीसरी पंक्ति है—'दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।'

इस पंक्ति के 'सुकुल' शब्द को लेकर कतिपय कुशाग्रबुद्धि समालोचकों ने तुलसीदासजी को 'शुक्ल' मान लिया है, किन्तु मेरी सम्मति में इस 'सुकुल' शब्द का सीधा-सादा अर्थ 'अच्छा कुल' मान लेना ही उचित जान पड़ता है। 'अच्छे कुल' से ब्राह्मण-कुल का भी बोध हो सकता है और यह भी सम्भव माना जा सकता है कि तुलसीदासजी के माता-पिता कुलीन होने पर भी शायद अभाग्यवश दरिद्र रहे हों। उपरोक्त पंक्ति की अगली ही लाइन है—

'जो पाइ पण्डित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।'

इस पंक्ति के 'पण्डित' शब्द से भी तुलसीदासजी के ब्राह्मण होने का समर्थन होता है। किन्तु कुछ उद्भट समालोचक कवितावली के बहत्तरवें कवित्त की प्रथम पंक्ति—

'जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागि बस,
खाये टूक सबके, विदित बात दुनी सो।'

उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि तुलसीदासजी ब्राह्मण नहीं थे। उनका कथन है कि यदि तुलसीदासजी ब्राह्मण होते तो वे 'जाति' शब्द लिखने के पश्चात् 'सुजाति' शब्द का प्रयोग नहीं करते; कारण—'सुजाति' शब्द से 'ब्राह्मण-जाति' का बोध होता है, क्योंकि संसार में ब्राह्मणों से श्रेष्ठ कोई जाति हो ही नहीं सकती। इन समालोचकों की इस अनोखी सूझ को केवल खींच-तान अथवा दूर की कौड़ी लाना ही कहा जा सकता है। उपरोक्त पंक्ति का सीधा-सादा साधारण अर्थ यही है कि तुलसीदासजी ने पेट की ज्वाला के वशीभूत होकर ऊँच-नीच का विचार किये बिना ही सबसे रोटी के टुकड़े माँग-माँगकर खाये। अस्तु। इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् हम तुलसीदासजी के कुल के विषय में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका जन्म अनुमानतः किसी कुलीन, किन्तु दरिद्र ब्राह्मण के गृह में हुआ था।

माता-पिता और जन्म-काल

अपने जन्म-काल अथवा माता-पिता के विषय में तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थों में कुछ भी नहीं लिखा है। केवल मानस की—

१. 'सम्भु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।' तथा
२. 'रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी। तुलसिदास-हित हिय हुलसी-सी।'

इन दो पंक्तियों में 'हुलसी' शब्द का प्रयोग होने के कारण ऐसा अनुमान किया जाता है कि तुलसीदासजी की माता का नाम 'हुलसी' था, क्योंकि वेणीमाधोदास के 'गोसाईं-चरित' तथा रहीम के 'सुरतिय, नरतिय, नागतिय' वाले प्रसिद्ध दोहे के अनुसार भी उनकी माता का नाम 'हुलसी' ही प्रमाणित होता है।

नाम

स्वयं तुलसीदासजी का बाल्यावस्था का नाम प्रायः सभी समालोचक 'रामबोला' मानते हैं और उसके समर्थन में वे कवितावली तथा विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्तियाँ पेश करते हैं—

१. 'रामबोला नाम, हौं गुलाम रामसाहि को।' (क० १००) तथा
२. 'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम।' (वि० प० ७६)

किन्तु इन पंक्तियों से यह स्पष्ट नहीं होता कि तुलसीदासजी का 'रामबोला' नाम बाल्यावस्था में ही रखा गया था अथवा राम-भक्त होने के पश्चात्। यह सम्भव हो सकता है कि बाबा वेणीमाधोदास ने शायद पहले ही इनका 'रामबोला' नाम कहीं देख या सुन लिया हो और फिर अपने 'गोसाईं-चरित' में लिख दिया हो कि इन्होंने जन्म लेते ही राम-नाम उच्चारण किया था, इस कारण इनका नाम 'रामबोला' पड़ा। किन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि इनका बाल्यावस्था का नाम 'रामबोला' था तो यह बात समझ में नहीं आती कि आगे चलकर इनका नाम तुलसीदास क्योंकर हुआ? बरवै-रामायण का ६९वाँ बरवै है—

'केहि गिनती महँ? गिनती जस बन-घास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥'

तथा कवितावली में लिखा है—'नाम तुलसी पै भौंडो भाग ते कहायो दास।' (क० १३) दोहावली का ११वाँ दोहा भी इसी आशय का है—

'नाम राम को कलपतरु कलि-कल्यान-निवास।
जो सुमिरत भयो भाग तें तुलसी तुलसीदास॥'

इन्हें पढ़कर यह सन्देह उत्पन्न होता है कि कदाचित् इनका पहले का नाम तुलसी था और फिर आगे चलकर तुलसीदास हो गया। किन्तु इनका तुलसी नाम कब और क्यों रखा गया, इसका उल्लेख इनके ग्रन्थों में नहीं मिलता। हाँ, सं० १९६९ में 'मर्यादा' मासिक पत्रिका के किसी अंक में प्रकाशित इन्द्रदेवनारायणजी के एक लेख के अनुसार बाबा रघुबरदास-कृत 'तुलसी-चरित' में इनका नाम तुलाराम लिखा गया है, जो कि इनके कुलगुरु तुलसीराम के नाम के आधार पर रखा गया था। किन्तु न तो उक्त 'तुलसी-चरित' ही अभी तक प्राप्त हुआ है, और न इन्द्रदेवनारायणजी का ही कहीं पता है। इसलिए इनका तुलाराम नाम भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। 'रामबोला नाम, हौं गुलाम रामसाहि को' और 'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम' से तो यही प्रकट होता है कि 'राम के गुलाम' अर्थात् रामभक्त होने के कारण ही इनका नाम रामबोला रखा गया। अन्तर्साक्ष्य के अन्य प्रमाणों के अनुसार तुलसीदासजी जन्म से ही राम-भक्त नहीं थे। अपने गुरु से भेंट होने के पश्चात् ही उनका ध्यान रामोपासना की ओर आकृष्ट हुआ था। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदासजी के

'राम को गुलाम' हो जाने के पश्चात् ही शायद उनके गुरु ने उनका नाम 'रामबोला' रख दिया हो।

बाल्यावस्था

कवितावली के—

'मातु-पिता जग जाय तज्यो, विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।' (क० ५७)

तथा विनय-पत्रिका के—

'जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे।' (प० २२७) और

'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु-पिता हू।' (प० २७१)

से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके माता-पिता ने इनका जन्म होते ही इन्हें त्याग दिया था। क्यों त्याग दिया था? इसका कोई कारण, सिवाय विधाता को दोष देने के, तुलसीदासजी ने नहीं बताया। सम्भव है इन्हीं वचनों के आधार पर यह जनश्रुति चल पड़ी हो कि तुलसीदासजी का जन्म अभुक्तमूल में हुआ था, इस कारण उनके माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था। किन्तु केवल यदि अन्तर्साक्ष्य के अनुसार ही कुछ खींच-तान की जाय तो 'जायो कुल मंगन' के आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कदाचित् तुलसीदासजी के माता-पिता अत्यन्त दरिद्र थे और अपने पुत्र का पालन करने में असमर्थ थे। इसलिए उन्होंने यह विचार कर तुलसीदासजी का परित्याग कर दिया कि इन्हें दीन अनाथों की तरह इधर-उधर भटकता देखकर कोई दया करके इन्हें अपने गृह में आश्रय प्रदान करे और इनका पालन-पोषण करे।

वास्तव में तुलसीदासजी की बाल्यावस्था अत्यन्त संकट में कटी। वे गली-गली की ठोकरें खाते द्वार-द्वार भीख माँगते फिरते थे।—

१—'बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।' (क० ७३)

२—'नीच, निरादर भाजन, कादर, कूकर टूकन लागि ललाई।' (क० ५७)

३—'जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागि बस,
खाये टूक सबके, बिदित बात दुनी सो।' (क० ७२)

४—'टूकनि को घर-घर डोलत कँगाल बोलि,
बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है।' (बाहुक २९)

५—'असन-बसन-हीन, बिषम-बिषाद-लीन देखि,
दीन दूबरो करै न हाय हाय को?' (बाहुक ४९)

दीन दूबरो करै न हाय हाय को?' (बाहुक ४९)
नाथ ...

६—'फिरयौ ललात बिनु नाम उदर, लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।' (वि० प० ३२७)

६—'फिरयौ ललात बिनु नाम उदर, लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।' (वि० प० २७५)

७—'द्वार-द्वार दीनता कही काढि रद, परि पाहूँ।' (वि० प० २७५)

७—'द्वार-द्वार दीनता कही काढि रद, परि पाहूँ।'

८—'हा हा करि दीनता कही, द्वार-द्वार बार-बार, परीन छार मुँह बायो।'
(वि० प० २७६)

९—'घर-घर माँगे टूक पुनि, भूपनि पूजे पाय।' (दोहावली १०९)

गुरु

इनकी ऐसी दुर्दशा देखकर किन्हीं स्वामी नरहर्यानन्द अथवा नरहरिदास को इन पर

दया आ गई और उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया—

'बूझ्यो ज्योंही, कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हौ रावरोजू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं।
मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं ॥' (वि० प० ७६)

मानस के—'बंदौं गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नर-रूप-हरि।' तथा विनय-पत्रिका के 'श्री हरि-गुरु-पद-कमल भजहु मन तजि अभिमान।' (पद० २०३) से यह अनुमान किया जा सकता है कि इनके गुरु का नाम नरहरिदास अथवा नरहर्यानन्द होगा, किन्तु 'नर-रूप-हरि' का सीधा अर्थ तो केवल 'मनुष्य के रूप में हरि' ही होता है।

शिक्षा-दीक्षा

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥'

इनका बाल्यावस्था में ही अपने गुरु से रामकथा सुनना प्रमाणित होता है; किन्तु इनकी कृतियों के अवलोकन से यह स्पष्ट पता चलता है कि आगे चलकर इन्होंने अपने गुरु के पास वेद-पुराण तथा दर्शन-शास्त्र का अवश्य अध्ययन किया होगा। बेनीमाधोदास के अनुसार तुलसीदासजी का काशी के किन्हीं शेषसनातन से शिक्षा प्राप्त करना कहा जाता है; किन्तु हमें अन्तर्साक्ष्य में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

पारिवारिक जीवन

अन्तर्साक्ष्य के अनुसार तुलसीदासजी के पारिवारिक जीवन के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते।

'मेरे ब्याह न बरेखी, जाति पाँति न चहत हौं।' (वि० प० ७६)—इसके अनुसार तो उनका विवाह न होना ही प्रमाणित होता है; किन्तु दोहावली का २५५ वाँ दोहा—

'खरिया, खरी, कपूर सब, उचित न, पिय! तिय त्याग।
कै खरिया मोंहिं मेलि, कै बिमल विवेक विराग ॥'

जनश्रुति के आधार पर उनका विवाहित होना सिद्ध होता है। दूसरे पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल में तुलसीदासजी ने विवाह-संबंधी अत्यंत सूक्ष्म बातों का भी इतनी कुशलता से वर्णन किया है कि पढ़नेवाले के हृदय में यह संदेह उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता कि तुलसीदासजी का विवाह अवश्य हुआ होगा। किन्तु यह भी संभव हो सकता है कि इन्होंने अविवाहित रहकर भी 'विवाहों' का गंभीर अध्ययन किया हो।

पर्यटन

अन्तर्साक्ष्य के अनुसार तुलसीदासजी का शूकरक्षेत्र, प्रयाग, काशी, अयोध्या, चित्रकूट, वारिपुर, दिगपुर आदि स्थानों में भ्रमण करना भी प्रमाणित होता है।

१—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।'
२—'नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।'

इन उद्धरणों से उनका शूकर-क्षेत्र तथा अयोध्या में रहना बिलकुल स्पष्ट है। कविता-वली में काशी की महामारी का वर्णन उनका काशी में रहना प्रकट करना है। चित्रकूट, प्रयाग, सीतावट, आदि का वर्णन तुलसीदासजी ने इतना सुन्दर किया है कि कोई स्वयं उन स्थानों को देखे बिना ऐसा वर्णन नहीं कर सकता।—

१—'मंदाकिनी मंजुल कमान असि, बान जहाँ,
वारि-धार धरी धरि सुकर सुधारिहै।
चित्रकूट अचल अहेरि बैठ्यो घात मानों,
पातक के व्रात घोर सावज सँहारिहै॥' (क० १४२)

२—'देव कहैं अपनी अपनी अवलोकन तीरथ राज चलो रे।
देखि मिटै अपराध अगाध, निमज्जत साधु-समाज भलो रे॥
सोहै सितासित को मिलिबो, तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे।
मानों हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥ (क० १४४)

३—'त्रिटप महीप सुरसरित समीप सोहै,
सीतावट देखत पुनीत होत पातकी।
वारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि,
अंकित जो जानकी चरन जलजात की॥' (क० १३८)

भ्रमण से तुलसीदासजी को जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ उसका प्रतिबिंब उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

जीवन की तिथियाँ

अब हम अन्तर्साक्ष्य के अनुसार तुलसीदासजी के जीवन की तिथियों पर विचार करते हैं। इनके ग्रन्थों की रचना के विषय में केवल दो तिथियाँ मिलती हैं—

१. मानस का रचना-काल :—

'संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥'

२. पार्वती-मंगल का रचना-काल :—

'जय संबत फागुन, सुदि पाँचै, गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु-छिनु॥'

इस छन्द के अनुसार पार्वती-मंगल का रचना-काल संवत् १६४३ ठहरता है।
मानस तुलसीदासजी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यदि इसे उन्होंने सं० १६३२ में लिखा तो उनका जन्म सं० १६३१ से बहुत पहले हो जाना चाहिये। आजकल किसी मनुष्य की प्रतिभा का पूर्ण विकास प्रायः ४०-४५ वर्ष की अवस्था में हुआ करता है तो उस ज़माने में लगभग ६०-६५ वर्ष की अवस्था में प्रतिभा अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचती होगी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदासजी का जन्म सं० १५५४ के आसपास ही हुआ होगा। इसके आधार पर वेणीमाधोदास का—

'पन्द्रह सै चौवन विषै कालिन्दी के तीर।
श्रावण शुक्ला सत्तमी तुलसी धर्‌यो सरीर ॥'

बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है और पं० रामगुलाम द्विवेदी की सं० १५८६ वाली जन्मतिथि अशुद्ध मालूम होती है। कवितावली के १७७वें कवित्त में 'मीन की सनीचरी' का उल्लेख है।—

'एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें,
कोढ़ में की खाजु-सी सनीचरी है मीन की।'

'मीन की सनीचरी' का अर्थ है—मीन राशि पर शनैश्चर की स्थिति। इसका फल है राजा-प्रजा दोनो का नाश। यह योग सं० १६६६ के प्रारंभ से सं० १६७१ के मध्य तक पड़ा था। इसलिए उपरोक्त उदाहरण से प्रमाणित होता है कि तुलसीदासजी सं० १६६६ और सं० १६७१ के बीच में जीवित थे।

दूसरे, कवितावली और दोहावली में तुलसीदासजी ने 'रुद्र-बीसी' का वर्णन किया है।

१. 'बीसी बिस्वनाथ की विषाद बढ़ो बारानसी,
बूझिये न ऐसी गति संकर-सहर की।' (क० १७०)
२. 'अपनी बीसी आपुही पुरिहि लगाये हाथ।
केहि विधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥' (दो० २४०)

यह 'रुद्र-बीसी' सं० १६६५ से सं० १६८५ तक रही। इसी समय में तुलसीदासजी ने काशी की महामारी का वर्णन किया है और यह लिखा है कि उन पर भी महामारी का आक्रमण हो गया था—

१. 'आधिभूत बेदन बिषम होत, भूतनाथ!
तुलसी बिकल, पाहि, पचत कुपीर हौं।' (क० १६६)
२. 'अधिभौतिक बाधा भई ते किङ्कर तोरे।' (वि० प० ८)
३. 'रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पद-पंकज गहत हौं।' (क० १६७)
४. 'बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये।' (बाहुक० २०)
५. 'सपथ महावीर की जो रहै पीर बाँह की।' (बा० २६)
६. 'तुलसी तनु-सर, सुख-जलज, भुज-रुज-गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये, कपि केसरी किसोर ॥' (दो० २३४)
६. 'भुज-रुज-कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रबेस।
बिहँगराज-बाहन तुरत काढ़िय, मिटइ कलेस ॥' (दो० २३५)

इन अवतरणों से यह प्रकट होता है कि महामारी की गाँठ तुलसीदासजी की बाँह में निकली थी। कवितावली का छेमकरीवाला कवित्त (१८०) तुलसीदासजी का अन्तिम कवित्त कहा जाता है।—

'पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेमकरी है।'—इसमें प्रयुक्त 'पयान' शब्द के अर्थ कुछ लोग तुलसीदासजी का 'महाप्रयाण' लगाते हैं। कुछ भी हो हमें यह बात

निस्सन्देह स्वीकार करनी पड़ेगी कि तुलसीदासजी 'रुद्र-बीसी' (सं० १६६५—सं०१६८५) में अवश्य जीवित थे और उन्हें इस समय महामारी हो गई थी। इसलिए संभव है इनकी मृत्यु सं० १६८० के लगभग ही हुई हो, क्योंकि बाबा वेनीमाधोदास ने भी यही लिखा है—

'संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण स्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यो सरीर ॥'

ग्रन्थ, व्यक्तित्व, स्वभाव, आदि

अब अन्तर्साक्ष्य के अनुसार यह जानने का प्रयत्न करना कि मानस, विनयपत्रिका और कवितावली को छोड़कर तुलसीदासजी के और कौन-कौन-से ग्रन्थ प्रामाणिक हैं तथा उन्हीं की लेखनी से लिखे हुए कहे जा सकते हैं, बहुत कठिन कार्य है, और इस बात का समुचित विवेचन यहाँ न करके किसी अन्य स्वतन्त्र लेख में ही किया जा सकता है। इस लेख में तो हमें केवल उनके जीवन पर ही प्रकाश डालना है। अस्तु, ऊपर लिखे हुए प्रमाणों के आधार पर हमें यह पता चलता है कि तुलसीदासजी की बाल्यावस्था और वृद्धावस्था दुःखमय थी, किन्तु अपनी प्रौढ़ावस्था में उन्होंने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, अनुपम रामभक्ति तथा वैराग्य-पूर्ण सरल जीवन से प्रभावित होकर बड़े-बड़े राजा भी उनके पाँव पूजा करते थे—

'घर-घर माँगे टूक, पुनि भूपनि पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥

इतना होने पर भी उनका जीवन कितना सीधा-सादा और आडम्बर-विहीन था—

'भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
मोको न लेनो न देनो कछू, कलि ! भूलि न रावरी ओर चितै हौं ॥ (क० १०२)

अथवा

'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सौं बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबै को एक न दैबै को दोऊ ॥'

यद्यपि तुलसीदासजी का स्वभाव अत्यन्त दीन और विनम्र था, फिर भी उनमें आत्म-गौरव की यथेष्ट मात्रा विद्यमान थी—

'साँची कहौं कलिकाल कराल मैं, ढारो बिगारो तिहारो कहा है।
काम को, कोह को, लोभ को मोह को, मोहिं सों आनि प्रपंच रहा है ॥
हौ जगनायक, लायक आजु, पै मेरियौ टेव कुटेव महा है।
जानकीनाथ बिना 'तुलसी', जग दूसरे सों करिहौं न हहा है ॥ (क० १०१)

अन्तर्साक्ष्य के अनुसार तुलसी की रामभक्ति किस प्रकार की थी, उनके हृदय में अन्य किन-किन देवी-देवताओं के लिए पूज्य-भावना विद्यमान थी और ब्रह्म, माया, जीव तथा समाज और साहित्य आदि के विषय में उनके क्या विचार थे?—इन सब विषयों की पूर्ण विवेचना विभिन्न निबन्धों में ही की जा सकती है, इसलिए मैं उनके विषय में यहाँ कुछ लिखना आवश्यक

नहीं समझता। केवल इतना ही कहूँगा कि तुलसीदासजी के लिए—

> सोइ सर्वज्ञ सोई गुनज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता।
> धर्मपरायन सोई कुलत्राता। राम चरन जाकर मन राता॥
> नीति-निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति-सिद्धान्त नीक तेहि जाना।
> सो कवि कोबिद सो रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा॥' *

जोधपुर

दिल्ली के खँडहर

[रामचन्द्र तिवारी]

[श्री रामचन्द्र तिवारी एक सफल निबन्ध-लेखक ही नहीं, एक सफल कवि भी हैं। आपने कुछ लम्बी कविताएँ लिखी हैं, जो अपने ढंग की नई हैं। उनकी व्यथानुभूति बहुत गहरी है।—सं०]

अनगढ़ पत्थर का ढेर कठिन
यह। वह श्यामल वर्षा-जल से
काई से पग तक ढँकी हुई
शीतल हिय ले दीवार खड़ी।
यह बूढ़ी, जर्जर, दीन महा
पतिहीन अभागिन आशा-सी
अपने सिर पर दो घास धरे
जब मुकुट भाग्य ने चूर्ण किया।
वह बीते के अँधकार-भरे
हिय-से जो हिम से पूर्ण सदा,
जिसमें माया ममता कोई
पर मार सकें क्यों ?—निकली है।
उर में पाले वह अग्नि बड़ी
जिसकी अति तरल शिखाओं से
परितप्त वायु हो भाग चली।

अपने वह बीते रैन-दिवस
नित याद करे; सकुचे तन में,
सिहरे : मन में; जब बादशाह
कर की अपनी तलवार कठिन,
जो प्रबल चण्डिका जिह्वा-सी
अब रक्त नहाई आई थी,
रख देता था इसके उर में।

रमणी पाशों में बादशाह,
हो बद्ध मूर्ख-सा मूढ़ बना।
जब प्याले पर प्याले ढलते
बिन रुके दौर पर दौर चले।
हो रिक्त सुराही ही अथवा
सुधि हीन सहारा इसका ले
अपने कृत्यों को कुछ क्षण को
बिसराता बल का अभिमानी।

---

* इस लेख में तुलसीदासजी की रचनाओं के उद्धरण काशी नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित तुलसी-ग्रन्थावली 'दूसरा खंड' के पहले संस्करण से दिये गये हैं।

वह याद करे वह कठिन काल
जब वह नन्हा सुकुमार कुसुम—
जिसने केवल दश वर्ष जगत
देखा था, जाना तनिक नहीं।
जो बादशाह का भाई था।
जिसके भय से नरनाह सदा
काँपा करता। यह एक दिवस
वैरी होगा।—बन्दी बनके
अति चुपके से आ गया यहाँ।
उसके वह सुन्दर नेत्र बड़े,
जिनको लख सरसिज सकुचाये
जिनकी चंचलता मीनों का
नित हरती रहती मान बड़ा।
भाई की आज्ञा से निष्ठुर
जल्लाद सभी हथियार लिये
तत्काल निकाले, यों आया।
बालक के नयनों से भय से
आँसू तत्क्षण ही सूख गये।
वह पत्थर-सा बोला इतना—
जल्लाद अन्त ही कर देना!
छाती पर चढ़कर दया भरे
उसने अपना वह शस्त्र तीव्र
इतने भीतर को धँसा दिया
नयनों से पहले प्राण गये।

वह सेठ बना बन्दी आया
जिसका धन आदिक जो कुछ था,
सब सेनापति ने लूट लिया।
फिर भी नरपति को ध्यान यही,
क्या जाने कितना द्रव्य अभी
इसके पल्ले में बँधा हुआ?
नारी की दुर्गति और निधन,
पुत्रों के सिर का जड़ कम्पन,
नयनों से देखा वज्र हुए।
फिर कारागृह में यंत्रों से
कटु नरक यंत्रणा भोग करी।
क्या पता बताये दीन भला?
उस धन का जो नृप-मन में है?
वह! तेल लगाकर भट्टी पर
तिल-तिलकर सेंका जाता था,
जब सुखद मृत्यु में सरक गया
जीवन ज्वाला से तड़प-तड़प!

वह सती अभाग भरी अबला
निजे रूप-राशि में फँसकर जो
कामुकता-ईंधन बनने को
नरपति की लाई गई वहाँ।
जिसकी विध्वंसक रूप-लपट
लहराई, परिजन मुरझाये।
जो पुष्प रत्नमय छत्र बसे
कारा में रो-रो जलती थी।
छैला बन आया बादशाह।
जो करे और पर कृपा-वृष्टि,
वह आज भिखारी दीन बना।
भयभीत मृगी-सी वह सहसा
बन उठी सिंहिनी। बादशाह
सकुचा, काँपा, हतमान हुआ,
झुँझला-झुँझलाकर लौट गया।
दो क्षण पीछे ले अस्त्र-शस्त्र
दो लम्बे-चौड़े वीर युवा
आ गये उठाकर कन्धों पर,
उस बिलख-बिलख चिल्लाती को,
अज्ञात भाग्य में चले गये।

वह ध्यान करे अपना यौवन;
जब बादशाह के रक्त लसे
सोने रत्नों से जड़े हुए
सौभाग्य-मुकुट को विजयी ने
निज पदाघात से चूर्ण किया।
अपने गृह में बन्दी था वह।
उसके विलास का रंग-मंच
कारा बनके आगे आया।
नृप दीन, मलीन, क्षुधित, व्याकुल
निज द्रोही सेवक की ठोकर
खाता जाता था। सहता था।

सहसा कारा का द्वार खुला
विजयी ने अट्टाहास किया।
उसका प्यारा जल्लाद खड़ा
यंत्रों को साधे, अचल नयन
कर देख रहा निज नरपति को।
विजयी के व्यङ्ग भरे स्वर से
कारा गूँजी, बन्दी काँपा।
धन-राशि अतुल वह बल-वैभव
मिट्टी से हीन मलीन हुए।
विजयी के केवल इङ्गित से
जल्लाद पुराने स्वामी की
छाती पर बैठा अस्त्र लिये।
सेवक स्वामी के भाव भरे
दो हृदय हुए से पास-पास।
दोनो ही सहसा भड़क उठे।
राजा के गोल कपोलों पर
दो भेद भरे मोती ढलके।
जल्लाद कँपा, वह हाथ कँपे
वह यंत्र कँपा, विजयी काँपा।
बस 'जल्दी कर!' की आज्ञा दी।
दे दूँ नरपति को सुखद मृत्यु,
इस आशा से उस सेवक ने
कँपते हाथों से आयुध को
स्थिर नयनों में ज़ोर लगा
अति ही गहरा-सा धँसा दिया।
तब तड़प उठी वह अर्द्ध-लाश।
विजयी चिल्लाया—है क्या यह?
इसको ऐसे ही छोड़ चलो
बस दोनो आँखें लो निकाल!
वह सेवक की माया ममता
उल्टी दुखदायी और हुई।
कँप-कँपकर नयन विहीन रुदन
करता। क्यों मरता बादशाह?
दुर्भाग्य गली में सिर टकरा
उसको तो जीवन खोना था।

वह रक्त भरा घायल गुम्बज,
वह भग्न हृदय ले मीनारें,
यह तहख़ानें दुर्गंध भरे,
अब चमगादड़ के वास बने।
जो घी से जगमग होते थे
कितनी सदियों से जुगुनूँ भी
उनमें जा पाता भूल नहीं।
यह राज्यों के कंकाल खड़े
पत्थर के उर में आग लिये।
यह दुखियाओं की आह लिये,
सुखियों की 'क्या परवाह' लिये।
यह अंध भूतमय वर्त्तमान
दाबे भविष्य आशा, निराश
सहते ऋतुओं का प्रबल कोप।
हिम तुहिन वारि परितप्त घाम।
यह मानव-इच्छा का शरीर
रो पड़ते लखकर धीर वीर।
यह वीरों का लाञ्छन कठोर।
यह सैनिकों का अभिमान, माया,
है बिछा हुआ दुर्गम पथ में।
यह पत्थर के कुछ संचित कण
उस महाकाल की लहरों से
खण्डित होकर थपकी खाते
भयभीत, गर्व से पछताकर
करुणा-कारक, दयनीय पड़े।

[संस्कृति-संघ-द्वारा] दिल्ली।

भोला

[श्री राजेन्द्रसिंह बेदी]

[श्री राजेन्द्रसिंह बेदी लाहौर के पोस्ट-आफ़िस-विभाग में काम करते हैं। उम्र आपकी पचीस से अधिक नहीं; पर इस उम्र में ही उर्दू के गल्पकारों में आपने विशिष्ट स्थान बना लिया है। शैली आपकी सरस और सरल है, और दृष्टि अत्यन्त पैनी है। छोटी से छोटी मनोवैज्ञानिक घटना भी उनसे बच नहीं पाती। आप उर्दू के प्रमुख प्रगतिशील लेखक हैं, 'गर्म कोट', 'पान शाप' 'छोकरी की लूट' आदि आपकी सुन्दर प्रगतिशील कहानियाँ हैं—सं०]

मैंने माया को पत्थर के एक कूज़े में माखन रखते देखा। छाछ की खटाई को दूर करने के लिए माया ने कुएँ के साफ़ पानी से कूज़े में पड़े हुए माखन को कई बार धोया। माखन के इस तरह इकट्ठा करने का एक विशेष कारण था। साधारणतया यह उसके किसी निकट-सम्बन्धी के आगमन की सूचना देता है। हाँ! अब मुझे याद आया। दो दिन के बाद माया का भाई अपनी विधवा बहन से राखी बँधवाने के लिए आनेवाला था। यों तो बहनें प्रायः भाइयों के यहाँ जाकर उन्हें राखी बाँधती हैं; पर माया का भाई अपनी बहन और भानजे से मिलने के लिए स्वयं ही आ जाया करता था और राखी बँधवा लिया करता था। राखी बँधवाकर वह अपनी विधवा बहन को यही निश्चय दिलाता था कि यद्यपि उसका सुहाग लुट गया है; पर जब तक उसका भाई जीवित है, वह उसकी रक्षा का दायित्व अपने कन्धों पर लेता है।

नन्हे भोले ने मेरे इस विचार का समर्थन कर दिया। गन्ना चूसते हुए उसने कहा—बाबा, परसों मामाजी आयेंगे ना?

मैंने अपने पोते को प्यार से गोद में उठा लिया। भोले का शरीर अत्यन्त कोमल था और उसका स्वर अत्यन्त मीठा था जैसे कमल की पत्तियों की कोमलता और गुलाब की लाली और बुलबुल की मृदु संगीत-लहरी को एक जगह इकट्ठा कर दिया गया हो। यद्यपि भोला मेरी लम्बी और घनी दाढ़ी से घबराकर मुझे अपना मुँह चूमने की इजाज़त न देता था, तो भी मैंने बरबस उसके सुर्ख़ गालों पर प्यार की मुहर अंकित कर दी।

और मुस्कराते हुए कहा—भोले, तेरे मामाजी...तेरी माताजी के क्या होते हैं?

भोले ने कुछ रुककर उत्तर दिया—मामाजी!

माया ने स्तोत्र पढ़ना छोड़ दिया और खिलखिलाकर हँसने लगी। अपनी बहू के इस तरह हँसने पर मैं दिल ही दिल में बहुत खुश हुआ। माया विधवा थी और समाज उसे अच्छे कपड़े

पहनने और उल्लास की किसी बात में भी भाग लेने से रोकता था। मैंने कई बार माया को अच्छे कपड़े पहनने, हँसने, खेलने और समाज की कोई परवाह न करने का उपदेश दिया था, पर माया ने स्वयं ही अपने आपको समाज के कठिन प्रतिबन्धों के हाथ सौंप दिया था। उसने अपने समस्त सुन्दर वस्त्रों और गहनों को एक सन्दूक में बन्द करके उसकी चाभी गाँव के जौहड़ में फेंक दी थी।

माया ने हँसते हुए अपना पाठ जारी रखा।

हरी हर हरी हर, हरी हर हरी !
मेरी वेर क्यों देर एती करी !

फिर उसने अपने लाडले को प्यार से बुलाते हुए कहा—भोले, तुम नन्हीं के क्या होते हो ?

'भाई।'—भोले ने उत्तर दिया।

'इसी प्रकार तेरे मामाजी मेरे भाई होते हैं।' भोला यह बात न समझ सका कि किस तरह कोई व्यक्ति एक ही समय में किसी का भाई और किसी का मामू हो सकता है। वह तो अब तक यही समझता आया था कि उसके मामा, उसके बाबाजी के भी मामाजी हैं। भोले ने इस उलझन में पड़ने की कोशिश न की और उचककर मा की गोद में जा बैठा और अपनी मा से गीता सुनाने का अनुरोध करने लगा। वह गीता केवल इसलिए सुनता था, क्योंकि वह कहानियों का शौकीन था और गीता के अध्याय के अन्त में माहात्म्य सुनकर वह बहुत खुश होता था और फिर जौहड़ के किनारे उगी हुई दूब की मखमली तलवारों पर बैठकर घण्टों उन पर विचार किया करता था।

दोपहर को मुझे घर से ६ मील दूर अपने मुज़ारों को हल पहुँचाने थे। वृद्ध शरीर, उस पर विपत्तियों का मारा हुआ! युवावस्था में तीन-तीन मन बोझ उठाकर दौड़ा किया, पर अब बीस सेर बोझ के नीचे गर्दन दुखने लगती है। बेटे की मृत्यु ने आशा को निराशा में परिणत करके कमर तोड़ दी। अब मैं भोले के सहारे ही जीता था। नहीं तो वास्तव में मैं मर चुका था। रात को थकन के कारण बिस्तर पर लेटते ही ऊँघने लगा। ज़रा देर में माया ने मुझे आवाज़ दी कि दूध पी लो। अपनी बहू की कर्तव्य-परायणता को देखकर मैंने दिल ही दिल में उसे आशीष दी और कहा—मुझ बूढ़े की इतनी चिन्ता न किया करो बेटा!

भोला अभी तक सोया न था। उसने एक ही छलाँग लगाई और मेरे पेट पर चढ़ गया। बोला—बाबाजी, आज आप कहानी नहीं सुनायेंगे क्या ?

'नहीं बेटा।'—मैंने आकाश पर निकले हुए सितारों को देखते हुए कहा—मैं आज बहुत थक गया हूँ—कल दोपहर को तुम्हें अवश्य सुनाऊँगा।

भोला ने रूठते हुए जवाब दिया—मैं तुम्हारा भोला नहीं बाबा। मैं माजी का भोला हूँ।

भोला भी जानता था कि उसकी यह बात मेरे लिए सर्वथा असह्य है, मैं सदैव उससे यही सुनने का अभ्यस्त था कि भोला बाबाजी का है और माताजी का नहीं है, पर उस दिन हलों को उठाकर छः मील तक ले जाने और वापस आने के कारण मैं बहुत थक गया था। शायद मैं इतना न थकता, यदि मेरा नया जूता एड़ी को न दबाता और इस कारण मेरे पाँवों में टीसें न उठतीं। इस असाधारण थकन के कारण मैंने भोले की वह बात भी सही। चुपचाप मैं आकाश की ओर देखने लगा। दक्षिण-उत्तर में एक उज्ज्वल नक्षत्र मशाल की भाँति चमक रहा था।

[३७६

और ध्यान से देखने पर वह मद्धम-सा होने लगा और तब जाने कब मेरी पलकें झुकते-झुकते बिलकुल बन्द हो गईं।

प्रातः उठते ही मुझे ख़याल आया कि भोला सोचता होगा कि कल रात बाबा ने मेरी बात किस तरह सह ली। इस विचार ही से मैं काँप गया, भोला यह न समझ ले कि बाबा मेरी परवाह नहीं करता शायद यही कारण था कि सुबह उसने मेरी गोद में आने से इनकार कर दिया और बोला—मैं नहीं आऊँगा तेरे पास बाबा।

'क्यों भोले ?'

'भोला बाबाजी का नहीं—भोला माजी का है।'

मिठाई के लालच से मैंने भोले को मना लिया और दूसरे क्षण भोला बाबाजी का बन गया और मेरी गोद में आ गया और अपनी टाँगों के गिर्द मेरे शरीर पर लिपटे हुए कम्बल को लपेटने लगा। माया हरीहर स्तोत्र पढ़ रही थी। फिर उसने पाव भर माखन निकाला और उसे पत्थर के कूज़े में डालकर कुएँ के साफ़ पानी से छाछ की खटाई को धो डाला। अब माया ने अपने भाई के लिए सेर भर माखन तैयार कर लिया। बहन भाई के इस स्निग्ध प्रेम को देखकर मैं मन ही मन में प्रसन्न हो रहा था। नारी का हृदय प्रेम का एक अथाह सागर है। मा-बाप, भाई-बहन, पति और पुत्र, सब से वह बहुत ही प्यार करती है और इतना प्यार करने पर भी वह समाप्त नहीं होता। एक दिल के होते हुए भी वह सब को अपना दिल दे देती है। भोले ने दोनों हाथ मेरी गालों की झुर्रियों पर रखे, माया की ओर से मेरे चेहरे को हटाकर अपनी ओर कर लिया और बोला—

'बाबा तुम्हें अपना वादा याद है न !'

'किस बात का बेटा ?'

'तुम्हें आज दुपहर को मुझे कहानी सुनानी है।'

यह तो भोला ही जानता होगा कि उसने दुपहर के आने की कितनी प्रतिक्षा की। भोले को इस बात का ज्ञान था कि बाबाजी के कहानी सुनाने का समय वही होता है जब वे खाकर उस पलँग पर जा लेटते हैं, जिस पर वह बाबाजी या माजी की सहायता के बिना नहीं चढ़ सकता इसलिए समय से आधा घंटा पहले ही उसने खाना परोसने का अनुरोध शुरू कर दिया। मेरे खाने के लिए नहीं बल्कि अपने कहानी सुनने के चाव से। मैंने नियम से कोई आधा घंटा पहले खाना खाया। अभी अन्तिम ग्रास भी न तोड़ा था कि पटवारी ने दरवाजे पर दस्तक दी। उसके हाथ में एक हलकी-सी जरीब थी। उसने कहा कि खानकाहवाले कुएँ पर आपकी ज़मीन को मापने के लिए मुझे आज ही अवकाश मिल सकता है फिर नहीं।

पटवारी से मैंने कहा कि तुम कुएँ पर चलो और मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ जाऊँगा।

दालान की ओर निगाह दौड़ाई तो मैंने देखा, भोला चारपाई के चारों ओर घूमकर बिस्तर बिछा रहा था। बिस्तर बिछाने के बाद उसने एक बड़ा-सा तकिया भी उस पर रख दिया और स्वयं पायँती में पाँव अड़ाकर चारपाई पर चढ़ने का प्रयास करने लगा। यद्यपि भोले का मुझे अनुरोध करके जल्दी खाना खिलाना और बिस्तर बिछाकर मेरी खातिर करना अपने स्वार्थ के कारण था, पर फिर भी सहसा एक विचार आ जाने से मैंने कहा—अन्त को माया ही का बेटा है न, परमात्मा उसे चिरजीवी करे!

जब भोले ने देखा कि मैं बाहर जाने को तैयार हूँ तो उसका चेहरा इस प्रकार मद्धम पड़ गया, जिस प्रकार गत रात्रि दक्षिण-उत्तर में चमकते हुए तारे को निर्निमेष देखते रहने से उसकी दीप्ति मन्द पड़ गई थी।

माया ने कहा—बाबाजी, इतनी भी क्या जल्दी है—खानक़ाहवाला कुआँ कहीं दूर तो भागा नहीं जाता। आप कम से कम आराम तो कर लें।

'ऊँ हूँ'—मैंने कहा—पटवारी वापस हो गया तो फिर यह काम एक महीने से पहले न हो सकेगा।

माया चुप हो गई, भोला मुँह बसोरने लगा, उसकी आँखें सजल हो गई। उसने कहा—बाबा मेरी कहानी, मेरी कहानी...

'भोले, मेरे बच्चे'—मैंने भोले को टालते हुए कहा—दिन को कहानी सुनाने से राही रास्ता भूल जाते हैं।

'रास्ता भूल जाते हैं'—भोले ने सोचते हुए कहा—बाबा तुम झूठ बोलते हो। मैं बाबाजी का भोला नहीं बनता।

अब जब कि मैं थका हुआ भी नहीं था ओह पन्द्रह-बीस मिनट आराम के लिए निकाल सकता मैं यह बात कैसे सह लेता। मैंने अपने कन्धे से चादर उतारकर पायँती पर रखी और अपनी दुखती हुई एड़ी को जूते के कड़े कारावास से मुक्ति दिलाकर पलँग पर लेट गया। भोला फिर अपने बाबा का बन गया। लेटते हुए मैंने भोले से कहा—

'अब यदि कोई राही अपना मार्ग भूल जाय तो इसका जिम्मा तुम्हारा।'—और तब मैंने भोले को सात शाहज़ादों और सात शाहज़ादियों की लम्बी कहानी सुनाई। कहानी में शाहज़ादों और शाहज़ादियों के विवाह को मैंने पहले से कहीं ज्यादा मनोरञ्जक ढंग पर सुनाया। भोला सदैव उस कहानी को पसन्द किया करता था, जिसके अन्त में शाहज़ादे या शाहज़ादी का विवाह हो जाय; पर उस रोज़ मैंने भोले के मुँह पर उल्लास का कोई चिन्ह न देखा।

तभी मुझे ख़याल आया कि पटवारी कुएँ पर मेरी प्रतीक्षा करते-करते कहीं थककर अपनी हलकी-हलकी झंकार पैदा करनेवाली जरीब जेब में डालकर कहीं अपने गाँव को न चल दे। यह ख़याल आते ही मैं उठा और नये-नये जूते में अपनी दबती एड़ी डाल चादर कन्धे पर फेंक लँगड़ाता-लँगड़ाता भागा। यद्यपि माया ने जूते को सरसों का तेल लगा दिया था, पर वह ज़रा भी नरम न हुआ था।

× × ×

जब संध्या को मैं वापस फिरा तो मैंने भोले को उल्लास के साथ दालान से आँगन में और आँगन से दालान में कूदते-फाँदते देखा। वह लकड़ी के एक डंडे को घोड़ा बनाकर भगा रहा था और साथ-साथ तान के साथ गाता था।

'चल मामाजी के देश—रे घोड़े मामाजी के देश
मामाजी के देश, हाँ-हाँ मामाजी के देश घोड़े...

ज्योंही मैंने डेउढ़ी में क़दम रखा भोले ने अपना गाना समाप्त कर दिया और बोला—बाबा आज मामाजी आयँगे न?

'हाँ आयँगे'—मैंने कहा।

और उल्लास के साथ भोला कह चला—मामाजी अगनबोट लायेंगे, मामाजी कच्चू (कुत्ता) लायेंगे, मामाजी के सिर पर छल्लियों (मकई के भुट्टों) का ढेर होगा न बाबा! हमारे यहाँ तो छल्लियाँ होती ही नहीं बाबा...और वे ऐसी मिठाई लायेंगे जो तुमने सपने में भी न देखी होगी—हाँ जी।

और वह उछलने लगा और मैं सोचने लगा, किस उत्तमता के साथ उसने 'सपने में भी न देखी होगी' के शब्द सात शहज़ादों और सात शहज़ादियोंवाली कहानी से याद रखे थे। 'जीता रहे'—मैंने कहा—परमात्मा इसकी बड़ी आयु करे, बड़ा बुद्धिमान लड़का होगा, हमारे कुल के नाम को रौशन करेगा।

शाम होते ही भोला दरवाजे में जा बैठा, ताकि मामाजी की शक्ल देखते ही अन्दर की ओर दौड़े और पहले-पहल अपनी मा को अपने मामाजी के आने की ख़बर सुनाये।

दियों को दियासलाई दिखाई गई, ज्यों-ज्यों रात का अन्धकार गहरा होता जाता, दियों का प्रकाश भी अधिक होता जाता। चिन्ता के स्वर में माया ने कहा—बाबाजी, भैया अभी तक नहीं आये?

'किसी काम के कारण ठहर गये होंगे।'

'यों तो रुकनेवाले नहीं।'

'सम्भव है कोई आवश्यक काम आ पड़ा हो—राखी के रुपए डाक में भेज देंगे...'

'पर राखी?'

'हाँ राखी की कहो...उन्हें अब तक तो आ जाना चाहिये था।'

मैंने भोले को जबरदस्ती दहलीज़ पर से उठाया और प्यार करते हुए कहा—शायद सुबह को आजायें तेरे मामूजी, मेरे भोले!

भोले ने अपनी कोमल भुजाओं को अपनी माँ के गले में डालते हुए कहा—मेरे मामाजी तुम्हारे क्या होते हैं?

'जो तुम नन्ही के हो।'

'भाई?'

'तुम जानो।'

'और बंसी (भोले का मित्र) के क्या होते हैं?'

'कुछ भी नहीं'

'भाई भी नहीं?'

'नहीं।'

और भोला इस विचित्र बात को सोचता हुआ सो गया। जब मैं अपने बिस्तर पर लेटा तो फिर वह मशाल की भाँति चमकनेवाला दक्षिण-पूर्व का सितारा मेरे घूरने के कारण आकाश के एक कोने में मंद होता हुआ दिखाई दिया। मुझे फिर भोले का चेहरा याद आ गया, जो मेरे खानकाहवाले कुएँ को जाने के कारण यों ही मन्द पड़ गया था। 'कितना शौक है भोले को कहानियाँ सुनने का'—मैंने सोचा—वह अपनी मा को स्तोत्र भी नहीं पढ़ने देता। इतना बच्चा भला गीता को क्या समझे, पर मात्र इस कारण से कि इसके प्रत्येक अध्याय का माहात्म्य एक दिलचस्प कहानी होता है, वह संतोष के साथ अध्याय की समाप्ति और माहात्म्य के आरम्भ होने की प्रतीक्षा किया करता है।

माया का भाई अभी तक नहीं आया—शायद न आये। मैंने दिल में कहा—उसे अपनी बहन का प्रेम से जमा किया हुआ माखन तो खाने के लिए आ जाना चाहिये। आकाश के नक्षत्रों की ओर देखते-देखते मैं ऊँघने लगा, कि सहसा माया की आवाज़ से मेरी नींद खुली।

वह दूध का कटोरा लिये खड़ी थी।

'मैंने कई बार कहा है, तुम मेरे लिए इतना कष्ट न किया करो।'—मैंने कहा।

दूध पीने के बाद मेरी आँखें छलछला आईं। उसकी सेवा से अति प्रसन्न होकर मैं उसे यही आशीष दे सकता था कि वह सुहागवती हो, उसका सुहाग बना रहे—कुछ ऐसा ही कहना चाहा ; पर दीर्घ निश्वास बरबस मेरे अन्तस्तल को चीरकर निकल गया, इस ख़याल ने मेरी ज़बान पकड़ ली कि उसका सुहाग तो दो वर्ष हुए लुट गया था और अपने स्वर को यथासम्भव सम्हालते हुए मैंने कहा—

'बेटी, तुम्हें इस सेवा का फल अवश्य मिलेगा।'

तभी मेरे दायीं ओर बिछी हुई चारपाई से नन्हीं को परे धकेलता हुआ और आँखें मलता हुआ भोला उठा। उठते ही उसने कहा—

'बाबा, मामाजी अभी तक आये क्यों नहीं ?

'आ जायेंगे बेटा सो जाओ। वे सवेरे आ जायेंगे।'

अपने बच्चे को अपने मामा के लिए इतना बेचैन देखकर माया भी कुछ विह्वल-सी हो गई ; पर भरसक संयत रहने का प्रयत्न करके वह भोले को थपकने लगी।

फिर स्वयं उसकी पलकें भारी होने लगीं और यों भी युवावस्था में नींद ख़ूब आती है, और माया तो दिन-भर काम करते-करते थक जाती थी। मेरी नींद तो बूढ़ों की नींद थी। कभी एक-आध घण्टे तक सो लेता, फिर दो घण्टे जागता रहता, फिर कुछ देर ऊँघने लगता और शेष रात्रि तारे गिन-गिनकर बिता देता। मैंने माया को सो जाने के लिए कहा और भोले को अपने पास लिटा लिया।

'बत्ती जलती रहने दो, हाँ ज़रा धीमी कर दो। मेले के कारण बहुत-से चोर-चकार इधर घूम रहे हैं।'—मैंने प्रायः सोई हुई माया से कहा।

सबसे बड़ी बात यह थी कि इस बार मेले पर जो लोग आये थे, उनमें ऐसे आदमी भी थे, जो कि नन्हे-नन्हे बच्चों को उठाकर ले जाते हैं। पड़ोस के एक गाँव में दो-एक ऐसी दुर्घटनाएँ हो चुकी थीं और इसीलिए मैंने भोले को अपने पास लिटा लिया था। भोला अभी सोया नहीं था, पर मेरी आँख लग गई।

फिर जब मेरी आँख खुली तो मैंने बत्ती को दीवार पर न देखा। घबराकर मैंने हाथ पसारा तो देखा कि भोला भी बिस्तर पर न था ! अन्धों की भाँति मैंने दीवारों से टकराते और ठोकरें खाते हुए सब चारपाइयों को देख डाला, माया को भी जगाया, घर का कोना-कोना छान डाला ; पर भोला कहीं न था !

× × ×

अपना सिर मैंने पीट लिया—माया हम लुट गये, माया हम लुट गये—अनायास मैंने कहा।

माया मा थी। उसके दिल पर जो बीती, यह कोई उससे पूछे। अपने सुहाग के लुटने

पर उसने इतने बाल न नोचे थे, जितने कि उसने उस समय नोचे। उसका हृदय बैठा जा रहा था और वह उन्मादिनी की भाँति चीखें मार रही थी। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ शोर सुनकर जमा हो गईं और कुहराम-सा मच गया।

मैं स्त्रियों से भी अधिक विह्वल था। उस दिन एक बाज़ीगर को मैंने अपने घर के अन्दर बुरी तरह घूरते भी देखा था ; पर मैंने परवाह नहीं की थी। अब वह समय कहाँ हाथ आये ! मैंने सच्चे दिल से प्रार्थना की, कि किसी वक्त का दिया काम आजाये, मिन्नतें मानीं कि भोला मिल जाय। वही तो मेरे अँधेरे घर का उजाला था, उसी के दम से मैं और माया जीते थे। उसी की आशा से हम उड़े फिरते थे, वही हमारा पंख था, वही हमारी आँखों की ज्योति, उसके बिना हम ज्योति-हीन थे, पंख-हीन थे।

पड़ोसी इधर-उधर ढूँढ़ने चले गये। मैं तो जैसे शक्ति-हीन-सा हो गया था ; पर दुःख के पहले रेले के बाद ज्यों ही सम्हला तो देखा कि माया अचेत हो गई है, उसके हाथ अन्दर की ओर मुड़ चले हैं, नसें खिंची हुई हैं, आँखें पथराई हुई हैं और स्त्रियाँ उसकी नाक बन्द करके चम्मच से उसके भिंचे हुए दाँतों में पानी के चन्द कतरे डालने का प्रयास कर रही हैं।

क्षण भर के लिए मैं भोले को भी भूल गया। मेरे पाँव तले से धरती निकल गई। एक साथ घर के दो आदमी जब आँखों के सामने देखते-देखते हाथों से जाते दिखाई दें तो उस समय दिल की क्या दशा होती है, यह वही जान सकता है जिस पर कभी ऐसी विपत पड़ी हो। काँपते हुए मैंने परमात्मा को बुरा-भला कहा। इन दुःखों को दिखाने से पहले उसने मेरी जान ही क्यों न ले ली, पर जिसकी मौत आती है, उसके सिवा किसी का बाल भी बाँका नहीं होता।

सम्भव था कि मैं भी माया की भाँति अचेत होकर गिर पड़ता कि माया होश में आ गई। मुझे पहले से कुछ सहारा मिला। दिल में मैंने सोचा, मैं ही माया को सहारा दे सकता हूँ, यदि मैं ही स्वयं इस तरह साहस छोड़ दूँ तो माया किसी तरह नहीं बच सकती। अपने आपको सम्हालते हुए मैंने कहा—

'माया बेटी, देखो यों न मेरा घर तबाह करो—हौसला रखो। जिनके बच्चे उठाये जाते हैं, आख़िर मिल भी जाते हैं। बाज़ीगर बच्चों को मारने के लिए नहीं ले जाते, पालकर बड़ा करके किसी काम में लाने के लिए ले जाते हैं। भोला मिल जायगा।'

मा के लिए सान्त्वना के ये शब्द निरर्थक थे। मैं स्वयं हैरान था कि मैं कैसे चुप कर गया, पर पुरुष के नाते मुझे साहस ही करना चाहिये था।

उस समय आधी रात इधर थी और आधी उधर, जब हमारा पड़ोसी, इस दुर्घटना की खबर थाने में जो गाँव से दस कोस के फ़ासले पर था, पहुँचाने के लिए रवाना हुआ। और हम सब हाथ मलते हुए सुबह की प्रतीक्षा करने लगे कि शायद दिन निकलने पर कुछ सबील निकल आये।

सहसा दरवाज़ा खुला और हमने भोले के मामा को अन्दर आते हुए देखा। भोला उसकी गोद में था और उसके सिर पर मिठाई की टोकरियाँ और एक हाथ में बत्ती थी।

हमें मानो सारे संसार की निधि मिल गई। माया ने भाई को पानी पूछा न कुशल-क्षेम, और उसकी गोद से भोले को छीनकर उसे छाती से लगाकर चूमने लगी। अड़ोस-पड़ोस ने

बधाई दी। मुरझाये हुए कमल खिल गये।

तब भोले के मामा ने कहा—मुझे किसी काम के कारण देर हो गई थी। देर से रवाना होने पर रात के अँधेरे में मैं अपना मार्ग भूल बैठा। सहसा मुझे एक ओर से कुछ प्रकाश की किरण दिखाई दी। मैं भी उधर बढ़ा। इस भयानक अन्धकार में परसपुर से आनेवाली सड़क पर भोले को बत्ती पकड़े हुए काँटों में उलझे देखकर आश्चर्यान्वित रह गया। मैंने उस समय उसके वहाँ होने का कारण पूछा तो उसने कहा कि बाबाजी ने आज दोपहर को मुझे कहानी सुनाई थी और कहा था कि दिन के समय कहानी सुनाने से पथिक मार्ग भूल जाते हैं। तुम देर तक न आये तो मैंने यही जाना कि तुम रास्ता भूल गये होगे और बाबा ने कहा था कि कोई राही अपना मार्ग भूल जाय तो तुम दोषी होगे ना !!

लाहौर।

स्त्रीत्व

['धूमकेतु']

[अनु०—शंकरदेव विद्यालंकार]

[श्री 'धूमकेतु' का पूरा नाम श्री गौरीशंकर जोशी है। हिन्दी-संसार आपसे काफ़ी परिचित है। कहानी-लेखक के सिवा श्री 'धूमकेतु' एक सफल उपन्यासकार और निबन्ध-लेखक भी हैं। इधर आपने बिल्कुल नये ढंग की कुछ कहानियाँ लिखी हैं। 'मल्लिका' के नाम से अभी-अभी आपकी नवीन कहानियों का और 'सर्जन अने चिन्तन' के नाम से विचारों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। आज-कल आप अहमदाबाद में रहते हैं।—सं०]

मा और बेटी दोनो ने एक दूसरी की ओर देखा और ऐसा प्रतीत हुआ मानो दोनो एक दूसरी को समझ गई हों।

पुरुष आवाज़ किये बिना काम—वास्तविक काम—जिनमें जीवन और जन्म मरण की समस्या होती है, नहीं कर सकते। स्त्रियाँ अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों को—प्रेम के कार्यों को—दृष्टि-मात्र से कर लेती हैं। बोले बिना ही संकेत-मात्र से, रेखा-मात्र से, सूचक-दृष्टि-मात्र ही से कर लेती हैं।

सेठ मनमोहनदास की उमर पचपन वर्ष की हो जाने पर भी सन्तान में, उन्नीस वर्ष की एक कन्या के सिवाय और कोई न था। समृद्धि और संपत्ति आवश्यकता से अधिक हो जाने पर मनुष्य का दो प्रकार से विनाश करती है। एक तो उनकी छाया अन्य किसी को आगे नहीं आने देती। दूसरे, उनका तेज स्वयं मालिक को अपना भान नहीं होने देता। पचपन वर्ष की उम्र में और वह भी जब कि शारीरिक शिथिलता स्पष्ट दृष्टि-गोचर हो रही थी, सेठानी की मृत्यु होने पर, केवल तीन महीने बाद, सेठ मनमोहनदास ने दूसरा घर बसाने का निश्चय किया। और चुपके से बसा भी लिया।

आज पहले-पहल, सुन्दर महल-जैसे मकान के मुख्य द्वार पर मोटर में से उतरती हुई नवीन मा तथा द्वार पर खड़ी हुई पुत्री ने एक दूसरी की ओर देखा और मानो एक दूसरी को समझ गई हों, ऐसा प्रतीत हुआ।

× × ×

इसका कारण था। नई माता के चेहरे पर ग्लानि की स्पष्ट छाया थी। युवती पुत्री ने भी विषादपूर्ण शान्ति से नई मा को आते हुए निहारा था। बाद को जब ये दोनो दृष्टियाँ आमने-सामने मिलीं, तब उनमें पति अथवा पिता, इन दोनो में से किसी का भी अस्तित्व न हो ऐसा प्रतीत हुआ। एक पुरुष हो और दो स्त्रियाँ हों, इस प्रकार का स्पष्ट मूक-विचार जन्म लेता हुआ प्रतीत हुआ। सेठ मनमोहनदास की युवती पुत्री तरला पढ़ी-लिखी थी। उसकी शिक्षा-दीक्षा ने उसे जीवन के अनेक प्रश्नों पर विचार करने लायक बना दिया था। उसका शरीर सशक्त, तेजस्वी और निर्मल था। उसका स्त्रीत्व जाग्रत था। उसे अनुभव हो रहा था कि पुरुष के सब व्यवहारों में पैर रखने से स्त्री को उतना बल नहीं मिलता, जितना उसे अपने विशिष्ट प्रदेश में—प्रेम की सृष्टि में—स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदर्शित करने से प्राप्त होता है। यह विचार भूल-भरा हो सकता है। परन्तु वह स्वयं तो अपने व्यवहार में स्पष्ट थी।

सेठ मनमोहनदास शरीर से शिथिल थे। तरला ने पिता के इस विवाह को केवल घृणा की दृष्टि से देखा था। परन्तु सेठ को अपनी माल-मिल्कियत किसी वारिस को सौंपने का मोह था। यह मोह आकस्मिक नहीं था, परन्तु रूढ़ि-प्राप्त धर्म-विचार था। अतः सेठ में उसके विरुद्ध खड़ा होने की शक्ति और उत्साह नहीं था। कितने ही माने हुए विचारों को—भले ही वे अशुद्ध सिद्ध हो जाँय—लम्बे समय की आदत के कारण मनुष्य नहीं छोड़ सकता। मनमोहनदास के लिए तो अन्य कौटुम्बिक कारण भी थे। इनका भतीजा—जो कि उनकी समस्त संपत्ति का उत्तराधिकारी बन सकता था—निखट्टू (आवारा) था। निखट्टू शब्द मनमोहनदास का निज का था। भतीजा हर्षवदन संगीत का रसिक था। इसके सिवाय उसके निखट्टूपन की एक निशानी और भी थी। हर्षवदन के मन में यह कल्पना जागी थी कि देर तक तपश्चर्या करके जहाँ तक युवक लोग अपने समस्त बल और समय को ग्रामीण के विकास की ओर न लगायें वहाँ तक देश का औद्योगिक विकास पूरी तरह नहीं किया जा सकता। अतः हर्षवदन के निखट्टू होने के कारण उसके हाथ में अपनी संपत्ति का जाना मनमोहनदास को पसंद नहीं था। इसके सिवाय दूसरी दृष्टि से भी अविभक्त कुटुम्ब की प्रथा में जो सत्व था, वह निकल चुका था। उस निःसत्वता से कुटुम्बों में ईर्ष्या और निन्दा अपना स्थान बना चुकी थी। इस ईर्ष्या के कारण भी मनमोहनदास हर्षवदन के विरुद्ध थे।

× × ×

रात्रि के शीतल प्रकाश के मोहक आकर्षण में तरला अधिक सुन्दरी दीख रही थी। परन्तु उसकी नई मा सरिता को तो उस मोहक आकर्षण ने झलमलाती हुई मनमोहना ही बना दी थी। इस समय सारे दीवानखाने में केवल दो ही स्त्रियाँ थीं। ऊपर से पंखे का शीतल पवन आ रहा था। आस-पास उद्यान में बिखरी हुई चन्द्रिका रात्रि को सजा रही थी। सरिता और तरला दोनो शान्त बातों से विश्वास भरी बातों और विश्वास भरी बातों से स्त्री-जीवन की अत्यन्त गूढ़ बातों की ओर बही जा रही थीं। इन दोनो के बीच में उम्र का भेद नहीं के बराबर था। इस कारण सौतेली माता और पुत्री के स्थान पर, दोनो सखियों-सी मालूम होती थीं।

× × ×

'क्या तुम्हारी मा ने कुछ नहीं कहा ?'—तरला ने पूछा !

'अपनी तरुण पुत्री को केवल धन के मोह में, केवल मोटर की गद्दी के लिए, ऐसे बूढ़े [अंक

के साथ ब्याहनेवाले व्यापारी पिता की परिस्थिति को वह समझ सकी, पर माता का हृदय वह न समझ सकी ?'

'मा ? मेरी मा कहाँ है ? वह तो बिचारी काम करते-करते मर गई ! हमारे लिए उसने रात-दिन नहीं देखे। जब स्थिति कुछ अच्छी हुई, बैठने का समय आया, तब वह चली गई।'

रात्रि एकदम शान्त हो गई। मानो वह स्त्री-जीवन की घर-घर की करुण कथा के भार से ही बनी हुई हो।

तरला को इस मातृ-विहीन तरुणी से और अधिक समवेदना हुई। उसकी भी मा नहीं थी। मेरी मा का स्थान लेने के लिए यह आई है, ऐसा जो ज़रा-सा भाव मन में विद्यमान था, वह भी उड़ गया। वह कोमल बन गई।

'क्या तुम्हारी दूसरी मा ने कुछ नहीं कहा ?'

अद्भुत रोष-भरे नयनों से सरिता तरला की ओर निहारती रही—दूसरी मा ? क्या किसी की दूसरी मा भी होती है ?

मा दूसरी होती ही नहीं, इस श्रद्धावान् वाक्य ने तरला को लगभग परवश बना दिया। इसकी मा ने केवल तीन मास पूर्व मृत्युशय्या पर से क्या यही वाक्य नहीं कहा था—

'बहन, हम सबके जीवन की यह करुण-कथा है कि हम लोग एक समय दिया हुआ प्रेम कभी—कभी—लौटा नहीं सकतीं।'

'परन्तु तुमने नकार क्यों नहीं किया ? तुमको कहना चाहिये था कि मैं वृद्ध के साथ विवाह नहीं करना चाहती।'

'मैं इस प्रकार कह देती, कहने में समर्थ होती, यदि एक भी स्त्री मेरे साथ होती। केवल पुरुष के आश्रय पर अथवा आधार पर स्त्री-जीवन का इस संग्राम में जूझना कठिन है। कदाचित् यह शीघ्रता ही हमको अधिक हानि में डालती है।'

तरला गहरे विचार में निमग्न हो गई। उसके सामने भी ऐसा ही समय आये और कोई पुरुष प्रेमी सहायक न हो तो केवल निराधार अवस्था में वह इस जङ्ग में जूझ सकती है या नहीं ?

उसके इस विचार के समाप्त होने से पूर्व ही हर्षवदन द्वार पर आकर खड़ा हो गया था।

× × ×

पूरे छः मास के बाद सेठ मनमोहनदास दूसरे ही रङ्ग में थे। उन्होंने अपनी बैठक में दोनो स्त्रियों—सरिता तथा तरला—को बुलाया। शान्त और स्थिर क़दम रखती हुई सरिता आई। उसके पीछे कुछ तेजस्वी और उग्र भाव से तरला ने प्रवेश किया।

'हर्षवदन कहाँ है ?'—सेठ ने पूछा।

'अभी आ जायगा।'—तरला ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। परन्तु उसका यह संक्षेप भाववाही था।

कुछ देर में हर्षवदन आ गया। उसका वेश भी निखट्टुओं जैसा ही था। बिना चुनी हुई धोती, कुरता, माथे पर ज़ुल्फ़ें और हाथ में सोंटी। इस घुमक्कड़ आदमी ने सेठ के जीवन में विष सींचा था। आज तक सेठ सब कुछ सहता चला आता था। अब वह चाहता था कि बात आगे बढ़ने से अटकनी चाहिये।

'हर्षवदन, मैंने तुमको इसलिए बुलाया है कि अब से यदि तुम इस घर में आये तो तुम्हारी टँगड़ी टूट जायगी। समझे?'

'क्यों?'—तरला ने पूछा।

'यह समझना तुम्हारा काम नहीं है। तू कौन है?'

'मैं कौन हूँ? मैं एक समय तुम्हारी पुत्री थी, परन्तु अब तो मैं, यहाँ खड़ी हुई, इस निराधार स्त्री की—जिसे तुम मोल लाये हो—माता हूँ।'

'तू इसकी मा है? बोलते हुए शर्म भी नहीं आती? तू इसकी मा होती है कि यह तेरी मा?'

'मैं इसकी मा हूँ।'—तरला ने अधिक दृढ़ता से उत्तर दिया—स्त्री का बड़े से बड़ा अधिकार, माता बनने का है, इसलिए मैं माता बनी हूँ।

'जा, जा,...तू क्या माता बन सकेगी?'

हर्षवदन बोला—तुम इतनी बड़ी उमर में ऐसी स्त्री लाये हो, इसे तुम्हारे ऊपर प्रीति नहीं हो सकती।

'अपनी प्रीति की फ़िलासफ़ी को रहने दे; मैं इसे प्रीति सिखा दूँगा।'

'तुम्हारा कोई भी बालक पेट में धारण करने से पूर्व मैं विष खाना पसन्द करूँगी। तुम किसी भी बालक के पिता हो, इस कल्पना से मेरा गात्र ठण्डा हो जाता है। मैं इस युवक को चाहती हूँ और इसी के साथ रहना चाहती हूँ।'—अन्त में सरिता की आवाज़ आई। यह ध्वनि सबसे अधिक दृढ़ थी।

'हिन्दू-विवाह को समझती है या नहीं? मैं तुझे चतुर्दिक विस्तृत धरती के कोने से भी वापिस यहाँ लाऊँगा।'

'यह हो सकता है'—सरिता कुछ सीधी हो गई—परन्तु मैं स्त्री हूँ और अपना स्त्रीत्व किसके चरणों में रखना चाहिये, इसका निश्चय तो मैं ही करूँगी। कायदा-क़ानून इसमें कुछ नहीं कर सकते।'

'यह तो अदालत में पता चलेगा।

'पिताजी, अभी आप नहीं समझे। इन छः महीनों में आप सरिता को अपना नहीं बना पाये, उसी प्रकार अब भी अपना नहीं बना सकते। मैं इसकी मा हूँ और एक क्षण के लिए भी इसे अलग नहीं रहने दूँगी। इन छः महीनों में एक क्षण के लिए भी आपने मुझे इससे जुदा—पृथक् देखा है?'

मनमोहनदास आश्चर्य-मूढ़ हो गये। विवाह हो जाने के बाद से एक दिन के लिए भी सरिता ने ढील नहीं दिखाई थी। तरला उसके पास ही रहती थी। साथ ही आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही उपस्थित हो जाने की दृष्टि से हर्षवदन भी पास ही फिरता रहता था। इस प्रकार छः महीने बीत गये। इस बीच में हर्षवदन और सरिता के हृदय दिन-प्रतिदिन अधिक समीप आते जा रहे थे। अपनी प्रतिष्ठा का विचार करके मनमोहनदास ने इस बात को सँभालने का बहुत प्रयत्न किया; परन्तु स्त्रियों ने ढील देना स्वीकार नहीं किया। मनमोहनदास को अदालत का आश्रय लेने की बहुत इच्छा होती थी; परन्तु उसमें अपनी प्रतिष्ठा-हानि का भय था। उस लड़की और आवारागिर्द भतीजे का क्या ठिकाना!

× × ×

[क्रमशः

दूसरे छः मास बीत गये। सेठजी उसी प्रकार सरिता को फुसला रहे थे।

तरला ने प्रवेश किया—मैंने अपनी पुत्री के शारीरिक सुख का विचार करते हुए हर्षवदन के साथ उसका विवाह कर दिया है।

सेठजी सन्न रह गये—ब्याहनेवाली तू कौन? तूने क्या मेरा नाम डुबोने का निश्चय किया है?

'मुझे किसी का नाम नहीं डुबोना है; परन्तु तुम एक अकाल-वृद्ध बालक की माता बनाने के लिए जिस स्त्री को लाये थे, वह एक सशक्त तेजस्वी सन्तान की माता बने, इस प्रकार की व्यवस्था मैंने कर दी है। हर्षवदन के शरीर-सम्बन्ध से इस सरिता को गर्भ है। तुमसे जो कुछ बन पड़े कर लो।'

आकाश से मानो बिजली गिरी हो इस प्रकार सेठजी ज़मीन पर गिर गये—अरे कुलटा!

हर्षवदन ने प्रवेश किया—तुम्हें कानून के अनुसार जो कुछ करना हो कर सकते हो। सरिता की अपेक्षा मैं अधिक दोष का पात्र हूँ।

सेठजी ने सरिता को मारने के लिए लात उठाई।

'सेठ जी, सँभालिये, तुम्हारा एक भी पैसा मुझे नहीं चाहिये, परन्तु अपने शरीर की मालिक मैं हूँ।'

× × ×

दो स्त्रियों और एक भतीजे के सामने मनमोहनदास ने पुनः शान्ति धारण की। बाहर की दुनियाँ को यह रहस्य आधा मालूम था, आधा नहीं। परन्तु सरिता के अवसान के बाद तथा हर्षवदन के पुनः परिणीत हो जाने पर नन्हे अनिल की रक्षा के लिए तरला ने वस्तुतः मातृ-हृदय धारण किया। मनमोहनदास की इच्छा थी कि लड़के को अनाथाश्रम में सौंप दिया जाय। हर्षवदन का दिल भी फिरा हुआ था। इसके अतिरिक्त समृद्धि के मोह के कारण वह चाहता था कि अब किसी प्रकार की विमनस्कता न पैदा हो तो अच्छा। चचा, भतीजा और भतीजे की नई बहू—तीनो तरला के सामने ही थे। आज यही बात चल रही थी।

'बेटी, अब तू सयानी हो जा। अपने लायक छोटा-बड़ा वर खोज ले। इस लड़के को अनाथाश्रम में भेज देते हैं।'

तरला ने दृढ़ता-पूर्वक इन्कार किया—माता बनकर मैंने सरिता की रक्षा की है, क्योंकि स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उसको किसी भी पुरुष के हाथ में जाने देना भयंकर पाप है। ख़ून करते हुए मनुष्य को खड़े होकर देखने में जो कायरता है। लगभग उतनी ही कायरता इस कार्य में मानी जानी चाहिये।

'और उसको तूने पार उतार दिया है; परन्तु अब क्या? अब तू किसके आश्रय में रहेगी? मेरा शरीर कल ही गिर जाय तो?'

तरला ने उत्तर दिया—ब्याहे बिना किसी ही भाग्यवान् को मातृपद मिलता है। अब मैं इस बालक की माता बनी हूँ। अब मैं इसे अकेला और निराधार नहीं छोड़ सकती। स्त्री को माता बनना चाहिये, यह आवश्यक नहीं; परन्तु उसे माता रहना तो चाहिये ही। इस निराधार बालक को किसी न किसी को तो पालना ही चाहिये। और प्रकृति ने प्रेम की सृष्टि का जो अलौकिक उत्तराधिकार स्त्री को दिया है, उसे देखते हुए, यह अधिकार मेरा ही

है । इसमें तुम पुरुष...उत्तराधिकार और पैसे की लड़ाई में पड़े हुए पुरुष...कुछ नहीं समझते।'

पहले, दो स्त्रियों के सामने जिस प्रकार सेठ ने मन की अशान्ति मन में ही शान्त कर दी थी, आज उसी प्रकार, एक स्त्री की दृढ़ता के आगे, सेठ और भतीजा, दोनो ने, मन की अशान्ति मन में शमन कर दी !

शान्तिकुटीर, गुरुकुल, सूपा ।

मरण

[गौरीशङ्कर 'द्विजेन्द्र']

घोर प्रलय का मैं सहचर !
अमर मोह-निस्सीम-जलधि का सीमातट मैं चिर-सुखकर !
मेरे निकट पथिक जग-भूला सांध्यकाल में है आता,
मैं नाविक उस पार उसे फिर एक निमिष में पहुँचाता ।
रूप-मृदुलता की उतराई लेने का मैं अभिलाषी !
चिर-शाश्वत मैं, अविनाशी !
अभय, सर्वव्यापी, मैं सेवक अगम काल का विश्वासी !
मैं अदृश्य हूँ, किन्तु विश्व को देख रहा हूँ मैं सन्तत ;
मैं हूँ जग-निर्लिप्त, किन्तु, यह संसृति है मुझमें चिर-रत ।
मेरे द्वारा होता जल, थल, नभ का सम्यक् संचालन !
मैं ही रे नव परिवर्त्तन !
मेरी ही आज्ञा पा करता सर्प मनुज का दंशन,
गुरु-गर्जन कर वारिद-माला वज्र गिराती है भू पर,
अनल जलाता, गरल दिखाता निज प्रभाव, निज शक्ति अमर,
तूफ़ानों का सिंधु जागता पा मेरा इंगित नीरव !
चिर-अक्षय मैं, चिर-अभिनव !
मेरी पग-ध्वनि पर लुट जाते संसृति के अक्षय वैभव !
सिहर-सिहर उठता जग सारा सुनकर मेरा शुभागमन,
विकल बना देता उसको झट एक सरस मेरा चुम्बन,
बहु रूपों में मैं आता हूँ, पाता हूँ सर्वत्र विजय !
चिर-दुर्दम मैं, चिर-दुर्जय !
गति में मेरी नीरवता है, दृग में विष-प्याली अक्षय !
शान्ति-राग अधरों में, मेरी आकृति में चिर-भीषणता,
मेरी श्वासों में पल-पलकर दिवस कभी जा युग बनता,
मेरा आना निर्बल मानव क्यों जानेगा जीवन भर !
घोर प्रलय का मैं सहचर !!

भागलपुर ।

उर्दू का गल्प-साहित्य

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

उर्दू-गल्प की गति-विधि और विकास को जानने के लिए हमें प्रेमचन्द को केन्द्र-स्थल मानकर उनके इधर-उधर दृष्टिपात करना होगा । उधर, अर्थात् प्रेमचन्द के पहले, आधुनिक गल्प अभी नन्हें-से जल-स्रोत का रूप भी धारण न कर सकी थी और इधर, अर्थात् प्रेमचन्द के बाद वह अपने पूर्ण विकास को पहुँचकर विविध धाराओं में प्रवाहित हो रही है ।

उर्दू-गल्प का प्राचीन इतिहास

प्रेमचन्द तक पहुँचने के लिए उर्दू-कहानी दो-एक युगों से गुज़री है, जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना ज़रूरी है ; किन्तु इससे पहले एक बात जान लेनी चाहिये और वह यह कि प्रेमचन्द से पूर्व कथा-साहित्य उपन्यास और कहानी के दो पृथक्-पृथक् भागों में विभक्त न हुआ था । इस काल में कहानी से हमारा तात्पर्य उस कथा से है, जिसका उद्देश्य पाठकों और श्रोताओं का मनोरञ्जन-मात्र है, फिर चाहे उसे सुनाने में महीने ही क्यों न लग जायँ और सहस्रों पृष्ठ पाकर भी वह चाहे अपूर्ण ही क्यों न रह जाये ।

अनुवाद-युग

उर्दू में भी गल्प-साहित्य का आरम्भ दूसरी भाषाओं की भाँति रोमांस-पूर्ण (Romantic) कथाओं तथा दृष्टान्तों से होता है । जब पेट भरा हो, जीवन में सबसे बड़ा प्रश्न अर्थात् भूख का प्रश्न सताता न हो तो मनुष्य के लिए अपनी वासना की और आध्यात्मिक भूख को शान्त करना ही शेष रह जाता है । उस हालत में जिन कथाओं का सृजन होगा, उनका उद्देश्य किसी हद तक मानव की इन दोनो प्रवृत्तियों की शान्ति ही होगा । वास्तव में पहली के लिए दूसरी की ज़रूरत है। धर्म का मेरे विचार में धन से गहरा सम्बन्ध है । धन अर्थात् खुशहाली वासना को उपजाती है, और वासना की हवा जब मनुष्य को शाखा से टूटे हुए पत्ते की भाँति इधर से उधर उड़ाये फिरती हैं और अन्त को पतन के गढ़े में गिरा देती है, तब धर्म उसे उबारने को आता है । खुशहाल और चिन्ता-रहित होकर मनुष्य पाप के गढ़े में न जा पड़े, इसलिए धर्म की सृष्टि हुई और समय आया कि पेट तथा काम की स्वाभाविक भूख के साथ धर्म की अस्वाभाविक भूख भी मानव-जीवन का एक अङ्ग हो गई । यही कारण है कि प्राचीन काल में काम को उद्दीपित करनेवाली

रोमांस भरी कहानियों के साथ-साथ हमें धार्मिक दृष्टान्त भी मिलते हैं। उर्दू में दोनो तरह की कथाएँ पहले-पहल अनुवाद-द्वारा लाई गईं।

१—जो फ़ारसी भाषा से उर्दू में की गईं ; जैसे 'नौतर्जे मुरस्सअ', 'बाग़े उर्दू', 'दास्ताने अमीर हम्ज़ा' आदि।

२—जो संस्कृत भाषा से उर्दू में की गईं ; जैसे 'शकुन्तला', 'नल-माधव', 'सिंहासन-बतीसी' आदि।

३—जो संस्कृत से पहले अरबी तथा फ़ारसी में गईं और वहाँ से फिर उर्दू में आईं।

तीन तरह की ये अनूदित कृतियाँ स्वयं तीन युगों में विभक्त हो सकती हैं।

(क) अंग्रेजों के आने से पहले किये गये अनुवाद ;

(ख) फोर्ट विलियम में अंग्रेज़ों की प्रेरणा पर किये गये अनुवाद ;

(ग) प्रेस खुलने पर किये गये अनुवाद।

(क) भारत में अंग्रेज़ों के अधिकार जमाने से पूर्व पहले पहल ईसा की १७वीं शताब्दी में फ़ारसी की पुस्तक 'तूतीनामा' से उर्दू में पहला अनुवाद किया गया। 'तूतीनामा' स्वयं संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तक 'शुक सप्तमी' से फ़ारसी में उल्था की गई ५२ गल्पों का संग्रह थी। यद्यपि इसकी उर्दू को उर्दू नहीं कहा जा सकता, तो भी यही उर्दू की पहली पुस्तक है। इसके बाद प्रायः डेढ़ सदी तक कोई अनुवाद नहीं मिलता। फिर १८५५ में मीर मुहम्मद हुसेन खाँ तहसीन ने प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो की पुस्तक 'चहार दरवेश' का उर्दू में अनुवाद किया और इसका नाम 'नौ तर्ज़े मुरस्सअ' रखा। यही पुस्तक उर्दू की पहली पुस्तक कहलाई ; क्योंकि 'तूतीनामा' की उर्दू से इसकी उर्दू कुछ समझ में आनेवाली थी।

(ख) उसी समय चूँकि अंग्रेज़ भारत में पाँव जमाने का प्रयत्न कर रहे थे, इसलिए उन्होंने कलकत्ते के फोर्ट विलियम में कुछ तत्कालीन हिन्दू-मुसलमान लेखकों को इसलिए इकट्ठा किया कि वे हिन्दुस्तानी भाषा में ऐसी पुस्तकें लिखें, जिन्हें पढ़कर अंग्रेज़ लोग इस देश के वासियों से बात-चीत कर सकें। इन लेखकों में मीर शेर अली 'अफ़सोस' और श्री लल्लूलाल जी के नाम उल्लेखनीय हैं। मीर शेर अली 'अफ़सोस' ने फारसी के प्रसिद्ध कवि शेख सादी की प्रख्यात पुस्तक 'गुलिस्ताँ' का उर्दू में अनुवाद किया और इसका नाम 'बाग़े उर्दू' रखा। श्री 'अफ़सोस' ने इसी ज़माने में दूसरे अनुवादों के अतिरिक्त 'चहार दरवेश' का फिर अनुवाद किया और इसका नाम 'बाग़ो बहार' रखा। 'बाग़ो बहार' की उर्दू तहसीन की 'नौतर्ज़े मुरस्सअ' से कुछ अच्छी थी। श्री लल्लूलाल ने संस्कृत की पुस्तकों को उर्दू का लिबास पहनाया और उसी ज़माने में संस्कृत की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गल्प-पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया। इनमें 'शकुन्तला', 'नल-माधव', 'कामकुण्डल', 'सिंहासन बतीसी', 'बैताल-पच्चीसी' के नाम उल्लेखनीय हैं। इन अनुवादों के अलावा संस्कृत और फारसी की कुछ पुस्तकों के आधार पर तथा उनके अनुकरण में 'आरायशे महफ़िल', 'नस्रे बेनज़ीर', 'लैला मजनूं', 'खिरद अफ़रोज़' आदि पुस्तकें लिखी गईं। इनमें से 'खिरद अफ़रोज़' फ़ारसी में किये गये संस्कृत की दृष्टान्तों की पुस्तक 'पञ्चतन्त्र' के अनुवाद का उर्दू में उल्था मात्र है।

(ग) इसके बाद जब भारत में प्रेस खुल गये और लखनऊ में मुन्शी नवलकिशोर का प्रसिद्ध छापाखाना खुला और वहाँ से किस्से-कहानियों की पुस्तकें निकलने लगीं, तो अनुवाद के [शेष

काम को और भी प्रोत्साहन मिला और इसी प्रेस से फ़ारसी की प्रसिद्ध कहानियों की पुस्तकें 'दास्ताने अमीर हम्ज़ा', 'बुस्ताने ख़याल' और 'अलिफ़लैला' के अनुवाद निकले। 'अलिफ़लैला' का अनुवाद सबसे पहले मिर्ज़ा रज़ब अली बेग 'सरूर' ने किया और इसका नाम 'शबिस्ताने सरूर' रखा।

मौलिक रचनाएँ

इनशा——अनुवाद और क्लिष्ट भाषा के इस युग में अचानक सैयद इनशा अल्लाह ख़ाँ अपनी सरल भाषा और उर्दू की सबसे पहली महत्त्व-पूर्ण मौलिक रचना—'रानी केतकी की कहानी' को लेकर उपस्थित हुए। इनशा अल्लाह ख़ाँ लखनऊ के नवाब वज़ीर सआदत अली ख़ाँ के दरबारी कवि थे और बहुभाषी भी थे। तत्कालीन उर्दू-गद्य की क्लिष्टता और दुरूहता को भलीभाँति महसूस करते हुए उन्होंने प्रण किया कि वे 'रानी केतकी की कहानी' में एक भी विदेशीय शब्द न आने देंगे और अपने इस प्रयास में वे सफल भी काफ़ी हुए। 'रानी केतकी की कहानी' से पहले सैयद हैदर बख़्श हैदरी ने 'तोता' नाम से एक कहानी लिखी थी; पर वह 'शुक-सप्तमी' के अंग्रेज़ी अनुवाद से प्रभावित होकर लिखी गई थी। फ़ोर्ट विलियम से और जो कथित मौलिक रचनाएँ निकलीं, वे, जैसा कि ऊपर कहा गया है संस्कृत अथवा फ़ारसी पुस्तकों के आधार पर लिखी गई थीं।

'सरूर'——इनशा के बाद मौलिक रचना में मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सरूर' ने योग दिया। उनकी 'फ़िसानये अजायब' सर्वथा मौलिक रचना थी। 'सरूर' की इस कृति में एक खास बात यह थी कि इसकी भूमिका में पहले-पहल तत्कालीन लखनऊ का चित्र खींचा गया। इस पुस्तक की अत्यन्त सुन्दर समालोचनाएँ निकलीं। श्री रामबाबू सक्सेना ने अपने 'उर्दू-साहित्य के इतिहास' में 'सरूर' द्वारा खींचे गये लखनऊ के इस चित्र की प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टेनीसन की कविता डे-ड्रीम (Day dream) से उपमा दी। 'फ़िसानाये अजायब' की दूसरी विशेषता यह थी कि इसकी भाषा में पहली बार कुछ अंग्रेज़ी शब्द और पात्र आ गये। और कृत्रिम तथा अस्वाभाविक होते हुए भी इसकी भाषा शुद्ध और चित्ताकर्षक है।

नज़ीर अहमद——इस बीच में नवलकिशोर प्रेस से पुरानी तरह के किस्से-कहानियों के साथ-साथ अंग्रेज़ी भाषा के अनुवाद भी प्रकाशित हुए और लोगों की रुचि में कुछ परिवर्तन हुआ और वह पुरानी तरह की दिलचस्प, पर काल्पनिक कहानियों से ऊब गये। तभी मौलवी नज़ीर अहमद ने वास्तविक अर्थों में उर्दू का पहला उपन्यास—जो मानव-जीवन के विभिन्न अङ्गों पर प्रकाश डाले, और जो काल्पनिक होते भी सत्य प्रतीत हो—लिखा। नज़ीर अहमद की सर्वोत्तम पुस्तक 'तौबा तुन्नसूह' है, जिसमें एक ही कथानक है और पुरानी लीक से दूर हटने का प्रयास किया गया है। नज़ीर अहमद के दूसरे उपन्यास रोमांस (Romance) और नावेल के बीच की कड़ी हैं।

सरशार-युग

१८७८ में मौलवी नज़ीर अहमद की पुस्तकों के ढङ्ग पर एक पुस्तक 'नवाबी दरबार' निकली जिसमें भूखे नवाबों की जी खोलकर हँसी उड़ाई गई। उसी वर्ष लखनऊ के प्रसिद्ध दैनिक 'अवध अखबार' में पं० रतननाथ 'सरशार' का प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़िसानाए आज़ाद' निकलना आरम्भ हुआ। पं० रतननाथ 'सरशार' रँगीली तबीयत के हँसमुख व्यक्ति थे, प्रायः पीने के बाद लिखा करते थे, जो लिखते उसे फिर न देखते, यदि क़लम न मिलती तो तिनके ही से लिखते

जाते, कभी-कभी बोलते जाते और कातिब लिखता जाता। इस प्रकार यह उपन्यास एक वर्ष में समाप्त हुआ। इस उपन्यास ने उर्दू-संसार में धूम मचा दी और इसके बाद तो उर्दू-संसार उनकी लेखनी की रौ में बह गया—और 'जामे सरशार', 'सैरे कोहसार', 'कामिनी', 'पी कहाँ',—उपन्यास पर उपन्यास पं० 'सरशार' लिखते गये। जब उनका देहान्त हुआ तो लोग पुरानी कहानियों और उपन्यास में कुछ अंतर समझने लगे थे और उर्दू का गद्य-साहित्य कई पग आगे बढ़ चुका था।

आज़ाद—पं० सरशार अपने युग के अकेले ही महारथी हैं। उनके बाद उस युग में जिन्होंने उपन्यास लिखे भी वे नाम पाने के बावजूद भी उतना ऊँचा न उठ सके। उसी वर्ष अर्थात् सं० १९३७ में जब 'फ़िसानाये आज़ाद' पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ, मौलवी मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपनी एक पुस्तक 'नैरङ्गे ख़याल' समाप्त की। यह उपन्यास न था, दृष्टान्तों की पुस्तक थी। और इसकी भाषा बड़ी सरस और सुन्दर थी। यह पुस्तक दृष्टान्तों की पुरानी पुस्तकों अर्थात् 'अख़लाके हिन्दी', 'खिरद अफ़रोज़' आदि से अनोखी थी।

'शरर'—सं० १९३७ में जब पं० 'सरशार' 'अवध अख़बार' से अलग हुए तो उसका सम्पादन एक नवयुवक अब्दुल हलीम 'शरर' के हाथ में आया। 'शरर' ने पहले-पहल अंग्रेज़ी लेखों को सीधी-सादी उर्दू में लिखना आरम्भ किया। उनका यह काम काफ़ी पसन्द किया गया। पर उपन्यासकार की हैसियत से मौलवी 'शरर' पहले-पहल लोक-प्रिय नहीं हुए। उन्होंने जो सबसे पहला उपन्यास 'दिलचस्प' नज़ीर अहमद की तर्ज़ पर लिखा, वह और सब कुछ था; पर दिलचस्प न था। फिर उन्होंने बंकिम बाबू के प्रसिद्ध बङ्गाली उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद किया, लेकिन मुन्शी ज्वालाप्रसाद बर्क़ ने उसी उपन्यास का जो अनुवाद किया, वह उससे सुन्दर था। बर्क़ ने बंकिम बाबू के दूसरे उपन्यासों का भी अनुवाद किया और जनता ने उन्हें बेहद पसन्द किया। तब मौलवी 'शरर' ने अपना प्रसिद्ध पत्र 'दिलगुदाज़' निकाला और कम-अज़-कम मुसलिम जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए एक नया ढङ्ग अपनाया और वह यह कि मुसलिम देशों की ऐतिहासिक घटनाओं को अपनी कल्पना-शक्ति से उपन्यासों के रूप में लिखना आरम्भ किया और कोशिश यह की कि उसमें मुसलमान नायकों के साथ दूसरे धर्मों की काल्पनिक नायिकाओं का प्रेम प्रकट किया जाय और अन्त में वे नायिकाएँ मुसलिम धर्म को स्वीकार कर लें। मुस्लिम जनता ने इन उपन्यासों की क़द्र भी की और इनके लेखक को उर्दू के 'वाल्टर स्काट' का दर्जा भी दे दिया। 'अज़ीज़ वर्जिना,' 'मनसूर मोहिना' उनके इसी तरह के उपन्यास हैं।

'रुसवा'—इस बीच में मुंशी नौबतराय नज़र ने सुलझी हुई भाषा में अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध उपन्यासों का उर्दू में अनुवाद किया, और भी दो-एक लेखकों ने उपन्यास लिखे; पर वे किसी काम के न थे। इन सबमें डाक्टर मुहम्मद हादी 'रुसवा', बी० ए०, डी० लिट्० का उपन्यास 'इसरारे दर्बारे हरामपुर' अच्छा रहा। इसके बाद ही साहित्य के क्षितिज पर एक उज्ज्वल नक्षत्र का उदय हुआ, जिसने अपनी प्रतिभा और चमक से देखते-देखते साहित्याकाश को चाँद बनकर देदीप्यमान कर दिया। यह नक्षत्र स्वर्गीय प्रेमचन्द थे।

प्रेमचन्द से पहले की कथाएँ

प्रेमचन्द ने उर्दू-साहित्य को जो नयी चीज़ें दीं उनका ज़िक्र करने से पहले वह

[९१२

आवश्यक है कि उनके पहले के कथाकारों और अनुवाद-युग की कथाओं पर एक विहगम-दृष्टि डाल ली जाय।

पहले-पहल उर्दू में जो अनुवाद किये गये वे संस्कृत और फ़ारसी की उन्हीं पुस्तकों के थे, जिनकी रचना इस देश में हुई थी; किन्तु जीवन से उनका बहुत गहरा सम्बन्ध न था। चूँकि पहले कहानियाँ हों अथवा दृष्टांत, अधिकतर सुनाये जाते थे, इसलिए सुनानेवाली रचनाओं का एक गुण उनमें मौजूद था और वह था उनकी दिलचस्पी; इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले कहा गया, उनमें रोमांस अधिक था और वास्तविकता कम। 'हितोपदेश' और 'पंचतन्त्र' के दृष्टांत 'तूतीनामा' की कहानियाँ सब काल्पनिक हैं और दृष्टांत देने के लिए जिन कथाओं का सृजन किया गया, उनमें सिवाय इसके कोई व्यवस्था नहीं कि उन्हें एक ही लड़ी में पिरोने की कोशिश की गई। बाद को चीज़ें भी अर्थात् 'दास्ताने अमीर हम्ज़ा', 'बुस्ताने ख़याल' और 'अलफ़ लैला' ऐसी ही चीज़ें हैं, अन्तर केवल इतना है कि काल्पनिक धार्मिक कहानियों के स्थान पर उनमें काल्पनिक रोमांस (Romantic Stories) भरे पड़े हैं, जिनमें जादू, तिलस्म, असम्भव और असंगत कथाओं की भरमार है।

'दास्ताने अमीर हम्ज़ा' सम्राट अकबर के मित्र और मन्त्री फ़ैज़ी ने अकबर के दिल बहलाने के लिए लिखी थी। इसके आठ खंड हैं और प्रत्येक खंड के कई भाग हैं, और जैसे एक समालोचक ने लिखा—यह एक काल्पनिक कथा है, जिसमें से प्याज़ के छिलकों की भाँति कहानियाँ निकलती आती हैं। 'बुस्ताने ख़याल' भी इसी तरह एक लम्बी कथा है जिसे मीर तक़ी 'ख़याल' ने अपनी प्रेमिका को रिझाने के लिए लिखा था और 'अलफ़ लैला' की जादू, तिलस्म, असम्भव प्रेमपूर्ण कथाएँ तो जगत्-प्रसिद्ध हैं। यह सब कथाएँ शराब, शेर और वारांगनाओं की भाँति राजा-महाराजाओं के विलास का एक साधन-मात्र थीं। जब उनका मस्तिष्क थका होता, आँखें थकी होतीं तब उन्हें ऐसी चीज़ की ज़रूरत होती, जिसे वे आँखें बन्द करके सुन सकें और सुनते-सुनते सो जायँ या ताज़ा दम हो जायँ।

बाद को जो मौलिक रचनाएँ की गईं उनमें से अधिकांश इन्हीं के अनुकरण पर लिखी गई थीं। उनमें आज की कहानी का गठन, वास्तविकता, और जीवन से उसका सम्बन्ध नाम को भी न था। प्रेमचन्द के पहले के मौलिक कथाकारों में सरशार, नज़ीर अहमद, 'शरर' और रुसवा के नाम उल्लेखनीय हैं। सरशार ने अपने पीछे चन्द ऐसी बेसिर-पैर की कहानियाँ छोड़ी हैं, जिनकी वर्णन-शैली अत्यन्त दिलचस्प, जिनका हास्य अत्यन्त आनन्ददायक है और संभाषण बेहद चुस्त है, परन्तु उनकी कथाओं में भी पुरानी कहानियों की भाँति गठन नाम को नहीं, चरित्र-चित्रण में बहुत अत्युक्ति से काम लिया गया है और उनका हास्य भी बहुत गहरा अथवा उच्च कोटि का नहीं। नज़ीर अहमद ने यद्यपि अपने समकालीनों की भाँति अपनी कहानियों और क़िस्सों में अंग्रेज़ी की नक़ल नहीं की और उनके क़िस्से भारत के ही हैं, तो भी वे चित्र का मात्र एक कोना ही देखते थे और जिस पर्दे पर वे तसवीर बनाते थे, वह बेहद छोटा है। वास्तव में उनकी चीज़ें रोमांस और नावेल के बीच की कड़ी हैं। रोमांस वे इसलिए नहीं कि उनमें मानव-जीवन की दैनिक घटनाओं के आधार पर दीवार खड़ी की गई है और नावेल इसलिए नहीं कि उनमें पात्रों का चरित्र-चित्रण नहीं। 'शरर' की कथाओं में गठन तो है; पर उनकी कहानियाँ अधिकतर इतिहास और कल्पना से ली गई हैं, और आग़ा अब्दुल हमीद के कथनानुसार उनकी नायक-

नायिकाएँ बहुत घटिया दर्जे के भावों से प्रभावित होती हैं। 'शरर' की सबसे बड़ी ख़ूबी यही है कि अपनी कृतियों द्वारा उन्होंने साम्प्रदायिकता का विष बहुत गहरा बोने की कोशिश की।

रुसवा का 'अमराव जान ऊदा' एक दिलचस्प क़िस्सा है, जिसकी भाषा अत्यन्त मुहावरेदार और सुलझी हुई है, वर्णन-शैली मनोरंजक है और उसमें प्लाट का गठन और तोल ऐसा पाया जाता है जो बहुत कम उर्दू उपन्यासों को हासिल है। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी मानव-जीवन की अनुभूतियों पर आश्रित प्रथम कोटि का एक भी उपन्यास ये सब लेखक पैदा न कर सके। यदि इनमें से किसी में एक-आध गुण प्रकट भी हुआ तो दोष उतने आ गये कि वह उनमें छिप गया।

प्रेमचन्द से पहले के इस काल में गल्प नाम की कोई चीज़ नहीं लिखी गई। सरशार और दूसरे लेखकों की चीज़ों को हम उपन्यास तो कह सकते हैं, पर कहानी नहीं। और अब तक कहानी शब्द का जो प्रयोग किया जाता रहा है, वह कहानी के व्यापक रूप में किया जाता रहा है, जिसमें एक पृष्ठ का दृष्टांत भी शामिल है और एक सहस्र पृष्ठ का उपन्यास भी। ऐसी रचना जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य, मानव-जीवन अथवा समाज की समस्या अथवा व्यापक जीवन की किसी एक घटना पर रखा गया हो, हमें यहाँ एक भी नहीं मिलती।

कहानी के जन्मदाता प्रेमचन्द

उर्दू-गल्प अपने आधुनिक रूप में स्व० प्रेमचन्द ही की देन है। उस वक्त जब खुद इंग्लिस्तान में भी कहानी-लेखकों की संख्या अँगुलियों पर गिनी जाती थी, स्व० प्रेमचन्द ने 'नवाब राय' ने नाम से कहानियाँ लिखना आरम्भ किया और अपने साहित्यिक जीवन ही में कहानी को उसके शिखर पर पहुँचा दिया। प्रेमचन्द के आगमन से ही हम कहानी को उपन्यास से पृथक चीज़ समझना जान गये। प्रेमचन्द के अपने ही शब्दों में—'गल्प एक रचना है जिससे जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है, उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव का पुष्टी-करण करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उपन्यास की भाँति उसमें सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह रमणीक उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं; बल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।'

- 'वर्त्तमान आख्यायिका'—जैसा कि प्रेमचन्द ने एक जगह लिखा, 'मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है।' और यह है भी सच। मनुष्य के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह स्वयं अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास भी इसीलिए हुआ कि मनुष्य अपने आपको समझे। प्राचीन काल में, जैसा कि पहले लिखा गया है, या तो सुख-वैभव से सम्पन्न लोग दिमाग़ी ऐय्याशी के लिए प्रेम से सनी, वासना को उभारनेवाली चीज़ें सुनते तथा लिखते थे अथवा धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ उनको आत्मा और परमात्मा के झगड़ों में व्यस्त रखती थीं। धर्म और कर्म से पृथक मानकर अपने आपको समझने की प्रवृत्ति उनमें न थी; फिर अपने पड़ोसी को, समाज को समझने की बात तो दूर ही रही। उर्दू के गल्प-साहित्य में प्रेमचन्द ही ऐसे गल्पकार हैं, जिन्होंने व्यक्ति को,

उसके मनोभावों को, समाज को, उसकी समस्याओं को बारीक निगाहों से देखने की कोशिश की और व्यक्ति और समाज के विभिन्न पहलुओं को छूनेवाली सुन्दर छोटी-छोटी गल्पों का सृजन किया।

प्रेमचन्द की कला

इससे पहले कि प्रेमचन्द के बाद आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ कहा जाय, यह ज़रूरी है कि प्रेमचन्द की कहानी-कला के बारे में कुछ लिखा जाय; क्योंकि मेरे विचार में प्रेमचन्द के यहाँ कहानी के बीज, उस बीज से उगा हुआ पौधा और फिर अनुभूतियों की खुराक पाकर समुचित रूप से बढ़ा हुआ वृक्ष, सब मौजूद हैं। उन्होंने कहानी को जन्म दिया, उसे पाला-पोसा और चोटी तक चढ़ाया। आपको उनके यहाँ आरम्भ की अनगढ़त कहानी, मध्य की विकसित कहानी और आज की पूर्ण कहानी, सभी मिल सकती हैं। प्रेमचन्द और उनकी कला पर अपने एक लेख में आग़ा अब्दुल हमीद ने लिखा था—'कहानी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण किसी क़द्र पुराना है, यों कह लीजिये कि आधुनिक पश्चिमीय कथाकारों से क़दरे भिन्न है, वे कभी-कभी इस बात को भूल जाते हैं कि अनावश्यक विस्तार और असंगत बातें कहानी को कितनी हानि पहुँचाती हैं। 'रानी सारंधा' उनकी अच्छी कहानियों में से है; पर वास्तविक अर्थों में यह लघु-कथा नहीं, बल्कि संक्षिप्त उपन्यास है। इसे उपन्यास कहने का कारण इसकी लम्बाई नहीं, बल्कि इसकी बनावट है। कहानी में कोई इधर-उधर की बात न होनी चाहिये; क्योंकि इसका दायरा बहुत तंग होता है और असंगत बातें इसके तौल को बिगाड़ देती हैं। प्रेमचन्द की बहुत-सी कहानियाँ इस नियम पर पूरी नहीं उतरतीं। वे इधर-उधर की बातों में कहानी का ध्येय भूल जाते हैं। शब्द और समय वे व्यर्थ में नष्ट कर देते हैं। और प्रयास करने पर भी कहानी स्वाभाविकता से समाप्त नहीं होती।'

चूँकि प्रेमचन्दजी के यहाँ ही कहानी ने जन्म पाया, इसलिए यह स्वाभाविक था कि कहानी अपने अपरिपक्व रूप में उनके यहाँ मिलती और 'नवाबराय' के नाम से उनकी जो कहानियाँ निकलीं वे कहानी के इसी रूप को दर्शाती हैं। उनकी बाद की कहानियाँ जिनमें 'प्रेम बत्तीसी' और 'प्रेम चालीसी' की कहानियाँ शामिल हैं, वे कहानी के मध्य-युग अर्थात् उसके लड़कपन का रूप दर्शाती हैं; पर यह कहना कि प्रेमचन्द आधुनिक कहानी की टैकनिक को न जानते थे और उनका दृष्टिकोण पुराना है, यह प्रकट करता है कि आगा साहब ने प्रेमचन्द की इधर की कहानियों को पढ़ने और उनके दृष्टिकोण को जानने का प्रयास नहीं किया। उनकी बहुत-सी कहानियाँ ऐसी हैं जो आधुनिक कहानी की टेकनिक पर पूरी उतरती हैं और उनमें कहानी के सब गुण मौजूद हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी', 'गुल्ली-डण्डा', 'क़फ़न' ऐसी ही कहानियाँ हैं। आधुनिक कहानी को वे कितना समझते थे और आधुनिक कहानी के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण कितना सुलझा हुआ और साफ़ हो गया था, वह उनके अपने ही एक कथन से प्रकट है। हिन्दी के अपने कहानी-संग्रह 'मानसरोवर' के प्राक्कथन में, जो उनकी मृत्यु के कुछ ही पहले छपा, वे लिखते हैं:

'कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है, उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव स्पष्ट चित्रण है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की

व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उनकी ओर इशारा भर कर देता है। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। खुलासा यह कि आधुनिक गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है।'

आधुनिक गल्प की इससे अच्छी परिभाषा आज का बड़े से बड़ा समालोचक भी नहीं दे सकता अपने जीवन की संध्या में प्रेमचन्द ने जो कहानियाँ लिखीं, उनसे जाहिर होता है कि उन्होंने मात्र कहानी-कला की विवेचना ही नहीं की, बल्कि उस कला पर पूरी उतरनेवाली कहानियाँ भी लिखी हैं। 'क़फ़न', 'नशा', 'रसिक सम्पादक', 'मनोवृत्तियाँ' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

अपने जीवन-काल में प्रेमचन्द ने कोई १२ उपन्यास और ३०० कहानियाँ लिखीं। उनकी उम्र ने वफ़ा न की और वे ५६ वर्ष की आयु में ही उर्दू-गद्य की सूखी वाटिका में नव-जीवन का संचार करके चले गये। यदि परमात्मा उन्हें कुछ और मोहलत देता तो दुनिया देखती कि उच्च कोटि के गद्य के विचार से उर्दू किसी से पीछे नहीं और उसके ख़ज़ाने में भी ऐसा रत्न है कि वह विश्व-साहित्य में गर्व से सिर उठाकर खड़ी हो सकती है।

प्रेमचन्द के बाद

प्रेमचन्द के बाद उर्दू में कोई ऐसा प्रतिभाशाली लेखक नहीं जो उनकी भाँति साहित्य पर छा जाय।

सुदर्शन—कुछ पहले सुदर्शनजी का नाम उनके साथ अवश्य लिया जाता था; पर अब देर से उन्होंने कोई सुन्दर कहानी नहीं लिखी। सुदर्शनजी ने अपना साहित्यिक जीवन एक अनुवादक के रूप में शुरू किया। पहले-पहले जब उर्दू में उपन्यास का उतना प्रचार न था, उन्होंने बंकिमचन्द्र चटर्जी के कई उपन्यासों का उर्दू में अनुवाद किया। इन अनुवादों में, 'क़ुदरत के खेल,' 'ज़हरीला आबेहयात,' 'राजसिंह' आदि प्रसिद्ध हैं। अनुवाद के साथ उन्होंने अनुकरण का काम भी जारी रखा और बँगला की कई गल्पों को कुछ परिवर्तन के साथ अपने नाम पर प्रकाशित कराया। उनकी कहानी 'शोलाए मुज़तिर' बंगाल के प्रसिद्ध लेखक सुरेन्द्रमोहन मुकर्जी की एक कहानी से ली गई है। कथानक सब वही है, केवल कहानी के पहले एक अनावश्यक भूमिका लगा दी गई है। सुदर्शन की कहानियाँ अगरचे कि उस ऊँचाई तक कहीं भी नहीं पहुँचतीं, जहाँ कि प्रेमचन्द आसानी से हर कहानी में पहुँचते हैं; पर उनकी कहानियों में कोई न कोई स्थल ऐसा अवश्य आ जाता है जिसे पढ़ते-पढ़ते गला भर आता है। और भाषा की मिठास तो उनकी प्रसिद्ध है ही। ऐसा मालूम होता है जैसे मिठास की नदी बह रही है। 'चन्दन,' 'क़ौसे क़ुज़ा,' 'सुबह वतन' और 'सोलह सिङ्गार' उनकी कहानियों के संग्रह हैं।

अहमद शुजा—दूसरे लेखक जिन्होंने सुदर्शनजी से कुछ पहले लिखना शुरू किया, वे हकीम अहमद शुजा हैं। उन्होंने मुन्शी प्यारे लाल 'शाकिर' के मासिक पत्र 'अलअस्र' में लिखना आरम्भ किया था। अख़बार हक़ में अनुवादक भी रहे, फिर 'मख़्ज़न,' 'कहकशां' 'शबाबे उर्दू' में लिखते रहे। उनकी कहानियाँ रोचक और सुन्दर होती हैं; पर टैकनिक पर वे कुछ अधिक पूरी नहीं उतरतीं, अनावश्यक विस्तार का दोष उनमें अधिक होता है। इधर आपने जो नाटक लिखे हैं उसकी भाषा आपकी पहले की रचनाओं से सरल है। उनकी वाक्य-रचना अंग्रेज़ी ढंग पर होती है और मालूम होता है कि अंग्रेज़ी में सोचकर फिर लिखा गया है। अब इधर उन्होंने देर से कहानी लिखना प्रायः छोड़ दिया है। 'हुस्न की क़ीमत' नाम से आपकी चार लम्बी कहानियाँ देर

हुए छपी थीं। और उर्दू की आज की कहानी उन्हें बहुत पीछे छोड़ गई है।

अन्य पुराने लेखक

दूसरे पुराने लेखकों में सर्वश्री अहमद शाह बुखारी, इम्तियाज़अली 'ताज', आबिद अली, गौरीशंकर लाल 'अख़्तर,' सालिक बटालवी, लतीफ़ुद्दीन अहमद और 'चलदरम' के नाम उल्लेखनीय हैं; पर इनमें से किसी ने भी पचास से अधिक कहानियाँ नहीं लिखीं, और इधर ये सब मानो कुछ चुप-से हो गये हैं।

श्री बुख़ारी गवर्नमेंट कालेज के प्रोफ़ेसर थे, अब आल इंडिया रेडियो के डिप्टी डाइरेक्टर हैं। सीधी-सादी भाषा में हास्य-पूर्ण लेख और कहानियाँ उन्होंने लिखीं और जो लिखा वह अब तक पत्रों में नक़ल होता आ रहा है। 'पितरस के मज़ामीन' नाम से उनकी कहानियों तथा लेखों का एक संग्रह छप चुका है।

'ताज' साहब ने अधिक अनुवाद ही किये। उर्दू के प्रख्यात मौलिक नाटक 'अनारकली' के लेखक के नाते वे प्रसिद्ध हैं। कहानियाँ मौलिक उन्होंने दो-एक से ज़्यादा नहीं लिखीं; पर भाषा पर उन्हें अधिकार हासिल है और उन्होंने जो अनुवाद भी किये वे भी उच्च कोटि के हैं। 'चचा छक्कन' के नाम से हास्य-रस की कहानियाँ आपकी बहुत लोकप्रिय हुई हैं।

आबिद अली ने कहानियाँ तो बहुत लिखीं पर उनके प्लाट अंग्रेज़ी कहानियों से लिये गये होते थे। ऐसा करने में वे कितने हास्यास्पद बन जाते रहे, इसका एक उदाहरण देखिये: एक अंग्रेजी कहानी में 'एक अनारकिस्ट एक डाक्टर से हैज़ा के कृमियों की शीशी उठा ले जाता है, ताकि उसे चश्मे में डाल दे और नगर-निवासियों को तबाह कर दे। डाक्टर को पता लगता है तो वह नंगे सिर उसके पीछे भागता है, उनकी पत्नी उन्हें इस तरह घबराये हुए भागते देखकर डर से उनके पीछे भागती है।' इसी कहानी को श्री आबिद अली ने उर्दू का जामा पहनाया तो पात्र मुसलमान रख दिये और बाक़ी दृश्य वैसे का वैसा रख दिया। वे यह भूल गये कि चाहे कुछ हो जाय, उदार विचारों की मुस्लिम नारी कभी इस तरह नंगे मुँह नंगे पाँव बाज़ार में भागती नहीं जायगी।

गौरीशंकर लाल 'अख़्तर' ने बँगला से केवल अनुवाद किया है। बहुत दिन तक उर्दू का मासिक पत्र 'मानसरोवर' निकालते रहे। उसमें ये बँगला और हिन्दी से अनुवाद की गई अपनी कहानियाँ देते रहे।

सालिक बटालवी की एक पुस्तक 'चम्पा और दूसरी कहानियाँ' नाम से छपी, फिर आपने कहानी नहीं लिखी।

लतीफ़ुद्दीन पुरानी तर्ज़ पर कहानियाँ लिखते हैं। 'इन्शाए लतीफ़' के नाम से आपका एक संग्रह निकला है। आधुनिक टैकनिक पर आपकी कहानियाँ पूरी नहीं उतरतीं।

'चलदरम' की कहानियों और लेखों का एक संग्रह देर हुई 'खयालस्तान' के नाम से निकला था। उनका पूरा नाम श्री सज्जाद हैदर है। मुसलिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ के वे भूतपूर्व रजिस्ट्रार थे। लतीफ़ुद्दीन और 'चलदरम' की भाषा में हमें कृत्रिम और अत्युक्ति-पूर्ण भाषा अधिक मिलती है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक उर्दू कहानियों का रुझान वास्तविकता की ओर अधिक है। कथानक को कम और मनोविज्ञान को उनमें अधिक स्थान मिल रहा है। इसके अतिरिक्त आज का कहानी-लेखक बीभत्स को बीभत्स दिखाने से भी नहीं हिचकिचाता और प्रगतिशीलता उसकी रचनाओं का एक बड़ा गुण है।

इस लेख के आरम्भ में प्राचीन काल की कहानियों के वास्तविकता से दूर रोमांस-पूर्ण अथवा आध्यात्मिक होने का कारण बताते हुए लिखा गया है कि उस समय देश खुशहाल था, समाज की इतनी समस्याएँ थीं। और रूढ़ियों में फँसा हुआ व्यक्ति अपने आपको, अपने पड़ोस को जानने के लिए इतना व्यग्र न था। पेट की भूख का साधन उसके पास था, इसलिए उसकी कहानियाँ या तो विलास-भरी होती थीं या अध्यात्म-विषयक। पर आज जीवन उतना सरल तथा सुगम नहीं रहा और आज पेट की भूख इतनी अतृप्त है कि उसने काम (Sexual) और धर्म की भूख को पीछे फेंक दिया है। यही कारण है कि आज कहानी-लेखक कल्पना के लोक में बसने के बदले वास्तविक लोक में बसता है।

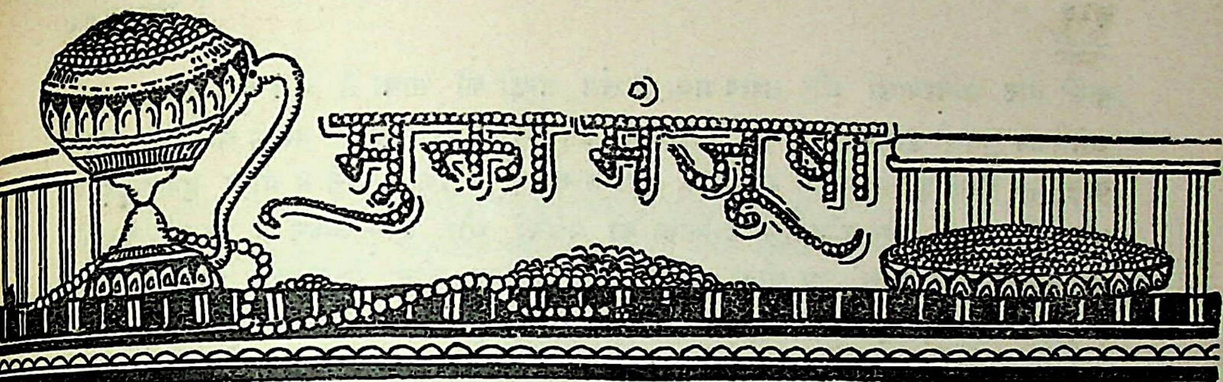
इस वास्तविकता का आरम्भ स्व० प्रेमचन्द ने ही अपनी कहानियों में कर दिया था, पर प्रेमचन्द धर्म और समाज में विश्वास रखते रहे, किन्तु आज साहित्य में धर्म और समाज के विरुद्ध विद्रोह की भावना साफ़ दिखाई देती है और अख़्तर हुसेन रायपुरी की कहानियाँ जो उन्होंने 'नफ़रत' के शीर्षक से लिखीं, इस बात का प्रमाण हैं।

रोमांस के विरुद्ध भी आज घृणा की भावना जाग्रत हो उठी है। आज का लेखक पूछता है कि क्यों जनता को व्यर्थ ही रोमांस और धर्म के झूठे स्वर्ग में भुलाया जाय और क्यों न वह नग्न सत्य से परिचित हो। श्री सुदर्शन ने इस यथार्थ चित्रण को, उपेक्षा के साथ 'पाप-मय सत्य का चित्रण' कहा है, पर आज का लेखक इसे 'कटु सत्य का चित्रण' कहता है। सत्य पापमय हो जाता है, जब लेखक का तात्पर्य्य उससे पाप की प्रेरणा करना हो, पर जब लेखक अपनी सारी शक्ति के साथ उस पाप का उन्मूलन करने के लिए उसका दिग्दर्शन कराता है तो वह पापमय नहीं। रशीदा जहाँ, अहमद अली और अख़्तर हुसेन के यहाँ आपको ऐसी ही कहानियाँ मिलेंगी। इस परिवर्तन के लक्षण तो हमें प्रेमचन्द के यहाँ ही मिलते हैं। 'वारदात' में छपी उनकी कहानी 'नई बीवी' और 'कफ़न' प्रगतिशील साहित्य के उत्तम नमूने हैं।

प्रेमचन्द ने तो इस नग्नसत्य को देखा भी है और जहाँ वह नहीं रह सके उन्होंने उसे दिखाने में भी संकोच नहीं किया, सुदर्शनजी ने तो कभी उस सत्य को देखने का प्रयास नहीं किया। वे तो एक घिनावने दृश्य को देखकर आँखें बन्द कर लेते रहे। ऐसे ही जैसे कबूतर बिल्ली को देखकर आँखें बन्द कर लेता है और समझता है कि अब उसकी जान बच जायगी। सुदर्शनजी मानो कहते हैं, माना बाज़ार में बहुत कीचड़ है पर क्या ज़रूरत है कि उसे साहित्य में भी लाया जाय और वे पाठक को वही मीठी गोलियाँ खिलाने के हक़ में हैं। उनकी कहानियों के गठन में, कथानक और अन्त में एक कृत्रिमता होती है और उस के उपयुक्त मीठी मधुर उनकी भाषा होती है। वे भूल जाते हैं कि जाग्रत साहित्य तो वह दर्पण है, जिसमें जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता रहता है। तो फिर उससे आँखें क्यों बन्द की जायँ? यही कारण है कि आज के प्रगतिशील लेखकों की कहानियाँ हमारी आँखें खोल देती हैं। बताती हैं कि हम कहाँ हैं और हमें सोचने पर विवश करती हैं कि इस दुर्दशा का अंत कैसे किया जाय। बीभत्स का चित्रण करने से वे नहीं घबरातीं, क्योंकि यदि समाज को यही मालूम न होगा कि उसके घाव कहाँ हैं तो उसका उपचार कैसे किया जायगा। आज का साहित्यिक धनाधीश नहीं, वह धनाधीशों के मनबहलाव के लिए नहीं लिखता; आज का पाठक भी सुखी नहीं और वह दिमाग़ी ऐय्याशी नहीं चाहता। वह साहित्य को एक मित्र की सूरत में चाहता है, जो उसे उसकी बुराइयाँ बताये और उसकी समस्याओं का हल सोचे, उसके सुख में उसके साथ हँसे और उसके दुःख में उसे सान्त्वना दे। पंजाब के युवक लेखकों में कृष्णचन्द्र एम० ए० और श्री राजेन्द्र सिंह बेदी, इस प्रगति की ओर अग्रसर हैं।

लाहौर, ६ जनवरी, '३९।

[७११



गुजराती

श्रीमती पर्लबक

[इस वर्ष साहित्य का नोवल पुरस्कार श्रीमती पर्लबक को उनके 'गुड अर्थ,' उपन्यास पर मिला है, जो उन्होंने चीन के सम्बन्ध में लिखा है। 'दी गुड अर्थ' महान आशावाद और जीवन का सन्देश लिये है। गुजराती सहयोगी 'ऊर्मि' में श्रीमती पर्लबक का एक परिचय प्रकाशित हुआ है। 'हंस' के पाठकों की जानकारी के लिए उसके कुछ अंश यहाँ अनूदित किये जाते हैं।- सं०]

'नगर और गाँव से दूर उस छोटी-सी पहाड़ी पर एक छोटा-सा घर है। आस-पास के समतल मैदान में दूर से ही वह घर दीख पड़ता है। उस मकान में इस वर्ष की नोवल-पुरस्कार विजेता श्रीमती पर्लबक अपने पति श्री रिचार्ड वोल्स के साथ निवास करती हैं।

'अभ्यासशील मोटी पलकों के नीचे घूमती भूरी और तरल आँखें प्रथम दृष्टि में विषाद-भरी दीख पड़ेंगी; परन्तु चेहरे पर मुस्कान की रेखा फूटते ही वह विषाद गायब हो जाता है। उसकी हँसली की हड्डियाँ उसके चीनी पात्रों की भाँति ही मोटी हैं। आवाज़ मृदु है। उसमें एक प्रकार की मिठास है। व्यवहार विनय-भरा और मेल-जोल बढ़ानेवाला है; फिर भी जैसे वह इस दुनिया से अकेला रहना चाहती हों, यों दूर रहती हैं। यह उनकी लज्जाशीलता का परिणाम हो या उस पुरातन जाति के दैनिक जीवन की करुण गंभीरता का जिसका संसर्ग छोड़ वह अमेरिका आई हैं।

'अमेरिका के यु० एस ए० के पश्चिमी वरजीनिया प्रान्त में एक पादरी के घर श्रीमती पर्लबक का जन्म हुआ था। बचपन में ही पिता के साथ वह चीन गईं। उनके ही शब्दों में—कुटुम्ब में सबसे छोटे बालक से केवल मैं बड़ी थी और बाकी सब मुझसे बड़े। एक भाई विद्याध्ययन करने घर (अमेरिका) वापस गया था।

'हम तीनो के सिवा अन्य बालक जीवन के उन कठिन वर्षों में जो उन्हें चीन के आंतरिक प्रदेशों में बिताना पड़े, मर चुके थे। पिताजी धर्म-प्रचार के लिए चीन के संस्कृति-हीन (?) अशिक्षित और अन्धकार-भरे प्रदेश में रहते थे। वर्तमान अमेरिकन युवती को प्राप्त होने वाली शिक्षा-दीक्षा की सहूलियतों से हम दोनो बहनें वंचित रहीं। न कोई सामाजिक जीवन, न पाठशाला और न मन्दिर। एक मात्र मा हमारी देखभाल करती थीं।

× × ×

'इस बालिका का अभ्यास-क्रम घर पर ही चलता था। पाठ पूरा करने के बाद यह अड़ौस-पड़ौस के जंगल, नदी-नाले और पहाड़ियों की ओर निकल जाती और उस प्रान्त में बसने-

वाली भीरु, अविश्वासी और ग़रीब प्रजा के संग उन्हीं की भाषा में बात-चीत करती। किसी अमेरिकन कुमारी द्वारा न सुनी गई कहानियाँ उसे सुनने को मिलीं। घर में सार-सम्भाल लेने-वाली एक चीनी बुढ़िया थी। मकान के छोटे-से बगीचे के किसी कोने में मोज़ा बुनती हुई वह बुढ़िया इस चतुर और बुद्धिमान बालिका को परियों और लोक-जीवन की कथाएँ सुनाती। इन कहानियों में होता उस चीनी बुढ़िया का बालजीवन, चीनी किसानों के दुःख-दर्द, चीन के अकाल और अतिवृष्टि की विभीषिकाएँ। लोक-क्रान्ति का जोश भी उन कहानियों में धधक उठता। बालिका के मस्तिष्क पर संस्कार प्रबल होते जाते थे। दत्तचित्त हो शान्ति-पूर्वक श्रवण करती बालिका के मनोपट पर अंकित उन चित्रों की रेखाएँ दृढ़ होती जाती थीं।

'शंघाई की शिक्षा पूरी कर वह आगे अध्ययन करने अमेरिका गई। कॉलेज से उपाधि ले वह चीन लौट गई और १९३२ तक चीन में ही रही। चीन के कोने-कोने में वह घूमी और उसने चीनी जीवन में धड़कते प्राणों को सुना। डाक्टर सन-यात-सेन के आदर्शों को मूर्तिमन्त होते और नष्ट होते इसने देखा। चीन की लाल सेना की जय-पराजय देखी। सदियों से पीड़ित और कुचली जाती जनता के अमाप और अथाह जोश को प्रेरणा देनेवाला अन्तर्जीवन देखा। नये-पुराने आदर्शों का संघर्ष देखा। इस दर्शन को उसने भाषा दी; प्राण दिया।

'यद्यपि अभी तक चीनी लेखकों ने स्वदेश का जीता-जागता चित्र खींचा था; परन्तु इस विदेशी महिला ने चीनी जीवन का अनोखा और मार्मिक दर्शन कराया।

'चीनी जीवन का इसका वर्णन तेजस्वी और प्रामाणिक है। आलसी, अफीमची और प्रमादी चीनियों के साथ ही इसके पात्रों में परिश्रमी, प्रामाणिक और दिन-रात ज़मींदार, सरकार और मठाधीशों के त्रिविध तापों में जलता क्रान्तिकारी चीनी भी मिलेगा। घटनाओं की विविधता, विशालता और व्यापकता इसके लेखों में मिलेगी। इसके निर्मित चित्रों में केवल सौन्दर्य ही नहीं है। शब्द-शब्द में से एक अनोखी और मधुर ध्वनि उठती है जो कानों में सदा गूँजा करती है।

'इसकी शैली अलंकार-हीन और संयमित है। जो कुछ कहने का है उसे सादे और सचोट शब्दों में कह देती है। पात्र-निरूपण और उनके विकास द्वारा यह अपने मनोभाव पाठकों के सामने प्रकट कर देती है। इसकी शैली की विशेषता इनके पात्रों की सजीवता है। इन्हीं के शब्दों में; 'वातावरण की अपेक्षा मुझे पात्रों में अधिक आनन्द आता है।'

'नोबल पुरस्कार मिलते समय इन्होंने कहा था —मुझे इस पुरस्कार से सम्मानित करने से पहले यदि समिति दस वर्ष तक रुकी होती तो शुभ होता; क्योंकि अभी तक मैंने अपने श्रेष्ठ साहित्य का सृजन नहीं किया है। मस्तिष्क में कई विचार अमूर्त हैं, आज मुझे मेरी कृतियों के लिए सम्मानित करते समय जो एक उत्तरदायित्व सौंपा जा रहा है, उसे मैं अनुभव करती हूँ। इन दिनों चीनी और जापानी जीवन पर मैं एक पुस्तक लिख रही हूँ जो फरवरी में समाप्त होगी। इसके बाद अमेरिका पर एक उपन्यास लिखने का मेरा विचार है।

'इनके लिखे मौलिक पुस्तकों की सूची नीचे दी जाती है (१) गुड अर्थ, (२) सन्स, (३) मरद, (४) ईस्ट विन्ड : वेस्ट विन्ड, (५) फर्स्ट वाइफ़ एण्ड द स्टोरीज़, (६) यंग रिवोल्युशनिस्ट, (७) इज़ देअर ए केस फार फॉरेन मिशनरी। इसके सिवा इन्होंने एक चीनी पुस्तक का अनुवाद 'आल मैन आर ब्रदर्स' नाम से किया है। इनकी लिखी पुस्तकें एक-दूसरी से सम्बन्धित हैं। 'गुड अर्थ' की कहानी 'सन्स' में लिखी गई है। इनका श्रेष्ठ उपन्यास 'गुड अर्थ' समझा जाता है, जो फ्रान्स के १९३३ के पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत हो चुका है।

काशी, ११ : २ : ३९

चयनकर्ता, स्वामी सत्यार्थी।

विचार-कण

[गुजराती-साहित्य के महान् कृतिकार श्रीयुत 'धूमकेतु' की नवीन कहानियों का एक संग्रह अभी हाल में ही 'मल्लिका' नाम से प्रकट हुआ है। 'मल्लिका' एक उपन्यास है। आधे भाग में 'मल्लिका' उपन्यास है और शेष आधे भाग में कहानियों का संग्रह। 'मल्लिका' के एक विशिष्ट पात्र रुद्रारण्य की डायरी के पन्ने से ये विचार-कण प्रस्तुत किये जाते हैं। श्री 'धूमकेतु' की विचार-सृष्टि कितनी गहरी और मर्मस्पर्शी है इसका परिचय इन विचारों से सहज ही हो सकेगा। सं०]

'तुम किसी वस्तु को न मानो, इतने से ही अश्रद्धा नहीं बनती। बात तो यह है कि जिसे तुम मानना समझते हो उसी को नहीं मान रहे होते—इसी में अश्रद्धा समाई हुई है। अश्रद्धा प्राण को छोटा बनाती है और संसार को बड़ा बनाती है।

'समय का—काल का—अनुशीलन करो। जो व्यक्ति काल का अध्ययन करता है, काल उसे अपना जीवन-मंत्र देता है।

'अशक्यता जीवन में अथवा विश्व में नहीं है। मानव की कल्पना में है। जो मनुष्य अशक्य की कल्पना नहीं करता, उसके लिए कुछ अशक्य नहीं।

'अपनी श्रद्धा को तर्क की सहायता देना छोड़ दो। तर्क से परे की अवस्था में ही श्रद्धा का जन्म होता है। 'इस प्रकार हो सकता है'—यह बात बहुत लोग कहते हैं। 'ऐसा अवश्य होगा' इस प्रकार तो कोई ही कहता है।

'जीवन में प्रेम है, यह वस्तु ठीक नहीं। प्रेम-रूपी सागर में जीवन तो एक जल-बिन्दु मात्र है। जो मनुष्य—प्रेम के नाम पर—स्त्री-पुरुष की थोड़े वर्षों की मस्ती का वर्णन करता है, उसे प्रेम क्या है इसका पता ही नहीं!

'मुझे प्रतिक्षण हिमाद्रि के आँसू जीवन में से प्राप्त होते हैं। वह मानो कहता है, तुम्हारी असमानता, तुम्हारे विप्लव, तुम्हारे जीवन-विग्रह, तुम्हारी श्रृंखलाएँ, तुम्हारे असंस्कार—आदि का विचार करते हुए तुम मुझे नहीं याद करते। मानो तुम्हारे प्रश्नों के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। मानो मैं तुम्हारे लिए, केवल एक भौगोलिक स्वरूप के सिवाय कुछ नहीं। मानो तुम्हारे जीवन में मेरा हिस्सा ही नहीं है। रासायनिक—नागार्जुन—तो मेरा प्रतीक-मात्र है। जीवन को समग्र रूप में गढ़ने के लिए समग्र काल का समग्र विचार रखना चाहिये। आओ, मुझे खोजो, मैं भी तुम्हारे जीवन की रक्षा कर रहा हूँ। नागार्जुन का जीवन-रसायन तुम्हारी अचेतना को चेतना से भर देगा।

'जीवन में किसी को एकान्त भी सेवन करना पड़ेगा। सर्वत्र ही सभा, सभा और टोली इसका नाम ही जीवन नहीं।

'किसी को रसायन-शोधन की तरह मानस-शोधन भी करना पड़ेगा। हिमाद्रि के अश्रु पोंछने पड़ेंगे। संदेशा भी सुनना पड़ेगा। टोली जनता नहीं, जनता प्रजा नहीं, प्रजा राष्ट्र नहीं, व्यक्ति राष्ट्र को गढ़ते हैं। राष्ट्र प्रजा देता है। प्रजा जनता को संस्कारी बनाती है। जनता टोलियों की सुरक्षा करती है।'

शान्तिकुटीर, गुरुकुल, सूपा।

चयनकर्ता, शंकरदेव विद्यालंकार

हिन्दी

राजस्थानी कविता में नारी-आदर्श

[राजस्थान की अधिकतर कविताएँ डिंगल भाषा में रची गई हैं, और यह साधारण बोल-चाल की भाषा है। काव्य का गुण है थोड़े शब्दों में अपने भाव व्यक्त करना और वह इन कविताओं में पाया जाता है। सहयोगी साप्ताहिक 'विजय' में श्रीमती लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत ने कुछ राजस्थानी कविताओं का संकलन किया है, जो नारी-आदर्श की ओर संकेत करता है। हम पाठकों के मनोरंजनार्थ उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं। सं०]

'किसी भी जाति का उत्थान और पतन नारी-जाति पर ही अवलंबित रहता आया है, पति और पुत्र के प्रेम से भी बढ़कर कर्तव्य का ध्यान और आत्म-गौरव का प्रिय होना राजस्थानी रमणी प्रकट करती है। उसे पुत्र और पति से स्नेह नहीं, उसे स्नेह है उनके उन कर्मों से जिससे उसका मातृत्व सार्थक हो जाय, वीर पति की स्त्री कहलाने का गौरव प्राप्त हो जाय।

'कन्था लखिजे दोय कुल, नथी फिरन्ती छांह।
मुडियां मिलसी गींदवो, मिले न धण री बांह ॥१॥
बिन मरियां, बिन जीतियां, धणी आविया धाम।
पग-पग चूड़ी पाछटूँ, जे रावत री जाम ॥२॥
धक जीवे भव खोवियो, मो मन मरिया आज।
मोने ओछे कँचुवे, हाथ दिखातां लाज ॥३॥
पूत महा दुख पालियो, वय खोवण थण पाय।
या नहीं जाणी आवसी, जामण दूध लजाय ॥४॥
पीयो हेली पूत नँ, सोमल थण लपटाय।
अचरज अतरे जीवियो, क्यों न मरे अब जाय ॥५॥

'(१) स्वामी, तुम लड़ाई में हारकर वापिस मत आना, जो युद्ध से भाग के आओगे तो तुम्हें मेरी बाँह का सिरहाना नहीं मिलेगा, कपड़े का तकिया ही सिरहाने के लिए नसीब होगा।

'(२) न तो शत्रुओं को मारा और न स्वयं ही युद्ध में जूझे, ऐसे पति गृह को आ गये ! जो मैं एक वीर पिता की पुत्री हूँ तो बार-बार अपने इस सुहाग को धिक्कारती रहूँगी।

'(३) मेरा जीवन धिक् है, मेरा मन मर गया, ऐसे पति के सुहाग-चिन्ह, चूड़े पहिने हुए हाथों को दिखाते लजा आती है।

'(४) मैंने इस पुत्र का अपना स्तन पिला, यौवन का नाश कर, बड़े श्रम से पालन किया ; यह नहीं जानती थी कि यह माता का दूध लजा के आयेगा।

'(५) हे सखी, मैंने इसे पहिले ही स्तन में विष लेपकर पिलाया परन्तु आश्चर्य है कि इतने दिन जीवित रहा, अब मरता क्यों नहीं है ?

'सच्ची क्षत्राणी अपने कर्तव्य-रूपी मृत्यु का निमन्त्रण कर स्वागत करती है।

ऊभी गोख अवेखियो, पेलां रो दल शेर।
पड़ियो धड़ धुणियो नहीं, लीधो धण नालेर।

'गोखे में से देखती है कि शत्रुओं का दल जीत में है, यद्यपि अभी तक पति का धड़ पृथ्वी पर गिरा नहीं है। परन्तु वह हाथ में नारियल लेकर सती होने को प्रस्तुत हो गई।

'वर्तमान क्षत्रिय जाति की इस अवनत दशा को दुःख और विषाद की ठण्डी निश्वास के साथ कवि ने इन थोड़े-से शब्दों में वर्णन किया है :

'खग धारा सामे खड़ी; उर न चढ़ी आतंक।
जिकी बहादुर नातड़ी, पडी थर हरे पंक॥ १॥
धर जिण धासक धूजती, शासक रही निशंक।
उही जात दासक हुई, अई हो विधाता अंक॥ २॥

'(१) तलवारों की तीक्ष्ण धारों के मध्य में खड़े रहकर भी कभी हृदय में भय पैदा न हुआ, वही वीर जाति आज थर-थर काँप रही है।

'(२) जिनकी धौंस से धरती धूजने लगती, जो शासक होकर निशंक रहा करते, वही जाति विधी के विचित्र अंकों से आज दासता में पड़ी है।

• • •

'संसार बड़ा ही विचित्र एवं असार है। इसकी असारता और देह की निस्सारता देख लाखा कहता है:—

'मरदा माया माणलो, लाखो कहे सुप्यट्ठ।
गण्या दिहाड़ा जावसी, के सता के अठ्ठ॥

'लाखा कहता है कि जो कुछ करना हो सो कर लो, गिने हुए सात-आठ दिनों की भाँति जीवन है।

'फूलाणी फेरो घणों, सता से अठ दूर।
सांझे देख्या मलफता नह उगन्ते सूर॥

'फूलाणी बोली, सात से तो आठ बहुत दूर होते हैं। जिन्हें संध्या को हँसते-कूदते देखा, सुबह उनका अस्तित्व ही नहीं था।

लाखो भूल्यो लख घणों मांझूं भुली जोय।
आंख तणो फरुकड़े, क्या जाणूं क्या होय॥

'लाखा की कन्या कहती है कि तुम दोनो ही भूल करते हो; आँख फरकती है, उतनी ही देर में क्या से क्या हो जाता है!

'लक्खो अन्धो, धी अन्धी, अन्धी लखारी लोय।
सांस बटाऊ पावणा, आवे ना आवण होय॥

'दासी बोली, तुम सारे ही अन्धे हो। साँस और अतिथि दोनो ही पाहुने हैं। आये और आये ही नहीं।

'राजिया के सोरठे प्रसिद्ध हैं ही। इनका जाति में ऊँचा स्थान है।

'लछमी कर हरि लार, हर ने दध दिधो जहर।
आडम्बर अधिकार, राखे सारा ही राजिया।
हिम्मत कीमत होय, बिन हिम्मत कीमत नहीं।
बांच र दियो बगाय, रद कागज ज्यूं राजिया॥ (राजिया)

'आडम्बर सब को प्रिय लगता है। समुद्र ने, मथे जाने पर, विष्णु के साथ में तो लक्ष्मी कर दी। शिव को विष दिया। पुरुष का मूल्य पुरुषार्थ से ही है। बिना पुरुषार्थ के पद के फेंके हुए रद्दी कागज की भाँति कद्र होती है।'



रेखाचित्रो (जुनां अने नवा)—लेखिका : लीलावती मुंशी, प्रकाशक : जीवनलाल अ० मेहता ; अहमदाबाद, चित्रकार : कनु देसाई । मूल्य ढाई रुपए ।

भारतीय साहित्य में रेखाचित्र लिखने की प्रणाली नई है । अंग्रेज़ी में जिसे थम्ब नैल स्केचेज़ कहा जाता है, उसे ही हिन्दी में हम रेखाचित्र कह सकते हैं । व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति और खासकर लेखक के प्रति एक कुतूहल होता है । रेखाचित्र हमें सहायता देते हैं कि व्यक्ति-विशेष को समझ सकें । मानव बड़ा ही गहन और जटिल है । उसे समझना कठिन है । लेखक मानव को समझने की चेष्टा करता है ; उसकी जटिलता का विश्लेषण करता है । रेखाचित्र थोड़े में बहुत कुछ बतला देता है । स्थल और विस्तार वहाँ नहीं है । संक्षेप और अति संक्षेप में बहुत कुछ कहना होता है । अमुक व्यक्ति क्यों ऐसा है ? अमुक लेखक के पात्र क्यों इतने निमर्म हैं ? क्यों किसी में कठोरता है और क्यों किसी में कोमलता ? आदि प्रश्नों का वह उत्तर देता है ।

श्रीमती लीलावती मुंशी ने गुजराती में कुछ इस तरह के रेखाचित्र लिखे हैं । परिभाषा और विषय दोनो की दृष्टि से ये रेखाचित्र खरे उतरते हैं । 'हंस' के पाठक उनके रेखाचित्रों से भली प्रकार परिचित हैं । पिछले अंकों में कन्हैयालाल मुन्शी और प्रो० खुशाल तलकशी शाह के रेखाचित्र अनूदित किये गये हैं । गुजरात के और भारत के कई लेखकों तथा नेताओं को वे सफलता-पूर्वक चित्रित कर सकी हैं । पुस्तक बहुत ही उपादेय अतएव संग्रहणीय है ।

काशी, ८ : २ : '३९ । श्यामू सन्यासी

• • •

चयनिका—संग्रहकर्ता और सम्पादक : रामानन्द शर्मा और व्रजनन्दन शर्मा ; प्रकाशक : दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास ; प्रथम संस्करण, अक्तूबर, १९३८ ; मूल्य सवा रुपया : पृष्ठ-संख्या २७६ ।

नवीन कविताओं का यह संग्रह हिन्दी-प्रचार-पुस्तकमाला का सैंतीसवाँ पुष्प है । यद्यपि सम्पादकों और प्रकाशकों ने इसे नवीन कविताओं का संग्रह कहा है ; परन्तु कविताएँ इसमें सभी नई नहीं हैं । नई के साथ कुछ पुरानी कविताएँ भी रखी गई हैं । संग्रह यह विशेषकर दक्षिण भारत के हिन्दी-प्रेमियों के लिए किया गया है ।

हिन्दी-साहित्य के सभी लब्ध-प्रतिष्ठ और उदीयमान कवियों की कविताएँ इस संग्रह में संग्रहीत की गई हैं । संग्रह को देखते समय भी और बाद में भी यह विचार मन में उठता है कि कई कवियों की उत्तमोत्तम कविताएँ इस संग्रह में न आ सकीं । यद्यपि सम्पादकों ने स्वीकार किया है कि दक्षिण के हिन्दी-प्रेमियों को लक्ष्य में रखकर यह संग्रह तैयार किया गया है इसलिए उन्हें मन मसोसकर रह जाना पड़ा है और सुन्दर रचनाएँ संग्रहीत की जाने से रह गई हैं । दक्षिण भारतवालों की रुचि का पता उत्तर भारतवालों को नहीं लग सकता, यह सत्य है ; तो भी उन्हें हिन्दी में जो श्रेष्ठ है वह तो दिया ही जा सकता है ।

'आधुनिक कविता की झाँकी' के अन्तर्गत सम्पादकों ने हिन्दी-कविता-धारा को तीन

भागों में विभक्त किया है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और प्रसाद-युग। प्रसाद-स्कूल के अन्तर्गत सम्पादकों ने कई नवीन कवियों का समावेश किया है, जो वास्तव में उस स्कूल के न होकर एक स्वतन्त्र और नवीन सम्प्रदाय के हैं। सुभद्राकुमारी चौहान, सियारामशरण गुप्त, 'निराला' और दूसरे कवि एक नये ही सम्प्रदाय के हैं। वे प्रसाद-युग के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

फिर भी 'चयनिका' में संग्रहीत कुछ कविताएँ ऊँचे दर्जे की हैं। माखनलालजी की 'मुझको कहते हैं माता' बहुत ही ज़ोरदार रचना है।

'मिट्टी पर मैं लेट रही हूँ, मुझ पर वह लेटा है ;
विधि का कुछ अधिकार नहीं है, यह मेरा बेटा है।'

बहुत ही मार्मिक पंक्तियाँ हैं। मा के हृदय का सच्चा चित्रण उनमें मिलता है। वैसे ही सर्वश्री 'नवीन,' 'बच्चन', 'दिनकर', 'मिलिन्द' आदि की कविताएँ भी हैं। 'अज्ञेय' की 'पूछ लूँ मैं नाम तेरा' नये ढंग की सुन्दर रचना है। महादेवीजी की जो कविताएँ इस संग्रह में ली गई हैं, उनसे भी सुन्दर कविताएँ उन्होंने लिखी हैं। यदि वे इस संग्रह में ली जातीं तो निश्चय ही यह संग्रह वर्तमान हिन्दी-कविता की प्रगति को समझने में सहायक होता। वैसे ही मैथिलीशरणजी की पुरानी कविताएँ ही इस संग्रह में रखी गई हैं।

चयनिका के कुछ कवियों और कविताओं का परिचय भी दिया गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तक के अन्त में कठिन शब्दार्थ भी दिये गये हैं। परन्तु वहाँ कहीं-कहीं असावधानी हो गई है। मेखलाओं के लिए कमरबन्द शब्द है तो ठीक ; परन्तु नक्षत्रों की मेखलाओं के लिए वह उपयुक्त नहीं है।

एक बात और भी ; और वह भाषा के बारे में। सम्पादकों ने भूमिका में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह जान-बूझकर हिन्दुस्तानी बनाई गई है। उसके साथ ज़बर्दस्ती की गई है और यों वह बनावटी हो गई है।

काशी, ८ : २ :'३९। श्यामू सन्यासी

• • •

बोलती प्रतिमा—लेखक : श्रीराम शर्मा ; प्रकाशक : शंकरसदन, आगरा। मूल्य : १।।।) पृष्ठ-संख्या २३६।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्रीराम शर्मा की कहानियों का संग्रह है। पुस्तक में वर्णित सभी घटनाएँ और सभी पात्र यथार्थ हैं। लेखक ने कहीं-कहीं उन्हें अपनी कल्पना से छू-भर दिया है।

श्रीराम शर्मा हिन्दी में वास्तववादी लेखक हैं। अपने अड़ोस-पड़ोस वे जो कुछ देखते हैं और अनुभव करते हैं, उसे ज्यों का त्यों काग़ज़ पर उतारकर रख देते हैं। किसी भी साहित्यिक की सफलता अपने युग के विचारों को और मौन जनता के हृदय-गत भावों को वाणी देने में है। युग का जीवित और स्थायी साहित्य भी वही रहा है। आज का लेखक और कलाकार महसूस करने लगा है कि 'कला कला के लिए' की अपेक्षा 'जन-साधारण के लिए' ही अधिक है। यह सच है कि कला और साहित्य किसी विशेष वाद या प्रचार के अन्तर्गत चलकर अपने वास्तविक रूप में नहीं रह सकते हैं। परन्तु व्यक्ति को त्यागकर साहित्य कब साहित्य है! साहित्यिक और कलाकार

स्वयं व्यक्ति हैं और कला या रचना में उनकी भावनाएँ मूर्त स्वरूप पाती हैं। अनुभूति जितनी ही तीव्र होती है, उतनी ही उनकी कृति सफल और सचोट होती है।

हमारे देश के प्राण हमारे देश की जनता में बसते हैं और हमारे देश की जनता देहातों में बसती है। श्रीराम शर्मा की 'बोलती प्रतिमा' की प्रतिमाएँ भी देहाती हैं। सीधे-सादे और आडम्बर से शून्य, ज़मींदार और साहूकार के अत्याचारों से पीड़ित, जो ज़मीन खोदते हैं और फसल काटते हैं; धान उपजाकर भूखों मरते हैं; दूसरों को पानी पिलानेवाले वे प्यासे हैं। दूसरों को जीवित रखनेवाले वे बिना दवा-पानी के यूँ ही मर जाते हैं।

बोलती-प्रतिमा का चन्दा चमार और तोता, विक्रमसिंह और संकटप्रसाद और रतना की अम्माँ पुस्तक से अधिक हमारे अड़ोस-पड़ोस में बसनेवाले प्राणी हैं। पुस्तक हमें उन्हें अधिक निकट से देखने की एक दृष्टि प्रदान करती है। उन पर होनेवाले अत्याचार से लेखक हमें अवगत कराता है और उनके उद्धार की प्रेरणा देता है।

मैले-कुचैले कपड़ोंवाला और हजारों मवेशियों को जीवन-दान देनेवाला हकीम पीताम्बर पाठकों पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है। कहाँ आज के बिना फीस लिये एक क़दम न चलनेवाले ज्ञान के भण्डार डाक्टर, जो स्वयं आश्वस्त नहीं हैं कि वे रोगी को चंगा कर ही देंगे; और कहाँ काली रातों और बरसते पानी में यहाँ और वहाँ दौड़ता-भागता, मवेशियों की चिकित्सा करता हकीम पीताम्बर।

'हरनामदास' हमारे सामने अलिफ़ लैला का एक अध्याय ही खोल देता है। उसके फक्कड़पन और मौजूँ स्वभाव पर पाठक आश्चर्य-चकित ही रह जाता है और कह पड़ता है— Fact is stranger than fiction. 'फैजाबाद की काल कोठरी' हमें विचार करने पर विवश करती है। 'शीर्षक-हीन कहानी' और 'इकाई का सौदागर' सफल चित्र हैं। 'अपराधी' और 'गीली लकड़ियाँ' तो गुजराती में भी अनूदित हो चुकी हैं। कहीं-कहीं भाषा में कृत्रिमता भी आ गई है।

काशी, ६ : २ : '३६। श्यामू सन्यासी।

• • • •

बाल-हित—सम्पादक : कालूलाल श्रीमाली। प्रकाशक : पितृ-संघ, उदयपुर। वार्षिक मूल्य २)

हिन्दी में माता-पिता और शिक्षकों के लिए इने-गिने पत्र हैं। 'हिन्दी-शिक्षण-पत्रिका' के बाद 'बाल-हित' हमारे देखने में आता है, जो त्रैमासिक है। इस पत्र में बाल-मनोविज्ञान और बालकों की समस्याओं पर उपयोगी लेख रहते हैं। हिन्दी-संसार में बाल-मनोविज्ञान बाल-समस्या और बाल-शिक्षा-शास्त्र पर लिखनेवाले अधिकारी लेखक न कुछ-से हैं, इसलिए 'बाल-हित' में अनुवाद भी रहते हैं—अंग्रेज़ी से और अन्य भाषाओं से। अधिकांश लेख बच्चों पर किये गये प्रयोग और उनके फल होते हैं, जो माता-पिता और शिक्षक के साथ ही बाल-समस्या के जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए भी काम के हैं।

किसी भी राष्ट्र के भावी नागरिक उस राष्ट्र के वर्तमान बालक हैं। राष्ट्र को सुधारने से पहले यह आवश्यक है कि उसके बालकों के सुधार पर ध्यान दिया जाय। स्त्री-पुरुष की यह

नैतिक ज़िम्मेदारी है कि माता-पिता बनने से पहले वे माता-पिता के कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर लें। यदि वे अपने इस उत्तरदायित्व का पालन नहीं करते हैं तो अपने बालकों के प्रति और इसीलिए राष्ट्र तथा जीवन के प्रति अपराधी हैं।

अनजाने ही अभिभावक अपने बालकों पर अत्याचार कर गुज़रते हैं। जिसे वे अपना प्रेम समझते हैं वह बालकों के सिर बोझ बनकर लदता है, क्योंकि अभिभावक अपने दायित्वों और कर्तव्यों से बे-ख़बर रहते हैं। 'बाल-हित' इस विषय में उपयोगी है और उससे पूरी सहायता ली जा सकती है।

अभी ही 'बाल-हित' ने अपना एक विशेषांक 'जटिल बालक' के नाम से निकाला है। इस समय ऐसा विशेषांक आवश्यक है, क्योंकि दुनिया का राजनैतिक मंच अत्यन्त जटिल हो रहा है। और संसार की सरकारें इसीलिए तो जटिल हैं कि उनके मूल में जटिल बालक रहे हैं।

हिन्दी में 'बाल-हित' का यह आयोजन आवश्यक और उपयोगी है।

काशी, ४ : २ : '३६ श्यामू सन्यासी।

• • • •

मुद्रण-प्रवेश—लेखक : शंकर रामचन्द्र दाते, बी० ए०; अनुवादक : गोपीवल्लभ उपाध्याय; प्रकाशक : लोकसंग्रह छापाखाना, ६२४, सदाशिव पेठ, पूना २; प्रथमावृत्ति : सन् १९३८, पृष्ठ-संख्या २३१; मूल्य दो रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्रीदाते भारतीय मुद्रण-विज्ञान-विशारदों में अग्रणी हैं। 'मुद्रण-प्रवेश' उनके इस ज्ञान का अच्छा परिचय कराती है। भारतीय भाषाओं में अभी तक मुद्रण-कला पर कोई पुस्तक न थी और यह पुस्तक उस कमी की कई अंशों में पूर्ति करती है। छपाई से अधिक विवेचना कम्पोजिंग की की गई है; क्योंकि छापाखाने का वह प्राथमिक कार्य है। इसमें छपाई की विभिन्न पद्धतियों पर पूरा-पूरा प्रकाश डाला गया है। कम्पोजीटर के हाथ में पाण्डुलिपि पहुँचने से लगाकर लेख के छपकर तैयार हो जाने तक उसे किन-किन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है और कितनी सावधानी रखने की आवश्यकता है, आदि सभी महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश किया गया है। छापाखाने के व्यवस्थापकों के साथ ही साथ लेखकों, सम्पादकों और मुद्रण-विज्ञान से प्रेम रखनेवालों के लिए यह उपयोगी साबित होगी।

यद्यपि लेखक और अनुवादक ने पुस्तक को सर्वाङ्गीण बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है, तो भी कुछ कमियाँ रह गई हैं। जहाँ प्रस्तुत पुस्तक में अंग्रेजी की केस-रचना और मुद्रण-पद्धति पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है, तहाँ विभिन्न भारतीय भाषाओं की केस-रचना और मुद्रण-पद्धति पर एक भी शब्द न लिखना खटकनेवाली बात है।

कुल मिलाकर यह एक स्तुत्य प्रयत्न है, जिसके लिए लेखक, अनुवादक तथा प्रकाशक जनता की बधाई के पात्र हैं।

काशी, २७ : १२ : '३८ श्यामू सन्यासी।

• • •

यौवन-तरंग—लेखक और प्रकाशक : श्री महावीरप्रसाद दाधीचि, कालबादेवी रोड, बम्बई। मूल्य।-)

लेखक के भिन्न-भिन्न गद्य-काव्यों का यह संग्रह है। गद्य-काव्य लिखना सरल भी है, कठिन भी। सरल इसलिए कि उसमें 'कविता'वाले बन्धन नहीं रह जाते और व्यंजना-मुक्त हो जाती है। कठिन इसलिए कि कविता की अपेक्षा उसमें एक चोट, एक प्रभाव, एक आघात उत्पन्न करना कठिन है। कविता में तो संगीत, लय और छन्द होने से वह कभी-कभी कुछ न होते हुए भी अपना असर छोड़ ही जाती है। परन्तु गद्य-काव्य में जब तक एक उच्चकोटि की विदग्धता, एक निखार और साधक की-सी आग न होगी, तब तक वह प्रथम श्रेणी का न माना जायगा। भाषा का उतना सौन्दर्य ज़रूरी नहीं है जितना भावना का वेग और अन्तर की अनुभूति की रहस्य-भरी तसवीरें; संक्षेप में जब तक लेखक का व्यक्तित्व उसके गद्यगीतों में बोल न उठेगा, तब तक वह साहित्य-प्राण और मर्म-तप्त न होगा। गुजराती के लेखक होते हुए दाधीचिजी ने जो यह प्रयास किया वह अभिनन्दनीय है। परन्तु उन्हें अपनी कृतियों में अधिक प्रौढ़ होना पड़ेगा। प्रौढ़ता गद्य-काव्य का प्रथम गुण है। पढ़कर हमें कुछ निराशा भी हुई। लेखक का कोई अपनापन हमें उनकी इन कृतियों में नहीं मिला। परन्तु आशा होती है आगे वे अच्छा लिख सकेंगे।

• • •

प्रतिस्पर्द्धा—लेखिका और प्रकाशिका: सुश्री शकुन्तला परांजपे, मूल्य चार आने।

लेखिका की यह मूल मराठी कृति का अनुवाद है जो किसी फ्रेन्च प्रहसन के आधार पर लिखी गई है। नाटक के पात्र सांसारिक और दैनिक जीवन में चारो ओर दृष्टिगोचर होनेवाले लोगों में से हैं। उनकी प्रत्येक गति-विधि, प्रत्येक क्रिया-कलाप मानवता से ओत-प्रोत है। अपने दैनिक जीवन की भाँति ही वे कभी चुस्त और सजीव रहते हैं—कभी ढीले होकर निर्जीव-से लटक जाते हैं। लेखिका में प्रतिभा है और उनका पर्यटन और अध्ययन दोनो विशाल हैं।

क्या हम निवेदन कर सकते हैं कि वे अब अनुवाद की ममता छोड़कर मौलिक रस-प्राण कृतियों का सृजन करें।

• • •

गाँधी टोपी—लेखक, राजा श्री राधिकारमण सिंह, एम० ए०, प्रकाशक, राज-राजेश्वरी-साहित्य-मन्दिर, सूर्यपुरा, शाहाबाद, बिहार। मूल्य १।)

राजा साहब की ६ कहानियों का यह संकलन है। इन कहानियों को पढ़ने के बाद यह आश्चर्य-सा ज्ञात होता है कि लेखक की इसी लेखनी से 'कानों में कँगना' जैसी श्रेष्ठ कहानी का जन्म हुआ है। इस संकलन की तो यही खूबी है कि प्रचार की प्रेरणा से ही लेखक ने इन्हें लिखा है। कहानी के जितने गुण होते हैं, चरित्र-सृष्टि, मर्म-संघर्ष, जीवन-प्रवाह आदि वे सब नहीं के ही बराबर हैं। भाषा की अवास्तविकता और बनावटीपन देखकर लेखक के प्रयास और प्रयत्न पर कुतूहल-सा होता है और कहानियों के कुछ स्थल तो लन्तरानियों से ज्ञात होते हैं। राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता का जो अधपका और अधपचा रूप राजा साहब ने अपनी इन कृतियों में रखा है वह कला से दूर है। और यही कारण है कि उसमें कोई भी आघात-कारिणी शक्ति नहीं है। लेखक की अनुभूति उनकी सहानुभूति और संवेदना भी ऐसा प्रतीत होता है, सिर्फ बाहरी सतह को स्पर्श कर लौट आती है। अपने पात्रों, चित्रों के निगूढ़ अतल में घुसकर

वहाँ का प्रकाश, अन्धकार, विष, अमृत और धूम्र, ज्वाला ये सब देखने की चेष्टा भी लेखक की इन कहानियों में नहीं दीखी। लेखक की प्रौढ़ लेखनी से अधिक सुन्दर और उच्च-उच्च कोटि की कहानियों की आशा हमें थी। कारण वे हिन्दी की पहिली पीढ़ी के कहानीकार हैं और मानव एवं विश्व दोनो का अधिक गहरा, अधिक स्थायी और अधिक स्पर्शी चित्र हम उनकी कृतियों में देखना चाहते थे। भाषा के प्रवाह और वेग में भी इस असुन्दर कृत्रिमता के कारण बड़ी कमी आ गई है। लहजा, लच्छेदारी और बाँकापन इनके निर्वाह की धुन में लेखक ने रचना के तात्त्विक, शाश्वत सौन्दर्य्य का तनिक भी ध्यान नहीं रखा। राजा साहब में प्रतिभा है। कहानी कहने का ढंग भी। आशा है अपने इन दोषों का परिहार कर वे जीवन और कला दोनो के प्रति और ज्यादा सच्चे बनेंगे।

• • •

सूर : एक अध्ययन—लेखक, श्री शिखरचन्द्र जैन, साहित्य-रत्न; प्रकाशक, नरेन्द्र-साहित्य-कुटीर, इन्दौर ; मूल्य बारह आने।

महाकवि सूर के लिए तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। हिन्दी की बृहत्त्रयी तुलसी, सूर, कबीर में उनका अत्यन्त आदरणीय स्थान है। प्रस्तुत निबन्ध भी सूर के ऊपर एक पढ़ने लायक चीज है। पढ़कर पाठक सूर की कविता और साधना, उनकी ऐतिहासिक महत्ता और आध्यात्मिक गुरुता को और भी निकट से देखने और समझने का अधिकारी हो जाता है। सुयोग्य लेखक ने हिन्दी के महान मर्मी कवि पर बड़ी ही मेहनत और लगन से चिन्तन किया है। भाषा में गति और भाव-विन्यास है। शैली रोचक और विषय के अनुरूप ही गम्भीर है। पढ़कर पाठक सूर के बारे में बहुत-सी बातें जान सकता है। सम्मेलन-परीक्षाओं के छात्रों के लिए तो यह विशेष रूप से उपयोगी है।

इलाहाबाद। 'अंचल'।

• • •

त्याग-पत्र—लेखक : जैनेन्द्रकुमार ; प्रकाशक : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई, १९३७। पृष्ठ-संख्या, ११२ ; मूल्य १)।

श्री जैनेन्द्रकुमार में बुद्धि-प्रखरता भी है, मेधा का प्रकाश भी है। उनमें मौलिकता भी खूब है, तार्किकता भी है, अनुभूति भी गहरी है। इधर उनके नाम के नाम के साथ किंचित् रहस्यकता का समावेश भी किया जाने लगा है, और आज जब उनके नये उपन्यास 'त्यागपत्र' की चर्चा करने का अवसर आया है तो बरबस कुछ बातें दिमाग़ में घर बना बैठी हैं, और मुझे उनसे यदि अपने को नहीं किया जा सकता तो उनके बीच से ही अपना रास्ता निकालना होगा। इस उपन्यास की अपेक्षाकृत जटिल समस्याओं को सुलझाना भी होगा। यहाँ मात्र कहानी ही नहीं है, विचार भी हैं। और विचारक प्रबल है, यहाँ तक कि उसने कथाकार को ग्रस लिया है। विचारक पाठक की बुद्धि को सोचने का अवकाश नहीं देता ; उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। धीरे-धीरे चलें। पहले कहानी लें—वह क्या है।

प्रमोद है, उसे प्रधान चरित्र कह लीजिये। उसकी मा है, पिता है। और उसकी एक बुआ है—मृणाल ; उसे प्रधान स्त्री-चरित्र कहें। वही वह केन्द्र है, जिसके चारो ओर यह कहानी

बुनी गई है। मृणाल जब स्कूल ही में पढ़ रही थी, यौवन के प्रवेश में ही वह अपनी किसी एक सहेली शीला के भाई से प्रेम करने लगती है। मृणाल के भाई ने उसका विवाह तै किया है और वह विवाह कर दिया जाता है। उपन्यासों का पढ़नेवाला जानता ही होगा, यह विवाह सुखी नहीं हुआ। पति पाशविक है, सहृदयता तो शायद उसके लिए स्वप्न की वस्तु भी नहीं है। मृणाल अपने पति से साहचर्य न स्थापित कर सकी। परिस्थिति यहाँ यों हुई: एक नारी है, गुण और शीलवती, बुद्धिमती और प्रकाशमय; प्रत्येक अच्छी भावना के प्रति उसमें सजगता है, सद्भावना है। और यह प्राणानुप्राणित प्राणी पहले एक उद्दण्ड और घृणित पति-रूपी पशु की बलि चढ़ती है। संसार को उसने क्या दिया? यह सब ऐसा क्यों है? ये सवाल उठ खड़े होते हैं। तो कहानी। इसका फल यह हुआ कि प्रायः जैसे होता आया है, उसके विपरीत, नारी और पुरुष ने समझौता नहीं किया। यह नारी टूटे तो टूट भले ही जाय; पर वह झुकेगी नहीं। मृणाल एक बार पति के घर से अपने भाई के घर आई। यहाँ वह यह मालूम करने आई थी कि पति के बिना भी क्या यह घर उसका हो सकता है। पर उसे यह अनुभव हुआ कि यहाँ उसे वह रक्षा-छाया न मिलेगी, जिसकी आशा सम्भवतः उसने की थी। वह मिल सकती भी न थी। समाज और रूढ़ियाँ जो इस विवशता की पोषक हैं। फिर वह पति के यहाँ चली गई। वहाँ उसने सब कुछ सह लेने की ठानी। पर मृणाल के पहले प्रेम को लेकर उसका पति उससे अत्यधिक असन्तुष्ट हो उठता है और उसे बलात् त्याग देता है। और मृणाल जीने की ग़रज़ से जीने लगती है। जब जिन्दगी है तो क्षुधा है, तृष्णा है, वासना है। इस सबको झेले बिना जिया नहीं जा सकता, जैसे मरे बिना स्वर्ग में नहीं पहुँचा जा सकता। और प्रमोद की बुआ मृणाल जीती हैं—ऐसी ज़िन्दगी जिसे हम हद दर्जे हिकारत की निगाह से देखते हैं। पर उनके जीवन की गहराइयों में कहीं अदृश्य जीवनी-शक्ति है, कहीं वह है जो प्रकाश दे सकता है; कहीं वह है जो उनको इस दशा में भी थामे हुए है। यह शक्ति कहीं संचित हो सो नहीं, वह तो उन्हें जीवन के पग-पग पर उपलब्ध होती है। उन्हें ही क्यों, हमको और आपको भी प्राप्त हो सकती है, यदि हम-आप उसकी ओर वृत्ति रखें। यह उनकी एक अमर साधना है। यह मानव को उनकी और उन-जैसी असंख्य मानवात्माओं की अमूल्य थाती है, जो उन्होंने अपनी आनेवाली पीढ़ियों के लिए विरासत में छोड़ी है। इस प्रकार जीती-झेलती वे दुःख-पीड़ा में अन्तर्निहित हो जाती हैं। प्रमोद से वह उसका धन माँगती हैं, जो वह छोड़ नहीं पाता। और फिर वही धन-ऐश्वर्य, इज्ज़त-आबरू जैसे उसकी जान को आ पड़ते हैं। यों यह कहानी ख़त्म होती है। इसे एक लम्बी कहानी ही कहिये।

तो अब देखें कि लेखक का मक़सद इसमें क्या है?

इसमें लेखक ने ये प्रश्न उपस्थित किये हैं: मान-प्रतिष्ठा और धन-वैभव क्या है? उनकी उपलब्धि किस प्रकार से होती है? और इन प्रश्नों का समाधान लेखक ने उपस्थित किया है—और वह उन तमाम सब गुणों और मर्यादाओं की तीव्र और कटु आलोचना है जिसे आदमियों की भीड़ आदर और समान से देखती है। पर इतना ही नहीं है। लेखक ने यह भी पूछना चाहा है कि आख़िर सद् और शुभलक्षी प्राणी क्यों विथा से घिर जाते हैं। और उसका भी जवाब उसने देने का प्रयास किया है—सत्य के साथ नये प्रयोगों का यही अन्त है, क्योंकि समाज और संसार की सीमाएँ बड़ी सीमित हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार एक भावुक आत्मा हैं। सद्भावना का एक स्रोत उनमें प्रवाहित हो रहा है। और उनकी भावुकता और हृदय की स्पंदनशीलता ने ही ऐसी कथा का सृजन किया है। इसमें व्यथा-भार बहुत है। पीड़ा घनीभूत होकर हृदय को बींधती है। स्वतंत्र निर्णय के लिए भी वहाँ कहीं स्थान नहीं बचता। जैसे लेखक कहीं किसी ओर से भागने की राह नहीं देता। घिराव धीरे-धीरे सँकरा होता जाता है और यहाँ तक कि फिर इतना भी स्थान नहीं बच रहता कि इधर-उधर कहीं निगाह उठ सके, भली प्रकार छाती चौड़ी करके साँस भी ली जा सके। और इस घिराव के अन्दर से यही निर्णय करके निकलना सम्भव हो सकता है कि आदमी जीवन की कीमत समझे। अपनी आत्मा को समझे, उसका उत्थान करे; समाज को समझे और उसकी सहृदयता से परीक्षा करे। इस कहानी में आत्मा को ऊँचा उठाने की क्षमता है। और वह आत्मा को ऊँचा उठाती है। इस लिहाज़ से उसका आविर्भाव स्मरणीय है, उसका मूल्य अतुलनीय है। यही लेखक की सबसे बड़ी सफलता है। हम उसका अभिनन्दन करते हैं; उसे प्रणाम करते हैं।

इस उपन्यास की अपनी कठिनाइयाँ भी हैं। इसके चरित्र, विचार अधिक और शरीर कम हैं। विचार के प्रतिपादन के लिए ही जैसे उनका सृजन किया गया है। उनमें से विचार स्वाभाविक रूप से जन्म नहीं ग्रहण करता। जैसे उनका अस्तित्व इस पृथ्वी पर जीवन के लिए नहीं, वरन् किसी विचार के प्रचार के लिए है। यह एक बड़ा दोष है; इसलिए, 'त्याग-पत्र' में उपस्थित चरित्र जीवन से लिये नहीं प्रतीत होते; वे किसी पारदर्शी यंत्र के द्वारा दूर से देखे गये प्रतीत होते हैं। पर वे सजीव हैं, थोड़े-से स्थलों को छोड़कर वे सर्वथा स्वाभाविक भी हैं: प्रमोद का पिता, समाज-भीरु और कमज़ोर, पर सहृदय और स्नेहमय; प्रमोद की मा, जीवन के पाप-पुण्य की ओर से सर्वथा सजग, शासन में कड़ी, सामान्य दुनियादार नारी, स्नेहशीला माता; प्रमोद, एक स्पन्दनशील कोमल नवयुवक, जो जीवन की गहराइयों में उतरने के लिए उद्यत होकर भी वैसी परिस्थितियाँ नहीं पाता और जो जीवन के सरल-सुखद रास्ते की ओर झुक पड़ता है; पर आगे चलकर जिसे उस मार्ग से संतोष नहीं होता; पर अब नया मार्ग खोजना जिसके लिए दुष्कर है। और मृणाल—विचारों में गहन नारी; नारी जो झुकेगी नहीं, चाहे टूट ही क्यों न जाना पड़े, सब ही सद्गुणों के प्रति सद्भावना से ओत-प्रोत; अपेक्षाकृत अधिक भावुक और प्रेम में उष्ण और उद्दाम, जो जीवन को जितना ही उसकी विभिन्नताओं में अनुभव करती है, उतना ही वह सरल, निर्मम, निस्पृह और साधनामय होती जाती है, जो अपनी श्रद्धा में मानवी सीमाओं का अतिक्रम कर देवत्व की सीमा तक पहुँचाई गई है—इन सब संघर्षों-विघर्षों का लेखक ने मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किया है। और इस सब की सच्ची आर्द्र ध्वनि बरबस पाठक को जैसे छूत की तरह लग जाती है और उसका दिमाग़ सोचने को मजबूर हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक मृणाल को अपने हृदय से प्रेम करता है और पाठक को भी उसे प्रेम करना सिखाता है—प्रेम करना उसे जिसे साधारण तौर पर सब घृणा करते हैं। यहीं उसकी सफलता की कुंजी है। यहीं उसकी सफलता का रहस्य है—लेखक का इस कहनी में अभिप्राय-स्फुरण। पाठक को वह उसके गुणों को, उसकी संचित घनीभूत पीड़ा को, व्यथा को प्रेम करना सिखाता है। उसके तुमुल अन्तर्नाद के अन्दर से इस महान आदर्श को जन्म देना लेखक की आत्मा की महानता का द्योतक है: 'लेकिन सहायता का हाथ देखकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है? तो भाई, मुझे माफ़ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिये कि मेरा मन पक्का

होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊँ, और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिये। मुझे तो जो मिलता है, उसी के भीतर सान्त्वना पाने की शक्ति चाहिये—'लेखक को उसके साथ पूर्ण सहानुभूति है और उसकी वजह से उसकी आत्मा क्रन्दन कर उठती है, यह भावना अनजाने में, बिना प्रयत्न के ही पाठक तक पहुँच जाती है। और ये प्रश्न : क्यों, किस अन्त के साधन के लिए इस मनोरम प्राणी का विनाश होता है? क्या ऐसा होना आवश्यक ही है? अपने आप ही पाठक के मस्तिष्क में उठते हैं और उसे मानव-जीवन के ऊपर विचार करने के लिए बाध्य करते हैं।

यह पूरी कहानी बड़े वेग से उपस्थित की गई है और जैसे दिमाग़ को चौंकाकर, अशांत कर देनेवाला धक्का देकर वह पाठक को छोड़ जाती है। इस प्रवाह में गहरी नदी की स्थिरता नहीं है, पहाड़ी झरने की तेज़ी है। इसकी तह में, ऐसा मालूम होता है, कि लेखक का शारीरिक एवं मानसिक बल इस व्यथा-भार को अधिक देर तक सहन कर सकने की क्षमता न रखता था और इसीलिए उसने एक साँस में पूरी कहानी कह डाली। और विचारों को मस्तिष्क में भेजकर उनका पाचन होने देने का समय भी लेखक ने पाठक को नहीं दिया है। जिसकी वजह से, अंशों में, यह तसवीर विकृत मालूम होती है। यहाँ शरद् का ज़िक्र असंगत न होगा। उनके चित्रों में एक स्थिरता होती है, जो पाठक के मन में धीरे-धीरे घर करती है; पर उसका प्रभाव कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक संपूर्ण होता है। और इसीलिए अपने आदर्शों, लक्ष्यों एवं विचारों की बोधगम्यता के लिए तर्क की शरण उसे नहीं लेनी पड़ती, जिसके विपरीत कि 'त्याग-पत्र' के लेखक को लेनी पड़ी है—उस तमाम सब कैफ़ियत की जो मृणाल ने प्रमोद के सम्मुख उपस्थित की है।

श्री जैनेन्द्रकुमार का आदर्शवाद कुछ एक अलग चीज़ है। धन को वे जीवन में स्थान नहीं देना चाहते। मानवी आदान-प्रदान धन के माध्यम से क्यों हो, यह उनका विचार है। जीवन में धन का कम से कम उपयोग किया जाय, यह एक समझौते के तौर पर वे स्वीकार कर सकते हैं। इन सब का प्रतिपादन इस कहानी में है। पर समझ में नहीं आता कि क्यों इस कहानी में सांसारिक या दुनियावी अर्थशास्त्र को ठोकर लगाई गई है। इसको समझना कठिन है। कहानी के साथ कहीं इसका तारतम्य स्थापित नहीं होता। यह तो ठीक है कि इस आदर्श के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह अपने आप में सही है; परन्तु उसका स्थान यहाँ कहाँ था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि लेखक ने पाठक की इस तमाम व्यथा से उद्भूत हुआ मृणाल के प्रति सक्रिय कृतज्ञता और सहानुभूति को एक निश्चित दिशा देने के लिए इसको यहाँ उपस्थित कर दिया है? यदि ऐसा है तो वह क्षम्य है।

तुलनाएँ प्रायः भ्रामक हुआ करती हैं। परंतु उनके द्वारा बुद्धि को ग्रहण करने में सुगमता होती है। इस दृष्टि से उनका उपयोग क्षमा का अधिकार प्राप्त करता है। श्री सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'नारी' में जो स्वाभाविकता, सहज-बोधगम्यता है, उसका 'त्याग-पत्र' में अभाव है। मालूम यह होता है कि जहाँ श्री गुप्त में भारतीय आत्मा पूर्ण रूप से अधिकारस्थ है, वहाँ श्री जैनेन्द्रकुमार के मस्तिष्क में पाश्चात्य ज्वराक्रांत वेग है। गुप्तजी की यमुना की तन्मयता, विश्वास की दृढ़ता मृणाल में नहीं। यहाँ मानसिक उथल-पुथल तो है, पर उससे आगे की चीज़ शांति नहीं है। वह शांति यहाँ न आ पाई, इसलिए इस अशांति का प्रभाव दीर्घ

नहीं हो सकता। 'नारी' के चित्रों की स्वाभाविकता, उनकी विभिन्नता में एक अपनत्व है। 'त्याग-पत्र' के चित्र सिनेमा में दौड़ते चित्रों की भाँति हैं। 'त्याग-पत्र' को हिंदी-साहित्य में 'नारी' के बाद ही स्थान देना होगा।

'त्याग-पत्र' में श्री जैनेन्द्रकुमार की भाषा बहुत सरल हो गई है। उनकी पहिले की भाषा का चक्कर यहाँ सरल एवं सुगम हो गया है। यह तो सभी मानते हैं कि कला, विचार एवं विषय के परिपाक के साथ-साथ भाषा सरल होती जाती है, और यहाँ यह लक्षण पाकर पाठक को बहुत सन्तोष होता है। एकाध उद्धरण देने का लोभ हो आता है।

मृणाल वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में कहती है:

'···जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की ज़रूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसा? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जायगा, तन भी माँगा जायगा। सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री—न, न, यह न होगा।'

या '···जिन लोगों के बीच बसी हूँ, वे समाज की जूठन हैं। जूठन हैं और कौन जानता है कि वे जूठन होने योग्य भी नहीं हैं। लेकिन आख़िर तो इन्सान हैं। और यह बात, जब कि उनके बीच आ पड़ी हूँ, मैं साफ देखती हूँ। मैं किसी भी और बात पर जिन्दा रहना नहीं चाहती; उनकी बुझती और जगती इन्सानियत के भरोसे ही रहना चाहती हूँ। दर-दर भटकी हूँ और मैंने सीखा है कि इन दुर्जन लोगों की सद्भावना के सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं हो सकती। किसी और बात के लिए जीने की मुझमें अब साध भी नहीं रह गई है। मुझको ऐसा अनुभव हो रहा है, इन लोगों में जिन्हें दुर्जन कहा जाता है, कई तह पारकर वह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध-सी श्वेत सद्भावना का सोता ही फूट निकलता है। इसी से अब यह प्रतीति मेरे लिए उतनी कठिन नहीं रह गई है कि सबके अभ्यन्तर में परमात्मा है।...'

अब इस लोभ का संवरण करें। लेखक अपने विकास के ठीक मार्ग की ओर उन्मुख है, क्या यह हमारे लिए सौभाग्य और हर्ष का विषय नहीं?

काशी, १६ : २ : १६३६। 'सुशील'

हिंदी-परिषद, दिल्ली

साहित्य की मर्यादा का उचित मूल्यांकन किसी भी देश और काल में कठिन रहा है। परंतु हिंदी में वह कठिनाई कहीं अधिक व्यापक रही है। जनता के मस्तिष्क में राजनीति के वर्तमान प्रश्न सदैव से ही सर्वोपरि रहते आये हैं, पर उन राजनीतिक समस्याओं के मूल में जो मानवी कारण रहे हैं, उन सबके विषय में साहित्य और साहित्यकार ही अधिक सजग रहा है, यह हम भूल जाते हैं। और इसी वजह से ऊपर की कही गई कठिनाई उपस्थित होती है। पाश्चात्य में साहित्य और साहित्यकारों की क़ीमत इसीलिए अब ठीक-ठीक आँकी जाने लगी है, परंतु भारत में अभी ऐसा नहीं हो सका है। राजनीतिज्ञ और साहित्यकार की उचित मर्यादाओं का स्पष्टीकरण किसी हद तक आवश्यक है। आज इसकी ज़रूरत महसूस की जाने लगी है कि राष्ट्र-निर्माण में साहित्यिकों का भी एक बहुत बड़ा हाथ होना चाहिये। और अब हमारे देश के, विशेषतया हिंदी के साहित्यिक इस विषय में उदासीन नहीं रह सकते। 'हंस' ने सांस्कृतिक विकास को ही अपना ध्येय रखा है, यद्यपि इस कारण उसे कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। परंतु जो नीति उसने निर्धारित की उसी का समर्थन जब आज उसे मिलने जा रहा है, तो क्यों न हम प्रसन्न हों। अब यह प्रतीति होने लगी है कि किसी दिन हमारी इन तुच्छ सेवाओं की ओर भी राष्ट्र का विचार जायगा और वह भी इनका मूल्य समझेगा : यह हमारे लिए परम सौभाग्य और संतोष का विषय है। इन्हीं सांस्कृतिक प्रश्नों को अपना लक्ष्य बनाकर दिल्ली में हिन्दी-परिषद की स्थापना की गई है। उसका पहला अधिवेशन इसी २८ फ़रवरी, १ और २ मार्च को दिल्ली में मनाया जानेवाला है। अभी से ही उसे जैसी अभूतपूर्व सफलता मिली है, उससे यह स्पष्ट है कि आज संस्कृति और साहित्य की पुकार असमय की नहीं, प्रत्युत नितांत सामयिक है। यह मानते हुए कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन इस काम को कर सकता है और उसे करना भी यही चाहिये, यह कहते दुःख होता है कि उस ओर से निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिली है। और यहाँ तक कि अब उस ओर आशा भी अपनी चेष्टाएँ व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहती। इस विषय में हम अपना विचार एक से अधिक मर्तबा दे चुके हैं, और उनका पुनरावर्तन आवश्यक नहीं। हिंदी-परिषद् के आयोजकों ने एक विज्ञप्ति जनता के लिए प्रकाशित की है। उसमें से आवश्यक अंश हम यहाँ देते हैं और इस विषय को यहीं छोड़ते हैं। अधिवेशन के कार्य-क्रम और सफलता-असफलता पर हम आगे अपने विचार देंगे :

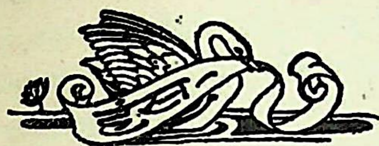
'राष्ट्र-जीवन में हिन्दी को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी होते अनायास उसका होना चाहिये। उसका मुख्य और एक कारण अंग्रेजी की प्रधानता भी है। अंग्रेजी भारत की जनता की भाषा नहीं है। फिर भी वह सार्वजनिक जीवन की भाषा बनी हुई है। यह स्थिति दूर होते समय लग सकता है। पर हिन्दी के अपने अंतरंग प्रश्न भी हैं जो उसको तेजस्वी और गतिशील होने से रोकते हैं। इकट्ठे मिल-बैठकर उन सवालों को सुलझाने की कोशिश में देर नहीं होनी चाहिये।

'फिर विचार-क्षेत्र के और सवाल हैं। वे सवाल महत्व के हैं, आवश्यक हैं और किनारे नहीं किये जा सकते। तरह-तरह की विचार-धाराओं का संघर्ष है और मानसिक-क्षेत्र में काम करने-वालों पर बल्कि उस कारण जिम्मेदारी कुछ अधिक ही आती है। वह असावधान नहीं रह सकते। प्रचलित मूल्यों की परख उन पर है। जन-मत वह स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत बनाते हैं। ऐसी हालत में राजनीति की निरंकुशता पर भी अंकुश वह हैं। बुद्धि-भेद जब व्यापा हो, तब आशा उन पर है और उस समय नेतृत्व की माँग भी उनसे की जा सकती है। वे अपने इस कर्तव्य से बच नहीं सकते।

'इन और ऐसे अभी आवश्यक विषयों पर विचार करने के लिए यह हिन्दी-परिषद् का आयोजन है।'

स्व० श्री सूर्यकरण पारीक

राजस्थान के प्रमुख साहित्य-सेवी श्री सूर्यकरण पारीक की मृत्यु का समाचार इस अंक के छपते-छपते हमें मिला है। इसी १८ फ़रवरी को अचानक आपकी मृत्यु पिलानी में हो गई। राजस्थान के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जीवन में आपका एक विशिष्ट स्थान था और हिंदी-साहित्य एवं भाषा की आपकी सेवाएँ अमूल्य हैं। अपने मित्र श्री रामसिंह तथा श्री नरोत्तमदास स्वामी (जो 'हंस' के संपादकीय सलाहकारी मंडल पर राजस्थानी का प्रतिनिधित्व करते हैं) के साथ आपने राजस्थान के साहित्य एवं संस्कृति की पुनर्जागृति का कार्य हाथ में लिया था, पर असमय ही यह दुःखद घटना घटी। आपने कई महत्त्वपूर्ण खोज की रचनाएँ भी प्रकाशित की थीं और राजस्थान के चारण-साहित्य में भी आपके अनुसंधान विशेष महत्त्व एवं गौरव के हैं। आपने बहुत से राजस्थानी ग्राम्य-गीत एकत्रित किये, जिनमें से कुछ 'राजस्थान के ग्राम्य-गीत' नाम से संगृहीत हो चुके हैं। इस प्रकार हमारे पाठक श्री पारीक जैसे विद्वान और सदात्मा से परिचित हैं। आपकी मृत्यु से हिंदी भाषा की बड़ी क्षति हुई है। निकट भविष्य में उसकी पूर्ति होती नहीं प्रतीत होती। हम उस परम पिता से मृतात्मा की शांति के लिए प्रार्थना करें और प्रार्थना करें कि उनके परिवारवालों को वह सांत्वना भी दे।



साहित्य और संस्कृति के उन साधकों को जिनकी सतत साधना ही मानव-जीवन के अँधियारे पथ को आलोकित करती रहती है।

दो विद्वान

अफ़कार नामक पुराने नगर में किसी समय दो विद्वान रहा करते थे, एक दूसरे से घृणा रखता और उसकी विद्या की हेठी करता; क्योंकि उनमें एक था नास्तिक और दूसरा देवताओं का अस्तित्व माननेवाला।

एक दिन दोनो से हाट में भेंट हो गई और अपने अनुयायियों के सहित वे देवों की सत्ता और असत्ता पर झगड़ने लगे। घंटों अपना-अपना पक्ष समर्थन करके वे अपनी-अपनी राह चल दिये।

उसी संध्या को नास्तिक मन्दिर में गया और वेदी के सामने नत होकर उसने देवताओं से अपनी मार्ग-भ्रष्टता के लिए क्षमा-प्रार्थना की।

ठीक उसी समय आस्तिक अपनी पवित्र पुस्तकें जला रहा था क्योंकि अब उसे देवताओं पर आस्था न रह गई थी।

—खलिल जिब्रान

बाबूराव विष्णु पराड़कर : हिन्दी पत्रकारिता के प्रकाशस्तम्भ

[रामनाथ 'सुमन']

बाबूराव विष्णु पराड़कर का नाम लेते ही पत्रकार का आदर्श आँखों के सामने मूर्तिमान हो उठता है—ठीक वैसे ही जैसे लिपटन शब्द के उच्चारण के साथ अच्छी चाय का ध्यान अपने-आप आता है। वह निश्चय ही हिंदी-पत्रकारिता के प्रकाशस्तंभ हैं।

जब मैं यह कह रहा हूँ तब अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक और साहित्यकार आर्नल्ड बेनेट के नाटक 'ह्वाट दि पब्लिक वांट्स' (What the Public Wants—'जनता क्या चाहती है') का ख़्याल मुझे बरबस हो आता है। यह एक व्यंग-नाटक है और इसमें आधुनिक पत्रकार-कला का सुन्दर अध्ययन है। इसमें बताया गया है कि एक बहुत बड़ा पत्र-स्वामी कैसे जनता का पथ-प्रदर्शक बन करके स्वयं जन-मत का अनुगमन करता है। सर चार्ल्स वार्गन सदा इस बात की जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा में रहते हैं कि जनता क्या चाहती है। जो कुछ जनता चाहती है, वही वह उसको देते हैं। वह जानते हैं कि पाठकों के मन में सनसनी पैदा करनेवाली घटनाएँ और कहानियाँ पढ़ने का चाव होता है। वह उन्हें ऐसी ही चीज़ें देते हैं। घोर आत्म-वंचना के साथ वह कहते हैं:—'I've no desire to ram my personal ideas down the throats of forty different publics. I give each what it wants. I'm not a blooming reformer—I'm a merchant.' [चालीस (मतलब अनेक) विभिन्न जनताओं के गले ज़बर्दस्ती अपने व्यक्तिगत विचार ठूँसने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं प्रत्येक को उसकी इच्छित वस्तु देता हूँ। मैं तरुण सुधारक नहीं हूँ—मैं एक सौदागर हूँ।]

आज जगत् की सम्पादन-कला के सर्वाधिकारी ऐसे ही लोग हो रहे हैं। लोक-प्रियता को सफलता मान लिया गया है। पाश्चात्य संपादन-कला आदमी के दिल में सतत एक उत्कण्ठा, एक प्यास, सनसनी और दुस्साहसिक अपराधों के प्रति एक उत्सुकता पैदा करके गौरव अनुभव करती है। एक साधक और सत्य के जिज्ञासु के अनुभव उसके लिए हेच हैं, जब मिस 'क' का मि० 'ख' के साथ भाग जाना उसके लिए अधिक महत्त्व रखता है। सन्तों, गंभीर पुरुषों, लोक-सेवकों की अपेक्षा हत्याकारियों, डाकुओं, लुटेरों और दुस्साहसिक अपराधियों का 'न्यूज़ वैल्यू' (समाचारिक मूल्य) अधिक है। सात्विक, मानवी शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की वह उपेक्षा

करती है या इतना कम ध्यान देती है कि उसे उपेक्षा ही कहना चाहिये और समाज के भाग्य को लेकर जुआ खेलनेवालों, तुच्छ स्वार्थों के लिए मानवता को ख़तरे में डालनेवालों की वह प्रणयिनी है। उसके लिए हिटलर की ज़बर्दस्तियाँ सन्त गाँधी के प्रयोगों या विचारों से अधिक महत्त्व रखते हैं।

बिगलो ने 'ब्रिटिश प्रेस के नेपोलियन' लार्ड नार्थ क्लिफ़ के बारे में एक बार लिखा था—'This habit of swift decision, dictated without regard to principle, is the key to his success. He carries no intellectual or moral impedimenta, has no sentiments, is subject to no theory, holds no view of life.' ['...सिद्धान्त की परवा किये बिना शीघ्र निर्णय करने की यह आदत उनकी सफलता की कुंजी है। उन्हें किसी तरह का बौद्धिक या नैतिक प्रतिबन्ध नहीं है; वह मनोभावनाओं से शून्य हैं। वह किसी मत के अनुयायी नहीं; जीवन का उनका अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है।'] वह केवल पूछते थे—'क्या करने से जीत होगी।' ए० जी० गार्डिनर के शब्दों में 'वह पत्रकार-कला के क्षेत्र में शेयर-बाज़ार के आदमी हैं।' ('He is the Stock Exchange man in the sphere of journalism.') ऐसे लोगों के लिए युद्ध या शान्ति का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक वे उनके व्यापार को प्रभावित करते हैं। जनता की रुचि के साथ उनकी रुचि भी बदलती है। वे किसी मत का समर्थन इसलिए नहीं करते कि वह ठीक है; बल्कि इसलिए कि इस समय उसी की प्रबलता है अथवा उसी की विजय की संभावना है। ऐसे ही प्रेस के लिए स्व० लार्ड सैलिसबरी ने कहा था—'Written by office-boys for office-boys.' ['आफिस के चपरासियों द्वारा आफ़िस के चपरासियों के लिए लिखा जानेवाला।'] ऐसे पत्रकार उस दुकानदार की भाँति हैं जो अपनी चीज़ें केवल ग्राहक के आकर्षण के ख़्याल से सजाता है।

निश्चय ही वर्तमान पत्रकार-कला सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त शक्तिमान् बन गई है। मानवी सिद्धान्तों के साथ वह खिलवाड़ करती है। नीति एक बहुरूपिया अनुचर की भाँति उसके पीछे चलती है। राष्ट्रों के भाग्य उसकी क्रीड़ा के साधन हैं। मनुष्यों का जीवन उसका क्रीड़ा-कन्दुक है। दुर्बल राष्ट्र उसकी उदर-दरी में यों समा जाते हैं, जैसे इसी के लिए बनाये गये हों। उनके साथ इसके व्यवहार और सिद्धान्त बिलकुल उनसे दूसरे हैं जो शक्तिमान्, पर अपराधी राष्ट्रों के साथ हैं। धर्म और ज़िन्दगी दोनो के ऊपर इसका व्यंग भयंकर अभिशाप की भाँति छा गया है। उसकी शक्ति शैतान की शक्ति है और उसका प्रभाव विष का प्रभाव है—अत्यन्त मारक, अत्यन्त मुमुक्षिकारी। आज जिसे अत्यन्त सफल सम्पादक समझा जाता है, बहुत करके वह केवल अपनी प्रतिभा के सफल व्यभिचार का उदाहरण है।

पराड़करजी ऐसी पत्रकार-कला की दुनिया में मानो एक शक्तिमान् प्रतिषेधक, एक गहरे विरोध—'प्रोटेस्ट'—की भाँति अचल खड़े हैं। कोई भावना, ग़लती के विरोध में, उनकी क़लम की गति रोक नहीं सकती। कोई मूल्य उनको, उनकी भावनाओं के विरुद्ध, खरीद नहीं सकता। अपने और पराये भी ज़रूर उनकी दुनिया में हैं। निजत्व और परत्व के भावों से वह शून्य भी नहीं हैं। और यह कहना कि वह सब के साथ अनासक्त और पक्षपात-शून्य हैं, सत्य के प्रति व्यंग होगा। उनके जीवन में भी निर्णय और व्यवहार की श्रेणियाँ हैं; पर ये बातें भी मौक़ा पाने पर उनके सार्वजनिक कर्त्तव्य और सम्पादकीय आदर्शों के पालन में बाधा नहीं डाल सकतीं।

वह राष्ट्र के एक सेवक हैं। वह देश के एक संवेदक हैं। वह स्वतंत्रता के एक उपासक हैं। देश की गुलामी उनके कलेजे में सदा गतिमान् शूल की भाँति चुभती और करकती है। स्वाधीनता के लिए उनके दिल में तड़प है। इसके लिए उन्होंने कष्ट भोगा है—और प्रकारान्तर से आज भी भोग रहे हैं। स्वदेशी-आन्दोलन-युग से वह भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रतिनिधि रहे हैं। उन पर उस काल में प्रतिबन्ध लगाये गये थे जब आज के अनेक देशभक्तों का जन्म नहीं हुआ था। स्व० देउस्कर की बँगला पुस्तक 'देशेर कथा' का उन्होंने जो हिन्दी-अनुवाद किया और जो ज़ब्त हो गया, उसने अनेक हिंदी पाठकों के हृदय में देश के प्रति एक बेचैनी और संवेदना पैदा की। वह कांग्रेसवादी हैं। पर ये सब वफ़ादारियाँ तथा वे स्थितियाँ, जिनमें आज के सम्पादक को पत्र के स्वामी और संचालक के हाथ एक यंत्र बनकर रहना पड़ता है, पराड़करजी को अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य की पूर्ति करने से रोक नहीं सकतीं। वह इसलिए कांग्रेस की आलोचना से नहीं रुक सकते कि वह एक कांग्रेसवादी हैं; वह इसलिए किसी नेता की सार्वजनिक ग़लतियों पर चुप न रहेंगे कि वह उनका मित्र है। सबसे पहले वह संपादक हैं, मध्य में वह संपादक हैं और अन्त में भी वह संपादक ही हैं।

गांधीजी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्द स्वराज्य' (इंडियन होमरूल) में, जो उनके तत्त्वज्ञान के सामाजिक आधार का आज ३० वर्ष के बाद भी सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि-ग्रन्थ है, पत्र तथा संपादक के कर्त्तव्यों का ज़िक्र करते हुए लिखा था—

'...किसी भी अख़बार का पहला काम है, लोगों के भावों को समझकर प्रकट करना, दूसरा काम है, लोगों में जिन भावनाओं की ज़रूरत हो, उन्हें जाग्रत करना; और तीसरा काम है, लोगों में अगर कोई ऐब हो तो उन्हें किसी भी मुसीबत की परवा न कर बेधड़क सबके सामने रख देना।'

पराड़करजी की सम्पादन-कला इन तीनो बातों को लेकर ही उठी है। इसके साथ सेवा का एक प्रबल नैतिक स्वर भी उनमें है। युगों से वह हिंदी पत्रकारिता से सम्बद्ध हैं। उन्होंने उसका जन्म देखा है; उसका बचपन देखा है; और आज उसकी किशोरावस्था के बीच, मानो विवेक और आत्म-नियंत्रण का 'टार्च' लिये हुए उसे दिखा रहे हैं। युग बीतते गये हैं; अवस्थाएँ और परिस्थितियाँ बदलती गई हैं; पर इन सबके बीच, अपनी बढ़ती हुई उम्र और बढ़ते हुए अनुभव के साथ भी, पराड़करजी मानो बूढ़े होने में असमर्थ हैं। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने हिंदी-पत्र की मर्यादा बनाये रखने और बढ़ाने में लगा दिया है; पर शरीर की शक्तियों में अपेक्षाकृत दुर्बलता आने पर भी उनकी शक्ति और उनका ओज वही है। उन्होंने सम्पादन-कला से रुपया नहीं कमाया, न साहित्य की दुनिया में उनका नाम ही कुछ बहुत लोकप्रिय है। लोकप्रियता उनकी चीज़ भी नहीं। वह पाठक की रुचि को देखते अवश्य हैं, पर उससे रास्ता दिखाने की अपेक्षा नहीं करते, वरन् स्वयं उसका पथ-प्रदर्शन करते हुए, उसे प्रकाशित, परिमार्जित, संस्कृत करते हुए चलते हैं। हाँ, तो मैं कह यह रहा था कि न तो उनको लोकप्रियता प्राप्त हुई, न धन मिला; पर इन सबके अभाव में भी वह हमारी पत्रकारिता की दुनिया में निरन्तर उस तात्त्विक शक्ति की भाँति व्याप्त हैं जिसके बिना विकास और परिमार्जन की क्रियाएँ संभव नहीं हैं। स्व० गणेशशंकरजी उनको गुरु-तुल्य मानते थे। और इसमें संदेह नहीं की पराड़कर-जी और गणेशजी हिंदी-पत्रकारिता का इतिहास बनानेवालों में हैं। इन दोनो को हम हिंदी [५१८

पत्रकार-कला का मस्तिष्क और हृदय कह सकते हैं। एक विवेक है, दूसरा ओज। एक प्रकाश है, दूसरा गरमी।

× × ×

पराड़करजी के जीवन के ब्योरे से मैं कुछ बहुत परिचित नहीं। न व्यक्तियों के अध्ययन के लिए इसकी कोई ख़ास ज़रूरत ही है। शब्द-चित्र के लिए नायक के जीवन-स्रोत की गहराई में प्रवेश करना, उसके जीवन की उठान और उसकी प्रधान धारा को देख लेना ही पर्याप्त है। इस तरह मैंने उन्हें जितना देखा है, और उनके विषय में जितना विचार किया है उससे बेखटके कह सकता हूँ कि यह जीवन अपने पथ पर एक ईमानदार मुसाफ़िर की निरन्तर यात्रा का जीवन है। उनके जीवन का अध्ययन करनेवाला कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि वह जन्म-जात प्रतिभा के व्यक्ति नहीं हैं। उनका जीवन, आकाश में एकाएक चमक उठनेवाले विद्युत् की भाँति, प्रकाश-पुञ्ज का स्मरण नहीं दिलाता। यह ध्रुव की भाँति निश्चितता को प्रकट करता है। वह मेहनत की कमाई का द्योतक है। वह तिल-तिल करके निरन्तर परिश्रम से गढ़ा हुआ जीवन है। उनके जीवन में प्रतिभा की लपक नहीं है; पर बुद्धि के संस्कार, विवेक के उपयोग का शान्त और स्थिर प्रकाश है। उनके साथ आरम्भिक दिनों में क़ाम करनेवाले एक पत्रकार मित्र एक बार कह रहे थे कि 'जब इन्होंने काम शुरू किया तो मैं इनसे 'सीनियर' था; पर इनमें अथक स्फूर्ति और कार्य करने की शक्ति थी। इनको जो काम दिया जाता, उसे करके यह सदा और काम देने का अनुरोध करते रहते थे। फलतः आज जब मैं वही कलम घिसनेवाला सहकारी ही हूँ, वह हिंदी-सम्पादकों के आदर्श बन गये हैं।' इस काम से कभी न भागने की वृत्ति पर ही उनके सारे जीवन की उठान है। इनका जीवन निरन्तर श्रम से निर्मित हुआ है।

और जो जीवन निरन्तर श्रम से गढ़ा गया है वह, एक ईमानदारी का जीवन होगा, इसके सिवा और वह हो ही क्या सकता है? जहाँ निरन्तर श्रम है, वहाँ ईमानदारी अवश्य है, यह केवल एक परम मनोवैज्ञानिक सत्य को दोहराना है। क्योंकि बिना ईमानदारी के क्षणिक या अस्थायी श्रम संभव है; पर निरन्तर श्रम संभव ही नहीं है। और उनके साथ और उनके पथ-प्रदर्शन में थोड़े दिनों तक काम करने के अपने अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूँ कि आज जब उनको काम करते हुए एक भारतीय की औसत ज़िन्दगी से ज़्यादा ही समय बीत चुका है, तब भी उनकी वही श्रमशीलता क़ायम है। मेरे-जैसे तरुण उनके सामने वृद्ध ही हैं। जब इतने दिनों के श्रमपूर्ण जीवन के बाद, किसी दूसरे देश में, उनका पद और कार्य केवल निरीक्षण का, आराम और सुविधाओं का होता, तब भी उनकी वही गति है जिसे लेकर वह एक दिन इस कण्टक-पूर्ण पथ पर चले थे। मज़ा यह कि हम उनके सहकारी होकर भी कभी-कभी उनसे काम बँटाने की आशा रखते थे। और जब-जब उन्हें अपने काम से फ़ुर्सत मिलती, वह हमको निराश नहीं करते थे। अपने साथियों और सहायकों के प्रति इतनी उदारता भी उनकी उसी ईमानदारी का परिणाम है।

परिश्रम और कार्य में यह तन्मयता ही उनके जीवन की कुंजी है। उनको अपने जीवन में सुविधाएँ बहुत कम मिली हैं और जिस पारिश्रमिक को लेकर, अत्यन्त प्रलोभनों और विपत्तियों के बीच भी, वह काम करते रहे हैं और कर रहे हैं, वह वस्तुतः हमारी मानसिक कृपणता अथवा उनकी उदारता दो में से एक का सूचक है। पर इन विषमताओं के बीच भी

जिस लगन से वह काम करते हैं उससे प्रकट होता है कि इस व्यक्ति में अपने कार्य के लिए एक अत्यन्त शक्तिमान् और चेतन अन्तःस्फूर्ति है। इसी के कारण कोई कठिनाई इनका दम नहीं तोड़ सकती। श्रम ही इनका आनन्द है, विवेक ही इनकी प्रेरणा-शक्ति है, सेवा ही इनका मार्ग है और स्वतंत्रता तथा मानवता की साधना ही इनका लक्ष्य है।

हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के वह एक योग्यतम विद्यार्थी हैं, यह उनके अग्रलेखों से स्पष्ट है। हिंदी के दूसरे किसी सम्पादक को मैं नहीं जानता जो युरोपीय समस्याओं की तफ़सील के साथ इतनी जानकारी रखता हो। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह अत्यन्त जटिल अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को इतनी सरल भाषा में प्रकट करते हैं कि भाषा और भाव पर उनका अधिकार देखकर आश्चर्य होता है। अवश्य पं० कृष्णकान्त मालवीय भी हिंदी-सम्पादकों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों की जानकारी रखते हैं; पर उनकी जानकारी अपूर्ण, पुरानी तथा किन्तु-परन्तु से परिपूर्ण है। इसके विरुद्ध पराड़करजी का ज्ञान अत्यन्त सजग, चारो ओर देखकर चलनेवाला, और 'अप-टु-डेट' (बिल्कुल समयोचित) है।

मौक़ा पड़ने पर वह अपने पेशे — अख़बारनवीसी—के सम्बन्ध में भी जनमत को सचेत करने से नहीं चूकते। मैंने अनेक देशी और विदेशी पत्रकारों के भाषण सुने और पढ़े हैं। राजनीतिज्ञों के उन भाषणों को भी सुना और पढ़ा है जो प्रेस की समय-समय पर प्रशंसा करते रहते हैं; पर जो भाषण पराड़करजी ने भारतीय हिंदी-पत्रकार-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिया था वैसा भाषण मैंने अन्यत्र नहीं सुना या पढ़ा। जहाँ इसमें पत्रकार-कला के महत्व की चर्चा थी, वहाँ इसके बढ़ते हुए व्यापारिक रूप के प्रति ख़तरे का 'एलार्म' भी था। ज्यों-ज्यों प्रेस की उन्नति हो रही है, वह बड़े-बड़े धनिकों के हाथ में चला जा रहा है। अप-टु-डेट अख़बार और प्रेस चलाना आज बहुत बड़ी पूँजी की व्यवस्था बिना संभव नहीं है। इसलिए इस क्षेत्र पर पूँजीपतियों का अधिकाधिक आधिपत्य होता जाता है। इस क्रम के साथ सत्य और न्याय की रक्षा का, प्रेस का आदर्श भी शिथिल होता जाता है। स्वभावतः विपुल-पूँजी-साध्य होने के कारण उसमें जनता का प्रतिनिधित्व और उसके जीवन का स्वर कम हो रहा है-- जनता के नाम पर उसकी भावनाओं का व्यापार बढ़ रहा है। जनता का दुःख-दर्द, उसकी वास्तविक इच्छाएँ उसमें प्रतिध्वनित नहीं होतीं। प्रेस या पत्र केवल शासक-दल या कुछ शक्तिमान् गुटों के हाथ में एक यंत्र-मात्र बनकर रह जाता है! यह जगत् के वास्तविक प्रजातंत्र के लिए एक भयानक ख़तरा है। हमारे लिए यह कुछ कम गर्व की बात नहीं कि पराड़करजी इस ख़तरे के प्रति जागरूक हैं। उन्होंने उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर न केवल हमारी वरन् सम्पादकीय गौरव की भी सेवा की है—जो वस्तुतः एक ही हैं।

इसी प्रकार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के हाल के शिमला-अधिवेशन के अध्यक्षपद से उन्होंने जो भाषण किया है वह अत्यन्त कटु सत्यों से भरा हुआ है। हिंदी-जगत् पर जो सुषुप्ति आ रही थी उसे उन्होंने एक ज़बर्दस्त धक्के से तोड़ दिया है और हिंदी के प्रचार की ही नहीं वरन् हिंदी के व्यक्तित्व की रक्षा की माँग भी उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट और प्रबल भाषा में राष्ट्र के सामने उपस्थित की है। हिंदी को राष्ट्र-भाषा कहकर भी कार्यतः उसके विरोध तथा अंग्रेजी की प्रधानता का जो फ़ैशन आज जारी है, उस पर पड़े हुए आत्म-वंचना और पाखण्ड के आवरण को उन्होंने फाड़ दिया है।

ये सब बातें उनकी ईमानदारी की द्योतक हैं। उनके विचार उतने ही स्पष्ट और स्वच्छ हैं जैसे पहाड़ी सोते में चमकते हुए बिल्लौर या संगमर्मर के खण्ड स्पष्ट होते हैं। वह दूसरों को धोखा महज़ इसलिए नहीं दे सकते कि वह अपने को धोखा देने में असमर्थ हैं।

हमारे लिए यह हर्ष और गौरव की बात है कि आज हिंदी की लड़ाई दो अत्यन्त जागरूक और योग्य महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के हाथ में है—काका कालेलकर और बाबूरावजी। और भी प्रसन्नता की बात यह है कि जहाँ काका साहब हिंदी भाषा के विस्तार के प्रश्न को हल करने में लगे हैं तथा पराड़करजी ने उसके व्यक्तित्व और उसकी शुद्धता की रक्षा की आवाज़ भी बुलन्द की है। काका साहब के भाषणों में कभी-कभी उनकी विजातीय भावनाओं की छाप रहती है—मानो वह जो कुछ कर रहे हैं, हिंदी पर कृपा कर रहे हैं। वह हिंदी में मानो मराठी और गुजराती के प्रतिनिधि हैं; पर पराड़करजी महाराष्ट्रीय होकर भी पूर्णतः हिंदी के हैं। हिंदी के लिए उनके हृदय में वे भाव हैं जो हिंदीवालों के भी कदाचित् ही होंगे। उनमें महाराष्ट्रियों के गुण सब हैं; पर उनके दोष नहीं है। उनमें महाराष्ट्रियों की सादगी, उनकी श्रम-शक्ति, उनका वैज्ञानिक और गंभीर चिन्तन, उनकी गहराई है; पर उनकी अनुदारता, उनकी प्रान्तीयता, उनका अहंकार और आत्मवंचना नहीं है।

पराड़करजी पश्चिम के प्रकाश से मुँह नहीं मोड़ते; पर पूर्व की संस्कृति उनकी माता है। धार्मिक एवं सामाजिक विषयों में वह उदारता के पक्ष में एक प्रबल योद्धा हैं। संकुचित मनोवृत्तियों के विरुद्ध, फिर चाहे वे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक या राष्ट्रीय किसी भी प्रकार और जाति की हों, उन्होंने सदा युद्ध किया है। सनातन-धर्म की सच्ची उदारता से उनका धार्मिक दृष्टिकोण प्रकाशित एवं उज्ज्वल है; पर सुधार का कोई संभव अवसर उन्होंने जाने नहीं दिया है। जब दूसरा विवाह करने का अवसर आया, अपने विचारों के अनुकूल उन्होंने विधवा से विवाह किया। अस्पृश्यता उनके निकट स्वयं अस्पृश्य है। अपने विचारों एवं सिद्धान्तों के अनुसार चलने के कारण ही वह जाति-बहिष्कृत भी हुए हैं; पर उन्हें जाति-बहिष्कृत कौन करेगा? हुआ इतना ही है कि वह एक छोटी जाति की संकुचित मर्यादा छोड़कर बहुसंख्यक लोगों एवं ऊँची भावनाओं की एक बड़ी जाति में आ गये हैं।

पर इसका यह मतलब नहीं कि उनमें दुर्बलताएँ नहीं है। दुर्बलताएँ हैं पर ये दुर्बलताएँ ही बहुत करके उनके गुण भी हैं। एक दुर्बलता तो उनमें यह है कि वह अपने व्यक्तित्व को भूलकर चलते हैं; पर यह दूसरी दृष्टि से उनके चरित्र का प्रकाश-पक्ष है। अपने क्षेत्र की सेवा के लिए वह प्रायः अपने मानापमान को भूल जाते हैं। इससे उनमें प्रबलता, भावावेश, शक्ति-प्रवाह की कमी है। पर इसमें उनकी साधुता को बल मिला है। इससे उनको विचार की गहराई प्राप्त हुई है। इससे उनकी कृति में वह स्फूर्ति और प्रवाह नहीं होता, जिसको पाकर राष्ट्र की जवानी जाग उठती है और जो आँधियों में विरोध और कठिनाइयों को उड़ाती हुई चलती है। वह तरंगहीन यौवन के प्रतिनिधि हैं—शान्त, आँधियों के बीच स्थिर और उमंगों पर नियंत्रण रखने की ओर इशारा करते हुए; पर अतिशय क्रियाशील, निरन्त गतिमान।

एक शब्द में पराड़करजी हिन्दी-पत्रकार-कला के मस्तिष्क हैं। क्या अच्छा होता कि इस मस्तिष्क के साथ किसी स्वस्थ हृदय का गौरव भी हमें प्राप्त होता।

दिल्ली।

———

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

[नन्दगोपाल सेनगुप्त]

[मूल बँगला से अनुवादक, रामचन्द्र वर्मा]

शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर महर्षि देवेन्द्रनाथ के पौत्र और कविगुरु रवीन्द्रनाथजी के भतीजे हैं। भारतवर्ष में अवनीन्द्रनाथ की ख्याति शिल्पी के रूप में है। जब मि० हैवेल ने नये सिर से भारतीय चित्रकला की महिमा का भारत में प्रचार किया था, तब देश में जो थोड़े-से शिक्षित व्यक्ति, उसका मूल्य समझकर देशी शिल्प-प्रणाली को उसी आदर्श के अनुसार चलाने के लिए अग्रसर हुए थे, उन लोगों में आचार्य अवनीन्द्रनाथ अग्रगण्य हैं। यद्यपि उन्होंने यूरोपीय अंकन-प्रणाली और वर्ण-विन्यास में से बहुत-सी बातें ली हैं तथापि अपने चित्रों की प्राण-वस्तु भाव-व्यंजना उन्होंने अजन्ता से ली थी। उन्हीं के दिखलाये हुए पथ पर चलकर नन्दलाल वसु ने प्राच्य कला को और भी ललित कर दिया था।

आचार्य अवनीन्द्रनाथ बहुत दिनों तक गवर्नमेण्ट आर्ट स्कूल के सरकारी अध्यक्ष थे। इस समय भारतवर्ष में नये सिर से जिस शिल्प-प्रतिष्ठा का जन्म हुआ है और अशिक्षित पटुता के हाथों इस विद्या ने शिक्षित समाज में जो परिपूर्ण उत्कर्ष प्राप्त किया है, उसकी भित्ति की स्थापना यहीं होती है। आचार्य अवनीन्द्रनाथ इसीलिए आधुनिक भारत के केवल सर्वश्रेष्ठ चित्रकार ही नहीं हैं, बल्कि वे देश के शिल्पी भी हैं। किन्तु प्रधानतः शिल्पी होने पर भी आचार्य अवनीन्द्रनाथ आम्य श्रेणी के साहित्यिक हैं। उन्होंने वयस्क पुरुषों के लिए जो कुछ लिखा है, यथा शिल्प-कला-सम्बन्धी प्रबन्धावली या गद्य कविता आदि, वह उनकी शक्तिमत्ता का उत्कृष्ट निदर्शन तो नहीं है, परन्तु किशोरों और किशोरियों के उपयोग के लिए उन्होंने जो रचनाएँ की हैं, उनके जोड़ की रचनाएँ बँगला में मिलना कठिन है। राजपूताने के इतिहास से उपाख्यान आदि संगृहीत करके उन्होंने 'राज-काहिनी' नामक एक पुस्तक दो भागों में लिखी है। इस पुस्तक की भाषा में एक ऐसे सहज सौन्दर्य और स्वप्नाच्छन्न रहस्यमयता का संकेत पाया जाता है, जो और कहीं नहीं मिल सकता। आचार्य अवनीन्द्रनाथ प्रथम श्रेणी के शिल्पी हैं और इसीलिए उनकी साहित्य-रचना भी चित्रों के ही समान रंग-प्रधान हुई है।

किशोरों और किशोरियों का मन स्वभावतः वर्ण-प्रिय हुआ करता है। वे लोग

साहित्य की गम्भीर व्यंजना या भावों के ऐश्वर्य की अपेक्षा उसके विन्यास-कौशल का अधिक उपभोग करते हैं। आचार्य अवनीन्द्रनाथ इस काम में बहुत ही दक्ष हैं। वे ऐसे ढंग से चित्र पर चित्र सजाते हुए अपना कथा-भाग आगे बढ़ाते हैं कि उसमें एक रूप-कथा की मोहमयी मादकता बहुत अच्छी तरह झलकने लगती है। उनकी एक और पुस्तक है जिसका नाम 'क्षीरेर पुतुल' (क्षीर की पुतली) है। यह और भी छोटे बालकों तथा बालिकाओं के लिए है। जिस समय उन्होंने यह पुस्तक अथवा इसी तरह की और पुस्तकें लिखी थीं, उस समय हमारे देश के शिशु-साहित्य में बहुत ही थोड़ी-सी पुस्तकें थी। प्रमदाचरण सेन, उपेन्द्रकिशोर राय चौधरी, योगेन्द्र-नाथ सरकार आदि उस समय किसी प्रकार छोटे बच्चों के लिए कुछ साहित्य प्रस्तुत कर रहे थे। उनमें अवनीन्द्रनाथ का जो आविर्भाव हुआ था, वह मानो दैवयोग के समान ही हुआ था। इसके बाद बँगला में जो शिशु-साहित्य प्रस्तुत हुआ, वह प्रधानतः अवनीन्द्रनाथ के आदर्श पर ही आश्रित था। वृद्धावस्था में श्री रवीन्द्रनाथ ने छोटे-छोटे बालकों के लिए 'से' (वह) नाम की कहानियों की एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में भी बहुत कुछ अवनीन्द्रनाथ का सुर पाया जाता है। बँगला मुहावरों को स्वच्छन्द रूप से भाषा में लाना भी अवनीन्द्रनाथ का एक अनुपम कर्तृत्व है।

कलकत्ता-विश्वविद्यालय में आचार्य अवनीन्द्रनाथ को धारावाहिक रूप से प्राच्य कला के सम्बन्ध में कुछ व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया था। उन व्याख्यानों में उन्होंने भारतीय शिल्प की प्राण-वस्तु का विश्लेषण किया था। वे व्याख्यान 'बंग-वाणी' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुए थे।

आचार्य अवनीन्द्रनाथ अब बहुत वृद्ध हो गये हैं। लेकिन अब भी वे बराबर उसी प्रकार निष्ठा-पूर्वक शिल्प और साहित्य की साधना करते रहते हैं। छोटे बालकों के लिए जो 'रंग-मसाला' नामक पत्रिका निकलती है, उसमें आचार्य अवनीन्द्रनाथ की एक बहुत अच्छी कहानी धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही है।

कलकत्ता।

नानालाल दलपतराम कवि

[हीरालाल गोदीवाला]

[मूल गुजराती से अनुवादक, श्यामू सन्यासी]

कहा जाता है कि कवि देखने के नहीं, सुनने के ही हैं। परन्तु इसमें अपवाद भी हो सकते हैं। रविबाबू के सुन्दर काव्यों को पढ़ने की अपेक्षा उनके सामने बैठ उनकी कविताओं को उन्हीं के मुँह से सुनने में कुछ जुदा ही आनन्द है। श्रीमती सरोजिनी नायडू या श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय जब अपने गीतों को सुनाते हैं, तब हम किसी अनोखी दुनिया में विचरण करने लगते हैं। और सत्याग्रह-आन्दोलन के जमाने में गुजरात के राष्ट्रीय कवि श्री झवेरचन्द मेघाणी को श्रोताओं से खचाखच भरे बंबई के किसी सभा-गृह में अपनी बुलन्द आवाज़ में कोई वीर या करुण रस-भरी कविता गाते सुनते, तो लगता जैसे कोई शूर-वीर भाट वीर-गाथाओं से श्रोताओं के हृदय को हिला रहा हो।

परन्तु वॉल्टर डी ला मेर की स्वर्गीय कविताओं और उन कविताओं के रचयिता की बैंक-क्लर्क जैसी आकृति में जितना अन्तर है, उतना ही और उससे भी अधिक अन्तर नानालाल और उनकी काव्य-रचना में है। इनके बारे में तो अवश्य यह कहा जा सकता है कि कवियों को देखना तो नहीं ही चाहिये ; परन्तु सुनना भी नहीं चाहिये।

नानालाल की कृतियों के मधुर शब्द-संगीत से तो गुजराती और दूसरे प्रान्तवाले भी परिचित होंगे, उनके गद्य-गीतों की लय और गुर्जर नारियों के मधुर कण्ठ से गाये जानेवाले उनके रासों की गीत-ध्वनि जिसने सुनी है, उसके कानों में गूँजता रहता है :

म्हारी क्यारीमां म्हेक म्हेक म्हेके
सोहागी कोई
वसन्त ल्यो, वसन्त ल्यो।

उनके

सूनां मन्दिर सूनां मालिया
ने म्हारा सूनां हैयाना महेल रे
स्नेह-धाम सूनां-सूनां रे

का 'शून्य संगीत' हृदय में जैसे सदा ध्वनित होता रहता है।

परन्तु किसी दिन तुम्हारी दृष्टि गुजराती रासों के संग्रह 'रास-कुंज' के प्रथम संस्करण के आवरण पर, गुजराती पाठशाला के मास्टर-जैसी आकृतिवाले किसी सज्जन की रद्दी-सी तसवीर पर जा पड़े, तो मन में होगा—नानालाल यह ? ऐसे होंगे ? मन में ठीक उसी प्रकार का एक भाव जो विद्वान् और सुप्रसिद्ध गुजराती टीकाकार श्री विजयराम वैद्य के निडर और मर्म-वेधक लेखों को पढ़ने के बाद अचानक उनकी ग़मगीन, एकाकी और छोटी-सी मूर्ति को देखने पर होता है।

नानालाल की सुन्दर कृतियाँ पढ़ने के बाद मन में उनकी सौन्दर्य-मूर्ति की कल्पना कर यदि उनका भाषण सुनने जाओ, तो मंच पर मज़बूत शरीरवाले, शरीफ़, दुनियादार, पुराने ज़माने के लगते किसी मध्यवित्त व्यक्ति को एक गोल काली टोपी और ढीले-ढाले लम्बे अँगरखे में सजा हुआ देखो और सोचने लगो कि क्या यही नानालाल हैं, तभी वह व्यक्ति खड़ा हो मोटे, कर्कश और अतिशय तीव्र उच्चार में अपने स्वर को रसमय बनाने का प्रयत्न करता हुआ बोलने लगता है :

'गुजरात के रस-प्रेमी नरनारियो !'

और उस क्षण घड़ी-भर को बछड़े का रंभाना यादकर आपका मन वहाँ से भाग जाना चाहेगा। धीरज रख वहाँ बैठकर यदि सुनें तो आपको नानालाल के रस-भरे ललित गद्यगीतों के विषय में शंका होने लगेगी।

गुजराती में बिल्कुल नूतन शैली के स्रष्टा नानालाल की नाविन्यमय, सुघड़, संस्कार-मय और आदर्श कृतियाँ पढ़ने के बाद कवि के प्रति आपके मन में आदर और प्रेम उत्पन्न हो जाय ; फिर इनके प्रति अपनी जिज्ञासा और कुतूहल को शान्त करने और इन्हें ठीक से पहिचानने यदि कभी आप इनके आन्तरिक जीवन की ओर दृष्टिपात करें, तो इनके जीवन में, वाणी में, इनके आपसी संम्बन्धों में अवश्य ही आपको एक प्रकार की अनपढ़ता (Crudeness) और क्षुद्रता (Littleness) दीख पड़ेगी। छोटे-बड़े आदमियों से झगड़ने में, किन्हीं पुराने सम्बन्धों को तोड़ने में तो साधरणतया कविगण कुशल होते ही हैं। कवियों के अति निकट सम्पर्क में आने-वाले जानते हैं कि वे गालियाँ भी दे सकते हैं। और यह ज़रूरी नहीं कि नानालाल को यह सब सिखाना पड़े। परन्तु गालियाँ देने में भी एक कला है और नानालाल में इस कला का अभाव है। अंग्रेज़ कवि पोप जब अपनी कटाक्ष कृतियों में जिसे गालियाँ देता था, उसकी आफ़त आ जाती थी। महान् कवि मिल्टन ने अपने पैम्फलेट्स् में धर्म-गुरुओं या स्मेक्टिम्नुस-जैसे विद्वान् को जो गालियाँ दी हैं, उनमें सरदार वल्लभभाई पटेल की तीर के समान अन्तर में सीधी चुभ जानेवाली गालियों-जैसी एक शक्ति थी, Vitality थी, व्यापकता थी, भाषा-समृद्धि थी। अधिक सही माने में सृजनात्मकता थी। परन्तु याद नहीं पड़ता कि नानालाल की गालियों में कभी किसी ने किसी प्रकार की प्रतिभा देखी हो ; और न कभी उन गालियों का कोई असर होता देखा गया है। एक समय 'पचास-पचास दीपमालाएँ प्रकटाओ, गाकर 'गुजरात के तपस्वी' गान्धीजी का स्वागत करनेवाले नानालाल जब उसी महापुरुष को मनचाही अनघड़ गालियाँ देते हैं, तब उनके अपने प्रशंसकों और महात्माजी के विरोधियों तक को लगता है, जैसे कोई मूर्ख सूर्य के ऊपर थूकने का व्यर्थ प्रयास कर अपना ही मुँह बिगाड़ रहा हो।

कई बार नानालाल की विवेचनाओं और वचनों में पूरे विवेक से दूसरों को जाँचने की शक्ति का अभाव पाया जाता है। कई बार इन्हें प्रमाण का ध्यान नहीं रहता। जिसे चाहते

हैं आसमान में चढ़ा देते हैं ; जिसे चाहते हैं, नीचे गिरा देते हैं । 'डाह्याभाईना दीकरा, डाह्या दलपतराय' (डाह्याभाई के लड़के और विद्वान् दलपतराम) की प्रशंसा जब उन्हींका लड़का (नानालाल) करता है तो किसी भी विवेकपूर्ण मनुष्य को वह अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम पड़ती है । इनके पहले लिखे गये कुछ रेखाचित्रों में यहाँ-वहाँ निष्पक्षता का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है ; परन्तु बाद में उसका पूरा अभाव पाया जाता है । इनके नाटकों के पात्रों में भी आवश्यक ऑब्जेक्टिविटी (सर्वानुभव-रसिकता) की अपेक्षा लिरिकल प्रोजेक्शन (स्वानुभव रसिकता) ही अधिक पाया जाता है । जो कुछ भारतीय है, उसकी आँख मूँदकर प्रशंसा करने में, मानो भोजन पकानेवाली को देवी बनाकर उसके बारे में गद्यगीत लिख डालने में, भी विवेक का अभाव ही पाया जाता है ।

पूर्व और पश्चिम में, हिन्दुत्व और इस्लाम में, भूत और वर्तमान में समन्वय स्थापित करते समय कभी यह सफल हो जाते हैं, तो कई बार उनकी खिचड़ी ही कर देते हैं ।

गुजरात में आज भी ऐसे कई हैं जो मानते हैं कि नानालाल की कविताएँ रविबाबू के टक्कर की हैं और संसार ने रविबाबू की जो प्रशंसा की, वह नानालाल की भी होनी चाहिये थी ; परन्तु केवल प्रचार और विज्ञापन के अभाव में ऐसा न हो सका । परन्तु क्या उन्होंने अधिक गम्भीरता से कभी विचार किया कि केवल मनोविनोद के लिए किये गये अपने कुछ गीतों के अनुवाद—गीताञ्जलि-से दुनिया को चकित कर देनेवाले और अपने साहित्य तथा जीवन से भारतीयों के जीवन में नई धारा बहानेवाले रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा में और एकदम बिना हास्य-रसवाली, बिल्कुल अवास्तविक जगत में विचरनेवाली, आदर्शमयी, शब्द-संगीत से भरी, कई बार बिना अर्थों के शब्द-संगीत से ही भरी कविता रचनेवाले नानालाल की प्रतिभा में समानता नहीं हो सकती !

यदि सच्चा आनन्द प्राप्त करना हो तो किसी मनोरम साँझ में किसी नदी के किनारे 'जया जयन्त' या 'संघमित्रा' पढ़ना या किसी चाँदनी रात में गुर्जर नारियों के मधुर कण्ठ से नानालाल के रास और गरबे सुनना बेहतर है ; परन्तु कवि के निकट सम्पर्क में आनन्द प्राप्त करने की आशा में जाना व्यर्थ है । उनके अधिक निकट जाने में कोई लाभ नहीं ।

सूरत ।

नजरुल इस्लाम

[नन्दगोपाल सेनगुप्त]

[मूल बँगला से अनुवादक, रामचन्द्र वर्मा]

आसनसोल के चुडुलिया नामक गाँव में मुसलमान परिवार में काजी नजरुल इस्लाम का जन्म हुआ था। स्कूल में मैट्रिकुलेशन तक पढ़ने के उपरान्त ही इन्होंने अपनी पढ़ाई समाप्त कर दी थी। गत महायुद्ध के समय ये हवलदार होकर कान्स्टान्टिनोपल गये थे। उसी समय इन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध ईरान और तूरान आदि देश देखे थे। उन्हीं दिनों फुरसत के समय ये एक सामरिक अधिकारी से फारसी भाषा भी पढ़ते थे। स्वदेश लौटने पर ये कविताएँ लिखने लगे। अपनी पहली ही रचना के कारण इन्होंने अपने देश-वासियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। उनका प्रथम काव्य-ग्रन्थ 'अग्नि वीणा' उसी समय की रचना है।

देश-बन्धु चित्तरंजनदास के नेतृत्व में उन दिनों बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन बहुत जोरों से चल रहा था। युद्ध से लौटे हुए इन नवयुवक कवि ने भी उस आन्दोलन में योग दिया था। इन्होंने 'धूमकेतु' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित करना आरम्भ किया। इस पत्रिका में और रवीन्द्रकुमार घोष की 'बिजली' नामक पत्रिका में इनकी आरम्भिक अवस्था की तेजोमयी स्वदेशी कविताएँ प्रकाशित होती थीं। देश-बन्धु-द्वारा सम्पादित 'नारायण' और 'आत्म-शक्ति' में इनकी बहुत-सी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं।

उन्हीं दिनों राजद्रोह के अपराध में इन्हें सरकार ने सजा भी दी थी। बंगाल के साहित्यकारों में जेल जानेवाले ये पहले व्यक्ति थे। इसके सिवा इनके काव्य भी सरकार ने ज़ब्त कर लिये थे। इनके नये स्वर के काव्य पढ़कर और इनके मुख से स्वदेशी गान सुनकर देश के बहुत-से युवक और युवतियाँ इनकी एकान्त अनुरागिनी हो गई थीं। इसके थोड़े ही दिन बाद एक हिन्दू महिला के साथ इनका विवाह भी हो गया था। देश-बन्धु की मृत्यु के बाद से इनका साहित्य-सेवा का काम कुछ कम होने लग गया था। आज-कल ये ग्रामोफोन कम्पनी में गाने बनाने का काम करते हैं। साहित्य से अब इनका सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है। इनके अनेक पुत्र और कन्याएँ हैं। इनकी पत्नी का स्वास्थ्य भी आज-कल अच्छा नहीं रहता।

काजी नजरुल इस्लाम ने साहित्य-क्षेत्र में सहसा दर्शन दिया था। उनका आविर्भाव भी

धूमकेतु की ही तरह हुआ था और प्रस्थान भी धूमकेतु की ही तरह हुआ। लेकिन आधुनिक बँगला-साहित्य में जो प्राण-प्रेरणा है, उसे नजरुल इस्लाम की रचनाओं से बहुत कुछ सहायता मिली थी। बँगला-काव्यों में इतने दिनों तक रवीन्द्र-धारा का ही अनुकरण होता आ रहा था। रवीन्द्रनाथ की सौंदर्य-दृष्टि, उनकी सुललित शब्द-योजना में और सबसे बढ़कर प्रत्यक्ष जीवन से कोई संबन्ध न रखनेवाले लोकातीत जीवन में, बंगाली लेखकों के सामने अपरिहार्य रूप से आ खड़ी हुई थी। नजरुल इस्लाम ने ही सबसे पहले इस रसात्मकता को पीछे हटाकर वीर रस की कविताएँ लिखना आरंभ किया था। इस्लामी शब्दों और मुक्त छन्द के व्यवहार ने उनके इस विद्रोही मनोभाव को और भी अधिक उद्दीप्त कर दिया था। यदि मतवाद की दृष्टि से देखा जाय तो काजी नजरुल इस्लाम साम्यवादी थे। ये कृषकों, मज़दूरों, व्यथितों, पतितों आदि सबको अपने साथ लेकर चलते थे। इनकी कविताओं में इन्हीं लोगों की दुर्दशा का वर्णन होता था। रवीन्द्रनाथ की सब बातें आभिजात्यपूर्ण होती थीं। इसलिए इस दृष्टि से भी काजी नजरुल इस्लाम स्वतन्त्र विचारों के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं। परन्तु काजी साहब की रचनाओं का प्रभाव स्थायी नहीं है। और इसका कारण यही है कि इनका कवित्व विशेष गम्भीर नहीं है।

युवावस्था में काजी साहब बहुत सुन्दर थे। अब भी उनकी आकृति में बहुत कुछ सौन्दर्य है। ये बहुत सुन्दर गानेवाले भी हैं। इनके गीत और कविताएँ जो लोग सुनते थे, वे मुग्ध हो जाते थे। इनके सबसे अधिक उल्लेख-योग्य गुण बन्धु-वात्सल्य और उदारता हैं। इस दृष्टि से इनका मुकाबला करनेवाला और कोई नहीं है।

कलकत्ता।

झवेरचंद मेघाणी

[उमाशंकर जोशी]

[मूल गुजराती से अनुवादक, इन्द्र वसावड़ा]

'राष्ट्रीय शायर' का प्रिय उपनाम पानेवाले श्रीयुत मेघाणी अर्वाचीन साहित्यकारों में शायद सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकार हैं। काव्य केवल पंडितों की सामग्री न रहकर उनके द्वारा समाज के निचले स्तरों तक पहुँच गया है। इसी कारण, गाँव-गाँव भटकते 'भरथरियों' के मुख से 'भेंटे झूले छे तलवार' सुनाई देता है।

यह ठीक है कि लोग मेघाणी को 'शायर' की हैसियत से पहचानते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उनकी कहानियों का, उनके अस्खलित बहते और प्रादुर्भूत होते उपन्यासों और नाटकों की कद्र करनेवाले कम हैं। वे पत्रकार हैं और इससे वे दिन-प्रतिदिन अपनी लेखनी-द्वारा जनता के संपर्क में आते हैं। बुधवार की 'जन्मभूमि' के लिए कौन-सा साहित्यकार बाट नहीं जोहता, उनके 'फुलछाब' के लिए कौन-सा ग्राहक राह नहीं देखता। किंतु पत्रकारी तो उनका धंधा है। केवल धंधा। उसे उन्होंने जीवन में अन्तिम स्थान नहीं दिया। अगर यह बात न होती तो पिछले साहित्य-सम्मेलन में पत्रकार-सभा का सभापति-स्थान वे खेदपूर्वक क्यों लौटा देते।

अपने ही 'फुलछाब' में एक नये कहानी-लेखक पन्नालाल पटेल के बारे में उन्होंने लिखा था कि उन्हें न तो खबर है कि उनकी उम्र कितनी है और तसवीर तो अभी खिंचवाना बाकी है। हमारे मेघाणीजी की तसवीर तो खिंच गई है और प्रसिद्ध भी है; किन्तु अपने जन्म-स्थान के बारे में उनका खुद का ज्ञान भाई पन्नालाल से कुछ अधिक नहीं है। आप पूछेंगे तो वे जवाब देंगे—हाँ भाई, पाँचाल के पहाड़ों में जन्म हुआ था—और उनकी सूरत-शकल देखने से पता चलता है मानो इस सदी में आने के लिए उन्होंने काफ़ी प्रतीक्षा नहीं की। एक काठियावाड़ी थोड़ी-सी भरावदार काया और वैसा ही उनकी आँखें हैं। पर वे नम्र इतने हैं कि अपने नौकर को भी 'भाई' कहकर पुकारते हैं। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी के 'ग्रंथ अने ग्रंथकार' के मुताबिक उनकी उम्र बयालिस वर्ष है। बचपन अपने पुलिस अधिकारी पिता के साथ बिताया; और इसका हू-बहू वर्णन यदि आप चाहते हैं तो उनकी 'सोरठ तारा वहेताँ पाणी' पढ़ें। बाद में

धूमकेतु की ही तरह हुआ था और प्रस्थान भी धूमकेतु की ही तरह हुआ। लेकिन आधुनिक बँगला-साहित्य में जो प्राण-प्रेरणा है, उसे नजरुल इस्लाम की रचनाओं से बहुत कुछ सहायता मिली थी। बँगला-काव्यों में इतने दिनों तक रवीन्द्र-धारा का ही अनुकरण होता आ रहा था। रवीन्द्रनाथ की सौंदर्य-दृष्टि, उनकी सुललित शब्द-योजना में और सबसे बढ़कर प्रत्यक्ष जीवन से कोई संबन्ध न रखनेवाले लोकातीत जीवन में, बंगाली लेखकों के सामने अपरिहार्य रूप से आ खड़ी हुई थी। नजरुल इस्लाम ने ही सबसे पहले इस रसात्मकता को पीछे हटाकर वीर रस की कविताएँ लिखना आरंभ किया था। इस्लामी शब्दों और मुक्त छन्द के व्यवहार ने उनके इस विद्रोही मनोभाव को और भी अधिक उद्दीप्त कर दिया था। यदि मतवाद की दृष्टि से देखा जाय तो काजी नजरुल इस्लाम साम्यवादी थे। ये कृषकों, मज़दूरों, व्यथितों, पतितों आदि सबको अपने साथ लेकर चलते थे। इनकी कविताओं में इन्हीं लोगों की दुर्दशा का वर्णन होता था। रवीन्द्रनाथ की सब बातें आभिजात्यपूर्ण होती थीं। इसलिए इस दृष्टि से भी काजी नजरुल इस्लाम स्वतन्त्र विचारों के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं। परन्तु काजी साहब की रचनाओं का प्रभाव स्थायी नहीं है। और इसका कारण यही है कि इनका कवित्व विशेष गम्भीर नहीं है।

युवावस्था में काजी साहब बहुत सुन्दर थे। अब भी उनकी आकृति में बहुत कुछ सौन्दर्य है। ये बहुत सुन्दर गानेवाले भी हैं। इनके गीत और कविताएँ जो लोग सुनते थे, वे मुग्ध हो जाते थे। इनके सबसे अधिक उल्लेख-योग्य गुण बन्धु-वात्सल्य और उदारता हैं। इस दृष्टि से इनका मुकाबला करनेवाला और कोई नहीं है।

कलकत्ता।

झवेरचंद मेघाणी

[उमाशंकर जोशी]

[मूल गुजराती से अनुवादक, इन्द्र वसावड़ा]

'राष्ट्रीय शायर' का प्रिय उपनाम पानेवाले श्रीयुत मेघाणी अर्वाचीन साहित्यकारों में शायद सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकार हैं। काव्य केवल पंडितों की सामग्री न रहकर उनके द्वारा समाज के निचले स्तरों तक पहुँच गया है। इसी कारण, गाँव-गाँव भटकते 'भरथरियों' के मुख से 'भेंटे झूले छे तलवार' सुनाई देता है।

यह ठीक है कि लोग मेघाणी को 'शायर' की हैसियत से पहचानते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उनकी कहानियों का, उनके अस्खलित बहते और प्रादुर्भूत होते उपन्यासों और नाटकों की कद्र करनेवाले कम हैं। वे पत्रकार हैं और इससे वे दिन-प्रतिदिन अपनी लेखनी-द्वारा जनता के संपर्क में आते हैं। बुधवार की 'जन्मभूमि' के लिए कौन-सा साहित्यकार बाट नहीं जोहता, उनके 'फुलछाब' के लिए कौन-सा ग्राहक राह नहीं देखता। किन्तु पत्रकारी तो उनका धंधा है। केवल धंधा। उसे उन्होंने जीवन में अन्तिम स्थान नहीं दिया। अगर यह बात न होती तो पिछले साहित्य-सम्मेलन में पत्रकार-सभा का सभापति-स्थान वे खेदपूर्वक क्यों लौटा देते।

अपने ही 'फुलछाब' में एक नये कहानी-लेखक पन्नालाल पटेल के बारे में उन्होंने लिखा था कि उन्हें न तो खबर है कि उनकी उम्र कितनी है और तसवीर तो अभी खिंचवाना बाकी है। हमारे मेघाणीजी की तसवीर तो खिंच गई है और प्रसिद्ध भी है; किन्तु अपने जन्म-स्थान के बारे में उनका खुद का ज्ञान भाई पन्नालाल से कुछ अधिक नहीं है। आप पूछेंगे तो वे जवाब देंगे—हाँ भाई, पाँचाल के पहाड़ों में जन्म हुआ था—और उनकी सूरत-शकल देखने से पता चलता है मानो इस सदी में आने के लिए उन्होंने काफ़ी प्रतीक्षा नहीं की। एक काठियावाड़ी योद्धा-सी भरावदार काया और वैसा ही उनकी आँखें हैं। पर वे नम्र इतने हैं कि अपने नौकर को भी 'भाई' कहकर पुकारते हैं। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी के 'ग्रंथ अने ग्रंथकार' के मुताबिक उनकी उम्र बयालिस वर्ष है। बचपन अपने पुलिस अधिकारी पिता के साथ बिताया; और इसका हू-बहू वर्णन यदि आप चाहते हैं तो उनकी 'सोरठ तारा वहेताँ पाणी' पढ़ें। बाद में

जूनागढ़ और भावनगर के कालेजों में बी० ए० पास कर अल्यूमीनिअम के कारखाने में काम करने युवक मेघाणी कलकत्ते गये और इसी काम के सिलसिले में इंगलैंड भी हो आये। किन्तु उस स्थान से उन्हें अपने अनुकूल स्थान में लानेवाले 'सौराष्ट्र' पत्र के अधिपति श्रीयुत अमृतलाल शेठ थे। मेघाणी अपने प्रिय काठियावाड़ में आकर रहने लगे। 'सौराष्ट्र' ने जो एक नई गुजराती भाषा को जन्म दिया उसके वे वाहक बने। इसी दरमियान में मेघाणी ने अपना कार्य-क्षेत्र भी नियत कर लिया। और क्रमशः उसे जीत भी लिया। काठियावाड़ के ग्रामों में क्रमशः नष्ट होते मौखिक परंपरागत दोहों और चारणी गीतों के प्रति उनका मोह बढ़ता ही गया। चौरो में और हाटों में गाये जानेवाले लोक-गीतों का स्वाद उन्होंने चखा। व्रतकथाओं, ऋतु-गीतों, दोहों, लग्नगीतों, सोरठों का संग्रह करना शुरू किया। अल्युमीनिअम के कारखाने में रहकर धनी बनने की इच्छा छोड़नेवाला युवक लोक-साहित्य के मूल्यांकन में सच्चा 'झवेरी' बना।

लोक-साहित्य का उनका जीवित संपर्क, बुलंद मीठे स्वर से उसे पेश करने की सहूलियत, अन्य प्रान्त और देशों के लोकसाहित्य का तुलनात्मक अभ्यास, एक छोटे-से गीत को, और एक छोटे-से पद को या पंक्ति के एकाध शब्द को ग्रहण करने की कुशाग्र बुद्धि और अदम्य उत्साह—इन सब के कारण मेघाणी लोकसाहित्य के संशोधक के नाते विद्वानों में सम्मानित हुए हैं। 'गलियारा पुरस्कार' आपको इसी सेवा के लिए मिल चुका है।

मेघाणी की सच्ची प्रतिभा का सच्चा परिचय इनके इस लोक-साहित्य के प्रेम से ही किया जा सकता है। समस्त गुजरात में अत्यन्त लोकप्रिय 'सौराष्ट्रनी रसधार' की पाँच किताबों में उन्होंने पुरानी बातों को पुरानी शैली में अपनी तमाम कला के साथ उपस्थित किया है। किन्तु अगर उनके संशोधन और समुद्धार के काम को एक ओर रख दें तो भी उनके साहित्य-सृजन के व्यापार में उनका लोकसाहित्य-प्रेम आगे निकल जायगा। 'वेणीना फूल' नामक पुस्तिका के तमाम गीतों के 'ढाल', उन्होंने 'सुधरे हुए' नहीं, वरन 'ग्राम्य' ही पसन्द किये हैं। उनके काव्य-संग्रह 'युग-वन्दना' ने यह भी साबित कर दिया है कि वे छंदोबद्ध काव्य भी खूब अच्छी तरह से लिख सकते हैं। पर यह बात भी कहनी पड़ेगी कि उनका पक्षपात तो है गीत-रचना के प्रति। और वह भी आडम्बर युक्त नहीं, वरन् लोक-योग्य रचना के प्रति। लाहौर महासभा में सम्पूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा लेने के समय, अहमदाबाद में बंबई विद्यार्थी-परिषद में गाये हुए उनके गीत 'जागो जगना चुधार्त' और 'कवि तने केम गमे ?' जिन्होंने भी सुने होंगे; या १९३० में जब उन्हें दो वर्ष की कैद दी गई थी, उस समय कचहरी में रोते हुए मैजिस्ट्रेट के सामने 'हजारों वर्षनी जूनी अमारी वेदनाओ' को रुद्र करुण कंठ से जिन्होंने इन्हें गाते सुना है—वे जान सकते हैं कि मेघाणी की भावुकता और उनके गीतों का जादू क्या है।

लोक-साहित्य का मर्म वे पूर्णतया समझ गये हैं। शायद इसी कारण से ऐतिहासिक प्रसङ्ग के आधार पर रची गई उनकी कृतियाँ अपनी वैयक्तिक रचना के बनिस्वत लोक-रचना-जैसी अधिक लगती हैं। गाँधीजी के दूसरी राउण्ड टेबुल कान्फरेन्स में जाने के वक्त उनके लिखे हुए 'छेल्लो कटोरो झेरनो आ पी जजे बापू' के बारे में स्वयं गांधीजी ने कहा था—'मेरे मन के भाव बिलकुल ऐसे ही थे जैसे इस कविता में।' इससे बढ़कर प्रमाण-पत्र श्रीयुत मेघाणी को और क्या मिल सकता है ? मेघाणी की तरल प्रतिभा का दर्शन तो अभी ही राजकोट-सत्याग्रह के वक्त 'फूलछाब' में लिखे उनके गीतों-द्वारा मिलता है।

[५१०

सत्याग्रह के दिनों में कई साल जेल में गुजार कर मेघाणी पिछले चार वर्षों से फिर पत्रकारी में लग गये हैं। साहित्यकार के लिए आवश्यक मानसिक शांति उन्हें मिलती ही नहीं, और काठियावाड़ के राजस्थानों के बीच 'फूलछाब' चलाना मानो पग-पग पर लड़ाई मोल लेना है। किन्तु फिर भी उन्होंने यह बात कभी प्रकट नहीं होने दी कि यह काम वे अनिच्छा से कर रहे हैं। बल्कि प्रथम पत्नी की करुण मृत्यु के उपरान्त यदि किसी भी वस्तु ने उन्हें टिका रखा है तो वे हैं एक उनकी पत्नी श्री० चित्रा देवी और दूसरी यह पत्रकारी। मेघाणी स्वभाव से सैनिक वीर हैं। हिन्द की पुनर्रचना में अपना हिस्सा लेने की महत्वाकांक्षा उनमें बलवती है। किन्तु सुधारक होते हुए भी समाजनेता के बनिस्वत अदना साहित्यकार क़रार दिया जाना उन्हें अधिक पसन्द है। इसी से अपने प्रिय काठियावाड़ के बातोद में अपने छोटे-से मकान में बैठे सौराष्ट्रवासियों के छोटे-मोटे दुःखों में हिस्सा बँटाते हुए जीवन व्यतीत करने में ही उन्होंने कृतार्थता मानी है।

छः-सात वर्ष पहले वास्तविकतापूर्ण कहानियों द्वारा मेघाणी ने सब को चकित कर दिया था। चारेक वर्ष से वे उपन्यास भी लिखने लगे हैं। उनमें से 'सोरठ तारा वहेतां पाणी' चिरस्मरणीय कृति है। काठियावाड़ की अस्त होती संस्कृति का उसमें सत्य और सजीव चित्रण है। मेघाणी ने सारी पुस्तक को अपने अनुभव से रंजित किया है। 'समरांगण' एक ऐतिहासिक उपन्यास है और वह भी अत्यन्त लोकप्रिय साबित हुआ है। हालकेन के उपन्यास से लिया गया 'अपराधी' भी आकर्षक है। ह्यूगो के 'लॉफिंग मैन' में से एक पात्र लेकर 'विरचित वसुन्धराना वहाला दवला' अत्यन्त आकर्षक और वास्तविक बना है। अभी-अभी 'वेविशाल' नाम से लिखा हुआ उनका धारावाहिक उपन्यास 'फूलछाब' में समाप्त हुआ है और उसने भी बहुतेरे पाठकों के चित्त को मोहित किया है। संभव है मेघाणी उपन्यासकार की हैसियत से अपना स्थान इन दस वर्षों में ही सुरक्षित कर लें।

मेघाणी की साहित्यिक प्रवृत्ति का मूल्यांकन हम समकालीन लोग शायद ही यथार्थता से कर सकें। पर एक बात तो स्पष्ट है कि मेघाणी न तो पुराने रूढ़िवादियों में से एक हैं; न हवकम्पी नवीनों में से एक। दोनो के सुन्दर गुणों के प्रथम परीक्षक हैं। किसी पुराने साहित्यकार की कृति हो या किसी नये आते सहित्यकार की कृति हो, 'जन्मभूमि' के 'कलम अने किताब' में उसका मूल्यांकन सब से प्रथम मेघाणी का ही होगा। किन्तु पुराने साहित्यकार मेघाणी की ओर सशंक दृष्टि से देखते आये हैं। कोई भी लेखक लोकप्रिय हुआ कि वह इन पुराने महारथियों की आँखों से गिर गया। मेघाणी की रचनाओं का मान होते हुए भी गीतेतर कविता उन्होंने अधिक नहीं की, इससे उनकी काव्य-रचनाओं के जीवन के विषय में वे संदिग्ध हैं। मेघाणी की लोक-साहित्य-सेवा के लिए उन्हें गर्व है; किन्तु उन्हें लगता है मानो मेघाणी नामक कोई मध्यकालीन युवा आधुनिक युग में भूल से आ गया है, और इधर नवीन युवक साहित्यकार सोचते हैं कि एक आधुनिक युवक मेघाणी मध्यकालीन युग की भूल-भुलैया में पड़ गया है। दोनो ही विचार-बिंदु नितान्त सच्चे नहीं हैं। मेघाणी की दृष्टि भविष्य की ओर है; मात्र उनके कानों में भूत काल का संगीत गुंजन करता रहता है।

मेघाणी की प्रतिभा किस प्रकार की है? अगर प्रतिभा का वर्गीकरण हो सकता हो तो कह सकते हैं कि मौलिक के बजाय वह इतरोत्थ (Derivative) अधिक हैं। कहीं से भी कोई सूचना

मिली, एक भावना मिली, विचार मिला, बस फिर तो इनकी खेलती, दौड़ती, कूदती कल्पना, रसभरी शैली और अपनी भाषा तमाम काम कर डालती है। और यह सब इतनी सुन्दरता से कि मूल के सामने यह अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। परदेशी पौदे को सोरठ की धरती में लाकर बोना उनके लिए जैसे खेल है।

गुजरात के पास पर्याप्त धन है, बाहर की अनेक संस्थाओं की वह सहायता करता है; पर उसके पास ऐसी अपनी कोई साहित्यिक संस्था या युनिवर्सिटी नहीं है जो मेघाणी जैसे शोधकको दो-चार वर्ष चैन से बैठकर साहित्य-संचय करने की निश्चिंतता तथा समय दे। मेघाणी अभी जवान हैं और काम कर सकते हैं। अभी तक काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, विवेचना, प्रवास, जीवनचरित्र, संशोधन इत्यादि मिलाकर पचास-साठ ग्रन्थों के कर्ता हैं, लेकिन अभी भी उनमें नवयुवकोचित अदम्य साहस और उत्साह है। अपनी सतत साहित्य-सेवा में उन्होंने एक महत्त्व का कार्य किया है। साहित्य को लोगों के घर-घर तक पहुँचाने का कार्य गांधीजी को छोड़कर अविश्रांत परिश्रम से मेघाणी ने ही सबसे अधिक किया है। इस समय जब कि समालोचना के प्रति कुछ उदासीनता नज़र आती है, हम देखते हैं कि उनकी समालोचनाएँ दिन-प्रतिदिन निर्मल हृदय से फूटकर बहती नज़र आती हैं।

गुजराती में मेघाणी को जो आदरणीय स्थान प्राप्त है, वह उनकी तपस्या का फल है। उनका लोकसाहित्य-संकलन का कार्य तो अखिलभारतीय महत्त्व का है और उन्हें हम भारतीयों का आदरास्पद साहित्यकार बनाता है।

बम्बई।

श्री उमाशंकर जोशी

['स्नेहरश्मि']

[मूल गुजराती से अनुवादक, श्यामू सन्यासी]

बम्बई की सीडन हॉम कॉलेज में से एक के बाद एक विद्यार्थी चले आते हों और उनमें से किसी एक युवक को दिखला यदि कोई आपसे कहे कि, गंगोत्री के लेखक उमाशंकर यही हैं, तो उस बात पर विश्वास ही न होगा। उसे कॉलेज के पहले या दूसरे वर्ष के विद्यार्थी की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्थान देने में हिचकिचाहट होगी। फिर भी यदि सौभाग्य से आपकी उससे भेंट हो जाय और किसी भी विषय पर बातचीत होने लगे, तब आपको एकदम मालूम हो जायगा कि विद्यार्थी-जैसे इस युवक के कन्धों पर किसी कवि का ही नहीं; परन्तु एक बहुश्रुत विद्वान का ज्ञान-वृद्ध सिर भी है।

गुजरात के साहित्यिकों में उमाशंकर एक ऐसे युवक साहित्य-स्रष्टा और विद्वान हैं

जिन्हें आसानी से प्रथम पंक्ति में रखा जा सकता है। यद्यपि अभी वे पूरे अट्ठाइस वर्ष के भी नहीं हैं तो भी उनकी प्रतिभा ने गुजराती साहित्य के भीष्म, स्वनामधन्य और वयोवृद्ध श्री नरसिंह-राव दिवेटिया, श्री बलवन्तराय ठाकोर, श्री रामनारायण पाठक आदि से लगा श्री झवेरचन्द मेघाणी और श्री सुन्दरम्-जैसे युवक साहित्यिकों को उनका परम मित्र बनाया है। ऐसा सौभाग्य शायद ही किसी को प्राप्त होता है और जिन्हें प्राप्त होता है उनमें से शायद ही कोई उसे स्थायी रख सकता है। उमाशंकर ने इन दोनो बातों में अनायास ही अपनी योग्यता प्रमाणित की है। उनकी विद्वत्ता ने उन्हें अकाल-वृद्ध और गंभीर नहीं बनाया। अनेकों बार उनका विनोद कॉलेज के विद्यार्थियों की मजाकों को फीका कर देता है। किसी भी आदर्शवादी युवक को चकित कर दे, ऐसा उनका उत्साह और उनकी भावनाशीलता है। भयंकर दुःखों की मार के नीचे भी हँसती हुई उनकी प्रसन्न मुख-मुद्रा पर जो शान्ति भरी सहनशीलता है, वह अनन्त आशावाद से भरे किसी युवक स्वप्न-द्रष्टा की ही झाँकी दिखाती है।

उमाशङ्कर की इस सिद्धि के पीछे किसी धनवान् कुटुम्ब की विरासत नहीं है; और नहीं है किसी परम्परागत विद्वत्ता का परिपाक, कि आसपास के साहित्यमय वातावरण की प्रेरणा। ईडर उनका मादरे वतन है, जिसके बारे में कहा जाता है :

ईडरे पञ्च रत्नानि पहाड़ पानी च पांदणां।
चतुर्थं मधुपुष्पञ्च पञ्चमं वस्त्रलोचनम्॥

पहाड़, पानी, पत्ते, महुए और वस्त्रों की लूटपाट; यानी भील लोग—ईडर के ये रत्न! ऐसी भूमि में से ईडर ने उमाशंकर जैसा रत्न गुजरात को दिया। भूतकाल में ईडर ने कई शूर-वीरों को अपनी गोद खेलाया; परन्तु किसी कवि-सन्तान को अपनी गोद खेलाने और उसके स्पर्श से धन्य होने का अवसर उसे उमाशंकर ने ही दिया। उमाशंकर के पहले ईडर में नीलकंठ नाम के एक कवि हो गये बतलाते हैं; परन्तु उनके भाग्य में यश न बदा था। उनकी कविताओं और रचनाओं के बारे में आज गुजरात कुछ नहीं जानता। और उमाशङ्कर इसलिए ईडर के पहले कवि हैं।

ईडर के पंचरत्नों का वर्णन करनेवाले ने तो वह श्लोक मज़ाक में कहा होगा; परन्तु उमाशंकर की कविता पढ़नेवालों को तो उसमें के पहाड़ और पानी रत्न ही लगेंगे। उमा-शङ्कर की विचार-प्रधान, पर ललित शैली ईडर के पहाड़ों और झरनों के हृदय की प्रतिध्वनि है। इस तरह के आश्चर्य का होना संभव है कि इन पहाड़ों और झरनों को एक बार देखने के बाद उमाशङ्कर ने इन्हें कहाँ छिपा रखा था; परन्तु उन्हीं के मुँह से ईडर के समृद्ध लोक-गीत सुनने-वाले को इस तरह का आश्चर्य नहीं होता।

कवि के लिए कहा जाता है कि उसकी दृष्टि स्थान और काल के बन्धनों को तोड़ अनन्त के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करती रहती है; और धीरे-धीरे उसका जगत अधिकाधिक विशाल होता जाता है। उमाशङ्कर के काव्यों में तो हमें इसका आभास मिलेगा ही; परन्तु उनके वास्तविक जीवन में भी ऐसा ही हुआ है। जैसा कि उन्होंने स्वयं वर्णन किया है उसके अनुसार पहाड़ के इस बालक को समुद्र के स्वप्न आये; और उत्तुङ्ग पहाड़ों के स्वप्नों के साथ इसने समुद्र की अगाधता के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। इसलिए उमाशङ्कर की कविताओं में स्थान-स्थान पर समुद्र के लिए बिखरा हुआ असाधारण आकर्षण हम पाते हैं।

बचपन में इन्हें विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए। आरम्भ में नदी जिस प्रकार पहाड़ की गोद में खेल बड़े-बड़े जंगलों को पार करती हुई, विशाल मैदानों पर अपना हास्य बिखेरती, किन्हीं ऊँचे पत्थरों पर उछलती-कूदती विशाल समुद्र की ओर बही जाती है, उसी प्रकार जंगल की सीमा पर झूलते बामणा गाँव की संकीर्णता, नाते-रिश्ते की समस्याएँ, रक्त की विविधताएँ और भव्यताएँ, खानदानीपन, आदि का आनन्द ले, छात्रालय के गृहपति, रसोइये, विद्यार्थी, शिक्षक और अधिकारियों के बाह्य और आन्तरिक जीवन में झाँकता हुआ जब पहाड़ का यह बालक अहमदाबाद की प्रोप्राइटरी हाईस्कूल की विशाल जनता के सम्पर्क में आया, तब इसका हृदय भी उसी प्रकार फड़क रहा था, जिस प्रकार दूर से समुद्र की गर्जना सुनकर नदी का अन्तर फड़कता है। अपनी कक्षा के विद्यार्थियों की अपेक्षा यह अवस्था और क़द में छोटा था। आश्चर्य होता है कि भाषा में ईडर की झलक होने से ऐसे शैतान और तूफ़ानी लड़कों को जिन्हें केवल जीवनलाल दीवान या बल्लूभाई ठाकोर ही वश में रख सकें, इसके प्रारम्भिक दिन कैसे बीते होंगे! परन्तु इसकी असाधारण प्रतिभा कहीं भी छिपनेवाली नहीं थी। इसके नन्हें और नाज़ुक क़द में छिपी विद्वत्ता ने मात्र इसकी कक्षा के विद्यार्थियों को ही नहीं; परन्तु उक्त संस्था के सैकड़ों शिक्षकों और आचार्यों को इसकी ओर आकर्षित किया। कीट्स की La Belle Dame Sans Merci कविता का जो उस समय के विद्यार्थियों को तो ठीक कई शिक्षकों को भी कई बार पढ़े बिना समझ में न आती थी, इसने संस्कृत कविता में सुन्दर अनुवाद कर अपने शिक्षकों को चकित कर दिया था। सत्रह वर्ष की छोटी-सी उम्र में बम्बई विश्व विद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में प्रान्त-भर में तीसरे नम्बर से और अहमदाबाद-केन्द्र में प्रथम आकर यह कीर्ति-पथ का पथिक बना।

इसके बाद उमाशंकर के सामने हिमालय-आरोही की दृष्टि के समक्ष खुलते एक के बाद एक ऊँचे शिखरों की भाँति कीर्ति-शिखर प्रस्फुटित होते गये। परन्तु उमाशंकर की मानवता उनकी महत्त्वाकांक्षा से कहीं ऊँची थी—और इसलिए उनके मित्रों के मन कवि उमाशंकर की अपेक्षा मनुष्य उमाशंकर अधिक बड़ा है। उनकी मानवता का परिचय उनके सहपाठियों को जब वे कॉलेज के प्रथम वर्ष में थे तभी लग चुका था। युनिवर्सिटी में प्रथम आनेवाला विद्यार्थी अपने अध्यापकों और आचार्यों के साथ ही विद्यार्थियों का भी प्रेमपात्र होता है। छात्रवृत्ति ने विश्वविद्यालय के द्वार इसके लिए खोल दिये; अन्यथा उसके अभाव में फिर इसे बामणा लौट जाना पड़ता। इसलिए यह छात्र-वृत्ति और अध्यापकों की सद्भावना उस समय उमाशंकर के लिए समुद्र पार करनेवाले मल्लाह के जहाज की भाँति अनिवार्य थी। यदि वह न होती तो उमाशंकर को जिस समुद्र के स्वप्न आते थे उसमें प्रवेश करते ही डूब जाना पड़ता। और जिसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा समझा हो उसी के त्याग का आदेश जब उमाशंकर के कानों में सुन पड़ा तो उनके मन पर क्या बीती होगी? हुआ यह था कि गुजरात कॉलेज के विद्यार्थियों ने उनके आचार्य श्री फिडले शिराज़ के विरोध में लड़ाई छेड़कर हड़ताल जाहिर कर दी थी। अध्ययन में प्रथम रहनेवाले विद्यार्थी उमाशंकर की कसौटी आ पहुँची। कॉलेज के नोटिस बोर्ड पर सूचना लगा दी गई थी कि हड़ताल में भाग लेनेवाले विद्यार्थियों की छात्र-वृत्ति ज़ब्त कर ली जायगी। उनके सहपाठी उतूहल पूर्वक देख रहे थे कि यशःप्राप्त यह विद्यार्थी अब किस तरह का बर्ताव करनेवाला है। उमाशंकर को उन सब की कोई फ़िक्र न थी; उन सब की निन्दा या प्रशंसा उनके मन गौण थी। उनके सामने विचारणीय प्रश्न यह था कि विद्यार्थियों की यह

लड़ाई न्याय की है या अन्याय की ! और चटपट उसने निश्चय किया कि सत्य विद्यार्थियों के पक्ष में है। उनका पक्ष लेने में ही नहीं ; परन्तु अपने भावी जीवन की होली जलाकर भी उनका नेतृत्व करने में उसने अपना कर्त्तव्य समझा। उसके इस बलिदान की महानता सत्याग्रह के दूसरे कर्णधारों से छिपी नहीं थी। उन्होंने उससे लौट जाने का आग्रह भी किया ; परन्तु कविता में सत्य की उपासना करनेवाले ने जीवन में भी सत्य की ही उपासना की और सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं को ठोकर मार दी।

इसके बाद से तो किसी भव्य चलचित्र में सपाटे से निकलनेवाले दृश्यों की भाँति उमाशंकर के जीवन में उथल-पुथल से भरे कई बड़े-बड़े दृश्य आये और गये। भारतवर्ष के विशाल गुम्बज में १६३० के धर्मयुद्ध की घोषणा गूँज उठी। मराठी में इनका रेखाचित्र लिखनेवाले महाराष्ट्रीय विद्वान् सुले के शब्दों में 'विश्व विद्यालय में प्रथम श्रेणी प्राप्त करने का राजमार्ग त्याग ये नमक-सत्याग्रहियों की टुकड़ी में सैनिक बने और जेल में तीसरी श्रेणी पसन्द की। मुश्किल से यह उन्नीस वर्ष के हुए होंगे कि इन्हें वीरमगाम के युद्ध-मंडल में लिया गया और वहाँ पत्रिका लिखने का काम सौंपा गया। गुजरात के साहित्यिकों में आदर पानेवाले इस युवक ने अपनी लेखन-कला का प्रारम्भ सरकार के अत्याचारों का ज़ोरदार वर्णन करनेवाली सत्याग्रह पत्रिका के उग्र लेखों से किया।'

'३० की लड़ाई में साबरमती और यरवडा जेल के अनेकविध अनुभव प्राप्त कर, चक्की पीसने के मजे लूट, अनेक नये मित्र पा कॉलेज की चार-दिवारी में कभी भी प्राप्त न किये जा सकें ऐसे अनुभव प्राप्त कर गांधी-इर्विन समझौते के उस क्षणिक संधि-काल में उमाशंकर जब बाहर आये तो उनके सामने यह समस्या थी कि अब क्या किया जाय ! अन्य विद्यार्थियों की भाँति अपूर्ण विद्याभ्यास समाप्त करने का मार्ग तो उनके आगे खुला पड़ा ही था ; परन्तु जन-साधारण के विशाल अन्तर की झाँकी देख आये इस स्वप्न-दर्शी नवयुवक को गुजरात कॉलेज की दीवारें किसी अन्धकार-भरे गड्ढे की दीवारों जैसी लगीं। तो वह क्या करे ? उसने चारो ओर दृष्टि डाली। अन्त में वह गुजरात विद्यापीठ और ज्ञान के उत्तुङ्ग शिखर जैसे विद्यापीठ के आचार्य श्रीकाका साहब कालेलकर पर आ ठहरी। श्री सुले के शब्दों में : 'काका साहब को उनकी ज़िन्दगी-भर उमाशंकर जैसा शिष्य न मिला होगा। विद्यार्थी और विद्यापीठ के निवासी के रूप में श्री उमाशंकर ने काका साहब के उदात्त-जीवन, विद्वत्ता, साहित्य-रसिकता और उनकी यात्राओं और उनके पर्य्यवेक्षण से पूरा-पूरा लाभ उठाया। निपुणता से शरीर पर शल्य-क्रिया करनेवाले कुशल वैद्य की भाँति, मानव के अन्तर का विश्लेषण करनेवाले उमाशंकर की निष्ठुर पर वास्तविक कृतियों में सुन्दर अभिरुचि और सहृदयता का जो अखंड स्रोत बहता रहता है, वह काका साहब के सहवास का ही फल है' और इसीलिए उमाशंकर ने अपने कविता-संग्रह 'गंगोत्री' को काका साहब के चरणों में समर्पित करते हुए उचित ही लिखा है :—

अजाण्युं हो आव्युं गभरु झरणुं को तव पदे,
प्रवासी, तें एने हृदय जगवी सिन्धु रटणा !

[ओ प्रवासी, अनजान में जो झरना बहते-बहते तेरे चरणों तक चला आया, उसके हृदय में तूने सिन्धु की रट लगा दी।]

यों सदियों से ईडर की संकीर्ण सीमाओं में बन्द वहाँ की प्रतिभा को महात्मा गांधी

की सर्वोदयमय संजीवनी का स्पर्श हुआ और उसके अन्तर में से 'विश्वशांति' की भव्य गाथा फूट निकली। बीस वर्ष के इस युवक ने आर्ष दृष्टि से विश्वशांति के मंगल दर्शन किये और उसे शब्द-दानकर लगभग पाँच सौ पंक्तियों का एक खंड-काव्य गुजरात की भेंट किया। यह प्रकाशन गुजराती साहित्य-क्षेत्र में एकाएक किसी महान तेजपुंज के आगमन के समान था। इसने वयोवृद्ध और साक्षर श्री नरसिंह राव जैसों की जीवन-सन्ध्या में आनन्द और परम सन्तोष की लहरें उठाईं। बहुत थोड़े साहित्य-सेवकों ने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ इतनी भव्यता से किया होगा।

इसके बाद फिर एक आँधी आई और उमाशंकर साबरमती और वीसापुर जेल की दीवारों में अदृश्य हो गये; परन्तु पर्वत की चट्टानों को तोड़कर वेगपूर्वक बाहर आती धारा के समान उनकी प्रतिभा के लिए यह जेल आशीर्वाद-स्वरूप हो गई। सात्विक त्याग से प्राप्त होनेवाले परम आनन्द की लहरों में जेल-जीवन की शारीरिक यातनाओं और व्यथाओं को मंगलमयी बना, उमाशंकर की यह काव्य-गंगोत्री शत सहस्र-धाराओं में बहने लगी और जब यह जेल से छूट बाहर आये तो इनके हाथ में गुजरात को भेंट देने के लिए दूसरा काव्य-संग्रह था।

परन्तु उमाशंकर की परीक्षा तो इसके बाद होनी थी। गान्धी-इर्विन समझौते ने राष्ट्र में नई चेतना तो प्रकट कर दी थी; परन्तु '३२ के धर्म-युद्ध के तात्कालिक शुभ परिणाम नहीं दीख पड़ रहे थे। और अनेकों अत्याचारों से त्रस्त जनता में जो प्रतिक्रिया और निराशा फैल गई थी उसमें उमाशंकर के लिए नई ही समस्याएँ आ खड़ी हुईं। काका साहब के जिन कन्धों पर खड़े हो उमाशंकर ने वर्तमान क्षितिज के पार आगम्य सौन्दर्य-श्री के दर्शन किये थे, उन कन्धों पर अब नये ही बोझ आ पड़े; उन प्रवासी चरणों को मध्य-प्रान्त की ओर बहता पवन वर्धा ले गया और वहाँ काका साहब लिपि सुधार और हिन्दी प्रचार के कार्यों में तल्लीन हो गये। उमाशंकर भी शायद उधर ही चले गये होते परन्तु अभी तक वह और उनके भाई-बन्द की चिन्ता करनेवाले उनके पिताजी मर गये और वह चिन्ता उमाशंकर तथा उनके बड़े भाई को उठानी पड़ी। परीक्षा इतने से ही समाप्त नहीं हुई और उनकी आँखें यहाँ तक बिगड़ीं कि शायद उन्हें बचपन में ही मिल्टन हो जाना पड़ता। आँखों ने उन्हें बम्बई धकेला और वहाँ मित्रों ने उन्हें अपूर्ण अध्ययन समाप्त करने कॉलेज जाने बाध्य किया। उस समय से लगाकर आज तक का उमाशंकर का जीवन किसी भी महान जीवन-वीर को शोभित करनेवाला है। एक ओर बिगड़ी आँखें, डाक्टरों का बिल, कॉलेज में पढ़ते भाइयों के खर्च का बोझ, विद्याभ्यास, ट्यूशन, और दूसरी ओर भयंकर आर्थिक कठिनाइयाँ। इन कठिनाइयों का सामना करने में गुजरात को 'साँपना भारा' और 'श्रावणी मेलो' मिले। 'साँपना भारा' और 'श्रावणी मेलो' की सफल नाटिका और कहानियाँ पढ़कर मुग्ध होनेवाले पाठकों को शायद ही ख़बर होगी कि जिस क़लम ने यह नाटिका और कहानियाँ लिखीं वह उन्हें लिखते समय असह्य वेदना पा रही थी।

उनके अध्ययन-काल में ही उनका 'गंगोत्री' बंबई विश्वविद्यालय की इन्टर आर्ट्स परीक्षा में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकार किया गया। उमाशंकर के सहपाठियों को तो इससे ईर्ष्या हुई ही होगी; परन्तु उनके अध्यापकों के मन में क्या बीती होगी? ऐसा यश और ऐसी सफलता हमें शायद ही कहीं देखने को मिलती है।

परन्तु एक ओर से वे ज्यों-ज्यों कीर्ति के ऊँचे-ऊँचे शिखर पार करते गये, दूसरी ओर से उनकी सांसारिक आपत्तियाँ बढ़ती ही गईं। उनके एक भाई को क्षय हो गया। चिन्ता और

आर्थिक बोझ बढ़ गया। जिससे 'त्रण अर्धुं वे' की तैयारी हुई। इसी बीच एक मृदुल तेज लहर उमाशंकर के जीवन की ओर उनके अनजाने ही बही चली आ रही थी। और एक मंगलमय सवेरे उमाशंकर अपनी जीवन-संगिनी श्रीमती ज्योत्स्ना बहिन के साथ लग्न-ग्रन्थि में संबन्धित हुए। जीवन की चिन्ताओं में उन्हें शान्ति देनेवाली यह मधुर मैत्री उन्हें मिली न मिली कि उन्हें एक और गहरी चोट लगी। उनके बड़े भाई जिन्होंने वीरता से उमाशंकर के साथ कुटुम्ब का सभी बोझा उठा लिया था, हरिपुरा महासभा में ताप्ती-तट की ठंडी हवा से त्रिदोष की चार दिन की बीमारी भुगत अपने पीछे युवती विधवा, बच्चे और भाइयों को रोता छोड़ चल बसे। साथ ही जिस भाई को बंबई में अच्छी वैद्यकीय सहायता ले क्षयरोग से मुक्त करवाया था, उनका रोग एकाएक उलट गया। दुर्भाग्य की ऐसी बाढ़ के सामने स्थिर रहनेवाले हृदय में से संगीत की प्रति दिन बहनेवाली जिस धारा से गुजरात का संस्कारी जीवन आप्लावित हो रहा है, उसका मूल्यांकन उमाशंकर के कुटुम्ब-जीवन में दृष्टि-पात किये बिना शायद ही किया जा सके।

उन कठिनाइयों में भी, और जब इनकी आँखें यहाँ तक बिगड़ चुकी थीं कि ये कभी भी उनसे हाथ धो बैठते, इन्होंने श्री आनन्दशंकर बापूजी ध्रुव जैसे विरल परीक्षक के हाथों फर्स्ट क्लास अंक प्राप्त कर एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। अपनी विद्वत्ता ही नहीं, परन्तु जिन उपाधियों का संसार की निगाह में अधिक मूल्य है, ऐसी उपाधियों से विभूषित उमाशंकर को किसी कॉलेज का प्रोफ़ेसर होना चाहिये था ; परन्तु आज तो वे बंबई की एक माध्यमिक शाला श्रीमती गोकली बाई हाईस्कूल में और सीडन हाम कॉलेज में पार्ट टाइम लेक्चरर का काम करते हैं। मनुष्य की कृति पर मुग्ध हो उसे भूलनेवाले हमारे इस युग के अनुरूप ही यह है। और उमाशंकर ने कभी हमारे इस व्यवहार की शिकायत नहीं की।

यों उमाशंकर की जीवन-नौका उनकी आयु की इस छोटी-सी यात्रा में भी अनेकों बहुमूल्य अनुभव-रत्नों से भरी है। इन रत्नों की प्रभा इनकी कविताओं की पाँखों पर चढ़ समूचे ब्रह्मांड में घूम आती है। काव्य में जो भव्य और उदात्त है वह इनके लिए सहज है। इनके काव्यों में इतनी तो प्रतिभा, और सर्वदेशीयता है कि परम आस्तिक होते हुए भी, ईश्वर में अनन्त श्रद्धा होते हुए भी, उपनिषदों की वाणी में बोलते हुए भी प्रगतिशील साहित्य संप्रदाय वालों ने इनके हाथ में अपनी संस्था की बागडोर इन्हें उक्त संस्था के प्रथम मंत्री बनाकर दी थी। प्रगतिशीलता के प्रमुख लक्षणों का इनमें अभाव होते हुए भी प्रगतिशील-संघवाले इन्हें अपने में शामिल करने ललचाते हैं ; वे उनकी काव्य प्रतिभा के चिरंतन और त्रिकालाबाधित तत्वों के आभारी हैं। उनका नया काव्य संग्रह जो इन दिनों तैयार हो रहा है, उसकी पाण्डु प्रति देखते समय मालूम होता है कि अभी उनकी प्रतिभा अधिकाधिक विकसित हो रही है। इस काव्य संग्रह की पहली ही कविता 'निशीथ' भव्य काव्य रचना का उत्तम नमूना है। अकेली वही कविता हमें उमाशंकर की विराट् कल्पना का सुन्दर परिचय कराती है। धरती पर के दलितों पीड़ितों से लगा विश्व के आदि स्रष्टा तक की सम्पूर्ण चराचर सृष्टि के विषय में उमाशंकर ने गीत गाये हैं। उनकी कविता के लिए उन्हीं की वाणी में कहें तो कहा जा सकता है कि उनकी काव्य नौका में बैठ साहित्य सागर में विचरण करनेवाले यात्री के सामने नये क्षितिज और नये पंथ दीखने का अनुभव होने लगता और उसके मुँह से इस काव्य नौका के लिए शब्द निकलने लगते हैं कि :

ऐ तो सरखाँ सयोवडां ने भेटे—त्रिकाल ने त्रिभेटे!

और 'आज बीज कला देखीने उपडी, पुनम ऐवी टुकड़ी।'

उमाशंकर की कविता विकासोन्मुख द्वितीया के चाँद जैसी है और पूर्णिमा होते तो गुजरात ही नहीं अखिल हिन्दुस्तान पर उसकी निर्मल सुधा-धवल चाँदनी फैल जायगी ऐसी आशा तो आज हम अवश्य रख सकते हैं।

उमाशंकर के नाटकों और कहानियों का मूल्यांकन ऐसे छोटे-से रेखाचित्र में कर सकना असम्भव है; परन्तु उनके बारे में यहाँ इतना ही कहना बस होगा कि नाटकों में उमाशंकर ने नवीन परिभाषा को जन्म दिया है। 'सापना भारा' में उन्होंने जिस लोक भाषा का प्रयोग किया है वह आगे क्वचित ही प्रयुक्त की गई है, उनके इन नाटकों की प्रस्तावना लिखते हुए गुजरात के सुप्रसिद्ध आलोचक श्री रामनारायण पाठक लिखते हैं।

कि: 'हमारे देहातों पर लिखा साहित्य मिलता है; परन्तु उसमें का अधिकांश तो गाँव ऐसा या वैसा होता है, सुन्दर होता है, निर्दोष होता है, स्वास्थ्यप्रद होता है आदि मान्यताओं के आधार पर लिखा हुआ है। गाँव का सच्चा चित्रण उसमें नहीं है। उसमें का अधिकांश देहात की भावनाओं के साथ तल्लीन हुए बिना, तटस्थ रहकर जैसे उसके सौन्दर्य का आदर करने की भावुकता में, अथवा गाँव पर दया करने या उसकी निर्दोषता की भावना में मग्न होने के लिए मन को जबर्दस्ती प्रेरित कर लिखा हो ऐसा लगता है। श्री उमाशंकर ने गाँव देखा है। उसकी वास्तविक स्थिति को वे समझ सके हैं और विचार पूर्वक उसका निदान उन्होंने किया है। वैसा करने में उन्हें जो रहस्य मालूम हुआ उसे उन्होंने नाटक में मूर्त रूप दिया है। अधिकांश नाटकों में वह वस्तु स्थिति का चित्तेरा है। हमारे गावों की निर्धन, कंगाल, अधम, पतित, और दुर्बलता से भरी स्थिति का सच्चा वर्णन है। इससे कई दृश्य अतिरंजित हो गये हैं पर गाँवों का यह सच्चा चितेरा है।' उमाशंकर के इन्हीं नाटकों का वर्णन करते हुए श्रीसुले ने लिखा है: 'श्री उमाशंकर के सभी नाटक यदि मराठी में अनूदित हो जायँ तो मात्र हलके दर्जे का हास्य और फ्रायड के सिधान्तों पर रचे गये कृत्रिम मानवी पुतलों के आधार पर लघु कथा और नाटक लिखने वाले हमारे अनेक लेखकों को अपनी रचनाओं की ग़रीबी स्पष्ट मालूम होगी।' उनकी कहानियाँ भी उतनी ही ऊँचे दर्जे की होती हैं। उन सबके पाँव कठोर धरती पर हैं और जब वह उड़ान भरती हैं तब भी धरती की कठोरता को नहीं भूलतीं; बल्कि ऊँचे उठते समय और उत्तरोत्तर विशालतम होती हुई भी वे सतत यह भान कराती रहती हैं कि वही कठोरता सब में चारों ओर लिपटी हुई है। और इसीलिए उमाशंकर की रचनाएँ प्रगतिशील समझी जाती हैं।

यह तो उमाशंकर के जीवन का छोटा-सा रेखा-चित्र हुआ। उनकी रचनाओं का परिचय बिना पढ़े नहीं पाया जा सकता। गुजरात अपने इस तरुण साहित्यसेवक से अनेकों आशाएँ रखता है; परन्तु अभी तक वह उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को नहीं निभा पाया है। भविष्य की बात तो भविष्य ही कहेगा; परन्तु उमाशंकर के लिए तो भविष्य यों कहेगा कि गुजराती साहित्य में इसने ध्रुव का निशान निश्चित किया और बाक़ी कुछ न रखा।

अहमदाबाद।

अरदेशिर एफ० खबरदार

गुण-कथन

[सोफिया वाडिया]

[श्रीमती सोफिया वाडिया एक विदुषी महिला-रत्न हैं। आप भारतीय पी० ई० एन० (लेखकों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था) की प्रवर्तिका हैं और उसके मुखपत्र 'The Indian P. E- ' की संपादिका हैं।—सं०]

जिन लोगों को इस सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह है कि मानवी आत्मा, पुनर्जन्मों की एक विस्तृत श्रृंखला के द्वारा नये-नये शरीरों में पहुँचकर अनुभव प्राप्त करती है और अपनी शक्तियों का निर्माण करती है, वे दस वर्ष की अवस्था के एक पारसी बालक के मनोवैज्ञानिक रहस्य का स्पष्टीकरण करने और उसे समझाने में असमर्थ होंगे, जिसमें हिन्दू विचार-धारा ऐसे स्वाभाविक रूप से काम करती थी कि मानो वह उसमें जन्म-जात ही हो और जिसका गुजराती भाषा का ज्ञान तथा व्यवहार बहुत वर्षों से उसके सह-धर्मियों के लिए एक बहुत ही अनोखी और अचम्भे की बात ही रही है। दस ही वर्ष की अवस्था में जब कि यह बालक गुजराती भाषा की सातवीं पुस्तक पढ़ रहा था, तब यह दोहरों या दोहों की रचना करता था, अँगरेज़ी की पाठ्य-पुस्तक की कहानियों को अँगरेज़ी पद्य के रूप में परिवर्तित करता था और अँगरेज़ी काव्यों को गुजराती गीति-काव्यों का रूप देता था। वह अपने दरजे के लड़कों में बहुत तेज़ था और बहुत से बुद्धू तथा पिछड़े रहनेवाले बालक उसकी ओर आकृष्ट होते थे; और पोस्टवाला जो कविताएँ आदि लिखता था, उसे वे सब बालक बहुत चाव से पढ़ते और सुनते थे। जिस समय यह बालक बम्बई के न्यू इंग्लिश स्कूल में भरती हुआ था, उस समय उसका अल्ल पोस्टवाला ही था; और सब लड़के उससे इसी नाम से परिचित थे। परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद उसका वंशगत नाम एक ऐसे नये नाम में परिवर्तित हो गया, जिसे उसने विशेष चमकाया। यह नया वंशगत नाम था खबरदार। और इस समय हम उसी अरदेशिर फ्रामजी खबरदार के सम्बन्ध की कुछ बातें यहाँ दे रहे हैं।

इस बालक के दादा (इसके पिता का युवावस्था में केवल छब्बीस वर्षों की अवस्था में ही देहान्त हो गया था) बहुत अच्छे जानकार आदमी थे और उन्हें आदमियों की बहुत अच्छी पहचान थी। इसी लिए उनके बहुत-से मित्र कुछ तो मज़ाक में और बहुत कुछ आदर के

भाव से उन्हें 'खबरदार' कहा करते थे। और कहा जाता है कि यह खबरदार शब्द श्लिष्ट था। इसका पहला और साधारण अर्थ तो है—अन्तर्दृष्टि तथा उत्तम आचरण रखनेवाला होशियार आदमी; और दूसरा अर्थ गुजराती भाषा के अनुसार होता है समाचारों का द्वार। जो हो, बालक अरदेशिर बहुत ही होशियार था और अपने मित्रों के साथ बात-चीत करने में भी और काम-धन्धे करने में भी वह बहुत ही चतुर तथा दक्ष था। और इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि वह एक ऐसा द्वार था, जिसके द्वारा उसकी कविताएँ आदि पढ़नेवाले बहुत-से लोगों के मन तथा मनोभावों में परमात्मा की सूचनाएँ पहुँचा करती थीं।

अरदेशिर का जन्म ६ नवम्बर, सन् १८८१ को दमण नामक स्थान में हुआ था। उस दिन हिन्दुओं के चान्द्र मास के अनुसार कार्त्तिक मास की पूर्णिमा थी। लोगों को उसकी योग्यता का पता बहुत ही जल्दी चलने लग गया था। सन् १८९७-९८ में उसने 'मभा' नामक मासिक पत्र में एक सौ दोहरे प्रकाशित करने के लिए भेजे थे। उस पत्र के दो सम्पादकों में एक श्री दादी तारापुरवाला भी थे, जिन्होंने उसी समय यह समझ लिया था कि गुजराती साहित्य के आकाश में एक नवीन नक्षत्र का उदय हो रहा है।

अपने साहित्यिक भावों को व्यक्त करने के लिए श्री अरदेशिर बिलकुल सहज और स्वाभाविक भाव से गुजराती भाषा के प्राचीन काव्यों की भाषा की ओर प्रवृत्त हुए। जिस पारसी समाज में उन्होंने जन्म लिया था, उसमें गुजराती बोली का प्रायः बहुत ही विकृत रूप लिखा और पढ़ा जाता था। परन्तु अपने समाज की बोली के उस रूप की उन्होंने उपेक्षा की और गुजराती के विशुद्ध तथा प्राचीन काव्यों में मिलनेवाले रूप में अपनी कविताएँ लिखना आरम्भ किया। विशुद्ध गुजराती साहित्य की दृष्टि से उनका यह निर्वाचन बहुत ही सौभाग्य का सूचक था। क्योंकि गुजराती साहित्य को उन्होंने बहुत-से नये छन्दों से सम्पन्न कर दिया था। परन्तु दुःख है कि उनके अनेक सह-धर्मियों ने उनके इस उत्तम कार्य की कुछ कठोर आलोचना की है। इसका कारण केवल यही नहीं है, कि उनमें से अधिकांश लोग श्री खबरदार की लिखी हुई भाषा समझ नहीं सकते; बल्कि यह भी है, कि भाषा के रूप के साथ साथ उनकी विचार-धारा भी पारसी होने की अपेक्षा बहुत कुछ हिन्दू ही है।

जिस समय इन नवयुवक कवि का 'काव्य-रसिक' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, उस समय उनकी अवस्था केवल उन्नीस वर्ष की थी। ये किसी विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट तो नहीं हैं, परन्तु फिर भी उनके विचार तथा आचार आदि बहुत अधिक संस्कृत हैं। उन्होंने अँगरेज़ी साहित्य का बहुत अच्छा अध्ययन किया है और वे अनेक भाषाएँ जानते हैं। वे हिन्दी, संस्कृत, बँगला, मराठी, तमिल, फ्रान्सीसी, पुर्त्तगाली, स्पेनी और इटली की भाषाएँ अच्छी तरह समझते हैं। वे गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी और अँगरेज़ी में भी लिखते हैं। उनकी बहुत-सी कविताओं के अनुवाद हिन्दी में हो चुके हैं। उनमें से 'वीर बालक बादल' नाम की एक कविता जुलाई, १९३६ के 'हंस' में भी प्रकाशित हुई थी और उसके साथ कवि का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया था।

प्रायः बीस वर्षों से श्रीयुक्त खबरदार के लिखे हुए ग्रन्थ बम्बई विश्वविद्यालय में पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पढ़ाये जाते हैं। उनकी लिखी हुई 'दार्शनिक' नामक पुस्तक एम० ए० में पढ़ाई जाती है और 'कलिका' नाम की पुस्तक कम से कम एक जर्मन विश्व-विद्यालय के प्राच्य विभाग में पाठ्य-पुस्तकों में रखी गई है। उनकी कुछ पुस्तकों की आलोचनाएँ जर्मन सामयिक [५१०

पत्रों में भी प्रकाशित हुई हैं। सन् १९०३ से अब तक गुजराती कविताओं के जितने संग्रह तथा संकलन आदि प्रकाशित हुए हैं, उन सभी में उनकी देश-हित सम्बन्धी कविताएँ तथा गीति-काव्य सम्मिलित किये गये हैं।

सुप्रसिद्ध पारसी सुधारक तथा कवि श्रीयुक्त बहरामजी एम० मलाबारी की एक जीवनी भी श्री खबरदार ने लिखी है, जिसमें उनके काव्यों का आलोचनात्मक गुण-कीर्त्तन भी किया गया है। उनकी और एक पुस्तक 'रस-चन्द्रिका' नाम की है, जिसमें विशेषतः स्त्रियों के गाने योग्य गीत हैं। स्त्रियाँ वे गीत बहुत पसन्द करती हैं, क्योंकि उनसे इस बात का पता चलता है कि स्त्रियों के हृदय के गम्भीरतम प्रदेश में उत्पन्न होनेवाले भावों और विचारों तक श्री खबरदार की अन्तर्दृष्टि कितनी उत्तमता से पहुँची है। इसके सिवा देश-भक्ति के भावों से पूर्ण उनकी एक और पुस्तक है जिसका नाम 'भारत नो टंकार' (भारत की पुकार) है। अब तक उन्होंने देश-हित सम्बन्धी जो और अनेक कविताएँ लिखी हैं और जो अलग-अलग प्रकाशित हुई हैं, उन सब का एक संग्रह वे 'राष्ट्रिक' नाम से भी प्रकाशित करना चाहते हैं। उनकी 'गुणवन्ती गुजरात' नाम की एक कविता तो मानो राष्ट्रीय गीत के रूप में ही सारे गुजरात में गाई जाती है। इसके अतिरिक्त वे ऐसे पहले गुजराती कवि हैं, जिन्होंने गुजराती भाषा में कुछ बहुत ही सुन्दर तथा भावपूर्ण व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखी हैं, जिनमें से कुछ तो १५०० छन्दों तक की हैं।

श्री खबरदार का लोगों ने अनेक प्रकार से सम्मान भी किया है। सन् १९२४ में भावनगर राज्य में गुजराती साहित्य-परिषद् का जो अधिवेशन हुआ था, उसके साहित्य-विभाग के वे सभापति चुने गये थे; और मार्च सन् १९३७ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के साथ-साथ मदरास में जो बहुत बड़ा कवि-सम्मेलन हुआ था, उसकी स्वागत-कारिणी-समिति के आप अध्यक्ष थे। कोई तीन वर्ष पूर्व बड़ौदा के महाराज श्रीमान् गायकवाड महोदय ने श्री खबरदार को अपने यहाँ कुछ व्याख्यान देने के लिए भी निमन्त्रित किया था; परन्तु यह निमन्त्रण वे स्वीकृत नहीं कर सके थे। इस वर्ष अर्थात् सन् १९३९ में आप बम्बई-विश्वविद्यालय में पाँच वरसनजी माधवजी व्याख्यान देनेवाले हैं, और इस व्याख्यान-माला का विषय होगा—गुजराती काव्य की धारा।

अँगरेजी में गीति-काव्यों और गीतों की जो पुस्तक श्री खबरदार ने लिखी थी, वह पहले सन् १९१८ में मदरास में प्रकाशित हुई थी और तब उसका दूसरा संकरण सन् १९२८ में लन्दन की फाउलर राइट नामक लिमिटेड कम्पनी ने प्रकाशित किया था। उसका नाम था The silken tassel डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस पुस्तक की बहुत अधिक प्रशंसा करते हुए लिखा था—

'आपकी कविताओं की अँगरेज़ी पुस्तक पढ़ने के उपरान्त मेरे मन में आपकी देशी भाषा में लिखी हुई कविताओं के द्वारा आपको और भी अच्छी तरह जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। मैं इस बात का अनुभव करता हूँ कि आप में ऐसी ईश्वर-दत्त कवित्व शक्ति है, जो अवश्य ही स्वभावतः आपकी मातृ-भाषा में अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता और शोभा के साथ अपना स्वरूप व्यक्त करती होगी; और यदि आपकी पुस्तकों ने गुजराती साहित्य में एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है, तो इससे मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता।'

अधिकांश प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों का जितना अधिक गुण-कीर्त्तन उनके जीवन-काल में होता है, उसकी अपेक्षा यद्यपि श्री खबरदार को अपने सम-कालीनों से बहुत अधिक

सम्मान तथा प्रशंसा प्राप्त हो चुकी है, परन्तु उन सम्मानों में सबसे अधिक सम्मान आपको स्वभावतः उस समय प्राप्त हुआ था, जब कि सन् १९३१ में आपकी स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई थी। इस अवसर पर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ आपको भेंट किया गया था, जिसमें गुजराती के सभी प्रमुख लेखकों ने आपकी यथेष्ट प्रशंसा की थी। इसके अतिरिक्त आपके कार्यों के सम्बन्ध में उसमें अनेक लेख थे, जिनमें से कुछ तो सामान्यतः उनकी सभी कृतियों के सम्बन्ध में थे और कुछ उनकी भिन्न-भिन्न पुस्तकों के सम्बन्ध में थे और उनकी कविताओं से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ चित्र भी अंकित किये गये थे। इस अभिनन्दन-ग्रन्थ की एक परम उत्कृष्ट मुद्रित प्रति तो स्वयं उन्हें भेंट की गई थी और उसका साधारण संस्करण सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित किया गया था; परन्तु वह साधारण संस्करण भी सभी दृष्टियों से बहुत अच्छे आकार-प्रकार का था। भिन्न-भिन्न साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हें और भी अनेक प्रकार के उपहार अर्पित किये थे, जिनमें कई बहुत सुन्दर और सजे हुए ऐसे ग्रन्थ भी थे, जिनमें गुजरात के बहुत-से उदीयमान कवियों तथा लेखकों ने इस अवसर के लिए उपयुक्त लेख तथा काव्य आदि प्रस्तुत करके स्वयं अपने हाथ से लिखे थे। स्वयं उनके पारसी समाज ने कभी स्वतन्त्र रूप से उनकी जयन्ती मनाई थी, जिसमें उन्हें एक अभिनन्दन-पत्र अर्पित करके उनके गुणों का वर्णन किया गया था और उन्हें दूसरे बहुत-से उपहार दिये गये थे।

बम्बई में इनकी स्वर्ण-जयन्ती का उत्सव लगातार पन्द्रह दिनों तक होता रहा था। और उस अवसर पर श्री खबरदार की कविताओं का आदर करनेवालों की बहुत जबरदस्त भीड़ हुई थी। कराची में यह उत्सव दो दिनों तक हुआ था और बम्बई प्रान्त तथा मदरास प्रान्त के अठारह नगरों में यह जयन्ती मनाई गई थी; और इसके सम्बन्ध में उत्सव हुए थे। दीवान बहादुर झवेरी ने बम्बई में होनेवाले स्वर्ण-जयन्ती सम्बन्धी उत्सव में सभापति का पद ग्रहण किया था; इन्हीं दीवान बहादुर के० एम० झवेरी ने अपनी Mile-stones in Gujrati Literature नामक पुस्तक के पहले संस्करण में श्री खबरदार की कृतियों की उस समय प्रशंसा की थी, जिस समय श्री खबरदार की अवस्था केवल पचीस वर्ष की थी और उस समय उनका उत्साह बढ़ाया था।

अपने कार्य से अवकाश ग्रहण करने और बम्बई में जाकर रहने से कुछ महीने पहले तक श्री खबरदार मदरास के एक प्रमुख व्यापारी थे, जहाँ वे बाइसिकिलों और मोटरों की थोक बिक्री का काम करते थे। वहाँ दिन भर तो वे अपना कारबार देखा करते थे और रात के समय जागकर कविताओं की रचना करते थे। प्रायः यह काम वे प्रभात तक किया करते थे। उनका जो समय अपने कार-बार में लगता था, उसके सम्बन्ध में वे यह भी नहीं समझते थे कि साहित्य-सेवा की दृष्टि से हमारा वह समय व्यर्थ नष्ट हुआ, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति की जो अन्तर्दृष्टि उनमें है, वह उन्हें प्रायः अपने व्यापारिक कार्यों में ही प्राप्त हुई थी।

यह जानने के लिए कि कवि का मन किस प्रकार कार्य करता है, अमेरिकावाले प्रायः अपने समय के सभी लेखकों और कवियों की हाथ की लिखी हुई कापियाँ संग्रह करते हैं। उन कापियों से वे यह पता लगाते हैं कि कवि ने किसी विषय में पहले क्या सोचा था और फिर नवीन विचार मन में उत्पन्न होने पर उसने उसमें किस प्रकार की काट-छाँट या परिवर्तन आदि किये थे। यदि इस दृष्टि से वे लोग श्री खबरदार के हाथ की लिखी कापियाँ संग्रहीत करें, तो

कदाचित् उनको कुछ भी सन्तोष न होगा; क्योंकि एकबार वे जो कुछ लिख देते हैं, उसमें फिर वे कभी विन्दु-विसर्ग का भी परिवर्तन नहीं करते। ज्योंही उनकी पहली वार लिखी हुई कापी पर से स्याही सूखती है, त्योंही वह कापी प्रेस में छपने के लिए भेजी जाने के योग्य हो जाती है।

इधर बहुत वर्षों से श्री खबरदार एक ऐसे स्नायु-रोग से पीड़ित हैं, जिसके मूल कारण और स्वरूप आदि का कुछ भी पता नहीं चलता। और उनकी जो सबसे अधिक उत्तम कृतियाँ हैं उनमें से कुछ ऐसे समय में लिखी गई हैं जब कि वे दर्द से बेचैन रहते थे। और फिर एक बात यह भी है कि वे बिलकुल बहरे हैं। उनका जीवन इस बात का एक बहुत अच्छा प्रमाण है कि विघ्न-बाधाओं पर किस प्रकार वीरतापूर्वक विजय प्राप्त की जा सकती है।

दादर की एक शान्त गली में उनका बहुत अच्छा बँगला है। दादर बम्बई का एक उपनगर है। वह मानो गुजराती कवियों और लेखकों का मक्का या पवित्र तीर्थ है। वहीं वे आराम से चुपचाप अपना जीवन व्यतीत करते हैं। नित्य पाँच-सात गुजराती लेखक और कवि उनके पास बात-चीत करने और उनसे परामर्श लेने के लिए आते हैं। बहुत से नव-युवक कवियों की रचनाओं के लिए उन्होंने भूमिकाएँ और परिचय आदि लिखे हैं। यहाँ तक कि कुछ कवियों की कविताओं का उन्होंने सम्पादन और संशोधन भी किया है। वे सदा सभी लोगों को कुछ न कुछ सहायता देने का प्रयत्न करते रहते हैं। एक कहावत है कि—'यदि आप कुछ भी न कर सकते हों, तो भी सेवा करने के बहुत-से मार्ग हैं।' श्री खबरदार को इस प्रकार सेवा का एक और मार्ग भी मिल गया है; और संसार भर के लेखकों और कवियों आदि का जो पी० ई० एन० नामक संघटन है, उसके भारतीय केन्द्र में वे सम्मिलित हो गये हैं। सन् १९३६ से वे उसके सदस्य हैं। यह संस्था राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता स्थापित करना चाहती है, और संसार भर के प्रमुख लेखकों आदि में सार्वभौमिक मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करती है। इसके सदस्य होकर श्री खबरदार ने इसका जो नैतिक समर्थन किया है, उसके अतिरिक्त इस संस्था द्वारा प्रकाशित होनेवाले The Indian P. E. N. नामक सामयिक पत्र में भी वे प्रायः अपनी कविताएँ भेजा करते हैं।

साहित्यिक जगत के लिए यह एक बहुत अच्छा समाचार है, कि श्री खबरदार ने अब तक जो कुछ लिखा है, उसका मुश्किल से आधा ही अभी तक प्रकाशित हो सका है। यद्यपि अब तक उन्होंने सब मिलाकर अपनी रचनाएँ तेरह खण्डों या ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित की हैं और उनमें से प्रत्येक में तीन हज़ार से लेकर छः हज़ार तक पंक्तियाँ हैं, परन्तु फिर भी अभी उनकी इतनी ही या कदाचित् इससे भी कुछ अधिक कृतियाँ प्रकाशित होने को हैं। इधर सात वर्षों में उन्होंने अपनी कोई रचना प्रकाशित नहीं की है; परन्तु फिर भी उनके पास कई ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए तैयार हैं और वे आगामी दो वर्षों के अन्दर उनमें से ग्यारह-बारह ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं। उनके पास अँगरेज़ी के दो ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत हैं जिनमें से एक का नाम है Leaf and Flower जो फुटकर कविताओं का संग्रह है। और दूसरी पुस्तक का नाम है The rest-house of the Spirit, जिसमें दो बड़े गीति-काव्य हैं। इसके सिवा जो और ग्यारह या बारह ग्रन्थ उनके पास तैयार हैं, उनमें से दो को छोड़कर बाकी सब काव्य ही हैं। गद्य के जो दो ग्रन्थ हैं, उनमें से एक में काव्य की आलोचना है और दूसरे में साहित्यिक विषयों पर दिये हुए उनके व्याख्यानों का संग्रह है।

इसके सिवा उनका 'मनुरज' नामक एक और ग्रन्थ है जिस पर आज-कल वे बहुत अधिक परिश्रम कर रहे हैं और जिसे वे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति समझते हैं। यह पाँच अंकों का एक काव्यमय नाटक है जो बहुत कुछ गेटे के 'फास्ट' नामक ग्रन्थ के ढंग पर तैयार किया गया है। 'फास्ट' से इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें ईसाई दर्शन के बदले प्राच्य दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें आई हैं और इसका मुख्य आधार जरतुश्ती धर्म, हिन्दू धर्म तथा पूर्वीय देशों के दूसरे धर्म हैं। 'मनुरज' गुजराती में पहला काव्यमय नाटक होगा। यह अमित्राक्षर छन्दों में लिखा गया है, बिलकुल नये ढंग की चीज़ है और एक अनुपम कृति है। इधर तीन-चार महीने तक बराबर बीमार रहने और उठ-बैठ न सकने की अवस्था में ही उन्होंने अब तक इसकी ६५०० पंक्तियाँ लिखी हैं। अभी इसे समाप्त करने के लिए और ३००० पंक्तियाँ लिखी जायँगी। वे कहते हैं कि—'मेरी एक मात्र इच्छा यही है कि कोई घटना घटित होने से पहले मैं अपना यह अन्तिम कार्य पूरा कर डालूँ।' उनका यह भी कहना है कि मुझे ईश्वर की ओर से प्रत्यक्ष रूप से कुछ ऐसी प्रेरणा हुई है, जो मैं इस नाटक में सम्मिलित कर रहा हूँ।

उनके सभी मित्रों की भी और भारतीय साहित्य के भी शुभचिन्तकों की यही कामना है कि वे 'मनुरज' को समाप्त करने के लिए जीवित रहें। परन्तु श्री खबरदार में काव्य की प्रेरणा इतनी अधिक है और साहित्य के प्रति उनमें इतनी अधिक भक्ति है, कि हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि अपना यह नाटक समाप्त करने के उपरान्त वे सदा के लिए अपनी कलम रख देंगे।

सम्पूर्णानन्द : एक बहुमुख व्यक्तित्व

[रामनाथ 'सुमन']

[श्री रामनाथ 'सुमन' का लिखा यह दूसरा शब्द-चित्र भी इस कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। सं०]

लम्बे बाल, चौड़ा माथा, उस पर एक बड़ी बिन्दी—जिसे पुरुषों के साथ टीका कहने का रिवाज है—, मस्ती भरी चाल और इन सबके बीच कुछ खोजती हुई आँखें, स्थूलता की ओर झुकने को लालायित शरीर—यह, कई विरोधी बातों के सम्मिश्रण से, सम्पूर्णानन्द हैं !

जीवन में जितने आदमियों को मैं जानता हूँ—और उनकी संख्या कुछ ऐसी कम भी नहीं है—उनमें कदाचित् सम्पूर्णानन्द सबसे अधिक जटिल व्यक्तित्व के उदाहरण हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए उनका जीवन एक पूरी की पूरी प्रयोगशाला है। उसमें दार्शनिक की खोज है; उसमें सन्देहवादी और संशयात्मा का प्रश्न-चिन्ह है; उसमें भक्त और सेवक का आत्म-निवेदन है; उसमें विद्रोही की हुंकार है और राजनीतिज्ञ का समझौता है। एक स्काच (स्काटलैण्डवासी) की तरह वह अनेक एवं बहुरूपी व्यक्तित्वों के व्यक्ति हैं।

इसका यह मतलब नहीं कि उनमें कोई प्रधान धारा अथवा जीवन की प्रवृत्तियों पर शासन करनेवाला कोई उपकरण नहीं। न ये बातें उनका किंचित उपहास करती हैं। नहीं, ये उनके जीवन को महत्व और गति देनेवाले आवश्यक उपादान हैं। और इन उपादानों का वह अत्यन्त जीवनदायी रूप में उपयोग करते हैं।

आकृति-विज्ञान और ज्योतिष के विद्यार्थी के मन में पहली धारणा जो उनको देखते ही आती है, यह है कि शनि इस व्यक्ति का शासक ग्रह है। उनके जीवन का अध्ययन सिर्फ़ इस पहली धारणा को पुष्ट करता है। उनका समग्र जीवन शनि-शासित व्यक्तित्व का एक श्रेष्ठ और विकसित उदाहरण है। इसके कारण ही उनमें उस वातावरण के प्रति, जिसमें वह साँस ले रहे हों, भयंकर विद्रोह एवं खीझ का भाव है। इसके कारण ही उनमें किसी काम में सम्पूर्ण लगन, शक्ति और ज़ोर के साथ जुट जाने और किसी समय उससे सम्पूर्णतः अलग हो जाने की प्रवृत्ति है। इसके कारण ही उनमें दार्शनिक की सतत अपने को और अपनी स्थिति तथा उस पर प्रभाव डालनेवाली प्रवृत्तियों को टटोलते रहने का स्वर है। उनकी आँखों में कौतुक और मन में अनेक प्रश्न हैं। इसके कारण ही वह किसी से दबकर, सदा किसी के अनुशासन में, रहनेवाले

आदमी नहीं हैं। इसके कारण ही बहुत ईमानदार होते हुए भी उनके सम्बन्ध में ग़लतफ़हमी की आशंका अधिक है। इसके कारण ही बाहरी टीम-टाम और प्रदर्शन में उनकी विशेष रुचि नहीं। और किसी चीज़ में केन्द्रित हो जाने पर विरोधी को पटकान देने या इससे भी ज़्यादा सही यह कहना होगा कि अपनी बात, अपने पक्ष को निभा ले जाने या विजय के लिए अपने को ख़तरे और ग़लतफ़हमी में डालने की प्रवृत्ति, यह भी इसी की वजह से है।

दूसरी बात, जो सम्पूर्णानन्द से मिलने पर हमारा ध्यान खींचती है, उनकी वाणी है। इसमें अबाध गति है—शब्द मानो पहले निकलने के लिए एक दूसरे से होड़ कर रहे हों। यह ठीक है कि इसके शारीरिक कारण भी होंगे और यह मुख की बनावट में किसी अन्तःदोष के कारण भी हो सकता है पर इसका मुख्य कारण उनके बड़े दिमाग़ (सेरिब्रम) में अभिव्यक्ति की आत्यन्तिकता है। यह जीवन में ऐसी गति का द्योतक है जिसमें गति के कारण ही रुकावट पैदा हो जाती है। यह इस बात का भी द्योतक है कि बोलनेवाले के जीवन में अपनी-अपनी ठीक-ठीक और परिपूर्ण अभिव्यक्ति न करने तथा वर्तमान वातावरण में सन्तोष न पा सकने के कारण खीझ है। यह इस बात का भी द्योतक है कि जिस गति से यह अपनी अभिव्यक्ति करना चाहते हैं, जिस गति या तेज़ी के साथ यह अपने इर्द-गिर्द के वर्तमान वातावरण को बदलना चाहते हैं वह अव्यावहारिक और शारीरिक दृष्टि से असम्भव है।

पर मैं कह चुका हूँ कि इनके जीवन का देवता शनि है। संभव और असंभव को देखना शनि का स्वभाव नहीं। वह दूसरों की सम्मतियों, विचारों को क्षण भर के लिए मान भले ही ले पर मौक़ा आते ही वह उनके प्रति विद्रोह करेगा। लोग क्या कहेंगे, यह सोचना शनि के स्वभाव में नहीं है। उसकी प्रकृति साहसिकता से भरी हुई है। वह जिसे ठीक समझता है, करता है। वह केवल अपने और अपने मानसिक गठन के प्रति ज़िम्मेदार और ईमानदार है। ज़रूरत पड़ने पर सबको इन्कार करना और अकेले खड़े होना इसकी एक मुख्य प्रवृत्ति है।

× × ×

सम्पूर्णानन्द ने अपने जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य और शिक्षण-कार्य के साथ शुरू की। ये दोनो बातें ध्यान देने लायक हैं। ये दोनो कार्य आत्माभिव्यक्ति के अत्यन्त विकसित यन्त्र हैं। पर ये दोनो स्वतः ऐसे व्यक्ति का लक्ष्य नहीं हो सकते। व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ इन दोनो कार्यों की सीमा बढ़ती गई। यहाँ तक कि उनका रूप, उनकी आकृति नेत्रों से ओझल हो गई। साहित्य फैलकर जीवन में समा गया और शिक्षण की परिधि इतनी फैली कि उसका अपना एक निश्चित रूप ही नहीं रहा—वह अरूप हो गया। बहुत से लोग, जो व्यक्तित्व के स्रोत की गहराई में डूब नहीं सकते और जो ऊपर-ऊपर से वस्तुओं और व्यक्तियों को देखने के आदी हैं, समझते हैं कि साहित्यकार से सम्पूर्णानन्द राजनीतिज्ञ (Politician) बन गये—यह कुछ अच्छा नहीं हुआ। 'विशाल भारत' के आरम्भिक दिनों में पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने तो इस पर काफ़ी लिखा था। उनके मत से भी साहित्यकार का इस प्रकार राजनीतिज्ञ के रूप में परिवर्तन कुछ अच्छा नहीं हुआ। अच्छा हुआ या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता क्योंकि यह तो अपनी-अपनी आंशिक दृष्टियों को महत्त्व देने का सवाल है, अपनी-अपनी राय है; पर मैं तो कहना यह चाहता हूँ कि 'यह' से सम्पूर्णानन्द 'वह' हो गये, यह झूठी बात है। सम्पूर्णानन्द ने न साहित्य छोड़ा, न राजनीति को ग्रहण किया। यहाँ त्याग और ग्रहण की कोई बात नहीं

हुई। क्योंकि सम्पूर्णानन्द आरम्भ से जिस व्यक्तित्व के निर्माणक्रम को लेकर चले उसके लिए साहित्य और राजनीति स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाले क्षेत्र नहीं, एक ही साधन के दो पक्ष हैं। साहित्य सम्पूर्णानन्द के लिए कभी आत्म-साक्षात्कार या आत्मोपासना के रूप में नहीं आया, न राजनीति उनके लिए एक 'प्रोफेशन'—एक धन्धा—के रूप में आई है। ये दोनो अभिव्यक्ति के साधन के रूप में ग्रहण किये गये और अपने उपयोग के अनुसार आज तक उसी रूप में वर्तमान हैं।

हमारे साहित्य ने सम्पूर्णानन्द को विज्ञान के लेखक के रूप में देखा है; उसने देशी राज्यों के प्रश्न पर प्रकाश डालनेवाले प्रथम लेखक के रूप में उन्हें पाया है; हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र पर लिखनेवाले वही एक लेखक हैं। उन्होंने 'अन्तर्राष्ट्रीय शास्त्र', 'समाजवाद' इत्यादि अनेक प्रथम श्रेणी के गंभीर ग्रन्थ हिंदी को दिये हैं। उन्होंने 'मर्यादा'-सी श्रेष्ठ राजनीतिक पत्रिका का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है। मुझे उन दिनों का स्मरण है जब देशी राज्यों में शिक्षण का कार्य करते हुए 'अखिल' के नाम से अनेक राजनीतिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं पर वह लेखों के रूप में अपने विचार प्रकट किया करते थे। असहयोग-काल में जब वह नौकरी से अलग होकर, परदे के बाहर आ गये तब बहुत जल्द उन्होंने अपने लेखों एवं कृतियों से साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। पर साहित्य में वह विचारक और चिन्तक के रूप में ही आये। और आज सक उनका वही रूप बना है। साहित्य और राजनीति दोनो में वह विद्रोह का स्वर लेकर ही प्रविष्ट हुए।

असहयोग आन्दोलन भारतीय राष्ट्र की आत्मा का प्रथम शक्तिमान गर्जन था। इसलिए इसने बहुत से ऐसे लोगों को भी आकृष्ट किया जो इसके आधारभूत सिद्धान्तों के कारण इसमें शामिल नहीं हुए वरन् इसलिए शामिल हुए कि उनकी आत्माएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रही थीं। उनको कोई ठीक उपाय नहीं सूझ रहा था। इसलिए वे सहज ही इसमें कूद पड़े थे। पर ज्योंही तूफान निकल गया और ज्वार शान्त हुआ, असफलता की खीझ से उनका मन भर गया। उन्होंने आन्दोलन की 'स्ट्रेटेजी' की आलोचना की और जनता में क्रान्तिकारी मनोवृत्ति पैदा करने में लग गये। सम्पूर्णानन्द इन्हीं में से एक थे।

पर वह उनसे भिन्न भी थे। अहिंसा को 'नीति' मानने के पक्ष में वह भले रहे हों पर उसे धर्म माननेवालों में वह कभी न रहे। इस धारणा में भी बंगाल स्कूल के क्रान्तिकारियों से उनका मत कभी न मिला। वह कभी आतंकवाद के पक्ष में नहीं रहे। हाँ, खुली बग़ावत के वह अवश्य पक्षपाती थे। बंगाली नेताओं की भावुकता, और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ उनको अवश्य आकर्षित करती थीं। संस्कारों के कारण ही हर तरह की स्ट्रेटेजी से शत्रु को परास्त करने में उनका सदा से विश्वास रहा है। इसीलिए वह स्वराज्यदल में सम्मिलित हुए। और मुझे विश्वास है कि पदग्रहण के विरोधी होकर भी उनके पदग्रहण करने का यही कारण है।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण हम उनके संस्कारों तथा उन स्थितियों में ढूँढ़ सकते हैं जिनके बीच से वह गुजरे हैं। पहली बात याद रखने की यह है कि अपनी आध्यात्मिक विचार-पद्धति, अपने संस्कार दोनों से सम्पूर्णानन्द शाक्त हैं। पूर्ण वैष्णव गांधी तथा उनकी वैष्णव विचार-धारा से स्वभावतः उनकी विचार-धारा टकराती है। मध्यकालिक सन्त का साहित्य नहीं वरन् परम रहस्यमय 'दुर्गासप्तशती' उनका उपास्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जीवन का जो तत्वज्ञान और विरोधी शत्रु के मर्दन की जो युद्धनीति है वही उनका तत्वज्ञान और उनकी नीति है। मा और दुर्गा की इस

उपासना के कारण बंगाली देशभक्तों के विचार-प्रवाह के प्रति उनकी अन्तःसहानुभूति स्वभावतः रही होगी, इसे हम उनके जीवन के स्रोत का अध्ययन करते हुए बिना किसी भय के कह सकते हैं।

इस मनोरचना के साथ उनके जीवन का प्रथम चरण लेखक और शिक्षक के रूप में गुज़रा। उनके चतुर्दिक देशी राज्य की एक विचित्र-सी स्थिति थी। जिसमें उस काल के देशभक्त को मध्यकालिक देशभक्ति तथा मध्यकालिक बर्बरता का एक अद्भुत मिश्रण मिलता था। राणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविन्दसिंह, वीरबन्दा इत्यादि के जीवन उनको आकर्षित करते थे। देशी राज्यों में प्रचलित इस तरह के मिश्र संस्कारों से सम्पूर्णानन्द कुछ कम प्रभावित नहीं हुए। अपने शाक्त संस्कारों के कारण उन्होंने इस वातावरण से, सहज ही, अनुकूल भाव एवं विचार ग्रहण कर लिये। उन्होंने छात्रसाल की जीवनी भी लिखी है। इस तरह उनके स्वभाविक संस्कार गांधीवाद के अनुकूल न थे। इस पर जब हम इस बात का ख्याल रखें कि उनके जीवन का शासकग्रह शनि है तब हम सहज ही उनके जीवन की कुंजी प्राप्त कर सकते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि भारतीय राजनीति में तत्काल लोकप्रिय तथा शक्तिशाली दल के विरुद्ध वह क्यों निरन्तर विद्रोह करते रहते हैं।

जब असहयोग काल के प्रभाव से भारतीय राजनीति का वातावरण मुक्त नहीं हुआ था तब लिखे उनके एक लेख की याद हमें आ रही है। यह लेख 'प्रभा' में प्रकाशित हुआ था और इसका शीर्षक, यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो, 'हमारा नेता' था। इस लेख का जिक्र मैं इसलिए कर रहा हूँ कि यद्यपि इस लेख में बहुत-सी सामान्य बातें थीं पर इसमें उनकी राजनीतिक विचार-धारा के पीछे जो शक्तिभाव हैं वे बड़ी प्रबलता के साथ व्यक्त हुए थे। इस लेख में स्पष्टतः असहयोग आन्दोलन की विचार-भूमिका के प्रति एक चुनौती और विद्रोह का स्वर था। जब देश-बन्धु दास ने और पंडित मोतीलाल ने 'आफ़िशियल' कांग्रेस के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया तब स्वभावतः सम्पूर्णानन्द उधर झुक गये। युक्तप्रांतीय कौंसिल में उन्होंने अपने सम्बन्ध में बहुत सम्मानपूर्ण भाव पैदा कर लिये थे। फिर सत्याग्रह का ज़माना आया और भारतीय राष्ट्र ने प्रबल हुंकार के साथ अपनी अन्तःशक्ति से वातावरण को कम्पित कर दिया। इस लड़ाई के काल में तो सभी विचार-श्रेणियों के लोग मिल गये पर जब रांची में सत्याग्रह स्थापित किया गया तब सम्पूर्णानन्द ने विद्रोह का रुख़ फिर अख्तियार किया। तब से बड़ी प्रबलता के साथ उन्होंने समाजवादी विचारों को देश के सामने रखा है। भारतीय समाजवादी दल के वह अध्यक्ष और प्रधान नायक रहे हैं।

परन्तु उनके संस्कारों को देखते हुए यह कहने में मुझे कोई हिचकिचाहट न होनी चाहिये कि शुद्ध मार्क्सिज्म में सम्पूर्णानन्द का कभी विश्वास नहीं हो सकता। उनके जीवन की नींव में जो आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ और विचार हैं उनको चाहकर भी वह छोड़ नहीं सकते। क्योंकि उनको छोड़ देने से सम्पूर्णानन्द के समस्त व्यक्तित्व का ही लोप हो जाता है। मैंने कभी उनको एक कट्टर समाजवादी के रूप में नहीं लिया। समाजवादी दल में उनका शामिल होना केवल उनकी विद्रोह की उस श्रृंखला को प्रकट करता है जिसका उल्लेख मैंने यहाँ किया है। यह भी उनके जीवन पर शनि और शाक्त विचारों के प्रभाव का परिणाम है पर इन्हीं कारणों से समाजवाद के प्रति उनका विद्रोही होना भी बिल्कुल संभव है। वह समाजवाद के भारतीय संस्करण को ही अपना सकते हैं। शुद्ध मार्क्सवाद कभी उनका उपास्य नहीं हो सकता।

तब यह कहा जा सकता है कि समाजवादी दल में उनका शामिल होना केवल उनकी

'स्ट्रेटेजी'—युद्धनीति—का सूचक है। और युक्तप्रांत के मंत्रिमंडल में उनका शामिल होना भी उनकी इसी युद्धनीति की एक स्थिति है। कुछ लोग पदग्रहण के कारण सम्पूर्णानन्द पर सिद्धांत-हीनता का आक्षेप करते हैं। यह ग़लतफ़हमी सम्पूर्णानन्द को न समझने के कारण है। यह उनके प्रति अन्याय है। जो सम्पूर्णानन्द को जानते हैं या जिन्होंने उनके जीवन का अध्ययन किया है वे सहज ही कह सकते हैं कि किसी स्वार्थ या तुच्छ भावना से वह इस प्रकार का काम नहीं कर सकते। इस बात के लिए उनकी प्रशंसा की जानी चाहिये कि वह सदा अपने प्रति ईमानदार रहे हैं। इसके लिए उन्होंने जीवन में बड़े कष्ट उठाये हैं और सदा उठाने को तैयार रहेंगे।

और उनके विरुद्ध जो कहा जाय, मैं पंतजी तथा युक्तप्रान्तीय सरकार को बधाई दूँगा कि उनको सम्पूर्णानन्द-जैसे कुशल तथा विचारवान शिक्षा-मन्त्री की सेवाएँ प्राप्त हुईं। उनके कार्य, उनकी लगन, उनके भाषण, सब युक्तप्रान्तीय मन्त्रिमण्डल की साख, शक्ति और गौरव को बढ़ाते हैं। यह कहने में मुझे संकोच नहीं कि इस समय कांग्रेस-शासित प्रान्तों में वह सर्वोत्तम शिक्षा-मन्त्री हैं। राजनीतिज्ञ, देशभक्त और क्रान्तिवादी होने के कारण उनकी नीति प्रगतिशील है; स्वयं शिक्षण-कार्य का अनुभव होने के कारण उसमें व्यावहारिकता का स्पर्श है; साहित्य और दर्शन के गम्भीर विद्यार्थी होने के कारण उनकी शिक्षण-नीति राजनीति की संकुचितता से रहित है। उसमें आदर्श, कल्पना, व्यवहारिकता का सुन्दर मिश्रण है।

तब सब मिलाकर मुझे यह कहना चाहिए कि सम्पूर्णानन्द एक बहुमुख व्यक्तित्व का उदाहरण हैं। मेरेडिथ ने एक बार कहा था—'Blood, brain, spirit' सम्पूर्णानन्द में भी इन तीनों बातों का समन्वय हमें मिलता हैं। इस बहुमुख व्यक्ति के मध्य में उनकी आध्यात्मिक विचार-धारा है। उनका जीवन, उनकी राजनीति, उनकी साहित्य-सेवा सब इससे शासित हैं। इसके कारण ही उनमें कष्ट-सहन की अद्भुत् शक्ति है। मुझे यह दिन याद है जब उनके बड़े लड़के सच्चिदानन्द की मृत्यु हुई थी। यह लड़का बड़ा होनहार था और सम्पूर्णानन्द उसको बहुत मानते थे। उन दिनों काशी म्युनिसपल-बोर्ड के वह सदस्य थे तथा उसके सम्बन्ध में और भी कई महत्वपूर्ण काम उनके पास थे। मैंने देखा कि वह बराबर अपना काम करते रहे। इस प्रकार का संयम कभी शुद्ध पदार्थवादी से सम्भव नहीं है। बहुत ही कम लोग जानते हैं कि सम्पूर्णानन्द एक अच्छे कवि हैं और काव्य के मर्म में प्रवेश करने की उनमें पर्याप्त शक्ति भी है। पर काव्य के इस स्रोत के मूल में भी शाक्त का माँ के प्रति चरम आत्मार्पण का भाव है। मुझे उनकी एक कविता की एक पंक्ति याद आती है:

हम सेवा करते जायेंगे तुम अंगीकार करो न करो।

इस कविता में आत्मार्पण और आत्मनिवेदन का जो स्वर और आग्रह है वही सम्पूर्णानन्द की आध्यात्मिकता का स्रोत है। इस सेवावृत्ति, तड़प में उनकी विद्रोह-वृत्ति को मिला देते हैं तो हमारे सामने सम्पूर्णानन्द के जीवन का परिपूर्ण छायाचित्र आ जाता है। एक बहुमुख व्यक्तित्व, जिसकी स्फूर्ति का स्रोत आध्यात्मिक है; जिसमें खून है; गर्मी है; बुद्धि है और स्पिरिट है।—राजनीति से इस व्यक्तित्व को खीझ और विद्रोह का स्वर प्राप्त हुआ है; दर्शन से उसे अन्तःशक्ति मिली है; साहित्य तथा शिक्षण से उसने संस्कारिता ग्रहण की है और इनके समन्वय ने उसे लक्ष्यवेध के लिए विकल तीर की तड़प और गति प्रदान की है।

दिल्ली।

पालीवालजी

[बनारसीदास चतुर्वेदी]

[पंडित श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जीवन-परिचय लिखने की कला में सिद्धहस्त हैं। आपने साहित्य के इस लगभग अछूते अंग की अच्छी सेवा की है। हमें हर्ष होगा यदि आप हमें कुछ और भी इतने ही गहरे और सच्चे परिचय दें। सं०]

कलकत्ते के ग्रेट ईस्टर्न होटल के एक शानदार कमरे में अमेरिका की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'एशिया' के सम्पादक मि० वाल्श से बातचीत हो रही थी। राजनैतिक विषयों के छिड़ने पर मि० वाल्श ने कहा—मैं साधारण जनता का दृष्टिकोण इन मामलों पर जानना चाहता हूँ। कल ही मैं उत्तर भारत की ओर जा रहा हूँ। क्या किसी ऐसे नेता का नाम आप बता सकते हैं, जो Masses के भावों को मुझे बता सके।

तुरन्त ही हमने कहा—आप पालीवालजी से मिलिये।

मि० वाल्श आगरे आये, और पालीवालजी के घर पर उनसे मिले और उनके विस्तृत राजनैतिक ज्ञान, अद्भुत क्रियात्मक बुद्धि और स्पष्ट विचारशैली से अत्यन्त प्रभावित हुए।

पालीवालजी के व्यक्तित्व के प्रभाव का मूल कारण उनकी वह प्रबल सहज बुद्धि है, जो प्रकृति से युद्ध करनेवाले श्रमिकों में पाई जाती है, और वह स्पष्ट विचारशैली है, जिस पर कोई भी सुलझे हुए दिमाग का तार्किक गर्व कर सकता है। राजनैतिक दाँवपेंच के जिस जंगल में वास्तविकता से कोसों दूर रहनेवाले शहरी नेता आसानी से उलझ जाते हैं, वहाँ पालीवालजी की ग्रामीण सहज बुद्धि उन्हें अपना मार्ग स्पष्ट बतला देती है।

पुराने ढंग के किसी कांग्रेसी नेता के और पालीवालजी के व्यक्तित्वों की तुलना करते हुए दोनों का अन्तर साफ मालूम हो जाता है, और नेतृत्व के क्रमविकास की तसवीर आँखों के सामने खिंच जाती है। उन दोनों का अध्ययन 'आरामकुर्सी' और 'कंटकाकीर्णपथ' का तुलनात्मक अध्ययन है।

भारत की साधारण जनता किसी ऐसे नेता को नहीं चाहती जो साहबी ढंग से ऊँची स्टाइल में रहनेवाला विचित्र जन्तु हो। वह केवल उन्हीं को स्वीकार कर सकती है, जो उनकी तरह रहते हों, उन्हीं जैसा खाते पीते हों, उन्हीं में से एक हों। वह 'लीडर' नहीं चाहती, बल्कि

(Comrade) चाहती है, और यह कामरेडशिप या बन्धुत्व पालीवालजी में पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। यदि उनके साथी दो तीन बार जेल जाते हैं, तो वे छै बार; और यदि उनके साथियों पर आर्थिक संकट पड़ता है तो वे भी रूखी रोटी पर गुजर कर उनकी भरपूर सहायता करते हैं। आज से कुछ वर्ष पहले जब इन पंक्तियों का लेखक हिन्दी के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित पत्रकार के सम्मुख पालीवालजी की कटु आलोचना कर रहा था, उन्होंने कहा—

'पालीवालजी को आप शुष्क हृदय समझते हैं। मैं आपको बतलाऊँ कि अपने साथियों तथा कार्यकर्त्ताओं के प्रति ऐसा सहृदयतायुक्त बर्ताव बहुत कम लोग करते होंगे। आर्थिक संकट के दिनों में मुझे उनसे कई सौ रुपए की मदद मिली थी, जिसका जिक्र भी उन्होंने किसी से नहीं किया।' पालीवालजी ने अपने सहयोगियों की जितनी आर्थिक सहायता की है, उतनी दानशीलता का दम भरनेवाले अनेक धनाढ्यों ने भी न की होगी।

इस बात से लोगों को आश्चर्य होगा, पर है यह बिलकुल ठीक कि पालीवालजी की कठोर प्रकृति के पीछे एक अत्यन्त कोमल प्रेमी-हृदय छिपा हुआ है। उनका बन्धुत्वपूर्ण हार्दिक आलिंगन क्या कभी भुलाया जा सकता है? पर देश की स्वाधीनता की बलिवेदी पर यह निर्मोही सैनिक प्रेम की कोमल से कोमल भावनाओं को भी बेखटके बलिदान कर सकता है। किसी देश विद्रोही के लिए पालीवालजी का आलिंगन वैसा ही विघातक हो सकता है, जैसा धृतराष्ट्र का भीम की मूर्ति के प्रति हुआ था, अथवा शिवाजी का अफ़ज़लखाँ के लिए।

पालीवालजी का घर किसी कुर्सीतोड़ स्वयम्भू-नेता का बँगला नहीं है, जहाँ जाते हुए हमारे जैसे पढ़े-लिखे आदमी को भी डर लगता हो, गँवार किसान की बात तो दूर रही। वह तो कार्यकर्त्ताओं का आश्रम स्थान है, और अवसरों पर भी, जब पालीवालजी के पास खाने को पैसा नहीं था, उन्हें आठ-आठ दस-दस कार्यकर्त्ताओं के भोजन का प्रबन्ध करते हुए हमने देखा है। पालीवालजी के लिए राजनीति आरामतलबी के साथ ब्लूबुक्स (सरकारी रिपोर्ट) का अध्ययन नहीं है और न उनकी क्रियाशीलता अंग्रेजी के Fine phrases (कोमलकान्त पदावली) के प्रयोग तक ही परिमित है।

पालीवालजी उन लोगों में से नहीं हैं, जो हाथ-पाँव बचाकर सूजी को टरकाने की नीति में विश्वास रखते हैं, उनकी नीति सदा सूजी की गर्दन पकड़ने की रही है, चाहे इस प्रयोग में अपने हाथ-पाँव तो क्या, जान भी सही सलामत न निकले।

भारतीय जनता अब कोरम-कोर विद्वत्ता से प्रभावित नहीं हो सकती। वह त्याग और तप की महिमा को भली भाँति समझ गई है, और पालीवालजी का जीवन एक तपस्वी सैनिक का जीवन रहा है।

पिछली बार जब पालीवालजी जेल से छूटकर आये, तो उनसे मिलने के लिए हम उनके घर पर गये। माईथान की एक गन्दी गली में उनका मकान मिला। पालीवालजी घर पर थे नहीं। उस वक्त हमें एक मज़ाक सूझा। एक दोहा लिखकर वहाँ रख आये—

'कहाँ आइकै हौ बसे गन्द गली के तीर,
जहाँ जाइबे में परै भक्तन पै अति भीर।'

जब दूसरी बार हम उनसे मिलने के लिए गये, तो पालीवालजी ने सारा मामला समझाया, जिससे हमें अपने व्यंग्य पर मन-ही-मन अत्यन्त लज्जित होना पड़ा। यदि पालीवालजी

चाहते, तो किसी प्रोफेसर की भाँति सात आठ सौ रुपये पाते होते और शहर की गन्दगी से दूर किसी बढ़िया कोठी में रहते और बैंक में हजारों रुपए होते और होती चढ़ने के लिए मोटर। पर तब पालीवालजी निर्जीव इतिहास पढ़ाते, और आजकल वे सजीव इतिहास का निर्माण कर रहे हैं।

पालीवालजी को अपनी निर्धनता पर उचित अभिमान है—उस निर्धनता पर, जिसे उन्होंने स्वयं ही निमन्त्रित किया है। इस दृष्टि से वे भृगुऋषि के असली वंशज हैं—उन भृगु के, जिन्होंने लक्ष्मीपति को लात मार दी थी।

जब दूसरे कितने ही नेता—केवल लिबरल दल के ही नहीं, कांग्रेस के भी—बड़े आदमियों की खुशामद करते फिरते हैं, पालीवालजी के अदम्य स्वाभिमान और गौरवमय अक्खड़पन को देख कर अत्यन्त हर्ष होता है।

लोग कहते हैं कि पालीवालजी कठोर भाषा का प्रयोग करते हैं, वे सहनशील नहीं हैं, वे कभी-कभी साहित्यिक शिष्टता का उल्लंघन कर जाते हैं। यह सुनकर हमें अमेरिका में गुलामी प्रथा के विरुद्ध घोर आन्दोलन करनेवाले गैरीसन की एक बात याद आ जाती है। जब गैरीसन से किसी ने कहा—'आप ज़रा माडरेट भाषा का प्रयोग किया कीजिये,' तो गैरीसन ने कहा—'जनाब, गुलामों की दुर्दशा देखकर मेरा दिल जल रहा है। आप आग से कहते हैं कि वह ठंडी हो जाय।'

पालीवालजी की मनोवृत्ति के विषय में भी वही बात कही जा सकती है। किसानों और मजदूरों पर होते हुए अत्याचार उन्होंने अपनी आँखों देखे हैं। नौकरशाही का नंगा नाच वे नित्यप्रति देखते हैं जब शायद दूसरे प्रकार के नेता साहबों और मेमों का 'बॉल नाच' देखते हों। पुलिस के जुल्मों के सैकड़ों दृष्टान्त उनके सामने गुजरे हैं। और देश की गुलामी के कारण उनकी अन्तरात्मा में वह अग्नि प्रज्वलित हो गई है, जो उन्हें कदापि शान्त नहीं रहने देती।

पालीवालजी की कठोरता एक सैनिक की कठोरता है, और जिस दिन उन्होंने 'साहित्य-रत्न' होते हुए साहित्य-क्षेत्र को तिलाञ्जलि देकर सैनिक-क्षेत्र में प्रवेश किया, उसी दिन उन्होंने माडरेटपन और कोमल भाषा को अन्तिम नमस्कार कर दिया।

जो महानुभाव पालीवालजी के उग्र स्वभाव से घबड़ाते हैं, उनसे हमें इतना ही कहना है कि हर एक आदमी की कुछ मानुषिक कमजोरियाँ हुआ करती हैं, और जिह्वा पर संयम न होना पालीवालजी की एक बड़ी भारी कमजोरी है। पालीवालजी सचमुच ही एक ऐतिहासिक महापुरुष होते, यदि वे खाने में भी और बोलने में भी जबान पर काबू रख सकते। पर पालीवालजी के इस मरखनेपन पर विजय प्राप्त करने के कुछ उपाय हैं। एक अनुभूत प्रयोग हम यहाँ लिखे देते हैं। जब पालीवालजी से राजनैतिक विषयों पर वाद-विवाद किया जाय, उस समय चार पैसे की गंडेरी मँगाकर रख ली जाँय। हमने ऐसा ही करके फिर पालीवालजी के सामने माननीय श्रीनिवास शास्त्री और पत्रकार-शिरोमणि सी० वाई० चिन्तामणि की दिल खोल-कर प्रशंसा की है। जिस समय अपने राजनैतिक विरोधियों के प्रति सहिष्णुता न होने के कारण पालीवालजी दाँत पीसते हैं उसी समय गंडेरी उनकी दाढ़ के नीचे दबकर जिह्वा की सरसता को बढ़ा कर उनकी कटुता को कम कर देती है। पर एक मुश्किल है कि गंडेरी हर मौसम में

मिलती नहीं। अभी उस दिन पालीवालजी दो महिलाओं से लड़ पड़े। तब हमने अपना आज़मूदा नुस्खा बतलाया। चूँकि गंडेरी का मौसम न था, इसलिए एक महिला के प्रस्ताव पर यह निश्चित हुआ कि गंडेरी की जगह 'कसेरू' ले सकते हैं।

पालीवालजी प्रगतिशील हैं। राजनैतिक क्षेत्र में अपने को उचित ट्रेनिंग देने का कोई अवसर वे नहीं छोड़ते। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी पालीवालजी के Political Sense (राजनैतिक सूझ) की अत्यन्त प्रशंसा करते थे, और उनकी सहज बुद्धि पर अटल विश्वास रखते थे। पालीवालजी की प्रगतिशीलता का एक दृष्टान्त सुन लीजिये। शहरों में रहते हुए और पत्रों में लेख लिखते हुए उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अपनी ग्रामीण भाषा का प्रयोग भूलते जाते हैं। उन्होंने शीघ्र ही अपनी इस त्रुटि को दूर करने का उपाय करना प्रारम्भ किया, और ग्रामवासी कार्यकर्ताओं के भाषण सुनकर उन्होंने अपनी इस कमी की पूर्ति कर ली। आज युक्तप्रान्त में शायद ही कोई ऐसा नेता निकले, जो ग्रामीण जनता को अपने हृद्गत भाव इतनी आसानी से समझा सके। जब गाँववाले किसी अँगरेज़ीदाँ नेता का भाषण सुनते हैं, तो कहते हैं—'कही तो वाने कछु जरूर, बाके ओठऊ हिल्ले, पर जि समझ में नईं आई कि का कहि गयौ।'

यदि इस देश में क्रान्ति का युग लाना है, तो वह न बामुहाविरे अँगरेज़ी से आवेगा और न लच्छेदार कोमल साहित्यिक भाषा से, उसके लिए तो पालीवालजी की ठेठ गँवारी भाषा सीखनी पड़ेगी। लेनिन की स्त्री ने अपने संस्मरणों में एक जगह लिखा है कि 'लेनिन ने बहुत प्रयत्न करके मजदूरों की भाषण शैली सीखी थी।'

लोग यह कहते हैं कि पालीवालजी ने यह त्याग किया है, वह त्याग किया है, पर वे उनके सबसे बड़े त्याग को भूल जाते हैं। पालीवालजी में अद्भुत लेखन शक्ति है, उनकी कलम में जादू है, आश्चर्यजनक परिश्रमशीलता है और वे यदि अपने को राजनैतिक झंझटों से अलग रखकर साहित्य निर्माण में लगाते, तो वे भारत के 'अप्टन सिनक्लेयर' बन जाते। अपने साहित्यिक भविष्य को राजनीतिक बलिवेदी पर क़ुर्बान कर देना, एक ऐसे आदमी के लिए, जो अपनी लेखनी के प्रभाव को जानता है, अत्यन्त कठिन है।

पालीवालजी के विषय में फ़ैसला देते हुए लोग एक बात भूल जाते हैं, वह यह कि वे क्रान्तिकारी हैं। चुंगी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, कौंसिल और असेम्बली में पदार्पण उनके जीवन का लक्ष्य न कभी था और न कभी होगा; ये सब अन्तिम लक्ष्य के साधन मात्र हैं। सरकार इस बात को अच्छी तरह जानती है, और उसने पालीवालजी, उनके 'सैनिक' तथा उनके साथियों को दमन करने में कभी रियायत नहीं की। स्वर्गीय गणेशजी के 'प्रताप' को छोड़कर स्वार्थत्याग तथा बलिदान का 'सैनिक' जैसा दृष्टान्त हिन्दी जगत में कोई दूसरा न होगा।

युक्त प्रान्तीय सरकार ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा था—

'सैनिक' निरन्तर साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करता रहा।' आज तो साम्यवाद की चर्चा पत्रों में काफ़ी चल रही है, पर आज से कितने ही वर्ष पहले पालीवालजी साम्यवाद का विधिवत अध्ययन और साम्यवादी विचारों का प्रचार भी कर रहे थे।

पालीवालजी के राजनैतिक विचारों की बड़ी भारी कमजोरी वही है, जो शासन या डिक्टेटरशिप में विश्वास रखनेवालों की होती है। ऐसे लोगों की समझ में यह बात कदापि नहीं आ सकती कि असली साम्यवाद तो अराजकवादी साम्यवाद है, और यदि किसी देवता को

भी डिक्टेटर बना दिया जाय, तो वह स्वभावतः दानव बन जाता है। देवराज इन्द्र तक की डिक्टेटरी के दुष्परिणाम जानते हुए भी लोग डिक्टेटरी में कैसे विश्वास कर लेते हैं, यह बात हमारी बुद्धि से तो परे है। एक अराजकवादी तो पालीवालजी की निर्दय डिक्टेटरी के अधीन रहने के बजाय उनकी जेल में रहना अधिक पसन्द करेगा।

पालीवालजी का राजनैतिक भविष्य क्या होगा? यह प्रश्न ज़रा कठिन है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि पालीवालजी उन आदमियों में से हैं, जिनके हाथ में या तो शासन की बागडोर होगी, या फिर उनकी गरदन में रस्सी का फंदा। और सच बात तो यह है कि पालीवालजी पहली चीज की अपेक्षा दूसरी को ही अधिक पसन्द करेंगे।

मैनपुरी-षडयन्त्र केस के पालीवालजी और लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्य श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० एल० ए० की मनोवृत्ति में ज़रा भी अन्तर न होगा। पालीवालजी क्रान्तिकारी हैं, और रहेंगे।

कलकत्ता।

पालीवालजी

[श्रीराम शर्मा]

[एक ही व्यक्ति पर दो शब्द-चित्र इस विचार से दिये जा रहे हैं कि यह अनुमान किया जा सके कि किस प्रकार से दो भिन्न पुरुष एक ही व्यक्ति को देखते हैं। श्री श्रीराम शर्मा ने भी शब्द-चित्र लिखने में सफलता पाई है और आपका यह शब्द-चित्र बहुत सफल हुआ है।—सं०]

१९२६ ई० में शिकोहाबाद के दरोगा शिवदयालसिंह सम्बन्धी 'प्रताप'-मानहानि केस की एक पेशी के उपरान्त मैनपुरी में हम लोगों की—अलमस्तों की—एक बैठक-सी थी। हँसी मज़ाक हो रहा था, दीवारें तक क़हक़हों से हिलती मालूम होती थीं। स्व० गणेशजी का अट्टहास, उनके व्यक्तित्व के समान, चुम्बक पत्थर की भाँति, सबको अपनी ओर खींच रहा था। हम लोगों की गपशप अभी समाप्त भी न हो पाई थी कि एक ग्रामीण व्यक्ति सिमटा सुकड़ा कमरे के वातावरण से शायद कुछ कातर आँखों से किसी को ढूँढ़ता-सा भीतर आया और विनम्र भाव से बोला 'विद्यार्थी जी के दर्शन करना चाहता हूँ।' मैं कुछ कहना ही चाहता था कि पालीवालजी हँसकर बोले—'हम में जो सबसे मोटा-ताज़ा आदमी हो, वही विद्यार्थीजी हैं।' मेरे संकेत से ग्रामीण इस व्यंग को समझ गया, और महान आत्माधारी, उन मुट्ठी भर हड्डियों वाले गणेशजी को उसने प्रणाम किया। गणेशजी ने कुछ हँसते हुए और पालीवालजी के मज़ाक का आनन्द लेते हुए आगन्तुक से पूछा—'और पालीवालजी के दर्शन नहीं करना चाहते?'

'हाँ, कर लूँगा।' उसने नैसर्गिक सरलता से उत्तर दिया।

'तो फिर हम लोगों में जो सबसे अधिक खूबसूरत हो, वही पालीवालजी हैं।' गणेशजी ने मुसकराकर कहा। सुनकर हम लोगों ने क़हक़हे लगाये।

पालीवालजी की सूरत—मुखाकृति—साधारण दशा में तनिक भी आकर्षक नहीं। प्रकृतिपरी ने क्रुद्ध होकर अथवा भारत माता के दुखों ने सजीव होकर उनके चेहरे को चेचक चिन्हों से बहोरकर—खोंटकर—ऐसा लीपा है कि मुखाकृति से पालीवालजी लीपावाल हो गये हैं। पर ऐसी बात भी नहीं है कि उनकी आकृति में आकर्षण न हो। आकर्षण है, और बड़ा विकट आकर्षण है। साधारण दशा में? नहीं, तनिक भी नहीं। उनकी आकृति में

आकर्षण तब होता है जब उनके हृदय और मन का ज्वालामुखी प्रज्वलित होकर किसी सिद्धान्त अथवा पक्ष की पुष्टि में लावा उगलता है। उस समय पालीवालजी की आकृति तमतमा उठती है। चेहरे के चेचक चिन्हों से चेहरे में लगे दो बाराह नेत्रों से क़हर ही नाज़िल होने लगता है। पालीवालजी को इन पंक्तियों का लेखक बाराहनेत्र-युक्त क्यों कहता है? समझिये। जंगल में किसी बड़े बाराह के शिकार में जाइये, और उसे नाराज़ या घायल कर दीजिये, फिर तमाशा देखिये। झाड़ी की बगल या झाड़ी के भीतर से या खुले स्थान में जहाँ बाराह ने आपकी ओर घूरकर देखा और जहाँ ज़रा उसकी पूँछ उठी, फिर रायफ़ल छोड़ कर संसार की कोई भी ताकत नहीं, जो उसके आक्रमण को रोक ले। सँभलते-सँभलते क्रोधित बाराह आपको दे मारेगा। धोकाधड़ी से हमला न करेगा, वरन् सिगनल देकर और खुले आम। पालीवालजी के क्रोध की चितवन बाराह चितवन है, और उनकी लगन कार्यपटुता, और उनकी सीरत की सैनिकवृत्ति उनकी सूरत पर हावी हो जाती है, इसलिए साहित्यिक, राजनैतिक और वैयक्तिक क्षेत्रों में पालीवालजी ने बहुतों को पछाड़ा है। यदि कोई स्वार्थ और ढोंग के पथ पर है और पालीवालजी से छेड़खानी करना चाहता है, तो बेहतर है कि वह छेड़खानी की सीमा का उल्लंघन न करे और उनकी बाराह-नेत्र-भृकुटी को देखता रहे, नहीं तो फिर भयंकर हमले की आशंका है।

सुनते हैं द्रोणाचार्य ने राजा द्रुपद के सम्मुख शास्त्र और शस्त्र रख चैलेंज किया था 'उभयोरोपि सामर्थ्यं शास्त्रादपि शरादपि'—चाहे शास्त्रार्थ कर लीजिये, चाहे शस्त्र से लड़ लीजिये। पालीवालजी भी शास्त्रार्थ और शस्त्रार्थ दोनों में निपुण हैं। वे लेखनी, लाठी और जिह्वा से लड़ने मरने को तैयार रहते हैं। वे उन आदमियों में से नहीं हैं, जो उँगली कटाकर शहीद होना चाहते हैं, और न वे 'सर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूँढ़ते हैं,' परन्तु वे उन रण-बाँकुरों में से हैं जो देश की खातिर, आवश्यकता पड़ने पर, अपनी बोटी-बोटी कटा सकते हैं, हँसते-हँसते सूली पर चढ़ सकते हैं, और यदि देश की ख़ातिर सूली पर चढ़ने की जरूरत न हो तो फिर वे उससे कोसों दूर रह सकते हैं, क्योंकि उनका शिष्टाचार उनकी राजनीति, उनके यम और नियम सब के सब एक शब्द में ज्वलंत देश-सेवा में निहित हैं। देश की स्वतन्त्रता के लिए उनमें वह अग्नि सुलग रही है कि उसकी प्राप्ति के लिए यदि उसकी प्राप्ति का उन्हें पूरा विश्वास हो जाय तो वे उसमें अपना ईमान तक होम कर सकते हैं। जो कुछ भी करने से देश स्वतन्त्र हो सके, वे वह सब कुछ करने को तैयार हैं। उनका देशप्रेम, देश को स्वतन्त्र करने की लालसा, सत्य और अहिंसा से भी बढ़ कर है। इसके मानी यह नहीं कि अहिंसा का व्रत लेते हुए वे हिंसा का हथियार छुपाये बैठे हुए हैं। वे डिसिप्लिन के क़ायल हैं, और आज यदि कांग्रेस हिंसा को साधन बनावे, तो पालीवालजी गांधी की गोपियों ❀ को छोड़कर सिर काटने और कटाने के लिए आगे बढ़ेंगे।

कुछ वर्ष पूर्व एक महाशय ने हमसे कहा, पालीवालजी जिस नौकरशाही के शत्रु हैं, उनके दोषों का वे स्वयं व्यवहार करते हैं, अर्थात् कटु वाक्यों का प्रयोग करते हैं और अपने

❀ 'गांधी की गोपियों'—लेखक के शब्द नहीं हैं, वरन् स्वर्गीय कविवर 'अकबर' के हैं—

मदख़ूलए गवर्मेन्ट 'अकबर' अगर न होता,
उसको भी आप पाते गांधी की गोपियों में।—ले०

अधीनस्थ लोगों पर कठोर शासन करते हैं। हम मानते हैं कि पालीवालजी का बड़ा दोष प्रत्येक अर्थ में उनकी जिह्वा रही है, पर पालीवालजी पर नौकरशाही वृत्ति और कठोरता का दोषारोपण करनेवाले व्यक्तियों ने पालीवालजी को समझा ही नहीं। पालीवालजी बादाम श्रेणी के व्यक्ति हैं, जो ऊपर से कठोर हैं; पर भीतर से कोमल और सच्चे सखा हैं। बात पर जान देनेवाले और आड़े समय में काम आनेवाले।

कठोरता और कटुता का कारण रहा है पालीवालजी की एक भूल और उनकी कार्य-शैली। काम करने में पालीवालजी दैत्य हैं। जिस काम को उठाते हैं, उस पर भूत की भाँति जुट पड़ते हैं, और अपने अधीनस्थ साथियों से भी अपनी ही गति से काम कराना चाहते हैं, जो सम्भव नहीं। फलस्वरूप उन्हें झुँझलाहट आ जाती है। झुँझलाहट का एक दूसरा कारण है, उनका मन्दाग्नि रोग— Dyspepsia।

मेल ट्रेन की गति से काम करनेवाले पालीवालजी को अब तक कोई बढ़िया लेफ्टीनेन्ट नहीं मिला, इस कारण उनकी यह मनोवृत्ति हो सकती है कि वे अपने लेफ्टीनेन्ट को अपने जैसा काम करनेवाला चाहते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवाले व्यक्ति पालीवालजी को एक राजनैतिक कार्यकर्ता, युक्तप्रान्त का नेता ही समझते होंगे, और युक्तप्रान्त के प्रथम चार प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ताओं में पालीवालजी का नाम है ही, और अपने उन्नति-पथ में उन्होंने युक्तप्रान्त के बहुत से नामी कार्यकर्ताओं को बीसों मील पीछे छोड़ दिया है। पर राजनैतिक कार्यकर्ता की अपेक्षा पालीवालजी एक विख्यात पत्रकार हैं। हिन्दी जगत में, स्व० गणेशजी के अभाव में दैनिक पत्रकार कला (Daily Journalism) के लिए पालीवालजी की टक्कर का शायद ही कोई दूसरा पत्रकार हो।

किसी प्रकार भारत आज एकदम स्वतन्त्र हो जाय और उसे राष्ट्र-भाषा में प्रकाशन विभाग स्थापित करना पड़े, तो हम उस विभाग को पालीवालजी के सिपुर्द कर देंगे। पालीवालजी उस विभाग को रशब्रुक, विलियम्स, कौटमैन और स्टेफिन्सन से अधिक अच्छी तरह चला ले जायँगे। युद्ध के प्रकाशन मन्त्री के पद का संचालन तो वे इन अंगरेज प्रभुओं से कहीं अच्छा करेंगे।

सन् १९२५ के कांग्रेस अधिवेशन के प्रकाशन-विभाग के इंचार्ज पालीवालजी थे। इन पंक्तियों के लेखक के लिए पालीवालजी के बिना उनसे पूछे, शायद स्व० गणेशजी के परामर्श से, दो काम चुन लिये थे। पहले तो प्रकाशन-विभाग में उनका हाथ बँटाना और बाद में एक भयंकर परिस्थिति देखकर श्रीमती सरोजिनी नायडू का ए० डी० सी०। कुछ लोग कांग्रेस पंडाल पर ज़बरदस्ती कब्ज़ा करके उत्पात मचाना चाहते थे, इसीलिए श्रीमती नायडू की रक्षा में लड़ने-भिड़ने के लिए इन पंक्तियों के लेखक को चुना गया। लड़ने-भिड़ने या किसी महिला की रक्षा में कुछ चोट सहने में तो कोई बात नहीं थी, पर कांग्रेस अधिवेशन में मंच पर सरोजिनी नायडू और महात्माजी के बराबर में बैठने में लज्जा लगती थी। इस और अन्य काम के लिए इनकार करने पर पालीवालजी बहुत बिगड़े, आग बबूला हो गये। वे चाहते हैं कि उनके मित्र भी उनकी भाँति देश पर दीवाने हो जायँ। अत्याचार और परिपीड़न के निवारण में पालीवालजी अपनी शक्ति लगानेवाले हैं उस जुआड़ी की भाँति, जो एक ही दाँव पर सब कुछ लगा बैठता है।

शायद सन् १९१६ की बात है। हम लोग कालेज के सेकेंड इयर में पढ़ते थे।

पालीवालजी के गाँव के समीप ग़रीब किसानों पर एक व्यक्ति ने अत्याचार किया, और पीड़ित किसानों के प्रति उसने अपने कुछ लठैत फौजदारी के लिए दिये। पालीवालजी से यह बात नहीं देखी गई। वे लाठी लेकर किसानों की ओर से लड़ पड़े। खूब लाठी चली, लेकिन किसानों की रक्षा हो गई। पालीवालजी के सिर में लट्ठ लगा और अस्पताल में खटिया तोड़नी पड़ी, पर उसकी क्या चिन्ता ? पालीवालजी की वही मनोवृत्ति—मज़लूमों के लिए कुर्बान होने की आदत अब भी वैसी ही बनी है। हाँ, वह परिष्कृत होकर युक्तप्रान्त के लिए एक नाज़ की चीज़ बन गई है। आगरे में जो कुछ सार्वजनिक जीवन है, उसका श्रेय पालीवालजी को ही है।

शेक्सपियर ने अपने एक ड्रामे में कहा है 'कुछ लोग जन्म से ही बड़े होते हैं, कुछ लोग बड़प्पन पैदा करते हैं और कुछ के ऊपर बड़प्पन मढ़ दिया जाता है। (Some are born great, some achieve greatness and some have greatness thrust upon them) पालीवालजी बड़प्पन के पथ पर मुँहज़ोर घोड़े की तरह बढ़ रहे हैं। उनके ऊपर बड़प्पन मढ़ा नहीं जा रहा है, वरन वे बड़प्पन पैदा कर रहे हैं। बड़प्पन के लिए वे प्रयत्न नहीं करते। उन्हें तो देश सेवा में एक-एक इंच लड़ना पड़ रहा है। बड़प्पन तो ऐसे व्यक्तियों के पीछे छाया की भाँति खुद ही नंगे पैरों भागता फिरता है। उनमें नेतृत्व के नैसर्गिक गुण विद्यमान हैं। नेता के कुछ गुण हैं, अदम्य उत्साह, कार्य-पटुता और अपने आदर्श पर घोर विरोध होते हुए भी डटे रहने की प्रवृत्ति। पालीवालजी में ये सब गुण काफी मात्रा में हैं, और यही कारण हैं कि लोग उनके क़ायल हैं। एसेम्बली के इस चुनाव में शिकोहाबाद पोलिंग स्टेशन के लिए पं० हृदयनाथ कुंजरू के कुछ आदमी कनवेसिंग करते हुए एक देहाती वोटर के पास पहुँचे, और कुंजरूजी के लिए वोट देने को कहा। वोटर ने उत्तर दिया 'हमारी हृदयनाथ तो पालीवाल ऐ। अब दूसरे के लएँ ठौर ना एँ।' कुंजरूजी के आदमी चुपचाप चले गये।

पालीवालजी के लिए ग्रामीण जनता में इतना आदर क्यों है ? इसलिए कि पालीवालजी उन्हीं के लिए जी रहे हैं, और उन्हीं के लिए मर रहे हैं। खुद भूखे रह सकते हैं, पर एक योग्य जनरल की भाँति अपने सैनिकों के लिए खाने-पीने का प्रबन्ध करते हैं। गत हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (दिल्ली अधिवेशन) में पालीवालजी सिर्फ इसलिए नहीं गये थे कि उनके पास किराया तक न था। अपने लिए खाने को भी न था, पर वे ग्रामीण कार्यकर्ताओं के लिए भोजन का प्रबन्ध कर रहे थे।

अब नेतृत्व की कसौटी केवल चिकनी-चुपड़ी सूरत, बढ़िया मोटर, बैंक में जमा धन, फर्राटे के मेज़तोड़ व्याख्यान नहीं हैं। ये बातें तो अब घूरे पर उगे पौदों की भाँति हैं, जो एक-दम बढ़कर शीघ्र सूख जाता है। नेतृत्व-रूपी पौदा अब तो त्याग और ग्रामीण जनता के विकट-सम्बन्ध-रूपी दृढ़ और उपजाऊ भूमि में ही पनप सकता है। इसीलिए पालीवालजी की जड़ें गहरी हैं। थोड़ी-सी कांग्रेस सेवा, जेल-यात्रा और पुराने त्याग की सड़ी-घुसी पूँजी पर जब कुछ लोग धन की ढेरियाँ इकट्ठी कर रहे हैं तब पालीवालजी विकट त्याग और फक्कड़पने की ओर बरसाती नदी की भाँति बढ़ रहे हैं। वे समुद्र की लहरों की भाँति हुंकार मारकर नहीं बढ़ रहे, वरन् एक अटूट चट्टान की भाँति Temptations की भयंकर लहरों को ठुकराकर पीछे लौटा देते हैं। दूषित पूँजीवाद के पाश में फँसाने के लिए और उनकी कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने के लिए कुछ भले रईसों ने हज़ारों रुपए पालीवालजी को देने चाहे, कई बार और कब, जब उनके हाथ खाली

थे, पर पालीवालजी ने सबको ठुकरा दिया। जिन आदमियों का सम्बन्ध पालीवालजी से प्रारम्भ से अब तक रहा है, वे जानते हैं कि वे लाखों में एक आदमी हैं।

पालीवालजी युक्तप्रान्त के ऐसे आदमी हैं, जो ग्रामीण समस्या और उसके हल (Solution) को समझते हैं। युक्तप्रान्त के अनेक नेताओं का ग्रामीण ज्ञान किताबी है, और जिनको कुछ व्यवहारिक ज्ञान है, उनमें है सूझ—क्रियात्मक कल्पना-शक्ति—का अभाव। ये हमारी भावना पालीवालजी से हाल ही में घण्टों बातें करने के उपरान्त हुई है। गार्डिनर के हरबर्ट सेमुएल के लिए लिखे गये शब्दों में (Humanity) के लिए Country और Samuel के लिए पालीवाल बदलकर हम पालीवालजी के लिए कह सकते हैं—

"He is the wind that bloweth where it listeth! indifferent to theories, impatient of slow process, governed only by a compelling passion for country. Mr. Paliwal's path is as designed and absolute as a geometrical line. He is the artificer of politics, confident of his aim, master of himself and his materials, inflexible in purpose—a splendidly efficient instrument, but never an inspiration."

आगरा।

मैथिलीशरण गुप्त

[जैनेन्द्रकुमार]

(१)

शायद तीसरी क्लास में पढ़ता था। तब मैथिलीशरण गुप्त नाम मैंने सुना। जाने कितने न कानों में होकर वह मुझ तक पहुँचा होगा। प्रसिद्धि ऐसे ही कानों-कान फैलती है। सोचता हूँ कि तब मैं क्या जानने योग्य रहा हूँगा। अक्षर पढ़ना भर जानता हूँगा। पर जिस शाला में मैं था, उसके छोटे-बड़े, जान-अनजान, सब बालकों के सिर उन दिनों मैथिलीशरणजी और उनके पद्य ऐसे चढ़ गये थे कि हरेक यह दिखलाना चाहता था कि उसको अधिक पद्य याद हैं। मेरे कण्ठ भी तब कई पद्य बैठ गये थे। मतलब तो उनका पूरा हम क्या समझते होंगे, फिर भी धरोहर की भाँति सेंतकर उन पद्यों को हम अपनी स्मृति में रखे रहना चाहते थे। और ढिठाई देखिये, अनुकरण में वैसी कुछ पद्य-रचना भी खुद किया करते थे!

दिन बीतने के साथ वह नाम कुछ बड़ा ही होता गया। मन के भीतर वह ज्यादा जगह घेरता गया। जैसे उस नामधारी व्यक्ति को ज़बरदस्त आकार-प्रकार का भी होना चाहिये, नहीं तो हम नहीं मानेंगे। छठी क्लास में था कि सातवीं में, उनके 'जयद्रथ-वध' के खंड पाठ्य के तौर पर पढ़े। तब ऐसा लगता था कि मैथिलीशरण जाने क्या-क्या होंगे। बस पुराण-पुरुषोत्तम ही होंगे और चिरगाँव कोई अनुपम गाँव होगा।

कौन जानता था कि करिश्मा होने में आयगा। लेकिन सन् '१४ के बाद सन् '३१ भी आया और करिश्मा सचमुच होने में आ गया। लेकिन जो हुआ, वह करिश्मा-सा बिल्कुल नहीं मालूम हुआ। अरे, मैंने देखा कि यह तो सारी बात एकदम मामूली बात की तरह हो गई! मैथिलीशरण एकदम मामूली आदमी हैं, चिरगाँव बिल्कुल मामूली गाँव है। सब सर्व-साधारण है। और मैं सोचता हूँ कि वाह!

कहना चाहिये कि चिरगाँव मैं यों ही जा धमका। मानिये कि 'मान न मान मेहमान' बनने की ही बात हुई। वह कौन मुझे जानते थे। बस, भाई सियारामशरण का शायद एक चिट्ठी-पत्र उससे पहले मैंने पाया था। या श्रीकृष्णानन्द गुप्त से, जो चिरगाँव में रहते थे, कुछ चिट्ठी-पत्री हो गई थी। उतना सहारा थामकर पूछता-पाछता मैं गुप्त-लोगों के बड़े-से अहाते में जा

मौजूद हुआ ! वहाँ खड़े होकर क्षणभर सोचता रह गया कि अब क्या कहकर क्या करूँ ? पास नीम के पेड़ में पड़े हुए एक झूले में छोटी पटरी रक्खे एक अधेड़ वय के महाशय, कृशकाय, नीमारतीन मैली-सी बंडी पहने धीमे-धीमे झूल रहे थे। वह बंडी खद्दर क्या, टाट की थी और सच कहूँ तो बहुत सफ़ेद नहीं थी। और धोती ऐसी कि मानों कृपापूर्वक उसे घुटने से ज़रा नीचे तक आ जाने की इजाज़त मिली हो। धोती वह बस यथावश्यक ही थी और अपने नाम से अधिक काम नहीं करती थी। कपड़े का टुकड़ा ही उसे कहिये।

मैं अपनी बगल में छोटा-सा पुलिन्दा दाबे उस बड़े अहाते के बीच खड़ा हुआ कुछ भूल-सा गया कि अपने साथ क्या करूँ ? क्या कहूँ, और क्या पूछूँ ? झूलेवाले तो मन-मन कुछ गुनगुना रहे हैं और बाहर का उन्हें विशेष ध्यान नहीं है।

पर मिनिट भर में सब हो गया। किसी ने मुझे संबोधन किया। मैंने सियाराम को पूछा, अपना नाम बताया। जिस पर झट सियाराम मौजूद। कृष्णानन्द भी उपस्थित। और देखते-देखते मैं ऐसा आत्मीयता से घिर गया कि क्या कहूँ। झूलेवाले निकले खुद मैथिलीशरण गुप्त ! और क्षणभर में वहाँ मेरे चारों ओर ऐसा घर बन गया कि अपने घर से ज्यादे। उस समय जैसे मुझे थोड़ी देर के लिए भी इन लोगों के प्रति अपने को अजनबी समझने के अपराध पर कुण्ठा होने लगी। सचमुच मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। न कुछ में मेरा पुलिंदा छिन गया। जैसे मेरी गाँठ खो गई !

और मैंने सोचा कि राम-राम, मैथिलीशरण यह ! यह मैथिलीशरण !!

(२)

फिर क्या एक रोज़ में छुट्टी मिलनेवाली थी ? कई रोज़ वहाँ रहना हुआ। मैं चाहता हूँ कि मेरी एक बात वह भी सुन लें और सब पाठक भी कान खोलकर सुन लें। वह यह कि चिरगाँव के उस घर की ख़ातिर बस आफ़त है। अतिथि की ख़ैर नहीं। पर आप नीतिज्ञों से पूछ देखिये, कि पेट पर जुल्म नहीं होना चाहिये और स्नेह भी एक मिक़दार में ही आदमी झेल सकता है।

उसके बाद कई बार चिरगाँव जाने का मौका हुआ है। हर बार मैंने यह अनुभव किया है कि उस घर में जाकर किसी बाहरवाले में अपना पराया-पन या अपना अपना-पन क़ायम नहीं रह सकता। वहाँ वैसी सुध-बुध बिसर जाती है। वातावरण में इतना स्नेह है कि जितना नहीं होना चाहिये। बीसवीं सदी के शहरों में रहनेवाला आदमी ऐसे स्नेह पाने का आदी नहीं होता। उसे अविश्वास से काफ़ी काम पड़ता है, और दम्भ से भी काम पड़ता है। इससे खुले स्नेह में वह कुछ खोया-सा हो सकता है। शहराती को मालूम हो सकता है कि यह स्नेह का वर्षण कहाँ है, यह तो सीधा-सच्चा आक्रमण है। पर उस आक्रमण से वहाँ कोई बचाव नहीं है। और बचाव कहाँ से हो, आदमी निरस्त्र तो पहले हो जाता है।

चिरगाँव का वह गुप्त-लोगों का घर बहुत-सी बातों में आधुनिक नहीं है। पुरातन है, या कहो सनातन है। वह घर, यानी मैथिलीशरण एक ही बात है। घर और वह एक हैं। दोनों में प्रकृति की एकता है।

चिरगाँव गाँव बीसवीं सदी से अछूता है, सो नहीं। बल्कि इसी अहाते के एक ओर एक ख़ासा बड़ा छापाखाना है। वहाँ अंजन चलता रहता है और मशीन की खट-पट ख़ूब

गूँजती है। तरह-तरह के कल-पुर्ज़े इधर-उधर आपको दिखाई देंगे। नये टट्टी-घर में फ्लश-सिस्टम है। इस तरह उस परिवार को चौदहवीं सदी की कोई यादगार या खण्ड नहीं कह सकते। पर निस्संदेह गुप्त-घराने के अंतरंग में ठेठ भारतीयता से हटकर दूसरी वस्तु अभी नहीं प्रवेश पा सकी है। परंपरा सनातन है और उस परम्परा की वहाँ अनुसरण रक्षा है।

गुप्त-परिवार का पारिवारिक संगठन नये नमूने का नहीं है। वह पुरातन शैली का है। पर इस कारण शिथिल नहीं, बल्कि सचय है। इतना सचय है कि आधुनिकता को वह मेल ही नहीं रहा है; बल्कि समीचीन भाव में उसे गति भी दे रहा है। [मैथिलीशरण और सियारामशरण की कविता को हम पुरानी कहकर साहित्य से नहीं टाल सकेंगे। असहमति जुदा बात है। पर जाग उनमें भरपूर है। आँखें उनमें मूँदकर नहीं रखी गई हैं।] परिवार वह सम्मिलित ही नहीं, एक है। उसकी जीवन-शक्ति अविभक्त है। और मैथिलीशरण मानो उसके प्राण-केन्द्र हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के साथ की एक बात मुझे याद आती है। मैंने पूछा कि मैथिलीशरणजी से तो आपकी खुली घनिष्टता है न?

बोले कि सो तो नहीं। हाँ, कुछ दिन लखनऊ में साथ रहना हुआ था। लेकिन यही राह-रास्ती की यह दुआ सलाम है। आगे कुछ नहीं।

मैंने कहा कि यह तो हिन्दी का सौभाग्य नहीं है। नहीं-नहीं, आप दोनो को निकट आना होगा। निकट लाया जाया जायगा। बोलिये, कभी चिरगाँव चलेंगे?

ख़ैर, उसी बात के सिलसिले में प्रेमचन्द जी ने कहा कि जैनेन्द्र, मुझे एक बड़ा अचरज है। मैथिलीशरण और सियारामशरण दोनो भाइयों को देखकर मैं हैरत में रह जाता हूँ। लक्ष्मण भी क्या रामचन्द्र के प्रति ऐसे होंगे? जैनेन्द्र, दो भाई ऐसे अभिन्न कैसे हो सकते हैं? मेरी तो समझ में नहीं आता। कहीं मैंने उनमें भेद नहीं देखा। या तो दोनो में से किसी एक में कुछ कमी है, दम नहीं है, जान नहीं है। या नहीं तो फिर क्या कहूँ?

मैंने कहा कि दो सगे भाई झगड़ें, क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे?

बोले कि और नहीं तो क्या। दस्तूर तो यही है। भाई सगे तो छुटपन के होते हैं। बड़े होकर वे आपस में भाई-भाई तक भी क्यों रहें? लड़ने से उन्हें कौन रोकता है? मैं तो देखता हूँ कि सगे भाई अधिकतर दुश्मन बनकर ही रहते हैं, स्पर्द्धा से वे बच नहीं सकते।

मैंने कहा कि दुनिया को तो मैं क्या जानूँ; लेकिन सियाराम और मैथिलीशरण में क्या, बल्कि सभी भाइयों में सचमुच जरा भी भेद नहीं है। मैं तो चिरगाँव कई बार हो आया हूँ।

प्रेमचन्दजी बोले कि यही तो। प्रेमचन्दजी इस अपने विस्मय को कभी नहीं जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नहीं होता था। पर उधर जब यह बात मैंने गुप्त-भाइयों को सुनाई तो उन्हें प्रेमचन्दजी के विस्मय पर बड़ा विस्मय हुआ! दो भाइयों के बीच कुछ अन्यथा संबंध संभव भी हो सकता है, मानो यही उनके लिए अकल्पनीय था।

तो यह अन्तर है। शहरी के लिए अविश्वास स्वाभाविक है और परिवार का विभक्त होते जाना स्वाभाविक है। यहाँ तक कि पति-पत्नी में भी पृथक अधिकार की भावना हो आये।

पर यह शहरियत विशेषता से मैथिलीशरणजी के प्रयत्न से उनके परिवार को नहीं छू सकी है। मैथिलीशरणजी में इसकी छूत नहीं है।

इससे वह अपने व्यवहार में हार्दिक हैं। ऊपरी लिहाज़ में चूक सकते हैं। अदब के नियमों में भूल कर सकते हैं पर अपनी भूल में भी वह हार्दिक हैं और प्रेम को नहीं भूल सकते। हृदय को पीछे रोककर चलना उन्हें कम आता है।

मैं मानता हूँ कि पारिवारिक अर्थात् पारिपार्श्विक वातावरण की इस सुविधा के कारण उनका काव्य संघर्ष-जनित पीड़ा से इतना अछूता रह सका है। उसमें वेदना का उभार नहीं है, जैसी कि सुरक्षित व्यवस्था है। वह दुर्दमनीय नहीं, मर्यादाशील है।

(३)

'नाम बड़े, दर्शन थोड़े'। उनकी पहली छाप मुझपर यह पड़ी। शुरू में चाहे यह अनुभव मुझे कैसा भी लगा हो, पर पीछे ज्यों-ज्यों मैं जानता गया हूँ, मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा रखकर ही उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है। अपने चारो ओर दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी। बल्कि कहो कि वह उससे उल्टे चले हैं। रूप उन्होंने आकर्षक नहीं पाया, इतने से ही मानो मैथिलीशरण सन्तुष्ट नहीं हैं। अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें, मानो इसका भी उन्हें ध्यान रहता है। लिबास मोटा, देहाती और कुढंगा। सज्जा यदि हाँ तो तदनुकूल और आधुनिक फैंसी के प्रतिकूल। सिर पर बुन्देलखण्डी पगड़ी, घुटने तक गया कुरता और लगभग घुटने तक ही रहनेवाली धोती। बाल इतने छोटे कि उन्हें चाहकर भी सँवारा न जा सके। शरीर कृश और श्यामल। मूँछे बेरोक उगती हुई, जिसमें कोई छँटाव नहीं। मानो दीखनेवाले अपने समूचेपन से मैथिलीशरण घोषित करना चाहते हों कि मैं किसी सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूँ। उत्सुकता का, या शोभा का, या समादर का पात्र कोई और होगा। मैं साधारण में साधारण हूँ। देखो न, मैं ऐसा तो हूँ कि जिसे ज़रा ऊपरी ढंग भी नहीं आता।

फिर भी सच यह है कि उनके ढंग में भी एक अपनी आन है। एक निजत्व है। और इधर की उनकी बड़ी मूँछों के साथवाली छोटी दाढ़ी के फोटोग्राफ़ देखता हूँ तो रौब पड़े बिना मुझ पर नहीं रहता। कबूल करना चाहिये कि आमने-सामने होकर वह रौब मुझे अनुभव नहीं होता क्योंकि वह मिलते ही ऐसे खुले अपनावे के साथ हैं कि रौब बिचारा क्या करे।

ख़ैर मालूम होता है कि अपने बारे में वह न ग़लतफ़हमी खुद चाहते हैं, न औरों में चाहते हैं। जो हैं, सो हैं। न अधिक मानते हैं, न अधिक दीखते हैं। और जो हैं, उससे कम कोई मानना चाहे तो उसे भी छुट्टी है। लेकिन सच यह है कि कम माना जाना भी उन्हें पसंद नहीं है। इज़्ज़त में व्यतिरेक नहीं आ सकता। कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की टेक उनमें है। उस मामले में वह दुर्बल भी हैं, हठीले भी हैं।

प्रतीत होता है कि दुनिया में इस यथार्थ की स्वीकृति के द्वारा वह अपनी महत्ता बना सके हैं। निषेध अथवा चुनौती मूलक उनका महत्त्व नहीं है। किन्हीं नये मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में नहीं है, मान्य की ही मान्यता है।

(४)

गाम्भीर्य्य ? नहीं भाई वह मैंने नहीं पाया। और अपनी जानें। मैं तो अपनी कहूँ। गम्भीरता की मैंने कमी पाई। कमी भी सोच-समझकर कह रहा हूँ। किसी के बुरा मानने का डर न हो तो शायद कहूँ कि अभाव पाया। और कुछ मैथिलीशरण आवश्यकता से अधिक हों, गम्भीर आशा से कम हैं। शायद आवश्यकता से भी कम हैं। मैं अनुमान कुछ करता था, निकला

कुछ। विद्वान को गंभीर होना चाहिये। पर मैथिलीशरणजी के ऊपर विद्वत्ता ढंग के साथ टिकती मैंने नहीं देखी। बीच में चपलता झाँक ही उठती है। कभी तो डर होता है कि क्या वह सचमुच पचास से ऊपर के हैं भी ? मालूम होता है कि जो भी हों; पर अब भी बचपन है। जिससे बुढ़ापे की आशा हो, उसकी जवानी हमें बचपन न लगेगी, तो क्या लगेगी ? धीमे नहीं चलते, तेज चलते हैं। कहीं पचास से ऊपर उम्रवालों का भाग-कूद के खेलों का भारतीय टूरनामेंट हो जाय, तो मैथिलीशरण का नम्बर शर्तिया पिछड़ा नहीं रह सकता। जहाँ मैं सोचता रह गया हूँ, वे कर गुज़रे हैं। सड़क पर हम कई जन जा रहे हैं, एक बच्चा किसी की चपेट में आकर रास्ते की धूल में गिर पड़ा, तो आप में से पहले वह होंगे जो उसे उठायेंगे। सूझ-बूझ उनमें लगी रहती है। परिस्थिति से वे दबते नहीं हैं। मानों परिस्थिति के प्रति दबंग रहते हैं। आधुनिक सूट-बूट वाले समाज में भी अगर उनका पहुँचना हो जाय, तो अपने देहाती बाने को लेकर वहाँ भी वह मंद नहीं दीखेंगे। टी-पार्टी होगी तो न चाय पीयेंगे, न शायद कुछ खायँगे। कदाचित् फल भी न छूयेंगे। पर उस पार्टी में अपने परहेज़ के कारण असमंजस में किसी को न पड़ने देंगे। मिलेंगे, बोलेंगे, हँसेंगे और अपनी चाल-ढाल की असाधारणता पर या कि परहेज़ पर मानों किसी का भी ध्यान तनिक न रुकने देंगे। ग़लती वह बड़े सहज भाव से कर सकते हैं; पर कुंठित व्यग्रता या असमंजस द्वारा अपनी ग़लती को डबल ग़लती बनाने की ग़लती वह कभी नहीं करते। मानों अपने व्यवहार से वह स्पष्ट व्यक्त रखते हैं कि (आपकी) समाज का अदब-क़ायदा कुछ है तो वह ज़रूर है। पर मैं जितना जानता हूँ, उतना ही जानता हूँ। अधिक नहीं जानता, इसकी लज्जा से अपनी उपस्थिति में मैं किसी को लज्जित नहीं होने दूँगा। आपकी उदारता के सम्मान में अपनी ही त्रुटि पर मंदभागी दीखने का अपराध मैं नहीं कर सकता।

पर अदब-क़ायदे के प्रति अवज्ञा उनमें नहीं है। अवज्ञा किसी के प्रति नहीं हैं। इस बारे में वह कमज़ोर तक हैं। पुरानी परिपाटी का अदब-क़ायदा उनसे नहीं छूट सकता। वह हरेक से शालीनता की आशा रखते हैं। छोटा छोटा है, बड़ा बड़ा है। सबको अपना पद देखकर चलना चाहिये। अपने प्रति भी अविनय उन्हें दुस्सह है। इसलिए कम कि वह उनके प्रति है, अधिक इसलिए कि वह अविनय है। इसी से अविनय के लिए वह अपने समान किसी को क्षमा नहीं कर सकते। वह निवेदन तक झुक सकते हैं। हो सकता है कि झुकने में वह हद लाँघ जायँ। पर किसी के मान को चुनौती दें, यह असंभव है। अपने से बड़ों को बड़ा मानते हैं और यह हो सकता है कि इसमें अपने से छोटों को भी बड़ा मान बैठें। लेकिन जिनको अपने से छोटा मानना होता है, उनसे वह प्रत्याशा रखते हैं कि छोटों की तरह बड़ों का मान रखकर वे चलें। वय की अवज्ञा उन्हें नापसंद है। और वय की वृद्धता के कारण मूढ़ भी उनके निकट आदरणीय हो सकता है। विद्या बुद्धि नहीं, गुण भी उतना नहीं, जितना सामाजिकता के लिहाज़ से मनुष्य-मनुष्य के प्रति अपने व्यवहार में वह भेद करते हैं। राजा और रंक उनके लिए समान नहीं हैं। राजा को 'हुजूर' कहेंगे। रंक को 'तू' भी कह देंगे। लेकिन दबेंगे राजा से नहीं, दबायेंगे रंक को भी नहीं।

सामाजिक मर्यादाओं को बुद्धि-बल से इन्कार करके चलने की उनमें स्पर्धा नहीं है। वैसी रुचि और संस्कार ही नहीं है। व्यावहारिक समता उनके संस्कारों के प्रतिकूल है। हरिजन के अर्थ ज़बर्दस्त कविता और ज़बर्दस्त उत्सर्ग वह कर सकते हैं; पर चौके की और बात है। और छूत-छात—वह भी और बात है।

(५)

कवि में साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है ? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। भावुक अधिक, इसमें गर्भित है कि सहनशील कम। दृढ़ की जगह उसे कोमल होना चाहिये।

मानव-स्वभाव का विकास दोहरा होता है, दो दिशाओं में होता है। एक ओर उपमा व्यक्तित्व की दी जाती है कि पर्वत की नाईं अचल, वज्र की भाँति अनिवार्य और कठोर, इत्यादि। ये उपमाएँ सन्त-महात्माओं पर फबती हैं। दूसरे तरह की उपमाएँ हैं कि कुसुमवत कोमल, जल-सरीखा तरल, आदि। इन उपमाओं के योग्य कवि होते हैं। जैसे बारीक तार का कसा हुआ कोई कोमल वाद्य-यन्त्र। तनिक चोट लगी कि उसमें से झंकार फूट आई।

मैथिलीशरण किस कोमल वाद्य-यंत्र के समान हैं, यह तो मैं नहीं जानता। सम्वेदन की मूर्च्छना की सूक्ष्मता मैं क्या समझूँ। लेकिन वह अपने आवेशों को वश में रखनेवाले महात्मा नहीं है। आवेशों के साथ बहुत कुछ सम-स्वर होकर बज उठनेवाला कवि का स्वभाव उनका है। बहुत-कुछ सम-स्वर कहा, एकदम एक-स्वर नहीं कहा। जो पूरी तरह अपनी ही तरंगों के साथ एकात्म है, उनमें तो मानो अपना कुछ है ही नहीं। जो है त्रिगुणात्मक लीला है। वे स्वयं उद्वेलित नहीं होते। ऐसा पुरुष कवि होता है और अनायास महात्मा भी वह है। मैथिलीशरण उनमें नहीं हैं। पर अपने आवेशों के साथ वह हार्दिक अवश्य हैं। इसी से उनके काव्य में प्रेरणा है और सचाई है। झोंका आया कि क्रोध में उनके नथने फूल आये, आँखें लाल हो गईं और शिराएँ मानो फड़क उठीं। यह हो सकता है। पर झोंका बीता कि किस बात पर उनकी आँखें नहीं डब-डबा आयेंगी, यह आप नहीं कह सकते।

कभी कविता-पाठ करते आपने उन्हें देखा है ? मैंने देखा है। उसमें संगीत की बहार नहीं रहती। अभिनय-कौशल नहीं रहता। पर जैसे उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एकरूप हो जाती है। जो शब्द है, मानो वही स्वर है। स्वर का आरोह भाव की लय पर मानो आप ही उठता है और भाव के उतरने के साथ मानो अवरोह स्वयं शनैः-शनैः आ जाता है। ध्वनि लय के अनुसार चलती है। कविता के भाव से अलग होकर मैथिलीशरणजी के काव्य-पाठ में श्रोता के लिए मानो रस की कोई बात नहीं रहती। जो कविता है, वही कविता का पाठ है।

मैथिलीशरण स्वकेन्द्रित नहीं हैं। इससे उनकी कविता भक्ति की प्रेरणा में से आकर भी रहस्यमयी नहीं है, उपासना-मयी है। न उसमें चहुँओर के दबाव की पीड़ा है। समस्या के भार से भरी हुई वह नहीं है। उसमें आवेदन और निवेदन का स्वर मध्यम है। उसमें कुछ-कुछ आदेश की बलिष्टता है, और प्रतिपादन की स्पष्टता है। उनका काव्य कथानुसारी है। वह घटना के साथ चलता है। वह आत्मा-लक्षी नहीं, स्वपरोपकारोपलक्षी है।

मैथिलीशरण कोमल हैं तो दूसरे को लेकर, भाव-प्रवण हैं तो दूसरे के निमित्त। मानो स्वयं में उनके पास कुछ खर्चने को नहीं है। पुण्यश्लोक पुरुषों की गाथाएँ हैं, और उनका ही गान उन्हें बस है। उसके आगे अपना निज का आवेदन-निवेदन क्या ?

(६)

मुझे प्रेमचन्द की याद आती है। प्रेमचन्द निरीह थे, एकाकी। मैथिलीशरण अमित्र नहीं हैं, उस अर्थ में अकेले नहीं हैं। प्रेमचन्द दुनिया को लेकर परेशान रहे। उसका सुधार

करते रहे और अपना बिगाड़ करते रहे। कर्म में लोक-संग्रह से विमुख रहे, चिन्ता में लोक-समस्याओं से घिरे रहे। मैथिलीशरण लोक-संग्रह से उतने विमुख नहीं हैं और उनकी बुद्धि लोकोत्तर की ओर है। उनका इहलोक अस्तव्यस्त नहीं है। उनकी चिन्ता इससे सुविधा-प्राप्त है। प्रेमचन्द मानसिक चिन्ता, यानी साहित्य से इस लोक के थे। ऐहिक कार्य के दृष्टिकोण से मानों वह यहाँ रहते नहीं थे। पर मैथिलीशरण का साहित्य द्वारा लोकोत्तर से नाता है। ऐहिक विचार में वह ऐहिक हैं।

मशीन में मैथिलीशरण कविता से शायद कम दिलचस्पी नहीं लेते। कल-पुर्ज़ों में उन्हें अच्छी गति है, और रस है। आपके यहाँ कोई पुराना एंजिन है तो मैथिलीशरणजी को याद कीजिये। वह ज़रूर कुछ आफ़र देंगे। अरे, अंजन ठीक होकर आज नहीं कल तो काम आयगा। व्यवहार में व्यर्थता छूट जाय तो छूट जाय, पर काम की बात उनसे नहीं छूट सकती। वह जब बनिये हैं, तो अधूरे नहीं हैं। यह पक्ष उनमें पूरा उतरता है। चाहे इस पक्ष में ब्राह्मणत्व उनका कुछ दब भी क्यों न जाता हो। वह टोटे में रहना नहीं जानते। और टोटा है तो व्यवसाय का टोटा है, जो कि लगा ही रहता है। यह नहीं कि वह पैसा कमाने के संबंध में बहुत तल्लीन हो सकते हैं। मुझे जान पड़ता है कि द्रव्य-विचार में उन्हें लीनता प्राप्त हो नहीं सकती। पर व्यवसाय की बात में अचतुर उन्हें आप मत जानियेगा।

अपने संबंधों के बारे में वह सावधान हैं। हर कोई उनका दोस्त नहीं बन सकता। पर दोस्त बनकर कुछ और नहीं बन सकता। उनका विश्वास मँहगा है। दिल वह अपना बहुत अधिक नहीं बाँटते। वह भीड़ के आदमी नहीं। भीड़ में वह अकेले हैं। न वह भीड़ को दिशा दे सकते हैं, न उसका साथ दे सकते हैं। वाणी उनकी मुक्त नहीं और वह प्रवास-भीरु तो क्या पब्लिक-भीरु हैं।

बहुत कुछ उनको अनायास सिद्ध है। कविता में शब्द और तुक। सफ़र में तीसरा दर्जा। भूषा में सादगी। वेश में चिरगाँवता। प्रेम में अपत्य प्रेम। वाणी में मित भाषण और साहित्य में सुरुचि। इन सभी के लिए प्रयासी को प्रयास लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति के लिए रेल का तीसरा दरजा अभी तक सहज नहीं है, वह गौरव का विषय है। किन्हीं को ज़रूरत रहती है कि कोई उन्हें देखे, किन्हीं को ज़रूरत रहती है कि कोई उन्हें न देखे। यही हाल हमारे साथ सादगी का है। पर मैथिलीशरणजी को मालूम होता है कि दूसरी कोई बात मालूम नहीं।

वह अंग्रेज़ी नहीं जानते। पर अंग्रेज़ी में चलनेवाली राजनीति को वह जानते हैं। सवेरे डाक आई कि चिट्ठियाँ देखीं। फिर अख़बार ले लिये। अख़बार जल्दी उनसे नहीं छूटते। वह बातों को जानकर नहीं, जिन्हें जानते हैं उनके विषय में कुछ महसूस करके दम लेते हैं। वह अपने जानने को मानों हृदय के साथ भी जोड़े रखना चाहते हैं। इससे आधुनिक विचार-धाराओं से वह अवगत ही नहीं रहते, उनके प्रति सहानुभूति रख सकते हैं। उनकी आवस्था बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक तल पर अतः वह बंधनहीन और उदार हैं और धीरता से प्रश्नों की गहराई छू सकते हैं। बारीक बातें उनसे नहीं बचतीं और मानस-संबधों की परख ने वह सूक्ष्म-दर्शी हैं। चिरगाँवसे न टलना उनके हक़ में भीरुता ही नहीं है, साधना भी है। प्रकृति से अधिक वह साधना से कवि हैं।

दिल्ली।

राजाजी और उनकी धुँधली ऐनक

[रा० कृष्णमूर्ति 'कल्की']

[अनुवादक, का० श्री० श्रीनिवासाचार्य]

[श्री कृष्णमूर्ति का अधिक परिचय यहाँ देना नहीं होगा। आपके ऊपर एकशब्द-चित्र इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है। —सं०]

दक्षिण-देश के राजनैतिक जीवन में राजाजी ने जितनी प्रसिद्धि पायी है, उतनी ही प्रसिद्धि उनकी धुँधली ऐनक को भी मिली है। क्या उनके राजनैतिक विपक्षी और क्या उनके साथी और चेले—दोनों पक्षवाले अपनी-अपनी बात-चीतों में अक्सर उनकी धुँधली ऐनक का ज़िक्र करते हैं।

कांग्रेस के सभी विरोधी राजाजी से जितना डरते हैं, उससे भी ज़्यादा उनकी धुँधली ऐनक से डरते हैं। उनमें से कइयों का ऐसा ख़्याल है कि उस धुँधली ऐनक में कोई जादू है। कुछ लोगों का कहना है कि अपने दिल की बात दूसरे न जानें, इसी सबब से राजाजी धुँधली ऐनक लगाते हैं। और कुछ लोगों का विश्वास है कि उस धुँधली ऐनक के द्वारा वे दूसरों के मन की बात भाँप लेते हैं। ऐसे विश्वास रखनेवालों की भी कमी नहीं है कि सी० आर० की धुँधली ऐनक अगर किसी भी तरह से चुरा ली जाय, तो उनकी शक्ति का तीन-चौथाई हिस्सा छूमंतर हो जाय।

उनके विपक्षियों का तो यह हाल है ही; उनके मित्रों में भी ऐसा माननेवाले न हों, यह बात नहीं है। कांग्रेस-विरोधियों के षड्यन्त्र के बारे में जब चर्चा छिड़ती है, तब वे कहा करते हैं—अजी, वे चाहे जो चालबाजी क्यों न करें; पर हमारे धुँधली ऐनकवाले शख्स पर वे चालें न चलेंगी।

लेकिन, राजाजी धुँधली ऐनक क्यों लगाते हैं, इसका सच्चा कारण जाननेवाले बहुत ही थोड़े हैं।

उसका सच्चा कारण यही है—अक्सर अपनी आँखों में छलकनेवाले आँसुओं को छिपाने के लिए ही राजाजी धुँधली ऐनक लगाते हैं। अर्थात्, आँख के डॉक्टर की सलाह के सिवाय उसका और कोई कारण हो सकता है, तो वह ऊपर कहा हुआ ही होना चाहिये।

× × ×

राजाजी के बारे में उनके राजनैतिक विरोधियों और उनके कुछ मित्रों की एक और शिकायत है। वह है उनकी बुद्धि की कुशाग्रता। वे कहते हैं—एक ही आदमी में अक्ल की इतनी तेज़ी होनी नहीं चाहिये ; यह अन्याय है, प्रकृति के विरुद्ध है।

फिर वे यह सवाल उठाते हैं कि 'एक ही व्यक्ति में इतनी बुद्धि हो तो उसका हृदय कैसा होगा?' और उसका जवाब भी ख़ुद दे डालते हैं कि 'हाँ, इसी से तो राजाजी में हृदय बिल्कुल नहीं है।'

राजाजी से किसी बात पर विवाद शुरू करके हार जानेवाले अक्सर इस तरह कहा करते हैं। इस प्रकार बारबार कह-कहकर यह विश्वास बहुत ही फैल गया है कि राजाजी में हृदय नहीं है। लेकिन जिस किसी का राजाजी के साथ थोड़े भी समय के लिए निकट संपर्क हुआ है, वे सभी इस बात को ख़ूब जानते हैं कि इसके जैसी सत्य के विरुद्ध बात दूसरी नहीं है।

वे जानते हैं कि राजाजी का हृदय उच्च और विशाल है ; वह विरोधियों से भी प्रेम करता है ; दीन-दुखियों के लिए फूटकर पिघलता है।

जहाँ तक मेरा ख़्याल है, उनका दुबला शरीर सारे-का-सारा हृदयमय ही है।

मेरा विश्वास है कि दूसरों के दुःखों को देखकर आँसू बहा-बहाकर ही, उनका शरीर ऐसा सूख-सूखकर काँटा हो गया है।

उनकी तरह अपने बच्चों से प्रेम करनेवाले पिता को मैंने देखा नहीं है।

उनके समान अपने मित्रों के क्षेम-लाभ की चिंता करनेवाले स्नेही को मैंने नहीं देखा है।

उनके बराबर अपने साथियों के कुसूर और कमियों को माफ़ करनेवाले हमजोली मेरे देखने में नहीं आये हैं।

उनसे भी बढ़कर देश की स्वतंत्रता के प्यासे देश-भक्त को मैं नहीं जानता।

उनसे भी अधिक दीन-दुखियों के दुखड़ों पर तरस खाकर पिघलनेवाले दयालु को मैं नहीं जानता।

जब सचाई यों है, तब कुछ लोग क्यों सोचते हैं कि राजाजी में हृदय नहीं है? हाँ, मुझे मानना चाहिये कि उनके इस प्रकार सोचने का एक कारण है।

वह यही है :

राजाजी प्रायः अपने हृदय को खोलते नहीं हैं। वे हमेशा अपने हृदय की भावनाओं को छिपाने की ही कोशिश करते हैं।

अगर हम उनके हरएक काम को गहराई से देखें तो हमें मालूम होगा कि वह उनके हृदय की भावना से ही प्रेरित हुआ है।

लेकिन अपनी बातचीत में वे भावना का उपयोग नहीं ही करते ; बेमिलावट के एक ज्ञान का ही उपयोग करते हैं।

मैंने उनके कई भाषण सुने हैं, सुनकर आश्चर्य किया है, आनंद पाया है, मैं हँसा हूँ, मुझे कुतूहल और उत्साह हुआ है ; लेकिन एक बार भी मैंने आँसू मात्र नहीं बहाया है।

आम तौर पर, श्रेष्ठ वक्ता के रूप में प्रसिद्धि पाये हुए लोग, श्रोताओं की भावना को

उकसानेवाले ही होते हैं। वे हमें आतुर बनाते, हमारे आत्म-सम्मान के भाव को उभाड़ते और हमें आँसू बहाने के लिए मजबूर करते हैं। कुछ लोग तो इन पद्धतियों को काम में लाये बिना, भाषण देना जानते ही नहीं हैं।

लेकिन राजाजी के भाषण इसके बिल्कुल विपरीत होते हैं। वे हमारे ज्ञान को उत्तेजित करते और हमारे संशयों को मिटाते हैं। और भी, उनको सुनने पर हमें यह पूरा विश्वास हो जाता है कि उन्हीं का पक्ष न्याय्य है; हम इस निश्चय पर पहुँच जाते हैं कि उसके विरुद्ध अगर कोई प्रतिपक्ष है तो उसकी-सी वज्र-मूर्खता और हो नहीं सकती। बस, इतना ही। रूमाल उठाकर आँखें पोंछने की नौबत नहीं ही आती है।

क्या राजाजी को इस आँसू-रूपी हथियार के प्रयोग करने के अवसर ही नहीं मिलते? ऐसे कितने ही अवसर आया ही करते हैं। पारसाल जब राजाजी ने मद्रास की धारा-सभा में किसान-कर्ज-विरोध बिल पेश किया था, तब ऐसा ही एक अवसर हाथ आया था। यह बिल पहले पहल ज़ाहिर हुआ तो उसका ज़ोरों से मुक़ाबला किया गया था। सूदखोर महाजनों ने अंग्रेज़ी अख़बारों के ज़रिये और वकील-संघों के ज़रिये बड़ी भारी हलचल मचायी थी। सारे प्रान्त में विरोध की ध्वनि ही प्रबल थी। दिवालिये ग़रीब किसानों की तरफ़ से आन्दोलन चलानेवाला कोई नहीं था।

ऐसी ही हालत में राजाजी ने धारा-सभा में किसान-कर्ज-निरोध बिल को पेश किया था। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि कम से-कम इस मौक़े पर उनका भाषण कुछ हद तक हृदयवेधी होगा। कर्ज के बोझ से दबे किसानों की सभी तकलीफ़ों को वे अच्छी तरह जानते हैं। २००) का कर्ज लेकर, सिर्फ़ ब्याज के मद्धे ही अब तक ७००) चुकाये हुए लोगों को वे जानते हैं। साल भर मेहनत करके, ब्याज चुकाकर, आप भूखे रहनेवाले लोगों को वे जानते हैं। ऐसे-ऐसे लोगों की तकलीफ़ों का बयान कर, वे श्रोताओं के मन को पिघला सकते थे। और उन लोगों के प्रति किये जानेवाले अन्यायों का वर्णन करके वे श्रोताओं में आक्रोश उत्पन्न कर सकते थे; लेकिन वैसा तो कुछ उन्होंने किया ही नहीं। उस वक्त भी उन्होंने ऐसा भाषण दिया कि सुननेवालों का ज्ञान उससे उत्तेजित हुआ। मसौदे पर किये जानेवाले आक्षेपों का खंडनकर उसके ज़र्रे-ज़र्रे को हवा में उड़ा दिया और यह साबित करने के लिए कि वही क़ानून न्याय, धर्म और देश की भलाई के अनुकूल है, एक-दो-तीन करके कारणों को गिनकर दिखाते गये। और फिर उन्होंने अपनी बेजोड़ उपमाओं से कुतूहल और हास्य-रस से हँसी पैदा कर दी थी।

उस रात को मैं राजाजी से मिला तो बोला—आपका भाषण मुझे तनिक भी नहीं भाया।

राजाजी ने कहा—लेकिन, मालूम होता है, सभी लोगों ने उसकी रोचकता का अच्छा अनुभव किया था।

'हाँ, लेकिन मुझे वह नहीं भाया। मैंने सोचा था कि आप आज, कम-से-कम एक दिन, कर्ज़दारों की दुःख-गाथा थोड़ी सुनायँगे और पसीजते हुए भाषण देंगे।'

'अगर वैसे बोलता तो सारा काम गुड़-गोबर हो जाता।'—राजाजी ने कहा।

× × ×

राजाजी का सिद्धान्त यह हो सकता है कि श्रोताओं की भावना को उकसानेवाले ढंग

से बोलना नहीं चाहिये और वैसे बोलने से काम विगड़ जाता है, या यह भी हो सकता है कि उस तरह से भावावेश में आकर बोलना उनकी प्रकृति के विरुद्ध हो। बात चाहे जो हो; उनके निकट संपर्क में न आकर, सिर्फ़ उनके भाषणों को ही सुननेवाले अगर यह महसूस करें कि 'राजाजी हृदयहीन व्यक्ति हैं' तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।। लेकिन उनकी वह राय तभी तक बनी रह सकती है, जब तक वे राजाजी की लिखी हुई गल्पों को न पढ़ें।

हाँ, राजाजी अपनी कहानियों में ही अपने हृदय को वास्तव में खोलकर दिखा देते हैं। उनके हृदय का वह रहस्य, जिसे उनसे अत्यंत घनिष्ट मेल-जोल रखनेवाले भी नहीं जान सके हैं, उनकी कहानियों में दृष्टिगोचर होता है। उन कहानियों में हम न तो उनके अपार बुद्धि-कौशल को देखते हैं और न अधिक उनके भाषणों में पाये जानेवाले पनपते हुए हास्य-रस को ही। उनके विशाल हृदय से उमड़कर बहते हुए भावना-प्रवाह को ही हम वहाँ देख पाते हैं।

मद्रास।

श्री राहुल सांकृत्यायन

['अमिताभ']

[श्री राहुल सांकृत्यायन का यह परिचय हमारे लिये एक उनके अति घनिष्ठ एवं निकटवर्ती ने लिखा है, पर वे अपना नाम प्रकट नहीं होने देना चाहते। पर पाठक तो इस नाम से भी परिचित होंगे ही क्योंकि इस नाम से आप प्रायः आलोचनाएँ एवं निबंध लिखा करते हैं।—सं०]

"....But at the time I least suspected that the man will blossom into this Rahula Sankrityayan as I know him to-day—a man resembling the Buddha, a man absolutely free from hostility to any living being, universal in his outlook, absolutely calm, to whom children run up instinctively, to whom, man would respond as to CHRIST or GAUTAM ift he said 'Follow me.......''

—K. P. Jayaswal.

एक धर्म-प्रचारक जिसमें उत्तरीय के सिवा धार्मिक परम्परा का कोई आडम्बर नहीं; ऐसा विद्वान जिसने सारी विद्याओं में डूबकर केवल नास्तिकता को ग्रहण किया हो; एक साधु जिसे राह चलते, अनावश्यक अवसरों पर भी, ईश्वर पर व्यंग, शास्त्रों की भर्त्सना और झण्डे के प्रचार में आनन्द आता हो; साहित्य में रहते हुए जिसे राजनीति का मोह हो, और राजनीति की ओर अग्रसर होते हुए जिसे कुछ घृणा, कुछ झिझक-सी लगे; युग-विधायक अनुसन्धान करते हुए भी जिसे अपना श्रम व्यर्थ मालूम पड़ता हो; इतिहास को मुर्दों का क्षेत्र कहकर जो जिन्दों के बीच जीने की लालसा से रूस दौड़े, और जिन्दों के जीवन से मर्म पर व्याघात लेकर फिर मुर्दों के देश में लौट आये; प्रकाण्ड विद्वान; बहुत बड़ा स्वतंत्र विचारक; सांस्कृतिक क्रान्ति का उग्र नेता; क्रान्तदर्शी और विक्रान्त परिश्रमी; लेकिन अपनी पूरी शक्ति के उपयोग के योग्य निश्चित क्षेत्र के अभाव में अमूल्य विचारों का बहुत बड़ा बोझ ढोता-सा; संसार जिसे असाधारण एवं अज्ञेय रहस्य मानकर विस्मय करे उसे साधारण—अतिसाधारण—मानकर उसकी खिल्ली उड़ाता-सा; श्रद्धावान् हाथ जोड़कर जब गगनोन्मुख हो, तब ऐसा दिखलाता-सा मानों मैं आकाश में भी घूम चुका हूँ, वहाँ कुछ नहीं है; देवताओं के सामने मनुष्य और स्वर्ग के

सामने पृथ्वी को पूजनेवाला ; जो अपने तर्क के तीखे बाणों से परम्परा, रूढ़ि और प्राचीन संस्कारों पर कुटिल व्यंग कसने का आदी हो ; धुन का पक्का, लगन का कड़ा, साँप के फन पर जान-बूझकर पैर रखनेवाला ; ऐसी विचित्रताओं का आगार है वह मनुष्य, जिसे हम राहुल सांकृत्यायन के नाम से अभिहित करते हैं ।

और राहुलजी के स्वभाव की ये विशेषताएँ जिन्हें मैंने झाँकी को आकर्षक बनाने के लिये जरा गाढ़े रंग में दिखलाया है, परस्पर विरोधी नहीं हैं, गर्चे दूर से देखने पर वे आपस में मेल खाती-सी नहीं दीखतीं । दर असल वे उनके विचार-स्वातंत्र्य और अधिक से अधिक ठोस काम कर गुजरने की चेष्टा से निकली हुई विभिन्न किरणें हैं, जो अक्सर एक दूसरी के रंग से हटकर अलग रहती हुई-सी जान पड़ती हैं । ये उनकी इस अमोघ व्याकुलता की द्योतक हैं कि क्या करें कि तपस्या सफल हो, कौन मार्ग मिले कि राहुलजी का संग्रह अपनी पूर्णता के साथ संसार के व्यापक कल्याण का हेतु बन सके । वह एक बार अन्धविश्वास के अन्तराल में आलोक की तीव्रतम किरण बनकर घुसना चाहते हैं, दूसरे क्षण बौद्ध दर्शनों का अनुवाद बिखेरकर उस पर आघात करना चाहते हैं । कभी साहित्य में स्वतंत्र चिन्ता का समावेश करते हैं, कभी राजनीति को अन्ध-भक्ति के दलदल से निकाल लेना चाहते हैं । शक्ति का एक बहुमुखी स्रोत जो चारो ओर से मनुष्यों की मानसिक गुलामी का प्राचीर तोड़ना चाहता हो, किन्तु अन्तर्द्वन्द्वों के उलझन में फँसकर जिसके प्रहार का वेग इच्छानुकूल नहीं हो सका हो ।

कुछ वर्ष पहले की बात है । हिन्दी के मंच से रोमन लिपि का समर्थन सुनना सारी सभा के लिए असह्य था । और स्वर्गीय जायसवालजी के सभापतित्व में होनेवाले बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंच से छः फीट लम्बी एक दिव्य बलिष्ठ मूर्त्ति ने, बड़ी शान्ति और निश्चिन्तता के साथ यही अपराध किया था । खलबली के बीच एक सभासद ने क्षोभ से पूछा—'प्रस्तावक महोदय कहाँ के प्रतिनिधि हैं, उन्हें सभा की कार्यवाही में भाग लेने का वैधानिक अधिकार भी है ?' जायसवालजी ने उठकर अपने स्वाभाविक विनोद से उत्तर दिया—'राहुलजी तिब्बत के प्रतिनिधि हैं ।'

तब से उनके संसर्ग में रहकर यह जान सका हूँ कि राहुलजी में अधिकांश गुण अतिमानव के हैं । अगर जीवन ने प्रतिभा का साथ दिया तो उनका स्थान उन पुरुषों के बीच होना चाहिये जिनकी संख्या किसी भी युग में अधिक नहीं होती । आज जब उनके जीवन के दृष्ट और श्रुत समग्र अंश पर एक विहंगम दृष्टि डालने का अवसर आया है, तब मुझे ऐसा लगता है कि आज से लगभग बत्तिस वर्ष पूर्व जो बालक आजमगढ़ जिले के कनैला ग्राम से सांसारिक सुखों का मोह त्यागकर चला था, उसके हृदय में केवल विरक्ति की ही आग नहीं थी ; किन्तु एक अनिर्वचनीय पिपासा की ज्वाला भी, जो किसी दिन राजकुमार सिद्धार्थ के हृदय में जली थी, जो प्रत्येक युग में महामानवों के हृदय में जला करती है । राहुलजी का ध्यान एक ऐसी आत्मा का ध्यान है जो युग-युगान्तर से अन्धकार के बीच आलोक खोजती आ रही हो ; एक के बाद दूसरी आसियाँ उसके पथ में आती हों ; किन्तु वह उन्हें पीछे छोड़कर 'नेति नेति' इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, कहते हुए आगे बढ़ जाती हो, मानो जो सिद्धि मिली है वह उसे तृप्ति नहीं दे सकती, मानो जो कुछ वह खोज रही है वह उससे आगे है । राहुलजी के इस महान् अभिमान

में बार-बार ऐसी स्थिति पैदा हुई है जो मनुष्य की गति रोक सकती थी। वैराग्य के मार्ग में हाथ जोड़कर खड़ी होनेवाली मठ की सम्पत्ति को छोड़कर वह आगे बढ़े, अपनी आन्तरिक पिपासा को विद्या के जल से बुझाना चाहा, काशी में बैठकर संस्कृत-दर्शनों का अभ्यास किया, मद्रास जाकर वैष्णव-आगमों को अधिकृत किया ; फिर भी शान्ति नहीं मिली। अपने लिए तथा समस्त मानव जाति के लिए वह जिस महा आलोक की खोज में चल रहे थे उसकी प्राप्ति देवताओं की गुलामी करने से नहीं हो सकती थी। वैष्णव-आगमों से उन्हें निराशा हुई और वह आगे बढ़ गये। लङ्का पहुँचकर उनके संकल्प ने दुर्दान्त रूप धारण किया। लगभग दो वर्षों की कठोर तपस्या एवं बौद्ध-दर्शनों के अविरत मन्थन के बाद मिट्टी जैसे उनके पैरों के नीचे आई। और शायद पहली बार वैष्णव रामोदारदास के हृदय से विष्णु की भावना दूर हो गई। मायापुत्र गौतम के उपदेशों ने माया का फाँस काट दिया। राहुलजी (तब के रामोदारदास) के हृदय में यह बात बैठ गई कि मनुष्य का कोई अपना ईश्वर (Personal God) नहीं हो सकता। वह अपने कर्मों के सिवा किसी अन्य के अधीन नहीं है। उनके ज्ञान में मनुष्य की महत्ता अपने सम्पूर्ण चमत्कारों के साथ चमक उठी। संस्कृत आगमों के देवता मनुष्य से नीचे आ गये। स्वर्ग और नरक जलकर भस्म हो गये। आध्यात्मिकता भौतिकता से मिलने को नीचे उतर आई। छूँछा आदर्श, रहस्यवाद के फेरे में डालकर मानवीय श्रम को व्यर्थ करनेवाली दार्शनिक कल्पनाएँ कुहरे की भाँति फट गईं। राहुलजी ने देखा कि मनुष्य का जीवन उसके अपने हाथ में है। ईश्वर और देवताओं का साहाय्य लिये बिना, उपनिषदों के रहस्य-रूप पर मूर्ख की भाँति विस्मित हुए बिना वह अपने जीवन को जैसा चाहे बना सकता है।

बौद्ध-दर्शन के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की तृषा दुर्गम मार्गों से घसीटकर उन्हें तिब्बत ले गई। इसी सिलसिले में हिन्दी-साहित्याकाश में उनका उदय धूमकेतु की भाँति हुआ। भूमण्डल के सभी प्राच्य विद्याविद् (Orientalist) उनके ऐतिहासिक अनुसन्धानों पर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर विस्मय कर रहे हैं। धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्तिक को तिब्बत के मठों से भारत लाकर उन्होंने बौद्ध-दर्शन के इतिहास में इन्कलाब ला दिया है। शेरवाश्की, मास्को (Prof. Stchebatsky) उनके अनुसन्धानों का अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन कर उनका सम्मान करना चाहते हैं, उनके कार्यों को ऐतिहासिक महत्त्व देना चाहते हैं और स्वर्गीय जायसवालजी ने 'माडर्न रिव्यू' (LXI, No-2, 1937) में लिखा था कि राहुलजी ने लगभग डेढ़ सौ ऐसे ग्रन्थों का उद्धार किया है जिनमें से किसी एक का उद्धारक भी इतिहास में अमर पद पा सकता था। किन्तु राहुलजी यहाँ भी रुकते नहीं दीखते, मानो दिगन्तव्यापी सुयश के आलोक में भी कोई सार नहीं हो। ऐसा लगता है कि इस अनुसन्धान कार्य को छोड़कर वह फिर भी आगे जा रहे हैं किसी सार्वजनीन कल्याण की खोज में। उनकी आज की राह में मिट्टी ठोस और आकाश शून्य है। यह वह युग है जिसमें गांधी-जैसे सन्त की आदर्श-प्रियता राजनीति को अपना माध्यम चुन रही है। अजब नहीं कि राहुलजी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीति का ही अवलम्बन करें। कोरी आध्यात्मिकता के दिन सैकड़ों वर्ष पूर्व ही लद चुके। आज के अवतारों को भी राजनीति से अलग रहकर अपना सन्देश नहीं देना है।

पीले उत्तरीय से आवृत एक दीर्घकाय मनोरम मूर्त्ति, नख से सिख तक प्रतापवान् (Majestic), ओठों पर अन्तरतम से पल-पल उल्लसित आनन्द की हलकी रेखा, आँखों की

ऐसी प्रभा जैसे उनके पीछे बहु-दृष्टता का कोष छिपा हो और जैसे वे अब भी कुछ हेर रही हों, आकृति प्रसन्न, आनन के चतुर्दिक् अमोघ शान्ति का आलोक, राहुलजी सचमुच अपनी परम्परा के गुरु तथागत से मिलते जुलते हैं, सिवा इसके कि उनकी आँखों में बुद्धदेव की आँखों की नीलिमा नहीं है। बातें इतनी सरलता से करते हैं कि उनका शब्द-शब्द आपके दिल पर बैठता जाता है। कभी खुलकर नहीं हँसते फिर भी ऐसा लगेगा कि आपकी बातों से उन्हें काफी आनन्द आ रहा है। आपकी युक्तियों का खण्डन बड़ी सहजता से करेंगे और इतने कम शब्दों में कि आप को विस्मय होगा 'कहीं यह मनुष्य मुझसे इन्हीं प्रश्नों की आशा तो नहीं करता था?' उनकी आकृति पर वातावरण को असह्य बना देनेवाली विषैली गंभीरता की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अहिंसा का यह हाल है कि उनके कीमती समय में धँस पड़िये तो कभी अधीर भी नहीं होंगे। जितनी देर चाहिये बातें करते जाइये, उसी नैसर्गिक मुसकान के साथ बोलते जायँगे। स्वयं प्रश्न कम करेंगे; किन्तु कहीं आपके दिल पर हलकी-सी चोट न लग जाय इसलिये उत्तर अवश्य देंगे। ओठों पर मुस्की और आनन पर धैर्य वर्तमान रहेगा; किन्तु मन में उनका कार्य जो आपके आ जाने से अधूरा रह गया है, बार-बार टक्कर मारेगा; लेकिन वह उसे सहते रहेंगे, केवल इस आशा में कि रात में दो घण्टे अधिक जगकर वह इस कमी को पूरी कर लेंगे। और स्मरण रहे कि राहुलजी की दृष्टि में समय और श्रम से अधिक मोल किसी वस्तु का नहीं है। वह चम्मच से इसलिए खाते हैं कि हाथ धोने में समय बर्बाद नहीं हो। लङ्का के विद्यालङ्कार कालेज में जब उनका घनघोर अध्ययन अबाध रूप से चल रहा था तब वह कभी-कभी कहा करते थे कि 'अब मैं मिनटों का उपयोग तो कर लेता हूँ, हाँ, सेकण्ड कभी-कभी व्यर्थ चले जाते हैं।' अपनी महत्ता को छिपाने की कला में वह इतने पटु हैं कि आपको कभी मालूम भी नहीं होगा कि आप जिस मनुष्य के साथ घूम या बातें कर रहे हैं उसे ऐतिहासिकों के बीच युगविधायक होने का गौरव प्राप्त है, जिसके हृदय और मस्तिष्क में भारत की समस्त प्राचीन विद्याएँ घर कर गई हैं तथा जो प्रज्वलित होकर समस्त राष्ट्र के कल्याण की खोज में व्यस्त है।

राहुलजी के संसर्ग में आनेवाले व्यक्ति को यह जानते देर नहीं लगती कि यह साधु जो निष्काम, निर्लिप्त और अपने में पूर्ण है, अपने चारो ओर की वस्तुओं की वर्तमान स्थिति को असंतोष की दृष्टि से देखता है; किन्तु तो भी वह कभी उत्तेजित नहीं होते। बातों के सिलसिले में कभी-कभी वह व्यंग करते ही रहते हैं; किन्तु उनका व्यंग म्लान नहीं, निर्मल होता है। लक्ष्य तक पहुँचनेवाले वे व्यंग, यदा-कदा कटु तो होते हैं; पर उनके पीछे विष एकदम नहीं रहता। कुछ तो उनकी वाणी की मधुरता के कारण और कुछ उनकी निर्लिप्त भावना के कारण उनके मुँह से निकली हुई बात न सुनने योग्य होकर भी कानों को प्रिय लगती है। एक बार जायसवालजी से मैंने कहा—'आप जैसा बोलते हैं, ईश्वर पर आपका वैसा ही अविश्वास है कि नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। अगर ईश्वर-सिद्धि के पक्ष में केवल एक ही दलील हो तो भी वह काफी है, कि कोई था ही नहीं, तो यह सारी सृष्टि आई कहाँ से?' राहुलजी पास ही बैठे थे। जायसवालजी ने संकेत किया। झट बोल उठे—'कौन कहता है कि ईश्वर था ही नहीं? था ज़रूर; लेकिन बहुत दिन हुए बेचारा मर गया। देखते नहीं दुनियाँ कितनी दुखी है?' तीर लक्ष्य पर लगे और सुननेवाले का जी भी न दुखे, राहुलजी ऐसे व्यंग के धनी हैं।

बहुत दिनों तक फकीर बनकर देश-विदेश घूमने के कारण उनके स्वभाव में एक

प्रकार का फक्कड़पन, कुछ मनमौजी की-सी बान भी आ गई है जिसे हम उनकी संस्कृति (Refinement) के कारण नहीं देख सकते। राहुलजी का नाम लेते ही हमारे मनों में जायसवालजी, राखाल बाबू, शेरबास्की और ढीस-डेविज जैसे सुसंस्कृत व्यक्तियों के चित्र उग जाते हैं और इस पंक्ति में एक स्थान पर बैठनेवाला कोई फक्कड़ भी है, इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। तो भी यह कितनी भली बात है कि राहुलजी ऊँच-नीच का भेद नहीं मानते और जहाँ मन रम जाय वहीं जमकर आनन्द मनाने लगते हैं। प्रयाग में कितने ही आनन्द-भवनों के द्वार उनके स्वागत के लिये खुले रहते होंगे किन्तु सुनने में आया है कि वहाँ के किसी सौभाग्यशाली व्यक्ति पण्डित उदय त्रिपाठी (जो स्कूल के अध्यापक हैं) को अपने आतिथ्य का पुण्य देने में राहुलजी को संतोष होता है। प्रयाग की ही बात है। राहुलजी किसी सड़क से होकर पैदल ही जा रहे थे। कोई अपरिचित श्रद्धालु व्यक्ति जो इन्हें पहचानता था, दौड़ता हुआ आया और पैर पकड़कर विनय करने लगा कि वह उसके यहाँ भोजन करें। राहुलजी शायद उसके एक दिन पहले किसी मंत्री के घर खाने से इनकार कर चुके थे; किन्तु उस अजनबी के प्रेम से उनका हृदय पिघल गया और भावातिरेक में रोने भी लगे। जिन्हें राहुलजी को समीप से देखने का अवसर मिल चुका है वे ही बतला सकेंगे कि उनकी आँखों में आँसू आने का अर्थ क्या होता है। 'सन्त-हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहै न जाना।' लेकिन राहुलजी की यह भावप्रवणता तो परम्परागत है। एक बार तथागत ने भी आम्रपाली वेश्या का भोजन स्वीकार किया था।

बहुत सोचने पर भी मैं मानव और अतिमानव राहुल में भेद नहीं पा सकता। उनके अन्दर के सन्त और पण्डित का विकास समान रूप से हुआ है। उन दोनो का स्थान ऊपर-नीचे नहीं, बल्कि आमने-सामने है। जहाँ उनकी विद्या अपरिमेय है वहाँ उनका साधुत्व भी शिशुता-सा सरल और निरभ्र आकाश के समान मलहीन है। मानव मात्र पर उनकी दृष्टि एक-सी रहती है और देशभक्ति के मिथ्याभिमान से वह परे हैं। भारतीय होते हुए भी तिब्बत में रहते उन्हें कोई अभाव नहीं सताता मानो सारी मेदिनी ही उनके लिए एक समान हो। पहली ही दृष्टि में वह आपकी श्रद्धा पर अधिकार कर लेते हैं। ऐसा लगता है मानो स्वर्ग से सद्यः-अवतीर्ण कोई देव-दूत आपके सामने खड़ा हो। पहली ही दृष्टि में आप मान लेंगे कि यह कोई मुमुक्षु सन्त है जिसके राग निर्वापित हो चुके हैं, जिसके रक्त और मांस का प्रवेग शान्त हो चुका है और जो संसार के बीच रहकर भी संसार से ऊपर है। बात-बात में अहिंसा, मैत्री और शील का आदर्श बिखेरते हुए वह ऐसा दीखते हैं मानो बौद्ध-कालीन संस्कृति अतीत के म्युज़ियम से निकलकर वर्तमान तक सदेह चली आई हो।

देखते-देखते हिन्दी के बौद्ध-साहित्य के भाण्डार को राहुलजी ने पाली को छोड़कर संसार की समस्त भाषाओं से आगे कर दिया। जिज्ञासु पूछते हैं कि इस अजस्र शक्ति का रहस्य क्या है? उत्तर देना कठिन है। संकल्प की दृढ़ता और काम करने की अटूट शक्ति; इसके सिवा और क्या कहा जाय? राहुलजी खतरे को प्यार करते हैं और प्रतिज्ञा के बाद पैर पीछे नहीं हटाते। एक बार जो ठान लिया, फिर ठान लिया। किसी पथ पर पैर रखा तो सारी विपत्तियाँ एक साथ आकर सामना करें; लेकिन वह रंच भर भी पीछे नहीं हटेंगे। प्रतिज्ञा कर लेने पर राहुलजी का पौरुष अपने पूरे चमत्कारों के साथ जग उठता है। उस समय उन्हें यह ख्याल नहीं रहता कि

देखनेवाले उन्हें क्या कहेंगे अथवा स्वयं उनकी ही क्या दुर्दशा होगी। ज़रा कल्पना तो कीजिये। राहुलजी लंका से तिब्बत को चलते हैं। साथ में केवल एक सौ रुपए हैं। पास-पोर्ट नहीं मिलता है। नेपाल में घुसते हैं। भारत में तिब्बत के विषय में भयंकर से भयंकर कहानियाँ प्रचलित हैं। हिमालय के पार उनका कोई परिचित या मित्र भी नहीं है। नेपाल-सरकार की चौकसी है कि कोई भारतीय शिवरात्रि के बाद नेपाल में रहने न पाये। राहुलजी एक महीने तक कोठरी में बन्द रहते हैं। फिर एक रात चुपके से निकल भागते हैं। छिपकर, औघट घाट होते हुए, दुर्भेद्य अरण्य को चीरते हुए, दुर्दम शिखरों को रौंदते हुए, अकेले हिमालय पार करते हैं और तिब्बत पहुँचकर आनन्दजी को केवल यह लिखते हैं :—

'प्रिय आनन्द !

वन्दे।

कार्यं वा साधयेयम्

शरीरं वा पातयेयम्।

तुम्हारा

रामोदारदास।'

जिस दिन दो पंक्तियोंवाले इस पत्र की कथा सुनी, मुझे तो रोमांच हो आया। हृदय में सहसा एक विश्वास उठा। राहुलजी के लिये दुनिया में कुछ भी असम्भव नहीं है। सचमुच ऐसे पराक्रमी पुरुष को ईश्वर की आवश्यकता नहीं हो सकती। और ध्यान रहे कि यह वह मार्ग था, जिस पर नेपाल के प्रधान सेनापति के मतानुसार अक्खड़ से अक्खड़ नेपाली भी जाने की हिम्मत नहीं करता।

आज राहुलजी की जिस विद्या-बुद्धि का चारो ओर शोर है उसका संग्रह बड़ी कठोर साधना के बाद हो सका है। उनकी अध्ययनशीलता अपरिमेय है। पुस्तकों के बीच जब वह पड़ जाते हैं तब अपने-पराये का ध्यान भूल जाता है। महीने आये और महीने गये किन्तु राहुलजी प्राचीन ग्रन्थों के बीच पेट के बल लेटे हुए Living amongst the dead की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। नोट लेते-लेते कापियों का अम्बार लग गया है। पार्सल पर पार्सल आ रहे हैं, पर उन्हें तृप्ति नहीं होती। घर के बाहर क्या हो रहा है, इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। अगर दुर्भाग्यवश कभी ज्वर आ गया तो सिर्फ उनके भोजन में बाधा पड़ती है, अध्ययन का अबाध क्रम उसी निश्चिन्तता से कायम रहता है; उसमें कोई व्यवधान नहीं आता।

मिहनत का यह हाल है कि 'मज्झिमनिकाय' के तीन-तीन सुत्त का अनुवाद रोज कर जाते थे। बुद्धधर्म का अनुवाद चल रहा है तो फुलस्केप के १९ ताव रोज भर जाते हैं। प्रूफ देखना हुआ तो आठ-आठ दिनों के लिए आये हुए काम को एक ही रात में करके लौटा दिया। ऐसी रातें तो अक्सर आती हैं जो कलम की खुरखुराहट में ही गुजर जाती हैं। उनके जीवन में समय का माप कार्य है, दिन-रात नहीं। उनके इस अनवरत दानवी अध्यवसाय को देखकर जायसवालजी ने उनसे कहा था कि 'राहुलजी, इसी कठोर परिश्रम ने शंकराचार्य को चढ़ती जवानी में ही मार डाला। जरा इस बात को ध्यान में रखा कीजिये कि आप-जैसे मनीषी का जीवन देश के लिए मूल्यवान सम्पत्ति है।' इस पर राहुलजी ने विनोद से कहा—'डरने की कोई बात नहीं, मैं शंकर की आयु से अधिक जी चुका हूँ।'

मेंहदी का गुण लाली और अग्नि का गुण जैसे ताप है, उसी प्रकार राहुलजी के स्वभाव की सबसे प्रधान विशेषता उनकी बुद्धि-प्रियता और विचार-स्वातंत्र्य है। उनकी दृष्टि में तर्क से जो कुछ समझने योग्य है, वह ग्राह्य और जो कुछ भी इसके परे है, वह त्याज्य है। धर्म, राजनीति, साहित्य सभी जगह वह गणित की-सी स्पष्टता चाहते हैं। जीवन में बुद्धि के सामने वह भावना को कोई स्थान नहीं देते। बुद्धि जहाँ थक जाती है वहाँ बैठ जाने में उन्हें भी संतोष है; क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास है कि भावना जिस धूमिल अथच अस्पष्ट स्वप्न की ओर संकेत करती है वह एक विशाल भ्रम के सिवा कुछ नहीं है। मनुष्यों की स्वतंत्र-चिन्ता के वह बहुत बड़े हामी हैं। सूक्ष्म अनुभूतियों के लोभ में, भावनामूलक गोतीत ज्ञान के मायाजाल में फँसकर मनुष्य का मस्तिष्क पराजय स्वीकार कर ले, यह उन्हें सह्य नहीं हो सकता। इसीलिए प्रमाण और अवतरण का मूल्य उनकी दृष्टि में नहीं के बराबर है। माननीय बुद्धि की संतुष्टि के लिए प्रथम और अन्तिम प्रमाण बुद्धि ही होनी चाहिये। और जब व्यवहार में वह इस निर्धारित बुद्धि का प्रयोग करने लगते हैं तब एक मनोरञ्जक स्थिति पैदा हो जाती है और उनका असाधारण व्यक्तित्व औसत मनुष्यों से प्रत्यक्ष ही भिन्न जान पड़ने लगता है। परलोक की बातें करते हुए वह ठीक उसी भाव से बोलते हैं जैसे दुनियाँ के विषय में बोलना चाहिये। बड़ी सहजता से कह जाते हैं कि देवताओं का उद्धार भी मनुष्य ही कर सकता है। वैदिक देवताओं की उन्होंने एक तालिका भी बना रखी है जिसमें दिखलाया गया है कि पूषण, वृषाकपि, मन्यु प्रभृति देवता कब से कब तक जीवित रहे। संभव है, उनकी ये बातें ऐसी हों जिनमें गांभीर्य थोड़ा, बाकी सब का सब व्यंग हो, किन्तु वह अपने विचार-स्वातंत्र्य का प्रयोग करने में वहाँ भी नहीं हिचकते जहाँ उनकी आन्तरिक श्रद्धा का सवाल हो। जिस समय राहुलजी के हृदय में 'बुध, धर्म और संघ' की शरण जाने की इच्छा वेगवती हो उठी थी उन दिनों वह तिब्बत में थे और जिस महाभिक्खु के प्रभाव से उनका अन्तर सिक्त हो चुका था वह महास्थविर धर्म्मानन्दजी लङ्का में रहते हैं। कार्य की साधना के लिए तिब्बत में रहना जरूरी था और महास्थविर लङ्का से टल नहीं सकते थे। निदान राहुलजी ने अपनी धार्मिक भावना को मिट्टी पर उतारा और गुरु के सामने यह प्रस्ताव लिख भेजा कि 'तार के जरिये मुझे प्रव्रज्या की दीक्षा दे दी जाय।' तार के जरिये दीक्षा तो नहीं मिली, क्योंकि वैसा करने से दीक्षा-दान की मर्यादा का नाश होता; किन्तु इससे इस बात का पता चलता है कि विचार-स्वातंत्र्य के सिलसिले में राहुलजी कितनी दूर तक जा सकते हैं।

धर्म और संस्कृति के आचारों के सम्बन्ध में वे बड़े ही निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व-से दीखते हैं। बातें करते समय ऐसा भान भी नहीं होता कि जीवन में किसी समय उन्हें धार्मिक संघर्ष का सामना भी करना पड़ा है। अपने को पापी समझने पर आत्म-दर्शन की पीड़ा—मन-स्ताप की जो वेदना होती है उससे वह सर्वथा अपरिचित-से दीखते हैं। वैष्णव रामोदारदास को मैंने नहीं देखा और मेरे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि राहुलजी उस समय धर्म-भीरु भी थे; किन्तु आज तो बौद्ध-दर्शन का अनीश्वरवाद उनके जीवन का अङ्ग हो गया है। इस मामले में वह इतने निश्चिन्त हैं कि इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि यह नास्तिकता (?) किसी सचेतन चेष्टा का परिणाम अथवा उनके जीवन की कोई उल्लेख्य घटना हो। ऐसा लगता है मानो यह उनके साथ ही पैदा हुई हो।

और यह सच है कि ईश्वर की भावना का तिरस्कार उन्होंने स्वतंत्र चिन्ता के मार्ग को साफ रखने के लिए किया है।

बुद्धिवाद संग्रह और त्याग के पहले समीक्षा की आवश्यकता में विश्वास करता है। बुद्धिवादी किसी वस्तु को इसलिए नहीं दुत्कारता चूँकि सदियों से लोग उसे त्याज्य समझते आये हैं; त्योंही किसी भी विचार को वह इसलिए नहीं अपनाता चूँकि युग-युगान्तर से मनुष्य उसे श्रेष्ठ कहता आया है। यही कारण है कि तर्कशील राहुल कई ऐसी बातों का अनादर कर जाते हैं जिनके अनादर की संभावना नहीं रहती और कई ऐसे विचारों का समर्थन कर देते हैं जिन्हें सुनने में भी हमें पाप का बोध होता है। व्यावहारिकता उनके विचारों की आधारशिला है। उनका विश्वास है कि जिस अनुपात में हम आदर्शों की मूर्त्ति गढ़कर उन्हें अन्धविश्वास-पूर्वक पूजते हैं उसी अनुपात में वास्तविकता का मूल्य न्यून और उसके अर्थ का वृत्त संकुचित हो जाता है। धार्मिक विषयों पर बोलते हुए उनकी यह भावना अनायास ही बाहर आ जाती है कि मनुष्य ठीक उन्हीं तत्वों की पूजा कर रहा है जो उसके अभ्युदय, भविष्य और उसकी आवश्यकताओं के बिलकुल विपरीत हैं।

× × ×

परिश्रम में शङ्कर, उग्रता में दयानन्द और शान्तिप्रियता में तथागत के समान; लेकिन इस विशाल संग्रह का अंजाम क्या होगा? क्या प्राचीन ग्रन्थों के उद्धारमात्र से राहुलजी की शक्ति अपनी उपयोगिता को प्रमाणित कर सकेगी? चित्रांकण का प्रयोजन समीक्षा से नहीं है, किन्तु देखने में आया है कि युग-प्रवर्तन का कार्य केवल लेखनी से नहीं चलाया जा सकता। उसका प्रधान साधन वाणी है। और सच पूछिये तो वाणी के सामने लेखनी है भी क्या चीज़? लेखनी, वाणी और चरित्र के योग से राहुलजी इतिहास के पृष्ठ पर क्या प्रभाव छोड़ जायँगे, इसकी प्रतीक्षा है।

मधुबनी।

सियारामशरण गुप्त

['अज्ञेय']

['अज्ञेय'जी के विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं है। आपका एक सुंदर शब्द-चित्र श्री प्रभाकर माचवे ने लिखा है, जिससे आपके कलाकार एवं मनुष्य-रूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। —सं०]

पहले ही पत्र में उन्होंने पाँच-छः श्री मैथिलीशरण की और पाँच-छः अपनी पुस्तकें भेजते हुए लिखा था, 'भइया की आज्ञा से आपको अमुक-अमुक पुस्तकें भेज रहा हूँ।' तब मैं जेल में था, पुस्तकें पाने का (वह भी गुप्त-बन्धुओं से!) सुख इतना बड़ा था कि चिट्ठी की छान-बीन मैंने नहीं की।

पर जब चिरगाँव में मैंने अपने उपन्यास की हस्तलिपि के बारे में उनकी राय पूछी और तब भी उन्होंने कहा, 'भइया उपन्यास कम पढ़ते हैं, पर आपका उपन्यास वे रात के दो बजे तक पढ़ते रहे, समाप्त करके ही सोये।' तब मैंने 'भइया की आज्ञा' और 'भइया की राय' में एक कड़ी देखी, और उसे चुपचाप गुनते हुए पूछा, 'पर आप अपनी राय तो दीजिये—'

और उनके उत्तर में उनका सारा चारित्र उभर आया—इतना स्पष्टतया छायाङ्कित कि देखनेवाले को रोमाञ्च हो आये। उन्होंने सौम्यभावेन कहा—'पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में ऐसा विचार उठा था, कि आत्मकथा में लेखक को कन्फेशन (अपराध-स्वीकृति) का अधिकार है, आरोप का नहीं।' और लजाकर चुप हो गये।

× × ×

यह सूत्र मानों इस व्यक्ति के जीवन का सार तथ्य है; दमा के कारण अत्यन्त कष्ट से खींची गई एक-एक साँस, आप्तजनों के वियोग की एक-एक चोट, लेखक-कवि की हैसियत से बहुत हाल तक पाई हुई उपेक्षा की एक-एक हताशा को एक ही शान्त, निर्वाक्, आस्थाभरे हृदय में पकाकर उससे खींचा हुआ अनुभव—कि स्वीकृति का ही अधिकार हमें है, आरोप का नहीं, कि सविनय आत्मदान ही जीवन है।

और उसमें निष्ठा इतनी है कि वह अनजाने ही इस सत्य को धार और पाल रहा है। उसका आत्मदान अपनी रचना के प्रति, अपने परिजनों के प्रति, अपने आत्मीयों के प्रति, और अन्ततः अपने निर्माता के प्रति, अक्षुण्ण और सदा प्रवहमान है।

श्रद्धा से वह विनत है, बड़े भाई से काव्यदीक्षा लेकर वह अब दर्जन-एक ग्रन्थ लिखकर भी अपनी नयी रचनाएँ उसी तरह भाई के आगे रखता है जैसे एक बालक खड़िया से पुती हुई पट्टी आराध्यगुरु के आगे रखे ; प्रकाशक के बाद किसी घृष्णु आलोचक-द्वारा उल्लिखित होकर भी उस निष्कपट कृतज्ञता के रस से भर सकता है जो दुःख की आग से दीक्षित व्यक्ति में ही हो सकती है ।

इसी मौलिक विनय के कारण वह ज्ञान-पिपासु है । उसमें स्वाध्याय की लगन इतनी है कि अंग्रेजी का साधारण ज्ञान होते हुए भी एक साईक्लोपीडिया और एक कोष के सहारे वह ब्राउनिंग सरीखे विकट कवियों की रचनाएँ पढ़ डालता है ।

वह झुका हुआ है, पर वह झुकना दीन का नहीं, अत्यधिक संवेदनशील दानी का है, जो दान देने की परिस्थिति में अपने को पाकर लज्जित है । तभी तो जहाँ वह परम्परा का सम्मान करता है, परम्परा में आस्था रखनेवाले भाई का सम्मान करता है, वहाँ वह परम्परा के विरुद्ध चलने का भी साहस रखता है ; वर्ण-व्यवस्था को अमान्य करके अछूत परिचारक रख सकता है और उसकी वकालत भी (बिना आरोप लगाये !) कर सकता है, नारी के अधिकारों की अवमानना का उग्र विरोध (यह भी बिना आरोप लगाये, इतना है उसका मानव प्रेम !) कर सकता है ; किसी भी दलित या उपेक्षित के लिए भरसक प्रयत्न कर सकता है—ताण्डवकारी शिव का नहीं, राजा शिवि का आदर्श सामने रखकर ।

× × ×

देखने में वह अत्यन्त साधारण है, चिरकालिक शारीरिक यातना के सख्य से उसका चेहरा मँजा हुआ है, आँखे दमा की कष्टकर साँसों के कारण कुछ उभर आई हैं और पीली पड़ गई हैं, रूखे उलझे हुए बालों के बोझ से दबा कृश शरीर आ केम्पिस के वाक्य की याद दिलाता है—'मैं एक बाँस की पोरी-सा हूँ जिसमें से तेरा श्वास-प्रश्वास आता है और चला जाता है ।' पर उसका सामना होते ही लगता है जैसे उस श्वास-प्रश्वास की एक हल्की-सी लहर दर्शक को भी छू गई है ।

उसकी रचनाओं में चट्टान की-सी परुष महानता नहीं है, उसमें उस नदी का नीरव प्रसार है जो रेतीले पाट के नीचे अन्तः-सलिला होकर बहती है । यह ठीक है कि वह लहू से नहीं लिखता, आँसुओं से लिखता है ; किन्तु उसके आँसू उसके ज्वलन्त मानव-प्रेम से लाल हैं ।

कलकत्ता, ३:१२:'३८.

'बच्चन'

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

हिन्दी कविता में 'हालावाद' नाम की जो एक नवीन धारा बह रही है, उसे समझने के लिए एक कवि का व्यक्तित्व कुछ ऐतिहासिक कारणों के साथ-साथ समझना जरूरी है। 'हाला-वाद' का गान्धीवाद से भी कुछ संबंध है, यद्यपि ऊपर से सुनने में यह बात अजीब-सी लगती है। 'बच्चन' ने दाँडी की समर-यात्रा से प्रेरित हो युनिवर्सिटी छोड़ दी थी। जेलों में अनेक भावुक युवा कवि बन गये, और हाला को याद कर कारागार का कष्ट भूलने का प्रयत्न करने लगे। 'बच्चन' की 'मधुशाला' में क्रान्ति की गूँज स्पष्ट है, यद्यपि केवल कला के नाते उसका मूल्य उतना नहीं, जितना 'मधु-कलश' आदि का। 'बच्चन' में प्रचलित समाज-योजना के प्रति प्रबल विरोध का भाव है। मध्यवर्ग की खंडहर संस्कृति में फँसे विफल वह हाला में अपने को भूल जाना चाहते हैं; जैसे 'रूपाभ' से पहले के पन्त कोमल रेशमी तारों के स्वप्न-जाल में, 'प्रसाद' अतीत के इतिहास में और महादेवी वर्मा दीप जला प्रियतम की परीक्षा में। यही आधुनिक हिन्दी काव्य का निराशावाद है।

'बच्चन' नवयुवक कवि हैं। नित नूतन शक्ति वे संचित कर रहे हैं। 'मधुशाला' से 'मधुबाला' और 'मधुबाला' से 'मधु-कलश' तक उन्होंने विकास और प्रगति के नियमों को निबाहा है। अब 'निशा-निमन्त्रण' में नई दिशाओं की ओर उन्मुख वह उन्नति के ही पथ पर चल रहे हैं।

क्रान्ति की भावना अब भी उनमें प्रबल है। किन्तु वह पर्वतों में विचरनेवाली कविता की उन्मत्त धार मैदान में आकर प्रौढ़, गहरी और गम्भीर हो रही है। अब मनुष्य का केवल हृदय ही न छूकर वह उसके मस्तिष्क तक पहुँचती है।

क्या है हिन्दी के इस तेजस्वी, अभिमानी और कुछ हद तक उच्छृङ्खल कवि के छोटे-से जीवन का इतिहास? क्या है उसके अदम्य व्यक्तित्व की रूप-रेखा? क्या इस बाहरी वेष-भूषा में छिपा उसका व्यक्तित्व हम खोज भी सकते हैं? वह स्वयं कहता है:

'बूझ दुनिया यह पहेली, जान 'कुछ' मुझको सकेगी!'

जब कलाकार कोई व्यक्ति-चित्र बनाता है, तो बाह्य रूप-रेखा कुछ मिलती-जुलती-सी

होकर भी विकृति हो जाती है, क्योंकि चित्रकार बाह्य मनुष्य का नहीं, वरन् उसके अन्तर का चित्र खींचने का प्रयत्न करता है। 'बच्चन' के रूखे, बिखरे बाल, कृश गात, किसी घोर तपसाधन में सुखाया शरीर, मस्ती, अलस भाव भरी आँखें, कुछ चीनियों जैसे सूके-से पलक—उनके मुख का पूरा भाव, उनकी संपूर्ण आकृति मानो 'मधुशाला' का साकार रूप हो! किन्तु 'बच्चन' का शरीर व्यायाम से गठा, स्वस्थ और कठिन है। हम सोचते हैं अवश्य ही इस व्यक्ति का समाज से विरोध होगा, और इस संघर्ष में केवल अभिमान ही उसका सहायक होगा! कुछ-कुछ 'Faust' का हमें स्मरण हो आता है।

'बच्चन' के व्यक्तित्व का एक बड़ा आकर्षण है उनका स्वर। हिन्दी की अनेक सभा उनके मधु-गान से मोहित हो चुकी हैं। जब वे अपने गंभीर कण्ठ से स्वरों के उतार-चढ़ाव सहित बड़ी तल्लीनता से अपनी 'पगध्वनि' सुनाते हैं, तो हमें संगीत और साहित्य का सुख एक साथ ही मिलता है। 'बच्चन' की कविता का पूरा आनन्द उसे उन्हीं के मुख से सुनकर मिलता है।

'बच्चन' का जन्म २७ नवम्बर १६०७ को प्रयाग, मुट्ठीगंज में हुआ, जहाँ वह अब भी रहते हैं। आपका नाम 'हरिवंश राय' कम लोग जानते हैं। आपकी माँ आपको 'बच्चन' कहकर पुकारती थीं। यह उचित ही है कि उस स्नेह के नाम से आपने जग में ख्याति पाई। आपकी प्रारंभिक शिक्षा म्यूनिसिपल स्कूलों में हुई। सन् १६२५ में आपने कायस्थ पाठशाला से हाई स्कूल पास किया; १६२७ में गवर्नमेन्ट इंटर कॉलिज से इंटरमीडिएट और १६२६ में प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। हिन्दी-साहित्य की आपको शुरू से ही अच्छी जानकारी रही है; बी० ए० में हिन्दी-साहित्य में आपको लगभग ८०% नम्बर मिले थे और इसी कारण आपको प्रथम श्रेणी पाने में सुविधा रही थी। एम० ए० आपने अँग्रेज़ी में शुरू किया; किन्तु उसी वर्ष सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ा और आपने यूनिवर्सिटी त्याग दी। गान्धीवाद से असंतोष बढ़ने पर आपका क्रान्तिवादियों से संपर्क हुआ। यहाँ आपको 'प्रेम की सुकुमारता और कर्त्तव्य की दृढ़ता साथ-साथ मिली। इस बीच आपने 'चाँद', 'भविष्य', 'अभ्युदय', प्रयाग महिला विद्यापीठ, पायनियर प्रेस और अलाहाबाद मिडिल स्कूल आदि में काम भी किया। आपके जीवन का यह भाग १६३४ के अन्त तक रहा। अब भी आप उस कठिन जीवन की याद कर सिहर उठते हैं।

आपका विवाह १६२६ में हो गया था। नवम्बर १६३६ में आपकी पत्नी का देहावसान आपके जीवन की दारुण घटना है। निरन्तर ही 'बच्चन' को उनकी काव्य-प्रेरणा में स्वर्गीता श्यामा देवी ने सहायता दी। ऊँचे आलोचक के उनमें गुण थे। उन्होंने 'बच्चन' से कहा था—'तुम्हारी 'मधुशाला' को लोग भूल जायँगे, लेकिन तुम्हारी 'ख़ैयाम की मधुशाला' जीवित रहेगी।' बड़े सुन्दर शब्दों में 'बच्चन' ने अपना 'मधु-कलश' आपकी भेंट किया है: 'यह 'मधु-कलश' दिवंगता देवी श्यामा की स्मृति में विशाल विश्व-वृक्ष की डाल में चिरकाल तक बँधा रहे!' 'बच्चन' लिखते हैं—'मेरे जीवन के सबसे अधिक संघर्षमय काल में मुझे जैसी संगिनी की आवश्यकता थी, वह बिलकुल वैसी ही थीं। उन्होंने अपने को मेरे लिए मिटा दिया।'

१६३४ में बच्चन को अग्रवाल विद्यालय में हिन्दी शिक्षक की पक्की जगह मिली। अपने जीवन-स्वप्नों में निराश होने के कारण १६३५ में आप क्षय रोग से ग्रस्त हुए। 'इस पार—उस पार' कविता इसी बीमारी की दशा में लिखी गई थी। किसी प्रकार आप अच्छे हो गये।

किन्तु जिस महीने आप अच्छे हुए, उसी महीने आपकी पत्नी बीमार हो गईं और फिर चारपाई से न उठ सकीं।

काम में अपने को भूलने के लिए जुलाई १९३७ में आपने फिर यूनिवर्सिटी में नाम लिखाया। एम० ए० पास करके इस वर्ष आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी० टी० के लिए पढ़ रहे हैं। आशा है इतना भटकने के बाद आपकी जीवन-नौका कहीं ठौर-ठिकाने से लगेगी।

कविता, संगीत और चित्रकला की ओर आपकी रुचि बहुत बचपन से थी। संगीत और चित्रकला के लिए आपको प्रोत्साहन न मिला। कुछ कविताएँ आपने आठवीं कक्षा में लिखी थीं। वे नष्ट हो गई हैं। क्रमानुसार लिखने का कार्य १९३० से आरम्भ हुआ। 'तेरा हार' १९३० की कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह की बहुत-सी कविता आपका देश-प्रेम व्यक्त करती हैं; कुछ भविष्य का भी इंगित करती हैं; किन्तु इस संग्रह में अबके सुपरिचित 'बच्चन' की प्रौढ़ता और काव्य-प्रेरणा नहीं। इस काल के कई संग्रह अभी तक अप्रकाशित हैं: 'तेरी बाँसुरी', 'मान-सरोवर', 'कदंब', 'चाँदनी' और 'उपवन'। 'तेरी बाँसुरी' प्रकाशित होनेवाली है।

'बच्चन' का गल्प संग्रह भी अप्रकाशित है। आप सुन्दर गल्प लिखते हैं। 'निशा-निमन्त्रण' के आरम्भ में आपने अपनी एक कहानी दी भी है। युवक-गल्प-सम्मेलन, प्रयाग में आपको अपनी गल्प के लिए प्रथम पुरस्कार मिला था। सुन्दर, स्निग्ध भाषा और भाव-गम्भीरता आपकी गल्प के विशेष गुण हैं। गद्य-काव्य के वह अधिक समीप है।

'मधुशाला' से 'बच्चन' को सर्वप्रथम ख्याति मिली। एक समय उत्तरापथ पर उसका राग इतनी शीघ्रता से लोकप्रिय हो रहा था कि कुछ सामन्तीय मनोवृत्ति के लोग कहने लगे, वह 'गलियों का गाना' हो जायगी। अब भी 'बच्चन' 'मधुशाला' के कवि के रूप में ही लोक-कल्पना में बसे हैं, यद्यपि काल के अनुसार उनकी कविता का रूप बदल रहा है। इसी मधु-प्रेम के कारण 'बच्चन' हिन्दी में उमर ख़ैयाम के सबसे सफल रूपान्तरकार रहे हैं। एक प्रसिद्ध रुबाई का अनुवाद आप करते हैं:—

'उषा ने फेंका रवि-पाषाण
निशा-भाजन में जल्दी जाग
प्रिये ! देखो पा यह संकेत
रहे कैसे तारक दल भाग !
और देखो तो उठकर, प्राण !
अहेरी ने पूरब के लाल
फँसा ली सुल्तानी मीनार
बिछा कैसा किरणों का जाल !'

'बच्चन' की 'मधुशाला' में इस युग और समाज की पीड़ा निहित है। बाज़ार में बिकनेवाली मदिरा वह नहीं खोज रहे:

'वह हाला कर शान्त सके जो
मेरे अन्दर की ज्वाला।
जिसमें मैं बिंबित-प्रतिबिंबित,
प्रति पल वह मेरा प्याला॥

'मधुशाला' वह नहीं जहाँ पर,
मदिरा बेची जाती है,
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती,
मेरी तो वह मधुशाला ॥'

कविता उनकी मधुशाला है। यही मधु पीकर वे बेसुध हो जाते हैं :

'भावुकता अंगूर-लता से,
खींच कल्पना की हाला।
कवि बनकर है साक़ी आया,
भरकर कविता का प्याला ॥'

कहीं-कहीं 'मधुशाला' की जीवन से तुलना की गई है। अनेक तृषित जीव प्यास लिये इस मदिरालय में आते हैं, और पल भर रुककर प्यास बुझाने का विफल प्रयास कर चले जाते हैं :

'कितनी थोड़ी-सी यौवन की
हाला, हा, मैं पी पाया!
बन्द गई हो कितनी जल्दी
मेरी जीवन 'मधुशाला' !'

'मधुशाला' मनुष्य-जीवन का चरम-लक्ष्य है। अनेक पथ उधर जाते हैं, किन्तु मिलते सब एक ही स्थान पर हैं :

'मदिरालय जाने को घर से
चलता है पीने वाला,
'किस पथ से जाऊँ ?' असमंजस
में है वह भोला-भाला,
अलग-अलग पथ बतलाते सब
पर मैं यह बतलाता हूँ—
'राह पकड़ तू एक चलाचल,
पा जायेगा मधुशाला ॥'

'मधुबाला' और 'मधु-कलश' की कुछ कविताओं में 'बच्चन' ने अपना आत्म-परिचय दिया है। आप 'निराशावादी' हैं ; आपके काव्य में 'वासना का पुट' है ; आप पथ-भ्रष्ट हैं—ऐसे अनेक आक्षेप आप पर हुए हैं। उन्हीं का उत्तर आपने इन कविताओं में दिया है। 'आत्म-परिचय' में आपने अपना चित्र खींचा है :

'मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिये फिरता हूँ ;
हों जिसपर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिये फिरता हूँ !

× × ×

है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ !'

'पथभ्रष्ट' शीर्षक कविता में और भी स्पष्ट और मधुर शब्दों में आपका व्यक्तित्व प्रगट हुआ है :

'पार तम के दीख पड़ता
एक दीपक झिलमिलाता,
जा रहा उस ओर हूँ मैं
मत्त मधुमय गीत गाता,
इस कुपथ पर या सुपथ पर
मैं अकेला ही नहीं हूँ,
जानता हूँ, क्यों जगत फिर
उँगलियाँ मुझपर उठाता—
मौन रहकर इस लहर के
साथ संगी बह रहे हैं,
एक मेरी ही उमंगें
हो उठी हैं व्यक्त स्वर में।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नजर में ॥'

'बच्चन' विद्रोही कवि हैं। आपका व्यक्तित्व विद्रोह की प्रतिमूर्ति है। यद्यपि नियति के वारों से आपका मस्तक रक्ताभ है, किन्तु अभी तक वह झुका नहीं। अब तक आपके काव्य का विशेष गुण आपका यही विद्रोह-भाव रहा है। आपके अस्त-व्यस्त बाल और कपड़े, आपकी मधु-पूजा, आपकी भाषा में उर्दू का कुछ पुट, आपका काव्य-संगीत—सभी में कुछ नवीनता है। प्रत्येक बात आपको क्रान्तिकारी कवि ऐलान करती है। आपका अभिमान, आपके काव्य में वासना की गंध, आपकी स्वच्छंदता और उच्छृङ्खलता—उसी विद्रोह भावना के दूसरे रूप हैं।

अब यह आग दबती जा रही है। किन्तु फिर भी राख में दबे अँगारे या मैदान में दूर चमकती दीपशिखा की भाँति आपके काव्य में दीखती है। आपकी कविता के वेष-भूषा में अब संयम आ चला है। इस युग के अग्रगण्य कवियों में अब आपकी गिनती होने लगी है। आपका संगीत अब अत्यन्त कोमल और सुकुमार हो गया है :

'है आज भरा जीवन मुझ में,
है आज भरी मेरी गागर।'

× × ×

'है आज गया कोई मेरे
तन में, प्राणों में, यौवन भर
अपने से ही फूटा पड़ता
मुझ में लय-ताल सहित मृदु-स्वर।'

किन्तु अब भी आप कह उठते हैं :—

'रक्त से सींची गई है
राह मन्दिर-मस्जिदों की,

किन्तु रखना चाहता मैं
पाँव मधु-सिंचित डगर में।
पाप की हो गैल पर
चलते हुए ये पाँव मेरे,
हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में।।'

हाल में ही 'बच्चन' के नये सौ गीतों का संग्रह 'निशा-निमन्त्रण' निकला है। इन गीतों में elegy का भाव है। 'रात्रि के अन्धकार पूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रंजित कर' आपने यह गीत तैयार किये हैं। दुःख का भाव जो सदैव ही 'बच्चन' की कविता में प्रमुख रहा है, इन गीतों में कुछ अधीर और दुःसह रूप में प्रगट हुआ है। अपने लिए आप कहते हैं:

'डर न लगे सुनसान सड़क पर,
इसीलिए कुछ ऊँचा स्वर कर
विलग साथियों से हो कोई पथिक, सुनो, गाता आता है।
अन्धकार बढ़ता जाता है!'

'अन्तरिक्ष में आकुल-आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पन्थ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक—अकेला!
बीत चली सन्ध्या की बेला!'

इन गीतों में बच्चों ने एक 'साथी' की कल्पना की है। उसी को गुनगुनाकर आपने अपने गीत सुनाये हैं:

'साथी, अन्त दिवस का आया।'

अपने नये संग्रह 'एकान्त का संगीत' में, जो अभी तैयार हो रहा है, आप एकाकी हैं। दैव ने ही आप का जीवन-संगी छीन लिया।

आशा है कठोर चिकित्सक काल आपके इस असह्य पीड़ा-भार को कुछ हलका कर देगा। कवि 'बच्चन' तो निरन्तर उन्नति के पथ पर हैं। 'निशा-निमन्त्रण' पूरा करके आपने गीतों की एक नई माला शुरू कर दी है। आज 'बच्चन' की काव्य-धारा अदम्य वेग से बह रही है। आज आपके कण्ठ का उमड़ा गान रोके नहीं रुकता:

'मैं मौन खड़ी किस भाँति रहूँ,
जब बज उठते हैं पग-पायल!'

प्रगति की ओर जाते हुए इस कवि से हिन्दी को बड़ी-बड़ी आशाएँ हो रही हैं। नियति ने उसका जीवन पीड़ा से भर दिया है। किन्तु जो उसका गीत उमड़कर कुछ दिन तक कण्ठ में अवरुद्ध था, फिर फूट निकला है। उसके जीवन में अब एक नया व्यवधान और संयम आ रहा है। किन्तु हम आशा करते हैं कि यह विद्रोह की चिनगारी उसके हृदय में सदा ही जलती रहेगी; क्योंकि असंतोष ही मनुष्य का जीवन है!

आगरा।

सुकवि 'दिनकर' : एक शब्द-चित्र

[कामेश्वर शर्मा]

एक छः फीट लम्बा नौजवान, रंग गोरा, शरीर भरा हुआ, कानोंकी लम्बाई ध्यान खींचनेवाली, आँखों की ज्योति न तो शीतल और न कुपित—मानो उन्होंने संसार से समझौता कर लिया हो, मूँछें चौड़ी नहीं, किन्तु यत्किंचित घनी, जिनकी ऐंठन पुरुष के व्यक्तित्व का अंग बन चुकी हो—ठीक वैसे ही जैसे पंतजी के वेश में उनके केश प्रधान हैं। स्वभाव और आकार दोनो में क्षत्रित्व की झांकी, मित्रों के मिलते ही जिनकी आकृति पर नैसर्गिक मुसकान खिल आती है, आँखें चमकने लगती हैं, शैशव-सा सरल, यौवन-सा मस्त, ऐसी निष्कपटता के वासस्थान जो कभी-कभी दोष भी बन जाय—यह हैं 'दिनकर'जी हमारे साहित्य में अपने ढंग के एक ही कवि; जिन्होंने राष्ट्रीयता, शौर्य्य और सामूहिक दुःखानुभूति को साहित्य में स्थापित करके निष्प्राण और अशक्त कही जानेवाली हिन्दी कविता में जीवन डाला है।

उनसे मिलनेवालों को जो बात सर्वप्रथम आकर्षित करती है, वह है उनकी सरलता और निरहंकारिता। लाख कोशिश करने पर भी 'दिनकर' लोगों के साथ अपने ऊपर काफी काबू रखकर, Reservation के साथ नहीं मिल सकते। पहली ही भेंट में वह बिल्कुल खुल पड़ते हैं। साधारण और दैनन्दिन लोकाचार में भी चातुर्य्य और सतर्कता की आवश्कता होती है, यह मानते हुए भी 'दिनकर' व्यवहार में कुशल नहीं माने जा सकते। कई बार इस वृत्ति का कुपरिणाम भुगतने के बाद भी वह इस दोष से बरी नहीं हैं। पं० बनारसीदासजी ने एक बार अपने विषय में कहा था कि 'मैं आदमी हूँ सेकण्ड क्लास, बातचीत करने का तरीका है थर्ड क्लास और मेरा प्रोपैगेन्डा है फर्स्ट क्लास का।' यदि अन्तिम बात को बाद दे दिया जाय तो यही कथन 'दिनकर' पर भी लागू हो सकता है। जिस समाज में स्पष्टता का अर्थ दुर्विनीतता, अधिक मिलनसार होने के मानी खुशामद और कायरता, और असहमति का कारण केवल ईर्ष्या मानी जाती हो, वहाँ तो मनुष्य को मिलने-जुलने के मामलों में काफी सतर्क होना ही चाहिये। किन्तु मैंने देखा है कि कुफल पर कुफल भोगने के बाद भी 'दिनकर' इस दोष को नहीं छोड़ सकते। उनमें सरलता की मात्रा इतनी अधिक है कि वह केवल मनुष्य के विचारों का ही आदर नहीं करते, प्रत्युत कभी-कभी उसकी झक (Prejudice) को भी उसी के दृष्टिकोण से समझने लगते हैं।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक मनुष्य के सभी मित्र अधिकांश बातों में एक ही विचार रखनेवाले होते हैं ; लेकिन 'दिनकर'जी की मित्र-मंडली शिवकी बारात जैसी है। उसमें ऐसे भी जोड़े हैं जो आपस में मतभेद रखते और एक दूसरे से बातें करना भी अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। लेकिन 'दिनकर' का स्वभाव एक ऐसा संगम-स्थल है, जहाँ विरोधी धाराएँ भी आपस में मिली-सी दीखतीं हैं। अपने विरोधियों के साथ भी वे वहाँ तक मजे में चले जाते हैं, जहाँ जाकर रास्ता अलग हो जाता है। कहने को तो वह कह देते हैं—'क्योंजी, गांधीजी जो कहा करते हैं कि पाप से घृणा और पापी से प्यार करना होगा, सो अगर मैं तुम्हारे पाप से नफ़रत करता हूँ, तो मुझे ऐसी क्या पड़ी है कि तुमसे प्यार भी करूँ ?' पर व्यवहार में वह ठीक इसके विपरीत हैं। वह पापी से प्यार ही नहीं करते, बल्कि कभी-कभी उसके पास से घृणा भी करना भूल जाते हैं। कहने में हिचक होती है, किन्तु मुझे आशंका है कि शालीनतावश वह उसके पाप का मार्ग रोकना भी छोड़ देते हैं। और तब मुझे ऐसा लगता है कि मानो मनुष्य का आदर वह उसकी कमजोरियों के साथ ही करते हैं—उसे शुद्ध करके नहीं। वह अक्सर कहते ही रहते हैं कि वैयक्तिक विशेषताओं और दुर्बलताओं के बावजूद भी सभी मनुष्य समान हैं, क्योंकि वे सब के सब मनुष्य हैं। हमें कवि, पंडित या नेता होने के पहले मनुष्य होना चाहिये। विशेषताएँ और दुर्बलताएँ तो संयोग की बेटी हैं। आज का पापी कल को पवित्र हो सकता है। उसी प्रकार आज का योगी, नेता या कवि कल अपनी मर्यादा से उतर जा सकता है। किन्तु मनुष्य तो हमें यावज्जीवन रहना ही है। विशेषताओं के आधार पर हम यदि अपनी रेखा औसत लोगों से अलग होकर खींचें तो कल सन्ध्या को हमें कौन पूछेगा ?

हम लोग आये-दिन बहुत दुःख के साथ देखा करते हैं कि हमारे वर्तमान साहित्यकारों के बीच अनवरत जलनेवाली द्वेष-भावना, स्पर्द्धा की लपटें कितना विकराल रूप धारण कर लेती हैं। यदि भूल से कभी किसी कवि ने अपने किसी सहकर्मी की स्तुति में मुँह खोला तो उसे यह चिन्ता सताने लगती है कि कहीं उससे ऐसी बात तो नहीं निकल गई जिससे जनता उसका अधिक आदर करने लगे और प्रसिद्धि की दौड़ में खुद वही पीछे छूट जाय। किन्तु 'दिनकर' में इसका अपवाद देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। और कभी-कभी उनकी कविताओं के पढ़ने से भी अधिक यह सोचकर मैं गद्गद् हो गया हूँ कि इस मनुष्य का हृदय कितना उज्ज्वल, कितना पवित्र एवं कितना विशाल है। सब से बड़ी बात तो यह है कि जिस कवि को लोग 'दिनकर' का प्रतिद्वन्द्वी समझ लेते हैं, उसके स्वागत में भी सबसे प्रमुख स्थान उन्हीं का होता है। कुछ साल पहले कविवर 'बच्चन' और 'दिनकर' को लेकर साहित्यिकों ने एक तूफान बर्पा कर रखा था। किन्तु जिस दिन 'विशाल-भारत' के सम्पादकीय स्तम्भ में चतुर्वेदीजी ने 'दिनकर' के पत्र का यह वाक्य उद्धृत किया 'He (बच्चन) is the harbinger of still better sentiment in our literature.' उस दिन लोगों के सामने की बदली फट गई और सभी ने देखा कि ऐसे निन्द्य आन्दोलन की उन्हें खबर भी नहीं थी। परिचित-अपरिचित सभी कवि, साहित्यिक और कलाकार के गुणों की दाद देने में वह मुक्त प्रेम का परिचय देते हैं और बार-बार इस बात की शिकायत करते हैं कि हिन्दी पत्रों में उदीयमान कवियों को उत्साह देने में कंजूसी की जा रही है। 'निराला', पन्त, 'द्विज', भगवतीचरण वर्मा और 'नवीन' का आदर वह अग्रज की भाँति करते हैं। और नये नक्षत्रों की प्रशंसा में भी उनकी पंक्तियों को गुनगुनाते रहना उनका स्वभाव है।

[५८८

उनकी सहृदयता का एक दूसरा पहलू भी है, जिसका जिक्र अभी तक छापेखाने में नहीं आया है। कवि-सम्मेलनों में मार्तण्ड की भाँति अपने तेज से चमकनेवाले 'दिनकर' को जिन्होंने देखा है, उन्हें सहसा यह विश्वास नहीं होगा कि वह व्यक्ति अपनी अनुदिन वर्द्धमान प्रसिद्ध से घबड़ा-सा गया है। वह इस बात से खिन्न है कि लोगों की नज़र उसकी रचना पर केन्द्रित होकर पड़ रही है और पाठक उससे करिश्मों की उम्मीद करने लग गये हैं। इसीलिए वह अक्सर बोला करता है—'मुझ पर यह दायित्व वृथा ही लादा गया। मैं हिन्दी का रवीन्द्र और भारतेन्दु तो हूँ नहीं।' देव-पुरस्कार-प्रतियोगिता के सिलसिले में 'रेणुका' को लेकर आलोचकों के एक दल ने काफी हो-हल्ला मचा दिया था। उस अवसर पर अनेक लोग यह भी कहने लग गये थे कि बिहार में प्रान्तीयता का जहर फैल रहा है। और इसलिए 'रेणुका' पर लिखते हुए वे अनायास ही यह दिखला जाते थे कि मानो इस सारे आन्दोलन के मूल में 'दिनकर' के उत्थान की भावना ही काम कर रही है। पर 'दिनकर' का सम्बन्ध इस आन्दोलन से कितना था, इसे तो केवल वही लोग जानते हैं, जिन्हें 'दिनकर' के निकट संसर्ग में रहने का अवसर मिला है। लेकिन इतना सत्य है कि इसकी सजा 'दिनकर' को ही भुगतना पड़ी। फलस्वरूप 'रेणुका' के दुश्मनों में उनके भी नाम आ गये जो साधारणतः उसकी पंक्तियों को पसन्द करते थे। उन दिनों एक आत्मीय के पत्रोत्तर में उन्होंने लिखा था:—'तुम जानते हो कि साहित्य के इतिहास में मैं प्रतापी कवि की हैसियत से जीवित रहने को लालायित नहीं हूँ। यह अभिलाषा तो उन्हें होनी चाहिये जो प्रथम कोटि की प्रतिभा का वरदान पाये हुए हैं। मगर मुझे शंका है कि मैं उनमें से हूँ भी या नहीं। अपनी सीमाओं की अज्ञानता से बढ़कर हास्यास्पद बात और क्या होगी? नियति ने मुझे पृथ्वी से लगाकर बांध दिया है। और मेरे लिए कविता आकस्मिक व्यसन से अधिक नहीं रह गई है।...(समालोचना के मामले में) मैं बिल्कुल उदासीन हूँ। मुझे इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि लोग मेरी स्तुति करते हैं या भर्त्सना अथवा मैं भुलाया जा रहा हूँ। बड़ी-से-बड़ी भर्त्सना भी एक विशाल जन-समूह को अपनी पसन्द की चीज चुन लेने से रोक नहीं सकती। उसी प्रकार आत्यन्तिक स्तुति उसे इस बात के लिए लाचार नहीं कर सकती कि वह उस वस्तु को अपनावे जो उसे पसंद नहीं है।'

उनके हृदय और मस्तिष्क की रचना कुछ ऐसा अपूर्व है कि प्रत्येक योग्य पुरुष और नये आन्दोलन का उन पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ ही जाता है। जब मैं इस पहलू पर गौर करता हूँ तो ऐसा ज्ञात होता है कि मानों वह अभी भी स्कूल के छात्र ही हों। अनेक विषयों पर 'दिनकर' के विचार बिल्कुल उलझे-से दीखते हैं। और उन पर जब मैं बात चलाता हूँ तो वह घबड़ाकर किसी महापुरुष का उद्धरण ले आते हैं और उसका समर्थन करने लगते हैं, मानो उन बातों पर स्वयं सोचने में वह अक्षम हों। अक्षम इसलिए कि किसी 'वाद' पर भी उनका विश्वास एक-सा अडिग नहीं रह पाता। उदाहरण से समझाना पड़े तो यों कहना चाहिये कि मूलतः ईश्वरवादी होते हुए घटना विशेष कुछ काल के लिए उन्हें नास्तिक बना देती है। ऐसी अवस्थाओं में वह कभी-कभी मौन हो जाते हैं, मानो अपनी प्रार्थनाओं की व्यर्थता पर पश्चात्ताप कर रहे हों। दूसरे ही क्षण आवेश में कुछ ऐसी बातें करने लगते हैं मानो उनकी विहार-भूमि नास्तिकता के आस-पास ही हो। इसी प्रकार गांधीजी की विचार-धारा पर भी उनका स्नेह उठता-गिरता रहता है। साम्यवाद की यों वह बड़ी कदर करते हैं और अपनी रचनाओं में तो वह उग्र साम्यवादी के

रूप में ही दृष्टि आते हैं ; किन्तु किसी-किसी क्षण उनका स्वाभाविक सन्देह यहाँ भी उठता है और कहने लगते हैं—'साम्यवाद भी क्या है ? संसार सौ-पचास साल तक इसका मजा उठा ले ; पर यह भी ठहरनेवाली वस्तु नहीं मालूम पड़ती ।' इन दिनों सर्वोदय पर इनकी आस्था बढ़ती-सी नज़र आती है । कहते हैं—'सर्वोदय और साम्यवाद दोनों के लक्ष्य एक ही हैं । हाँ, पथ भिन्न-भिन्न हैं । कठिनाइयाँ भी दोनों में हैं । गांधीजी ने ही भारत की नाड़ी ठीक पहचानी है । सर्वोदय तक जाने में भारत को अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता का आंशिक त्याग भी नहीं करना पड़ेगा ।'

इसके प्रतिकूल उनके मन की एक यह भी अवस्था होती है जब वे गांधी, बुद्ध—सभी आध्यात्मिक ऋषियों से दूर भाग जाते हैं, यह कहते हुए कि इन आध्यात्मिक नेताओं ने हमारा खून ठंढा कर दिया है । देवता बनकर हम सब सुखी हो सकते हैं, जब आस-पास की परिस्थिति भी स्वर्गीय हो । इस पाशविक वातावरण में जहाँ देवत्व कायरता का पर्याय समझा जाता है, हिन्दू केवल उच्चतम मनुष्यत्व की आराधना करके नहीं जी सकते । उन्हें अपने जीवन में थोड़ी पशुता भी लानी ही चाहिये । 'दिनकर' स्वयं मांस नहीं खाते ; लेकिन अपने बच्चों को मांसाहारी बनाने की बात सदैव सोचा करते हैं । ये हैं कुछ असंगतियाँ, जिनकी सत्ता ने उनके स्वभाव में एक विचित्रता ला दी है, जिसके चलते उनका विचार शरत्कालीन मेघ-खण्ड के समान क्षण क्षण रंग बदलता रहता है । इन विरोधी बातों की ओर अगर कोई उनका ध्यान खींचे तो वह कह बैठेंगे—'दुनिया में कोई एक ही विचार ऐसा नहीं है, जिसे मैं शाश्वत काल के लिए मान सकूँ । अगर मैं किसी एक सिद्धान्त पर स्थिर नहीं हूँ तो इसका जिम्मेवार वे घटनाएँ हैं, जिनकी ओर से मैं अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता और जो आ-आकर मेरे विश्वास या अविश्वास को जगा जाती हैं ।' घटनाएँ तो घटित होती ही रहती हैं । किन्तु मनुष्य को उन्हीं में से होकर अपना यत्किंचित ऋजु मार्ग प्रशस्त करना पड़ता है । जो महा-मानवत्व की ओर अग्रसर हो रहा हो उससे निर्धारित सिद्धान्तों की जिज्ञासा करना अस्वाभाविक भी नहीं है । लेकिन जो लोग केवल नपे-तुले वाक्यों में सिद्धान्तों का दर्शन चाहते हैं, वे 'दिनकर' से मिलकर आश्चर्य-चकित होंगे, घबड़ा जायँगे और प्रायः निराश भी होंगे ।

हिन्दी-संसार के सामने वह शक्ति, साहस और पौरुष के गायक के रूप में उपस्थित हुए हैं । किन्तु, अगर मैं यह कहूँ तो लोगों को विस्मय होगा कि 'दिनकर' स्वयं विपत्तियों को सहन करने में असमर्थ हैं । दुःखों में उन्हें धैर्य नहीं रहता । अपने सामूहिक जीवन में वह हलाहल तक पीकर भी चुप रह जा सकते हैं । पर अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्हें सहिष्णुता का आधार नहीं रहता । छोटी-छोटी बातें कलेजे पर लग जाती हैं और इनका मर्म दुखने लगता है । किसी के द्वारा किये गये अपने अपमान को स्वयं कम समझते हैं ; किन्तु कोई सुझा दे तो दुःख-कातर हो कहने लगते हैं—'सचमुच, ये लोग मेरे जीवन को मिजरेबुल (Miserable) बनाने पर तुले हुए हैं ।' गत साल उनके कुछ शुभैषियों ने सोचा कि 'दिनकर'जी एम० ए० करके कालिज में चले आयें तो सब के लिए अच्छा हो । उन्होंने फीस जमा की । पढ़ाई की तैयारी होने लगी । इसी बीच अधिकारियों के बदले हुए रुख से उन्हें कुछ असन्तोष हुआ । फिर दो-एक मित्रों ने, जिन्हें ये देवता माना करते हैं, टिप्पणी की, कि क्या सब रजिस्ट्रारी करके ही उनका अपमान काफी नहीं हुआ है कि वह फिर परीक्षा में बैठने जा रहे हैं ? फिर क्या था । एम० ए० हनुमान को अपनी महत्ता की याद आई । सारी बातें जहाँ की तहाँ ही रह गईं । [५६०

और प्रोफेसरी का जोश ठंढा पड़ गया। ऐसी भावना को लेकर दुनियाँ में सुखी कौन हुआ है ? समझौते के बिना संसार मानता किसे है ? किन्तु वह भी कैसे कहा जाय ? क्योंकि 'दिनकर' समझौता करने में भी धूल चूमने को तैयार हो जाते हैं। सच पूछिये तो यह एक भले आदमी की झोंक है, जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बीच योग्य निर्णय नहीं कर सकने के कारण कुछ का कुछ कर बैठता है।

असंगतियों के सिलसिले में ही एक बात और भी कहनी है। और वह यह कि स्वप्न के साथ जीवन की रुक्षता की सन्धि स्थापित करके उन्होंने अपने लिए एक कठिन परिस्थिति पैदा कर ली है। उग्र विचारों से खेलनेवाला कवि शाही-विवर में निवास करे, यह एक ऐसी बात है, जो केवल उन्हें ही अच्छी लगती है। उग्रता और बन्धन दोनो साथ-साथ कब तक चल सकते हैं ? फलस्वरूप बन्धन की मर्यादा का भंग करने पर जब उन्हें अधिकारियों के सामने अपनी कैफ़ियत पेश करनी पड़ती है तो वह कहते हैं—'यह मेरे जीवन का नैतिक युद्ध है।' किन्तु इतना कह देने से बन्धन की रुक्षता नहीं मिट जाती। और न वह भयहीन ही हो पाते हैं। जिस वातावरण में वह सांस ले रहे हैं, वह विषाक्त है। कल्पना को जीवन-दान देने योग्य सामग्री का उसमें अभाव है। खुद उन्हें इसका ज्ञान न हो, ऐसी बात नहीं हो सकती। क्योंकि मैंने देखा है कि वह अपने दीपक को अपने अंचल में छिपाकर चलते हैं, समय मिलते ही जीवन की परुषता को भूलने के लिए स्वप्न के आश्रय-स्थान में छिप जाते हैं, मानो कोई पक्षी संसार के कोलाहल से विश्राम पाने को नीड़ में छिप रहा हो, मानो कोई साधक साधना को जगाने के लिए गुफा में प्रवेश कर रहा हो। दुःख है कि अनेक सम्भावनाओं के कोष एक कवि की इस करुण स्थिति की ओर सूबे में किसी का भी ध्यान नहीं है। सभी अपने ही पेट भरने में व्यस्त हैं। उनकी वन्दगी से अपने गौरव बढ़ानेवाले विभ्राट पुरुषों को भी यह चिन्ता नहीं खलती कि एक बड़ी प्रतिभा कांटों में अटक गई है।

साहित्य उनका मुख्य नहीं, गौण व्यवसाय है। दो वर्ष की आयु में ही वह पितृ-हीन हो गये। और जब कालिज का परित्याग किया तब समूचे परिवार की आवश्यकता उनके सामने खड़ी थी। आर्थिक चिन्ता से आकुल व्यक्ति को जो सामने दिखलाई पड़ा, वह उसी की ओर अविलम्ब दौड़ गया। और यह अत्यन्त खेद का विषय है कि जो वस्तु उसके ग्रहण में आ सकी, वह कुछ अच्छी नहीं थी। जो समय रोमांस और स्वप्न में विचरण करने का था वह उसके लिए कठिन दायित्व का भार लेकर समुपस्थित हुआ। अतः मुझे भासित होता है कि उसी दायित्व-ज्ञान ने 'दिनकर' को साहित्य में भी Realist बना दिया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। उनका कथन है कि हर मनुष्य को अपने प्रति एक प्रश्न करना चाहिये कि वह क्यों जी रहा है ? उत्तर में जो कुछ आवे वही उसका कर्त्तव्य, वही उसका लक्ष्य और वही उसका साध्य है। उनकी कई कविताएँ पढ़ते हुए मुझे ऐसा लगता है कि मानो लिखने के पूर्व उन्होंने अन्तःकरण से प्रश्न किया हो—'मैं किसके लिए लिख रहा हूँ ?' और यही कारण है कि समालोचकों की दृष्टि में 'दिनकर' की कविता सोद्देश्यता के दोष से दूषित दीख पड़ती है।

कला की चिन्ता में 'दिनकर' पर टालस्टाय और गांधीजी का प्रभाव पड़ा है। बचपन से ही तुलसी-साहित्य का प्रेमी होने के कारण भी वह काव्य में रूप की अपेक्षा द्रव्य को विशेष प्रधानता देते हैं। काव्य को वह जीवनोत्थान का एक साधन मानते हैं और कहा करते हैं कि

सभ्यता जिस प्रकार आगे बढ़ रही है, विद्या के अन्य अङ्ग जिस प्रकार बुद्धि प्रधान हो रहे हैं, उसे देखते हुए काव्य को भी विश्व-जीवन में प्रमुख स्थान को अधिकृत करने के लिए बौद्धिक बनना पड़ेगा। जिस वस्तु से संसार के राज-पथ पर कोई अभिनव प्रकाश नहीं पड़ता उसे मनुष्य छोड़ने जा रहा है। कवि का स्थान उस बिन्दु पर होना चाहिये, जो युग की चिन्ताओं के उच्चतम स्तर पर है।। प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा इसीलिए करता है, क्योंकि उसकी वाणी में उसकी (युग का) चिन्ताओं, विचारों और अधिक-से-अधिक विकसित भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अपने युग का प्रतिनिधित्व करनेवाला कवि तात्कालीन सभ्यता और संस्कृति के विकास-पथ का Landmark या माइल-स्टोन होता है। और इतनी बड़ी परीक्षा में विजय पाना बुद्धि का काम है, छूछी भावना या कोरी कल्पना का नहीं। गत वर्ष एक कवि-सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गये एक भाषण में वह कहते हैं :—'मन की साध को वायु में विसर्जित कर देना, पागलों के समान माला गूँथकर फिर उसे छिन्न कर देना, अकारण रोना, अकारण गाना और अकारण चुप लगा जाना, ये क्रियाएँ किसी हलके गायक की हो सकती हैं; किन्तु कवि जो संसार के मस्तक पर अपना आसन जमाना चाहता है, ऐसे निरुद्देश काम करे तो उसकी महत्ता नष्ट हो जायगी। जिसने ऊँचा चढ़कर जीवन की छाया-तटी का एक दृष्टि में पर्यवेक्षण किया है, जिसने जन्म के पूर्व और मरण के पश्चात् का रहस्य-लीलाओं पर अपनी कल्पना दौड़ाई है, जिसने उदय और अस्त में जन्म और यवनिका-पतन का स्वरूप देखा है, जिसके सामने नये अध्याय खुले और पुराने बन्द हुए हैं, उसकी कृतियां इतनी हलकी नहीं हो सकतीं कि वह मेघों-सा निरुद्देश्य मड़राया फिरे, फूलों और पक्षियों के साथ अलस-क्रीड़ा में मग्न रहे। जिसने अधिक-से-अधिक आघात सहे हैं, जीवन के घमासान में अधिक-से-अधिक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं, अपने को अधिक-से-अधिक समीप से पहचाना है, वह अधिक-से-अधिक बलवान कवि है; और सच पूछिये तो उस मात्रा तक कवि है जिस मात्रा तक जीवन ने उसे अपना रूप दिखाया है। उसके लिए कविता केवल जीवन की समीक्षा नहीं रह जाती; परन्तु गम्भीर अनुभूतियों के प्रभाव से वह संसार के अर्थों की टीका, जीवन की उलझनों की तसवीर और उसकी समस्याओं की हल भी बन जाती है। सच्चा काव्य जाग्रत पौरुष का उच्चार है।'

स्वभावतः ही बुद्धिवादी होने के कारण काव्य में केवल कल्पना पर उनकी आस्था नहीं है। कवि की शक्ति की परख करते समय वह इस पर नहीं भूलते कि कोई बात कैसे कही गई है, प्रत्युत उनकी दृष्टि यह खोजने लगती है कि कवि ने क्या कहा है। दूरस्थ आदर्श पर उनकी श्रद्धा नहीं। वह सीधी-सादी अनुभूति चाहते हैं। और उसी के आधार पर यह निर्णय करना चाहते हैं कि कवि किस स्थान पर बैठने के योग्य है। लेकिन कोई जब यह दलील लेकर उनके सामने आता है कि कला तो पहले रूप ही है, उसके अन्दर के भाव और विचार तो गौण हैं, तब वह बड़ी मजबूती से कहते हैं कि 'कैसे' का आनन्द 'क्या' से भिन्न नहीं है। जब हम कोई कविता पढ़ते हुए आनन्द पाने लगते हैं, तब यह बताना कठिन हो जाता है कि यह रूप (Form) का प्रभाव है या द्रव्य (Meterial) का। दरअसल रूप की सुन्दरता द्रव्य की शक्ति से ही उद्दीप्त होता है और 'कैसे' कहा गया, इस जिज्ञासा की तृप्ति में 'क्या कहा गया' इसका भी बहुत बड़ा हाथ है। मैं यह नहीं मानता कि कला केवल फार्म है तथा द्रव्य से उसका सम्बन्ध आकस्मिक अथवा गौण है; क्योंकि एक ही शिल्पी की बनाई

हुई संगमरमर की मूर्ति कैमूर पहाड़ के पत्थरों से बनी हुई मूर्ति से अधिक सुन्दर होगी। द्रव्य जितना ही उत्तम होगा, कला की सुन्दरता उतनी अधिक निखरेगी तथा उसका प्रभाव उतना ही प्रखर होगा। सोद्देश्यता को 'दिनकर' कला में दोष नहीं मानते। अपने उसी भाषण में एक स्थान पर वह लिखते हैं:—'मृत्यु की छाया-तटी से होकर गुजरते हुए मानवात्मा की अक्षय आशा तथा उमंग, एवं प्रेम की अमरता और अमरता के प्रेम का महागान गानेवाला कवि निरुद्देश्य यात्री नहीं हो सकता। कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती। और चूँकि जीवन-मन्थन कलाकार का स्वभाव है तथा उसका जीवन कल्पना से उद्वेलित होकर उसकी ओर उन्मुख रहता है, जो सुन्दर और महान है ; इसलिए उच्च कला की सब कृतियों में प्रवेश पाने के लिए नीति अपना मार्ग आप बना लेती है ; उसे कलाकार के सम्मान की प्रतीक्षा नहीं रहती। इतना ही नहीं, वरन् कभी-कभी कवि उद्देश्य को ध्यानगत रखते हुए भी उसे इस प्रकार प्रदान करता है मानो यह उसका लक्ष्य नहीं रहा हो, मानो सौन्दर्य सृष्टि की क्रिया से ही नीति और पुण्य का आलोक फूट पड़ा हो। सभी कला में सुन्दरता नीति के प्रचार का शिकार नहीं होती, उद्देश्य के सामने माथा नहीं टेकती। ऊँची कविता का रूप सुन्दर होता है तो उसकी आत्मा अथवा उसके अन्तरगत भाव भी जबरदस्त और व्यापक होते हैं। सोद्देश्य कला के खिलाफ सारे तर्कों से अवगत रहते हुए भी मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य व्यक्तिवाक् प्राणी है और निरुद्देश्य इसकी जीभ नहीं खुलनी चाहिये।'

'दिनकर' की अन्य विचित्रताओं के बीच एक इस विशेषता का भी स्थान है कि कला के इतिहास में सदियों पूर्व तिरस्कृत सिद्धान्त को वह हृदय से लगाये हुए हैं और इस विश्वास के साथ कि उनकी धारणा ही ठीक है। एक बार मैंने पूछा कि 'अगर सोद्देश्यता का यह जटिल बन्धन, बौद्धिक और दार्शनिक गुत्थियों का यह बोझ कवि के लिए अनिवार्य कर दिया जाय तो वह लिखे कैसे?' उत्तर मिला—'उस प्रकार जैसे नहीं लिखने से वह कवि नहीं रह जायगा।'

'दिनकर' को समझने का यह मेरा निजी दृष्टिकोण है। मनुष्य का विश्लेषण बड़ा ही कठिन कार्य है। अपनी दृष्टि से जो कुछ समझ सका, लिख दिया। सम्भव है इसमें भूलें रह गई हों, यह भी सम्भव है कि सामीप्य के कारण बहुत-से पहलू दृष्टि-पथ में आये ही नहीं हों, ठीक वैसे ही जैसे आँखों के अत्यधिक निकट के अक्षर स्वस्थ चक्षु को नहीं सूझते।

मधुबनी।

———

श्यामसुन्दरदास

[जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज']

[श्री 'द्विज' जीवन-परिचय लिखने में अच्छी सफलता पा चुके हैं। आपका यह परिचय भी सरल और रुचा है। —सं०]

हिन्दी की गौरव-वृद्धि के नाते, आचार्य द्विवेदीजी के साथ एक ही साँस में अगर किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वह हैं—बाबू श्यामसुन्दरदासजी। यह सच है कि इन दोनो के व्यक्तित्व-विधायक उपकरण सर्वथा एकसे नहीं हैं ; पर इससे हमारे लिए 'एक' बहुत बड़ा और 'दूसरा' बहुत छोटा नहीं हो जाता। दोनों की सेवाओं का महत्त्व एकही-सा है। बात इतनी ही है कि एक ने जो कुछ किया, उसका सारा श्रेय उसकी विद्वत्ता को दिया जाना चाहिये, और दूसरे ने जो कुछ किया उसके महत्त्व का अधिकांश श्रेय मिलना चाहिये उसकी अद्भुत संगठन-शक्ति को। एक ने 'सरस्वती' का सेवक बनकर हमारी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है, दूसरे ने 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' का सर्वस्व बनकर।

इनके जीवन की सफलता का मूल रहस्य है इनकी अनुशासन-प्रियता। और सांसारिक दृष्टि से, अगर इन्हें जीवन-व्यापार में किसी प्रकार की असुविधाओं तथा असफलताओं का सामना करना पड़ा है, तो उसका एक मात्र कारण है इनके स्वभाव की निरंकुशता।

बड़ा-से-बड़ा व्यक्ति, बड़ी-से-बड़ी संस्था, अपने अंकुश के बल पर इनसे काम निकालना चाहे, तो उसे भीषण निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता। किसी के दबाव में पड़कर ये कभी कुछ नहीं करेंगे—चाहे वह काम कितना ही महत्त्व-पूर्ण क्यों न हो। अगर आप इनसे कोई काम कराया चाहते हों, तो इन्हें सब तरह से उसका मालिक बना दीजिये, उसके दायित्व और अधिकार से सम्बन्ध रखनेवाली किसी भी बात में, कभी भूलकर भी, हस्तक्षेप न कीजिये। फिर देखिये, वह कार्य कितनी अच्छी तरह, किस गौरव और सम्मान के साथ सम्पन्न होता है। शासित बनकर ये कुछ नहीं कर सकते। शासक बनकर वह काम कर सकते हैं, जो कम लोग कर सकेंगे।

इसका यह अर्थ नहीं कि ये अपने लिए किसी प्रकार के व्यवस्था-बंधन को स्वीकार ही नहीं कर सकते, नियम और विनयन के पालन करने की क्षमता ही इनमें नहीं है। नहीं, बात

असल यह है कि ऐसा करते समय ये किसी के व्यक्तित्व का भार-वहन करना पसन्द नहीं करते। जिस नियम से, जिस व्यवस्था से, किसी व्यक्ति के आग्रह का सम्बन्ध हो, उसे ये कभी नहीं मानेंगे। जिस नियम का, व्यवस्था का, सीधा सम्बन्ध किसी कार्य या संस्था से रहेगा, उसके मान लेने में कभी किसी प्रकार का हठ नहीं करेंगे।

जिस कार्य से इनका सम्बन्ध रहता है, उसमें ये किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं रहने देते। लड़कर, झगड़कर, बदनाम होकर, चाहे जिस तरह हो, अपनी व्यवस्थित कार्य-सीमा के भीतर से अवाञ्छित उपकरणों को ये अवश्य निकाल बाहर करेंगे। जिस मनुष्य में कार्य-सम्पादन की सच्ची योग्यता दीख पड़ेगी, उसे ये अविलम्ब अपना लेंगे; किन्तु कार्य-सम्पादन की योग्यता ही सब कुछ नहीं है, उसमें यह भी क्षमता होनी चाहिये, कि इनके निर्धारित अनुशासन-पथ पर वह दृढ़तापूर्वक चल सके। विद्वान-से-विद्वान व्यक्ति की थोड़ी-सी आलस्य-प्रियता भी इनके तन-बदन में आग लगा देती है।

कर्त्तव्य-क्षेत्र में अपने दायित्व-ज्ञान को ये कभी कुंठित नहीं होने देते। जिस काम के लिए जो समय बँधा है, उसे ठीक उसी समय पर करेंगे। समय की पाबन्दी इन्हें इतनी प्यारी है, कि इसकी ओर से उदासीन रहनेवाले लोग सहज ही इनके रोष का शिकार बन जाते हैं। इस अपराध के लिए ये मालवीयजी-जैसे महान् व्यक्ति को भी क्षमा नहीं कर सकते। क्यों? दम्भ-वश नहीं; बल्कि इसलिए कि समय की लापरवाही को ये राष्ट्र की एक भयंकर बीमारी समझते हैं और सच्चे हृदय से चाहते हैं कि हममें जो जितने ही बड़े हैं, वे उतनी ही अधिक तत्परता के साथ इसे दूर करने की चेष्टा करें।

आत्म सम्मान के साथ-साथ इनके भीतर निर्भीकता-भरी स्पष्टवादिता के भाव बड़े ही तीव्र हैं। इनकी यह बेजोड़ स्पष्टवादिता कभी-कभी अरुचि उत्पन्न करनेवाली निन्दा का रूप धारण कर लेती है और परिणाम-स्वरूप, लोग इनकी नीयत को संदिग्ध दृष्टि से देखने को विवश होते हैं; किन्तु बात असल यह है, कि जहाँ कुछ लोग किसी में एक ही उत्तम गुण देखकर उसके और-और अवगुणों को ध्यान में नहीं लाते, वहाँ कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो किसी में एक ही अवगुण पाकर उसके सारे सद्गुणों पर पानी फेर देते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदासजी पिछले प्रकार के लोगों में हैं। जो सचमुच बुरा है, उसकी तो ये कभी बात ही नहीं करते—उससे उन्हें कोई मतलब नहीं; मगर जो अच्छा समझा जाता है, उसमें कोई बुराई हो, इस बात को ये चुपचाप सह नहीं सकते। ये मानव चरित्र के बहुत ही कड़े निर्णायक हैं—किसी भी दुर्बलता के लिये क्षमा नहीं कर सकते। यही कारण है, कि ऊपर से ये बड़े रूखे दीख पड़ते हैं, यद्यपि इनके भीतर कोमलता की कमी नहीं है।

इनकी आलोचना-शक्ति बहुत ही सूक्ष्म और प्रखर है। अध्यापक और लेखक होने के नाते, केवल साहित्य के ही क्षेत्र में ये इससे काम लेते हों, सो बात नहीं। जिससे इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, उस वस्तु के गुण-दोष का पर्यवेक्षण भी ये बड़ी सतर्कता और स्नेह-भरी अभिरुचि के साथ करते हैं। 'इस मकान की खिड़की ठीक तरह से नहीं लगाई गई है, दीवारों पर जो कारीगरी की गई है, वह सुरुचिपूर्ण नहीं प्रतीत होती।'—इस तरह की बातें इनके मुख से अनायास निकल पड़ती हैं; अगर कहीं किसी मकान में ऐसे दोष इन्हें दीख जायँ। कला-प्रिय आलोचक के रूप में सदैव सजग रहनेवाला इनके भीतर का 'अहम्' कला के उसी रूप का रस

पीकर परितृप्त होता है, जो सब तरह से परिपूर्ण और निर्दोष है। किसी भी वस्तु के सौन्दर्य की उपेक्षा इनकी आत्मा के लिए असह्य है।

किन्तु एक बात बड़े आश्चर्य की है। कला का इतना अच्छा मर्मज्ञ, विशेषकर साहित्य-कला का इतना बड़ा प्रेमी, कविता की ओर से प्रायः उदासीन-सा दीखता है। इनके गद्य-प्रधान जीवन को, जैसे कविता की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि प्रारम्भ ही से यह इनके अध्ययन और मनन की वस्तु नहीं रही। 'भाषा-शास्त्र' तथा 'समालोचना-शास्त्र' के अनुशीलन की अभिरुचि ने इनके मन को इस ओर मुड़ने का अवसर नहीं दिया। ठीक तो है, जिन्हें साहित्य के क्षेत्र में 'अनुसन्धान' और 'परिशोध'-सम्बन्धी कार्यों से ही छुट्टी नहीं मिलती, वे भावुकता के स्वप्नमय लोक में कैसे विचर सकते हैं!

छुई-मुई की तरह ये तुरन्त मुरझा भी जाते हैं और तुरन्त ही खिल भी उठते हैं, सही; लेकिन झूठे शिष्टाचार और झूठी खुशामद से आप इनके कृपा-पात्र बन जायँ, यह कभी सम्भव नहीं। इनकी वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए आपको सबसे पहले अपने उद्देश्य की सचाई प्रकट कर देनी होगी और उसके बाद नियम-निष्ठा के साथ कर्त्तव्य का पालन करना पड़ेगा। कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए, केवल 'धन्यवाद' देकर ही आप इनके उपकारों से उऋण नहीं हो सकते। कार्यक्षेत्र में, सच्चा सहयोगी बनकर, इनकी मदद कीजिये, तभी आपके 'धन्यवाद' का कोई अर्थ होगा। इनकी उपकार-वृत्ति कर्मवीरों की उद्भावना करनेवाली है। निश्चेष्ट बनकर केवल 'हाँ में हाँ' मिलानेवाले को ये स्नेह और सहानुभूति की दृष्टि से देख ही नहीं सकते—चाहे वह इनका अपना बेटा ही क्यों न हो।

जैसे ये स्वयं राजसी स्वभाव के हैं, वैसे ही राजसी ठाठ-बाट के इनके सब काम भी हैं। ये किसी भी बात से दीनता नहीं टपकने देते, किसी भी काम से दरिद्रता का बोध नहीं होने देते। स्वयं शान से रहते हैं, तो अपने अधीन की संस्थाओं को भी शानदार बनाये रखते हैं। भगवान् ने जैसा रोबीला और शानदार व्यक्तित्व दिया है, वैसी ही कड़कती हुई वाणी भी दी है। बोलने लगते हैं, तो मालूम होता है, अभी बुढ़ापा इनसे कोसों दूर है।

हिन्दी के नाते, शिक्षा-विभाग में और सरकार के यहाँ, जो धाक इनकी है, वह और किसी की नहीं। साधारण जनता पर भी इनके नाम का बहुत ही व्यापक प्रभाव है। क्यों न हो, हिन्दी का ऐसा शानदार सेवक और है कौन?

छपरा।

'अज्ञेय' : जितने कि वे मुझे ज्ञेय हुए

[प्रभाकर माचवे]

[श्री प्रभाकर माचवे लिखित यह शब्द-चित्र बहुत से अंशों में एक रेखाचित्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। श्री 'अज्ञेय' को समझने का यह एक सुन्दर प्रयास है।—सं०]

[१]

तार के नीचे वैसे अक्सर वे अपने को 'वत्स' लिख देते हैं; मगर एक बार अंग्रेजी में 'अज्ञेय' लिखा। 'ज्ञ' के द्विविध उच्चारण के कारण उसके हिज्जे हुए 'AGNEYA'—जिसे चाहो तो हिंदी में पढ़ सकते हो 'आग्नेय'। 'अज्ञेय' की कोई भी कहानी जिसने पढ़ी हो, वह जान सकता है कि उनमें कितनी साग्निकता है, कितना विद्रोहीपन! या जैसे उन्होंने स्वयम् अपना 'आत्म-परिचय' कविता में लिखा था—'मैं वह धनु हूँ जिसे लगाने में प्रत्यञ्चा टूट गई है...'('विश्वबंधु')।

कहा जाता है कि समकालीनों पर कुछ लिखना नहीं चाहिये। और मैं भी मानता हूँ कि निर्णयात्मक रूप से अवश्य कुछ कहना नहीं चाहिये; परन्तु उनके बारे में जो मेरा—आपका सबका कुतूहल है, उसे तो ज़रूरी तौर पर कुछ-न-कुछ गति मिलती रहनी चाहिये। नहीं तो व्यक्ति साहित्यिक को आप पाठक के निकट न लाइये; और देख लीजिये कि साहित्य और जीवन में कितनी बड़ी खाई उत्पन्न हो जाती है, मसलन आज हिंदी में...

इस चित्र में व्यक्ति और साहित्य-स्रष्टा 'अज्ञेय' का 'सिलहुट' खींचने की कोशिश करना चाहता हूँ। 'भग्नदूत' और 'विपथगा' यह दो उनकी किताबें अब तक निकल चुकीं—एक तो है गद्यकाव्य और कविता और छोटी कहानी-नुमा बिंदु-रूपकों का संग्रह, दूसरी है कहानी की पुस्तक। पर साहित्य-स्रष्टा 'अज्ञेय' को सिर्फ दो किताबों से ही नहीं जाँचना होगा, वरन् 'विश्व-मित्र' और 'हंस' और 'विशाल-भारत' और कभी 'माधुरी', 'विश्व-बंधु' आदि अनेक पत्रों में निकली उनकी कहानियाँ और कविताएँ, और लेखादि—जैसे शान्तिनिकेतन में 'महायुद्धोपरान्त हिन्दी कविता' पर अंग्रेजी में दिया हुआ व्याख्यान, जो मूल 'विश्व-भारती' में छपा, और भावानुवाद 'विश्वमित्र' में, आदि ले लेना होंगे। और साहित्य में ही 'सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन' को और जानना हो तो, 'सैनिक' के सन् '३७ के शुरू के मासों में के सम्पादकीय, 'विशाल-भारत'

की आजकल की सम्पादकीय टिप्पणियाँ और कई छोटी-बड़ी आलोचनाएँ और 'नक्काश : एक बन्दी कवि' और 'अन्धों की शिक्षा' जैसे लेख भी ले लेना होंगे। और 'एशिया' और दूसरे पत्रों में प्रकाशित आपकी अंग्रेजी कविताएँ भी क्या छोड़ देने की बात है? और इधर हाल में 'शेखर : एक जीवनी' के अंश पाठक रुचि से पढ़ते ही होंगे। आखिर इतने विविध क्षेत्रों में एकसा अधिकार के साथ लेखनी चलानेवाले 'अज्ञेय' उपनामवाले लेखक के संबंध में हिंदी पाठकों को क्या-क्या जिज्ञासाएँ नहीं होंगी?

[२]

पहले व्यक्ति 'अज्ञेय' की बात लें, क्योंकि व्यक्ति ही से तो साहित्य बनता है। और कौन जानता है कि वह साहित्यिक व्यक्तित्व भी साहित्य ने ही न बनाया हो—मसलन रोम्याँ रोलाँ, डी० एच्० लारेंस, वाल्टेयर, अप्टन सिंक्लेयर आदि, 'अज्ञेय' के सबसे ज्यादह पसन्द के लेखक हैं।, (मासिक पत्रों के नियमित पाठक को याद होगा कि सन् '३४ में 'विशाल-भारत' में 'हिंदी में सजीव साहित्य की आवश्यकता' नाम की एक विज्ञप्ति छपी थी।) और यह निर्विवाद है कि इन चारों लेखकों की रचनाओं ने उनकी लेखनी को भी अप्रत्यक्षतः प्रभावित किया जरूर है।

सबसे पहले सन् '३७ के मराठी 'चित्रमय जगत' में दिल्ली-लाहौर-मेरठ-षडयंत्रों के क्रान्तिकारकों का कुछ दिलचस्प बयान पढ़ने में आया था। वहीं नाम पहिली बार पढ़ा—'वात्स्यायन'।

पर 'वात्स्यायन' नाम से लिखनेवाली लेखनी का लेखन-विषय और 'अज्ञेय' का लेखन-विषय, किंचित् क्यों काफी अलग-अलग ढंग का होता है? वात्स्यायन कांग्रेस के वक्तव्यों और आन्तरराष्ट्रीय राजनीति पर और 'रोटी और बोटी' यों साहित्य और राजनीति पर सम्पादकीय 'मैटर' लिख सकते हैं, खासी व्यंग और तर्कशुद्धता से भरी हुई बातें; मगर 'अज्ञेय' तो 'अमर-वल्लरी' और 'हर सिंगार' और 'हारिल' और 'चिड़िया-घर' लिखता है।

ऊपर जो दो नाम बताये वे एक ही आदमी के हैं—एक ख़ासे मोटे ताज़े, कुछ पंजाबी गठन के, सौम्य भव्य चेहरे के भले आदमी के ही ये दो नाम हैं, जो सचमुच, स्वभाव से 'आग्नेय' भी हैं, और 'अज्ञेय' भी।

मुझे वह दिन खूब याद है कि आगरे में मैं पढ़ता था, तब एक संध्या को मैंने पाया कि किले की परिक्रमाकर ताज पर जानेवाले राह पर, उसी आग्नेय-अज्ञेय शान्त-मितभाषी युवक के साथ मैं सश्रद्ध श्रवणातुरता से चला जा रहा हूँ। क्योंकि 'अज्ञेय' के पास से जानने जैसी बातें बहुत ज्यादह हैं, उन्हें जताने जैसी चीजें बहुत कम। कभी बातें करते समय, लग उठता है, कि अरे, इन्हें मालूम नहीं ऐसा क्या है?

फिर उसी आगरे में एक रोज, एक होटल के कमरे में बैठे हुए उन्होंने अपने पर्वतारोहण और हिडिंबा के मंदिर की अटपटी चट्टानों भरी राह और कुलू-उपत्यका में वह कुटिया जहाँ उनके 'शेखर' उपन्यास का सूत्रपात हुआ, और भी कई जगहों और बस्तियों के फोटोग्राफ दिखाये,—जिनमें से अधिकांश 'विशाल-भारत' में 'मौत की घाटी में', 'देवताओं के अंचल में' नामक लेखों में और 'कापीराइट : वात्स्यायन' के पुछल्ले के साथ छप भी चुके हैं। निरी फोटोग्राफी ही नहीं, मगर चित्रकला का भी उन्हें बेहद शौक़ है। इसी बात की वजह से मेरी और उनकी काफी घनिष्टता बहुत ही कम समय में हो गई। चित्र-संग्रह उनके पास बहुत बड़ा है ही; पर [५५८

साथ ही उनके संबंध में उनकी जानकारी भी खूब गहरी है। 'लिनोकट' और कार्टून भी वे मज़े के बना लेते हैं,- जिनमें से कुछ मेरठ-कवि-सम्मेलन के 'सम्मेलन' नामक परिहास-पूर्ण रिपोर्ट में 'सैनिक' में छपे थे। परन्तु मुझे तब तक यह पता नहीं था कि चित्रों के साथ ही साथ शिल्प में भी उन्हें इस तरह इतनी अधिक रुचि होगी, जब कि एक शाम को यह सैनिक-सम्पादक महाशय, किसी कुम्हार के यहाँ से गीली मिट्टी का बोझ लेकर मेरे यहाँ आये और बड़ी देर तक मिट्टी के शिल्प पर बातें होती रहीं। बाद में मैंने जाना कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त, महावीर-प्रसाद द्विवेदी आदि कइयों के मिट्टी के 'रिलीफ़्स' 'अज्ञेय'जी ने बनाये हैं जिनमें से एक जैनेन्द्र-जी वाले रिलीफ़ का फ़ोटो उनकी विचार-पुस्तक में छप चुका है।

वे उनके मुँह से, समय का मान भूलकर, सुने बन्दी-जीवन के रोचक अनुभव क्या कभी भूल सकता हूँ? ऐसे जान पड़ता है कि कथा-लेखक या सैनिक से पहले वे एक चित्रकार हैं, जीवन के सहृदय छायाचित्रकार।

[३]

उनकी प्रतिभा-शक्ति का प्रवाह न केवल साहित्य, कविता, चित्रकला की दिशा में ही प्रभावित होता है, वरन् जैसे उन्होंने स्वयं 'साहित्य और राजनीति' की चर्चा में 'झगड़े का हल' नामक एक पत्र में लिखा था—'एक आदमी के लिए बिलकुल संभव होना चाहिये कि वह एक साथ दोनो (साहित्य और राजनीतिक कार्यकर्ता) हो सके, बल्कि इन दोनो के अलावा बीस चीज़ें और हो सकता है। और फिर भी शिकायत नहीं हो सकती। सवाल असल में Intensity का है। शक्ति काफी हो तो फिर सवाल ही नहीं उठता कि वह किधर से बहे और कितने रास्ते से बहे।'

'राजनीति से, साहित्य से—अभिव्यंजना के बीसियों प्रकार से—अधिक स्थायी एक चीज़ है, वह है रचने की, सृजन करने की प्रेरणा (Urge to create)। उसी से आदमी ईश्वर का समकक्षी होता है। जो उस प्रेरणा का आदर करता है, वह स्वयं आदर का पात्र है। जो उसे बेचता है, वह नीच है, और नीच से बढ़कर बेवकूफ़ है; क्योंकि वह स्वयं अपना नाश कर रहा है। यह विश्वास सिर्फ राजनैतिक प्रतिभा के बारे में ही नहीं; वरन् सब तरह के सृजन के बारे में कहा जा सकता है। फिर वह शक्ति चाहे साहित्य पैदा करने की हो, चाहे इन्किलाब पैदा करने की, चाहे बच्चे पैदा करने की।' यह आखिरी वाक्य इस बात का ही प्रमाण नहीं है कि 'अज्ञेय' के विश्वास कितने बुलन्द और स्पष्ट व्यक्त हैं; वरन् वे कितने वैज्ञानिक भी हैं। आधुनिक बायोलाजी और मनोविज्ञान को साथ लेकर उनके मत चलते हैं; पर उनसे वे आविष्ट नहीं हैं। सर्वत्र वात्स्यायन का यह बुद्धिवादी दृष्टिकोण हमें मिलता है जो उनका मूल्य बढ़ा देता है; मगर 'अज्ञेय' निरे बौद्धिक कहाँ हैं? वे कवि भी जो हैं। शायद उनकी महानता इसी पश्चिमी बुद्धि और पौर्वात्य भावना के उस सामंजस्य में निहित है, जहाँ समीक्षक और कलाकार एकप्राण हो जाते हैं। उनका आगमिष्यत उपन्यास 'शेखर' इसी प्रकार के एक भावना व बुद्धि के संतुलित Balanced चरित्र की सृष्टि है।

उनकी राजनैतिक प्रतिभा का पता मुझे सिर्फ 'सैनिक' में की या 'विशाल-भारत' की सम्पादकीय टिप्पणियों से ही नहीं मिला, बल्कि उनके साथ रहने का भी जो सौभाग्य मुझे मिला है, उसके आधार पर मैं यह कह रहा हूँ। बावपत (मेरठ) में किसान-कान्फ्रेन्स का वह आयोजन था। लगातार कई दिन और रात गाँवों में घूम-घूमकर किसान मार्च का संचलन

करने में उन्होंने अपने को लगा दिया था। दिल्ली में वे मिले, तो उनका गला लगातार व्याख्यान देने की वजह से भारी हो गया था। और न जाने कितने मील घूमने की वजह से वे बेहद थक गये थे। थकने पर भी वे थकान महसूस नहीं कर रहे थे। उत्साह और लगन उनमें इतनी अदम्य भरी हुई हमेशा ही रहती है—वे निरन्तर कर्मरत अपने को रख लेते हैं। वे अविश्रान्त जान पड़ते हैं। यह अथक कर्मशक्ति जहाँ एक ओर उन्हें निर्माण की ओर लेकर बढ़ती है, वहीं उसके साथ ही साथ, जो प्रशान्त विवेक और संयत गाम्भीर्य उनकी उस शक्ति को थामे है, वह उन्हें एक निर्भीक और निष्पक्ष आलोचक भी बना देता है।

किसानों के मेले जैसी भीड़ में बहुत-से समाजवादी नेताओं के वे व्याख्यान जैसे थे, उनसे अलग इनकी व्याख्यान-शैली नहीं जान पड़ी; परन्तु राजनैतिकता भी उनकी व्यक्तित्व का ऐसा पहलू है, जिसे जाने बिना उनके साहित्य का शक्तिस्रोत समझा नहीं जा सकता।

इन्दौर में एक बार प्रगतिशील साहित्य पर चर्चा वहाँ के उत्साही युवकों की एक संस्था में चल रही थी। संयोग से 'अज्ञेय'जी वहाँ आये हुए थे और मैं उन्हें वहाँ खींच ले गया। वहाँ पर जो छोटा-सा भाषण उन्होंने दिया, वह सिर्फ दिलचस्प ही नहीं; मगर उनके कला-संबंधी विचारों पर उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसीलिए मैंने अपने लिये हुए 'नोट्स' में से, अंग्रेजी से अनुवाद करके उनके कुछ वाक्य यहाँ देना चाहता हूँ: 'कलाकार एक प्रकार के मानसिक संघर्ष में जिया करता है। संघर्ष कला की जननी है। यह संघर्ष संकल्प और परिस्थिति में चला करता है। इसी संघर्ष के कारण प्रगति दृश्यमान है। प्रगति शब्द सापेक्ष है। आज जो प्रगति है वह कल प्रगति शायद न रहे। इसी से प्रगति को सृजन का मूल बिन्दु नहीं मान सकते। वह आलोचक के सृजे हुए साहित्य पर लगाया हुआ आक्षेप हो सकती है।...कलाकार यदि सच्चा कलाकार है तो वह अमुक एक दिशा की लकीर ही नहीं पीटता बैठता; मगर सर्वांगीण प्रगति में विश्वास रखता है। और जीता है। प्रगति जीवन के लिए लक्ष्य नहीं है, उपलक्ष्य मात्र, क्योंकि प्रगति ही प्रगति अपने आप में अन्तिम नहीं है।'...आदि

[४]

एक बार, जब 'अज्ञेय'जी आगरे से जाने को हुए तो उनका कहा हुआ एक वाक्य अब भी याद है—'मैं यहाँ जिस जगह पर रहता हूँ, उसके एक ओर है पागलखाना, दूसरी ओर रेल की पटरियाँ, तीसरी ओर है सेंट्रल जेल और चौथी ओर कब्रिस्तान।'

बचपन में खूब प्रवास करते रहे हुए इस व्यक्ति का जीवन सरकार द्वारा लगाये हुए 'षड्यंत्र' में शामिल होने के इल्ज़ाम का शिकार, कई बरस, जब तक केस चलता रहा इस-उस कारागृह में बन्दी रहकर, क्या हम कह सकते हैं कि अधिक निखर नहीं उठा? कि वह एक कलाकार पर एकाकिता का अभिशाप था। वह युवावस्था के तरुण स्वप्न और लोहे के सीखचे। तभी तो उन छड़ों के पीछे बैठकर वह मुक्ति-पिपासु आत्मा चीख उठी—'Mine is the song of a man...'

और, You can pass over the boulder

But a boulder can not pass over you.

(यह पक्तियाँ उनकी 'Prison Days and Other Poems नामक शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी पुस्तक से ली गई हैं।)

अपने पिता डा० हीरानन्द शास्त्रीजी के साथ उनका बाल्य पुरातत्त्व की खुदाइयों में

सारनाथ और कुशीनगर और मद्रास में बीता। लाहौर में ऊपर बताया विद्रोहीपन जग उठा।

और इसी सिपाही कलाकार के अन्तरतम में कौन-सी ऐसी वेदना की गाँठ है जो 'विपथगा' का समर्पण इस प्रकार किया है—'अपने विपथगा जीवन में जिसका स्नेह मैंने पाया उसी बहिन इन्दु को।' क्यों ऐसा निर्माता अपनी जीवनी को विपथगा समझ चले? कौन-सी अतृप्ति उसके प्राणों को कुरेद रही है?

क्या 'पगोड़ा वृक्ष' में से उन्हीं के शब्दों में उत्तर देने का साहस करूँ—'उसके पैरों की दबी हुई चाँप में भी एक ललकार थी—अपने को, या मानवता को, या ईश्वर को, न जाने...'

'यही है मानवता का जीवन—यह अन्धकार में अशान्ति, उन्माद में जलन, विश्वास में अनिश्चय, सम्पन्नता में विद्रोह, रात्रि की प्रशान्त गति में यह अपूर्ति और ललकार ..'

[४]

कवि 'अज्ञेय' हमें अक्सर पथिक रूप में मिलते हैं।

'जाना ही है तुम्हें, चले तब जाना,
पर प्रिय, इतनी दया दिखाना
मुझसे मत कुछ कह कर जाना!'

या जैसे

'आज चल रे, तू अकेला!
कूच का सामान कर अब
आ गई प्रस्थान-वेला...'

पक्षी-जीवन जैसे उनको अत्यन्त प्रिय लगता है। 'आज थका हिय-हारिल मेरा'—इस कविता में जिस प्रकार वे 'संगी कंचन-पक्षी' की टोह में जान पड़ते हैं, वैसे ही 'अचरज' में 'दो पक्षी छोटे-छोटे' उनका काव्य-विषय हैं; और 'विशाल-भारत में 'उपरान्त' शीर्षक से दी गई तीन कविताओं में भी 'उठ अरुण पंख दो खोले,' या

'देख कर वे दो उड़ते कीर,
कर उठा अन्तस्तल विद्रोह
व्यक्ति मेरा इह बन्धन-मुक्त
उठ चला अप्रतिरुद्ध, अबाध,
स्वयं-चालित थे मेरे पंख—
और तुम—तुम थीं मेरे साथ!'

कभी-कभी कवि 'अज्ञेय' निराशा की न जाने किस वेदनाकुलता में डूबा जान पड़ता है—जैसे 'आज चिन्तामय हृदय है।', 'प्रान मेरे थक गये हैं'।

'विपथगा' पुस्तक के मुख-पत्र पर एक छायाकृति 'अज्ञेय' की अज्ञेयता को एक अजीब गूढ़ता देती है। पुस्तक की जिल्द पर एक दीपक और अर्धचन्द्रवाला 'अज्ञेय' का Crest (चिन्ह)। शायद उस संकेत-चित्र द्वारा लेखक अपने चिरप्रज्वलित जीवन और उसके साथ लगी हुई अद्वैया 'बहिन इन्दु' की दूज की कला को लक्षित करना चाहता है। आवरण छायाकृति को छोड़कर पुस्तक की आत्मा को व्यक्त नहीं करता—लाल काले रंगों में अगर बन्दी-जीवन के सीखचों का संकेत होता तो अधिक सुन्दर और उपयुक्त रहता।

अब कहानियों पर आयें। लेखन-क्रम के अनुक्रम से और विषयानुसार से दो दृष्टिकोण हम इन कहानियों पर रखें तो सन् '३७ की 'विपथगा', 'हारिति', 'रोज', 'अकलंक,' 'मिलन' और 'अमर वल्लरी' यह छह रचनाएँ मिलती हैं। शैलीय दृष्टि से इन कथाओं में नवशिक्षित लेखक की हिचकिचाहट, कुछ स्व-चेतना और भाषा का भान नजर आता है; यद्यपि 'विपथगा' काफी अपवादरूप है। सन '३३ और '३४ की यानी लेखक के जीवन के Brisk दिनों-वर्षों की—यानी कारागृहवास में की कहानियाँ हैं':—'३३—'एकाकी तारा', 'पगोडा वृक्ष', 'कड़ियाँ' '३४—'हर सिंगार', 'दुःख और तितलियाँ।' अन्तिम कहानी जो अपनी लघुता, सूत्रमयता और रूपक-शीलता के कारण Parable-सी बनी अलग जान पड़ती है, वह शायद 'अज्ञेय' के जेल जीवन के बाद की रिहाई की चीज है—'शत्रु।'

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से स्थूलतः 'विपथगा' और 'मिलन' (रूसी वातावरण), 'हारिति' और 'अकलंक' (चीनी वातावरण) और 'एकाकी तारा' यह पाँच वैदेशिक पृष्ठ-भूमि पर के चित्र हैं। 'रोज', 'हरसिंगार', 'दुःख और 'तितलियाँ' यह तीन भारतीय, समाज-जीवन के कारुणिक खण्ड-चित्र हैं। और 'पगोडा-वृक्ष' 'कड़ियाँ' और 'शत्रु' बन्दी-जीवन और उन्मुक्ति के लिए सोत्कट विद्रोह-प्रवण बलेच्छा और जिघांसा से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हैं। 'अमर वल्लरी' अपने ढंग की निराली काव्यात्मक प्रेम-कथा है।

कहानी-लेखक 'अज्ञेय' पर एक बार लिखी हुई कुछ पंक्तियाँ:—

' 'अज्ञेय' सिर्फ कहानी नहीं कहता। वह साथ में चोट देते चलता है। कहानी के लिए कहानी लिखना शायद वह सीखा ही नहीं। जैसे मज़े-मज़े में शरद् या स्टफिन ज्वाइग अपने कुछ प्रसंगों में, कुछ कथानक प्रधान ऐसी प्रवहमान कथाएँ (narrations) कहते जाते हैं और साथ ही पाठक के मन के भीतर कहीं तो भी गहरे में ऐसी मर्मस्पर्शी चिकोटी काटते जाते हैं, कि आँखें या तो छलछला उठें या होठों की कोरों पर एक विरक्त, शून्य मुस्कान खिंच जाय।' मैं तुलनाएँ नहीं करना चाहता; परन्तु कहीं-कहीं जैसे 'हारिति' या 'अकलंक' में कथा के लिए मूलतः आवश्यक प्रसंगोपकरण जुटाकर उनकी कहीं-कहीं तो नाट्यात्मक तक भित्ति खड़ी करने की बात दीखती है; पर और कथाओं में कथानक कम है। कथाकार 'अज्ञेय' मनोविश्लेषक अधिक हैं। दो ही तो चीजें 'अज्ञेय' की कथा के प्राण हैं—एक तो बन्दी-जीवन की झनझनाती हुई जंज़ीरों और अपरिवर्त और आडिग खड़े सींखचों को तोड़कर भाग खड़े होनेवाली मुक्तिलिप्सा—जिसमें उन्हीं की पंक्ति—'देव, तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही' जैसा विपथ का और भी एक उबलता हुआ उन्मादमय और साहसिक रक्ताकर्षण ज्वलन्त है। मानो वह दुनिया की स्वीकृत शासन-व्यवस्था और नीति-मूल्यों के विरुद्ध तनकर खड़ा हो जाना चाहता है और कहता है—'ख़तरों का चुम्बन ही जीवन!' या नीत्शे के शब्दों में 'ज्वालामुखी के पास अपने घर बनाओ, सदा युद्ध-भावना में रँगे रहो।' और दूसरी चीज है भावना के सूक्ष्म तारों को हलके से छेड़ जाना; मनोविज्ञान के लोक में वह नई-से-नई गुत्थी स्पर्श मात्र से खोलकर दिखाना जिसे किसी ने आज तक छुआ नहीं हो और भावुक पाठक को अपनी कवितामयता से मर्माहत कर देना। इस प्रकार की कहानियों में गहरी वेदनानुभूतिका प्राधान्य है, मानो वे क्रिश्चियाना रॉसेटी की सुकुमार पंक्तियों में कहती हैं—

'The rose saith in the dewy morn
I am not fair;
Yet all my loveliness is born
Upon a thorn.'

सिपाही और चित्रकार-कवि की दुहरी भूमिका उनकी कथाओं में स्पष्ट बिंबित दीखती है। पर अंग्रेजी का प्रभाव कहो या बन्दी-जीवन की मनोभूमि की ही कुछ विकृति कहो, कई जगह 'अज्ञेय'जी भावुक से कहीं ज्यादह चिन्तनशील दीख उठते हैं। उनके कथा-लेखन के विकासेतिहास में निश्चय दो खण्ड पड़ते हैं—एक तो 'अमरवल्लरी', 'मैना', 'सूक्ति और भाष्य', 'अछूते फूल', 'सिगनेलर', 'सेब और देव' 'रेल की सीटी' आदि संवेदनात्मक और हलके गहरे रोमान्स से रँगी भावना-प्रधान चीजें। और अब बन्दी-गृह से छूटकर आये हुए 'अज्ञेय' ने कथा-द्वारा वर्तमान सभ्यता के वैषम्य पर व्यङ्गोपहासपूर्ण ध्वनि से जो मार्मिक और कठोर चोट देने की यह नई बात Devolop की है, उसके उदाहरण हैं—'सभ्यता का एक दिन', 'नम्बर दस', 'नई कहानी का प्लाट', 'राधा का नाच', 'चिड़ियाघर', 'जीवनीशक्ति', 'कोठरी की बात', 'जीवन और कविता', 'चाँदपाल घाट' आदि। यह सब नाम मैंने 'विपथगा' के बाहर के और अधिक प्रभावोत्पादक और अच्छी और अभी तक संग्रह रूप में अप्रकाशित कहानियों के नाम दिये हैं।

शासन के अन्याय और अनाचार को वैसी ही क्रांतिमय, जबरदस्त प्रतिचोट में उत्तर देने का एक हिंसात्मक रक्ताक्त मार्ग, जो रूसी और फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्तियों के इतिहासों में पाया जाता है, शायद उसी ओर 'अज्ञेय' की वर्तमान राज्य-व्यवस्था से असंतुष्ट चिढ़ लक्षित है। हो सकता है गांधी दूसरी बात कहे, राह सुझाये; पर 'हिंसा-अहिंसा' वाले मात्र साधन के झगड़े से हमें यहाँ कोई बहस नहीं। इस बारे में गांधी-अंक में के 'शेखर' के हिस्से की तरफ ध्यान खींचना चाहूँगा। इतना सिर्फ मानकर चलना है कि प्राप्य एक है—मुक्ति। जीवन की गति, साधनों की चिन्ता पर नहीं रुकती। वह तो स्वाभाविक रूप से निरंतर चकरीली, अनेक उलझी हुई गोल-गोल चट्टानों में से आवर्त्तमय, चिर-फेनिल, प्रमाथी है। क्या उस गति को बाँधा जा सकेगा? यह राह अच्छी है या वह राह अच्छी है—यह चिन्ता अकर्मण्यों का बुद्धि-व्यवसाय मात्र है।

और एक जीवन उस दैनिक कैदी का भी है, जो निरपराध या दोषी, चाहे किसी भी प्रकार हो, जीवन के उस गति-संगर और गति-संगीत से जबरन वंचित कर दिया गया, जिसे अपनी तंग कोठरी और जँगले और पहरेदारों की अँधेरी, दुनिया में डाल दिया गया है। ऐसी दशा में उस बन्दी की एक अपनी ख़ास मनोदशा बन जाती है, जो अनन्य साधारण है। मनोविज्ञान के लिए चाहे वह बड़ा दिलचस्प मसला हो मगर उस बन्दी के मसले हुए दिल के लिए दिलचस्पी कहाँ? दिलचस्पी या लगाव-अटकाव उनके लिए शायद बाहरी दुनिया से अलगाव ही में बसा है। चिरंतन स्थितिमयता पर खड़े होकर सदा गतिमय जीवन की ओर देखनेवाले ये बन्दी दो तरह के हो जाते हैं, जैसी जिसकी जीवन-स्वीकृति-सामर्थ्य हो। एक तो वे जो 'त्रास' के साथ समझौता कर लेते हैं, दार्शनिक बन जाते हैं और जिनके लिए मुक्ति और स्वाभाविक मरण में अन्तर नहीं रह जाता; पर दूसरे वे होते हैं जिनमें रक्त उबलता है, जिनमें दूषित, शोषक, और केन्द्रहीन दुर्व्यवस्था पर क्रोध उपजता है, विद्रोह-वांछा प्रताड़ित हो उठती है और जो 'सरकार तुम्हारी जंजीरों के घर्षण से निकले यह मोती' (एक भारतीय आत्मा);

'गिनते रहते हैं उँगली पर चौंतिस पैंतिस सन सत्तावन,...वाले टूटे आज कभी तो' (नेपाली) वाली आग चित्त में लिये डोलते हैं, जिनके कारागृह की दीवारें वीर सावरकर के समान श्रृंगार और रौद्र के छंदों से भरी स्मृति को आच्छन्न कर देनेवाली हो जाती हैं। पहले प्रकार के लोग निष्क्रिय स्वप्न देखते हैं दूसरे प्रकार के मनीषी स्रष्टा, वास्तवता से अतृप्त होकर उन आदर्शों का स्वप्न लेते हैं जिनमें वास्तव की अपूर्णताएँ नष्ट हो जायें। वे मानव मन में मानवता की उपेक्षा और दलित पतनोन्मुखता के प्रति आकुल सहवेदना और कभी कभी अगाध हार्दिक क्षोभमय तिरस्कार जागृत करते हैं—संक्षेप में, जो 'अज्ञेय' के समान जेल में भी 'पगोडा वृक्ष' या 'विपथगा'एँ लिखते हैं।

इनकी कहानियों की शैली खूब ताजगी से भरी हुई, पग-पग पर पाठकों के भावलोक को झकझोरती हुई, राजसी ठाठ से चलती है। कभी-कभी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जरूरत से ज्यादा बारीक और इसी से खतरनाक हो उठता है और भाषा भी गरिष्ठ, जटिल। मगर वातावरण-प्रधान कहानियों में तो उन्हें सचमुच कमाल हासिल है। और व्यंग भी खूब ही रसमय होता है, जैसे 'पुनर्जन्म'।

एक बात और मार्के की है कि इनकी कहानियों में बहिन और भगिनी-प्रेम का बार-बार बड़ा विचित्र जिक्र आया करता है। 'पगोडा वृक्ष' की सुखदा, 'अकलङ्क' की क्रिस्टाबेल, 'कोठरी की बात' में का वह हिस्सा जहाँ—'फिर एक वह क्षण जब वह और उसकी बहन पास-पास लेटे हुए किसी विचार में निमग्न हैं—शायद अपने उस सामीप्य के पवित्र रहस्यमय सुख में और तब उसके पिता एकाएक आकर उसे उठा देते हैं—फटकारते हैं,...' वगैरह का जिक्र है, और 'शेखर : एक जीवनी' की शशि, पता नहीं चलता कि किस क्षण भगिनीत्व की सीमा लाँघकर, 'प्रेमिका' के समकक्ष आ बैठती हैं, जैसे वह माता से कुछ ही नीचे अपना स्थान बनाये हैं। और 'अज्ञेय' का यह नारी-चित्रण बड़ा कुतूहलास्पद जान पड़ता है, जो न माता, न कन्या, न वधू, रवि ठाकुर की उर्वशी के समान किसी गम्भीर भावलोक से उठकर गहरे भाव-जगत् ही में बिलम जाता है। यह नारी सियारामशरण और जैनेन्द्रकुमार और उषामित्रा की नारी-कल्पना से सर्वथा भिन्न है।

'अज्ञेय' के इस अपरिभाषणीय भगिनी-प्रेम से हमें सहसा अंग्रेजी चित्रकार कवि रोज़ेटी की याद आ जाती है, जिसकी बहन स्वयम् मानो एक करुण कविता थी।...

और 'विशाल भारत' के 'महिला-अंक' में एक लेख डा० अब्दुल लतीफ एम. ए. पी. एच. डी. का छपा है और एक बार 'समाजद्रोही नं० १' प्रो० गजानन पंडित के नाम से। वह सब सुरुचिपूर्ण परिहास, आप जानते हैं, इसी 'अज्ञेय'-लेखनी के गर्भ से उपजा है।

तो यह शिल्पी-चित्रकार, सिपाही-विद्रोही, कवि-कहानीकार, सम्पादक-आलोचक, व्याख्याता-राजनैतिक कार्यकर्ता, प्रकृति और जीवन का सप्राण छाया-चित्रकार, 'अज्ञेय', साहित्येतिहास-समीक्षक भी है, और न जानें क्या-क्या है। 'अज्ञेय' ही जो ठहरा!

उज्जैन, ता० २०:११:'३८

शब्बीर हसन 'जोश' मलीहाबादी

[भुवनेश्वरप्रसाद]

[श्री भुवनेश्वरप्रसाद से 'हंस' के पाठक एक सफल एकांकी के लेखक के रूप में भली प्रकार परिचित हैं। श्री भुवनेश्वरप्रसाद को उर्दू कविता का अच्छा ज्ञान है और उर्दू के क्रान्तिकारी कवि 'जोश' साहब के निकट सम्पर्क में आने का उन्हें अवसर मिला है ; और आपका लिखा यह शब्द-चित्र बहुत सफल हुआ है।—सं०]

सन १९३७ की एक उर्दू Who's who (परिचय-पुस्तक) में शब्बीर हसन ताजिर इत्रो-तम्बाकू के नीचे एक और नाम है शब्बीर हसन 'जोश', जिसके आगे तीन लाइनों का ब्योरा है—'वतन मलीहाबाद, शायरी में 'अज़ीज़' लखनवी के शागिर्द, आज-कल दिल्ली में क़याम है। एक परचा 'कलीम' वहीं से निकालते हैं।' दूसरी तरफ़ ख़ुद 'जोश' अपने बारे में कहता है :

मैं ए जोश इस दौर में हूँ वह शायर,
अँधेरे में जिस तरह शमअः फरोज़ां।

लेकिन समकालीन साहित्यिकों के मान के बारे में किसी का कहना ठीक ही मालूम होता है कि साहित्यिक को समझना चाहिये कि उसे पढ़नेवाले कोरे मूर्ख हैं— और पढ़नेवालों को कि सामयिक साहित्यिक मनचले मूर्ख।

किसी का कहना है कि उर्दू शायरी में 'जोश' एक 'घटना' है, घटना इस मानो में कि एक उर्दू का शायर पूर्व की शायरी की हर एक रूढ़ि (Mannerisn) और मुग़ालते (Conciets) में पलकर ४२ साल की उम्र में क्रान्ति का कवि हो जाय। ऐसा ही तो 'जोश' है। हमारा पहला और अकेला कवि जो खाई को लांघ गया है और जो जैसे सङ्गीनों के सामने तना हुआ पीछे आनेवालों को हुंकार रहा है।

शब्बीर हसन 'जोश' के पुरखों ने ३०० साल से ज़्यादा मलीहाबाद में जागीर भोगी है, पहले अवध के विलासी नवाबों की छत्र-छाया में, बाद में अंग्रेज़ बहादुर की। और अपने घर के नवाबी वातावरण में रहकर उसने शायरी इसी तरह सीखी जैसे शराब पीना। दोनो ने बिला इरादा, बिला किसी तकल्लुफ के उसे पूरी तरह अपना लिया और क़रीब-क़रीब दोनों के कारण उसे अपने पुरखों की जायदाद से हाथ धोना पड़ा।

फिर तो एक ज़माने तक 'जोश' हैदराबाद में सरकारी नौकरी पर रहे। इसी ज़माने में

वह लखनऊ की हल्की पतन की (decadent) शायरी के प्रभाव में आये और 'अज़ीज़' के शागिर्द कहलाये। 'जोश' और 'अज़ीज़' दोनो शिया हैं। लखनऊ के अक्सर शायर शिया हैं और अगर घटनावश उन्होंने मरसिये नहीं लिखे हैं तो उनकी ग़ज़ल में भी मरसियों का रंग सतह पर है।

'जोश' के कहे जानेवाले उस्ताद 'अज़ीज़' का शेर है :

'अरे मुँह ढाप के रोने वाले—
दम उखड़ जायगा फरियाद तो कर।'

लेकिन 'जोश' ने तो ग़ज़ल भी ऐसी कही है :

इधर भी बादेसबा आ वहार की सौगन्ध,
शमीम तुर्रे पे गेसूये यार की सौगन्ध।

इसीलिए 'जोश' और 'अज़ीज़' में शागिर्दी के मामले पर हमेशा तनातनी रही। 'अज़ीज़' ने उस पर जितना ज़ोर दिया 'जोश' ने उतना ही उसे इन्कार किया। आख़ीरकार लोगों ने 'जोश' का एतबार कर ही लिया।

× × × ×

तो 'जोश' के कवित्व के उद्गम की खोज कहाँ की जाय। 'जोश' अंग्रेज़ी कविता और साहित्य से अछूता है, इतनी अंग्रेज़ी कभी जानी ही नहीं। इक़बाल के 'पैन इस्लामिज़्म' का उस पर असर नहीं पड़ा। वह सन् १९२० तक में ख़िलाफ़त आन्दोलन का क़ायल न हो सका। उसके प्रिय कवि हैं हज़ार साल पुराने 'क़ावी' और 'फिरदौसी'।

'फिरदौसी' ईरान का हेलर है। यही नहीं, दसवीं शताब्दी में 'फिरदौसी' ने ही अरबों के विरुद्ध झंडा गाड़ा था, जब उसने इस्लामी बुज़ुर्गों के गीत न गाकर यारा, नौशेरवां, रुस्तम और सोहराब का राग अलापना शुरु किया। लेकिन वह विद्रोह बहुत निर्बल था। ईरानी जन-समुदाय उससे उदासीन था और अब तक रहा। तभी तो मरने पर 'फिरदौसी' को सार्वजनिक क़ब्रिस्तान में दफ़न करने की इजाज़त नहीं मिली, और मजबूरन वह अपने घर में ही दफ़न किया गया। हजार साल तक 'शाहनामा' ईरान में ही नहीं, भारत तक में, बहुत लोकप्रिय रहा सो भी काव्य रसास्वाद और मनोरंजन के लिये, जातीय जोश को उभारने के लिये नहीं। किन्तु महासमर के बाद ईरान के नवयुग में 'शाहनामा' ईरान का वेद है, 'फिरदौसी' ईरान का ब्रह्मा है। 'फिरदौसी' की क़ब्र को लोग बिलकुल भूल गये थे। बड़ी मुश्किल से तूस शहर के खँडहरों को खोदकर वह निकाली गई, और ईरान ने अपनी खानों के कीमती संगमरमर से उसका आलीशान मक़बारा बनाया। दरवाज़ों और दीवारों पर 'शाहनामा' के प्राचीन ईरानी वीरों और सम्राटों की मूर्तियां खोदी गई हैं। यह सरासर इस्लाम के ख़िलाफ है। 'जोश' अगर राष्ट्रीय कवि है तो बहुत अंश में 'फिरदौसी' की तरह। वह भी प्राचीन गौरव की दुहाई देता है, वह भी बीते हुये को गर्व और जलन से देखता है और वर्तमान पर आठ-आठ आंसू रोता है, दांत किटकिटाता है। उपमाओं में अर्जुन और अभिमन्यु को याद करता है और तलवार ऐसी चीज़ की याद दिलाता रहता है।

'जोश' हिन्दुस्तान का 'फिरदौसी' ही नहीं है वह विक्टर ह्यूगो भी है।

'जोश' क्रान्ति का कवि है न।

× × ×

लम्बा तगड़ा पठान आदमी है जोश ; पर चेहरा कुछ ढला हुआ, बात में बात पैदा करता है। फारसी के शेर बातचीत में दुहराता है और ख़तों में लिखता है। शायर दिखलाई देता है, रईस भी दिखलाई देता है, पर क्रांतिकारी—यहाँ तक कि क्रांति का कवि भी नहीं।

कहा जाता है कि जग ज़ाहिर बात बहुत विश्वसनीय नहीं भी हो सकती है ; पर 'जोश' शायर है, रईसतबियत भी है और क्रांति का कवि भी।

कम से कम उसने यह तो जाना है, और उस पर अमल किया है कि साहित्य में टेकनिक ही सब कुछ नहीं है। कैरेक्टर भी कुछ चीज़ है। पूंजीवाद के इस युग में लिखनेवाली चीज़ तो आख़िर रुपया ही है।

रुपया लिखता है।

× × ×

'जोश' ने भी अंग्रेज़ी की यह उक्ति सुनी होगी कि 'रुपया बोलता है', और यह भी जाना होगा कि इस युग में लिखा हुआ शब्द बोले हुए से कहीं ज़्यादा पायेदार और ताक़तवर हो गया है। इसलिए रुपया-जायदाद न रहने पर 'जोश' को चुप रह जाना पड़ता।

लेकिन महासमर के बाद पूरे संसार में राष्ट्रीयता की एक व्यापक लहर आई है, जिसने कुछ देशों में फ़ासिज़्म का रूप इख्तियार किया। ग़रीब हिन्दुस्तान में उसका एक नतीजा राजनैतिक साम्प्रदायिकता का जन्म हुआ। पर 'जोश' इस सब से अलग है।

पहले 'शायर की रातें' छपीं जिसके आख़ीर में किसी का यह शेर दर्ज था।

'आप को नींद आई जाती है,
ख़त्म अभी दिल की दास्तान नहीं।'

दूसरा 'नक़्शो-निगार', तीसरा 'फ़िक्रो-निशात' और चौथा 'शोलओ-शबनम जिसके शुरू में यह शेर था :

'ख्वाब को जज़्बये बेदार दिये देता हूँ,
क़ौम के हाथ में तलवार दिये देता हूँ।'

और जिसका समर्पण अपने देशवासियों को इस तरह किया गया था—

'ए हिन्द के ज़लील गुलामान रू सियाह,
शायर से तो मिलाओ ख़ुदा के लिए निगाह।
इस ख़ौफनाक रात की आख़िर सहर भी है ;
तोपें गरज रहीं है सरों पर ख़बर भी है।
तू चुप रहा, ज़मीन हिली आसमां हिला,
तुझसे तो क्या, ख़ुदा से करूँगा मैं यह गिला।
इन बुज़दिलों के हुस्न पे शैदा किया है क्यूँ,
नामर्द क़ौम में मुझे पैदा किया है क्यूँ।'

'जोश' का यह जोश (effusiveness) जग जाहिर है। इसके कारण तो कई हैं और साफ़ हैं ; पर इसका असर 'जोश' की शायरी पर यह है कि—

(१) वह दिन-ब-दिन क्लासिकल होती जा रही है।

(२) कि उसमें कवित्व और बारीकियाँ बढ़ती जा रही हैं और असर कम।

(३) कि वह क्रांति की कविता के नाते सस्ती और हल्की है।

और इसका कारण यह है :

कि 'जोश' के लिए राजनीति पेशे और रिसर्च का विषय नहीं है, उसके लिए वह धर्म का स्थान ले सकती है।

और इसलिए जिस विस्मय, भ्रम और समर्पण की भावना से धर्म के सामने सर झुका सकता है उसी से राजनीति के आगे। उसकी राजनीति सीधी दो-टूक है—कि भारत एक हो और भारत आज़ाद हो। वह भारत की आज़ादी कैसी हो यह वह नहीं जानता है, वह तो यह देखता है :

'उस के (अंगरेज के) जूते पर चमक है,
मेरे चेहरे पर नहीं—'

मैं यानी 'किसान'

'जो इरतक़ा का पेशवा
तहज़ीब का परवरदिगार ;
लोच भर देता है जो शहजादियों की चाल में
जिसके बूते पर लचकती है कमर तहज़ीब की—'

यह bourgoise radicalism भी कहला सकती है पर 'जोश' को और radicals की तरह सब्र और आशा कहाँ है।

हिन्दुस्तान के राजनैतिक जीवन में सब्र, और सहनशीलता का दर्जा बहुत ऊँचा है। पर 'जोश' को न सब्र है न आशा। कहता है :

'रूहे हिन्दी को अरे बारे ख़ुदा इदराक हो,
गर नहीं तो सूर फुँक जायें कि क़िस्सा पाक हो।'

हिन्दुस्तान का अकेला क्रान्तिकारी कवि बेसब्र और निराश है।

लखनऊ।

'निराला'

[रामविलास शर्मा]

[श्री रामविलास शर्मा कविवर श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के बड़े अच्छे अध्ययनकर्ता हैं। आपने 'निरालाजी' की कला पर पहले भी बहुत कुछ लिखा है। हमें हर्ष है कि आपने 'हंस' के लिए 'निराला'जी का यह शब्द-चित्र भेजा है। —सं०]

'निराला' को चित्रित करने के लिए फ्रेस्को चाहिये ; स्केच में उसकी विचित्रता अचित्र ही रहेगी। बहुत मोटी आउटलाइन भर यहाँ दी जा रही है।

बोटिंग के लिए जाते हुए गाँवों में ठहरने पर पंतजी को कुछ दिहाती टाइप्स देखने को मिले और तब वह समझे कि 'निराला' में ठेठ किसानपन था। थोड़ा-सा और सूक्ष्म विवेचन करने पर मालूम हो जायगा कि 'निराला' का किसान बैसवाड़े का है, अवध के किसी अन्य भाग का नहीं। 'निराला' के पिता आदि बैसवाड़े के रहनेवाले थे ; उनसे बैसवाड़ीपन पूर्ण मात्रा में पाया है। फिर भी गाँववालों के लिए वह कम आश्चर्यजनक नहीं, वे उसे बिल्कुल अपने में का समझते हों, ऐसा नहीं है।

'निराला' की शिक्षा-दीक्षा बंगाल में हुई है। बैसवाड़े का रहनेवाला, जब तक उसे बाहर की हवा न लगी हो, लंबे-लंबे बाल रखाये, यह कल्पनातीत है। बंगाल की शिक्षा कुछ हद तक उसे किसानों से अलग रखती है।

'निराला' को बचपन में कुश्ती-कसरत का शौक रहा और सक्रिय रूप में वह काफ़ी दिनों तक जारी रहा। अब भी वह दूसरे रूपों में विद्यमान है। शारीरिक गठन बिगड़ जाने पर भी उसके व्यक्तित्व का प्रभाव आस-पास वालों पर बिना पड़े नहीं रहता। सिनेमा-घर में एक बार दो पठान उसे देखकर कुछ कह रहे थे ; पूछने पर कहा—यह पुराने जमाने का लोग है। अब यहाँ ऐसा लंबा-चौड़ा आदमी पैदा नहीं होता।

यह कसरती और उद्धत व्यक्तित्व उसके साहित्य की खास चीज़ है :

'मेरा अन्तर वज्र कठोर।
देना जी भरसक झकझोर ॥'—

विधाता को चैलेंज देकर उसने बहुत पहले लिखा था। उसकी कविताओं में जो बहुत

पुरुषार्थ व्यक्त है, जो विद्रोह की, विजय-कामना की भावना वर्तमान है, वह बैसवाड़े की भूमि की श्रेष्ठ देन है। सड़कों पर मैले-कुचैले कपड़े पहने, तहमत में स्याही का भारी धब्बा लगा हुआ, फटे चप्पल या नंगे पैर बड़े बाल रखाये उसे लापरवाही से अमीनाबाद में चलते देखा है। लोगों ने कहा—'जान बूझकर कहता है, सनकी है।' कुछ नहीं, वह सामाजिक विद्रोह की एक भावना मात्र थी। 'तुमने कपड़ों को पूजना सीखा है, मनुष्य का आदर करना नहीं।' 'देवी' कहानी में 'निराला' ने पगली को देवी बनाके पूजा है।

और दूसरी तरफ़ बंगाल की दखिना पवन और रवींन्द्रनाथ की कविता, इनसे भी उसे प्रेम रहा है। सफ़ेद कपड़ों में लकालक, इत्र फुलेल से सजकर किसी सभा आदि में जाना भी उसे प्रिय है, या कुछ दिन पहले था। उसके ओठों की रेखाओं में एक ऐसी क्षीण कोमलता है जो उसके शेष व्यक्तित्व के साथ साम्य नहीं खाती। 'निराला' ने यह भी लिखा है,—

'अंधकार में मेरा रोदन—
सिता धरा को करता है क्षण-क्षण—'

जिसमें बंगला-साहित्य की 'अश्रु सरस महानंदे' वाली कविता की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। ४८ नं० नारियलवाली गली में 'निराला' की इस रूप में कल्पना करने पर कविता की सारी गंभीरता नष्ट हो जाती है।

बैसवाड़े के किसान की रूढ़िग्रियता, धार्मिकता भी उसमें है। सामाजिक उच्छृङ्खलता के होते हुए भी 'निराला' घोर धार्मिक व्यक्ति है; और उसके व्यक्तित्व को किसी ओर से ख़तरा है, तो धर्म की ही ओर से। बैसवाड़े का पुरुषार्थ जब बंगाल की कोमलता से मिल जाता है तो 'जुही की कली' लिखी जाती है, दोनो में प्रतिस्पर्धा होने पर 'तुलसीदास' और जब केवल वह किसान रहता है तब 'देवी', 'चतुरी चमार', 'परिमल' की बहुत-सी कविताएँ। उसकी आंतरिक रुधिर में व्यापी हुई परुषता बहुधा ऊपर रहती है; इसीलिए अधिकाँश कविताओं में हिन्दी की ओजपूर्ण वृत्तियाँ पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। उसकी कोमलता उसके लिए एक रोग है; उसकी पुरुषता को धक्का पहुँचाती है।

शायद दखिना पवन न लगी होती तो वह रहस्यवादी न होकर एक बड़ा विद्रोही होता।

लखनऊ।

रियासतकार सरदेसाई

[श्री० रा० टिकेकर]

[मूल मराठी से अनुवादक, रामचन्द्र वर्मा]

[श्री टिकेकर ने रियासतकार सरदेसाई का सुन्दर जीवन-परिचय सरदेसाई-स्मारक-ग्रन्थ के लिए लिखा था, जिसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन करके आपने उसे हमारे पास प्रकाशनार्थ भेजने की कृपा की है।—सं०]

एक अवसर पर श्रीयुक्त नृसिंह चिन्तामणि केलकर ने रियासतकार श्रीयुक्त गोविन्द सखाराम सरदेसाई को लिखा था—'इतिहास को आपने अपना लड़का माना है और वह अमर है।' यह बात बिलकुल ठीक है। मेरे देखने में तो और कोई ऐसे विद्वान् सज्जन नहीं आते जो इतिहास का इस प्रकार पुत्रों के समान लालन और पोषण करते हों। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि पाठकों को संक्षेप में रियासतकार महोदय का परिचय करा दूँ। मैं समझता हूँ कि उनके कार्यों के सम्बन्ध में कुछ लिखने से पहले उनका जीवन-चरित्र और कुल-वृत्तान्त आदि आवश्यक और जानने योग्य बातें दे देना अच्छा होगा।

सरदेसाई उर्फ मावलंकर नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का घराना रत्नागिरि जिले के मावलंगे नामक गाँव के पास का रहनेवाला है। सरदेसाई एक पद या ओहदा है। इनके कुल-देवता नरसिंह हैं। इस बात के अनेक उल्लेख मिलते हैं कि श्री छत्रपति शिवाजी, पेशवाओं और वावडेकर पन्त अमात्य आदि ऐतिहासिक राज-परिवारों में रहकर सरदेसाइयों ने अच्छे-अच्छे काम किये थे। जिस समय छत्रपति संभाजी को मुगलों ने पकड़ा था, उस समय वे सरदेसाइयों के ही एक बाड़े या हवेली में रहते थे। ऐतिहासिक काल में प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले इस घराने ने पहले ही बहुत-से अच्छे और बड़े काम किये थे और अच्छी सम्पत्ति प्राप्त की थी; परन्तु रियासत-कार के बड़ों पर कुछ विपत्ति आ गई थी और उन्हें कठिन समय बिताना पड़ा था। उन्हें अपनी गृहस्थी चलाने के लिए खेती-बारी के सिवा कुछ और काम करने की भी चिन्ता होने लगी। और फिर कोंकण-सरीखे प्रान्त में खेती-बारी से कोई खास पैदावार भी क्या हो सकती थी! सखाराम पन्त को कुछ ऋण लेना पड़ा, तो भी खेती-बारी के लिए परिश्रम करने से उन्हें छुटकारा नहीं मिला। उलटे साहूकारों के तगादे और बढ़ गये और उन्हें उनकी कड़ी बातें सुनकर और भी दुःखी होना पड़ा। तो भी उन महापुरुष ने अपना सत्व नहीं छोड़ा। उस विपत्ति के दिनों

में भी उनका सौजन्य, उनकी शान और उनकी सत्य-निष्ठा में कोई अन्तर नहीं आने पाया। बल्कि यही कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने लड़कों को उत्तराधिकार के रूप में जो ऐसी सम्पत्ति दी थी जो 'न चोर ही चुरा सकें और न कभी किसी को दिखाई ही पड़े।' वह सम्पत्ति शुद्ध सद्शील की और उदारता की ही थी। उनके गोविन्दराव (रियासतकार), नारायण राव (बिलमोरिया के कारखानेदार), गणपतिराव (बम्बई के व्यापारी), दिनकरराव (नेत्र-वैद्य), भास्करराव ये पाँच पुत्र हुए। इनके सिवा उनकी दो कन्याएँ भी थीं।

मूलतः मावलंग में रहनेवाले ये सरदेसाई आगे चलकर वेरवली आदि स्थानों में रहने लगे; परन्तु सखाराम पन्त ने अपना घर गोविल नामक स्थान में बनाया। कोल्हापुर से रत्नागिरि की ओर जानेवाले रास्ते पर साखरप्पा नामक स्थान से गोविल जाने के लिए सड़क गई है। शिपोशी के आगे तीन मील पर गोविल पड़ता है। सखाराम पन्त का अधिकांश समय यहीं बीता। सन् १९०७ में अपने पोते (श्यामकान्त) के यज्ञोपवीत के लिए जब वे बड़ौदे जा रहे थे, तब रास्ते में बम्बई पहुँचने पर विजया-दशमी के पहले दिन (ता० १५-१०-१९०७) को उनका स्वर्गवास हो गया।

रियासतकार का जन्म ता० १७ मई सन् १८६५ को गोविल के पास हसोल नामक स्थान में हुआ था। इन दोनों गाँवों के बीच में सिर्फ एक छोटा-सा नाला पड़ता है। अपने धार्मिक विश्वास के कारण लोग इनकी आसन्न-प्रसवा माता को गोविल से हसोल ले गये थे और जब वहाँ अच्छी तरह प्रसव हो गया, तब बरही के दिन लोग उन्हें और शिशु को फिर अपने नये निवास-स्थान में ले आये थे। यों कहा जाय तो गोविन्दराव की बाल्यावस्था कष्ट में ही बीती थी। आज-कल के विद्यार्थियों को देखते हुए यही कहना चाहिये कि उन्होंने बाल्यावस्था बहुत ही कष्ट में बिताई थी। बाल्यावस्था में गोरू चराना और खेती बारी के सब काम करना तो मानों उनका नित्य-कर्म था; और यही समझना चाहिये कि उन दिनों बालकों के लिए ये सब काम करना आवश्यक-सा होता था। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा तो इन्होंने शिपोशी में ही समाप्त की थी और तब आगे अँगरेज़ी पढ़ने के लिए इन्हें रत्नागिरि जाना पड़ा था। आज-कल के विद्यार्थी इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि उन दिनों हाई स्कूलों की शिक्षा कैसी होती थी। लड़के रात को दरजे में ही सोया करते थे। फिर सवेरे जल्दी ही उठकर उन्हें अपना बिछौना लपेटकर एक कोने में रखकर जगह साफ़ करनी पड़ती थी। क्योंकि फिर थोड़ी देर बाद उसी जगह दरजा लगता था और लड़कों की पढ़ाई शुरू होती थी। दूसरे स्थानों के रहनेवाले विद्यार्थियों को किसी भोजनालय में भोजन करने के लिए जाना पड़ता था। आप समझते हैं कि उन दिनों भोजनालयों में भोजन करने की दर क्या होती थी? रियासतकार हर महीने चौबीस आने (रुपए नहीं) देकर रत्नागिरि के एक भोजनालय में भोजन करते थे और स्कूल में ही रहकर पढ़ते थे। गोवल से रत्नागिरि की यात्रा भी बहुत ही कठिन होती थी। अगर कभी कोई मजदूर मिल जाता था तो उसके सिर पर बोझ रखकर देवल तक बड़ी सड़क से जाना पड़ता था। और फिर आगे बैल-गाड़ी पर सवार होकर बाकी रास्ता तै करना पड़ता था। उन दिनों के और आज-कल के विद्यार्थी-जीवन में कितना अधिक अन्तर दिखाई देता है! इस प्रकार के कुछ नये और कुछ पुराने जमाने में भोजनालय को हर महीने डेढ़ रुपए देकर रियासतकार हाई स्कूल में शिक्षा पा रहे थे।

यद्यपि रत्नागिरि स्कूल में पढ़ाई का काम पहले से ही होता आ रहा था; परन्तु जिस समय रियासतकार वहाँ पहुँचे थे, उस समय वहाँ की पढ़ाई की व्यवस्था बहुत बिगड़ रही थी। शिक्षकों का ध्यान भी पढ़ाई की तरफ नहीं था। फिर विद्यार्थियों का क्या पूछना था! उनकी तो खूब बन आई थी। विनय या मर्यादा तो वहाँ थी ही नहीं—कोई उसका नाम भी नहीं जानता था। इसलिए सरकारी अधिकारियों को रत्नागिरि के स्कूल की ओर ध्यान देना पड़ा। देवताओं की नींद एक बार खुली। उन्होंने चटपट जाँच की और राव बहादुर गणेश व्यंकटेश जोशी तथा मोरेश्वर वामन कीर्त्तन, जो दोनों ही कार्यक्षम तथा विद्वान् शिक्षक थे, रत्नागिरि स्कूल में पढ़ाई के लिए नियुक्त किये गये। जोशी महाशय व्यवस्था और मर्यादा स्थापित करने में बहुत दक्ष थे। भला उनकी व्यवस्था में कौन-सी कमी हो सकती थी? निकम्मे और कामचोर मास्टरों को बदलकर उन्होंने उनकी जगह अच्छे और कार्यक्षम शिक्षक नियुक्त किये। फिर व्यवस्थित रूप से पढ़ाई होने लगी। लड़कों की उद्दंडता में पूरी तरह से रुकावट होने लगी। कीर्त्तन वहाँ प्रायः साल ही भर रहे; परन्तु इतने ही समय में उन्होंने रत्नागिरि स्कूल की बहुत अच्छी व्यवस्था कर दी और फिर अपने घर की भी कुछ व्यवस्था की। ग्यारह वर्ष की अपनी विवाह योग्य—उस समय की दृष्टि से—कन्या के लिए उन्होंने एक वर भी ढूँढ़ लिया।

आज हमें रियासतकार के श्वसुर की दृष्टि प्राप्त होना सम्भव नहीं है। और यदि वह दृष्टि हमें किसी प्रकार प्राप्त भी हो जाय, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें उस समय मैट्रिक में पढ़नेवाले रियासतकार में कौन-से विशिष्ट गुण दिखाई दिये थे। यदि तात्विक विवेचन की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात बहुत ही ठीक ठहरेगी कि रियासतकार ने इतने वर्षों के अध्ययन से जो गुण सम्पादित किये हैं, वे सब बाल्यावस्था में बीज-रूप से उनमें अवश्य ही वर्तमान होने चाहियें। परन्तु यदि हम यह कहें कि आज-कल उनके गुणों में जितना प्रभाव है, उतना ही प्रभाव उस समय कीर्त्तनजी को भी दिखाई पड़ा होगा, तो यह मानों श्रद्धाधुला की हद ही होगी। इसलिए अच्छा यही है कि हम बतलाने के फेर में न पड़ें कि दामाद ढूँढ़ने की श्वसुर की दृष्टि कैसी थी अथवा उन्होंने इन्हीं को दामाद बनाना क्यों पसन्द किया था। परन्तु फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कीर्त्तनजी ने जो परख की थी, उसमें कोई भूल नहीं हुई थी।

मैट्रिक परीक्षा पास करने से पहले ही रियासतकार चतुर्भुज हो गये थे—वे कीर्त्तन जी के दामाद बन गये थे—(ता० २९-२-१८८४)। कुमारी गंगूताई कीर्त्तन को सौभाग्यवती लक्ष्मीबाई सरदेसाई बने आज पूरे ५४ वर्ष हो गये हैं; तो भी रियासतकार विवाह के वर्ष केवल १४ ही हो पाये थे।

यद्यपि रियासतकार का विवाह उनकी पढ़ाई के दिनों में ही हो गया था, लेकिन फिर भी उनकी पढ़ाई में कोई बाधा नहीं पड़ी थी। मैट्रिक पास करते ही अपने श्वसुर की सहायता से रियासतकार पूने चले गये और वहाँ के फरग्यूसन कालिज में भरती हो गये। वहाँ पहला वर्ष यशस्वितापूर्वक समाप्त करने के उपरान्त और आगे अध्ययन करने के लिए उन्हें बम्बई जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने एलूफिन्स्टन कालिज में नाम लिखाया और वहीं से सन् १८८८ में वे बी० ए० हुए। इनके बड़ों में तो इतनी भी सामर्थ्य नहीं थी कि इनकी हाई स्कूल की ही पढ़ाई पूरी कर सकते; फिर बम्बई और पूने-सरीखे नगरों की पढ़ाई चाहे उन दिनों कितनी ही सस्ती क्यों न रही हो, तो भी उस पढ़ाई का भार भला वे कैसे सह सकते थे? रियासतकार के

मामा बलवन्तराव आठल्ये ने यह उच्च शिक्षा समाप्त करने में उनकी बहुत बड़ी सहायता की थी। इसके अतिरिक्त शिक्षा प्राप्त करने के योग्य स्वावलम्बन का मार्ग भी उन्होंने अवलम्बित किया था।

बी० ए० की डिग्री प्राप्त होते ही उन्हें बड़ौदा के राजमहल में श्रीमान् सयाजी राव महाराज को समाचारपत्र आदि पढ़कर सुनाने की अर्थात् रीडर की नौकरी भी मिल गई। सन् १८८९ के आरम्भ से ही वे वहाँ इस पद पर नियुक्त हो गये थे। उस समय उनकी तनखाह सत्तर रुपए महीने थे। एक वर्ष के अन्दर ही युवराज व राजपुत्र फतहसिंह राव को पढ़ाने का काम भी महाराज ने उन्हें सौंप दिया। इस काम में रियासतकार की खूब बन आई। यदि कहीं का कोई विषय उन्हें पढ़ाना होता था तो वे पहले स्वयं ही उस विषय को बहुत अच्छी तरह अध्ययन कर लेते थे; और प्रायः ऐसा होता था कि जो कुछ पढ़ते थे, वह सब एक बार लिख भी डालते थे। इन्हीं लिखे हुए नोटों से मानों उनको रियासतकारी उत्पन्न हुई थी। कई बार उन्होंने मुझसे यह कहा है कि—'इतिहास के जो नोट मेरे टेबुल पर पड़े रहते थे, वे तुम्हारे पिता उठाकर छापेखाने में दे आते थे और इस प्रकार उन्होंने मुझे रियासतकार बना दिया।' रियासतकारी ही क्या, उन दिनों तो उनका यह भी विचार नहीं था कि हम इतिहास की कोई पुस्तक लिखें। जब मुसलमानी रियासत का लिखना आरम्भ हुआ, तब अपने आत्म-विश्वास के आधार पर उन्होंने धीरे-धीरे काम आगे बढ़ाया और तब उसी काम में से अलग-अलग रियासतों या शासन-कालों के खंड प्रकाशित हुए। सन् १००० ई० से पेशवाई के अन्त तक और सन् १८५७ वाले संग्राम तक का इतिहास उन्होंने लिख डाला। मुसलमानी, मराठी और ब्रिटिश तीनों शासन-कालों का इतिहास उन्होंने पूरा किया। परन्तु ये तो उनके अब तक के जीवन के कार्य हुए। अभी हमें उनकी आयुष्य की बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त करना है।

गायकवाड़ की नौकरी में रहने के समय अनेक निमित्तों से उन्हें बहुत अधिक प्रवास करना पड़ा था। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न देशी रियासतें, ठंढी हवा के बहुत-से स्थान और ऐतिहासिक नगर आदि तो उन्होंने देखे ही; परन्तु सयाजी राव के साथ उन्हें पाँच बार युरोप की भी यात्रा करनी पड़ी थी। अपने युरोपीय प्रवास के कारण उन्होंने बहुत-सी नई और अनुकरणीय बातें अंगीकृत की थीं। एक तो पहले से ही उनकी सब बातें बहुत ही व्यवस्थित और नियमित रूप से हुआ करती थीं; परन्तु अब उनके स्वभाव में और भी अधिक सूक्ष्मता आ गई। ठीक समय पर सब काम करने का महत्व तो सयाजी राव के साथ रहने के कारण विशेष रूप से सभी की समझ में आ जाता है, परन्तु विलायत के अनुभव से वे समय का ध्यान रखने में बिलकुल पक्के हो गये। ठीक तरह से काम करने का ढंग और सामने आये हुए काम को तुरन्त ही निपटाने की रीति, तथा इसी प्रकार की और बातें इन प्रवासों में बढ़ती ही गईं। स्वयं सयाजी राव भी प्रत्येक प्रवास में 'मधुमक्षिका' वाली वृत्ति से काम करते थे और सदा इसी दृष्टि से व्यवहार करते थे कि चाहे थोड़ा ही क्यों न सही, परन्तु कुछ न कुछ मधु अवश्य संग्रहीत किया जाय, और उनके साथ रहने के कारण रियासतकार को भी उन्हीं का तादात्म्य प्राप्त करने की कला आत्मसात् करनी पड़ी थी। यह कहा जा सकता है कि गायकवाड़-नरेश के सान्निध्य के कारण उनमें उन सब गुणों का विकास हुआ था, जिससे वे नित्य का कार्य-क्रम पहले से तैयार कर लिया करते थे। नित्य के किये हुए काम भी वे उसी दिन लिख लिया करते थे और हिसाब-

किताब पर पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। रियासतकार की पहली युरोप-यात्रा सन् १८९२ में और अन्तिम युरोप-यात्रा सन् १९११ में हुई थी।

बड़ौदा के राज-परिवार के लड़कों और लड़कियों के ये 'मास्टर' प्रायः पचीस वर्षों तक वहाँ मास्टरी करते रहे। उनकी शिक्षा से जो राज-परिवार के लोग तैयार हुए, उनमें से मुख्य के नाम इस प्रकार हैं—फतहसिंह राव के सभी भाई और लड़के, इन्दिरा राजे (कूच-विहार की राज-माता), देवास (छोटी शाखा) की रानी साहेबा, सांडूर के वर्त्तमान अधिपति की माता। इसके सिवा बड़ौदा के बहुत से सरदारों के लड़कों ने भी इन्हीं से शिक्षा पाई थी। आज भी सारे राज-परिवार में रियासतकार 'मास्टर' नाम से ही प्रसिद्ध हैं और इसी नाम से पहचाने जाते हैं। जिस समय रियासतकार को पुत्र-शोक का कठोर आघात लगा था, उस समय इन्दिरा राजे बड़ौदे में ही थीं (सन् १९२६)। वहाँ से उन्होंने सान्त्वना का जो पत्र रियासत-कार के पास भेजा था, उसमें भी उनके इसी प्रिय नाम का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा था—

"Words fail me, but my dear Master, my heart is full of sympathy for you and your wife."

अर्थात्—'मेरे प्रिय मास्टर साहब, यद्यपि सहानुभूति प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द तो नहीं हैं, परन्तु आपके और आपकी पत्नी के प्रति सहानुभूति से मेरा हृदय पूर्ण है।'

ये राजपुत्रों और राज-कन्याओं के मास्टर तो थे ही। फिर दो युगों से अधिक समय तक राज-परिवार के साथ इनका व्यवहार रहा था; इसलिए स्वभावतः रानी साहेबा का इन पर पूर्ण विश्वास रहता था। वे इन्हें घर के बड़े-बूढ़ों की तरह ही मानती थीं। और नहीं तो राजे-महाराजाओं का जीवन एक प्रतिष्ठित बन्धन के समान ही हुआ करता है। वहाँ की परिस्थिति के कारण ऐसे लोग जल्दी मिलते ही नहीं जिनके साथ जी खोलकर आपसदारी का बरताव किया जा सके। दिन-रात उठते-बैठते नौकरों के ही साथ काम पड़ता है और राजमहलों में अच्छे नौकर मिलना तो पूर्व काल के पुण्य का ही फल समझा जाता है। इसलिए यदि रियासतकार को रानी साहेबा अधिक मानने लगीं और राज कन्यायें तथा राजपुत्र भी, जो उनके साथ बहुत आपसदारी का बरताव करने लगे, तो इसमें आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है।

जब राजपुत्रों की शिक्षा का कार्य समाप्त हो गया, तब भी महाराज सयाजी राव इन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने इनकी नियुक्ति उस विभाग के प्रधान अधिकारी के पद पर कर दी जिसके जिम्मे स्वयं महाराज का निजी हिसाब-किताब रखना था (सन् १९१२)। ग्यारह-बारह वर्षों तक जब वह काम भी रियासतकार कर चुके, तब उन्होंने नौकरी से छुट्टी पाने की इच्छा प्रगट की और सन् १९२५ में उन्होंने बड़ौदा छोड़ दिया। उनका अन्तिम वेतन ४८५ रुपए मासिक था। लगातार सैंतीस वर्षों तक नौकरी करने के उपरान्त भी उन्हें वेतन के अनुरूप पेंशन नहीं मिली, यह देशी रियासतों के न्याय का एक नमूना है!

बड़ौदे में रहते समय रियासतकार ने वांमयीन जगत् में अनेक प्रकार से पदार्पण किया था। सभी लोग यह जानते हैं कि महाराज सयाजी राव की यह इच्छा थी कि मराठी भाषा में नये-नये विषयों पर पुस्तकें लिखी जायँ। यदि यह जानना हो कि रियासतकार के मन में ऐतिहासिक पुस्तकें लिखने की इच्छा किस प्रकार उत्पन्न हुई, तो कालानुक्रम से वे पुस्तकें देखनी चाहियें जो उनके नाम से प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने पहले मैकियावेली की Prince नामक पुस्तक

का 'राजपुत्र' के नाम से अनुवाद किया था। यह अनुवाद सन् १८९० में प्रकाशित हुआ था। इसके उपरान्त दो वर्षों में उन्होंने सीली के अङ्गरेजी इतिहास का मराठी अनुवाद 'इंगलैण्ड देशाचा विस्तार' नाम से सन् १८९२ में प्रकाशित किया था। यद्यपि रियासतकार के लेखन का श्री-गणेश ऐतिहासिक ग्रंथों से हुआ था, तथापि महाराज की आज्ञा से उन्होंने कई देशी तथा ब्रिज, सङ्केत, चक्कर आदि ऐसे खेलों के सम्बन्ध में भी, जो घर के अन्दर बैठकर खेले जाते हैं, अनुवादात्मक पुस्तकें सन् १८९६ में प्रकाशित कीं। मराठी इतिहास-देवता को इससे बहुत डर होने लगा। वे सोचने लगे कि हमारा निस्सीम भक्त कहीं क्रीड़ा-देवी के फेर में तो नहीं फँस गया? परन्तु नहीं। अन्त में इतिहास-देवता की ही जत हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष में उनका लिखा हुआ 'हिन्दुस्तानचा अर्वाचनीन इतिहास' के नाम से मुसलमानी रियासत का पहला खण्ड छपकर तैयार हुआ। इसके बाद एक ही वर्ष के अन्दर उन्होंने 'शालोपयोगी भारतवर्ष' के नाम से हिन्दुस्तान का एक ऐसा छोटा-सा मगर पूरा इतिहास लिखा जो स्कूलों के विद्यार्थी के लिए उपयोगी होता। इस प्रकार इतिहास-देवता ने इस भक्त को अन्त तक अपनी ही सेवा में फँसाये रखा। रियासतों के सब मिलकर ग्यारह खण्ड, (मुसलमानी रियासत दो खण्ड, मराठी रियासत आठ खण्ड और बृटिश रियासत दो खण्ड; दूसरे खण्ड की छपने योग्य प्रति अब तैयार हो गई है); उनके गले में पड़ने को थे। अस्तु।

रियासतकार के प्रस्तुत किये हुए ऐतिहासिक साहित्य की एक स्वतन्त्र ही सूची तैयार करनी पड़ेगी। उनके कौटुम्बीय विस्तार का वर्णन करते हुए बीच-बीच में जो इतिहास सामने आ जाता है, यह क्या उचित और उपयुक्त नहीं है?

ज्योंही बड़ौदे में रियासतकार का काम लगा, त्योंही उनके छोटे भाई और ममेरे भाई आदि उनके पास अध्ययन करने के लिए आ पहुँचे। दरबार में तो राजकुमारों को पढ़ाना ही पड़ता था, इधर घर में भी उसकी छोटी आवृत्ति हो जाती थी। इसके सिवा घर में बड़े होने के कारण, गृहस्थी के वृत्त का सारा भार रियासतकार पर ही था। बिना किसी प्रकार की आकुलता प्रकट किये उन्होंने वह सारा भार सहा।

५ मई सन् १८९९ को रियासतकार को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वही श्यामकान्त था। इसके प्रायः चार वर्षों के बाद (ता० २७-२-१९०३) उन्हें एक और लड़का हुआ। श्रीयुक्त प्रो० जिनसीवाले के कहने के अनुसार उसका नाम श्रीवत्सलांछन रखा गया। ज्योंही श्यामकान्त की थोड़ी-सी प्रारम्भिक अँगरेजी शिक्षा समाप्त हुई, त्योंही उसे श्री रवीन्द्रनाथ टैगौर के शान्ति-निकेतन में भेज दिया गया (ता० १-१२-१९१२)। वहाँ से उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा बँगला भाषा लेकर पास की। शान्ति-निकेतन में उसे जितने अंक प्राप्त हुए थे, उतने बँगला भाषा में और किसी को नहीं मिले थे। इसके बाद फरग्यूसन कालिज में श्यामकान्त ने बी० ए०, बी० एस-सी० तक पढ़ा। वह फौजी पलटन में भी भरती हुआ था। इसके आगे उसकी पढ़ाई जर-मनी जाकर हुई थी। सन् १९२४ में उसने डाक्टरेट की पदवी प्राप्त की थी और डेढ़ वर्ष के अन्दर ही अँतड़ियों के विकार के कारण विदेश में ही उसकी मृत्यु हो गई (ता० २८-११-१९२५)। किसी शक्ति ने रियासतकार पर यह प्रबल आघात मानो यह कहकर किया कि भाग्य भी कोई चीज है। एक तो वह लड़का खूब सयाना और योग्य हो गया था; और दूसरे वह सबको प्रिय भी था। परन्तु अपने माता-पिता की उतरती अवस्था में वही लड़का परलोकगामी हो गया। इससे उन

लोगों के मन की जो अवस्था हुई, पाठकों को स्वयं ही उसकी कल्पना कर लेनी चाहिये।

श्यामकान्त का यह विरह प्रेमपूर्ण माता-पिता को बहुत अधिक कष्टदायक हुआ। वह बहुत ही उत्तम स्वभाव का और अच्छा लड़का था। जिसका उससे कोई सम्बन्ध न होता, वह भी उसके सम्बन्ध में शायद यही मत प्रकट करता। फिर भला माता-पिता को क्या मालूम होता होगा। मृत्यु-शय्या पर से श्यामकान्त ने अपने माता-पिता को जो पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है। इससे पाठकों को इस बात की थोड़ी-बहुत कल्पना हो सकेगी कि उसका मन कितना ऊँचा था, उसके विचार कितने व्यापक थे और उसका ध्येय कितना उदात्त था! उसने लिखा था :—

'यदि इस शस्त्र-क्रिया से मैं अच्छी तरह पार न होऊँगा, तो फिर इस संसार में आप लोगों से मेरी भेंट नहीं होगी। बाल्यावस्था से आज तक आप लोगों ने बहुत ही चिन्ता तथा प्रेमपूर्वक लालन-पालन किया है और मुझे बहुत अच्छी तरह शिक्षा दिलाई है। कहीं मेरे लिए किसी बात की कमी नहीं होने दी है। माता-पिता से लड़कों को जो कुछ मिल सकता है, उसमें आप लोगों ने कहीं कोई कमी नहीं दिखलाई है। आप लोगां जैसे माता-पिता मिलना बहुत बड़े भाग्य की बात है; और वह भाग्य जो मुझे प्राप्त हुआ है, इसे मैं बहुत बड़ा लाभ समझता हूँ।

'पिताजी, माताजी, मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि यदि मुझे मृत्यु आकर ग्रस ले तो आप लोग शोक या दुःख न कीजियेगा। आप लोगों की ही तरह, आप लोगों से जो अधिक दुःखी हों, उनकी ओर दृष्टि डालियेगा। जब आप लोगों के दुःख की कल्पना मेरे मन के सामने आती है, तब वह मेरे लिए असह्य हो जाती है। आप लोग यही मानकर चलें कि, 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

'बार-बार आप दोनो को बहुत ही प्रेमपूर्वक तथा श्रद्धापूर्ण प्रणाम करता हुआ आपका यह आज्ञाकारी और प्रिय पुत्र आप लोगों से आज्ञा लेता है। आप लोगों का शुभ आशीर्वाद सदा मेरे साथ है।'

अपनी मृत्यु से कुछ ही घण्टे पहले श्यामकान्त ने यह पत्र अपने हाथों से लिखा था। अब इस बात का अनुमान करने के लिए कि इस पत्र के कारण माता-पिता के मन को कितना अधिक कष्ट हुआ होगा, पुत्र-विरह की अग्नि को उसी प्रकार प्रज्वलित होना चाहिये।

श्रीवत्स तो बाल्यावस्था में ही अर्थात् साढ़े बारह वर्ष की अवस्था में ही (सन् १९१५ में) मर गया था। यद्यपि, रियासतकार के आगे रत्नों के समान दो लड़के थे, परन्तु फिर भी जब नौकरी से छुट्टी पाकर वे बड़ौदे से चलने लगे थे, तब वे फिर वैसे ही हो गये थे, जैसे बड़ौदा जाने के समय थे। अर्थात् अब फिर वे और उनकी पत्नी ही रह गई थीं। उनका विवाह हुआ था सन् १८८४ में और वे नौकरी करने के लिए बड़ौदे गये थे सन् १८८९ में और वहाँ से नौकरी छोड़कर आये थे सन् १९२५ में। इस प्रकार बड़ौदे में ३७ वर्षों तक रहने के उपरान्त और ४२ वर्षों का वैवाहिक जीवन व्यतीत कर चुकने पर भी अन्त में फिर दोनो जैसे के तैसे हो गये। यह स्थिति बहुत ही दुस्सह समझी जानी चाहिये। परन्तु इतने वर्षों के अनुभव से रियासतकार ने जीवन को देखने की अपनी दृष्टि बना ली थी। जिसे जीवन का तत्त्व-ज्ञान कहते हैं, वह उन्होंने पूर्ण-रूप से विचार करने के उपरान्त निश्चित किया था, और वही तत्त्व-ज्ञान उनके काम आया था। लोग कहा करते हैं कि संसार असार है, जगत क्षण-भंगुर है, यह सब माया का जाल है,

आदि-आदि। परन्तु इस दुःखद परिस्थिति में रियासतकार ने वेदान्त की इन थोथी बातों का आश्रय नहीं लिया था; और इसे उनके मन की गम्भीरता ही कहना चाहिये। साधारण रीति से हम लोग यही देखते हैं कि मनुष्य चाहे कितना ही विचारशील क्यों न हो; परन्तु परिस्थिति के आगे वह भीगी बिल्ली बन जाता है। वह दुःख से बहुत ही नमनशील हो जाता है। उसमें सारासार का विचार नहीं रह जाता। फिर वह किसी न किसी अविचारपूर्ण मार्ग से अपना जीवन बिताने लगता है। परन्तु रियासतकार ने कभी ऐसा नहीं होने दिया। उनकी मनोवृत्ति शुद्ध तर्क के आधार पर आश्रित थी, इसलिए किसी तरह का तूफान उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। इसीलिए वे कहते हैं—

'अभी तक यह बात मेरे मन में नहीं बैठती कि दो होनहार लड़के मुझे छोड़कर चले गये।...सभी प्राणी चिरंजीवी हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र का एक घटक है; और जिसे आयु का जितना भाग प्राप्त होता है, वह यदि उतने समय में अपने कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन कर लेता है, तो मानों उसका कार्य-भाग पूरा हो जाता है।'

उनका जीवन-सम्बन्धी तत्त्व-ज्ञान यहीं आकर नहीं रुक जाता। इस प्रकार का समाधान, चाहे कितना ही पागलपन का क्यों न हो, कि अगले जन्म में अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ भेंट होगी ही; परन्तु फिर भी यह समाधान बहुतों को शान्ति देने के लिए यथेष्ट है। परन्तु रियासतकार इस प्रकार की आत्म-वंचना करने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं कि पुनर्जन्म पर मेरा विश्वास नहीं बैठता। बल्कि उनका तो यही दृढ़ विश्वास है कि अपने कृत्यों से मनुष्य इसी जन्म में अमर हो सकता है। अपनी इसी भावना के कारण, लौकिक अर्थ में अपने यहाँ के दिवंगत लोगों के साथ समय-समय पर अब भी उनका समागम होता है। यह बात स्पष्ट ही है कि दुःख की प्रचंड अग्नि में से सही-सलामत बच निकलने के लिए मन भी उतना ही गम्भीर होना चाहिये और उसकी तैयारी भी उतनी ही अधिक होनी चाहिये। जो लोग रियासतकार के स्वभाव से भली-भाँति परिचित हैं, उन्हीं लोगों की समझ में उनके ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्यों का ठीक-ठीक अर्थ आ सकता है।

श्रीयुक्त नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने जो उन्हें यह लिखा था कि 'इतिहास को आपने अपना लड़का माना है और वह अमर है।' वह बहुत ही ठीक है।

अब पाठकों को यह पता चल गया होगा कि जिसे कौटुम्बिक सुख कहते हैं, वह रियासतकार को किस प्रकार प्राप्त हुआ था। जब सन् १९२५ में उन पर पुत्र-विरह का वज्राघात हुआ, तब उनके बहुत-से हितचिन्तकों को भी और उनके सगे-सम्बन्धियों को भी, उनके शरीर और स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में स्वभावतः चिन्ता होने लगी; परन्तु इतिहास की सुधा-वृष्टि उनका चैतन्य बराबर बनाये रखती थी। जब इतिहास के परम प्रिय उपासक पर काल ने यह संकट डाला, तब इतिहास-देवता को बहुत बुरा मालूम हुआ; और हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि इसी लिए उनके अधिकार में जो अमृत-बिन्दु था, उसकी वे बराबर अपने भक्त पर वर्षा करते रहे। इधर गत बारह-तेरह वर्षों से रियासतकार ने कामों का सारा पहाड़ अक्षरशः अकेले ही वहन किया है। उस कार्य का विस्तार देखकर ही कलेजा दहल जाता है। मराठी रियासत का तीन खंडों का जो उत्तम विभाग है, वह इन्हीं दिनों में तैयार हुआ है। मुसलमानी रियासत के दोनों भागों की तीसरी आवृत्ति भी इन्हीं दिनों में हुई थी। Main currents of Maratha

History के नाम से जो व्याख्यान आपने पटना विश्वविद्यालय में दिये थे, उनकी पहली, दूसरी आवृत्ति भी इन्हीं बारह वर्षों में हुई थी। पेशवा दफ़्र का संशोधन हुआ था और उसके ४५ खंड प्रकाशित हुए थे; और रेसिडेन्सी रेकार्डस में का अँगरेजी पत्र-व्यवहार पाँच खंडों में अध्ययन करनेवालों को प्राप्त हुआ था; और ये सब काम रियासतकार के सतत दीर्घ उद्योग के कारण ही हो सके थे। नागपुर विश्वविद्यालय में मराठी इतिहास के सम्बन्ध में 'अव्वल मराठाशाहीचे अन्तःस्वरूप' नाम के जो व्याख्यान हुए थे, वे तो सन् १९३६ में ही हुए थे। मराठी रियासत की नवीन आवृत्ति 'शहाजी', 'शिवाजी', 'संभाजी' और 'राजाराम' नाम के चार बड़े-बड़े खंडों में प्रकाशित करने का काम भी दो ही वर्षों, अर्थात् सन् १९३५ और १९३६ में ही हुआ था। स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली उनकी पुस्तकों की अनेक आवृत्तियाँ भी इन्हीं दिनों में हुई थीं।

बड़ौदा छोड़ने पर, नौकरी से छुट्टी पाने पर और उमर ढलने पर, उनके ऐतिहासिक कार्यों का यह विस्तार बहुत ही जोरों से हुआ था। और तो क्या, ऐतिहासिक क्षेत्र में उन्होंने जो कुछ असली और सच्चा काम किया था, वह सब उनके हाथों से इसी ढलती उमर में ही हुआ है। यद्यपि यह बात देखने में कुछ विलक्षण-सी है कि जिस उमर में पहुँचने पर और लोग काम करना बन्द कर देते हैं, उस उमर में पहुँचने पर रियासतकार ने पूरा-पूरा और बहुत अधिक परिश्रम किया है; परन्तु वास्तव में है यह बात बिलकुल ठीक। उनके जिस काम से सब जगह उनका नाम हुआ और उनके जिस काम से उनके परिश्रम और अध्ययन का पता सारे भारतवर्ष को लगा, वह काम पूने के पेशवा-दफ्तर के कागज-पत्रों का संशोधन है। जब अँगरेज अधिकारियों ने बाजीराव से पूना ले लिया, तब उन्होंने सब कागज-पत्र लाकर एक इमारत में भर दिये थे। आज-कल जिसे एलिअनेशन आफिस कहते हैं, उसी इमारत में सब कागज-पत्र भरे हुए हैं। उसमें लगभग २७,००० बस्ते हैं और उन सबका संशोधन चाहे कोई विद्वान् जन्म-भर क्यों न करता रहे; परन्तु वह फिर भी पूरा नहीं हो सकता। इस कार्य का अनुमान सरकार ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर, भिन्न-भिन्न विद्वानों से करा देखा था। एक विद्वान ने सरकार को सूचित किया था कि यह काम प्रायः तीस वर्षों में होगा और इसमें आठ लाख रुपए खर्च होंगे। चाहे इस अनुमान के कारण और भिन्न-भिन्न मतों के कारण हों; और चाहे किसी और ही कारण से हो; सरकार ने इस कार्य की ओर ध्यान नहीं दिया। हिस्टारिकल रेकार्ड्स कमीशन ने बार-बार निश्चय करके सरकार से यह प्रार्थना की थी कि इस साहित्य का संशोधन बहुत जल्दी होना चाहिये और वह अध्ययनशील विद्वानों को उपलब्ध होना चाहिये। तब सन् १९२९ में रियासतकार सरदेसाई इस काम पर नियुक्त किये गये। उनकी सहायता के लिए प्रो० कृ० पा० कुलकर्णी, वि० गो० दिघे, गुर्जर, य० न० केलकर, पुरन्दर आदि अध्ययनशील विद्वान थे। इन लोगों ने सब कार्य बहुत जल्दी समाप्त कर दिया; और ज्यों-ज्यों कागज-पत्र मिलते गये, त्यों-त्यों वे उन्हें छापते गये। उनके सब मिलाकर ४५ खंड हुए हैं। प्रत्येक कागज-पत्र पर उसकी तारीख दी गई है; यह लिखा है, किसने किसे भेजा था; और साथ ही अँगरेजी में उसका कुछ सारांश भी दिया गया है, जिससे भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के अध्ययनशील विद्वानों के लिए सुभीता हो गया है।

इस काम के लिए सरकार ने दस हजार रुपए सालाना देना मंजूर किया था। यद्यपि अपने सहायक चुनने का काम रियासतकार को ही सौंपा गया था, तो भी यह उचित और

आवश्यक था कि यह चुनाव कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर हो। आरम्भ के कुछ खण्ड प्रकाशित होने के उपरान्त सरकार ने यह निश्चित किया था कि सम्पादक के स्थान पर रियासतकार का नाम प्रकाशित किया जाय; पर साथ ही यह भी निश्चित हुआ था कि इसके साथ इस आशय की भी एक सूचना लगा दी जाय कि इसमें जो मत व्यक्त किये गये हैं, वे सरकार के नहीं हैं। लोगों को सब काम इसी दफ्तर में बैठकर करना पड़ता था। जिन सन्दर्भ-ग्रन्थों की नित्य आवश्यकता होती थी, वे आस-पास कहीं मिल नहीं सकते थे, इसलिए अड़चनें तो बहुत सी थीं; लेकिन फिर भी कार्य के महत्व का ध्यान रखते हुए रियासतकार ने वे सभी अड़चनें सह लीं। परन्तु इन अड़चनों से भी बढ़कर दुःखदायक और असह्य वह अनुभव था जो उन्हें बम्बई की लेजिस्लेटिव काउन्सिल के व्यवहार के कारण हुआ था। परन्तु उन्होंने उसकी भी कोई परवाह नहीं की। पेशवाओं के दफ़्तर से विद्या-प्रेमियों को कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती थी; लेकिन आश्चर्य की बात है कि इस राष्ट्रीय कार्य में भी लोग अपने वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष आदि निकालने लगे। और सब अड़चनों की कुछ परवाह न करते हुए सरकार ने इस काम की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली थी, तब पहले तो साल दो साल तक वह ठीक तरह से खर्च देती रही। इसी प्रकार तीन वर्षों तक काम चलता रहा। परन्तु आगे चलकर जब आर्थिक अड़चनों के कारण कड़ाई से खर्च कम करने की नौबत आई, तब इस दफ्तर के लिए होनेवाले खर्च की मंजूरी में भी तरह-तरह के झगड़े होने लगे। चौथे वर्ष के आरम्भ में जब सब लोगों को यह मालूम हुआ कि इस दफ्तर के काम करनेवाले कुछ लोग अलग कर दिये जायँगे, तब सर यदुनाथ सरकार को अपने साथ लेकर रियासतकार कुछ देशी रियासतों में भी घूमे और कुछ बड़े-बड़े लोगों से मिलकर इस स्तुत्य कार्य के लिए उन्होंने अपनी हिम्मत से १२,००० रुपयों का चन्दा कर लिया। इससे एक वर्ष के लिए फिर निश्चिन्तता हो गई। बस इतने ही समय में ४५ खण्ड और मार्ग-दर्शिका के रूप में एक सूची भी छपकर प्रकाशित हो गई—मतलब यह कि इतना ऐतिहासिक साहित्य प्रस्तुत हो गया।

पेशवाओं के दफ्तर के कागज-पत्रों की जाँच-पड़ताल का जैसा काम रियासतकार ने किया था, उसे देखने से इस बात का पता चल जाता है कि उनका ज्ञान कितना सूक्ष्म है, व्यासंग कितना दीर्घ है और वाचन कितना व्यापक है। उनके संग्रह में जितनी ऐतिहासिक पुस्तकें हैं, उनमें से जितनी पुस्तकें उन्होंने पढ़ी हैं, उन सब पर उनके पढ़े जाने की तारीख मिलती है। यदि वह पुस्तक दोबारा पढ़ी गई हों, तो यह बात भी उस पर लिखी हुई मिलती है। यदि किसी पुस्तक में आई हुई किसी बात का उल्लेख किसी और पुस्तक में हो, तो हाशिये पर उसका भी निर्देश मिलता है और इसीलिए वे तुरन्त यह बतला सकते हैं कि किस पुस्तक में क्या है। उनका यह कायदा है कि, वे बहुत थोड़े में यह भी लिख रखते हैं कि किस पुस्तक में लिखी हुई तिथि ठीक है, किस पुस्तक में का वृत्तान्त विश्वसनीय है अथवा वह वृत्तान्त उस प्रकार क्यों लिखा गया है। इससे यह बात आप ही आप समझ में आ सकती है कि उनका वाचन कितनी चिकित्सक-दृष्टि का होता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने पेशवाओं के दफ्तर के कागज-पत्रों की बहुत अच्छी तरह जाँच-पड़ताल की थी और उनका ठीक क्रम लगा दिया था। महाराष्ट्र में एक रियासतकार को छोड़कर कदाचित् और कोई ऐसा विद्वान् नहीं बतलाया जा सकता जिसने मराठी-इतिहास का इतना अधिक अध्ययन किया हो, या कम-से-कम उपलब्ध समस्त मराठी-साहित्य

का ही अध्ययन किया हो। इसीलिए रियासतकार का महत्व और भी बढ़ जाता है और उनके प्रति होनेवाला आदर दूना हो जाता है। उनके अध्यवसाय, सतत परिश्रम और कार्य-कुशलता को देखकर आश्चर्य और आनन्द होता है। दस-बारह वर्ष के गरीब विद्यार्थी की अवस्था में वे पहले जिस प्रकार वैराग्यशीलता से रहा करते थे, ठीक उसी प्रकार की वृत्ति से वे पूने में उन दीवानी हवेलियों में, जो आजकल के काउन्सिल हॉल के पास हैं, अपना भाग्य पलट जाने पर भी, केवल इसलिए रहते थे कि जिसमें उन्हें पेशवाओं के दफ्तर के रेसिडेन्सी कागज़-पत्रों का अँगरेजी काम करने के लिए पूरा-पूरा समय मिले। बहुत दिनों तक उनका बराबर यही क्रम चलता था कि वे उसी दफ्तर में रहते थे, वहीं दिन-भर काम करते थे और पास ही के वाडिया कालिज के विद्यार्थियों के भोजन-गृह में भोजन करते थे। बस इसी एक उदाहरण से उनकी तन्मयता का पता चल जायगा।

पेशवाओं के दफ्तर के कागज-पत्रों के खंड जिस ढंग से और जिस जल्दी में निकले थे, उसे देखते ही उनमें बहुत से दोषों का रह जाना अपरिहार्य था। परन्तु उन दोषों की जितनी जानकारी स्वयं रियासतकार को है, उतनी जानकारी काक-दृष्टिवाले, टीका-टिप्पणी करनेवालों को न होगी। अब उन्होंने पेशवाओं के दफ्तर के ४५ खंडों के शुद्धि-पत्र भिन्न-भिन्न विद्वान् अध्ययन-शीलों से प्राप्त कर लिये हैं। अब यदि इस बात का पता लगाया जाय कि महाराष्ट्र के किसी विद्वान् ने कोई ऐसा शुद्धि-पत्र प्रस्तुत किया है या नहीं, तो मालूम होगा कि जिन लोगों को वे खंड पढ़ने चाहिये थे, वे विद्वान् अभी तक पूरी तरह से उन्हें पढ़ और समझ ही नहीं सके हैं। फिर शुद्धि-पत्र तैयार करना तो बहुत दूर की बात है।

पेशवाओं के दफ्तर का काम पूरा हो जाने पर सतारा के रहनेवाले लोगों ने छत्रपति के हाथों, सतारा में ही उनका सम्मान कराया (ता० ३—११—१९३४)। उन लोगों ने रियासतकार को साढ़े तीन वस्त्र और चाँदी का एक थाल अर्पित करके उनका सम्मान किया। योग्यता और सुन्दरतापूर्वक ऐसा अच्छा ऐतिहासिक काम करने के लिए उन्हें धन्यवाद दिया। रियासतकार को उस समय ऐसे मान-सम्मान से युक्त होने का पहले-पहल ही अवसर मिला था, इसलिए उस समय उनका हृदय भर आया था। उनके मुँह से शब्द तक नहीं निकलते थे। और इसका मुख्य कारण यही था कि उस समय तक उन्हें बराबर विरोध और उपरोध की ही सम्भावना बनी रहती थी। इस पार्श्व-भूमि पर यह गौरव बहुत अधिक खिल उठा। इस समारम्भ के समय सर यदुनाथ सरकार भी वहाँ उपस्थित थे।

महादजी सिन्धिया के सम्बन्ध के कुछ कागज-पत्र स्व० रावबहादुर दत्तात्रेय बलवन्त पारसनीस ने गुप्त रूप से प्रकाशित किये थे। उसके पाँच खंड निकलने को थे। जो कुछ कागज-पत्र प्रकाशित हुए थे, वे भी अध्ययन करनेवालों को सहज में नहीं मिल सकते थे; अतः उन लोगों के लिए उन कागज-पत्रों का होना और न होना प्रायः बराबर ही था। उसकी एक नवीन सम्पादित आवृत्ति (९०० पृष्ठ) तैयार करने का काम ग्वालियर-दरबार ने रियासतकार को सौंपा और यह काम भी उन्होंने अभी हाल ही में (सन् १९३८) पूरा किया है। उनके इस कार्य के कारण पारसनीस, सिन्धिया-सरकार और बम्बई-सरकार की आपस की कार्रवाइयों ने और भी जोर पकड़ा—परन्तु वह एक स्वतन्त्र ही प्रकरण है और यहाँ उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह नहीं समझना चाहिये कि रियासतकार का काम इतने से ही पूरा हो गया। जब सब लोगों को रियासतकार के कर्तृत्व का पूरा-पूरा विश्वास हो गया, तब एलिअनेशन आफिस का अँगरेजी पत्र-व्यवहार सम्पादित करके प्रकाशित करने का काम उन्होंने बिना किसी प्रकार का वेतन आदि लिये ही करना स्वीकृत कर लिया। इस काम में उनके साझीदार सर यदुनाथ सरकार हैं। इस काम की जिम्मेदारी सरकार ने इन दोनों ही आदमियों पर डाली थी। पेशवाओं के दरबार में अँगरेजी वकील रहा करते थे। उन्हीं का पत्र-व्यवहार एकत्र करके और क्रम से लगाकर सम्पादित करने का काम आज-कल वे कर रहे हैं। इस काम का दोहरा स्वरूप है। इसमें उन्हें स्वयं भी काम करना पड़ता है और दूसरे विद्वानों से भी काम कराना पड़ता है। और इसका कारण यह है कि सर यदुनाथ सरकार बहुत दूर के प्रान्त में रहते हैं। अब तक रेसिडेन्सी रेकार्ड्स में से नीचे लिखे पाँच खंड प्रकाशित हो चुके हैं—

(1) Mahad ji Sindia & North India Af.airs—Editor Sir Jadunath Sarkar.
(2) Poona affairs 178 —1797 ,, G. S Sardesai.
(3) The Allies' war with Tipu Sultan ,, N. B. Roy.
(4) Maratha Nizam Relations ,, V G. Dighe.
(5) Nagpur Affairs ,, Y. M. Kale.
(6) Doona Affairs 1797—1801 (now in Press) ,, G. S. Sardesai.

रियासतकार के कार्यों अथवा जीवन-सम्बन्धी बातों का तब तक पूरा-पूरा परिचय नहीं हो सकता, जब तक सर यदुनाथ सरकार के सम्बन्ध में भी कुछ बातें न बतलाई जायँ। बंगाल प्रान्त के इन विद्वान् इतिहासकार और उनके महाराष्ट्रीय व्यवसाय-बन्धु की मित्रता और दोनों का स्नेह-सम्बन्ध प्रायः ३५ वर्षों से चला आ रहा है। खाडिलकर की एक उक्ति का आशय है कि काम एक ही प्रकार का कार्य करनेवाले लोगों को एक दूसरे से मिला देता है; और यह बात रियासतकार और सरकार के सम्बन्ध में बिलकुल ठीक उतरती है। इन लोगों में मत-भेद भी होते रहते हैं और दोनो एक दूसरे पर नाराज़ भी होते रहते हैं। इनमें से एक तो ठण्ढे मिजाज़ के और अपनी नम्रता के कारण सबका मन रखनेवाले हैं; और दूसरे का 'नृपति-यति'वाले सम्वाद में का यह सिद्धान्त है कि—

मय्येप्यास्था न चेत्सा त्वयि मम सुतराम् एप राजन् गतोऽस्मि।

और वे इसी के अनुसार बराबर अपने कार्य में मग्न रहते हैं। तो भी दोनो ही यह बात जानते हैं कि, हम लोगों का कार्य परस्पर पूरक है और हम दोनो यदि मिलकर काम करें, तो कार्य का यह भारी भार अपने सिर पर उठा सकते हैं; और यही समझकर इन लोगों ने अपना वह प्रेम-भाव बराबर कायम रखा है, जो आज से बहुत दिन पहले स्थापित हुआ था। श्यामाकान्त को बंगाल भेज देने के कारण इन दोनो विद्वानों से घर का-सा व्यवहार होने लगा था और वह व्यवहार बराबर दिन पर दिन बढ़ता ही गया। जब-जब इतिहासकार को अपने किसी काम में कोई अड़चन दिखाई देती है, तब-तब वे सदा सर यदुनाथ की सलाह लेते हैं। कार्य करने की विलक्षण योग्यता, अत्यन्त सूक्ष्म व्यासंग, कार्य-तत्परता और चरम सीमा की व्यवस्था तथा दूर-दर्शिता के कारण—फिर चाहे कुछ भी क्यों न हो—सर यदुनाथ सरकार के साथ पत्र-व्यवहार से सम्बन्ध रखना बहुत अभिमान और आनन्द की बात जान पड़ती है। इसका औचित्य

भी प्रशंसनीय है। जब रियासतकार को स्मारक-ग्रन्थ समर्पित किया जाने को था, तब सर यदुनाथ से पूछा गया था कि, उसका कार्य-क्रम किस प्रकार रखा जाय। इस पर सर यदुनाथ ने एक-एक मिनट का कार्य-क्रम बनाकर भेज दिया। और यहाँ तक कि यह भी लिख भेजा कि आरम्भ में वन्दना का मराठी का कौन-सा पद्य पढ़ा जाय और ग्रन्थ-समर्पण के लिए कौन-सा मराठी कवि-वचन उपयुक्त है, आदि-आदि। और जो कुछ उन्होंने लिख भेजा, उसमें कुछ भी सुधार या परिवर्त्तन करने की किसी को आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। यह उस कार्य-क्रम की सुन्दरता का प्रमाण है। कहने का मतलब यही है कि सर यदुनाथ सरकार में औचित्य, विद्वत्ता तथा व्यापक दृष्टि का जो सुन्दर संगम हुआ है, उसके कारण लोगों में सहज ही उनके प्रति आदर-भाव उत्पन्न होता है।

यह देखना कि महाराष्ट्रीय और बंगीय इतिहासकारों का स्नेह-सम्बन्ध किस प्रकार आरम्भ हुआ और वह किस प्रकार बढ़ता गया; दोनों के चरित्रों का एक महत्व का भाग हो सकता है; परंतु इस समय हमें यह नहीं दिखलाना है और यहाँ इसके लिए उतना अवकाश भी नहीं है। यहाँ केवल इतना ही ध्यान में रखना चाहिये कि पेशवाओं के दफ्तर रेसीडेन्सी रेकार्ड्स तथा ग्वालियर के पत्र-संग्रह आदि जो काम रियासतकार ने अपने ऊपर लिये थे, उनमें सर यदुनाथ ने भी बहुत कुछ काम किया था। ये दोनों विद्वान् एकमत होकर जो काम करते थे, उसी का यह परिणाम है कि आज पेशवाओं के दफ्तर के ४५ खण्ड अध्ययनशीलों को उपलब्ध हो रहे हैं। और इसीलिए रेसिडेन्सी रेकार्ड्स को सम्पादित करके प्रकाशित करने का कार्य भारतवर्ष के इतिहासकारों को मिला है। यदि सर यदुनाथ का प्रयत्न न होता, तो या तो वह सारा दफ्तर यों ही बन्द पड़ा रहता और या उसका सम्पादन आदि करने के लिए कोई गोरे चमड़ेवाला नियुक्त किया जाता। हमारे मन में किसी का अपमान करने का तनिक भी विचार नहीं है; परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि पेशवाओं के दफ्तर और रेसिडेन्सी रेकार्ड्स के काम के लिए सरकार और सरदेसाई को छोड़कर और कोई उपयुक्त व्यक्ति मिल ही नहीं सकता था। इन दोनो को इस विषय का जो सांगोपांग ज्ञान है, परिश्रम करने के लिए इनमें जितनी तत्परता है और काम करने का इन लोगों का ठीक ढङ्ग है, उतना और किसी वर्त्तमान विद्वान् में कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता। सरकारी दफ्तर का काम सँभालने की चाहे कोई कला न हो; परन्तु फिर भी उसमें व्यवहार-दक्षता की अवश्य ही आवश्यकता है और वह दक्षता रियासतकार ने पूरी तरह से दिखलाई थी। अस्तु।

सर यदुनाथ और सरदेसाई का स्नेह-सम्बन्ध घराऊ से भी कहीं बढ़कर निकट का हो गया है। और जब कोई इन दोनों में से किसी एक का चरित्र लिखेगा, तब उसे दूसरे के चरित्र की भी बहुत-सी बातें अवश्य ही रखनी पड़ेंगी। यह भी कहा जा सकता है कि यदि दोनो के परम स्नेह का उल्लेख किया जाय, तो पहले दोनों के ही नाम आयेंगे। रियासतकार की मित्र-मण्डली और आपसदारी के लोगों का बहुत अधिक विस्तार है और उन सभी लोगों के साथ उनका बहुत ही प्रेमपूर्ण व्यवहार होता है; परन्तु सर यदुनाथ सरकार के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इन दोनों मित्रों के स्वभाव में बहुत अधिक अन्तर है; परन्तु इस अन्तर के कारण दोनों के पारस्परिक स्नेह-सहकार्य अथवा प्रेम-भाव में कभी कोई कमी नहीं आने पाई है। उलटे यही पता चलता है कि दिन पर दिन इन दोनों का प्रेम-भाव बराबर बढ़ता ही गया है। दोनों ही अपना अपना काम एक दूसरे की सलाह से करते हैं। यहाँ तक कि चाहे घर की कोई बात हो और चाहे विद्या-प्रसंग

की कोई बात हो, एक किसी ने दूसरे से कभी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। हाँ, इन लोगों के इस पूर्ण स्नेह भावों में दो बार ऐसा अवसर आया, जब कि सर यदुनाथ के व्यवहार ने रियासतकार को चकित कर दिया। एक बार तो सतारे में लोगों ने श्री छत्रपति के हाथ से रियासतकार को साढ़े तीन वस्त्र दिलवाकर उनका सम्मान किया था और दूसरी बार इस स्मारक ग्रन्थ का अवसर आया था। इन दोनों ही षड्यन्त्रों का समाचार सर यदुनाथ के एक कान को तो पहले से ही मिल गया था; परन्तु उन्होंने दूसरे कान (अर्थात रियासतकार) को इसकी खबर तक नहीं होने दी थी। यदि इन दोनों प्रसङ्गों को छोड़ दिया जाय तो फिर कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जो किसी ने दूसरे से छिपाई हो। बल्कि यहाँ तक पता चलता है कि कभी किसी को कोई बात दूसरे से छिपाने की इच्छा ही नहीं हुई।

रियासतकार का आज-कल का जीवन प्राचीन काल के ऋषियों के जीवन के समान है। कामशेत नामक स्थान में इन्द्रायणी नाम की एक छोटी-सी नदी है, उसी के किनारे रियासतकार का, प्राचीन आश्रमों की तरह का, छोटा-सा मकान है और वहीं उनके पास ग्रन्थों का थोड़ा-सा संग्रह है। वे पुस्तकें, प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों के सान्निध्य में अपना समय बिताती रही होंगी। ऋष्याश्रमों की तुलना पूरी करने के लिए शिष्यों की वहाँ अवश्य ही कुछ कमी है। और यदि रियासतकार के कार्यों में कोई वैगुण्य या विरोध दिखलाई देता है, तो वह केवल यही कि इतने अधिक और इतने बड़े-बड़े काम कर डालने पर भी उन्होंने अपना कोई ऐसा शिष्य-वर्ग नहीं तैयार किया है जो उनकी परम्परा चला सके। अधिकांश कृतियों की परम्परा उनके पुत्र-पौत्र आदि ही चलाते हैं; परन्तु रियासतकार के भाग्य में यह भी नहीं बदा था। उनके दो होशियार लड़के थे, लेकिन आज उनमें से एक भी जीवित नहीं है। इसलिए बहुत-से लोगों को यह आशंका होती है कि इसके कारण उन्हें ऐसा जान पड़ता होगा कि हमारे कार्यों में अपूर्णता रह गई। बात यह है कि शिष्य-परम्परा रखने की इच्छा बहुत कुछ स्वाभाविक ही हुआ करती है। सर यदुनाथ के अनेक शिष्य हैं; परन्तु रियासतकार के उस प्रकार के शिष्य नहीं हैं; और इसका कारण साफ दिखाई देता है। यदुनाथ का जीवन विद्यालयों और विद्यापीठों से घिरा हुआ था; परन्तु रियासतकार का जीवन न तो कभी ऐसा था ही और न इस समय ही है। जिस समय वे बड़ौदे में थे उस समय उनके पास अध्ययन करने के लिए कोई जा ही नहीं सकता था; और उसके बाद जब वे आज-कल का ऋषियोंवाला जीवन व्यतीत करने लगे, तब भी उनके पास किसी शिष्य का पहुँचना सम्भव नहीं था। लेकिन केवल इतने से ही उनका कार्य कुछ कम सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत वे समझते हैं कि

सारा विश्व ही मेरा घर है

और अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार, उन्होंने सभी विद्यार्थियों के लिए अपना कार्य उपलब्ध कर दिया है। शिष्य-सम्प्रदाय बढ़ाने से क्या लाभ? यदि कार्य महत्व का होगा तो उसे चलाने के लिए अध्ययनशील लोग आप ही आगे आयेंगे; और यदि कार्य महत्व का न होगा तो शिष्यों की परम्परा चलाने का भी कोई उपयोग नहीं होगा। उनका तो यही मत है; और यही मत ठीक भी दिखाई देता है।

केवल एक ग्राण्ट डफ के लिखे हुए इतिहास को छोड़कर मराठों का और कोई पूरा

लिखा हुआ इतिहास नहीं था। ऐसे समय में रितासतकार ने मराठों का इतिहास, रियासतों के रूप में, पाठकों को उपलब्ध करा दिया। उसके गुजराती, हिन्दी और कन्नडी भाषा में अनुवाद भी हो गये हैं। उन्हें छोड़कर और कोई मराठी इतिहासकार अभी तक सामने नहीं आया है। उनके मुट्ठी-भर विरोधी भी यह बात अस्वीकृत नहीं कर सकते कि ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। शिवाजी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में जो विवाद चला है, उसमें उन्होंने नया पक्ष स्वीकृत नहीं किया है; जिसे विशुद्ध या शास्त्र-शुद्ध संशोधन कहते हैं, उससे वे अनभिज्ञ हो सकते हैं; उनके इतिहास में नमक और मिर्च-मसाला न होने के कारण सम्भव है कि वह चटपटा न लगता हो, उनकी लिखने की शैली भी रुक्ष होने के कारण उनका वाचन कष्टदायक हो सकता है, मराठी भावनाओं से बिलकुल अपरिचित सर यदुनाथ सरीखे बंगाली विद्वानाग्रणी से उनकी गहरी दोस्ती हो सकती है; भारत इतिहास-संशोधन मंडल में काम करनेवालों से हो सकता है, कि वे अलग भी रहते आये हों; और हम यह भी मान लेते हैं कि उन्होंने सच्चे और झूठे बहुत-से अपराध भी किये हैं, तो भी उनका समस्त कार्य ही इतना श्रेष्ठ है कि उसकी योग्यता, चाहे जो कुछ किया जाय, कम नहीं हो सकती। आनेवाली पीढ़ियों और अध्ययनशीलों को इतिहासकार का यह ऐतिहासिक ऋण अपने ऊपर मानना ही पड़ेगा।

बम्बई।

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी

[बलराज साहनी]

द्विवेदीजी में एक दोष है। ढीलम-ढालम रहते हैं, हजामत हफ़्ते में एक बार से अधिक नहीं करते ; तिस पर जो व्यक्ति पहली नज़र में उन्हें जँच जाय उसकी ख़ैर, जो न जँचे उसे सामने बिठाकर उसके मुँह की ओर देखते रहते हैं । इसलिए कई महानुभाव शान्ति-निकेतन से यह धारणा बनाकर लौटते हैं कि द्विवेदीजी वैरागी आदमी हैं ।

दूर बैठे हुए लोग द्विवेदीजी के आलोचनात्मक लेखों को पढ़कर यह अनुमान कर लेते हैं कि शास्त्राचार्य पचपन और साठ के दरमियान होंगे । प्रेमचन्द तक को यही भ्रम रहा। वास्तव में यह दोनों बातें ग़लत हैं ।

मैं भी उन्हीं सौभाग्यशालियों में से हूँ जिनकी ओर वह एकटक देखा करते हैं। किन्तु दूर ही दूर से मुझे यह देखने का अवसर मिला है कि वह इतने विरक्त नहीं हैं। जिस मण्डली के साथ शाम को सैर करने निकल पड़ें उसका अट्टहास मील के घेरे में कान चीरता है। उनके शुभचिन्तक शान्ति-निकेतन से आनेवाले बटोहियों से प्रायः यही सवाल-जवाब करके सन्तुष्ट हो जाते हैं —

'पण्डितजी हँस रहे हैं न ?'

'हाँ हँस रहे हैं।'

देखने में छः फुट से कम नहीं। एक ऐसे बनारसी महापण्डित के शिष्य रह चुके हैं जिनका सत्तर वर्ष की अवस्था में भी डेढ़ सौ सपाटा (डन्ड-बैठक) प्रातःकाल का नियम था, जिन्होंने डबल निमोनिया का इलाज भी सपाटों से करने की कोशिश की और मर गये। आयु इकत्तीस वर्ष है। गाड़ी देखने के बेहद शौक़ीन हैं। दूर से आती हुई गाड़ी का शब्द सुनते ही शास्त्रार्थ व चप्पल छोड़कर लाइन की तरफ़ भाग खड़े होते हैं।

द्विवेदीजी जीवन से अथक प्रेम रखते हैं। एक सच्चे पारिहासिक की तरह वह उसकी क्रीड़ा को निर्लिप्त होकर देखते हैं, और अपने समेत सभी वस्तुओं पर हँस सकते हैं। किन्तु साथ ही उनमें जीवन के चरम उद्देश्य, साहित्य व कला की आर्यता के प्रति गहरी श्रद्धा है। ज्ञान और अनुभव के लिए अतोषणीय भूख है। सुई से लेकर सोशलिज़्म तक सभी वस्तुओं

का अनुसन्धान करने के लिए उत्सुक रहते हैं। किसी विषय पर भी अचल धारणाएँ उनकी नहीं। बोलने के बजाय सुनना अधिक पसंद करते हैं । इसीलिए जिस मूर्तिमान समस्या को नहीं समझ पाते उसे सामने बिठाकर ताकते रहते हैं।

आत्म-सम्मान का उनमें एकदम अभाव है, फिर भी अपनी क्षमताओं व त्रुटियों की जाँच स्वयं ही करना पसंद करते हैं। इसलिए प्रशंसात्मक पत्रों को फाड़कर फेंक देते हैं। अख़बारों में तसवीरें छपवाना बुढ़ापे पर स्थगित कर रखा है। रुपए-पैसे की पर्वाह नहीं करते। ऐसा आदमी अगर न हँसे तो कौन हँसे !

उनकी आलोचनाओं के गम्भीर तथा सारगर्भित होने का कारण यह है कि वह साहित्य को खेल की चीज़ नहीं समझते। मुद्दत से, उनके विचार में, उर्दू और कुछ हद तक यूरोपियन रोमान्टिक साहित्य ने, सस्ते में छूट जाने की, अर्थात् श्रृंगार और मुहावरेबाज़ी की प्रथा चालू कर दी है। हिन्दी-साहित्य का पहला कर्तव्य यह है कि अपने रुके हुए विकास को अपनी पुरानी उपपन्न नींवों के बल पर उभारे। संस्कृत के समृद्ध साहित्य के लिए अगाध पक्षपात रखने के कारण उन्हें आधुनिक हिन्दी-साहित्य में काफी त्रुटियाँ नज़र आती हैं। कहानियाँ बहुत कम पढ़ते हैं। गद्य-कविता व अतियथार्थवाद (Sur-realism) के प्रति उनकी अपेक्षा उनकी इस निम्नोद्धृत रचना में सीमित हुई है :

अथ कविता
!!
छप छप्......
[कौन किसकी सुनता है—]
अनन्त का नर्तन ॥
शंख, नीहारिका, पैराबोला, हाइपरबोला !
× × ÷ × × ÷ ÷ × ×
[कौन किसे सुनने देता है]
सुदूर की आवाज़ कानों को खाये जाती है।
[कोई, मानों कुण्डी खटखटा रहा है]
खरल में पिसा करते हैं मोती।
घिसा करते हैं चन्दन
अशेष फूत्कार
विराट् नर्तन !
छप् छप् !
[कौन किसकी सुनता है—]
उफ़् !
सेठों की पगड़ियाँ, सुन्दरियों की साड़ियाँ,
पहलवानों के लँगोट, आगरे की दालमोट
छप् छप् छप्...!
[कौन किसे सुनने देता है !]
हुश !

ज्योतिष व नक्षत्र-विद्या के भी माहिर हैं। आठ साल से महाभारत पर अनुसन्धान कर रहे हैं।

बहुत लोग, इन पंक्तियों का लेखक भी उन्हीं में से है, अभिलाषा रखते हैं कि श्रीहर्ष की तरह द्विवेदीजी को भी कोई हकीम उड़द की दाल और बासी भात खिला दे, ताकि अनुसन्धान-वनुसन्धान को त्यागकर लगते हाथ एक नावेल लिख डालें। अपनी मोहक भाषा को अपना वास्तविक काम करने दें। जहाँ अभी साहित्य के मान बन ही नहीं पाये, वहाँ आलोचक का क्या काम? और जिसके पास लेखक होने की सामग्री विद्यमान है वह आलोचक बने क्यों? नावेल न सही, कोई कटाक्ष-पूर्ण निबन्ध-संग्रह ही सही!

यह नहीं कि उनके प्रज्ञा-पूर्ण परिहास को उनकी कृतियों में अवसर नहीं मिला। अवश्य मिला है। लेकिन यदि उसका प्रवाह एक बार उसकी अपनी गहन अनुभूतियों में से छलककर बहे तो श्रीयुत 'बच्चन' के लिए एक बेहतर मधुशाला तैयार हो।

शांतिनिकेतन।

हफ़ीज़ जालन्धरी

[हरीचन्द अख़्तर]

[हफ़ीज़ साहब का रेखा-चित्र लिखने की फ़रमाइश जब अख़्तर साहब से की गई, तो उन्होंने कहा कि, 'आपका विचार है कि जनाब हफ़ीज़ का रेखाचित्र मुझ से बेहतर कोई नहीं लिख सकता; क्योंकि मुझे २४ वर्षों तक उनके स्वभाव और उनकी विभिन्न परिस्थितियों को परखने का अवसर प्राप्त हुआ है। हो सकता है आपका विचार ठीक हो, पर प्रायः एक चौथाई शताब्दी के कुछ श्रद्धापूर्ण, अथवा मित्रता या भाई-भाई के-से सम्बन्ध ने हफ़ीज़ के अस्तित्व को मेरे लिए कुछ ऐसी निजी चीज़ बना दिया है कि उसके सम्बन्ध में अपनी भावनाओं और अपनी जानकारी को लेख-बद्ध करना अपने ही भावों और अनुभूतियों पर अत्याचार करने के बराबर है। बहरहाल आपका आदेश सिर माथे पर रखकर इस प्रियतम चित्र का एक धुंधला-सा प्रतिबिम्ब उपस्थित करने का प्रयास करता हूँ।' और पाठक देखेंगे कि यह कैसा नायाब प्रतिबिंब है।—सं०]

किसी व्यक्ति का परिचय साधारणतया उसकी शक्लो-सूरत के बयान से पाठकों को दिया जाता है; पर यहाँ शक्ल-सूरत का वर्णन ही अनावश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि यह चीज़ हफ़ीज़ के यहाँ न होने के बराबर है। कुछ तो विधाता की कृपणता के कारण हफ़ीज़ जन्म ही से हल्के-फुल्के थे, चुनांचि जब १९१९ में मैंने पहले पहल उन्हें देखा तो उस समय उनके शरीर की दुनिया सारी अठारह-बीस सेर हड्डियों, दस-एक सेर रक्त-चरबी और दस-पांच सेर गोश्त-पोश्त से अधिक न थी। इस पर निरन्तर मानसिक और शारीरक विपत्तियों ने ग़ज़ब ढाया और रही-सही कसर भावुकता के अतिरेक ने पूरी कर दी। दुनियादारों के अपने विशेष बर्ताव ने रक्त को खौलने के दर्जे से कभी नीचे न उतरने दिया। यहाँ तक कि वह सब का सब जल गया। इस पर तुर्रा यह कि 'नज़ला दुर्बल ही को अधिक सताता है' इस लोकोक्ति के अनुसार बीमारियों ने भी हफ़ीज़ के शरीर को 'अनवरी' ❁ का घर समझ लिया है। चुनांचे

❁ अनवरी ईरान का प्रख्यात कवि था। उसका एक शेर है :

हर बलाए कज़ आसमा आयिद
गरचे बर दी गरां क़ज़ा बाशिद
बरज़मीं ना रसीदा मी पुरसद
खानाए अनवरी कुजा बाशिद

अर्थात् आकाश से आनेवाली हर बला चाहे वह किसी दूसरे के घर ढूंढने के लिए ही आई हो, पर ज़मीन पर पहुँचने से पहले ही पूछती है कि अनवरी का घर किधर है?

संसार का कोई शरीफ़ाना रोग ऐसा नहीं जिसे जनाब हफ़ीज़ से परिचय का सौभाग्य न प्राप्त हो। इन परिस्थितियों में जैसी शक्ल-सूरत हो सकती है, वह तो प्रकट ही है। इतना कहा जा सकता है कि जहाँ तक हफ़ीज़ के हुलिये का सम्बन्ध है, वह बिगड़ा हुआ ही है; पर अगर यह पर्य्याप्त न हो तो यों समझ लीजिये कि गन्दुमी रंग का एक दुबला-पतला-सा व्यक्ति है, चेहरा यद्यपि गोल नहीं, पर विपत्तियों की निरन्तर वर्षा भी उसे मख़रूती बनाने में सफल नहीं हो सकी। उभरे हुए और चौड़े मस्तक की कल्पना तो हफ़ीज़ की कविताओं को पढ़ने ही से हो जाती है। आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक है। न बड़ा न छोटा, दर्म्याना दर्जे का मुख, सीधी पतली सुन्दर नाक, और ठोड़ी न बिलकुल ग़ायब और न आवश्यकता से अधिक लटकती हुई—डाढ़ी मुँड़ाते हैं; पर मूँछें मौजूद हैं। अब से दो तीन वर्ष पहले डाढ़ी पालने का शौक़ चर्राया था; पर चन्द सप्ताह बाद ही अपनी स्वाभाविक बुद्धिमता से काम लेते हुए यह शग़ल छोड़ दिया। चाल से यह मालूम होता है कि एक दृढ़-प्रतिज्ञ व्यक्ति चला जाता है, पर इसके बावजूद कभी-कभी गति में कुछ बेपरवाही-सी, कुछ बेफ़िक्री-सी आ जाती है। देशीय लिबास, अर्थात् शेरवानी और पायजामा आपको पसन्द है, पर अंग्रेजी सूट भी पहन लेते हैं और वह इनके शरीर पर विचित्र मालूम नहीं होता।

जीवन के कटु अनुभवों का हफ़ीज़ के स्वभाव पर यद्यपि इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि पड़ना चाहिये था, पर इसके बावजूद यह कहना ठीक न होगा कि उनके स्वभाव को वर्त्तमान रूप देने में उनका तनिक भी हिस्सा नहीं। एक साधारण-सा उदाहरण लीजिये— हफ़ीज़ मित्रता और मुहब्बत का सदैव भूखा रहा है, पर अब ये शब्द उसके लिए कुछ अर्थ-हीन-से होकर रह गये हैं। क्योंकि जिस किसी को उसने मित्र बनाया, उसी ने मित्रता और मुहब्बत के इच्छुक को 'दोस्ती का भिखारी' समझकर इसकी इस 'स्वार्थ-परता' से लाभ उठाने का प्रयास किया। फिर यदि मामला यहीं तक रहता तो भी अच्छा था, पर जिन लोगों को मित्रता के बड़े दावे थे वे ही कपटी और ढोंगी सिद्ध हुए। हफ़ीज़ को बेवफ़ाई अथवा शत्रुता से उतना रंज नहीं पहुँचता, जितना कपट से। बेवफ़ा और कपटी का वह शत्रु बन जाता है। और उसकी शत्रुता भी उतनी ही तीव्र होती है, जितनी कि उसकी मित्रता; पर कपटी का शत्र बनने को भी वह अपना अपमान समझता है, इसलिए किसी मित्र का रयाकारी और कपट उसके हृदय पर गहरा घाव छोड़ जाता है जो बहुत देर के बाद भरता है और भर जाने पर भी एक बड़ा दाग़ अपने स्मृति-चिन्ह के रूप में छोड़ जाता है। हफ़ीज़ की सादालौही और 'ज़रूरत मन्दी' का बहुत लोगों ने लाभ उठाया है, पर उसके ओंठों पर केवल उन ही 'मित्रों' की शिकायत आती है जो बाद में शत्रु न बन सके; बल्कि महज़ कपटी, मात्र लम्पट होकर रह गये। हफ़ीज़ शत्रु को माफ़ कर सकता है, बल्कि उसके गुणों को खुले दिल से स्वीकार भी कर लेता है, पर कपटी को माफ़ कर देना उसके बस की बात नहीं। बहरहाल इस तरह की घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि अब वह मित्र और मित्रता की खोज से उदासीन हो गया है, और यही कारण है कि प्रायः लोग अब हफ़ीज़ को कम मिलने-जुलनेवाला और अहंकारी समझ लेते हैं, हालाँकि वास्तव में वह मानी नहीं बल्कि निराश है।

हफ़ीज़ सच्चे मित्र के लिए सब प्रकार का त्याग कर सकता है और यदि उसका मित्र उसके इस आदर्श पर पूरा न उतरे तो उसे मानसिक पीड़ा होती है। इसलिए नहीं कि उसकी

क़ुर्बानियाँ और उसका त्याग व्यर्थ गया, बल्कि इसलिए कि इससे हफ़ीज़ की 'आदमी को पहचानने की शक्ति' घायल होकर रह जाती है। यही कारण है कि हफ़ीज़ की दोस्ती और मुहब्बत एक ऐसी बत्ती थी जो दोनों तरफ़ से जलती रही, एक ओर की ज्वाला उसका अपने मित्रों के लिए किया गया त्याग था और दूसरी ओर की ज्वाला उनकी बेवफ़ाई पर उसका आन्तरिक दुःख ; इसलिए अगर यह बत्ती शीघ्र ही ख़त्म हो गई तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

इन बातों से कहीं यह न समझ लिया जाय कि हफ़ीज़ मनुष्य मात्र ही से नफ़रत करने लगा है। हफ़ीज़ की मित्रता अपनी समस्त विनम्रता के साथ अब भी हाज़िर है, पर अब ग़लत समझने का या पहचान के फ़न में कच्चा होने का अभियोग वह लेने को तैयार नहीं ; इसलिए अब वह पात्र और अपात्र में भेद करने लगा है। वह सचमुच ऐसे लोगों की मित्रता नहीं चाहता जो नाम के मनुष्य हैं। विपरीत इसके जहाँ कहीं मनुष्यत्व की ज़रा-सी भी झलक नज़र आ जाय, वह हफ़ीज़ की आँखों में अब भी चकाचौंध पैदा कर देती है और वह इस ज़रा-सी झलक पर पहला-सा सादालौह हफ़ीज़ बनकर धोखा खा जाने, बल्कि यों कहिये कि अपने आपको फ़रेब देने के लिए तैयार हो जाता है। ओह, यदि यह झलक मात्र झलक न हो, बल्कि उस व्यक्ति का स्थायी गुण हो तो हफ़ीज़ उसका बेदाम का गुलाम बन जाता है।—ऐसे भावुक व्यक्ति के हृदय में प्रेम और मित्रता के लिए कितना स्थान मौजूद होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है, और साथ ही यह भी जाना जा सकता है कि जहाँ कहीं मित्रता का यह नाता कच्चा साबित हो उसके हृदय पर क्या गुज़रती होगी। मेरा तो यह विचार है कि ये सब रोग जिन्होंने आज उर्दू के इस प्रख्यात कवि को अध-मरा बना रखा है, यदि एकदम लुप्त हो जायँ तो हफ़ीज़ को अपने पुराने मित्रों तथा सहकारियों की इस बेवफ़ाई का जो इतना दुःख है कि, ख़ुदा न करे, वह अपने स्वास्थ्य और सेहत-मन्दी का शिकार हो जायँ।

इन समस्त आघातों तथा विपत्तियों के बावजूद हफ़ीज़ एक ज़िन्दादिल, हँसमुख और सभा को अपने स्वभाव से प्रभावित कर देनेवाला व्यक्ति है। और होना भी ऐसा ही चाहिये था, क्योंकि यह न होता तो मैं समझता कि हफ़ीज़ मनुष्यत्व के उन सब गुणों से वंचित हो गया, जिनका अभाव वह दूसरे दुनियादार लोगों में इस शिद्दत से महसूस करता है।

यहाँ हफ़ीज़ की सबसे बड़ी ख़ूबी अर्थात् उसकी शायरी के सम्बन्ध में कुछ कहने की न तो गुँजाइश है और न ज़रूरत। गुँजाइश इसलिए नहीं कि यह उसका रेखा-चित्र है और आवश्यकता इसलिए नहीं कि हफ़ीज़ की शायरी अब परिचय की मुहताज नहीं रही। यह प्रतिभा उसमें जन्म-जात है और इसी के बल पर साधारण स्थिति से उठकर वह मलकुल शुअ़रा, हस्सानल मलिक, अब्बुल असर हफ़ीज़ कहाया है। पर जन-साधारण में वह हफ़ीज़ 'जालन्धरी' के नाम से प्रसिद्ध है और मित्रों को उसका यही नाम पसन्द है। और अब तो अपने नगर, अपने प्रान्त, अपने देश को छोड़कर उसके तराने समुद्र पार इंग्लिस्तान की फ़िज़ाओं में भी गूँजे हैं। उसकी इस लोक-प्रियता का कारण इसके सिवा क्या हो सकता है कि या तो वह सत्य ही उर्दू कविता के आधुनिक युग का सबसे बड़ा शायर है, या फिर दुनिया पागल हो गई है—और मेरे ख़याल में पहली बात ही ज़्यादा ठीक है।

लाहौर।

———

बी० एस० रामय्या

[एन० चिदंबर सुब्रह्मण्यन्]
[मूल तमिल से अनुवादक, का० श्री० श्रीनिवासाचार्य]

[श्री एन्० चिदंबर सुब्रह्मण्यन् तमिल के एक सफल कहानी-लेखक और समालोचक हैं। श्री रामय्या की घनिष्ठ संगति में रहने का सौभाग्य आपको मिला है। इस चित्र को खींचने में आपने उसका पूरा-पूरा उपयोग किया है।—सं०]

रविवार का दिन था। दस्तूर कुछ दोस्त आये थे। पान के कूड़े और तंबाकू के टुकड़े इधर-उधर बिखरे पड़े थे। कुछ पत्रिकाएँ खुली पड़ी थीं। पुस्तकें तितर-बितर थीं। खिड़की के बाहर बस, पान की पीक थी। वे 'ग्रामोफ़ोन-प्लेटों' को सुनते और बीच-बीच में बातचीत करते थे। कुछ देर ठहरकर वे सब चले गये।

उन सबके चले जाने पर मेरी चाची ने मुझसे पूछा—वे जो काले, सूखे गालवाले थे, कौन हैं वे ?

'क्यों ? उनका नाम बी० एस० रामय्या है।'—मैंने जवाब दिया।

'ग्रामोफ़ोन तो गा ही रहा था ; वे क्यों उस तरह नाच रहे थे ?'

'वह उनका स्वभाव है।'

चाहे संगीत हो, नाटक या उत्तम काव्य, बी० एस० रामय्या उसे धीरे-से शान्त होकर नहीं सुन सकते। के० सी० डे, और किट्टप्पा को सुनते वक्त, बिना नाचे उनसे नहीं रहा जा सकता। तड़फड़ाहट और फड़फड़ाहट उनके खून में सनी हुई चीज़ें हैं। पहली बार उनसे मुलाक़ात होते ही यह एतबार हुए बिना न रहेगा कि 'वे एक फुरतीले आदमी हैं।'

रामय्या का हृदय भावों का एक समुद्र है। वहाँ आँधियों और तूफ़ानों का उठना तो बहुत ही मामूली बात है। उत्साह, कुतूहल, क्रोध, घृणा या चाहे जो कुछ हो, वह एक ज़ोर के साथ ही उनके पास से निकलता है। उनकी साधारण बातचीत में भी उस उद्वेग की झलक मिलेगी। मंडन और खंडन सीमा का उल्लंघन कर जायँ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ; क्योंकि अपनी बात पर ज़ोर दिये बिना वे न तो कुछ कहते हैं और न करते हैं। तराज़ू से तौलकर अपनी राय बतानेवाले वे नहीं हैं। भावावेश में उनके अभिप्राय बाहर निकल आते हैं। उनके सारे प्राण उनके भाव-स्रोत में ही निहित हैं।

रामय्या ज़्यादा पढ़े हुए नहीं हैं यानी कालेजों में भेजकर किसी ने पुस्तकों को उनकी खोपड़ी में ठूँसा नहीं है। मुझे आश्चर्य होता था कि ये कैसे उच्च विषयों का रस ले लेते हैं। वे कहा करते—'आपके इस 'क्रिटिसिज़्म' की मुझे जरूरत नहीं है। मैं कोई कहानी या कविता पढ़ता हूँ। क्या मैं उससे पुलकित हो उठता हूँ ? क्या उससे मेरा दिल पसीजता है ? उसमें ये बातें हैं तो वह कलात्मक कृति है ही।' अपने हृदय के मानदंड से ही वे कलाओं को नापते हैं। वह उचित ही मानदण्ड है न ?

यद्यपि उन्होंने कालेज के घेरे में बैठकर पुस्तकों के साथ सिर नहीं फोड़ा है फिर भी जीवन ने उन्हें कई सबक़ सिखाये हैं। छोटे दर्जे के काम से लेकर पत्र-संपादक के पद तक उन्होंने कई क़िस्म के काम किये हैं। इसलिए जीवन के कई कोनों-कोतरों को घूम-घामकर देखने के अनेक अवसर उनके हाथ आये थे। कतिपय भिन्न-भिन्न अनुभवों ने उनके मन की उन्नति में भाग लिया है। क्या किताबें, अनुभवों की तरह, मन को परिपक्व बना सकती हैं ?

रामय्या में संकोच का गुण नाम को भी नहीं है। संकोच से वे बहुत परे हैं। उनमें उद्दंड धैर्य है। कार्यों की परिणति पर विचार न करके, साहसी प्रवृत्ति के साथ, काम कर डालने की उनकी आदत है। इन्हीं बातों की वजह से मन-मुटाव और मनोविकार अक्सर हो जाया करते हैं। कुछ लोग सोचते हैं—'यह महज़ दिखावा है। दरअसल वे वैसे नहीं हैं।' बनावटीपन कुछ हद तक उनमें है जरूर ! सच्चाई के साथ वे जो काम करते हैं, वे सब के सब सुन्दर और गंभीर होते हैं। जब उनमें कृत्रिमता आ जाती है तब काम फीके हो जाते हैं।

थोड़े समय के पहले कुछ लेखकों से उन्होंने विरोध कर लिया था। मैंने कहा—'रामय्या, अगर आप इसी तरह करते जायँगे तो आपकी पत्रिका के लिए लिखनेवाला कोई नहीं रहेगा।' वे हँस पड़े। 'जाने भी दीजिये ! क्या पत्रकारी का ही पेशा शाश्वत है ? मैं बनियाइन बेचकर जिंदगी बसर कर लूँगा।'—उन्होंने कहा। उन्होंने हँसी-खेल में ही यह बात कही थी। लेकिन यहाँ हम उनके मन की दृढ़ता को अच्छी तरह से परख सकते हैं।

रामय्या का घमंड, उनके शरीर के अणु-अणु में समाया हुआ है। उनका अहंभाव बहुतों को नहीं भाता। कुछ लोगों को उनका अपने बारे में कहना और लिखना भद्दा भी लगता है। एक बार उन्होंने लिखा था—'अच्छी कहानियाँ पढ़नी हैं ? तो मेरी कहानियाँ पढ़िये।' वे साहित्य-गोष्ठियों और सभा-समाजों में 'पहला अध्याय' शुरू किये बिना नहीं रहते। बाज़ वक़्त वे ज़्यादती भी कर बैठते हैं, यह बात तो सच है। लेकिन हर एक लेखक अपने बारे में वही सोच रहा है, जो रामय्या सोचते हैं। जिस तरह से रामय्या अपने बारे में ढोल बजाते हैं, उसी तरह से दृढ़ता के साथ अपने बारे में कहने की दिलेरी और हिम्मत दूसरों में नहीं है। इसीलिए वे लोग चुप हैं। यही दोनो में फर्क है।

साहित्यिक चर्चाओं और वाद-विवादों में, वे अग्रिम-स्थान पाने को कसमसाते हुए आते हैं। गालियों और फटकारों की बाढ़-सी बहती है। आँधी की तरह आकर, वे कूड़ा-करकट को उछालकर फेंक देते हैं। जब एक-दो लेखकों ने उनसे कहा था कि 'यह ठीक नहीं है। हद से बाहर नहीं जाना चाहिये,' तब वे आगे बढ़ते ही जा रहे थे—'आप लोग बड़े भोले-भाले हैं। आप लोग अघोरी की धमकी और उसके खून-खच्चर को देखने के डर से उसे पैसा देकर बिदा करनेवाले हैं। मैं वैसा डरपोंक नहीं हूँ।' उन मौकों में वैसे विवाद आवश्यक भी प्रतीत होते थे।

उस आवश्यकता की उन्होंने पूर्ति की। और लोगों में उसे करने का साहस नहीं था।

रामय्या धड़ाधड़, बेरोकटोक, भाषण देते जाते हैं। फिर भी उनके भाषण में एक प्राण-शक्ति है। उनकी बातों में तीखापन है। उनमें प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली तिखाई और फड़-फड़ाहट उनकी कहानियों में भी खूब देखी जा सकती है। पश्चिम के पत्रकार जो खेल-तमाशे किया करते हैं, वे सब ये भी करते हैं। उनमें से कुछ तो सरस होते हैं और कुछ नीरस।

कई भिन्न-भिन्न कोटि के मित्रों से वे साधारण रूप से मेल-जोल रखते हैं। बिना किसी भेद-भाव के वे उनसे हिलते-मिलते हैं। किसी मौलिक विचारवान् से वार्तालाप करने के बाद के ही क्षण में, वे किसी मूर्ख से भी मामूली तौर पर, बग़ैर कुछ फ़र्क किये, बोलने लग जाते हैं। ट्राम-गाड़ी में जाते वक्त कण्डक्टर से बातें करते; भिखारी के साथ हँसी-मज़ाक करते; पड़ोसी बच्चे के साथ घंटों खेलते नहीं थकते। जीवन के लीला-विनोदों में सम्मिलित होकर खेलने के लिए वे बहुत उत्सुक रहते हैं। सृष्टि के कौतुकों का अनुभव करने में वे दिलचस्पी लेते हैं। हास्य-रुचि उनमें अधिक है।

बी. एस. रामय्या तमिल की कहानी-कला के उन्नायकों में हैं। उनकी पहली कहानी 'फूल और सुगन्ध' ने यह सूचित कर दिया था कि वे भविष्य में कैसी लासानी कहानियाँ लिखेंगे। बाद में उनकी लिखी हुई कहानियों से पाठकों की धारणा परिपुष्ट हुई। 'नक्षत्र-शिशु'-जैसी कहानियाँ साहित्याकाश में जगमगानेवाले नक्षत्र हैं। कालरात्रि में झड़कर लुप्त होनेवाली वे नहीं हैं। जीवन में यद्यपि वे जोशीले हैं, फिर भी उनकी कहानियों में विषाद और निराशावाद की एक गंभीर ध्वनि मिली हुई है।

रामय्या में कुछ कमजोरियाँ भी हैं। नीत्शे (Nietzche) ने सृष्टिकर्ता को भी 'दोषी परमेश्वर' के नाम से पुकारा था। अगर केवल ऊँचे गुणों के कारण ही हम किसी को चाहेंगे तो हमारे चाहने लायक एक भी व्यक्ति हमें नहीं मिलेगा। बी. एस. रामय्या की छोटी-मोटी कमजोरियों को छोड़कर उनमें ऊँचे गुण भी बहुत हैं।

अविच्छिन्न भाव-धारा से उछलता हुआ हृदय, असीम उत्साह, निश्शंक धैर्य, किसी भी काम के लिए अग्रसर होने का साहस, कर्तव्य को करने की उत्कण्ठा और सहज सौजन्य—ऐसे अनेक गुण उनमें हैं, जो हमें बरबस उनकी ओर खींच लेते हैं। उन्होंने अपने बाद, अपने पत्रिका-संचालन के वक्त, आये हुए तरुण लेखकों को प्रोत्साहन दिया है और उन्हें धीरज बँधाया है। उन्होंने 'मणिक्कोडि' को विशेषकर गल्प-कला की पत्रिका बनाकर, कुछ वर्षों तक उच्च श्रेणी की कहानियाँ उसमें प्रकाशित कीं। कहानियों के संपादन में उनकी अपनी एक ख़ासियत है। नये लेखकों की मामूली कहानियों को सुधारकर उन्हें ऊँची कहानियाँ बनाने में वे सिद्धहस्त हैं। पत्रकारी के साथ-साथ वे देश-सेवा में भी समय-समय पर भाग लेते आये हैं। 'मणिक्कोडि' को यों बनाने में उन्होंने कुछ कम परिश्रम नहीं किया है।

वे कहानियाँ कैसे लिखते हैं, यही एक आश्चर्य है। 'मैटर, सर !'—लड़का आकर कहता है। 'क्यों रे, कितनी गेली के लिए चाहिये ?'—रामय्या पूछते हैं। जितनी की जरूरत होती है, वह बता देता है। रामय्या पेज पर पेज लिखते जाते हैं और लिखे हुए कागज छापेखाने में भेजते रहते हैं। पहले प्रूफ़ में उसका संशोधन कर, उसे ठीकठाक करने की कोशिश करते हैं। इसी प्रकार उनकी कई बहुत ऊँची कहानियाँ पैदा हुई हैं।

रामय्या से मिलनेवाले सोचेंगे कि वे एक रोचक व्यक्ति हैं। यह बात है भी वास्तविक। वे रोचक व्यक्ति ही नहीं, चाहने लायक भी हैं।

मद्रास।

श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द

[उषादेवी मित्रा]

जब कि चिर नवीन और नित परिवर्तनशील प्रकृति में बसा हुआ मानव जीवन के अन्त तक स्वयं अपने को पहचानने में कभी भूल कर बैठता है और अपने आपका रेखा-चित्र खींचने में कभी भारी गलती कर बैठता है, तो उसके लिए दूसरे का रेखा-चित्र लिखने की प्रवृत्ति शायद एक मात्र परिहास ही हो।

परन्तु दुनिया में बसा हुआ मानव दुनिया के परिचय को भी अस्वीकार तभी कर सकता है। और विस्मय तो यह है कि कभी हमारे जीवन में अचानक जो एक परिचय का अवसर आ जाता है—वह मिथ्या नहीं; किन्तु सत्य बनकर ही रहा आता है। और उस छोटे पल में हम जिस वस्तु का परिचय पा जाते हैं उसे एक स्वार्थी, एक कृपण की भाँति अपने आप में सीमित करके रखना भी कभी दुर्भर हो जाता है।

जीवन में ऐसी घड़ियाँ मानव-मात्र की आती हैं, इसमें विस्मय तिल-मात्र भी नहीं है और न अविश्वास ही का स्थान है।

तो जीवन के उन पलों में बनारस में पाया मैंने श्री शिवरानी देवी-प्रेमचन्द का छोटा, किन्तु गम्भीर परिचय। यों तो उनके कहानियों के संग्रह 'नारी-हृदय' और 'कौमुदी' की प्रत्येक कहानी में उनका परिचय मूर्त है—दीन-दरिद्र, कृषक आदि के प्रति सरल सहृदयता, न्याय-शीलता आदि।

शिवरानी दुबली-पतली मँझोले कद की एक विचार-शील स्त्री हैं। शरीर-मन से दृढ़ हैं। आकृति में एक आकर्षण है, जो कि प्रथम परिचय की बेला में परिचित को अपनी ओर खींच लेता है।

इनका स्वभाव क्रोधी के साथ ही साथ स्नेही है। स्वभाव उदार और मिलन-सार है। अल्प में सन्तुष्ट हैं, अधिक की आशा नहीं है।

प्रत्येक स्थिति को हँसकर सहने की ताकत है।

दुःख में पिसना नहीं जानतीं।

इनमें एक असीम साहस है, जो कि दुनिया के हर जटिल पहलू को जय करने के लिए तत्पर रहता है। एक अदम्य स्पर्द्धा है— अपने नारीत्व पर।

इनमें नारी-मात्र के लिए सहृदयता है। और नारी के उचित अधिकारों को पढ़ाने के लिए मन में एक उलझन रहती है।

सेविका की प्रवृत्ति आपमें प्रधान है। 'कौमुदी' की कहानी 'जीवन' में इस प्रवृत्ति का स्पष्टी-करण है। अपनी सत्ता को भूलकर जन-सेवा की रुचि उनमें पुष्ट है। कपटाचार के लिए उस हृदय में घृणा है।

इनकी कहानियाँ सीधी-सादी; किन्तु विचारशील होती हैं; अन्याय के प्रति द्वन्द्व-युद्ध रहता है, असीम साहस का परिचय रहता है; समाज के अत्याचारों के प्रति निन्दा का कठोर वज्र।

इनमें अपने को प्रचार करने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं के बराबर है। अपने गौरव का ख्याल नहीं है। दरिद्र के प्रति उनमें एक श्रद्धा-भाव है, प्रेम है। दरिद्र के जीवन में वह मिल जाना चाहती हैं। दरिद्रों में वह मनुष्यत्व का पूर्ण विकास पाती हैं।

क्षमाशीलता उनके हृदय की एक विभूति है। अहं-भाव उन्हें छू नहीं पाता। चित्त में एक दृढ़ता है।

भोजन सीधा-सादा है। खादी और खड़ाऊँ के लिए मन में श्रद्धा है। ग्राम्य-जीवन उनको अधिक रुचिकर है। विलासिता के लिए मन में घृणा है।

शिवरानी देवी नहीं; किन्तु मानवी हैं और उस मानवी के ऊपर भी कुछ हैं—जिसे कि माता कहा जा सकता है। वह मातृत्व मानव-मात्र के लिए है।

यद्यपि उनके मुँह की हँसी सदा सजीव रहती है; किन्तु उसमें व्यथित श्वास समाती-सी रहती है। शायद वह व्यथा की श्वास पति के लिए हो।

काम करने की शक्ति शिवरानी में रन्ध्र-हीन है। किसी भी दशा में वह थकती नहीं हैं। देश के लिए चित्त में श्रद्धा है, पराधीनता पर मन में आँसू का समुन्दर है। देश-सेवा की रुचि उनमें प्रधान है।

एक ही बात में—शिवरानी हैं—प्रेमचन्द की प्रतिमूर्ति। प्रेमचन्दजी की विचार-धारा उनमें मूर्त है।

वह घर की होकर नहीं हैं; बाहर की भी हैं।

जबलपुर।



टी० पी० कैलासम्

[एस० कृष्णशर्म्मा]

[मूल कन्नड से अनुवादक, गुरुनाथ जोशी]

बेंगलोर मनेवार्तेपेट के कोने में एक दुमंजिला घर है। उसके ऊपर के छज्जे पर जो कार्रवाई होती है वह राह में आने-जानेवालों को दिखाई पड़ती है और सुनाई भी।

कुछ साल पहले की बात है। गरमी के दिन थे। एक दिन शाम के ७ बजे ऊपर के बरामदे में बिजली के प्रकाश में दस-बीस लोग खड़े होकर सिगरेट पी रहे थे। सभी मैसूर की जरतारी पगड़ीवाले ही थे। याने Century club के लोग थे ; याने सौ रुपयों से अधिक वेतनवाले थे।

इन लोगों के बीच में एक व्यक्ति बोल रहा था, जिसकी देह जरा दाहिनी ओर झुकी थी और पीठ थोड़ी आगे को। बात से आवाज़ अधिक ऊँची थी। मुँह...बड़ा विचित्र है ! उसके विकार तो और भी विचित्र दिखाई पड़ते थे। जो वहाँ एकत्रित हुए थे सभी जोर से हँस रहे थे। डार्विन के तत्वों का नाटक—साभिनय तर्क—गोविन्द का गोत्र गोरिल्ला का होगा, गहरे सिद्धांत का होगा, सोचकर ऊपर गया।

बीच में जो व्यक्ति खड़ा था, वही टी० पी० कैलासम् था। जो वहाँ होता था, वह अभिनय नहीं था ; ख़ाली बातें हो रही थीं।

सिगरेट का धुँआ फिर उड़ा। तुरंत 'Karmarthi' नाटक अपने आप शुरू हो गया। आप इसका अधिक अर्थ न करें। इस 'भूपति' को नटों की जरूरत नहीं। सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं वे। अप-टु-डेट अम्मा भी वही हैं, नो-चेंजर नागू भी वही हैं। कवि, कंडक्टर सब कुछ वही हैं—खिचड़ी कहिये। कल रात को लिखा हुआ नाटक का एक दृश्य—नहीं-नहीं मन में कल्पना किया हुआ नाटक का था। लिखना तो 'भूपति' को मालूम ही नहीं। जब विद्यार्थी था तभी गुरुजी को बता दिया था। चिट्ठी-पत्री लिखना भी नहीं है। 'कर्मार्थि' नाटक में द्रोणाजी द्वारा भीष्म को कैसे संबोधित करना चाहिये ? उनसे तो ये वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध हैं। नमस्कार कहना चाहिये ? ये तो ब्राह्मण हैं और वे क्षत्रिय हैं। आशीर्वाद देना चाहिये ? वह शक्ति नहीं है इनमें। सब उलझन है, तकलीफ़ है। तीन मध्याह्न बीत गये और तीस सिगरेट-पैक खाली हो गये ; लेकिन आख़िर

रात को जब छः आने का उपन्यास पढ़ते समय आ गया वह विचार। Salutations Gangeya!
—इस प्रकार बात के औचित्य का ज्ञान कितना है इस महाशय को नाटक लिखते समय!

'भूपति' कहा न कैलासम् को? बस इतना ही काफ़ी है, क्योंकि वह हमारा है। उसकी बात पर कोई न हँसे तो समझिये कि उसमें आ गया और बातों की झड़ी लग गई। उन बातों का न अंत न शुरू। जो हँसता नहीं, वह हँसेगा; जो हँसता है, वह रोये बिना न रहेगा। इसका मतलब यह है कि हँसी में अधिक रुलाई है। Ibsen की बात तो मधुर है, Galsworthy की बात स्नेही की बात है, Shaw की बात जला देनेवाली है, कैलासम् की बात परशु की मार है,—यह उसी की राय है।

× × ×

१९१९ में बेंगलोर अमेचर क्लबवालों ने प्रहसनों की होड़-प्रतियोगिता रखी। 'टोलुगट्टी' के 'गुंडूराय' को पहला परितोषिक मिला। तब से कैलासम्‌जी की कीर्ति बढ़ी। सभी उसी नाटक की बातों को घर-घर में किसी विशेष प्रसंगों में दुहराने लगे।

सुननेवाले हों तो सुनाने के लिए सदा सिद्ध रहते हैं; खेलनेवाले हों तो इनके नाटक सदा हाज़िर होते हैं। उनका अन्त ही नहीं। कन्नड और अंग्रेज़ी सभी में इनके नाटक हैं, करीब ४०-४५। Shakespeare, Shaw भी Seven and twenty पर हार गये; किन्तु क्या कहें, सभी अप्रकाशित ग्रन्थों की राशि में पड़े हैं। छः-सात प्रकाशित हुए हैं। इनको प्रकाशित करने का धैर्य उन्हीं को होगा जो कि अनुभवरहित हैं; क्योंकि सभी नाटकों में द्वित्ताक्षर ही अधिक हैं। पढ़नेवाले भी आसानी से नहीं पढ़ पाते। (जैसे पढ़्पाते; कर्नहीं सक्ते)।

बल्लारीवाले तेलगू नाटक खेलते समय 'आंध्र नाटक-पितामह' का स्तोत्र कर, नांदी पद गाकर ग्रन्थकार की तसवीर को माला पहनाते हैं। यह क्लब की नियमावली में है। इसे देख कैलासम्‌जी को बड़ा क्रोध आया। उसने अपनी तसवीर को स्वयं माला पहनाई। अपने आपको 'नमो' कहकर 'कर्नाटक-प्रहसन-पितामह' बना। यह सभी अहंकार की बात नहीं। अहंवालों का प्रतिबिम्ब है। अहंभाव इसे रुचता नहीं। जो अहंभाव की मुर्गियाँ हैं उनके लिए यह बिल्ली की तरह है। यही है कैलासम्‌जी की हँसी की परशु-मार।

आपको क्या चाहिये? Photography से लेकर Philosophy तक के विषय में, अंग-साधना से लेकर रंगभूमि तक के विषय में कैलासम्‌जी का हाथ है। विनोद है; किन्तु विकटता नहीं। समालोचना है, विरोध नहीं। चिड़चिड़ापन है, उतावलापन नहीं। विलायत में जब थे तब हॉकी खेल के मशहूर गोल-कीपर थे। बेंगलोर में अप्रसिद्ध फिजिकल् कल्चर के प्रोफेसर हैं और नवीन अभिनय-साहित्य के आचार्य हैं।

× × ×

भाषा को कोई बन्धन नहीं चाहिये? भाषा को सूली पर चढ़ा दिया जाय? क्या नाटक यही है? नकल करने से नाटक हो गया! कई पंडितों ने कई बातें कहीं; गालियाँ दीं। इन पर आगबबूला हो गये। चुप रहे ये महाशय। एक बार मंगलोर में 'गुंडूराय' ने अभिनय किया स्वयं लिखित 'हॉरूल' नाटक का। सबने आँसू बहाया। जो पंडित इनसे जलता था उसकी आँखों से भी पानी झरने लगा। उस पण्डित ने घर जाते समय कहा कि भाषा को छोड़ो...भाव तो देखो भाव! कैसे हैं!

नाटक के लिए क्या नीति नहीं चाहिये ? उद्देश्य नहीं चाहिये ? यह क्या गुंडों का नाटक है ? यों कहकर कुछ कलोपासक इनसे झगड़ने लगे। चमेली खुशबूदार बनती है, उसमें क्या उद्देश्य है ? क्या नीति है ? अन्तःकरण को हिलाना मेरा काम है। मेरा नाटक न पीठिका है न प्रस्तावना है। नाटक मेरा है ही नहीं, आपका है। क्या नहीं देखते आप ? आपका ही घर है, आपका ही परिवार है। आपकी भागीरथीदेवी आपकी हैं—देखते नहीं ? यों 'गुंडूराय' ने उन कलोपासकों से उलटा सवाल किया। सब चुप हो गये।

अनेक नाटक इन्होंने लिखे हैं। सभी नाटकों में वे ही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न नाम से भिन्न-भिन्न वेष में आ जाते हैं; वर्सटैल कमेडियन की नकल की तरह, 'श्रीरंग' के लेक्चरों की तरह। कैलासम्‌जी के 'माधु', 'किट्टि', 'भागीरथम्मा', 'नरसिंहय्या', 'सातु', 'पातु'—सभी पात्र भिन्न-भिन्न लोग हैं। सभी एक ही घरवाले हैं, एक ही सम्प्रदाय के लोग हैं; किन्तु सभी भिन्न-भिन्न जीवित लोग हैं। यही कैलासम्‌जी के नाटक का प्राण है—तसवीर—पात्रों का व्यवहार।

केवल नाटक में ही नहीं, कविता-लोक में भी कैलासम्‌जी ने पदार्पण किया है; किन्तु सभी कविताएँ अंग्रेजी में हैं। हम लोगों को उसके नमूने देखने को नहीं मिल सकते। 'Lake', 'Kaikayee', 'Naked truth' आदि ने उनका हृदय हर लिया है जिन्होंने उन्हें सुना है।

× × ×

कुर्ता पहनते हैं जिसकी बाहें नहीं होती हैं। कभी-कभी पूरा कुर्ता पहनते हैं; किन्तु नीले रंग का। आडम्बर का वेष नहीं। भोजन मिला तो खाया, नहीं तो नहीं। दिन को दस पैकट सिगरेट, दस कप कॉफी मिल जाय तो बस पर्याप्त है। सिगरेट के टुकड़े भी मिल जायँ तो, और कॉफ़ी भी तीन दिन पहले तैयार की हुई मिल जाय तो भी परवाह नहीं। रहन-सहन बड़ा सादा है। चामराज-पेट में बड़ा बँगला है किन्तु इनके रहने के लिए कहीं कोने में साईस के घर के बगल में एक कमरा है। उसमें कूड़ा-करकट सालों का पड़ा रहे तो भी चिन्ता नहीं। उसी में रहते हैं।

कैलासम्‌जी की मातृभाषा तामिल है। किन्तु उनके नाटकों के—'सातू', 'पातू' की भाषा तो ठेठ 'कन्नड' है। इनकी पढ़ाई साइन्स और जियालॉजी की हुई है; किन्तु सारा जीवन साहित्य में बीत रहा है। बिजली की तरह चमककर गायब हो जाने पर भी सुनी बात को भूलने की आदत इनके घरवालों में मिलती ही नहीं. याने तीन-तीन साल तक घर को भूलकर रहनेवाले हैं ये; किन्तु सिगरेट के बिना एक सेकेंड भी रह नहीं सकते और संन्यासी बनकर हजार वर्ष भी रह सकने के साहसी हैं।

उनका स्वभाव समझना कठिन है। वह 'जलहुत भुकून्याय'—'पिघलनेवाला लोहा' हैं। विरोधों की समस्या हैं। आग की तरह हैं उनकी बातें, परशु की मार की तरह हैं, यह समझकर जो उनके पास डरते-डरते जाते हैं, वे कहते हुए लौटते हैं—'क्या कहें, स्वभाव क्या है, मक्खन है। मन क्या है, मोम है।' जो उन्हें बड़े अक्लमंद समझकर जाते हैं, वे कभी-कभी यों कहते हुए लौट आते हैं कि 'वे पागल की तरह बकते हैं—अजी अच्छा नकली पार्ट करते हैं।' समझ देखने जाते हैं, वे यह कहते लौट आते हैं—'बड़े देहाती हैं।' इन बातों की ओर ध्यान ही नहीं रहता 'भूपति' का। जो प्रशंसा करते हैं उनको दरवाजा दिखाते हैं, जो गाली देते हैं उनको दरवाजा खोल अंदर बुला लेते हैं। वह एक विचित्र जीव हैं, स्वतंत्र जीव हैं। नियम तो Nil पंथ का है। वही राह उनकी है जिससे जाते हैं।

उत्तर कर्नाटक में (धारवाड़, बेलगाम, कारवार, बीजापुर जिलों में) अधिक प्रवास किया, नाटक का अभिनय किया, जिससे मैसूर की भाषा, मैसूर का हृदय, मैसूर की बुद्धि का अर्थ उत्तर कर्नाटकवालों को हुआ। इससे कर्नाटक के सभी प्रांतों को एकत्र होने का मौका मिला। यह उनके प्रवास का प्रासंगिक फल है, मूलोद्देश नहीं।

'घूमनेवाला यह आदमी स्थिर रहे तो दिमाग की प्रखरता बाहर निकले'—किसी ने यह कह दिया। झट उत्तर मिला—'नागम्मा को मूँछ निकल आये तो हम भी उसे चाचाजी कह लेंगे।'

मैं चुप हो रहा।

बेंगलोर।

टी० एस० चोक्कलिंगम्

[ना० शिवरामन्]

[मूल तमिल से अनुवादक, का० श्री० श्रीनिवासाचार्य]

[आज तमिल-प्रान्त के कोने-कोने में राजनैतिक बातों की छान-बीन की जा रही है। पिछले कुछ वर्षों से तमिल-प्रान्त का राजनैतिक ज्ञान बहुत ही बढ़ गया है। इसका कारण कुछ हद तक कांग्रेस-प्रचारकों का प्रयत्न है; फिर भी पत्र-पत्रिकाएँ ही इस ज्ञान को उत्तरोत्तर बढ़ाती आ रही हैं। तमिल-दैनिक 'दिनमणि,' उनकी अग्र-पंक्ति में स्थान पाता है। उसके संपादक गरम बातें लिखने के लिए मशहूर हैं। उनका यह रेखा-चित्र, उनके कई वर्ष के निकट संगी और 'दिनमणि' के वर्तमान प्रधान सहसंपादक श्री ना० शिवरामन् का खींचा हुआ है। हमने यह काम एक ऐसे व्यक्ति को सौंपा था, जो मित्रता की दृष्टि से और अपने पद की दृष्टि से भी चोक्कलिंगम् के अधीन हैं। फिर भी श्री शिवरामन् ने इस धर्म-संकट का सामना किया है और अपने कर्तव्य को पूरा करने में पूरी दक्षता दिखाई है। —सं०]

मनुष्य की क्रियाएँ और मनोभाव, दोनों का प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है। बाह्य दृष्टि से दोनों एक दूसरे के विरुद्ध जान पड़ते हैं। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य में परस्पर-विरोधी कई गुणों का समावेश पाया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर हरएक व्यक्ति दोहरा आदमी होता है।

महात्मा गाँधी के चित्र खींचनेवाले को चाहिये कि उनके साथ ही एक चर्खे की भी तसवीर बनावे। चमड़ाछील खद्दर को तैयार करनेवाले, इस पुराने ज़माने के चर्खे के पास ही बैठे हुए महात्मा गाँधी, सभ्य युरोपियनों की भाँति हमेशा अपनी दाढ़ी को चिकना रखें, यह देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य होगा।

महात्माजी का ध्यान करते ही जिस तरह चर्खे का चित्र हमारी आँखों के सामने फिर जाता है, उसी तरह से चोक्कलिंगम् को सोचते ही उनकी उद्दंड लेखनी हमारी आँखों के सामने आकर खड़ी हो जाती है। हाथ में कलम और पास में पत्रिका के बिना अगर इनका चित्र खींचा जाय, तो वह ठीक न होगा। वह कलम भी बिल्कुल कच्ची कलम हो, जिससे लिखते वक्त नीचे के पाँच सफ़ों पर हरूफ़ों का निशान दीखें। उनका हरएक हरूफ़ एक-एक आँवले के टक्कर का होता है; याने खूब बड़ा-बड़ा। जब वह प्रेस में जाकर अख़बार की सूरत में निकल आता है, तब उसके पढ़नेवालों को या तो बहुत गुस्सा आता है या बहुत खुशी होती है। और

वह गुस्सा या खुशी एक लंबे अरसे तक बनी रहती है। लिखने में वे किसी का लिहाज़ नहीं रखते। किसी का आदर करना हो तो खुले दिल से उसका पूरा आदर करेंगे ; और खंडन में भी वही बात, चाहे वह कोई भी क्यों न हो। या तो उसे बड़ा भारी देशभक्त होना चाहिये या देश-द्रोही ; या तो खट्टा रहे या मीठा ; लेकिन खटमिट्ठा नहीं।

ऐसी कड़ी कलम को काम में लानेवाले इस शख्स से अगर आप समक्ष में मिलेंगे तो जानेंगे कि इनका-जैसा हँसमुख और उदार व्यक्ति दूसरा न होगा। किसी भी धार्मिक विधि में उनकी आस्था नहीं है ; लेकिन माथे पर कुंकुम की बिन्दी लगाये बिना एक दिन भी नहीं रहते। सामाजिक जीवन में तर्क और आँकड़ों से मेल न खानेवाले किसी भी सिद्धान्त को कोरा वेदान्त कहकर फटकारकर फेंक देते हैं ; लेकिन अगर वही महात्मा गाँधीजी का वचन होता है तो उस पर चूँ नहीं करते।

कोई भी कितना ही नीच क्यों न हो, उसका सामाजिक जीवन अगर ठीक है तो उस पर चोक्कलिङ्गम् कभी क्रोध नहीं करते ; लेकिन सामाजिक जीवन में उसी शख्स से कोई गलती हो गई तो बस, तुरन्त उसे चेतावनी दे देते हैं। उसके बाद भी अगर वह अपनी बात पर डटा रहे तो दूसरे ही दिन वह चोक्कलिङ्गम् के लिए 'बिल्कुल ओछा आदमी' हो जाता है। अपनी कलम से वे उसकी खबर लेते हैं। इतनी झिड़कियाँ सुननेवाला वह व्यक्ति चोक्कलिङ्गम् से मिलने आता है, तो उसका जो आदर-सत्कार होता है, वह ससुराल में जानेवाला नया जमाई भी न पाता होगा। अपनी इस उदारता को जानकर ही मानो, वे किसी से मुठभेड़ होने पर उसे इस तरह से खरी-खरी सुनाते हैं कि उसे फिर इनसे मिलने की हिम्मत ही नहीं होती।

राजनैतिक व्यवहार ही जहाँ के मुख्य सामाजिक प्रश्न हैं, ऐसे इस प्रान्त में, इस संपादक को कइयों का विरोधी बनना पड़ा होगा। लेकिन इन्हें अपना विरोधी माननेवाले, एक दिन अचानक यह देखकर कि इनकी पत्रिका में उनकी तारीफ़ की गई है और उनका आदर किया गया है, एकदम दंग रह जाते हैं। किसी से भी चोक्कलिङ्गम् का विरोध नहीं है। सामाजिक जीवन में उनके विपक्षी हो सकते हैं। विपक्षी सभी दुश्मन नहीं होते ; लेकिन पत्रिका में लिखते वक्त अपने विपक्षी और दुश्मन पर उनका हमला करने का ढंग क़रीब-क़रीब एक ही होता है। अपने निजी जीवन में तो वे उनसे खुले दिल से पेश आते हैं। उनसे पूछने पर कि 'इस सौजन्य का एक अंश लिपि में भी रहने से आपका क्या बिगड़ जाता है ?' वे जवाब देते हैं—'वैसी लल्लो-चप्पो की पालसी क्यों ?'

चोक्कलिङ्गम् के वैयक्तिक जीवन और पत्रिका में उनके लिखने की शैली में जो अन्तर है, उसे दिखाने के लिए ही मैंने ये सब बातें लिखी हैं। वैयक्तिक योग्यता-विषयक झगड़े तो पत्रिका में कभी-कभी होते हैं, अक्सर नहीं।

लेखन एक कला है। इसलिए उसमें हरएक की एक-एक शैली होती है। चोक्कलिङ्गम् के लेखन की भी एक स्वतन्त्र शैली है। फिर भी वे इस बात को नहीं मानते हैं कि लेखन एक कला है और उसकी एक शैली होती है। क़रीब अठारह साल से उन्हीं के संग रहने-वाले मुझको यह कोई आश्चर्य प्रतीत नहीं होता ; क्योंकि वे अपने प्रत्यक्ष कार्यों और प्रत्यक्ष लक्ष्यों पर ही ध्यान देते हैं। तत्त्वों के अनुसंधान में उनकी श्रद्धा नहीं है। उनमें जो काम करने का उत्साह और वेग और कइयों से अधिक है, इसका यह भी एक कारण है। तत्त्वानुसंधान में बुद्धि को

लगा देने से हरएक काम में शंका और हिचक पैदा होती है और कार्य व वचन में शिथिलता आ जाती है। इस आफ़त से उन्होंने अपने को बचा लिया है। लेकिन उनके अनजान में ही उनके कई निश्चित अच्छे आदर्श और अच्छे लक्ष्य हैं और ये ही आदर्श और लक्ष्य, अज्ञात रूप से उन्हें प्रेरित करते रहते हैं।

मन, बुद्धि, मस्तिष्क और प्रवृत्ति का अलग-अलग विश्लेषण करते हुए, आप उन्हें रासायनिक प्रयोगशाला के अंदर लाकर उनसे बोलने लगेंगे, तो वे आपकी बातों को कान लगा-कर सुनेंगे ही नहीं। ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो डमरूवाले के भविष्य-कथन पर ध्यान देकर उसका हिसाब रखेगा? बस, वह मिसाल है। मनोवैज्ञानिक शोधों के विषय में आप उनसे कुछ कहेंगे, तो वे उन सबको व्यर्थ की बकबक कहकर निकाल फेंक देते हैं। उनकी यह बेपरवाही उनकी खुशक़िस्मती है, यह देखकर मुझे ईर्ष्या होती है।

सन् १९२४ से आज तक—उस समय को छोड़कर, जब कि वे असहयोग के लिए जेल गये थे, बाक़ी सब दिनों में वे किसी-न-किसी पत्र के प्रधान संपादक रहे हैं। अब तक कुल तीन पत्रों के वे संपादक रह चुके हैं। उनमें से एक के वे खुद मालिक थे। लेकिन अपने खुद के पत्र में वे जिस भाँति लिखते थे, उसी भाँति और पत्रों में भी लिखा करते थे। जहाँ तक लेखन का संबन्ध है, पत्र के मालिक वही हैं। पत्र का नफ़ा-नुकसान किसी का भी हो, उसके सिद्धान्त और परामर्श उनके अपने हैं। ऐसी बात न हो तो वे वहाँ नहीं रहते।

पत्र-संपादक की हैसियत से चोकलिंगम् को बड़ी सफलता मिली है। आलस उनके पास फटकने नहीं पाया है, यह इसका एक मुख्य कारण है। घटनाओं की उनकी स्मरण-शक्ति अपार है।

'रेव्यू आफ़् रेव्यूज़' नाम की एक अँगरेज़ी पत्रिका निकलती थी; अब वह बंद हो गई है। जब वह चलती थी तब एक मित्र ने उनसे पूछा था—'क्यों चोकलिंगम्, इसकी छपाई देखिये, कितनी अच्छी है?' उन्होंने जवाब दिया—'अच्छी क्यों न होगी, जब थामस बुलारू एण्ड सन्स् में उसकी छपाई होती है?' फिर पूछने पर कि, 'उसमें ऐसी क्या ख़ासियत है?' उन्होंने कहा—'वे ही तो भारत सरकार के लिए स्टाम्प, करेंसी नोट वग़ैरह छापते हैं।' हरएक बात को वे कितनी गहराई से देखते हैं, इसकी यह एक मिसाल है। भारत संसार के और सभी देशों के समान उच्च, वैभवशाली हो और भारत की पत्रिकाएँ, तमिल की पत्रिकाएँ, पाश्चात्य पत्रिकाओं के समान ही सुंदर हों—ये ही उनके प्रधान उद्देश्य हैं। उनके ये उद्देश्य कहाँ तक सफल हुए हैं और पूरी सफलता नहीं मिली है तो उसका क्या कारण है, इस पर अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। दैनिक पत्र के मालिक बनने के लिए जितना पैसा चाहिये उतना चोकलिंगम् के पास न होना, आम तौर पर इस देश की ग़रीबी और पत्रकार-कला के निपुणों में पाये जानेवाले उत्साह और साहस का मालिकों में न होना—ये उसके कारण हो सकते हैं।

चोकलिंगम् की लेखनी यद्यपि दैनिक पत्र के द्वारा चलनेवाले राजनैतिक तर्कवादों में ही अपनी शक्ति को उगलती है, तो भी कल्पना और कहानी-जैसे क्षेत्रों में भी वह अपना करतब दिखा सकती है। संपादक बनने के पहले उन्होंने 'भाई परमानन्द' नाम का एक उपन्यास लिखा था। उनकी ख्याति का एक अंश उस उपन्यास के प्रकाशित होते ही शुरू हो गया था।

पत्रकारी के अलावा नये-नये कल-पुर्जों और वैज्ञानिक यन्त्रों में भी उनकी बड़ी दिल-

चस्पी है। रेडियो और हवाई जहाज़ के बारे में कई बातें वे चित्रों और पुस्तकों के द्वारा जान लिया करते हैं।

इतना पढ़ लेने पर आप सोचते होंगे कि वे अँग्रेज़ी के कम-से-कम बी॰ ए॰ तो ज़रूर होंगे। छठे दर्जे से ज़्यादा उन्होंने किसी अँग्रेज़ी मदरसे में नहीं पढ़ा है; लेकिन वेदान्त और मनोविज्ञान को छोड़कर बाक़ी सभी विषयों की अँग्रेज़ी किताबें उनके लिए तमिल के जैसी ही हैं। सन् १९२२ में, जब उनसे पहले पहल मेरी भेंट हुई थी, उनके मेज़ पर पड़ी चीज़ों में 'लण्डन टाइम्स' साप्ताहिक की एक प्रति भी थी। तेन्काशी-जैसे छोटे-से शहर में उस ज़माने में वे 'लण्डन टाइम्स' के ग्राहक थे। मैं आपको यक़ीन के साथ बता सकता हूँ कि उस वक़्त उन्होंने पत्रकारी के बारे में सपने में भी नहीं सोचा था।

चोक्कलिंगम् के पिता किराने के दुकानदार थे। गाँव के बड़े आदमी थे। दुकान में पुड़िया बाँधने के लिए जो ढेर-के-ढेर ब्रिटिश अख़बार आते थे, वही चोक्कलिंगम् के पाठ्य-ग्रन्थ थे।

अँग्रेज़ी में जिनकी विशेष योग्यता नहीं है, वे इस देश के अँग्रेज़ी पत्रों के उप-संपादक हो सकते हैं; लेकिन तमिल पत्रों के प्रधान संपादक नहीं हो सकते। क्योंकि सारी ख़बरें तार द्वारा अँग्रेज़ी में ही आती हैं। इसलिए चोक्कलिंगम् अँग्रेज़ी का मतलब समझ लेने में किसी भी अँग्रेज़ी-दाँ से कम नहीं हैं। फिर भी वे अँग्रेज़ी बोलने और लिखने में हिचकिचाते हैं। गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में बताया है कि एक गुजराती लेखक ने अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़े बिना ही अँग्रेज़ी के साथ और भी क़रीब दस भाषाओं पर अपना अधिकार जमा लिया था। गाँधीजी की उस बात को पढ़ते वक़्त मुझे चोक्कलिंगम् की याद आई। विषयों को ग्रहण करने की शक्ति, ज्ञान को बटोरने की शक्ति और तत्परता और मन को व्यर्थ न दुखाकर उत्साह को बचा रखने की बुद्धिमत्ता—ये ही चोक्कलिंगम् की सफलता के मुख्य कारण हैं। अग्रलेख लिखने के समय को छोड़कर बाक़ी सभी वक़्त वे सर्वत्र शिष्ट, उदार और नम्र रहते हैं। काम के वक़्त अपने को न सतानेवाले किसी से भी वे क्रोध नहीं करते। काम के वक़्त असंबद्ध बातें बोलनेवालों और विश्राम के वक़्त बेहद बातें बनानेवालों का गुज़र उनके यहाँ नहीं है। उसी वक़्त वे ज़रा अपना चिड़चिड़ा मुँह दिखाते हैं। इसके लिए अब उन्हें ठीक सज़ा मिल गई है। पिछले दो साल से वे एम॰ एल॰ ए॰ हैं। अब यह चिड़चिड़ापन नहीं चल सकता। असंबद्ध गप्पें हाँकनेवाले, छोटी-मोटी बातों के लिए सिफ़ारिश चाहनेवाले, चालबाज़ी करनेवाले—ऐसे कई दर्जे के लोगों के साथ अब उन्हें मेल-जोल करना होगा। चाह और घृणाओं की कटुता और तीव्रता को समतौल बनाने में यह एम॰ एल॰ ए॰ का पद उनका सहायक होगा। इसलिए मैं सोचा करता हूँ कि यह एम॰ एल॰ ए॰ की सज़ा उनकी भलाई के लिए ही है। मैं अब विश्वास करने लगा हूँ कि वे आगे से मनोविज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें भी पढ़ेंगे।

अकसर लेखक लोग कार्य-कुशल, निर्वाह-कुशल और व्यापार-कुशल नहीं हुआ करते। यह एक अजीब बात है कि उन सबका कठिन समवाय चोक्कलिंगम् में पाया जाता है।

बिना सुस्ती के, अविरल उत्साह और वेग के साथ वे काम करते हैं। यह कैसे संभव होता है, इसे यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है। तरुण विद्यार्थियों को बताने पर यह बात बहुत लाभकारी होगी।

पवित्र आचार-विचार, चाल और पहनावे में सादगी। और सौन्दर्य, इनके साथ ही

लंबा और गठीला बदन—ये सब उनके सहायक हैं।

आप उनका मुरझाया हुआ चेहरा देखना चाहें, तो उसकी एक तरकीब आपको बता देता हूँ। आप ऐसे मौक़े पर उनके घर जाइये, जब उनके पास पैसा न हो और उन्हें होटेल या सिनेमा-घर चलने के लिए कहिये। तब वे असमंजस में पड़ेंगे। 'मेरे साथ और कोई सज्जन होटेल में आवें, तो उनका बिल मुझे चुकाना चाहिये; अगर कोई महाशय मेरे घर आवें, तो तुरत उनके लिए कॉफ़ी या कूल-ड्रिंक मँगाने का पैसा मेरे हाथ में रहे'—यही सम्पत्ति और आमदनी के बारे में चोक्कलिंगम् की आकांक्षा है। अतिथि-सत्कार भारतीय सभ्यता का मुख्य अंश है। उसमें चोक्कलिंगम् सोलहो आने भारतीय हैं। जाति-भेद और धार्मिक कट्टरता के वे विरोधी हैं। किसी भी जाति या धर्म से उन्हें विरोध नहीं है।

तमिल पत्रकारी का इतिहास जब लिखा जायगा—चाहे वह कई पीढ़ियों के बाद भले ही लिखा जाय—तब उसमें चोक्कलिंगम् का एक प्रमुख स्थान रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मद्रास।

मौ० चिराग़हसन 'हसरत'

[कृष्णचंद्र]

[मौलाना चिराग़हसन 'हसरत' उर्दू के प्रसिद्ध व्यङ्ग लेखकों में से हैं। वे 'अस्रे जदीद' कलकत्ता, 'अहसान' लाहौर और 'नेशनल कांग्रेस' के सम्पादन-विभाग में काम कर चुके हैं और आजकल अपना प्रसिद्ध व्यङ्ग का साप्ताहिक पत्र 'शेराज़ा' निकालते हैं। इस पत्र में केवल हास्य तथा व्यङ्ग के लेख होते हैं। 'हसरत' एक उत्कृष्ट कवि भी हैं और उर्दू दुनिया में उनका कलाम बेहद श्रद्धा से देखा जाता है। श्री कृष्णचंद्र उनके बहुत ही समीप हैं। आपने उनकी जो तसवीर दी है वह बहुत ही रोचक है।—सं०]

नाम है चिराग़हसन 'हसरत'; पर दोस्त-मित्र प्यार से लैम्पहसन 'हसरत' कहा करते हैं; क्योंकि सभा कितनी भी सूनी और वीरान क्यों न हो अपने उत्फुल्ल-स्वभाव, अपनी दिलचस्प बातों और हास्यरस के अपने न खत्म होनेवाले प्रकाश से वे उसमें उजाला कर देते हैं। जन्म-स्थान आपका काश्मीर है; पर शक्ल-सूरत से भारतवर्ष के मूल निवासियों में गिने जा सकते हैं। इनका पूरा नाम—मौलाना चिराग़हसन 'हसरत' है। सिन्दबाद 'जहाज़ी' आपका छद्म नाम है। इसी नाम से आप लिखा करते हैं और इसी नाम से उर्दू-दुनिया में प्रसिद्ध भी हैं। वैसे भी तो लेखों के विचार से नहीं, वरन् डील-डौल के विचार से आप पूरे जहाज़ी हैं। इस लम्बे-तगड़े शरीर को देखकर कविगण इन्हें पहलवान समझ लेते हैं और पहलवान कवि। और सत्य तो यह है कि दोनों ही अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं।

'हसरत' भारत-भर में घूमे हैं और यदि सिन्दबाद 'जहाज़ी' की सात यात्राओं के विवरण की भाँति ये भी अपनी यात्राओं का वृत्तांत लिखें तो अलिफ़-लैला-सी मनोरंजक एक पुस्तक तैयार हो सकती है; पर 'हसरत' साहब को सिगरेट पीने से कभी इतना अवकाश नहीं मिलता कि वे इस प्रस्ताव के गुण-दोषों का विवेचन कर सकें। 'हसरत' कवि हैं और वे भी गोशा-नशीन। पब्लिशरों, मुस्लिम लीगियों और मौका देखकर अपने कांग्रेसी होने का ढिंढोरा पीटनेवालों से इन्हें अत्यन्त चिढ़ है।

'हसरत' साहब का परिचय, यद्यपि बड़े-बड़े व्यक्तियों से है; पर उनके विचारों की स्वच्छन्दता का यह हाल है कि इन बड़े-बड़े लोगों पर भी व्यंग कसने से नहीं चूकते और अपने व्यक्ति-गत सम्बन्ध को अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य के मार्ग में रोड़ा नहीं बनने देते। इसी साहस ने

उन्हें दुनिया की धोखेबाजियों से बचा रखा है। वह स्वयं अत्यन्त स्पष्ट-वादी हैं, इसलिए दूसरों की चालाकियों पर व्यंग करने में इन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

'हसरत' के स्वभाव में अस्थिरता बहुत परिमाण में मौजूद है। सदैव एक पग में वे काम नहीं कर सकते और एक प्रांत में, एक नगर में ठहर नहीं सकते; परन्तु ३५ वर्ष तक वे एक निश्चय पर स्थिरता से जमे रहे और वह निश्चय यह था कि वे विवाह नहीं करेंगे। उनकी माता, उनके भाई, उनके दोस्त-मित्र विवश करते रहे; पर उन्होंने विवाह न किया और एक दिन बैठे-बैठे जो खयाल आया तो विवाह के लिए 'हाँ' कर दी। शादी इसलिए कि सिगरेट छूट जायँगे, पर न सिगरेट छूटे और न...शादी! और अब तो उन्हें अपना नन्हा लड़का सिगरेटों से भी प्रिय है। बहरहाल वे कहा करते हैं कि अगर उनके लड़की हुई तो वे सिगरेट पीना अवश्य छोड़ देंगे; पर यह सब भविष्य की बातें हैं।

लाहौर में अपने जीवन का बड़ा हिस्सा उन्होंने 'अरब होटल' के क़हवा-ख़ाने में बसर किया है और यदि यह कहा जाय कि 'अरब होटल' का अन्तर-राष्ट्रीय पोज़ीशन 'हसरत' ही के दम से है तो यह अत्युक्ति न होगी। लाहौर का यह छोटा-सा होटल सिन्दबाद 'जहाज़ी' की कृपा से अच्छा खासा 'साहित्य-केन्द्र' बना हुआ है और लाहौर आकर तो उर्दू में, और विशेष-रूप से उर्दू के व्यंग लेखों में दिलचस्पी रखनेवाला प्रत्येक साहित्यक 'जहांगीर का मक़बरा' देखने के बाद सीधा 'अरब होटल' का रुख करता है। इस होटल की चरमर करती मेजों पर क़हवे की छोटी-छोटी प्यालियों और तल्ख़ क़हवे पर उर्दू पत्रों में ऊँचे दर्जे के व्यंग-लेख लिखे गये हैं और मैंने तो यह सुना है कि 'अरब होटल' के मालिक ने 'हसरत' साहब से यह वादा ले लिया है कि वे जहाँ जायेंगे, 'अरब होटल' को साथ ले जायेंगे।

'हसरत' के जीवन का सबसे अच्छा पहलू उनकी स्वच्छन्दता है। जिस बात को वे उचित और ठीक समझते हैं उसे ही कार्य-स्वरूप में परिणत करते हैं। पत्रकार की हैसियत से अपने जीवन में मेरा ख़याल है, उन्होंने एक बार भी अपनी आत्मा को दबाने का प्रयास नहीं किया और सदैव ही अपनी राय को निडरता और निर्भयता से प्रकट कर दिया है। इस कारण से उनके पत्रकार-जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं; पर उन्होंने कभी इसकी चिन्ता नहीं की। निजत्व की वैयक्तिकता के पुजारी हैं और इस वैयक्तिकता के मार्ग में जो भी कोई रुकावट बने, उसे वे कदापि अच्छा नहीं समझते, चाहे वह इनका कितना भी प्रिय मित्र ही क्यों न हो।

लाहौर।

मास्ति 'श्रीनिवास'

[दा० रा० बेंद्रे]

[मूल कन्नड़ से अनुवादक, गुरुनाथ जोशी]

छोटी कहानियों के 'श्रीनिवास'जी का परिचय किसको नहीं है ? आजकल के कन्नड़-साहित्य में उनका आचार्य-स्थान है। छोटी कहानियाँ—बड़ी कहानियाँ, छोटे दृश्य—बड़े नाटक उन्होंने लिखे हैं; 'प्रार्थना', 'अरुण', 'तावरे', 'चेलुवु' आदि कविता-संग्रह प्रकाशित किये हैं। समालोचनाएँ और उनके तत्वों का विवरण किया है। कन्नड-संस्कृति पर अपनी राय दी है। साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-स्थान से मार्ग दिखाया है। भाषणों से साहित्य का प्रचार किया है। बड़ों के प्रति आदर, छोटों के प्रति विश्वास रख पुराने की गुण-ग्राहकता, नवीनता की गुण-समालोचना कर समतोल को नहीं छोड़ा है। भिन्न-भिन्न साहित्यों का परिचय होने पर इनका साहित्य उनके आधार से अपनी जीविका नहीं चलाता है। साहित्यकों के जीवन की प्रशंसा करने से असार संसार भी सारमय हो जाता है। इनकी कहानी-कला से कन्नड-साहित्य में जीवन का संचार हो गया है। इनकी समालोचना प्रणाली से अदृश्य कीमत दिखाई पड़ने लगी है। इनकी शुचिमूर्त शैली से कन्नड़ देश एक होकर पास-पास आने लगा है। इनको आचार्य-स्थान डर के कारण से नहीं दिया गया है, गौरव के कारण से नहीं दिया गया है, एक पक्षवालों की देन नहीं है, कौम और प्रांत के बटवारे में प्राप्त नहीं है। गौरव में इन्होंने अपने वरद हस्त से बढ़नेवालों को नहीं रोका है, अभय हस्त से नहीं डराया है, वरद हस्त से नहीं झुकाया है। इनके उदाहरण से कुछ पदवीश्वरों को विदित हुआ है कि साहित्य-क्षेत्र भूखे पेटवालों का मैदान नहीं है, बेअक्लों की हवाख़ोरी की जगह नहीं है, बेकामवालों के हुल्लड़ मचाने का चौक नहीं है। ऐसे लोगों के जीव और जीवन को 'आचार्य' न कहें तो 'आचार्य' शब्द का अर्थ व्यवहार के अनुकूल बदलना होगा।

किन्तु इनकी मूर्ति को गौरव से तुलना कर देखा जाय तो छोटी-सी है। इनके बात-चीत का ढङ्ग कहानी-लेखक की सरसता की हँसी उड़ाने के समान, दार्शनिक के नीरस-विरस मार्ग से होकर रसवर्ज्य सत्य-लोक की शुभ्रता में जायगा। इनके पत्र-व्यवहार में साहित्य का चिह्न पाना भी कठिन है। न जाने इस रसिकता की गरीबी का कारण क्या है! पराधीन बाल्य-संस्कार होगा ? मिति की शैली होगी ? काल-भक्षक उपजीविका के कार्य की कमी होगी ? सत्य

सौन्दर्य के संघर्ष में रङ्ग की अपेक्षा अच्छी दृष्टि के अनुभव का आन्तरिक निग्रह होगा ? क्या ये सौन्दर्य को कम कीमत देते होंगे ? क्या इनके पद्य और गद्य में आभासमय पंक्तियों के सर उठाने का कारण यही होगा ? नहीं ; ऐसा नहीं होगा। जिस 'चेलुवु' के कवि ने अद्वैत की जन्मभूमि श्रृङ्गेरी में ग्राम्य-गीत की कहानी के आधार पर ऋष्यश्रृङ्ग को खड़ा कर 'संसार का सौन्दर्य माया नहीं होगा' यह उससे कहलवाया, 'संसार में ही रहकर तत्वचिंतना करने से क्या नुकसान है' यह सावित्री से यम-द्वारा पुछवाया, 'स्त्री...है, पुरुष सुई है' यह शारदा को कहने में लगाया—उस कवि ने क्या रूप-विलास को ऊपरी सौन्दर्य समझा होगा ? वैसा न समझकर भी सत्य को सौन्दर्य सार समझने की अपेक्षा सौन्दर्य को सत्य का आविष्कार मानना उत्तम होगा, मालूम होता है कि यह इन्होंने समझा है। इनकी दृष्टि में ज्ञान की अपेक्षा जीवन ऊँचा है। 'एक पुरानी कथा' और 'दूसरी पुरानी कथा' में जो अन्तर है, वह यही भेद है। इनकी कहानियों की कला का अंतःसार जीवियों के जीवन की सत्यता को नक्षत्र की तरह चमकवाने में है। जीवन में स्थायी को इन्होंने पहचाना है। इनकी हँसकर हँसाने की हँसी, इनके श्रृङ्गार की रीति—ये संचारी हैं। जैसे संचारी दृष्टि को खींच लेती है, वैसे स्थायी नहीं खींचती। घूमनेवाले नक्षत्र-मंडल को छोड़ ध्रुव को देखनेवाले कौन हैं ? 'रंगप्पा', 'सुब्बण्णा', 'इन्दिरा', 'सड़क की लड़की', 'कृष्णस्वामी' आदि रसिकों को नवलवान कैसे भूल सकेंगे ? 'आनन्द' की कहानी-कला इस शृङ्गार के सोने के तार से अपने गहने बना लेती है। 'श्रीनिवास'जी अपनी कहानियों की सरसता उपकथाओं से बढ़ाया करते हैं। किन्तु उपकथा-बड़ी कथा को निगल नहीं जाना चाहिये। श्रीगोरूर रामस्वामीजी अपने देहाती रसिकों के चित्रण में इस प्रकार के उलझन में लुढ़कते हैं और आन्दोलित होते हैं। 'हाविन अय्या' 'मल्लिगे हल्ली बयलाट' के श्रीकंठाचार्यजी 'नम्ममेष्ट्रु' की ऊँचाई पर पहुँच सकते हैं ? श्रीगोरूर रामस्वामीजी ने सहज हास्य की धारा देखी है ; किन्तु उस हास्य के प्रकाश में मूर्ति को भंग नहीं होना चाहिये। 'आनंदकंद' की कहानियों में स्वभाव की लता फैलती है। किंतु स्वरूप का फूल खिलवाने में ही कहानीकार को सार्थकता है। 'श्रीनिवास'जी ने विविध जीवियों के स्वरूप का चित्रण किया है। 'अयेषा', 'कामन हब्ब' की सुहागिन ललितम्मा, उषा एकेक जीव हैं, एकेक रूप हैं। इनकी पुरुष-सृष्टि की अपेक्षा स्त्री-सृष्टि ही उत्तम है—या यों कहिये कि इनकी सृष्टि ही वह है। हवा में सूत कातनेवाले श्री कृष्णकुमार और श्री पी० टी० नरसिंहाचार्यजी की शैली दूसरे ढंग की है। वे स्वरूपाविष्कार में 'कणभक्षक' हैं, वायु-विहारी हैं। श्री अ० न० कृष्णरावजी और 'प्रबुद्ध कर्नाटक' के कहानीकार यद्यपि अपनी राह ढूँढ़ और ढूँढ़ते रहने पर भी श्री 'श्रीनिवास'जी को कर्नाटक के कथाकारों के मूलपुरुष मानते हैं, इसमें संदेह नहीं। इस प्रकार कहानी-कला में ऐसे लोग कम हैं, जिन्होंने 'श्रीनिवास'जी का हाथ नहीं पकड़ा है। ऐसे लोग भी कम हैं जो इनका हाथ न पकड़नेवाले हों। इनके आचार्य पद का बीज ही यहाँ है। इनकी श्रेष्ठता कहानियों में नहीं है, कहानियों के सत्त्व में है। विश्व-साहित्य की किसी कहानी के साथ इनकी कहानियाँ खड़ी हो सकती हैं। इनकी कहानी-कला का प्रवाह बहुत ही बड़ा है। उसने कविताएँ भी अपनी ओर खींच ली हैं। 'मर्दलिंग की कंदरा', 'मल्लम्मा', 'मांवि' आदि इसके उदाहरण हैं।

एक बात में इनका निडरपन ठीक तरह से गोचर होता है। स्त्री कहते ही देखने की रसिकता पर इन्होंने अंजन ठीक तरह से लगाया है। जिस बात और प्रसंगों में रूढ़ बुद्धि में

अश्लीलता की ध्वनि पैदा हो सकती है, उस बात और प्रसंगों को सात्विक-सुख के एक राग से रंजित करने की बुद्धि की सूक्ष्मता, बातचीत की कुशलता इनकी ही है। केवल साहित्य में ही नहीं ; किंतु जीवन में भी यह है। यह स्वभाव-सिद्ध है या अभ्यास से प्राप्त है, कहना कठिन है। मालूम होता है कि जिन्होंने 'शिवाजी' में अश्लीलता देखी है उनको यह सूक्ष्मता विदित नहीं हुई है। रस और आभास को भिन्न-भिन्न समझना आभासमय जीवन में आसान नहीं है। 'सड़क की लड़की', 'पुरानी कहानी' लिखने का साहस सामान्य साहस नहीं है। उसके लिए नई दृष्टि चाहिये। 'श्रीनिवास' जी में यह दृष्टि है। वास्तव में वे कवि हैं। इनके शब्दों में वह दृष्टि पैदा करने की शक्ति है। इनकी हँसी उस दृष्टि की किरणावली है। 'x'-किरणों की तरह वह अन्दर की सत्यता को प्रकट करेगी। इनकी हँसी नकली नहीं है, तमाशा नहीं है, दिल्लगी नहीं है। जैसी चीज़ वैसी रुचि। चटनी के समान वह बाह्य रुचि की नहीं है। ऐसे सिद्ध साहित्यिक से जो काम हुआ है वह बड़ा है, फिर भी इनसे और भी अधिक बड़ा काम होना है। महापुरुषों के महान जीवन का अन्तःसार देने के लिए, महाप्रबन्ध, महाकथा लिखने के लिए ऐसे लोग ही समर्थ हैं। ऐसे लोगों के सामर्थ्य से ही कन्नड भाषा आज प्रतिभाशाली बनी है ; बननी चाहिये। ऐसे लोगों को ठीक तरह से नहीं पहचाननेवाले पदवीधर आज भी हैं। वे यह नहीं जानते कि 'मास्ति' और 'श्रीनिवास' एक ही हैं। यह किस बात का द्योतक है कौन जाने। इसीलिए मैंने पहले मास्ति 'श्रीनिवास' लिखा है।

ये कभी-कभी यह सोचते हैं कि बड़े तनख्वाह के अधिकारी बनने की अपेक्षा मैं यदि सामान्य शिक्षक होता तो साहित्य-सेवा के लिए अधिक अच्छा होता। किन्तु शिक्षक-वर्ग के कितने लोग अधिक साहित्य-सेवा किया करते हैं ? साहित्य-सेवा-संकल्प अगर हो तो कोई भी अधिकार उसमें बाधा उपस्थित नहीं कर पाता। क्या यह कुछ लोगों के उदाहरण से नहीं मालूम होता ? इतना ही नहीं ; मनोभिलाषा के सामने बाधा कहाँ ? यह यद्यपि सुभाषित है तो भी यह सत्य है कि दरिद्रों की मनोभिलाषा को गति भी नहीं मिलती। 'रन्न' कवि ने कहा है कि जिसके पास पैसा है, उनका दानी बनना ; जो बातें जानते हैं, उनका मत्सर-रहित बनना आसान नहीं है। अतः दानी ही धनी बनें। मत्सर-रहित आदमी ही ज्ञानी बनें। आजकल गुणी लोगों को अधिकार का मिलना, साहित्यिकों को अपनी रचनाएँ प्रकाशित कर सकने के योग्य साधन प्राप्त करना कठिन है। गुणी साहित्यिकों और दानी अधिकारियों का बढ़ना कन्नड की बढ़ती का चिह्न है। किन्तु धन और सत्व उपअधिकार में गुणों और साहित्य-रसिकता को निगल जाने की शक्ति है। फिर भी सत्वशालियों का करणों की अनुकूलता में नहीं है ; बल्कि किन्हीं उपकरणों को उपकारक बनाने की शक्ति में है, यह भूलने की बात नहीं है। साहित्याचार्यों का अधिकारी बनना साहित्य के अधिकार को बढ़ाने के समान है। जीवन और साहित्य के परस्पर पोषक बने रहने के समान है।

बेंगलोर।

रामनारायण विश्वनाथ पाठक

[खंडेराव त्र्यंबक सुले]

अर्वाचीन गुजराती-साहित्य में प्रो० रामनारायण पाठक एक असाधारण व्यक्ति समझे जाते हैं। श्रीयुत पाठक का नाम लेते ही उनके जीवन-क्रम की और उनके साहित्यसंसार की उनकी बहुरूप भूमिकाओं के दृश्य नजरों के सामने आ खड़े होते हैं। पहले एक होशियार विद्यार्थी, फिर यशस्वी वकील और अन्त में वकालत छोड़कर असहयोग आन्दोलन में पड़नेवाला एक तरुण; ये उनके जीवन के पहले परिवर्तन हैं। उनकी साहित्य-सेवा की ओर नज़र डालें तो पहले क्षण में वे एक अत्यन्त तर्क-शुद्ध विवेचक और दूसरे क्षण में मानवी मन के व्यापारों को रसिकता के साथ रँगनेवाले एक कुशल कहानी-लेखक के रूप में दिखाई देते हैं। अभी स्वैरविहारी, परन्तु मर्मग्राही लघुनिबन्धकार हैं, तो घड़ी-भर में एक प्रौढ़ मितभाषी कवि के रूप में वे हमारे सामने आ खड़े होते हैं। सरस्वती के मन्दिर में उनका यह भूमिका-विलास वास्तव में बड़ा अद्भुत है। परन्तु उनके अर्जित इस दुर्लभ यश के पीछे विद्यार्थी-दशा में और उसके बाद भी उनके द्वारा चालू रखा हुआ पूर्व और पश्चिम के साहित्य-शास्त्र का अखण्ड अध्ययन खड़ा है—यह बात मनन करने योग्य है।

बम्बई के विल्सन कॉलेज में से तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र के विषय लेकर वे बी० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। एल्-एल्० बी० पास करके उन्होंने वकालत शुरू की। इस धन्धे में उन्होंने अच्छा नाम कमाया। परन्तु समाज में स्वतंत्र और राष्ट्रोन्नतिकारक शिक्षा देनेवाली एकाध संस्था खोलनी चाहिये, इस तीव्र इच्छा के कारण अपना पेशा छोड़कर वे 'गुजरात-शिक्षण मण्डल' नामक संस्था में आ मिले। इतने में असहयोग-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। उसके साथ ही उन्होंने गुजरात-विद्यापीठ में अध्यापक का काम ले लिया। गुजरात-विद्यापीठ के सम्पर्क में आने के बाद ही श्रीयुत पाठक का नाम उनके प्रान्त में फैलना शुरू हो गया। एक दृष्टि से श्री पाठक के अंगभूत गुणों का पूर्ण विकास करने का असली और पूर्ण श्रेय गुजरात-विद्यापीठ को ही देना पड़ेगा।

अध्यापक का काम करते हुए गुजराती भाषा का प्रौढ़ और पद्धति-पूर्वक अध्ययन करने के लिए 'काव्य-समुच्चय' नामक प्राचीन और अर्वाचीन काव्य के दो संग्रह उन्होंने प्रसिद्ध किये। इसी प्रकार श्री काका साहब कालेलकर की मदद से विद्यापीठ के मार्फ़त 'गुजराती

जोडणी कोश' नामक गुजराती भाषा का सर्व प्रथम शास्त्र-शुद्ध कोश उन्होंने संपादित किया। इसी समय में 'गोविन्द-गमन', 'पूर्वालाप', 'धम्मपदं', 'काव्य-प्रकाश', 'प्रमाण-शास्त्र-प्रवेशिका', इत्यादि छोटे-बड़े ग्रंथों का उन्होंने संपादन किया और कई एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे। परन्तु विद्यापीठ का उनका चिरस्मरणीय वास्तविक कार्य तो उनके द्वारा तैयार किया गया आशास्पद तरुण लेखकों का शिष्य-वृन्द है। उनसे साहित्य का अध्ययन करनेवाले और कलोपासना में उनसे स्फूर्ति प्राप्त करनेवाले उनके शिष्यों में श्री 'स्नेहरश्मि', 'सुन्दरम्', करसनदास माणिक, नगीनदास पारेख, 'उपवासी' वगैरह नाम आज गुजराती-साहित्य में अमिट हो चुके हैं। इसके अलावा उनका परोक्ष विद्यार्थी मंडल भी बहुत विस्तृत है। १९३० के आन्दोलन में उन्हें जेलवास भोगना पड़ा। वे बंबई विश्वविद्यालय के एम्० ए० के गुजराती के परीक्षक हैं और आज-कल अहमदाबाद के लालभाई कालेज में वाइस प्रिंसिपल हैं।

लगभग बारह वर्ष पहले उन्होंने 'प्रस्थान' नामक मासिक पत्रिका निकाली और आज तक गुजरात में प्रसिद्ध होनेवाली दूसरी किसी भी पत्रिका की अपेक्षा उसका दर्जा निःसंदेह श्रेष्ठ है। प्रायः उनकी सभी कृतियाँ 'प्रस्थान' में ही प्रसिद्ध हुई हैं। 'प्रस्थान' के संपादक के नाते उनके द्वारा की गई ग्रंथ-समालोचनाएँ गुजरात में बहुत अनमोल समझी जाती हैं। पूर्व और पश्चिम के साहित्य का मेल साधनेवाली उनकी विवेचन-शक्ति, उनकी लाघव युक्त सरल और निराडम्बर शैली के कारण बहुत आकर्षक प्रतीत होती है। श्रीयुत पाठक की बुद्धि क्ष-किरणों की तरह गहराई तक पहुँचनेवाली है।। इसीलिए उनकी वेधक नज़र से एकाध कृति की रचना, आलेखन, रस-निष्पत्ति आदि बाबतों में किसी तरह की भी न्यूनता का छटक जाना असंभव हो जाता है। परन्तु उनकी प्रतिकूल समालोचना के पीछे विशाल सहृदयता और सौजन्य होने से समालोचित लेखक अधिकांश में उनका शत्रु बनने की अपेक्षा उनका प्रशंसक ही पाया गया है। श्रीयुत कनैयालाल मुनशी ने अपने Gujrat and its literature नामक ग्रंथ में श्री पाठक की समालोचना-पद्धति के विषय में लिखते हुए कहा है कि 'He is never mean even when he draws blood.'

नडियाद में होनेवाले साहित्य-संमेलन के साहित्य-विभाग के अध्यक्षपद से उन्होंने अपना 'काव्य की शक्ति' नामक सुप्रसिद्ध दीर्घ निबन्ध पढ़ा। काव्य-शास्त्र पर लिखा गया यह निबन्ध इतना मौलिक और विद्वत्तापूर्ण है कि संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में इस निबन्ध-द्वारा एक अपूर्व वृद्धि हुई है। हाल ही में उन्होंने बंबई विश्वविद्यालय की ओर से 'ठक्कर वसनजी व्याख्यान-माला' में 'अर्वाचीन गुजराती काव्य-साहित्य का प्रवाह' पर पाँच व्याख्यान दिये। आज तक किसी भी विश्वविद्यालय के व्याख्याता को इतना बड़ा श्रोतृवृन्द शायद ही मिला हो। गुजराती साहित्यिकों द्वारा मूकभाव से स्वीकृत किये गये अपने शब्द-प्रामाण्य के ज़ोर पर इन पाँच व्याख्यानों में वे चाहते तो कितने ही लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की कमर सदा के लिए तोड़ सकते थे या अनेक अज्ञात कवियों का भविष्य उज्ज्वल कर सकते थे। परंतु व्यक्ति की अपेक्षा विचारों को और स्नेह की अपेक्षा सत्य को अधिक महत्त्व देने के कारण इस व्याख्यान-माला में उन्होंने युग-शक्ति और युग-प्रवाह पर ही अधिक विवेचन किया। इसी कारण किसी विशिष्ट गुटबंदी के शिकार वे नहीं बने और स्वयं भी किसी स्वतंत्र गुट्ट अथवा कैंप की उन्होंने रचना नहीं की।

'शेष' उपनाम से वे अपनी कविता लिखा करते हैं। 'शेषनां काव्यो' नामक उनका कविता-संग्रह हाल ही में प्रसिद्ध हुआ है। श्रीयुत पाठक की कविताएँ थोड़ी हैं; पर गुणों की दृष्टि से उन्हें गुर्जर कवियों की प्रथम पंक्ति में लाकर रखा जा सकता है। श्रीयुत पाठक के महान् पंडित होने पर भी उनके काव्यों में मानवी सहानुभूति और अन्तःकरण की कोमलता हमेशा दिखाई देती है। सरल और निरलंकृत भाषा में बहनेवाला उनका काव्यार्थ किसी को भी मुग्ध कर लेगा। अलंकारों के कृत्रिम साधनों का त्याग करके काव्य-रस का परिपाक करना सरल काम नहीं है। यह रस-परिपाक श्री पाठक ने अपने 'शेषनां काव्यो' नामक संग्रह में सिद्ध करके दिखाया है। सभी समझ सकें ऐसी प्रवर्तनशील (direct) शैली से वे एकाध प्रसंग का साक्षात् चित्र खड़ा कर सकते हैं। उनकी उपमाएँ स्वाभाविक, पूर्ण और चित्तवेधक होती हैं। अपनी साहित्यिक प्रकृति से ध्येयवादी होने पर भी जीवन के वास्तविक दर्शन की (Realistic) कला उनके हस्तगत है। कल्पना की सुंदरता, शब्दों का प्रसाद और भावनाओं की उत्कटता का उनके काव्यों में सुन्दर मिश्रण हुआ है। अपनी पत्नी के अवसान के बाद उन्होंने अपनी प्रिय सहचरी को सम्बोधन करके जो कविताएँ लिखी हैं, वे अतिशय अद्भुत हैं। पत्नी को सम्बोधन करके एक कविता में वे कहते हैं—'सखि, अग्नि के सामने हम एक हुए थे; और आज अग्नि के समक्ष ही हम अलग हो रहे है!' अपने कविता-संग्रह का समर्पण अपनी जीवन-सखी को ही करते हुए कविता की एक ही पंक्ति उन्होंने लिखी है, और वह इस प्रकार है:—

'वेणी में गूँथने थे कुसुम, रह गये अर्पण करने अंजलि से।'

केवल एक ही पंक्ति में करुणा सूचित करनेवाला यह कितना परिपूर्ण काव्य है। 'उमा-महेश्वर' नाम की एक रसपूर्ण कविता में 'समुद्र मंथन के समय हर किसी ने अपनी-अपनी अच्छी वस्तु उठा ली और केवल तुम्हीं हालाहल पीकर बैठ रहे।' ऐसा कहते ही शंकर उमा को जवाब देते हैं कि, 'विष्णु के नीलकण्ठ के चारों ओर आलिंगन के समय लक्ष्मी का गौर सुभग हाथ देखकर वह रमणीय दृश्य मुझे इतना अधिक पसन्द पड़ा कि तेरे भी कोमल हाथों की शोभा मेरे कण्ठ के चारों ओर ऐसी ही खिली हुई दिखाई दे इसलिए मैं भी यह विष पीकर नीलकण्ठ बन गया हूँ।' अन्त में कवि ने कहा है कि 'उमा-महेश्वर के उस आश्लेष के समय सारे विश्व पर प्रणय-घन उमड़ आये और जगत् का सारा विष उस क्षण धन्य हो गया।'

'एक सन्ध्या', 'छेल्लूं दर्शन', 'सिन्धुनुं आमन्त्रण', 'डुंगरनी कोरे', 'अभेद', 'उस्तादने', इत्यादि कविताओं में से उनका कविहृदय उत्तम प्रकार से व्यक्त हुआ है। भाषा पर उनका प्रभुत्व उनकी गद्य और पद्य दोनो प्रकार की कृतियों में स्पष्ट हुआ है। प्रकाण्ड पंडितों के लिए सहज असिद्ध विनोद उनकी कविताओं में जगह-जगह दिखाई देता है। मन को निर्दोष आनन्द देनेवाली कितनी ही विनोदयुक्त कविताएँ उनके काव्य-संग्रह में हैं। थोड़े-से शब्दों में सारा आशय व्यक्त करने का उनका कौशल अद्भुत है। इस दृष्टि से उनके जैसी अर्थवाही भाषा लिखनेवाले गुजराती कवि बहुत थोड़े हैं।

काव्य-दृष्टि से साधारणतया विसंगत तर्कशास्त्र श्रीयुत पाठक का अत्यंत प्रिय विषय है। अद्वितीय तर्कवादी यह विवेचक अत्यंत विनोदप्रिय है। अपने विनोदपूर्ण, व्यंग्ययुक्त धारावाही लेख उन्होंने 'स्वैर विहार' नामक दो संग्रहों में प्रसिद्ध किये हैं। इन लेखों में उनके

निर्द्वेष मन की साची पूर्णतया मिलती है। राजकीय, आर्थिक या सामाजिक कोई भी विषय हो, उन्होंने अपनी विनोदयुक्त वाणी से 'स्वैर विहार' इतने लोकप्रिय बना लिये हैं कि उत्सुकता से 'प्रस्थान' का नया अंक खोलकर 'स्वैर विहारी' के हास्य-निबन्ध अंदर न देखकर निराश होनेवाले सैकड़ों वाचक हैं।

प्रो० पाठक के ये 'स्वैर विहार' गुजराती साहित्य में अपूर्व हैं। इस पद्धति के विनोद, विद्वत्ता और व्यंग्य से युक्त इस प्रकार के छोटे-छोटे निबंध गुजराती भाषा में इतनी यशस्वी रीति से किसी और ने नहीं लिखे हैं। एक हलके हाथ से वाचकों के मन में विनोद-लहरी उठाना, कोमल भावों का शब्द-चित्र खींचकर साहित्य-रसिकों को काव्य-रस का पान कराना, दुर्दान्त तर्कवादी भी दोष न निकाल सके इस प्रकार की तर्क-पद्धति से ग्रंथों की समालोचना करना, साहित्य के अनेकविध क्षेत्रों में नये विचार, नये प्रयोग और नया दृष्टिकोण दिखाना, इन विविध रूपों की सृजनशक्ति जिनमें है ऐसे कितने लेखक हरेक प्रांत में हमें मिल सकते हैं?

परंतु इतने से ही उनकी साहित्य-सेवा पूर्ण नहीं होती। लघुकथा के क्षेत्र में श्री पाठक का नाम सबसे पहली पंक्ति में सर्वोत्तम लेखकों में लिया जायगा। गुजरात के सामान्य वाचक-वर्ग में श्री पाठक उत्कृष्ट कहानी-लेखक के तौर पर लोकप्रिय हैं। गुजराती समाज के गृहसंसार का इतना वास्तविक चित्र खींचनेवाले गल्प-लेखक गुजराती साहित्यिकों में बहुत थोड़े हैं। उनकी कहानियों की भाषा इतनी मधुर, घरेलू और सरल है, संवाद इतने मनोहर और रसिक हैं तथा स्वभाव-चित्र इतने मार्मिक, करुण और कलामंडित हैं कि गुजराती जाननेवालों को उसका रसास्वाद अनुपम प्रतीत होता है। अपने 'रामनारायण' नाम के 'र' पर से 'द्विरेफ' का अवगुंठित नाम धारण करके उन्होंने अपनी कहानियाँ 'द्विरेफनी वातो' नाम के दो संग्रहों में प्रसिद्ध की हैं। उनकी 'मुकुन्दराय', 'जक्षिणी', 'खेमी' वगैरह कहानियाँ बहुत लोकप्रिय हो चुकी हैं। एक स्वाभिमानी परन्तु प्रेमपूर्ण भंगिन के पतिप्रेम पर लिखी गई 'खेमी' की करुण कथा दुनिया के कहानी साहित्य में अद्वितीय है। नैसर्गिक वासनाओं को व्यर्थ ही विकृत रूप देकर 'मानस शास्त्रीय' कहानी-लेखक बनने का दम भरनेवाले विचार और प्रतिभादारिद्र्य से पीड़ित अनेक कहानी-लेखकों को श्रीयुत पाठक की रसीली कहानियों से बहुत कुछ सीखना बाकी है।

श्रीयुत पाठक के सारे साहित्यिक गुणों का परिपोष उनकी कहानियों में बड़ी खूबी के साथ हुआ है। उनकी तर्कपद्धति, उनकी काव्यरसिक दृष्टि, उनका विनोद, उनकी विशिष्ट भाषा शैली और उनका अध्ययन उनकी कहानियों में स्पष्टतया चमक उठते हैं। अपनी कहानियों में उन्होंने जगत् की ओर कभी मनस्वी की रागातीत दृष्टि से, तो कभी दुनिया के रंग में रँगे हुए सांसारिक मनुष्य की भावपूर्ण नज़र से देखा है।

बम्बई।

न० पिच्चमूर्ति

[कु० प० राजगोपालन्]

[मूल तमिल से अनुवादक, का० श्री० श्रीनिवासाचार्य]

[श्री कु० प० राजगोपालन् तमिल के एक पूर्ण कलाकार हैं। साहित्य के जिस अंग को आपने छुआ, उसी को आपने चमका दिया। श्री पिच्चमूर्ति आपके बचपन के साथी हैं; इसीलिए आप उनको एकवचन में पुकारने का अधिकार रखते हैं। पाठक देखेंगे कि आपने श्री पिच्चमूर्ति और उनके व्यक्तित्व का बहुत ही सुन्दर और मार्मिक चित्रण यहाँ उपस्थित किया है।—सं०]

उस समय मेरी अवस्था क़रीब आठ वर्ष की थी। किसी विशेष काम पर (अब याद नहीं आ रहा है कि वह क्या काम था) हम लोग ट्रिची से अपने गाँव कुंभकोणम् गये थे। मैं उसके पहले वहाँ कभी नहीं रहा था; वह गाँव मेरे लिए नया था। मैं बाहर चबूतरे पर बैठकर तमाशा देख रहा था। पड़ोसी लड़का रंगीन काग़ज़, बोहारी, गोंद, धागा और पूँछदार कपड़ा— ये सब सामग्रियाँ लिये अपने घर के चबूतरे पर बैठकर पतंग बनाने में व्यस्त था। मैं धीरे से खिसककर उसके पास जा खड़ा हुआ। उसने सिर उठाकर मेरी ओर देखते हुए पूछा—तुम्हें भी कनकौआ चाहिये? मैंने संकोच के साथ सिर हिला दिया। बस, हम दोनो कनकौए बनाने और उड़ाने में लीन हो गये।

उस वक़्त उसकी उम्र दस के क़रीब थी। अच्छा गोरा रंग था; सिर पर लंबी-चौड़ी शिखा; घूर-घूरकर देखनेवाली आँखें; उठी हुई नाक; दमकती हुई दन्त-पंक्ति; डील-डौल न ऊँचा और न ठिंगना। पिच्चमूर्ति और मैं—दोनो ने मिलकर उसी दिन कनकौए उड़ाना शुरू किया था। आज भी जीवन की वीथिका में हम दोनो एक साथ मिलकर कनकौए उड़ा ही रहे हैं।

उसके बाद मेरे कुंभकोणम् के कालेज में दाखिल हो जाने पर, हम दोनो में गाढ़ी सोहबत बन गई। उस सोहबत को बने आज अठारह साल हो गये हैं।

आज तमिल के नये कलाकारों में पिच्चमूर्ति का प्रमुख स्थान है। साहित्य के सभी अंशों में उसने बढ़िया काम किया है; और जब कहना ही है तो हम यह कह सकते हैं कि जितने विस्तार से उसने साहित्यिक रूपों को अपनाया है, उतना अब तक किसी ने नहीं। कविता,

एकांकी नाटक, नाटक, गल्प, उपन्यास, निबन्ध—सब कुछ उसने लिखे हैं, अद्भुत कौशल के साथ। लेकिन वह इस लिखने के लिए उतना लालायित नहीं रहता है, जितना एक और वस्तु के लिए। वह वस्तु है, उसकी आध्यात्मिक पिपासा। उसके जीवन में इन दोनो के बीच सतत संघर्ष होता रहता है—न जाने कौन-सी वस्तु विजय पायेगी। परन्तु यह भी हो सकता है कि दोनो की गंगा-जमनी से एक नये आध्यात्मिक साहित्य की उपज हो।

पिच्चमूर्ति में एक तरह का हठीला गुण है। पुराने दिनों में, साहित्यिक चर्चाओं के अवसर पर, वह गुण उसके साथियों को उलझन में डाल देता था। वह अब एक साधना के रूप में परिणत हो गया है। उसके बारे में प्रकट रूप में अधिक कुछ कहने की उसकी इच्छा नहीं है; इसलिए उस योग-साधना के बारे में लिखने का मुझे अधिकार नहीं है।

उसकी प्रकृति कुछ इस तरह से बनी है कि हम यहाँ तक कह सकते हैं—'उसका जन्म नैसर्गिक रूप से वैसी साधना के लिए ही हुआ था।' वह अपनी धुन का पक्का है; किसी भी काम को शुरू कर देने पर उसे आख़ीर तक पहुँचाने का जोश उसमें है। अपने बारे में दूसरों का क्या मत है, इस पर वह कभी कान नहीं देता। दूसरों की सुविधा-असुविधाओं का भी वह ख़याल नहीं करता। उसके दाढ़ी बढ़ने के बारे में कितनों ने कितनी तरह के सवाल किये थे। श्रद्धा के साथ पूछनेवालों को वह एक तरह से उसका कारण बता देता; दिल्लगी के साथ पूछनेवालों को दिल्लगी में ही जवाब दे देता।

पिच्चमूर्ति में आत्मचिन्तन का गुण बहुत अधिक है। वह अपने चारो ओर के वातावरण को इस तरह भूल जाता है कि उससे अपरिचित व्यक्ति उसे स्वार्थी भी मानने लग जाते हैं। वह अपने बारे में इतना बढ़-बढ़कर बातें करता है कि श्रोता को उसकी हास्य-रुचि की सत्ता के बारे में सन्देह होने लगता है। लेकिन इन सब बातों का कारण, उसके अपने अन्तर्निरीक्षण की भावना है। वह उसकी साधना की अविश्रान्त प्रेरणा है। वह न तो अहंकारी है, न हास्य-रुचि से वंचित और न परिस्थिति के ज्ञान से शून्य।

वह सबसे बड़े मज़े से पेश आता है। वह किसी मंडली में नोकदार और आवश्यकता पड़ने पर स्नेह और हास्य-भरी बातें कर सकता है। प्लेटफ़ार्म पर बड़ी आसानी और ख़ूबी के साथ तक़रीर कर सकता है। किसी भी बात में अपनी पूरी भावनाओं को लगा देने का स्वभाव उसमें है। कभी-कभी किसी चर्चा के छिड़ते वक्त, वह अपने भावों को व्यक्त करने में क्रुद्ध-सा प्रतीत होता है। तब उसकी आँखें लाल-लाल हो जाती हैं। प्रायः सदा शान्त रहनेवाला कभी-कभी आवेश से भर जाता है।

हाल ही की एक घटना है। किसी घनिष्ठ मित्र के साथ किसी बात पर तर्क हो रहा था। तब उन्होंने पूछा—आप गुस्सा क्यों करते हैं? तुरंत पिच्चमूर्ति ने जवाब दिया—नहीं, अब तक मुझे गुस्सा नहीं आया था। अभी ही आ रहा है।—इस तरह मुँहतोड़ जवाब देकर प्रतिस्पर्द्धी को दबाने की ताक़त उसमें है।

यद्यपि पिच्चमूर्ति में आत्मलय—अर्थात् अपने आपका चिन्तन—अधिक है, पर वह उसी भाँति अपने को भूलकर बाह्य दृश्यों में भी लीन हो जाता है; तब वह अपने घेरे को भी भूल जाता है। बाह्य सहानुभूति की इसी शक्ति से साहित्य उपजता है और अन्तः सहानुभूति की शक्ति से योग।

सोच-विचारकर देखने पर हमें मालूम होगा कि कवियों और योगियों के जीवन का तत्व यही है। दोनो शाखावाले एक ही प्रकार के आत्मविमर्शन में लगे हुए हैं। कवि-गण बाह्य-जगत् में अधिक लीन हैं तो योगीजन अन्तर्जगत् में। लेकिन हम इन दोनो वस्तुओं का विश्लेषण नहीं कर सकते। कवि ही परिपक्व अवस्था में योगी बनता है।

मैंने कहा है कि पिचमूर्ति के हृदय में साहित्य-भावना और अध्यात्म-पिपासा के बीच संघर्ष होता रहता है; वास्तव में यह कहना चाहिये कि दोनो में परस्पर प्रेम है। शिव और शक्ति की भाँति, जब हृदय में दोनो जुड़ जाती हैं, तभी साहित्य सार्थक होता है; आत्मा विराट् होती है। वह इस बात को जानता है। अब तक उसने जो कुछ लिखा है, उसकी अपेक्षा आगे वह जो कुछ लिखेगा वही सच्चा साहित्य होगा।

पिचमूर्ति ने एक समय पर कहा था—हमारा नया अक्षर क्षीण प्राण है। पुनर्विकास नाम की वस्तु निस्सार है। हाँ, जो साहित्य आध्यात्मिक सम्बन्ध से रहित है वह, समग्र वह, वैसा ही तो होता है।

पिचमूर्ति सितार के समान एक ध्वन्यात्मक जीव है। कोई भी छोटी-सी वायु-लहरी उसके हृदय से टकराकर गमक उत्पन्न कर सकती है।

लौकिक बातों को कुछ हद तक वह नहीं जानता और कुछ हद तक वह उनकी अव-हेलना करता है। जीवन की धींगा-धींगी और धोखेबाजी से उसे घृणा है। वह अपनी वकीली का पेशा मनोयोग के साथ नहीं करता था और आज तो उसने वकालत से छुट्टी ले ली है। अपनी वकालत के जमाने में भी, कोर्ट में अपना काम ख़तम होते ही वह चटपट अपने घर की ऊपरी छत पर आकर ही दम लेता था। जीवन की गली में उसका दम घुटता था। उस खुली छत पर ही उसकी साँस ठीक तरह से चलती थी। वहाँ से वह जिन्दगी को देखता, हमदर्दी करता, पिघलता, लिखता और मुझे पढ़कर सुनाता।

वह और मैं—दोनो ने इसी तरह कितने ही दिन बिता दिये हैं। जीवन की कई प्रवंचनाओं और बाधाओं के बीच, इसी बात से, इसी सहारे से, मुझे एक अविराम सान्त्वना मिली है।

भविष्य में भी, यही बात, यही साहाय्य मेरा आधार-स्तम्भ होगा।

मद्रास।

श्रीमती महादेवी वर्मा

[रामकुमार वर्मा]

दुबला-पतला शरीर, आँखों में विह्वलता और एक खद्दर की साड़ी—महादेवीजी का ऐसा व्यक्तित्व उस कमरे को सुशोभित करता है, जिसमें चित्र भी सजीव हो उठे हैं। सामने भगवान बुद्ध की मूर्ति अपनी मौन मुद्रा में महादेवी के वैराग्य-हृदय की साकार अभिव्यक्ति है! जिस सुरुचि में वैराग्य का ज्योतिर्मय जीवन है, वह सुरुचि निर्मल आकाश की वैसी ही ज्योत्स्ना है जिसने पीड़ा की समस्त तारिकाओं को अपने पुनीत वीतराग के उज्ज्वल प्रकाश से भर दिया है।

'तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा' लिखनेवाली महादेवी का हास्य कितना मुक्त है। कौन जानता है अपनी पीड़ा को सुरक्षित रखने के लिए ही वे हँसी की परिधि इतनी विस्तृत बनाये हुए हैं, जिससे कोई झाँककर देख भी न सके कि इस अनवरत हँसी की प्राचीर के भीतर पीड़ा का कितना व्यापक साम्राज्य है। मेघ की इन्द्रधनुषी हँसी इसीलिए तो है जिससे कोई यह न जान सके कि उसमें कितनी आँसू की बूँदें हैं। और ये महादेवजी जो 'परिचित हो लूँ कण-कण से' की साध से भरी हुई हैं, कब लिखती हैं? शायद जब नभ की दीपावलियाँ बुझ जाती हैं—तम के परदे की छाया में यह विश्व चेतना को स्वप्न में परिवर्तित कर देता है—उस समय। क्योंकि महादेवी का दिन परिश्रम के परिमाण से लबालब है। प्रयाग महिला-विद्यापीठ का अध्यापन सूर्य के यौवन से वृद्धावस्था तक—'चाँद' के सम्पादकीय गंभीर लेख—और लेखों के प्रूफ। इस कठोर वास्तविकता में कविता की रेखा—जैसे दुःख के समूह के नीचे सुख अपनी मर्यादा अक्षुण्ण बनाये हुए है।

महादेवी मधुर राग से कविता नहीं पढ़ सकतीं। आखिर क्यों? उनके कंठ का मधुर राग तो उनके हृदय ने ले लिया है—संपूर्ण रूप से। करुणा की रागिनी क़लम की नोक से टकराकर पृष्ठों पर बिखर गई है। उसे कितनी मधुरता चाहिये? और उनकी अस्वस्थता? उसने भी जैसे महादेवी से कहा हो—मुझे भी अपनी कविता में भर दो, मैं भी अमर हो जाऊँ—तुम्हें कष्ट के बन्धन में डालकर मैं अपनी मुक्ति चाहती हूँ।

नीहार के भीतर से निकली हुई रश्मि जब नीरजा के सुस दलों पर सान्ध्यगीत गाती है तो जिस अनुभूति का उदय होता है उसका नाम है महादेवी की कविता। करुणा की यह आकाश-गंगा कविता के आकाश में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित है। उसमें पीड़ा की कितनी नीहारिकाएँ हैं, इसकी गिनती कौन कर सकेगा?

इलाहाबाद।

श्री जैनेन्द्रकुमार

['विष्णु']

ऊपर का नीला आकाश प्रकाश-पिण्डों से पूर्ण और आकर्षक ; पर उसके पीछे अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। रहस्य भी वे, जिन्हें अनादि काल से कोई ठीक-ठीक जान नहीं पाया है। इस गम्भीरता और प्रकाश के पीछे बड़ी भारी जटिलता है। कुछ इसी तरह के हिन्दी के नवयुवक कलाकार जैनेन्द्रकुमार भी कहे जाते हैं। उन्हें दूर से देखे तो बात लँचती है। यह व्यक्ति सदा अपने 'अहम्' में डूबा जान पड़ता है। अपने आसपास के वातावरण को कुछ ऐसी नज़र से देखता है कि बताना चाहता हो—मैं सब कुछ जानता हूँ, मुझे तुम्हारी चिन्ता नहीं है।

लेकिन जैनेन्द्र अहंकारी आदमी बिल्कुल नहीं है। केवल दार्शनिकता के कारण जो अलगाव उनमें आ गया है, वही अहंकार-सा जान पड़ता है। पास जाकर देखें तो माथे की उठी हुई लाइनों के पीछे सरलता भरी पड़ी है। इतनी सरलता कि अचरज होता है। पर अपनी सरलता के प्रति जैनेन्द्र जागरूक है। इस कारण उसमें पूर्ण निरभिमानता नहीं आ पाई है। यानी जैनेन्द्र की सरलता सँवारी हुई है, अटपटी नहीं। खद्दरधारी यह व्यक्ति संयम और तप की परीक्षा में जान-बूझकर आ बैठा है और अभी तक पास नहीं हो पाया है। पर पास होने के लिए वह जी-जान से प्रयत्नशील है।

वह रहन-सहन की सादगी के प्रति भी मौन नहीं है; बल्कि क्षण-क्षण में उसे जताते रहते हैं (वाणी से नहीं व्यवहार से)। बहुत व्यक्तियों के बीच में अपनी इकाई को वे खो नहीं देते बल्कि अपने एकाकीपन को अलग झलका देते हैं; पर 'आपको यह शाल सजता है, एक खरीद लो न।' इन शब्दों में सादगी अभी सर्वतोमुखी नहीं हो पाई है।

जैनेन्द्र का Mood दार्शनिक है। इसी से उनके स्वभाव में भावना से अधिक बुद्धि का दखल है। दार्शनिक बुद्धिवाद ने उन्हें बिल्कुल अकर्मण्य बना दिया है। सिरजनहार के प्रति इस व्यक्ति की आस्था इतनी तीव्र है कि उसने चारों ओर से जकड़ा है। यह आस्था कड़वे करेले पर नीम चढ़े का काम करती है; परन्तु यह अवस्था जीवन के प्रति उनके मोह को कम करती है और विश्व में दिन-प्रतिदिन जागरूक मृगतृष्णा से उन्हें दूर रखती है। इसी कारण उन्हें कभी-कभी साधु हो जाने के दौरे पड़ा करते हैं। और यही स्वभाव उन्हें परिजनों की समष्टि में घुल-मिल जाने नहीं देता।

ईश्वर के प्रति आस्था होने के कारण इनके बुद्धि-प्रधान स्वभाव में श्रद्धा का पूरा-पूरा समावेश है। और भवितव्यता के पूर्ण भक्त होने के कारण ये अभी साधु नहीं हो पाये हैं। यह जैनेन्द्र के विरोधी जीवन-आदर्श और व्यवहार का विश्लेषण है और संघर्ष का मूल बीज है। और इसी कारण वे परिवार के सभी नाते-रिश्ते कायम किये हुए हैं।

इस व्यक्ति में अद्भुत विरोधी भावनाओं का मेल है। यह मानते हुए कि जो कुछ हो रहा है ईश्वर करता है, वह इस होनेवाले हरएक काम का विश्लेषण करना चाहता है। ताकि जानकर उसे अपने दार्शदिक Mood में Fit कर ले। यह व्यक्ति In making है; पर बहुत कम लोग जानते हैं कि यह बनना क्या चाहता है। टालस्टाय के समान यह संघर्ष इन्हें ऊपर उठाये लिये जा रहा है। इस व्यक्ति को जो कुछ करना है, उस करने में भवितव्य और कर्त्तव्य दोनो का मेल वह मानता है। इसी कारण वे उलझते हैं और अँधेरे में टकराते हैं। तब इनके अन्दर एक गोल गाँठ पैदा होती है। वे उसे खोलना चाहते हैं। यहीं वे कलाकार हैं और यहीं वे 'अहम्' में रत मानव। यह उनका अन्दर मानव भाव के भीतर का प्रतिबिम्ब है। परन्तु बहुत ही कम लोग अपने अन्दर की इस अवस्था को पहचानते हैं। इस अवस्था को पहचानकर जैनेन्द्र बहुत ऊपर उठे हैं; पर अभी दिल में भय मौजूद है; वह भय जो आनन्द के लिए घूमते हुए गोल चक्कर में बैठकर ऊपर उठते हुए आदमी के हृदय में पैदा होता है।

दार्शनिक होकर भी जैनेन्द्र में दार्शनिक की-सी अपने प्रति Complete उदासीनता नहीं है। वह सदा अपने विषय में सुनने को सजग है। प्रोत्साहन अन्दर से मिलता है, यह मानकर भी वह बाहर के प्रोत्साहन की अपेक्षा ही नहीं करता, वरन् उत्सुक स्वागत करता है। अपने ऊपर दिये गये दोषारोपण को वह हँसकर सुनता है, क्योंकि छाती के भीतर कहीं पीड़ा होती है और उसे वह प्रकट करना नहीं चाहता। अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को वह खूब प्रोत्साहित करता है।

आत्मश्लाघा से यह व्यक्ति अछूता नहीं है—'अरे! यूँ ही लिख दिया था; पर उन्होंने छाप दिया।' यानी छपने योग्य तो था नहीं। ऐसे-ऐसे भाव उनके अन्तर को अनजाने में ही बाहर खींच लाते हैं।

यह व्यक्ति उस मानव की बहुत कुछ सच्ची मनोवैज्ञानिक स्थिति का प्रतीक है, जो ऊपर उठना चाहता है; लेकिन स्वभाव की जटिलता पर विजय नहीं पा रहा है। वह स्वयं मनोवैज्ञानिक है। सच तो यह है कि उसकी सबके प्रति जागरूकता और दार्शनिकता ने उन्हें एक अद्भुत मनोवैज्ञानिक बना दिया है। गहरे से गहरा पैठने की उनमें शक्ति है। गान्धी के आत्म-मन्थन और अहिंसा की छाप भी उन पर बहुत है। इसी कारण जैनेन्द्र की किसी के लिए दी गई राय कड़वी होकर भी सौहार्द्र से खाली नहीं है। इस व्यक्ति की नियत खराब कभी नहीं है। जैनेन्द्र व्यक्ति को खराब कहते भी नहीं; उसके गुण और दोष ही उन्हें अच्छे-बुरे लगते हैं।

यह व्यक्ति गान्धी-नीति का समर्थक है और अपनी कमजोरियों को जानता है। अपने चारो ओर जो लोग इकट्ठे हुए हैं; उन पर उन कमजोरियों को प्रकट भी कर देता है और कभी अपनी असमर्थता के ऊपर उठकर कोई काम अपने सिर नहीं लेना चाहता। इस चेष्टा में भी ऊपर उठने की आकांक्षा है; पर वह कभी-कभी अपने विनयी Obliging स्वभाव के कारण यहाँ बुरी तरह फेल हो जाता है।

कटुता जैनेन्द्र के स्वभाव में नहीं है। अपने पथ पर दृढ़ होकर वे सबके प्रति विनयी हैं। फिर भी उनके कारण कई लोगों को कष्ट होता है। विनयी होने के कारण वह किसी को भी बहुत आशा दे देते हैं; परन्तु आगे जब उन्हें अपने पथ से तनिक भी अलग होना पड़ता है तो झिझकते हैं। दार्शनिक अकर्मण्यता भी बाधक होती है। ऐसी व्यवस्था में उनके सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति की राय कुछ कड़वी है।

जैनेन्द्र व्यवहार में खोखले हैं। उनकी दार्शनिक अकर्मण्यता और भवितव्यता उन्हें चारो ओर से बाँधे हैं। घर से बाहर निकलकर बाजार में वे उलझन में फँस जाते हैं और शंका पैदा हो जाती है। शंका पापाचारिणी होती है और मनुष्य को बहुत नीचे गिरा देती है; पर सौभाग्य से जैनेन्द्र बहुत कम बाहर निकलते हैं।

(२)

जैनेन्द्र के व्यक्तित्व में जो अद्भुत संघर्ष और तप है, उसने उन्हें साहित्य में बहुत ऊपर उठाया है। हिन्दी के वर्तमान धरातल पर उनका स्थान नहीं है, वह बहुत ऊपर है। व्यक्ति जब सब इन्द्रियों को सिकोड़कर मस्तिष्क में केंद्रित करके चलता है तब वह दार्शनिक बनता है। वहाँ वह केवल सोचता है। इसी कारण जैनेन्द्र की साहित्यिक प्रतिभा में एक अजीव दार्शनिक की-सी उलझन है। कभी-कभी वह इतनी जटिल हो उठती है कि पाठक उसको भेद नहीं पाता। 'कहीं पार नहीं, कहीं किनारा नहीं। आँख के ठहरने का कोई सहारा नहीं।' लेकिन यह जटिलता जैनेन्द्र की अपनी कलम में नहीं है, यह तो इसी दुनिया की गड़बड़ है। 'सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत। समाज ग़लत। जीवन ही हमारा ग़लत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग।' पाठक की आँखें कभी इसे देखती नहीं। साधारण पाठक के जीवन में संघर्ष ही कहाँ है जो वह साहित्यिक जैनेन्द्र को पाये। जो जीवन में है, वही साहित्य में है। तभी जनता को पहचानकर भी जैनेन्द्र जनता से बहुत दूर हैं। पाठक उनमें श्रद्धा नहीं रखता; बल्कि रहस्य-भरी दृष्टि से एक बड़े प्रश्नवाचक चिन्ह '?' के रूप में देखता है।

समाज में जैनेन्द्र की जो इकाई है, वह साहित्य में भी बिखर पड़ी है। उसके शब्द, वाक्य, भाव और शैली सब अपने अनोखे हैं। उनके पीछे उनका अपना 'अहम्' डटा खड़ा है। जैनेन्द्र के स्वभाव में साहित्यिकता कूट-कूटकर भरी है और उसके भीतर लिखने के लिए खजाना भरा पड़ा है; पर वह निरा अकर्मण्य है। निठल्ला पड़ा रहना उन्हें बहुत सोहता है। तभी उन्होंने शक्ति के अनुपात से बहुत कम लिखा है।

जैनेन्द्र की बुद्धि नया सृजन करनेवाली है। संग्रह और अनुवाद इनके स्वभाव के अनुरूप नहीं है। अध्ययन की शक्ति भी जैनेन्द्र में नहीं है। मस्तिष्क में जो मौलिकता है, वह उन्हें कहीं भी भटकने नहीं देती। वे निर्विवाद रूप से एक मौलिक कलाकार हैं।

जैनेन्द्र कला को कला के लिए या कला को स्वप्न नहीं मानते; बल्कि उनके लिए कला जीवन की वस्तु है और वास्तविक है। इसी कारण ये साहित्य में सदा जीवन के गूढ़ अङ्गों को फिट करने का उद्योग करते रहते हैं। उन गूढ़ अंगों में बहुत-से काले हैं इतने कि भयङ्कर! इनको देखकर पाठक, समझदार पाठक—बिदक उठता है। पर यह भी क्या जैनेन्द्र का दोष है? वे तो इस अद्भुत ताने-बाने को सुलझाना चाहते हैं, लेकिन पाठक की दृष्टि में उलझते रहते हैं। वास्तव में उनकी भाषा के पीछे जो 'अहम्' है उसे चीरकर कोई-कोई ही उसके भीतर पैठता है, हर एक

नहीं। जो भीतर पैठता है, वही शान्ति पाता है। दूसरे लोग तो अशान्ति मोल लेकर उन्हें कोसते हैं।

जैनेन्द्र में श्रद्धा और तर्क दोनो हैं ; इसी कारण उनके वर्णन में तार्किक का क्रम नहीं है ; उलझन है। कहानी कहना इस व्यक्ति का उद्देश्य नहीं है, वह तो साधन-मात्र है ! मूल में तो यह व्यक्ति मानव-जीवन की गुत्थियों को ही सुलझाना चाहता है।

× × ×

जैनेन्द्र की व्यवहारिक अकर्मण्यता के पीछे विचारों का नित नया सृजन है। समाज के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के कारण जवानी में बूढ़ों की-सी क्रियाशीलता है। शब्दों के बेजोड़ से लगनेवाले ताने-बाने के पीछे स्पष्ट और सरल विचार है। वह अपने मस्तिष्क में दुनिया को खूब जानता है ; पर दुनिया उसे नहीं जानती।

उसके विचार कई के दिलों को छेद देते हैं। कई उन विचारों को सन्देह-भरी दृष्टि से भूलभुलैया की तरह देखते हैं। उन विचारों में वह आग है जिसपर अभी राख पड़ी है और जिस पर पैर पड़ते ही मन्द दृष्टि पाठक चीख उठता है। उस चीख में आग अपना मूल्य खो बैठती है और जैनेन्द्र उस पाठक की श्रद्धा पाने से वञ्चित रह जाते हैं।

हिन्दी के लिए वे देन हैं ; पर हिन्दी उस देन के लिए कृतज्ञ नहीं है। जैनेन्द्र जानकर भी भूल गये हैं कि वे देन हैं। यह भूल कैसी भी हो ; पर इसमें उनके बड़प्पन की झाँकी हमें मिलती है।

एक साधारण मानव, देवता से कम ; पशु के ऊपर। दिल आशा और आकांक्षाओं से पूर्ण ; पर ये सब आशाएँ और अकांक्षाएँ दुनिया में मुँह मोड़कर ऊपर को उठानेवाली। यही कारण है कि जैनेन्द्र साधारणता से अलग हैं। वे चाहते हैं कि मेरी कलम का जोर वाणी में प्रकट हो और दुनिया मुझे माने। यह उनकी महत्त्वाकांक्षा है। इसे पाकर सन्त साहित्य का सृजन वह कर सकते हैं ; परन्तु अपने 'अहम्' को उन्होंने अभी छोड़ा नहीं है। वह महत्त्वाकांक्षा अभी अपूर्ण ही है।

अद्भुत मानव, सीधा मानव। कीन्हीं की दृष्टि में आचार का पोषक ; एक महान कलाकार ! किन्हीं के लिए अनाचार का प्रचारक ; कला का विदूषक ! पर स्वयं एक साधारण आदमी, हृदय में ऊँचा उठने की तीव्र कामना। देव और दानव के संघर्ष की स्थिति से प्रकट हुआ एक मौलिक कलाकार।

हिसार।

महामहोपाध्याय स्वामिनाथ अय्यर

[के० स्वामिनाथन्]

[मूल तमिल से अनुवादक, का० श्री० श्रीनिवासाचार्य]

प्रोफेसर के० स्वामिनाथन् एम० ए० बी० एल० प्रेसिडेन्सी कालेज, मद्रास में अंग्रेज़ी के प्रोफेसर हैं और ता म... के एक विख्यात आलोचक हैं। —सं०]

जब मैं प्रेसिडेन्सी कालेज में दाखिल हुआ, तब अय्यर ही हमारे तमिल पंडित थे। इनके गंभीर अध्ययन और तमिल-साहित्य के लिए इनके किये हुए 'राक्षसी' कार्यों के बारे में 'फ़र्स्ट इयर' का विद्यार्थी क्या जाने ?

गर्दन को ढकनेवाली अचकन, दीवार को देखने के बदले दरवाजे को देखनेवाली (कुछ कुम्हलाई हुई) पगड़ी और स्वाभाविकता से अंग्रेजी न बोल सकना—इतनी बातें एक ही शख्स में मिली हुई हों, तो वह इज़्ज़त पाये तो कैसे ?

यह तो ख़ैर, जाने दीजिये। यह आदमी तमिल भी ठीक-ठीक जानता है या नहीं, इस बारे में भी हमें संदेह हुआ। उस समय के पहले तक जिन-जिन तमिल पंडितों से हमारा वास्ता पड़ा था, वे सब-के-सब एक तरह की गंभीर, अर्थहीन तमिल में बात-चीत किया करते थे और उन लोगों ने ओट्टक्कूत्तर, कालमेघम् आदि कवियों की दाँत तोड़नेवाली कविताएँ, दोनो ओठों को मिलने न देनेवाली कविताएँ, श्लेषों से भरपूर कविताएँ सुनाकर हमें चकित कर दिया करते थे। तमिल वर्ग में बिजली की उस गड़गड़ाहट को सुनकर कुछ थोड़े-से विद्यार्थी ही सही, भयभक्ति दिखाते थे। (यह सब पुरानी बात है। सुना है कि अब तमिल के पंडित भी मामूली तमिल बोलने लगे हैं।)

लेकिन ये बूढ़े महाशय तो (तभी ये बूढ़े हो चले थे) धीरे-धीरे बिलकुल सरल और मधुर शैली में इस प्रकार बोलते थे कि इनकी बातें सबकी समझ में आ जाती थीं। ये सब-खड़ानेवाली कविताओं को हम पर फेंककर हमें सताकर डराने में अशक्त-से थे। वाक़ई अगर ये शेन्तमिल जानते हैं तो ऐसे 'भोले' क्यों बने फिरते हैं ? ऐसी आमफ़हम बोली क्यों बोलते हैं ? अय्यरजी ने साधारण भाषा-शैली के उस रहस्य को तभी जान लिया था और अपने विद्यार्थियों के सामने प्रकट कर दिया था, जो आज 'कल्की' की लेखनी के चमत्कार से तमिल-संसार-भर में

फैला हुआ है। लेकिन, उस रहस्य की अपूर्वता को परखकर, सराहते हुए उसका रसानुभव करने का समय तब नहीं आया था ; हमारे लिए भी, और दुनिया के लिए भी, ठीक समय तब नहीं आया था।

उस साल, जुलाई महीने के दूसरे हफ़्ते में बुधवार को सवेरे १०-३० बजे शंकोडैयन् और मैंने मिलकर जो प्रस्ताव पास किया था, उसका सारांश यही था—'ये बिलकुल निकम्मे हैं।' (एस० एस० एल० सी० में हम दोनो को अंग्रेज़ी में अच्छे अंक मिले थे, जिससे हमारी आपस की आत्म-मर्यादा और गुरुता बढ़ गई थी।)

लेकिन, हमें बहुत ही शीघ्र इस निर्णय को बदल देना पड़ा। पहले, जब हमने देखा कि हण्टर साहब इनका बड़ा आदर कर रहे हैं, तब हमें यह विश्वास हुआ कि इनमें कुछ सार है। और भी, हमने देखा कि तमिल पंडितों से जिन गुणों की आशा की जा सकती थी, वे गुण यद्यपि इनमें नहीं थे, तो भी अंग्रेज़ी या इतिहास के प्रोफ़ेसरों में भी न मिलनेवाली चतुराई, दिल्लगीबाजी और दुनिया की जानकारी इनमें पाई जाती थी। हरएक विद्यार्थी से उसके नाम, गाँव और कुटुम्ब के विवरण को सुन लेने पर, ये उसके बाप, ताऊ, चाचा, दादा आदि के बारे में, इतिहास या काव्यों में उसके गाँव का क्या स्थान है, इसके बारे में और ऐसे ही बहुत-से विषयों के बारे में रसीली बातों की गाँठ खोल देते थे। दीवान शेषय्या शास्त्री से लेकर, 'मांगुडी' से चार मील फ़ासले पर के 'शुरैक्कायूर' गाँव के मुन्सिफ़ मुत्तुस्वामी पिल्ले तक, हमारे कहे हुए सभी व्यक्ति इनके अभिन्न मित्र थे। आपने यह भी बेशक साबित कर दिया कि तमिल प्रान्त-भर में ऐसा कोई गाँव, मीरासदार या अफ़सर नहीं है और न हुआ होगा, जिसको आप नहीं जानते हों। अक्लमंद विद्यार्थी उसी दिन से इनके वर्ग में शिष्टता का पालन करने लगे। कपूर की महक को न जाननेवाला कोई विद्यार्थी जब अपनी 'पूँछ हिलाने' लगता, तब ये ऐसे गूढ़ ढंग से उसकी दुम दबा देते कि, एक-दो शब्दों के कहने पर ही, वह बेचारा रोने लगता। मुझे याद है, मेरे एक मित्र से इन्होंने कहा था—'तुम्हारा भाई वर्ग में बहुत नम्र रहा करता था, लेकिन वह पढ़नेवाला था।' इन्होंनें ऐसी बहुत-सी कहानियाँ सुनाकर, जिनके नायक प० संबन्ध मुदलियार* हुआ करते थे, हममें से बहुतों को अपने वश में कर लिया था। (मुझे मालूम नहीं, वे सब कहानियाँ सच थीं या गप्पें !) सभी पुराने विद्यार्थियों पर ये बहुत प्रेम करते हैं ; फिर भी, जहाँ तक मैं जानता हूँ, ई० वै० अनन्तरामय्यार और रावबहादुर प० संबन्ध मुदलियार से इनका विशेष अपनापन है।

× × ×

अय्यरजी के द्वारा प्रकाशित तमिल ग्रन्थों की संख्या, साहित्यिक महत्ता और उनमें भरी हुई ऐतिहासिक सच्चाइयों पर ध्यान देते हुए, हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तमिल की इस अकेले व्यक्ति ने जितनी सेवा की है, उतनी किसी ने किसी भी भाषा के लिए किसी भी काम में नहीं की है। कहते हैं कि कांस्टांटिनोपल (Constantinople) से बचकर भागे हुए ग्रीक शास्त्री लोग जो कागज़ात इटली को लाये थे, उन्हीं के कारण यूरोप का पुनर्जन्म हुआ था। भारती को कविता रचने में और सारे तमिलों को जीवन में प्राण देकर प्रोत्साहित करनेवाले और तमिल प्रान्त के पुनर्जन्म के पिता ये ही हैं। कई विद्वानों ने, कई विद्या-परिषदों ने और कई राज-

* ये तमिल के प्रसिद्ध आधुनिक नाटककार हैं।

वंशों ने एक साथ मिलकर एक सौ वर्षों में, यूरोप में जिस बड़े भारी काम को चलाया था, उसी भारी काम को ये अकेले पूरा कर सके हैं।

इनकी सेवा के परिमाण को बताने के लिए हम एक उपमान दे सकते हैं। मान लीजिये कि ई० सन् १८०७ में 'बियोवुल्फ़' (Beowulf) नामका काव्य और चांसर, स्पेन्सर तथा शेक्सपियर (Chancer, Spencer, Shakespeare) के ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं और ताड़ पत्रों में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं ; मिल्टन, जानसन आदि उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के उल्लेखों और कुछ वाक्यों के उद्धरणों से ही उन पूर्व कवियों के नाम और ग्रन्थ कुछ लोगों के कानों में पड़ते हैं ; और गत साठ वर्षों में कोई अंग्रेज़ी विद्वान् अकेले ही, शास्त्रीय रीति से उन पुराने ग्रन्थों का संशोधन कर, उन्हें प्रकाशित करके अंग्रेज़ों को देते हैं। पाश्चात्य लोगों में तो कई शताब्दियों तक की ऐसी लापरवाही हो ही नहीं सकती। और न किसी दूसरे विद्वान् में ही इस तरह का पांडित्य, लगन, उत्साह, अविरल प्रयत्न, कुशाग्र बुद्धि और व्यावहारिक ज्ञान—ये सब-के-सब इकट्ठे पाये जा सकते हैं। (लेकिन, यह एक उपमान ही तो है ?) अगर कोई विद्वान् इतना काम करता, तो पश्चिम देशवाले उसका क्या कुछ प्रतिदान नहीं करते ?

क्या करते, इसका हम अनुमान क्यों करें ? एक हज़ार साल पहले सारे यूरोप में विश्वविद्यालयों की जो स्थापना हुई थी, उसका क्या कारण था ? किनके नेतृत्व में उनकी स्थापना हुई थी ? आक्सफ़ोर्ड, कैंब्रिज और पैरिस के विश्वविद्यालय, इन्हीं के—जैसे 'महा-महा-उपाध्यायों' के बल-बूते पर ही तो ज़िंदगी बसर करने लगे थे ?

मद्रास।

काका कालेलकर

[वामन चोरघडे]

अभी-अभी की बात है। अपने एक मित्र के साथ मैं 'हरिजन बोर्डिंग हाउस' की ओर से—जहाँ काका साहब रहते हैं—जा रहा था। दिल में आया जरा काका साहब को देख लूँ, कुछ बातें उनसे कर लूँ और शीघ्र ही वापस लौट आऊँ। मैंने अपने प्रिय मित्र से कहा—भाई, ज़रा थोड़ी देर इस पुल पर बैठ जाओ, मैं अभी आता हूँ, केवल दो-चार मिनटों में।

विचारा साथी आश्वस्त होकर बैठ गया। काका साहब किसी से बात-चीत कर रहे थे। वह उनका सदा का मानो उद्यम ही बन बैठा है। कोई एक बड़े माननीय महाशय दिखाई देते थे जिनसे बातें चल रही थीं। कुछ विषय निकल चुका था और उसमें काफ़ी बहस चल रही थी।

मेरे पहुँचते ही काका की निगाह मुझ पर पड़ गई। 'आओ, बैठो—।' बस, यही आवाज़! यही स्वागत जो हमेशा मुझे मिलता था, और मिलता है। लेकिन वह आवाज़, वह लगन, कितनी मोहक, कितनी सुन्दर, कितनी रसीली! उसके लिए साहित्य में उपमा नहीं। हाँ, दृष्टान्त ज़रूर हैं। यही दृष्टान्त दिया जा सकता है जैसे गो-माता अपने बच्चे को एक मूक पुकार देती है और बच्चा दौड़कर चला जाता है।

परंतु फिर भी एक बात है। काका न तो गो-माता हैं और न मैं गो-शिशु! काका साहब का नाम है श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर और मेरा नाम है वामन!

हाँ, अब याद आया! मेरे मित्र बाहर उस पुल पर बैठे रहे और मैं चला गया अन्दर। मैं बैठ गया, और बैठा रहा—बैठा ही रहा। बाहर का साथी बेचारा त्रस्त होकर चला गया। मैं उसका ख़याल तक भूल गया!

कैसा जादू था, कौन-सा वशीकरण था उस सफेद बालवाले चेहरे पर; झुर्रियोंदार उस आदमी में कौन-सी पुकार थी जो हमें इतनी खींचती है?—हाँ, एक मंत्र था, एक मोह था, एक लगन थी, वही पुरानी आदत जो चलती आई है, चलती है और आख़िर तक चलेगी, वही शब्द—'आओ, बैठो'—!! यही उनका वैशिष्ट्य है। उनकी सरलता, उनका जीवन—विशेष यही है।

× × ×

काका दाल-रोटी नहीं खाते। गाँधीजी के प्रिय होकर भी सिर्फ कटिवस्त्र पहनकर आश्रमवासी नहीं बनते। उनमें संयम है। लेकिन परुषता—जो बहुतों में दिखाई देती है—बिलकुल नहीं। उनमें तपस्या है, लेकिन दंडन तनिक भी नहीं। और यही बातें होने की वजह से उन्हें लोग न तो स्वामीजी कहते हैं, न तो तपस्वी। कहते हैं—काका!

जिनका रहन-सहन, आचार-विचार बिलकुल सीधे-सादे होते हैं, उनमें कभी-कभी एक आडंबर दिखाई देता है जिसका काका में अभाव है। काका तो सौंदर्य के, कला के पूजक हैं। निःस्वार्थ सेवक हैं। संतरे खाते हैं, लेकिन उसको चक्कू से काटते समय उस संतरे के छिलके के तरह-तरह के फूल बना लेते हैं, कभी सुन्दर-सुन्दर कटोरियाँ, तैयार करते हैं और पास में जो बैठा हो उसे दे देते हैं। कोई आकर उन्हें फूल दे दे। बस, कितना ही ज़रूरी काम हाथ में क्यों न हो, उसको एक ओर रख देंगे और फूल की ओर ऐसे ताकते रहेंगे मानो ऐसी चीज़ दुनिया में अभी इसी वक्त पैदा हो गई है। आँखों में इतना गर्व चमक उठेगा कि मानो यह सुन्दर वस्तु उन्होंने ही सिर्फ देखी है।

यह दृश्य मैं जब-जब देखता हूँ, उस समय एक ख़याल मेरे दिल में आ जाता है। बहुत लोग काका को एक श्रेष्ठ विभूति मानते हैं। उन्हें व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रण देते हैं, जो उनका पेशा नहीं। कहीं एक खूब बड़ा सभा-मंडप हो। श्रोतागण की भीड़ लगी हो। लोग एकाग्रता से काका साहब का व्याख्यान सुन रहे हों, उसमें रस आ रहा हो। और इतने में एक छोटी-सी बालिका वहाँ आकर उन्हें सुन्दर फूलों की एक भेंट दे दे। क्या होगा? जी, कुछ नहीं। सिर्फ लोग कहेंगे—'दिखाई देता है विद्वान, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, लेकिन लगता है......!' इतना कहेंगे और चुप हो जायँगे। इतने सम्माननीय महाशय को 'बच्चा' कहने का धीरज किसमें होगा भाई!

× × ×

मैं अपने मन को कितना भी समझाता हूँ कि काका साहब के बारे में कुछ दूसरी बातें लिखनी चाहियें। यह कहना चाहिये कि वे गुजराती के श्रेष्ठ साहित्यिक हैं। काफ़ी संस्थाएँ उन्होंने चलाई हैं। बीस-पचीस बड़ी-बड़ी किताबें लिखी हैं। खादी का इस्तेमाल करते हैं। मौन धारण कर सूत निकालते हैं। दिन-भर काम में व्यस्त रहते हैं। सवेरे चार बजे उठ जाते हैं। ये बातें क्यों मेरे ध्यान में नहीं आती हैं? मुझे वही घटना क्यों याद आती है—जब काका बहुत बीमार थे और डाक्टर उन्हें 'इन्ट्राव्हीनस इंजेक्शन्स' दे रहे थे। काका देख रहे थे। नस में इन्जेक्शन की सुई जानेपर कुछ खून बाहर आया। काका ने एकदम से कहा—भाई, वह पोछ लो कपड़े से, बड़ा inartistic दिखाई देता है!—हम लोग अचरज में पड़ गये। यह कौन-सी जाति का आदमी है जो मरने की हालत में भी artistic और inartistic सोचता है। यह तो साहित्यिक नहीं है। नहीं तो डर जाता। दुःख होनेपर जोर से चिल्लाता।

आप उनके साथ कहीं गाँव चले जायँ। ट्रेन में कोई सुन्दर दृश्य उन्हें दिख पड़ा कि सचमुच दौड़ेंगे। खिड़की की ओर। आपको भी घसीटकर ले जायँगे। मानो चार साल के बच्चे को गेंद मिल गया हो। यही प्रवृत्ति है जो उन्हें 'देवों का काव्य' लिखने के लिए पुकारती है।

अगर मैं एक अधिकारी व्यक्ति होता तो इन सब प्रवृत्तियों का वर्णन थोड़े शब्दों में कर जाता। लिखता—'काका साहब में बालक की तरह कुतूहल-वृत्ति है। नवजवान की तरह वेग

है और बुद्ध की तरह संयम है। वे सौंदर्य के उपासक हैं। शिष्यों के प्रिय गुरु हैं।'—लेकिन यह सब लिखने का अधिकार लाऊँ कहाँ से? कुछ मनौती करने पर परमात्मा यह अधिकार थोड़े ही दे देगा।

× × ×

लोग कहते हैं काका साहब शिक्षा-शास्त्री, शास्त्रवेत्ता और साहित्यिक हैं। शिक्षा-शास्त्री हो सकते हैं क्योंकि वे मनुष्य हैं। मनुष्य की सब प्रवृत्तियाँ—नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ—उनमें मौजूद हैं। लेकिन अगर आप कहें कि वे साहित्यिक हैं तो मैं आपसे होड़ लगाने के लिए तैयार हो जाऊँगा चाहे जितने रुपए आपको दूँ अगर आप सिद्ध करें कि वे साहित्यिक हैं! क्या इतनी अहम्मन्यता उनमें है कि आप उन्हें साहित्यिक कह सकें? क्या इतना आडम्बर व प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति उनमें है कि आप उन्हें साहित्य-सेवक कहने के लिए प्रस्तुत हो जायँ? नहीं, नहीं। यह बात बिल्कुल गलत है। उन्होंने बहुत किताबें लिखी हैं, यह आपकी दलील होगी। जी नहीं। उनसे लिखवाई गईं। एक शब्द भी उन्होंने स्वयं नहीं लिखा। लोगों ने लिख लिया यह क्या उनका क़सूर है कि आप उन्हें साहित्यिक कहने पर तुले हुए हैं?

कमल में सुगन्ध होती है, इसका कमल को पता भी नहीं रहता—अगर पता होता तो वह सुगन्ध शीघ्र ही नष्ट हो जाती। दूध इतना मधुर, जीवनप्रद और रोचक होता है। यह क्या गो-माता जान सकती है? अगर जानती तो वह अमृत नष्ट हो जाता। अग्नि जब अभिमान करती है और मानती है कि मैं दाहक हूँ, मुझे किसी की परवाह नहीं है—मैं लकड़ी के साथ नहीं रहूँगी, तो मेरा क्या बिगड़ेगा, तो वह दाहकता—वह तेज नष्ट हो जाता है और उसकी जगह राख और कोयला दिखाई देता है। साहित्यिक भी अहंकार से ऐसे हो जाते हैं।

आप काका साहब को साहित्यिक न कहें। वे सोचकर नहीं लिखते। जो लिखते हैं, वह अपने आप उनमें से जन्म ग्रहण करता है। उसके लिए कारण है। आत्महित केवल परहित से होता है ऐसा जो वह मानते हैं। धन सबका सब देने से ही बढ़ता है, यह उनकी धारणा है। शरीर दूसरों के लिए, आहत दुखियों के लिए ही है यह उनका विश्वास है। इसलिए वह चाहे जो बोलें, वह सुभाषित होता है; और चाहे जो लिखें, वह साहित्य हो जाता है।

आप से फिर एक बार प्रार्थना करता हूँ। काका साहब का नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है। वे मनुष्य की तरह रहते हैं। चंदन की तरह उनकी वृत्ति है। कमल की भाँति वे हँसते हैं और मधुमक्षिका की उद्योगपरता उनमें अधिष्ठित है।

आप उनके पास जाइये। बिलकुल देखते ही वे लगन से कहेंगे—'आओ, बैठो।'—आप बैठ जाइये। और भ्रमर बनकर उस फूले हुए, खिले हुए कमल का आमोद लूट लीजिये।

अन्त में एक बात कहना ज़रूरी है। वह बात मेरे इतना लिखने से ही आपको मालूम हो सकती है। नहीं तो मैं लिख देता हूँ कि उनकी उम्र ५३ साल की है।

वर्धा।

शैलजानन्द मुखोपाध्याय

[नन्दगोपाल सेनगुप्त]

[मूल बँगला से अनुवादक, रामचन्द्र वर्मा]

श्री शरत्चन्द्र के बाद कथा-साहित्य में शैलजानन्द मुखोपाध्याय सबसे अधिक जन-प्रिय हैं और शक्तिमत्ता के विचार से भी उनका नाम सबसे पहले उल्लेख के योग्य है। इनका जन्म एक दरिद्र परिवार में हुआ था, इसलिए इन्हें बहुत दिनों तक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला था। आरम्भिक अवस्था में इन्हें कोयले की खान में नौकरी करनी पड़ती थी। इसके बाद एक व्यापारिक आफ़िस में भी इन्होंने कुछ दिनों तक काम किया था। किशोरावस्था से ही ये कहानियाँ रचने में बहुत दक्ष थे। इसके सिवा प्रत्यक्ष जीवन में भी इनका संग-साथ छोटे-बड़े सभी तरह के लोगों के साथ होता रहता था और सबसे मिलने-जुलने का इन्हें अवसर मिलता था। इस प्रकार इन्हें जो अभिज्ञता प्राप्त हुई है, उससे ये कहानियों का उपादान संग्रह करते हैं। जीविका उपार्जन करने के लिए इन्हें मानभूम और सिंहभूम आदि में भी बहुत दिनों तक रहना पड़ा था। वहीं इनका मेल-जोल सन्थाल आदि कई जंगली जातियों से भी हुआ था। और उन लोगों के जीवन का सुख और दुःख ही वह साधन था, जिसने इन्हें सबसे पहले कहानियाँ लिखने के लिए प्रवृत्त किया था। इनकी कहानियों की प्रसिद्ध पुस्तक 'कयलार कुठि' इसी जीवन के आधार पर लिखी गई है।

अनेक लेखक ऐसे होते हैं जो पहले अपने आविर्भाव के समय तो अपनी अधिक शक्ति का परिचय नहीं दे सकते, लेकिन ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं, त्यों-त्यों उनकी शक्ति पूर्णता प्राप्त करती जाती है। लेकिन कहानियों में शैलजानन्द और कविता में काजी नजरुल इस्लाम आरम्भ से ही अपनी पूर्ण शक्ति लेकर आविर्भूत हुए थे। अपने प्रथम प्रकाश के समय ही ये दोनो अपने देश-वासियों की श्रद्धा आकृष्ट करने में समर्थ हुए थे।

इसी समय बँगला-साहित्य में सहसा रवीन्द्र और शरत् से वेष्टित साहित्य के विरुद्ध एक आन्दोलन आरम्भ हुआ था। 'कल्लोल' और 'काली कलम' आदि पत्रिकाओं में इस नवीन आन्दोलन की अधिकांश बातें प्रमुख रूप से प्रकाशित हुआ करती थीं। शैलजानन्द इन दोनो पत्रिकाओं में प्रधान लेखक के रूप में दिखाई देते थे। शैलजानन्द ने एक दरिद्र परिवार में जन्म ग्रहण किया था।

दरिद्रता का स्वाद वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि दरिद्रता मनुष्य को किस प्रकार मनुष्य-धर्म से च्युत करती है, किस प्रकार उसकी आत्मिक तथा नैतिक शुचिता नष्ट करती है और किस प्रकार उसे पशुत्व की ओर ले जाती है। इन बातों का इन्होंने बहुत ही अच्छा चित्र अपने साहित्य में अंकित किया है। शैलजानन्द की कहानियों में व्यभिचार, बलात्कार, आत्महत्या, खून, चोरी, जालसाजी आदि बातों की इतनी अधिक प्रधानता होती है कि उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है कि मानो उन्हें स्वाभाविक जीवन की अपेक्षा अस्वाभाविक जीवन ही अधिक आकर्षित करता है। वस्तुतः इस विषय में फ्रान्सीसी लेखक मोपासाँ के साथ उनकी विशेष समानता दिखलाई देती है। इसीलिए जो पाठक रवीन्द्रनाथ के साहित्य में शुचि और शुद्ध भाव के रस का आस्वादन करने के अभ्यस्त होते हैं, वे शैलजानन्द की कहानियों में अनीति और अनाचार का ही आधिपत्य देखते हैं। किन्तु जीवन में जो बात सत्य है, यदि उसे साहित्य में भी सत्य के ही रूप में प्रस्तुत किया जाय तो उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि वह 'सु' है या 'कु' है। शक्तिमान शिल्प-नीति की दृष्टि से शैलजानन्द के साहित्य की मर्यादा निश्चित करना ठीक नहीं हो सकता।

शैलजानन्द की लिखी हुई 'महायुद्धेर इतिहास', 'नारी-मेघ' 'वधु-वरण', आदि पुस्तकें देखने से यह पता चल सकता है कि हमारा यह कथन सत्य है या नहीं। इन पुस्तकों में मनुष्य के नैतिक अधःपतन के चित्र दिखलाये गये हैं। लेकिन उन चित्रों का जन्म हुआ कला के लिए; और लेखक ने उनका संग्रह वास्तविक जीवन से ही किया है। यहीं उनका सच्चा कृतित्व देखने में आता है।

कुछ दिनों तक शैलजानन्द 'शाहाना' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक थे। आज-कल आप न्यू थिएटर के प्रचार-विभाग में काम करते हैं। इनकी अवस्था प्रायः चालीस वर्ष है। इन्होंने दो बार विवाह भी किया है। इनकी एक पत्नी अभी तक जीवित है। शैलजानन्द के उपन्यासों और कहानियों की पुस्तकों की संख्या पचास से ऊपर है। लिखने की जितनी अजस्र शक्ति उनमें है, उतनी और लेखकों में आज-कल बहुत कम देखने में आती है।

कलकत्ता।

श्रीमती लीलावती मुन्शी

[इन्द्र वसावड़ा]

[श्रीमती लीलावती मुन्शी ने गुजराती में रेखा-चित्र लिखने में अपूर्व सफलता पाई है। यद्यपि श्रीमती मुन्शी का यह चित्र उनके अपने ही चित्रों के जैसा पैना नहीं है, तो भी उनके चरित्र को समझने का सुन्दर प्रयास है। —सं०]

श्रीमती मुन्शी से प्रथम परिचय हुआ स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की शोक-सभा में। वे सभानेत्री थीं और स्वर्गस्थ कवि को अपनी श्रद्धांजलि अर्पण कर रही थीं।

सुकुमार देहलता, मुख पर गर्व की रेखाएँ, दुबली-पतली, लीलावती बहिन पचीसेक वर्ष की प्रतीत होती हैं; यद्यपि उनकी अवस्था इस समय चालीस वर्ष की है। उनका जन्म अहमदाबाद में १८९९ में हुआ था।

इसके बाद दो-तीन बार लीलावती बहन से मुलाक़ात हुई है। उनकी रहन-सहन से, बात-चीत से, चारो ओर मानो कला का दर्शन होता है। वर्ली समुद्र के तट पर स्थित उनके 'कौस्तुभ' बँगले का ड्राइङ्ग-रूम देखिये; या समुद्र की लहरों से वार्तालाप करते उनके 'रिज हाउस' की बैठक देखिये; हर कहीं आपको उनकी कला-प्रियता का यथेष्ट परिचय मिलेगा।

और यही सुरुचिपूर्ण कला उनकी कहानियों में, लेखों में और रेखाचित्रों में आपको दिखाई देती है।

सन् १९२२ के पहले जो कुछ भी उन्होंने लिखा, वह हृदय की व्यथा को शान्त करने के लिए लिखा है; आसपास के संकुचित वातावरण से क्षुब्ध होकर उससे विद्रोह करने के लिए। हृदय-मंथन से प्रादुर्भूत उनकी तमाम कविताएँ और लेख—और अप्रकाशित लेख सामग्री उनकी प्रतिभा का परिचय देने को पर्याप्त हैं। बचपन में बीमारी के कारण उनके अध्ययन में व्यवधान पहुँचता रहा; किन्तु बाद में सिनिअर केम्ब्रिज के लिए वे पंचगनी जाकर अभ्यास करने लगीं।

सन् १९२२ या '२३ में उन्होंने 'रेखाचित्र'—लिखना शुरू किया; और ये चित्र 'गुजरात' मासिक में क्रमशः छपने लगे। इसी समय कहानियाँ भी वे लिखने लगीं और ये खूब प्रशंसित हुईं।

उनके रेखाचित्र बहुत सफल हुए हैं। शायद गुजरात में इस प्रकार के रेखाचित्र श्रीमती मुन्शी ने ही प्रथम लिखे हैं। लेखों की भाषा मँजी हुई, साफ़ और सुथरी, भाव-पूर्ण और सरल है।

श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने लिखा है :—

'यद्यपि हमारा साहित्यिक कार्य एक दूसरे के संसर्ग में हुआ है, और एक दूसरे की भाषा और जीवन के दृष्टिकोण ने एक दूसरे पर अपना प्रभाव भी डाला है, तथापि उनकी भाषा अलंकारों के क्लिष्ट आडम्बरों से बच गई है जब कि मेरी भाषा कभी-कभी अलंकारों के आडम्बर में फँस गई है। जो भी चित्र इन्होंने खींचे हैं वे हल्के रङ्गों के होने के कारण नेत्रों को भाते हैं ; उनमें चकाचौंध नहीं उत्पन्न करते।'

नैसर्गिक शोभा की वे पुजारिनी हैं और प्रकृति के प्रति इनका प्रेम 'काश्मीरनी डायरी' और 'यूरोपना पत्रों' में देखने को मिलता है। काश्मीर में विस्तृत नाग का वर्णन कितना सुन्दर है :—

'यह सोचकर कि वे देर से आयेंगे, मैं एक खेत में गई, और एक वृक्ष पर चढ़कर उसकी पर्णमय डाली पर आराम से बैठ गई। ऊपर नीलाकाश, उसमें उड़ते छोटे-छोटे चाँदी के रंग के बादलों के टुकड़े, बर्फ से ढँकी पर्वतों की अपरंपार श्रेणियाँ ; नीचे की ओर घुटनों तक घास से अच्छादित खेत, सामने की बहती सुन्दर नदी ; और वृक्ष पर बनाया हुआ यह मेरा बिस्तर—वे सब मानो मेरे मन पर आधिपत्य जमा बैठे। मैं सोचने लगी—और विचार-संगीत के साथ-साथ ही पक्षियों का गान मानों ताल देता रहा।'

ध्वनि का सौंदर्य आप अच्छी तरह से पहचान सकती हैं: —

'सिर के ऊपर, वृक्ष पर बैठा पक्षी सुन्दर गायन अलाप रहा था। फेनिल झरना एक अनुपम प्रकार का संगीत पैदा करता था। मेरे पैरों के पास से गर्गल ध्वनि करता पानी बहता चला जाता था। चारों ओर लहलहाते खेत एक अजीब स्फूर्ति पैदा करते थे। आनंदावेश के उन क्षणों में, मुझे लगा, इस सुन्दर संगीत के सुनने के सिवा—या नीचे झुके हुए दौड़ते बादलों के साहचर्य के सिवा मैं अधिक क्या अभिलाषा करूँ ?'

सत्याग्रह-आन्दोलन में जेल जाने के बाद वे राजनैतिक प्रवृत्तियों में इतनी फँसी रहती हैं कि साहित्य-सृजन का समय ही नहीं मिलता। मैंने एक बार पूछा था—

'आप आधुनिक गुजराती साहित्य के बारे में...'

'भाई,' वे बोलीं—'पिछले पाँच वर्षों से मैं साहित्योन्मुख होने के बजाय साहित्य-विमुख-सी हो गई हूँ। साहित्य-सृजन, चिंतन या पठन के लिए समय ही नहीं मिलता। अतः आधुनिक गुजराती-साहित्य के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानती।'

और ! यह सच है। गांधी-युग की राजनैतिक प्रवृत्तियों ने बहुत-से कलाकारों को छीन लिया है। पर अच्छा हुआ है या बुरा, इसका निर्णय कौन करेगा ?

लीलावती बहन ने श्रीयुत मुन्शी के बारे में लिखा है—'शायद बुद्धि की इस कठोर शिला के नीचे हृदय में स्नेह का दरिया लहराता होगा, किसी ने उसका आस्वादन भी किया होगा।' उनके बारे में भी यही कहा जा सकता है कि बाह्य प्रदर्शित गंभीरता और अहम्मन्यता के भीतर उनके हृदय में स्नेह का दरिया लहराता होगा और किसी ने उसका आस्वादन भी किया होगा। कौन जाने !

बम्बई।

कैफ़ियत

बारे ख़ुदा-ख़ुदा करके यह अंक निकल गया। यह नहीं कि इस अंक के काम को अपने ऊपर लेने का मोह हमें नहीं था ; या यह कि इस काम के करने में चित्त को आह्लाद नहीं मिलता था ; लेकिन इसलिए इस काम की दिक़्क़तें कम नहीं होतीं। वे तो वहाँ थीं ही और उनके बावजूद भी काम किया गया है ; सच्चे और मार्मिक शब्दचित्र लिखने का युग अभी भारत में नहीं आया है। हममें अभी आलोचना के प्रति सहिष्णुता का भाव नहीं आया है। हम अभी उचित मूल्यांकन का आदर करना नहीं सीखे हैं। बेलौस बात की क़द्र करना ज़रूरी है। पर हम वह धीरे-धीरे ही बर्दाश्त कर सकेंगे। और इसीलिए सूक्ष्म दृष्टि से हमारे गुण-दोषों पर प्रकाश डालनेवाले भी हमारे यहाँ नहीं हैं। और किसी भी चीज़ की मर्यादाएँ तो बनते ही बनते बनती हैं। इन कारणों से जैसा कुछ भी हम इस विशेष-अंक को निकाल सके, उसके अनुसार यह बहुत ही सफल कहा जा सकता है। जो भी सामग्री यहाँ उपस्थित की गई है वह पथ-प्रदर्शन की दृष्टि से अमूल्य है। वह एक अभीष्ट ऊँचाई तक भी पहुँची है, चाहे आदर्शों से वह बहुत दूर ही क्यों न रह गई हो। इसके लिए वे चित्रकार हमारे और आपके धन्यवाद के भागी हैं। अब यदि इस विषय का थोड़ा-बहुत साहित्य सामयिक पत्रों में निकलता रहेगा तो उससे लेखकों को उत्तेजना मिलेगी। और इस विषय के साहित्य की उन्नति होगी जो कि हमारे साहित्य के लिए बड़े सौभाग्य की बात होगी, क्योंकि आज का भारतीय साहित्यकार, विशेषतया हिन्दी साहित्यकार कुछ एक विचित्र सीमाबद्ध संकुचितता के वातावरण में जीता है और उसकी अपनी कुछ अहम्मन्यताएँ हैं, जो कि उसके साथ अनजाने में ही अनर्थ करती हैं और जिनके प्रति कोई आलोचना उसे सह्य नहीं है ; यदि उन पर प्रकाश डाला जाय और विवेचन किया जाय तो उससे उस साहित्यकार और हमारे साहित्य को जो लाभ हो, वह अतुलनीय हो। और आशा हमें यही है कि क्रमशः इस ओर लेखकों का ध्यान जायगा।

रेखाचित्र शब्द का प्रयोग हिन्दी में रेखाओं से बनाये हुए चित्र (Pencil sketch) के लिए होता है। गुजराती में इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के Thumb-nail sketch—जिसे हम हिन्दी में नखचित्र कर सकते हैं—के लिए किया जाता है। हमने गुजराती का 'रेखाचित्र' 'नख-चित्र' के स्थान पर अधिक उपयुक्त समझा है और उसका उपयोग किया है। 'शब्द-चित्र' भी हम उसे कह सकते हैं, पर वह उतना सफल अर्थ-वाहक न सिद्ध होगा। हमने, आशा है, अपना मतलब स्पष्ट कर दिया है। इस विषय में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात केवल एक है। एक सफल रेखाचित्र के लिए आवश्यक है कि वह अपने विषय को अनजाने में पकड़े—उसकी तमाम बुराइयों और अच्छाइयों सहित ; उसे मौक़ा न दे कि वह प्रदर्शन का भाव लेकर उपस्थित हो। उसे चित्रित करने में केवल गुणों की ओर ही ध्यान न रहे, उसके अवगुणों का भी सूक्ष्म और सहृदय निरीक्षण होना चाहिये। सहृदय यों कहा कि अन्यथा वह चित्र बहुत कटु हो जायगा क्योंकि बुराइयाँ किसमें नहीं हैं। जैसा कि ऑलिवर क्रामवेल ने अपने चित्र बनानेवाले से कहा था कि यदि वह उसके चेहरे की एक भी झुर्री चित्रित करने से छोड़ देगा तो वह उसे एक धेला भी न देगा। यही हमारा लक्ष्य होना चाहिये। इस किस्म की तसवीर ही सच्ची तसवीर होगी। अन्यथा क्या असुन्दर मनुष्य की भी सुन्दरतम तसवीर नहीं बनाई जा सकती!? अवगुणों को अनदेखा कर जाना अनुचित ही नहीं अक्षम्य है। पाठक के प्रति वह छल है। हाँ, इस तीक्ष्ण सूक्ष्म दृष्टि की श्रेणियाँ अनिवार्य हैं। और उन्हीं के अनुपात में कोई भी शब्द-चित्र सफल या अन्यथा होगा।

इस क़ैफ़ियत की ज़रूरत इसलिएं न थी कि इन पंक्तियों का लेखक कुछ सीख देने की धृष्टता में विश्वास

[१२६

करता हो। यह भ्रान्ति अभी उस तक नहीं पहुँच सकी है। ज़रूरत यहाँ इसकी यह थी कि वह अपनी कुछ लाचारियों को—जिनमें से कुछ तो सचमुच अनर्थकारी हैं—पाठकों और लेखकों के सम्मुख रखकर उनसे विनीत भाव से क्षमा-याचना कर ले। आज की सभ्यता का शायद यह तक़ाज़ा है। पर यह कुछ उस तक़ाज़े की पूर्ति नहीं की जा रही है, क्या इसका आश्वासन आप हमसे स्वीकार कर सकेंगे?

'हंस' भारतीय सांस्कृतिक एकता का प्रतीक बने, यह हमारा ध्येय रहता आया है। आज जो राजनीति साहित्य पर हावी हो गई है, वह कुछ बहुत वांछनीय नहीं है। यह नहीं कि राजनीति और राजनीतिज्ञ और राजनैतिक कार्यकर्ता की आवश्यकता ही नहीं है। एक परतंत्र राष्ट्र के लिए उससे बड़ी और कोई ज़रूरत नहीं है। पर साहित्यकार और सांस्कृतिक-कार्यकर्ता भी कम अवश्यक नहीं हैं। कुछ यह हमारा विचार रहता आया है, और यह अब और भी पुष्ट होता जा रहा है कि साहित्य और उसके सृजक की उचित मर्यादाएँ स्थापित होनी ही चाहियें। हमारे इस विचार का समर्थन 'हंस' की नीति करती आ रही है। तो जब 'रेखाचित्र-अंक' प्रकाशित करने का विचार आया तो साथ ही यह विचार भी आया कि 'हंस' के इस अंक के लिए केवल उन्हीं विभूतियों के शब्द-चित्र प्रकाशित किये जायँ जो साहित्यिक हैं या राजनीतिज्ञ के होते हुए भी मूलतः साहित्यिक हैं। राजनैतिक कार्यकर्ताओं के विषय में जनता की स्वाभाविक जिज्ञासा की भूख को सामयिक पत्र प्रायः आहार प्रदान किया करते हैं। पर साहित्यिक? उसकी किसी हद तक उपेक्षा ही की जाती है। उसके विषय में क्यों न जनता को पूरी जानकारी दी जाय। और जितना स्थान हमारे पास था, उसके अनुसार साहित्यिकों के प्रति ही न्याय करना संभव न प्रतीत होता था, क्योंकि 'हंस' का आंतरप्रांतीय साहित्यिकों का प्रतिनिधित्व करना आवश्यक है—उससे बाहर जाना तो दूर की बात थी। राजनैतिक नेताओं के प्रति हमारी श्रद्धा, इसलिए कम नहीं है। परंतु इन पृष्ठों में कुछ जाने-माने साहित्यिकों के चित्र भी छूट गये हैं। यहीं पर हमारी लाचारी है जिसका ज़िक्र हमने ऊपर किया है। कुछ बड़े नाम तो यों छोड़ दिये गये हैं कि उनके विषय में जनता को पर्याप्त ज्ञान है और अधिक की आवश्यकता न प्रतीत हुई, यथा महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरु (जिनको हम मूलतः साहित्यिक मानते हैं, राजनीतिज्ञ बाद में) आदि। और कुछ नाम स्थानाभाव के कारण भी छूट गये हैं, क्योंकि जितनी सामग्री हमारे पास आई थी, 'हंस' का कलेवर बढ़ाकर भी हम केवल उसका दो-तिहाई प्रकाशित कर सके। और कुछ नाम हमारी अयोग्यता के कारण भी छूटे हैं, जिनके विषय में हम चाहकर भी कुछ न लिखा सके। हमें अपनी ख़ामियाँ मालूम हैं, और उनके प्रति हम फिर से क्षमा माँगते हैं। अनजाने में भी किसी के प्रति हमारी अविनय की भावना नहीं रही है, अश्रद्धा तो दूर की चीज़ है। यही कहने के लिए यह कैफ़ियत है।

भूलों के परिमार्जन की छूट आपको देनी ही होगी। और इन पंक्तियों का लेखक अपनी भूलों का परिमार्जन करने के लिए दिलो-जान से हाज़िर है। तो क्या आप इस आश्वासन पर भी उसे अपनी क्षमा, अपनी सद्भावना प्रदान नहीं कर देंगे?

अपने निकटतम लेखक—मित्रों और अभिभावकों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित न करना उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा। उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। उनके साहाय्य के बिना हम क्या कर सकते थे, या क्या कर सकते हैं! उन्हीं की कृपा का फल है कि आपके सम्मुख यह अंक इस रूप में आप तक पहुँच सका है। उनके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यहाँ पर हम कुछ नाम देकर औरों की सहायता के महत्व को घटाना नहीं चाहते। पर कुछ के प्रति अपने भाव प्रदर्शित करता आवश्यक जान पड़ता है। भाई श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने अपने परामर्श जो समय-समय पर हमें दिये हैं, उनसे इस अंक की रूपरेखा बहुत-कुछ स्थिर हुई है। इनके अतिरिक्त मान्य श्री रामचन्द्र वर्मा ने इस अंक के लिए कुछ अनुवाद बड़ी तत्परता से किये हैं; और भाई का० श्री० श्रीनिवासाचार्य, नन्दगोपाल सेन-गुप्त, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गुरुनाथ जोशी प्रभाकर माचवे, इन्द्र वसावड़ा के भी नाम का उल्लेख करना हमें आवश्यक प्रतीत होता है। उनके प्रति हमारी कृतज्ञता असीम है।



Single Copy As. 8

